परमोपदेश

(आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी के पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ पर आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के उपदेश)

प्रस्तुति : आर्यिका पूर्णमति ससंघ
पद्यानुवाद : आर्यिका पूर्णमति
संस्करण : २८ जून, २०१७ (आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)
आवृत्ति : ११००
वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं० ४५, सेक्टर एफ, इंडस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

समर्पण

तीर्थंकर वृषभनाथ से महावीर प्रभु की
पावन परम्परा के पथानुगामी श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव की प्रतिमूर्ति,
श्रमण परम्परा की अद्‌भुत ज्योति, जिनशासन की शासन,
संत भगवंतों में महान्, महासंघ नायक,
चिन्मय तत्त्व ज्ञायक,
प्राणिमात्र के हितंकर, द्रव्य दृष्टिधर गुरुवर, आगम ज्ञाता,
भव्यजन त्राता, अंतर्मुखी, स्वात्मानुभवी,
संतत्व से सिद्धत्व के अविराम यात्री,
अध्यात्मरसिक महाकवि विश्वविख्यात
दिगम्बर जैनाचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज
महामुनीश्वर की मुखकमल निःसृत भवतरणी दुखहरणी,
पावन कृति 'परमोपदेश' आचार्य भगवन् श्री के
द्वय करकमलों में
सहृदय सविनय सादर समर्पित...

हे परम पूर्णेश!
आपके आत्मानुभूति के अपूर्व क्षण को त्रययोगपूर्वक नमन...
आपके सम्पूर्ण वीतरागमय जीवन को पूर्ण नमन...

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को श्रृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जो अनेक भाषाओं में अनुदित हुआ साथ ही अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामतः मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गईं। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम

लेने का नाम ही नहीं लेते। यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य गुरुदेव ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ को वाचना के रूप में संघस्थ शिष्यों एवं सुधी श्रोताओं को अपने मुखारविन्द से अध्ययन करा के अति सरल बनाया है। उनके गूढ़ चिन्तन और रहस्यों का उद्‌घाटन उस समय केवल सुनने वाले शिष्यों के ही मानस पटल पर अंकित था। उस वाचना से सभी सुधी जन लाभान्वित हों इसलिए इस कक्षा को परमोपदेश ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। प्रवचन/कक्षा को ग्रन्थ का रूप देना बहुत कठिन कष्टसाध्य कार्य होता है, लेकिन गुरुदेव के प्रति माताजी की असीम भक्ति ने यह कार्य कराया है। परम वंदनीय आर्यिकारत्न श्री पूर्णमति माताजी ने इस ग्रन्थ को बहुत मेहनत से परिमार्जित किया है। एतदर्थ आर्यिका माँ एवं संघस्थ आर्यिका संघ के चरणों में वंदामि निवेदित करते हुए जैन विद्यापीठ कृतज्ञता ज्ञापित करता है।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

अंतस् भावना के शब्द प्रसून

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं॥

अपार भवसागर का पार पाने भव्यात्माओं ने तीर्थंकर भगवंतों का आश्रय लिया। जिन तीर्थंकरों ने कैवल्य-रवि की रश्मियों से विश्व का सघन मिथ्या अंधकार तिरोहित करने के लिए अपने जन्म से उत्तर भारत वसुंधरा को पावन किया और निर्वाण प्राप्त कर तीर्थक्षेत्र बना दिया। उन्हीं की दिव्यदेशना सुधा पीकर वीतराग रस पूरित शास्त्रों के सृजेता सरस्वती पुत्र स्वरूप आचार्य भगवंतों ने अपने पवित्र जन्म से दक्षिण भारत की धरा को श्रुततीर्थ के रूप में पहचान दी। भारतीय संस्कृति संतों की स्वात्म साधना से ही अंकुरित पल्लवित और पुष्पित हुई है।

आज से लगभग २६०० वर्ष पूर्व अंतिम शास्ता तीर्थंकर वर्धमानस्वामी भारतीय वसुंधरा पर विहरमान थे। ७२ वर्ष की आयु में प्रभु के महा-निर्वाण उपरान्त तीन अनुबद्ध केवली एवं पाँच श्रुतकेवली भगवन् के द्वारा भी वीरप्रभु द्वारा प्रतिपादित दिव्य तत्त्व ज्ञान प्रसारित होता रहा। जब अंतिम श्रुतकेवली के रूप में भद्रबाहु आचार्य हुए तब उन्हीं की शिष्य प्रणाली में आचार्य कुन्दकुन्ददेव आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व इस भारत भू पर हुए और उन्हीं के माध्यम से अवतरित हुआ यह पाँच अस्तिकाय के स्वरूप का प्रतिपादक शास्त्र 'पञ्चास्तिकाय'।

इस महा ग्रन्थराज पर समय व्याख्या नामक संस्कृत टीका आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने और तात्पर्यवृत्ति टीका आचार्य जयसेन स्वामी ने रची और भी अनेक टीकाएँ इस पर लिखी गईं। आचार्य श्री अमृतचन्द्र स्वामी के अनुसार १७३ गाथा तथा आचार्य श्री जयसेन स्वामी द्वारा १८१ गाथाओं में यह ग्रन्थ निबद्ध है। संसार की मरुभूमि में यह ग्रन्थ कल्पतरु की भाँति सुख शांति प्रदाता है।

इस श्रुत प्रवाह के बीच आचार्य श्री शांतिसागरजी से आचार्य श्री ज्ञानसागरजी तक कई उद्‌भट विद्वान् आचार्य भगवंतों ने जिनशासन का विशेष उद्योत किया। फिर गुरुणाम् गुरु ज्ञानसागरजी के सान्निध्य में वही धारा गुरु विद्यासिंधु के रूप में प्रवर्तित हुई। इस सागर में दर्शन, सिद्धान्त, न्याय, अध्यात्म, व्याकरण आदि लहरों से युक्त ज्ञानरूपी जल लहरा रहा है और यह सागर हजारों-हजारों शरणहीन सरिताओं को अपने आप में समाहित कर आत्मसात् कर रहा है। जिन्होंने कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों को मात्र पढ़ा ही नहीं अंतर्बाह्य अनुभूत भी किया है। जब अध्यात्म पिपासुओं ने चातक बन ज्ञानामृत पीना चाहा तब जन्म-जन्मान्तरों के प्रबल पुण्य से ही इस कलियुग में भी सतयुगी जिनशासन प्रभावक, श्रुतधारक के संवाहक, भवाब्धितारक, सन्मार्गप्रकाशक, चारित्रचूड़ामणि आचार्य

भगवंत श्री विद्यासागरजी महाराज का समागम प्राप्त हुआ। जिनकी अध्यात्म रस से झरती अनुभूत सरल वाणी आत्मार्थी जन के हृदय में सहज ही प्रविष्ट हो जाती है। सच है गुरु की वचनावली–

सुस्निग्धा मधुरा नूनं, सतां भवति भारती।
अकृत्रिमा दयायुक्ता, पूर्ण सद्भाव संभृता॥

सत्पुरुषों की वाणी ही वास्तव में सुस्निग्ध होती है क्योंकि वह दयार्द्र और कोमल होती है। कृत्रिम नहीं सहज होती है।

इस ग्रन्थराज में आचार्य गुरुवर ने प्रथम बार मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र में सन् १९९१ में तथा दूसरी बार २००७ में बीना-बारहा में कक्षा के माध्यम से जो अपने आंतरिक उद्गार प्रदान किये उन्हीं हृदयग्राही वाचनाओं का संक्षेपीकरण किया गया है इस 'परमोपदेश' नूतन कृति में, आचार्य श्री विद्यावारिधि विद्यासागरजी महाराज द्वारा श्री जयसेन स्वामीजी की तात्पर्यवृत्ति टीका द्वारा अध्यापित विषय का संकलन किया है।

बहती नदियाँ, विकसती कलियाँ, उगते सूरज, खिलते फूल, जलते दीपक, बहते झरनों की भाँति आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज को परिचय की आवश्यकता नहीं है क्योंकि कल्पनातीत व्यक्तित्व को सीमित शब्दों में बाँधना धृष्टता है। शास्त्रीय दृष्टि से वस्तु स्वरूप की विवेचना करते हुए आध्यात्मिक दृष्टि से नय द्वारा शुद्धात्म स्वरूप का दिग्दर्शन कराना ही गुरुवर के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषता है। जिनके लिए शिष्य का हृदय यही कहता है–

रत्नत्रय विशुद्धः सन्,पात्र स्नेही परार्थकृत्।
परिपालितधर्मो हि, भवाब्धेस्तारको गुरुः॥

ऐसे भवतारक गुरु ही शिष्य के लिए परम प्रीति के हेतु हैं।

बंधवो गुरवश्चेति द्वौ स्तः संप्रीतये नृणाम्।
बंधवोऽत्रैव संप्रीत्यै गुरवोऽमुत्र चात्र च॥

गुरु द्वय लोक में प्रिय व हितकारी हैं।

ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत क्षमता के धनी, दार्शनिक विचारधारा से ओतप्रोत आत्म-विज्ञान की प्रमुखता रखने वाले, शांत रस के नदी प्रवाह में वैराग्य नौका द्वारा संसार से पार होने की युक्ति देने वाले, अतिशय चारित्र की पताका फहराने वाले, सम्यग्ज्ञान दीप से भव्यों के तम हरकर विद्या ज्ञान प्रकाश भरने वाले पूज्य गुरुदेव को श्रद्धा-भक्ति-समर्पण की त्रिवेणीपूर्वक त्रियोग से नमन करती हूँ। जिनके तीन शतक से अधिक पिच्छीधारी शिष्य और शिष्याएँ तथा हजारों व्रती भक्त हैं। जिनके नयन खुलने पर जन-सम्मुख हो तो उनके कल्याण का विचार करते हैं, जिन मूरत के सम्मुख हो तो जिन गुणों का चिंतन करते हैं और नयन मूँदने पर अपनी शांतचित्त गुफा में लीन हो जाते हैं। ऐसे

आचार्य भगवंत के अनमोल वचनों को लिपिबद्ध करने की शुरुआत तब हुई जब परम सौभाग्य से खातेगाँव में श्री गुरु का दर्शन प्राप्त हुआ तभी संघस्थ मुनिराजों ने मुझे इसकी फोटो कॉपी दी और कहा कि–इसे ग्रन्थाकार देना है। परम सौभाग्य मान आनंद के साथ उसे ग्रहण कर मैंने लिखना प्रारम्भ कर दिया। जैसे कोई अमृत पीने से ऊबता नहीं, वैसे ही उमंग बढ़ती गई। बीच–बीच में कई जगह लेखनी थम जाती, मन डूब जाता, चित्त भीग जाता और लगता कि यह ग्रन्थ सभी स्वात्म रुचिया के हाथों में आना ही चाहिए। इसमें अनेक जगह ऐसे अमृतबिन्दु हैं, जिसे पीकर पाठक निजात्म स्वरूप में विलीन हो जाता है। गुरु की अंतर्यात्रा से प्रस्फुटित इस आगमिक ग्रन्थ के सम्पादन की क्षमता मुझमें कहाँ? हाँ, इन दिनों गुरु की अतिशय समीपता का अनुभवन कर अपूर्व आनंद का सम्पादन अवश्य किया है। जब गुरु–वचन सुधा को मैंने कर्णपुट से पीया तब इस प्रवचनामृत की कुछ बूँदें उछल कर तैर आयीं जो इस प्रकार हैं–

स्वभाव की ओर दृष्टि जाने पर गांभीर्य आने लगता है/ नदी में तो बाढ़ कभी–कभी आती है किन्तु आत्मा में एक दिन में ही विकल्पों की कई बार बाढ़ आती है/ यदि स्वशुद्धात्म तत्त्व को रुचिपूर्वक याद करोगे तो संसार से अरुचि होगी/ यदि पर को तो पर मान लें किन्तु स्व को स्व ना जानें तो उपयोग का सही सदुपयोग नहीं है/ एज इमेज को मिटा दें तो संसार का तट मिल जायेगा/ कर्मों से परतंत्र होकर भी मनुष्य का मन कितना अकड़ता है, इसी का नाम मान कषाय है/ जब आत्मा में खो जाओगे तो दुनिया से सो जाओगे/ कर्मोदय में भी हर्ष–विषाद न करें ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध रखें, इस साधना में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता/ अपने मन को जीतना ही वीरत्व है/ अपना ही क्षयोपशम भाव अपने लिए अभिशाप बन जाता है/ मैं पर का हो नहीं सकता और पर मेरा हो नहीं सकता, मेरे और उनके बीच में द्रव्यत्व ही रहता है/ भोग भागते नहीं भोक्ता भाग रहा है/ जिस समय संयोग है उसी समय स्वभाव में उसका वियोग अनुभव करना ही साधना है।

इसमें आचार्य भगवंत के भावों को सुरक्षित रखते हुए शंका–समाधान, दृष्टान्त तथा विशेष शीर्षक देने का प्रयास किया है। लगभग २२ गाथाओं का गुरु–मुख से जो व्याख्यान किया गया था वह नहीं मिल पाया, तब पूर्व की वाचना से कुछ बिन्दु निकाल कर तथा इस विषय सम्बन्धी अन्य व्याख्यान से गुरु–वचनामृत एकत्रित कर लिखने का प्रयास किया। लगभग दो वर्ष तक यही लक्ष्य निर्धारित कर इसे लिखने का प्रयास किया। यद्यपि बीच–बीच में देह की अस्वस्थता के रूप में असाता ने भी परीक्षाएँ लीं, किन्तु गुरुवर के विशेष आशीर्वाद से सफलता मिलती गई। संघस्थ मुनिराजों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य के योग्य समझकर आशीर्वाद दिया। इस ग्रन्थ के संशोधन में संघस्थ मुनिराज, आर्यिकावृन्द, ब्रह्मचारी भाई, ब्रह्मचारिणी बहिनें तथा विद्वानों ने पूर्ण मनोयोग से सहयोग किया, तथापि मेरी अल्पज्ञता के कारण त्रुटियाँ होने की संभावना है। फिर भी गुरु प्रवचन

की भक्ति से ''को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे'' इस वचन के आधार से यह कार्य करने का साहस किया। अनुरोध है सुधी पाठकजन अगले प्रकाशन में त्रुटियाँ ज्ञापित कराने का कष्ट करें। इस कार्य में मेरे द्वारा जो भी त्रुटियाँ हुईं हों तो आचार्य गुरुवर श्री विद्यासागरजी महाराज मुझे क्षमा प्रदान करें। सर्व मुनि, आर्यिकावृन्द और विद्वत्गण भी क्षमा दान दें, इस ग्रन्थ का प्रकाशन सभी मुक्ति के इच्छुक जीवों को सम्यग्ज्ञान का कारण हो यही सद्भावना है।

जैनतत्त्व व्यवस्था का आधारभूत ग्रन्थ पञ्चास्तिकाय का पद्यानुवाद आचार्यश्री ने वसंततिलका छन्द में सन् १९७८ के लगभग कुण्डलपुर से मदनगंज-किशनगढ़ के विहार काल में किया था परन्तु निरीह, निस्पृह वृत्तिधर आचार्यश्री की यह कृति आज अनुपलब्ध होने से ज्ञानोदय छन्द में पद्यानुवाद लिखना पड़ा।

इस ग्रन्थराज का जिनशासन की प्रभावना में अपूर्व योगदान है। इसमें कई उलझे प्रश्नों का समाधान है, आंतरिक वृत्तियों का विकास व अध्यात्म प्रधान, सुरुचिपूर्ण, स्वात्म अस्तित्व का प्रकाशक पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ पर प्राप्त यह व्याख्यान भव्य जीवों का सदा मार्ग प्रकाशित करता रहेगा।

इसी आत्मीय भावना से अभीक्ष्य ज्ञानोपयोगी, जीवन के अनमोल क्षणों के सदुपयोगी, शिवपथगामी गुरुदेव के चरणों में त्रियोग से त्रिभक्तियुत नमन कर अपनी विनयांजलि अर्पित करती हूँ।

सन् २०१७-२०१८ में आगत परमाराध्य संत शिरोमणि आचार्य गुरुवर श्री विद्यासागरजी महाराज के ''संयम स्वर्ण महोत्सव'' के परम पुनीत अवसर पर सादर समर्पित है-आध्यात्मिक ग्रन्थराज पञ्चास्तिकाय पर परमोपदेश रूप प्रकाशन, आत्मोन्नाति का साधन।

वर्ष हजारों जिन संस्कृति की, परम्परा अक्षुण्ण रहे।
प्राणीमात्र सुख से जीये यह, भाव गुरु में नित्य रहे॥
भीतर से बाहर आकर गुरु, बहुजन हित चारित धरते।
द्रव्य तत्त्व पञ्चास्तिकाय और, पदार्थ की चर्चा करते॥

आर्यिका पूर्णमति

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी

आचार्य कुन्दकुन्द लोकोत्तर व्यक्तित्व के युग प्रवर्तक आचार्य थे, जैन संघ की परम्परा में एक युग भगवान् महावीर से लेकर अंगपाठी आचार्यों तक का हुआ है। जबकि दूसरे युग का प्रारम्भ आचार्य कुन्दकुन्द से हुआ। पूर्व युग में आचार्यों ने वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करके लोककल्याणकारी उपदेश देकर जैन संघ के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया। जबकि उत्तरयुग के प्रारम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द ने इसके साथ-साथ जैन संघ को विकारों और प्रहारों से सुरक्षित रखने के दायित्व का भी निर्वाह किया।

आचार्य कुन्दकुन्द आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व इस भारतभूमि पर आध्यात्मिक जगत् के सर्वोपरि आचार्य हुए हैं। इनके महान् आध्यात्मिक चिन्तन से सम्पूर्ण भारतीय मनीषा प्रभावित हुई है और उसने एक अद्भुत मोड़ लिया, यही कारण है कि आपके परवर्ती सभी आचार्य कुन्दकुन्दाम्नाय का आचार्य मानकर अपना गौरव मानते हैं।

पूर्वभव—आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के विषय में एक किंवदन्ति प्रसिद्ध है कि दक्षिण देश के कुरुमलई ग्राम में करमण्डु नामक सेठ के यहाँ मणिरत्न नाम का एक ग्वाला रहता था जिसे दावानल से जलते हुए जंगल से सुरक्षित शास्त्र मिले तब ग्वाला उन्हें अपने घर लाकर उन्हें उच्च स्थान पर रख उनकी पूजा आराधना करता है। फिर कुछ दिन बाद उसी ग्वाले ने उक्त ग्रन्थ को मुनि को भेंट कर दिया। इसी पावन शास्त्रदान के प्रभाव से वह ग्वाला उपरोक्त सेठ के घर में कुन्दकुन्द नामक पुत्र हुआ।

जन्मस्थान—आपका जन्म कुन्दकुन्दपुरम् प्रचलित नाम कोण्डकुन्दी, जिला-गूण्टूर (तमिलनाडू प्रदेश) में शार्वरी नाम संवत्सर माघ शुक्ला पंचमी ईसा पूर्व १०८ में हुआ था।

मुनिदीक्षा व गुरु—आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने ११ वर्ष की अल्पायु में ही मुनि दीक्षा धारण की थी। आपका मुनिदीक्षा नाम पद्मनन्दि था। बोधपाहुड ग्रन्थ के अनुसार आप भद्रबाहु के शिष्य थे। नन्दिसंघ की पट्टावली में जिनचन्द्र को अपना गुरु माना है तथा पञ्चास्तिकाय की टीका में आचार्य जिनसेन ने कुमारनन्दि को आपका गुरु बताया है। इस प्रकार आपके गुरु कौन थे यह निश्चित नहीं हो पाया है। कुछ तथ्यों के अनुसार भद्रबाहु स्वामी कुन्दकुन्द स्वामी के परम्परा गुरु थे साक्षात् नहीं थे, शेष दो में से सम्भव है कि कोई एक दीक्षागुरु और दूसरे विद्यागुरु थे।

आयु—आपने ग्यारह वर्ष की अल्पायु में मुनि दीक्षा ली थी, ३३ वर्ष तक मुनि-पद पर रहे

तदनन्तर ४४ वर्ष की आयु में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ५२ वर्ष, १० माह, १५ दिन आचार्य पद पर विराजमान रहे। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने ९५ वर्ष, १० माह, १५ दिन की दीर्घायु पायी और ई॰ पू॰ १२ में समाधिमरण द्वारा स्वर्गारोहण किया।

अनेक नाम—आप कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य एवं पद्मनन्दि नाम से विख्यात थे।

रचनायें-समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, बारस अणुवेक्खा, दंसणपाहुड, चारित्रपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, लिंगपाहुड, सीलपाहुड, सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचगुरुभक्ति, थोस्सामि थुदि।

इस प्रकार समूचे इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि आपने पंचपरमागम एवं ८४ पाहुडों की रचना की परन्तु वर्तमान में कुछ ही कृतियाँ हमें उपलब्ध हो पाती हैं।

पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय—इस ग्रन्थ में कालद्रव्य से भिन्न जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायों का निरूपण किया गया है। बहुप्रदेशी द्रव्य को आचार्य ने अस्तिकाय कहा है। द्रव्य-लक्षण, द्रव्य के भेद, सप्तभंगी, गुण, पर्याय, कालद्रव्य एवं सत्ता का प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ दो अधिकारों में विभक्त है। प्रथम अधिकार में द्रव्य, गुण और पर्यायों का कथन है और द्वितीय अधिकार में पुण्य, पाप, जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष इन नव पदार्थों के साथ तृतीय अधिकार में मोक्षमार्ग का विस्तार से निरूपण किया है।

इस ग्रन्थ में अमृतचन्द्राचार्य की टीका के अनुसार १७३ गाथाएँ और जयसेनाचार्य के टीकानुसार १८१ गाथाएँ हैं। द्रव्य के स्वरूप को अवगत करने के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

अनुक्रमणिका

गाथा क्र०	विषय	पृ० क्र०

प्रथम महाधिकार

षड् द्रव्य पञ्चास्तिकाय वर्णन

द्वितीय महाधिकार

नव पदार्थ मोक्षमार्ग वर्णन

तृतीय महाधिकार

मोक्षमार्ग विस्तार चूलिका

❑ ❑ ❑

ॐ

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी के पंचास्तिकाय ग्रन्थ पर आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के उपदेश

परमोपदेश

देशना लब्धि का महत्त्व—यह पञ्चास्तिकाय नामक प्रामाणिक ग्रन्थ आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा अपनी स्वानुभवरूप लेखनी से लिखा गया है। तीर्थंकरों के समय ग्रन्थ का लेखन नहीं होता, मात्र उपदेश होता है। प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए देशनालब्धि का वर्णन आता है जिसके माध्यम से वस्तु स्वरूप को दर्शाया जाता है। तीर्थंकर वाणी की व्याख्या को विविधता और प्रासंगिकता के माध्यम से गणधर परमेष्ठी प्रस्तुत कर देते हैं। जब वर्धमानस्वामी को केवलज्ञान हुआ, तब समवसरण की रचना हुई और बारह सभाओं में क्रम से सभी नर-सुर आदि बैठ गये किन्तु छ्यासठ दिन तक प्रभु की दिव्यध्वनि नहीं खिरी, तब कई लोगों ने यही सोच लिया कि प्रभु का ऐसा ही उपदेश होता होगा और कुछ लोग चातक पक्षी के समान पल-पल प्रभु की दिव्यध्वनि की प्रतीक्षा करते रहे। आखिर भव्य जीवों के पुण्य योग से वह श्रावण वदी प्रतिपदा का दिन आ ही गया चातुर्मास की स्थापना के दूसरे ही दिन इन्द्रभूति ने वीरप्रभु को गुरु के रूप में स्वीकार किया इसीलिए **गुरुपूर्णिमा** कहलाई। किन्तु गणधर परमेष्ठी के आते ही उपदेश दे देंगे ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि दीक्षित होते ही आत्मलीन हो गये होंगे फिर दूसरे दिन प्रभु की दिव्यदेशना खिरना प्रारम्भ हो गई, वही दिवस **वीरशासन जयन्ती** कहलाया।

ग्रन्थ और ग्रन्थकार का महत्त्व—आचार्य श्री जयसेनस्वामी पञ्चास्तिकाय की भूमिका एवं मंगलाचरण का अर्थ बताते हुए यह ग्रन्थ किसके निमित्त से एवं किसके द्वारा रचा गया है यह बताते हैं। श्री कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य हैं इस विषय में एक प्रसिद्ध कथा है कि– श्री कुन्दकुन्दाचार्य पूर्व विदेहक्षेत्र को गये वहाँ उन्हें वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर सीमन्धरस्वामी के दर्शन का सौभाग्य मिला और प्रभु के मुखकमल से निर्गत दिव्यध्वनि का श्रवण करके सारभूत शुद्धात्म तत्त्व का स्वरूप समझा। यद्यपि दिव्यध्वनि का पूरा-पूरा आशय समझ में नहीं आता लेकिन सारभूत पदार्थ ग्रहण कर सकते हैं। जैसे–दूध में जामन डालकर दही बनाकर फिर मंथन करके नवनीत (सार) निकाला जाता है। वैसे ही जिनवचनों का श्रवण करके अपनी शक्ति अनुसार परमार्थ तत्त्व को ग्रहण करके श्री कुन्दकुन्दाचार्य आये हैं, जिनके पद्मनन्दि, वक्रग्रीवाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य एवं ऐलाचार्य ऐसे भगवान् महावीरस्वामी जैसे पाँच नाम हैं। इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दस्वामी लोकप्रिय व प्रभावक आचार्य हुए हैं। २००० वर्ष के इस दीर्घकाल में ऐसे आध्यात्मिक ग्रन्थकार कोई भी नहीं हुए

हैं, जो तत्त्वज्ञान के द्वारा अध्यात्म निचोड़ करके रख दें। इनका ही अनुसरण करके श्री पूज्यपादस्वामी का इष्टोपदेश, समाधिशतक एवं श्री योगीन्द्रदेव का परमात्मप्रकाश, योगसार आदि आध्यात्मिक ग्रन्थ पाये जाते हैं। आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड आदि अनेक ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया है। जैसे–कोई मीठी वस्तु है उसे कहीं से भी खाओ तो मीठी ही लगती है वैसे ही इनमें से किसी भी ग्रन्थ की कोई भी गाथा को पढ़ने से अध्यात्म का सार सामने आ जाता है। ज्ञान के माध्यम से कषाय को दबाने वाला अध्यात्म होता है। अध्यात्म को अपनाने वाला एकत्व को प्राप्त कर लेता है। शुद्धात्मा रूप नवनीत की प्राप्ति वैराग्य के बिना सम्भव नहीं है। **केवल पठन पाठन एवं वाचन से नहीं, पाचन से सम्भव है। चर्चा से नहीं, चर्या से सम्भव है। उच्चारण से नहीं, उच्च-आचरण से सम्भव है।** श्री कुन्दकुन्दाचार्य की कृति का थोड़ा-सा भी रसास्वादन कर लेते हैं तो आनन्द आने लग जाता है। जैसे–बनिया का बेटा ८-१० वर्ष की उम्र से ही दुकान पर बैठकर कमाने लग जाता है वैसे ही बालक भी यदि श्री कुन्दकुन्दस्वामी के ग्रन्थ को रुचिपूर्वक पढ़ ले, निजानुभूति कर ले, अन्तस्थल (आत्मतत्त्व) को पहचान ले, तो बस निजात्मानुभव कर लेगा। इसके लिए पी-एच० डी० करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विषय वस्तु का विश्लेषण–आचार्यों ने छह द्रव्यों में से काल को छोड़कर पाँच अस्तिकाय कहे हैं। साथ ही एक आत्मास्तिकाय भी है। जीवास्तिकाय और आत्मास्तिकाय में बहुत अन्तर है। शुद्धदशा में शुद्धात्मास्तिकाय कहलाता है यह तात्पर्य है। जिसमें तत्परता मिल जाए वह तात्पर्य है। इससे स्पष्ट हुआ कि छह द्रव्य नहीं, सात द्रव्य हैं, सात तत्त्व नहीं, आठ तत्त्व हैं, नौ पदार्थ नहीं, दस पदार्थ हैं, पञ्चास्तिकाय नहीं, छह अस्तिकाय हैं। छह द्रव्य तो सब जानते हैं किन्तु सातवाँ आत्मद्रव्य सब नहीं जान पाते। '**तत्त्वार्थसूत्र**' में सात तत्त्व मिल जायेंगे किन्तु आत्मतत्त्व नहीं मिलेगा। सात तत्त्व को गौण करके ही आत्मतत्त्व मिलेगा। इसलिए आगे आचार्य कहेंगे '**अप्पपधाणे**' (आत्मप्रधाने) अर्थात् सर्व तत्त्वों में आत्मतत्त्व ही प्रधान है। तात्पर्यवृत्ति को पढ़ने से हमें सारभूत तत्त्व का ज्ञान बहुत जल्दी होने लगता है। जिसे प्राप्त करना है उसे ही मुख्यता देनी चाहिए। सिद्ध भी बाह्य तत्त्व हैं क्योंकि वह सिद्धात्मा हमसे भी भिन्न हैं। उनका आत्मतत्त्व हमें उपलब्ध नहीं होगा और हमारा आत्मा उनके काम में नहीं आने वाला है। बस में लोगों की गिनती करने के पहले अपनी गिनती करना। स्वयं को भूल जाओगे तो मामला गड़बड़ हो जायेगा। जैसे–एक अंक के बिना शून्य की कोई महत्ता नहीं। हम पर का कल्याण चाहते हैं, स्वयं का नहीं। ऊपर से कहते हैं कि यह भी उपकार का काम ही तो है। हमारा कल्याण नहीं भी होता है तो दूसरे के कल्याण में निमित्त तो बन जाएँ, ऐसी मिथ्या मान्यता रखते हैं। चातुर्मास आदि में कुछ लोग दूसरों की व्यवस्था में ही लगे रहते हैं लेकिन स्वयं के परिणामों की अवस्था नहीं देखते। बाहर में विहार आदि कार्य में लगे रहते हैं, आत्मविहार नहीं करते। **जो स्वाध्याय तो करते हैं लेकिन स्वयं के परिणामों का अध्ययन नहीं करते उन्हें स्वाध्यायशील नहीं मानना चाहिए। पर के चिन्तक नहीं आत्मचिन्तक बनिए।**

प्रथम महाधिकार

मंगलाचरण

इंदसद-वंदियाणं तिहुअण हिद-मधुर-विसद-वक्काणं।
अंतातीद-गुणाणं णमो जिणाणं जिद भवाणं ॥१॥

अन्वयार्थ—(इंदसदवंदियाणं) सौ इन्द्रों से वन्दनीक **(तिहुअण-हिद-मधुर-विसद-वक्काणं)** तीन जगत् को हितकारी मधुर और स्पष्ट वचन कहने वाले **(अंतातीद-गुणाणं)** अन्त से रहित अर्थात् अनन्त गुणों के धारी तथा **(जिद-भवाणं)** संसार को जीतने वाले **(जिणाणं)** अरिहंतों को **(णमो)** नमस्कार हो।

अर्थ—जो सौ इन्द्रों से वन्दित हैं, तीनों लोकों को हितकर, मधुर एवं विशद जिनकी वाणी है, अन्त से अतीत अर्थात् अनन्तगुण जिनमें हैं और जिन्होंने भव पर विजय प्राप्त की है ऐसे जिनों को नमस्कार हो।

(ज्ञानोदय छन्द)

सौ इन्द्रों से वंदित जिनवर, तीन लोक के स्वामी हैं।
जिनके वचन सभी जीवों को, स्पष्ट मधुर हितकारी हैं॥
अनन्त गुणधारी जिनवर को, तीन योग से नमन करूँ।
जीत लिया संसार आपने, मैं भी भव का भ्रमण हरूँ ॥१॥

व्याख्यान—इंदसदवंदियाणं भवनवासियों के ४०, व्यंतरवासियों के ३२, ज्योतिषियों के चन्द्र और सूर्य ये २, वैमानिकों के २४ एवं मनुष्यों में चक्रवर्ती और तिर्यञ्चों में सिंह ऐसे जो १०० इन्द्रों के द्वारा पूजित हैं। जिनके सामने सौ-सौ इन्द्र नृत्य करते हैं। ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को द्रव्य और भाव से नमस्कार करना, हाथ जोड़ना, सिर झुकाना, शब्दों से स्तुति करना यह द्रव्य नमस्कार है और उपयोग पूर्वक भगवान् के गुणों में तल्लीन हो जाना, भाव नमस्कार है। गुणों में तल्लीनता आने से बाहर के हाव-भाव सब गौण हो जाते हैं, यह भाव नमस्कार विशेष माना जाता है। शास्त्र के आदि में भाव नमस्कार रूप मंगलाचरण को श्री कुन्दकुन्दस्वामी भी नहीं भूले किन्तु आजकल प्रायः मंगलाचरण गौण होता जा रहा है। अन्त में औपचारिक रूप से जिनवाणी का मंगलाचरण कर लेते हैं। कुछ लोग तो जिनवाणी की स्तुति के स्थान पर आत्मा की ही स्तुति की मुख्यता करने लगे हैं जबकि अध्यात्मनिष्ठ श्री कुन्दकुन्दस्वामी तो मंगलाचरण को नहीं भूले लेकिन उनकी कृति को पढ़कर कुछ लोग मंगलाचरण को भूल रहे हैं। 'प्रवचनसार' में भी पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पाँच गाथाओं के माध्यम से भूत भविष्यत् वर्तमान तीर्थंकरों को नमस्कार, विदेहक्षेत्र के तीर्थंकरों को नमस्कार तथा सबको एक साथ नमस्कार और प्रत्येक को अलग-अलग से भी नमस्कार किया है। सोचो, विचार

करो! यह मंगलाचरण कितना गम्भीर है, कितना भक्ति-भाव से भरा है। आप लोग तो एकसाथ ही सबको हाथ घुमाकर नमस्कार कर लेते हैं। एक ही भगवान् को अच्छे से नमस्कार नहीं कर पा रहे हो तो बहुत सारे भगवान् हों तो कैसे नमस्कार कर पाओगे?

तिहुअणहिद–जिनके वचन तीन लोक के लिए हितंकर हैं एवं शुद्धात्मा के स्वरूप की प्राप्ति का उपाय बताने के कारणभूत होने से 'हित' विशेषण दिया है। तीन काल व तीन लोक के जानने वाले होने से हितकारी नहीं, हित तो स्वकाल में है। जो स्वस्थ हैं उन्हें देखकर अपने आपका चिन्तन करो कि हे भगवन्! मैं भी आपके समान कब हो जाऊँ? एक अन्तर्मुहूर्त के लिए भी स्वतत्त्व में लीन होकर शरीर को पड़ोसी समझ लें तो शरीर में रहते हुए भी अपने आपको देख सकते हैं। सामने देखते हुए भी भीतरी दृष्टि रह सकती है। यह सब भीतरी परिणामों पर निर्भर है। अभ्यास पर निर्भर है। **ज्ञेय पदार्थ को दूर करने का प्रयास न करिए, बस ज्ञाता-दृष्टा बने रहिए।**

मधुर—सौ इन्द्र जिनेन्द्र देव के चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि इन्हीं के माध्यम से हमें भी मोक्षसुख का रास्ता मिलने वाला है। तीन लोक के कल्याण के लिए अत्यन्त मधुरता से भगवान् के दिव्यवचन खिरते हैं। वचन तो मधुर ही होना चाहिए, लेकिन बच्चों के साथ ज्यादा मधुर वचन बोलेंगे तो वे नटखट हो जायेंगे इसलिए बीच में थोड़ा गाल पकड़कर, आँख दिखा देते हैं फिर प्रेम से चुटकी बजा देते हैं तो बच्चे उन बातों को भूल जाते हैं **'बुरी बात ज्यादा देर तक याद नहीं रखना चाहिए और अच्छी बात को कभी भी भूलना नहीं चाहिए'** अन्यथा प्रतिभा नहीं बढ़ेगी और विनय भी नहीं रहेगी। अतः बुरी बातों को स्वयं से दूर रखो और मन को प्रफुल्लित रखो।

वीतराग रूप निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न सहज अपूर्व परमानन्द स्वरूप पारमार्थिक सुख के रसिकों के लिए प्रभु के वचन मनोहारी होते हैं। नीम, कुटकी, चिरायता जैसे कटुक नहीं, किन्तु द्राक्षा और मिश्री से भी अति मधुर होते हैं। हाथ जोड़कर आँखों से देखकर, कानों से सुनकर वचनामृत को पीते चले जाते हैं। कमाई का मौसम या सीजन जैसा लगता है बस पीते जाओ इतने मग्न हो जाते हैं कि दिन में चार बार दिव्यदेशना सुनने पर भी और-और का छोर नहीं रहता। गणधर परमेष्ठी स्वयं व्याख्या करते हैं। समवसरण में लाइट, हेलोजन आदि कुछ नहीं, दिव्य कल्पवृक्ष रहते हैं, जो सूर्य चन्द्रमा से भी अधिक ज्योतिर्मय रहते हैं, उनकी ज्योति से आँखों में किञ्चित् भी पीड़ा नहीं होती। इन्द्र हजार आँखें बनाकर दर्शन करता है और ऐसा ताण्डव नृत्य करता है कि लोग देखकर भाव विभोर हो जाते हैं। प्रथम नृत्यकार रहता है सौधर्मइन्द्र। वहाँ किसी का चुनाव होता ही नहीं। सौधर्मइन्द्र स्वयं ही कल्याणक का अध्यक्ष रहता है और अनूठी भक्ति करता है। जो उसकी कर्मनिर्जरा का कारण बनती है। **क्षायिक सम्यग्दृष्टि इन्द्र भी दिगम्बरत्व को देखने हजार आँखें बनाता है किन्तु अज्ञानी आँखें मूँद लेता है।** देवाधिदेव की जब देव स्तुति करते हैं तो मनुष्य भी सम्मिलित हो जाते हैं। देव कल्याणक मनाने के लिए यहाँ आते हैं और मनुष्यों को जगाते हैं। सौधर्मइन्द्र पाँचों कल्याणक में

अग्रणी (पुरोधा) रहता है एवं शचि इन्द्राणी भी इतनी भक्ति में लीन हो जाती है कि एक ही भव में मुक्ति पा लेती है। प्रभु के वचनों को मनोहर और मनोरम भी कहा है। मन को हरण करने की अपेक्षा मनोहर और मन को रमाने की अपेक्षा मनोरम कहा है। जिनेन्द्रदेव के वचन संशय, विभ्रम और अनध्यवसाय से रहित हैं अतः मधुर विशेषण दिया है।

विसद—शब्द तो जड़ है और जड़ स्पर्श रस गन्ध वर्णात्मक होता है, उसमें हित है ही नहीं, किन्तु इन शब्दों के निमित्त से आत्मा का आत्मा में हित होता है। मात्र शब्दों से यदि हित होता तो आजतक हो जाता। शब्दों को पानी में घोलकर पी लेने से हित नहीं होता। कर्णाटक, मागध, मालवा, लाट, गौड और गुर्जर इनमें प्रत्येक के तीन-तीन भेद होने से अठारह महाभाषा मूल भाषा है। हर दस कोस में भाषा का परिवर्तन देखने में आता है। हिन्दी भाषा मूलभाषा है ही नहीं। सात सौ लघु भाषा रूप अनेक भाषाओं में दिव्योपदेश सुनाई देने से विशद है। इस प्रकार समवसरण में सबको अपनी-अपनी भाषा में समझ में आता है, बिना अनुवाद किए सभी श्रोताओं को अर्थ स्पष्ट हो जाता है, इसलिए 'विसद' विशेषण दिया है।

जो सभी आत्माओं के लिए हितकारी हैं, जिनके दोनों ओष्ठ नहीं हिलते। भगवान् की वाणी बिना किसी वाञ्छा के खिरती है और निर्दोष होती है। बोलते समय श्वासोच्छ्वास का क्रम बाधित नहीं होता। जैसे-सेना के वाद्य में चार-पाँच आवाजें अविरुद्ध निकलती रहती हैं वैसे ही भगवान् के उपदेश देते समय श्वासोच्छ्वास में बाधा नहीं आती। विशेषता यह है कि सुर-नर-पशु सबको समान रूप से एकसाथ सुनने में आता है। वीतरागी होने से प्रभु के वचन प्रामाणिक हैं। वीतरागता से ही वचनों में अतिशय आता है। यह वचन पौरुषेय हैं, अपौरुषेय नहीं। "**कायवाङ्मनः कर्मयोगः**" यह उपदेश वचनयोग के माध्यम से होता है। अयोग अवस्था में और विग्रहगति में वचन प्रयोग नहीं होते, न ही मनोयोग उस समय हो सकता है। वचन प्रयोग पुरुषार्थ मूलक ही होते हैं। पौरुषेय वचन अनादिकालीन कोई भी नहीं रह सकता क्योंकि युग के आदि में जो बोला हो वह आजतक अजर-अमर बना रहे ऐसा नहीं होता। उपन्यास वगैरह भी जो काल्पनिक चित्रकथा आदि हैं वह भी प्रामाणिक नहीं माने जाते अपितु त्रिकालज्ञानी वीतरागी भगवान् के वचन ही प्रामाणिक हैं।

वक्काणं—वक्काणं का अर्थ वाक्य है। ध्वनि में वाक्य नहीं बनते। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि ओंकारात्मक ध्वनि नहीं होती किन्तु भगवान् की वाणी ही स्पष्ट होती है। जिनवाणी को दिव्यध्वनि कहना अर्वाचीन पद्धति है। श्री कुन्दकुन्दस्वामी के बाद की परम्परा है। श्री कुन्दकुन्द-स्वामी ने उसे वचन रूप स्वीकारा है पद के माध्यम से पंक्तियाँ बनती हैं उसका नाम वाक्य है, ध्वनि का नाम वाक्य नहीं हो सकता।

इस प्रकार जो हित, मधुर और विशद वचनों से उपदेश देते हैं ऐसे प्रभु अन्त से अतीत अर्थात् अनन्त गुणों से युक्त हैं और भव को जीतने वाले हैं, ऐसे जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार हो। जिन

अर्थात् जिनने भव को जीत लिया है तलवार और ढालों से नहीं वरन् स्वयं कृत कर्मों को स्वयं में लीन हो करके जीत लिया है। कर्मों को जीतने का और कोई उपाय नहीं है यदि कर्मफल के साथ राग-द्वेष करेंगे तो कर्मों को नहीं जीत सकते। कई लोग नारे लगाकर, जुलूस निकालकर, हड़ताल करके प्रस्तुति करते हैं तो कई लोग बिना नारे बाजी के शान्त, मौन रहकर अपनी प्रस्तुति देते हैं। इसका एक अलग ही प्रभाव पड़ता है। ज्यादा नारों की आवाज से ज्यादा प्रभाव पड़ेगा ऐसा नहीं; क्योंकि आवाज आसमान में गुम हो जाती है। उसका प्रभाव समाप्त हो जाता है, किन्तु मौन का ऐसा नहीं होता। वह स्वभाव की ओर इंगित करता है। नहीं बोलने पर सामने वाला सोचता है कि ये क्यों नहीं बोल रहे हैं? इशारा भी नहीं करना क्योंकि पशु को भी इशारा या आँख दिखाने पर वह सींग दिखाता है किन्तु मौन होकर उसके सामने से निकल जाए तो वह भी शान्ति से निकल जायेगा। अपने उपयोग को शान्त करने का प्रयास करें। जैसे भगवान् शान्त रहते हैं अन्यथा पहले जो अज्ञान दशा में कर्मों को निमन्त्रण दिया था वो फल देने जरूर आयेंगे। कर्म जानते कुछ नहीं लेकिन आपके स्वभाव से परिचित हैं। आप राग-द्वेष करेंगे तो वे आयेंगे और अपनी सेना छोड़ करके जायेंगे। वे कर्म जब जाते हैं तो अपना स्थान सुरक्षित करके जाते हैं। जैसे-कुछ संस्थाओं का नियम होता है कि यदि वह अवकाश प्राप्त करें तो उस पद पर किसी और को नियुक्त करके जाएँ। कर्म भी ऐसा ही करते हैं, आप उनसे लड़ाई नहीं कर सकते। वे दस गये तो सौ को रखकर जायेंगे, सौ थे तो हजार रखकर जाते हैं। जैसे-विद्याधर और भूमिगोचरी के बीच युद्ध होता है तो एक को मारने पर विक्रिया से दो विद्याधर खड़े हो जाते हैं। कर्मों के पास भी ऐसी ही विक्रिया है, एक कंकड़ डालने से पूरा सरोवर तरंगायित हो जाता है। थोड़े से स्थान पर कंकड़ गिरा और सारे सरोवर को क्षुब्ध कर दिया। जैसे-आत्मा का स्वभाव शान्त है वैसे ही कर्मों का स्वभाव भी शान्त है किन्तु आप छेड़ेंगे तो वह छोड़ेगा नहीं। वह अपने बीज की रक्षा के साथ अपनी परम्परा को कायम रखता है। यदि उसे राग-द्वेष करके आमन्त्रण दिया है तो वह मेहमान बनकर अवश्य आयेगा फिर उसे अपने पास जो रूखा-सूखा है उसे देना ही पड़ेगा। मेहमान आया है तो खर्च तो होगा ही। फिर यह नहीं कह सकते यह क्यों आया? कैसे आया? उसके साथ लड़ नहीं सकते। **''मेहमान आय के लिए नहीं, व्यय के लिए आते हैं''** इस रहस्य को समझकर जिसने अपने आपको जीता अर्थात् राग-द्वेष नहीं किया मौन हो गया, उसका ही इस अभियान के फलस्वरूप ऐसा प्रभाव पड़ा कि बन्ध बन्द हो गया।

मोक्षमार्ग ज्ञान से नहीं, विश्वास से प्रारम्भ होता है। जानने से नहीं, मानने से प्रारम्भ होता है। इससे मान का अवसान होता है और अन्त में **जिदभवाणं** आता है। **विद्या से विनय नहीं, विनय से विद्या आती है और वही सम्यग्ज्ञान का कारण होती है।**

अंतातीदगुणाणं—भगवान् में अन्त से अतीत अर्थात् अनन्त गुण हैं। अज्ञानी के पास एक भी गुण आ जाए तो दूसरे को नीचा दिखाने में लग जाता है। प्रदर्शन प्रारम्भ हो जाता है। सिद्धपरमेष्ठी

के अनन्त गुण प्रकट हो चुके हैं फिर भी उन्हें अभिमान नहीं होता। **अपनी उन्नति में बाधक अभिमान ही है इसे लिखना नहीं जीवन में लखना है।** अनन्त गुणधारी के सामने हमारा माथा स्वयमेव झुक जाता है तो शीश पाना सार्थक हो जाता है और सर्वाइकल (गर्दन व रीढ़ की हड्डी से सम्बन्धित) वेदना भी ठीक हो जाती है। प्रायः यह रोग मानसिक तनाव से बढ़ जाता है, गर्दन अकड़ जाती है तब डॉक्टर इधर-उधर घुमाने की सलाह देते हैं फिर भी माथा नहीं नमता है तो यह मान का प्रतीक है, इसीलिए आचार्य सिर को जमीन तक ले जाकर अष्टांग नमस्कार करने को कहते हैं। इससे शारीरिक और मानसिक रोग भी ठीक हो जाते हैं। शारीरिक व मानसिक दो प्रकार के स्वास्थ्य होते हैं। यदि मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ जाए तो सब कुछ खाने के बावजूद भी शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए दवाई लेकर ठीक हो सकते हैं किन्तु मन का दर्द कैसे दूर करें? जितना-जितना भूलने की कोशिश करते हैं उतना-उतना याद आता है। जिनको मानसिक व्यथा नहीं है उन्हें याद कर लो तो अपने आप ठीक हो जाती है, उसका प्रयोग अच्छे ढंग से करें अन्यथा कई लोग मरहम तो मलते हैं किन्तु उससे उल्टी चमड़ी और उखड़ जाती है।

णमो जिणाणं—श्री कुन्दकुन्दस्वामी में कितनी भक्ति थी कि उन्होंने गणधरवलय में एक-दो नहीं ४८-४८ '**णमोजिणाणं**' आदि सूत्र लिख दिये। इन सूत्रों की व्याख्या षट्खण्डागम की नौवीं पुस्तक में की गई है। व्याख्या को सुनकर ऐसा लगता है कि **णमोजिणाणं** इन सूत्रों में कितना तथ्य भरा है। उनमें से प्रथम एक **णमोजिणाणं** सूत्र इस मंगलाचरण में आया है। ये सूत्र मन्त्र जैसे माने जाते हैं। तात्पर्यवृत्ति में मंगलाचरण के एक-एक शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है। सर्वप्रथम नमस्कार करके अपने आपको लघु स्वीकार किया है। प्रभु आपही सब कुछ हैं, मैं कुछ नहीं; ऐसा भाव भरा नमन किया है। कुछ भक्तगण नमन करते हुए अपने आपमें खो जाते हैं एवं आनन्द से भर जाते हैं। 'नमोऽस्तु' शब्द में बहुत सार भरा है। तीन लोक के नाथ ने नहीं कहा कि तुम मुझे नमस्कार करो, लेकिन भक्त ने भगवान् को पहचाना और **आज वह नमन कर रहा है तो निश्चित ही वह मोक्ष की ओर गमन करेगा। जिसने जिन की पहचान की है वह निज की पहचान अवश्य करेगा।** इसलिए अच्छे ढंग से नमन करो। पैर पड़ो, ऐसा कहते हैं लेकिन पैर को पकड़ने की आवश्यकता नहीं है, दूर से भी नमोऽस्तु कर सकते हैं। वैसे भी प्रभु के तन को छू नहीं सकते उन्हें भावों से उठाओ और हृदयासन पर बिठाओ। भावों के माध्यम से गाम्भीर्य आता है। जैसे-गम्भीर अर्थ वाली कविता का ज्यादा महत्त्व होता है वैसे ही भक्त श्रद्धा भाव से नमन का रसास्वादन करता है। जब '**न मन हो तभी नमन हो**' क्योंकि मन कहता है '**नम न**' ऐसा ''**मूकमाटी**'' में कहा है जब तक मन रहेगा तब तक 'मैं छोटा हूँ, मैं बड़ा हूँ' इस तरह मन का व्यापार चलता रहेगा; यह मन का कार्य है। मन में मान न हो तभी सही भगवान् को नमन हो। लौकिक जीवों के सामने भले ही अहंकार कर ले किन्तु त्रिलोकीनाथ के सामने अहंकार नहीं करना। मन को जिन्होंने जीत लिया है, सैनी-असैनी से जो ऊपर

उठ गये हैं वे जिन हैं। अत: त्रियोग से नमन करो, सौभाग्य मानो कि मैं जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार कर रहा हूँ और असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा हो रही है। जिन और निज के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है तो जब समानता ही आ गई फिर नमस्कार क्यों? ऐसा सोचकर अज्ञानी जीव हेयबुद्धि से भगवान् को नमन करता है। उसके अविवेक पर करुणा आती है। अहंकार के साथ हेयबुद्धि से नमस्कार करने पर कर्म निर्जरा तो बहुत दूर अपितु अप्रशस्त प्रकृतियों का बन्ध होगा। मान में भगवान् का दर्शन कहाँ? **वन्दन ऐसा करो कि बन्धन टूट जाए।** नमन के लिए हेय विशेषण नहीं उपादेय विशेषण लगायें क्योंकि ''**कर्मक्षयार्थं नम्यते इति नमनं**'' हेयबुद्धि से भगवान् को नमन करना किसी ग्रन्थ में नहीं लिखा है। आगम कहता है–नमन में हेयबुद्धि नहीं, नमन के फल से जो प्रशस्त कर्मों का बन्ध होगा उसके फलस्वरूप जो पञ्चेन्द्रिय के विषय प्राप्त होंगे उनके प्रति हेयबुद्धि धारण करें। रात-दिन तो विषयों में लीन है और जब प्रभु के नमन, पूजन की बात आती है तो हेयबुद्धि से करता है। यह ठीक नहीं है आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी जैसे महायोगी कहते हैं–**णमोजिणाणं।**

त्रेसठ ऋद्धि के धारी गणधरपरमेष्ठी भी जिनके चरणों में जाकर नतमस्तक हो जाते हैं और सूर्य के सामने स्वयं को जुगनू की भाँति मानकर स्तुति करते हुए कहते हैं कि–हे प्रभो! कहाँ आप अनन्तज्ञान, वैभव के धारी और कहाँ हम सीमित ज्ञान के धारी। इस तरह भाव विभोर होकर नमन करते हैं। कृतकृत्य होकर भी अशरणों की प्रभु ही एकमात्र शरण हैं। उन्होंने करने योग्य कार्य को कर लिया और अज्ञानी कृतकृत्य की बात सुनना ही नहीं चाहता, करने योग्य कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करता। यदि कुछ भी नहीं आता है तो बार-बार '**णमोजिणाणं**' कहो बेड़ा पार हो जायेगा वरना अनादिकाल से तो भवसमुद्र में भ्रमण कर ही रहे हैं। आचार्य श्रीसमन्तभद्र स्वामी की भक्ति का अतिरेक तो देखो वे कहते हैं–हे भगवन्! आप ही गुप्ति में रहिये हम तो समिति के माध्यम से ही आप तक आ जायेंगे।

वन्दन से बन्ध होता तो सबको होना चाहिए। श्री कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं–इससे बन्ध नहीं कर्म निर्जरा ज्यादा होती है, बन्ध तो रुक नहीं सकता क्योंकि सोलह कषाय और उसकी सहयोगी नौ नोकषाय इस तरह पच्चीस कषाय के माध्यम से बन्ध होता रहता है। स्तुति से नहीं, स्तुति के माध्यम से तो निर्जरा होती है अन्यथा श्री कुन्दकुन्दस्वामी बन्ध करने के लिए नमन क्यों करते? उन्हें तो संवर निर्जरा करना था। इसलिए मंगलाचरण के रूप में सर्वप्रथम नमन ही होता है। बचपन की पाठशाला से लेकर अन्तिम सल्लेखना तक पञ्चनमस्कार मन्त्र ही रहता है।

दीनहीन होकर भी नमस्कार न करो कि हे भगवन्! आपके पास अनन्त शक्ति है उसमें से एक शक्ति मुझे दे दो तो मैं चला जाऊँगा। देवों के पास भी बहुत शक्तियाँ रहती हैं, उन्हें नहीं मानेंगे तो वह विघ्न करेंगे अत: पहले उनकी वन्दना कर लो। ऐसे दीनहीन होकर भय से या अहंकार से सच्चा नमन नहीं हो सकता, अपितु स्वयं को लघु मानकर जो गुरु बन चुके हैं उन्हें नमस्कार करें। जो भी

सिद्ध हुए हैं उन्होंने भी पहले नमन किया था। अरहंतपरमेष्ठी भी पहले सिद्धपरमेष्ठी को नमस्कार करते हैं। नमन के माध्यम से हृदय रूपी उच्चासन पर बिठाया जाता है। जैसे–आप साधु को पड़गाहन करके उच्चासन पर बिठाते हैं और स्वयं नीचे बैठते हैं। भगवान् का पड़गाहन (आह्वानन) दिन–रात कभी भी कर सकते हैं। श्रावक साधु को पड़गाहन कर उच्चासन देता है और साधु नयन मूँदकर सिद्धों को पड़गाहन और उच्चासन देते हैं। प्रभु को उच्चासन पर विराजमान करने के बाद ही स्तुति की जाती है। हृदय स्थान से श्रेष्ठ कोई आसन नहीं है। आजतक यह आसन सूना था, प्रतीक्षारत था; प्रभु आपका आगमन होते ही हम तो आपके चरणों में बैठ ही जायेंगे; भक्तों को यह दृढ़ विश्वास होता है। भक्त कमजोर नहीं; प्रभु और गुरु का अनुचर होता है। गुरु पुरोधा (आगे) हैं और शिष्य उनके पीछे, बीच में कोई अन्तर नहीं। गुरु–शिष्य व भक्त–भगवान् के बीच कोई आ ही नहीं सकता, सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ होना चाहिए। जिससे असंख्यातगुणी पाप कर्म की निर्जरा होती है ऐसा विश्वास करके कहीं भी स्तुति करो स्तुत्य सामने हो या न हो, श्रद्धा का सेतु बना रहना चाहिए।

मंगलाचरण के नमस्कार में काफी समय निकल गया ऐसे ही प्रभु के वन्दन में सारा जीवन निकल जाए, इससे बढ़कर मुक्ति का कोई सरल उपाय नहीं है। ''**नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पन्थाः**'' नमन करने के लिए तीव्र क्षयोपशम की भी आवश्यकता नहीं है। शेर व शूकर भी प्रभु को अच्छे से नमस्कार कर सकते हैं। रत्नकरण्डक श्रावकाचार में शूकर की कथा आई है। मुनि पर उपसर्ग करने वाले शेर को भी शूकर ने पछाड़ दिया और स्वर्ग चला गया। प्रभु वन्दन में घाटा हो ही नहीं सकता। जो इससे आस्रव और बन्ध मानते हैं उन्हें जिनवाणी का रहस्य ज्ञात ही नहीं है। ऐसी मिथ्या मान्यता व मिथ्या प्रचार–प्रसार करने वालों से दूर रहना ही श्रेष्ठ है, ऐसा जिनागम कहता है और हम भी यह जयघोष के साथ कहते हैं।

षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती भी भवन छोड़कर भगवान् के चरणों में झुक रहा है किन्तु अध्यात्म की गहन चर्चा करने वाले भी, 'कर्म बन्ध होगा' ऐसे मिथ्या भ्रम से झुकते नहीं हैं। यदि झुकना भी पड़े तो हेयबुद्धि से झुकते हैं ऐसा धीरे–धीरे मीठे–मीठे शब्दों में प्रतिपादन और प्रकाशन भी करते हैं, सोचते हैं कि ज्ञानदान से बढ़कर और कोई कार्य है ही नहीं। इसी से केवलज्ञान होने वाला है किन्तु यह सब मनगढंत है। इस प्रकार पूजन आदि सब क्रियाओं में आस्रव बन्ध का ही कथन चलता है, यह अनुचित है। सम्यक् नमस्कार अति दुर्लभ है, जितनी बार भी आप नमोऽस्तु करेंगे उतनी बार कर्मों का भार कम होगा और श्रेष्ठ क्वालिटी का बन्ध होगा जो कि ध्यान आदि के लिए साधनभूत माना जाता है। आगम के हिसाब से चलो वरना बहुत पूँजी लगाने पर भी बिना हिसाब किताब के दुकान लुट जायेगी।

जिदभवाणं—तात्पर्य यह है जिन्होंने भव को जीत लिया है। प्रायः जिसको जो अच्छा लगता है उसकी दौड़ उसी ओर रहती है। इसीलिए माता–पिता अपने बच्चे को अपने से ज्यादा दूर नहीं

बिठाते, समझा देते हैं बेटा दूर नहीं जाना लेकिन जैसे ही माँ इधर-उधर गई नहीं कि वह दूर भाग जाता है। माँ के आवाज देने पर भी वह आवाज नहीं करता। माँ घबड़ाती है कि कहाँ चला गया। चिमनी के पास बैठा दिखता है। इसे दक्षिण में ठानादेवी बोलते हैं। यहाँ दीपाधार जिसको बोलते हैं उसके ऊपर दीपक को रखा जाता है। माँ आवाज देती है-बेटा! उसको पकड़ना नहीं किन्तु माँ थोड़ी-सी इधर-उधर व्यस्त हुई कि उसने लौ पकड़ ली और पकड़ते ही चटका लग गया। माँ ने देखा कि चटका लग गया तो कहती है-ले पकड़ और पकड़, मैंने कहा था बेटा दूर से देखना, पकड़ना मत Only see don't touch केवल देखना जानना है। उपयोग से भी पर वस्तुओं को पकड़ना नहीं चाहिए लेकिन हम पकड़े बिना नहीं रहते हैं। अरे बच्चों को भी समझाने पर **"पर को परखो, पकड़ो मत"** 'हओ' कह देते हैं लेकिन तुम तो न अन्दर से हओ कहते हो, न बाहर से। अब जब उस बच्चे की अंगुली जल गई तो वह अब लौ कहने मात्र से ही दूर भागेगा। नहीं समझे। ऐसे ही बड़ों की बात को मानना चाहिए। **जिंदगी में बड़े लोग बहुत अच्छी बात कह देते हैं वह तत्काल अच्छी नहीं लगती बाद में अच्छी लगती है जब वह बड़ा हो जाता है, अनुभव करके मानता है।** भगवान् बनने के लिए भी देव शास्त्र गुरु को और देव शास्त्र गुरु की माननी ही होती है। आज वीरशासन जयन्ती के दिन वीरप्रभु ने भी यही बात कही थी।

जब अन्तिम तीर्थंकर मुक्त हो गये तो श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने यह ग्रन्थ हमें दे दिया। क्योंकि हमारा स्मृति ज्ञान व धारणाएँ कमजोर होती जा रही हैं। अतः ग्रन्थ के संकेतों से ही हम हित की बात समझ सकते हैं। आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी के लिए स्वयं इसकी आवश्यकता नहीं थी।

माँ जो कहती है बच्चों को मान लेना चाहिए लेकिन हम तो अनुभव करके मानेंगे ऐसी हठ करोगे तो उस बच्चे जैसी अंगुलियाँ जल जायेंगी, विकलांग हो जाओगे। माँ कहती है-बेटा ज्यादा कूदना नहीं, नहीं तो हाथ पैर टूट जायेंगे तो शादी भी नहीं होगी। अच्छे से बड़े हो जाओ फिर तो हमारे अभाव में भी तुम्हें सही रास्ता मिलेगा, यही कहा जाता है और बड़ों की नहीं मानी तो पश्चाताप ही हाथ लगेगा। लेकिन संसारी प्राणी मान के कारण बड़ों की बात नहीं स्वीकारता है। आज्ञा नहीं मानने के बीच में यदि कोई कारण है तो वह मान है। यह छोटे बच्चों में भी रहता है। मन की चीज नहीं मिले तो वह रूठ कर बैठ जाता है यही तो मान है। माँ कहती है-बेटा थोड़ी प्रतीक्षा करो लेकिन वह तो उसी वक्त भोजन करना चाह रहा था किन्तु रोटी नहीं बनी थी इसलिए माँ कहती है-बेटा थोड़ा बैठ जाओ, तो वह पूरा ही बैठ जाता है। जिस समय हम तैयार थे उस समय आप आये नहीं और इस समय आप तैयार हैं तो अब हम नहीं। तब वह माँ रसोई बनाकर सबको परोस देती है और बेटा से कहती है-खाना हो तो खा लो, यह कहकर वह बाहर चली जाती है। जब उसे भूख लगती है तब वह भोजन माँगता है। शुरुआत में माँ कुछ नहीं बोलती, दो-तीन बार आग्रह करता है (मानो मन, वचन, काय शुद्धि बोल रहा हो) तब माँ कहती है-वहाँ रखा है जाकर खा लो और चुपचाप वह जाकर खा

लेता है। जब प्रेम से समय पर खिलाया जा रहा था तब नहीं खाया तो मान करने से यही दुर्दशा होगी।

पाँच प्रकार के संसार परिवर्तन से जो पार हो गये हैं वे जिदभव हैं। जो इस भवचक्र से छूट गये हैं उन्हें याद करो, उन्हें याद करने से स्वयं भवचक्र से छूट सकते हैं। कहते हैं ना "**दमदार बेड़ा पार**" उन्हीं के पीछे लग जाओ। आगे वालों का जो हुआ वह हमारा भी हो जायेगा।

यदि तू इनके
पीछे-पीछे हौले हौले
हो लेगा, हो लेगा, हो लेगा
तो निश्चित है
अपने सब मल
धो लेगा, धो लेगा, धो लेगा।

यहाँ अभी कोई तीर्थंकर, गणधर, ऋद्धिधारी, केवली, श्रुतकेवली नहीं हैं किन्तु जैसे गाड़ी चूकने पर स्टेशन पर बैठकर प्रतीक्षा करना ठीक है, यदि घर लौटकर जाओगे तो गन्तव्य मिलेगा ही नहीं। हमें भी उस घड़ी की प्रतीक्षा है कि साक्षात् तीर्थंकर का दर्शन मिले और वाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो। साथ ही प्रयोग करने के लिए योग्य काया मिले। हम लोगों पर आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने महती कृपा की है किसी भी गाथा को खोलकर पढ़ लें तो वस्तु तत्त्व समझ में आ जाता है हेय-उपादेय का भान हो जाता है।

इस ग्रन्थ की टीका करते हुए आचार्य श्री जयसेनस्वामी ने मंगलाचरण लिखा है-

स्वसंवेदन-सिद्धाय, जिनाय परमात्मने।
शुद्ध-जीवास्तिकायाय, नित्यानंद-चिदे नमः॥

स्वसंवेदन ही आत्मज्ञान—शुद्ध नित्य चिन्मय आनन्द का जिन्हें संवेदन होता है, उन्हें नमस्कार है। शुद्ध जीवास्तिकाय सिद्ध परमेष्ठी हैं और हम जीवास्तिकाय हैं। जिनकी आत्मा परमोत्कृष्ट है ऐसे परमात्मा को नमस्कार है। जो दूसरे के संवेदन द्वारा नहीं अपितु अपने ही संवेदन के द्वारा सिद्ध हैं। हम अपने आपका संवेदन करते हैं इसलिए स्वयं के लिए 'हम' कहते हैं और दूसरे के लिए 'तुम' कहते हैं। 'तुम' इसलिए कहते हैं कि 'हम' उनके संवेदक नहीं हैं। संवदेन 'स्व' का होता है, 'पर' का ज्ञान होता है संवेदन नहीं, इसलिए 'स्वसंवेदन-सिद्धाय' कहा है अथवा शुद्धात्मा की अनुभूति करने से शुद्धोपयोग के बल से सिद्धत्व की प्राप्ति होती है यही इसका तात्पर्य है। मंगलाचरण के इस श्लोक से बहुत-सी बातें समझ में आ जाती हैं। अज्ञानी अपने ज्ञान दर्शन के द्वारा स्वसंवेदन से तृप्त नहीं होना चाहता है और बार-बार मन को पञ्चेन्द्रियों के विषयों में लगा देता है। ये विषयों के चटके छूटते नहीं क्योंकि लत पड़ गई है। लत का अर्थ आदत होता है। बुरी चीज के लिए आदत और अच्छी

चीज के लिए आदत नहीं, अभ्यास कहते हैं। हाँ, अभ्यास करो। लेकिन मोबाइल की लत पड़ने से फेल हो जाते हैं। जैसे–गाय, भैंस आदि हरी–हरी घास को खाने के लिए मुँह मारती रहती हैं। मालिक की लात भले ही खा ले किन्तु हरी–भरी घास जानवर छोड़ता नहीं है। यही तो लत है। प्रतिदिन प्रतिक्रमण, ईर्यापथ, आलोचना, प्रायश्चित्त आदि करते हैं फिर भी मन बार–बार बाहर चला ही जाता है। इसीलिए यहाँ कहा है कि– स्वसंवेदन से सिद्ध होते हैं। मोक्षमार्ग में स्वसंवेदन मुख्य है। जो श्रमण होते हैं, वे स्वसंवेदन प्रधान होते हैं। किसी भी जीव को पर का संवेदन नहीं हो सकता फिर भी मिथ्या मान्यता की लत होने से मन बार–बार पर की ओर ही जाता है। **पर की निगरानी तो रखता है किन्तु स्व के परिणामों की निगरानी नहीं रखता।** क्या आजतक किसी ने रुपये पैसे का संवेदन किया है बताओ? नहीं। प्रत्येक व्यक्ति हजारपति तो है ही, लखपति, करोड़पति भी कई हैं, अरबपति होने पर अरब देश की ओर भी चला जाता है। हिन्दुस्तान में चैन नहीं मिला तो विदेश भी चला गया, लेकिन है तो भारतीय ही। जीवनभर परिवार के बारे में सोचता है, योजनाएँ बनाता है फिर उसके बच्चे उस योजना को पूर्ण करने में लग जाते हैं और स्वयं के शुद्ध स्वसंवेदन से वंचित रह जाते हैं। जब विषयों का आनन्द बन्द हो जाता है तब स्व का शुद्ध संवेदन शुरू हो जाता है।

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥ (इष्टोपदेश)

स्वसंवेदन का जब स्वाद आने लग जाता है तब सुलभ विषय भी रुचते नहीं हैं। जो नहीं मिले उन्हें प्राप्त करने की तो इच्छा ही नहीं होती। आहार करते नहीं, करना पड़ता है और उसमें भी रस नहीं आता। पञ्चेन्द्रिय के विषयों से मन की गाड़ी हटाना है और पीछे की तरफ अर्थात् आत्मतत्त्व की ओर लाना है। पञ्चेन्द्रिय के विषयों से हटाकर आत्मतत्त्व की ओर उपयोग लाने में कुछ समय के लिए अच्छा नहीं लगता क्योंकि बाहर के सारे विषय छूट रहे हैं। रिवर्स में गाड़ी को ले जाने में ड्राइवर को पसीना आ जाता है। जब तक रास्ता नहीं आ जाता तब तक सम्भालकर पीछे देखते–देखते गाड़ी को लाना होता है और कंडेक्टर भी पीछे से आवाज देता रहता है आने दो–आने दो और वह पीछे की ओर गाड़ी ले जाता है और ठहरो–ठहरो कहते ही गाड़ी को रोक देता है। उसी प्रकार श्रमण स्वयं कंडेक्टर बनकर पञ्चेन्द्रिय के विषयों से उपयोग की गाड़ी को पीछे की ओर लाते हैं। उस वक्त वेग में नहीं धीरे–धीरे स्वसंवेदन की ओर आते हैं। मैं पूछना चाहता हूँ आप लोग अपनी गाड़ी को पीछे की ओर आत्मतत्त्व की ओर कब लाओगे?

नमस्कार किसको और क्यों—इस ग्रन्थ में क्रिया कारक सन्धि आदि संक्षिप्त से की गई हैं यहाँ सन्धि आदि का नियम गौण भी किया जा सकता है क्योंकि यह अध्यात्म ग्रन्थ है। **ज्ञान में गम्भीरता अध्यात्म की देन है। ''आत्मानं अधिवसति इति अध्यात्मः''** ज्ञान के माध्यम से जो कषाय को शान्त कर देता है वही अध्यात्म में उतर जाता है। इस मंगलाचरण में चार विशेषणों से युक्त

जिनेन्द्र भगवान् को नमस्कार किया है। अनन्त ज्ञानादि गुणों का स्मरण करना ही मंगलाचरण का प्रयोजन है। सामान्य व्यक्ति के शरीर में सुगन्धी नहीं आती और नख-केश आदि भी बढ़ते हैं इसलिए नख को पुनर्भूः कहा है। "**पुनर्पुन र्भवतीति पुनर्भूः**" केवलज्ञान होते ही परमौदारिक शरीर हो जाता है। कवलाहार, मल-मूत्रादिक नहीं होते। रत्नत्रय के फलस्वरूप आत्मा में ऐसी अतिशय रूप परिणति प्रकट होती है। यह अतिशय जिनेन्द्रदेव के होते हैं, इन्द्र के नहीं। तो फिर धरणेन्द्र, पद्मावती के पास अतिशय कहाँ से आयेंगे? इस प्रकार भगवान् के शरीर और आत्मिक गुणों की मुख्यता से मंगलाचरण हो जाता है। आत्मिक गुणों के द्वारा स्तुति करने से विशेष विशुद्धि प्राप्त होती है। यह भी गुण निमित्तक स्तुति है "**तद्गुण-लब्धये अहं वन्दे**" ऐसे ही गुणों की उपलब्धि के लिए नमस्कार करता हूँ, ऐसा भाव नमस्कार किया है।

जिनेन्द्र भगवान् के वचन पूर्वापर विरोध से रहित—शुद्ध जीवास्तिकाय आदि पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य, सात तत्त्व, नव पदार्थ के प्रतिपादक होने से प्रभु के वचनों में पूर्वापर विरोध नहीं आता। आज कुछ कहा, कल कुछ कहा ऐसा नहीं होता। जैसे—वकीलों के प्वाइंट बदल जाते हैं लेकिन कोर्ट बदलने पर भी जज का जजमेंट नहीं बदलता। जजमेंट लिखकर उस कलम को तोड़ दिया जाता है। कुछ गड़बड़ होने वाला हो तो जज भी जजमेंट करके वहाँ नहीं रहता। जो आपस में लड़ते हैं उन्हें कोई नहीं पूजता। देव "**शापानुग्रहशक्तिप्रभावः**" (सर्वार्थसिद्धि४/२०/१८९) शापानुग्रहशक्ति से युक्त होते हैं। सुर-असुरों की, देव-दानवों की आपस में लड़ाई होती रहती है इसलिए शत इन्द्रों के द्वारा पूजा का अतिशय प्रभु में ही है अन्य देवों में नहीं।

जिनेन्द्र भगवान् के गुणगान का महत्त्व—

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनी-भूत पन्नगाः।
विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे॥

जिनेन्द्रदेव का गुणगानरूप मंगल करने से सारे विघ्न, भय दूर हो जाते हैं। क्षुद्र देव जो भवनवासी आदि होते हैं वे अच्छे कार्यों में विघ्न पैदा कर देते हैं किन्तु जिनेन्द्रदेव की अर्चना से सब ठीक हो जाता है। कर्म जब अपना जोर लगाता है तब ज्ञानी, प्रभु-स्तुति आदि पुरुषार्थ करके उसे शान्त करते हैं। प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में कर्म की स्थिति बदलती रहती है तब वे आत्मध्यान, प्रभु-भक्ति आदि करके विशुद्धि बढ़ाते रहते हैं। जैसे—समुद्र के पानी का बारह घण्टे विकास और बारह घण्टे ह्रास होता रहता है। भावनगर के पास घोघा में समुद्र के पास पत्थर पर जब बैठे थे तब हमने यह देखा—दिन में पानी बहुत दूर तक चला गया और रात में फिर आ गया। सर्दी, गर्मी, वर्षा कोई भी ऋतु हो समुद्र का यही नियम रहेगा। उसी प्रकार परिणामों में भी पेंडुलम के समान संक्लेश और विशुद्धि का क्रम चलता रहता है। पेंडुलम जैसे ऊपर नीचे आता जाता रहता है लेकिन उसकी सीमा है चाहे कितनी ही चाबी भरो, उसकी गति में अधिकता नहीं आती। काँटे ऊपर जाएँ या नीचे, चाल समान ही रहती

है। उसी प्रकार जीवन में उत्थान-पतन होता रहता है। बड़े-बड़े साधकों में भी संक्लेश और विशुद्धि का क्रम चलता रहता है। महाअरण्य रूपी भव में अनेक प्रकार के व्यसन अर्थात् दुख हैं। दुख प्राप्त कराने वाले कर्मरूपी शत्रु ही हैं जो बाहर नहीं भीतर हैं, उन्हें जो जीतते हैं वे जिनेन्द्रदेव हैं। अनन्त ज्ञानादि गुणों का स्मरण रूप जो भाव नमस्कार है वह अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से है। शब्दों के उच्चारण के साथ जो किया जाता है वह असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से है क्योंकि शब्दों में कथञ्चित् परद्रव्य का ही आलम्बन है। प्रभु की स्तुति शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से नहीं होती क्योंकि शुद्ध निश्चयनय में जो कुछ भी किया जाता है स्वयं को, स्वयं के द्वारा, स्वयं के लिए ही किया जाता है। अतः शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा में लीन होना ही भाव नमस्कार है।

मंगलाचरण कब करना चाहिए—

मंगल णिमित्त हेऊ परिमाणा णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थ-माइरिओ॥

आदि में मंगलाचरण करने से शिष्य बहुत जल्दी शास्त्र में पारंगत हो जाता है, मध्य में करने से विद्या अध्ययन के बीच विच्छेद नहीं होता और अन्त में करने से पूर्ण रूप से विद्या का फल मिलता है। विद्या तो मिल गई किन्तु विद्या का फल नहीं मिला ऐसा वैद्य आदि कई लोग कहते हैं-महाराज! हाथ में यश नहीं है क्या करें? आशीर्वाद दे दीजिए। मैं भी हाथ से आशीर्वाद दे सकता हूँ लेकिन तुममें यश नहीं भर सकता क्योंकि यह तुम्हारे ही पुरुषार्थ के आधीन है और कुछ लोग ऐसे भी हैं जो आयुर्वेदाचार्य नहीं हैं फिर भी उनके वहाँ लाइन लगी रहती है और विद्या का फल भी मिल जाता है। यहाँ तक मुख्य मंगल का वर्णन हुआ। अब अमुख्य मंगल क्या है? वो बताते हैं –

अमुख्य मंगल का विशेष वर्णन—सिद्धार्थ अर्थात् सफेद सरसों, पूर्णकलश, वन्दनमाला, श्वेतछत्र, आदर्श (दर्पण), राजा, बालकन्या और जयपना आदि व्यवहार से अमुख्य मंगल में आ जाते हैं। व्रत संयम नियम द्वारा जिनेन्द्र भगवान् ने सिद्ध पद प्रगटाया है। सिद्ध अर्थ होने से सिद्धार्थ को बाह्य अमुख्य मंगल माना है। जिनका मनोरथ अर्थात् मनवांछित पूर्णज्ञान प्राप्त हो गया इसीलिए पूर्णकुम्भ मांगलिक है। कहीं जाते समय शकुन के रूप में यदि कोई पूर्णघट लेकर सामने से आ जाए तो उसमें सिक्का वगैरह डालकर प्रसन्न होते हैं ये सभी शुभ माने जाते हैं।

मन्दिर में जाते समय वन्दनमाला का स्पर्श करते हैं और तीर्थंकर भगवान् की वन्दना करते हैं इसीलिए इसे वन्दनमाला कहा है कहीं-कहीं कुछ भी न मिले तो लोग आम के पत्तों की ही वन्दनमाला बना देते हैं। प्रतिक्रमण में **अस्सहि-निस्सहि** पाठ आता है किसी स्थान विशेष में प्रवेश करते समय निस्सहि-निस्सहि और निकलते समय अस्सहि-अस्सहि कहा जाता है, यह भगवान् की आज्ञा है।

चाँदी का सफेद छत्र शुक्ललेश्या, शुक्लध्यान का प्रतीक माना जाता है। शुक्लध्यान से ही केवलज्ञान होता है। दूसरा अर्थ है जो छाया प्रदान करे उसका नाम छत्र है। अरहंत प्रभु तीनों लोक

के जीवों के लिए छाया प्रदान करने वाले अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कराने वाले होते हैं। अष्ट प्रातिहार्यों में भी छत्र को रखा है। **तिलोयपण्णत्ति** में सिद्धालय का आकार उत्तान छत्राकार कहा है अतः छत्र भी मंगल है। श्वेत वर्ण को भी मंगल रूप स्वीकारा है। चार घातिया कर्म के विनाशक, कभी जन्म न लेने वाले ऐसे अरहंत प्रभु का ध्यान श्वेत वर्ण के माध्यम से किया जाता है। पाँचों रंगों का कुछ न कुछ महत्त्व है। पाँचों परमेष्ठी का क्रमशः सफेद, लाल, पीला, हरा और नीले रंग से ध्यान, चिन्तन किया जाता है। पीला रंग हल्दी या केशर जैसा जानना। आगम में संज्वलन कषाय को हल्दी की उपमा दी है क्योंकि हल्दी का रंग धूप और हवा से उड़ जाता है। हल्दी का रुमाल आँख आने पर औषधि का काम करता है। जैनदर्शन में केशरिया रंग इसीलिए शुभ माना है। करोड़ों का हीरा खरीदने पर भी हीरे में चेहरा नहीं दिखेगा क्योंकि हीरे में वह क्षमता नहीं है किन्तु दर्पण के छोटे से टुकड़े में भी चेहरा दिख जायेगा इसीलिए दर्पण को मंगल कहा है और केवलज्ञान भी दर्पण स्वरूप है क्योंकि केवलज्ञानरूपी दर्पण में लोकालोक झलकता है। हाथी व कन्या मंगलरूप हैं लेकिन अविवाहित कन्या हो। जातिअश्व भी मंगल रूप है। वैसे अश्व अनेक प्रकार के होते हैं कहीं-कहीं पर ऐसी मान्यता है कि कुछ घोड़े फलते नहीं। घर में घोड़ा आते ही लक्ष्मी चली जाती है। जातिअश्व श्रेष्ठ लक्षण वाला घोड़ा होता है अतः उसे मंगल में लिया है। बारात वगैरह में भी ऊँट नहीं, हाथी, घोड़े पहले आ जाते हैं ये हाथी, घोड़े चक्रवर्ती के चैतन्य सात रत्नों में भी आ जाते हैं। जिस प्रकार वीतराग सर्वज्ञ भगवान् मंगलमय हैं उसी प्रकार व्यवहार में हाथी, घोड़ा, राजा, बालकन्या, दर्पण इत्यादि मांगलीक हैं।

मंगलाचरण के भेद—सौ इन्द्रों के द्वारा नमस्कार के योग्य वीतराग भगवान् ही हैं। जहाँ भगवान् की पूजा होती है वहाँ अभी जाकर हम देख नहीं सकते और पूजा करने वाले पंचमकाल होने से यहाँ आ नहीं सकते। अतः आगम में जो लिखा वही प्रमाण है। प्रवचनसार, समयसार, पञ्चास्तिकाय आदि सभी ग्रन्थों में आचार्य श्री जयसेनस्वामी ने शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ इन पाँचों के साथ पदखण्डना रूप तात्पर्यवृत्ति लिखी है। इससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है और व्याख्यान काल में इन्हीं पाँचों के क्रम से प्रासंगिक अर्थ समझ में आ जाता है। (टीका में कर्मरूपी शत्रु को जीतने वाले को विष्णु कहा है) निबद्ध और अनिबद्ध के भेद से मंगलाचरण दो प्रकार का है। यहाँ स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा बनाया हुआ होने से निबद्ध मंगलाचरण है। जैसे—श्री उमास्वामी महाराज द्वारा रचित '**मोक्षमार्गस्य नेतारं**' निबद्ध मंगल है और दूसरे के द्वारा बनाये गये मंगलाचरण को करना अनिबद्ध मंगलाचरण है।

शंका—यहाँ शिष्य का प्रश्न है कि मंगलाचरण की क्या आवश्यकता है सीधा ही शास्त्र प्रारम्भ क्यों नहीं करते? यदि मंगलाचरण करने से पुण्य का बन्ध होता है और पुण्य से निर्विघ्न कार्य होता है इसलिए मंगलाचरण करते हैं तो शिष्य पुनः कहता है—इसमें भी व्यभिचार दोष आता है क्योंकि कहीं-कहीं पर श्रेष्ठ मुहूर्त निकाला। जैसे—रामचन्द्रजी का। दान पुण्य, भूमिपूजन आदि भी किया फिर

भी विघ्न आ जाता है। यदि पुण्य द्वारा शास्त्र निर्विघ्न हो जाता है तो फिर सभी का शास्त्र लेखन निर्विघ्न होना चाहिए था। दूसरी बात यह है कि दूसरा कोई दान पुण्य कुछ भी नहीं करता फिर भी अच्छे से काम हो जाता है इससे स्पष्ट है कि मंगलाचरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है?

समाधान—आचार्य भगवन् कहते हैं—जितने भी पूर्वाचार्य हुए हैं उन्होंने इष्टदेवता को नमस्कार करके ही शास्त्र प्रारम्भ किया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नमस्कार, दान, पूजा करने के उपरान्त भी विघ्न देखने में आ जाते हैं तो वह इस धर्म का फल नहीं है किन्तु जो पूर्व में पाप किया था उसी का फल है। धर्म को दोष मत दो। जो वर्तमान में पाप कर रहा है फिर भी कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो रहे हैं तो इसमें पाप से कार्य निर्विघ्न हो गये ऐसी धारणा मत बनाओ किन्तु पूर्व में किया हुआ जो पुण्य है उसके फलस्वरूप कार्य निर्विघ्न हुआ है। जब यह पुण्योदय समाप्त हो जायेगा तब देखना विघ्नों का अम्बार लग जायेगा।

जब तक तेरे पुण्य का, बीता नहीं करार।
तब तक तुझको माफ हैं, औगुन करो हजार॥

जब पाप का घड़ा भर जायेगा तो अवश्य फूटेगा अर्थात् फल देखने में आयेगा इसीलिए ये दोनों ही दोष देना ठीक नहीं है।

शंका—पुनः शिष्य प्रश्न करता है—शास्त्र मंगलरूप है या अमंगल रूप? यदि शास्त्र स्वयं मंगलरूप है तो मंगल के लिए मंगलाचरण की क्या आवश्यकता है? यदि अमंगलरूप है तो मंगलाचरण से क्या प्रयोजन है? और अमंगलकारी शास्त्र लिखने की भी क्या आवश्यकता है?

समाधान—आचार्यदेव कहते हैं कि जैसे दीपक द्वारा सूर्य की अर्चा की जाती है, अंजुलि से विशाल सागर को जलाञ्जलि दी जाती है, वागीश्वरी शब्दों की मूर्ति सरस्वती की शब्दों के द्वारा ही भक्ति की जाती है वैसे ही मंगलमयी शास्त्र का मंगलाचरण किया जाता है और इष्टदेवता को नमस्कार किया जाता है। नमस्कार से मोक्षमार्ग की सिद्धि, परमेष्ठी के प्रसाद से होती है। अभिमत फल की सिद्धि होती है अर्थात् सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। शास्त्र की उत्पत्ति अरहंत परमेष्ठी के बिना नहीं होती अतः मंगलाचरण में जिनवाणी की भी भक्ति की है किन्तु हेयबुद्धि से नहीं, भक्ति से ओत-प्रोत होकर की है। कोई भी महापुरुष या महामुनिपुंगव औपचारिक कार्य नहीं कर सकते। जिनके प्रसाद से संसारी जीवों पर बहुत बड़ा उपकार हुआ, उसे कृतघ्नी लोग ही विस्मृत कर सकते हैं किन्तु जो कृतज्ञ हैं वे कभी उपकार को भूलते नहीं हैं। इस प्रकार संक्षेप से मंगलाचरण का व्याख्यान हुआ।

ग्रन्थ लेखन में हेतु—अब निमित्त अर्थात् कारण को कहते हैं—छ्यासठ दिन तक भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी? क्या कोई विशेष पुण्यशाली गणधर परमेष्ठी की उपस्थिति नहीं थी? जिन्होंने समवसरण में ही दीक्षा लेकर प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया, उन्हीं के निमित्त से दिव्यध्वनि खिरी। उसी प्रकार श्रीशिवकुमार महाराज आदि के निमित्त से श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने

समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थ लिखे। जैसे–श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती जी ने चामुण्डराय को निमित्त बनाकर गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार की रचना की थी। लब्धिसार व क्षपणासार ये कषायपाहुड के अनुसार हैं और जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड व त्रिलोकसार आदि षट्खण्डागम के अनुसार हैं। द्रव्यसंग्रह की रचना सोमश्रेष्ठी के निमित्त से हुई। कोटा के पास केशवरायपाटन एक अतिशय क्षेत्र है जहाँ चम्बल नदी के तट पर एक पाषाण का मन्दिर है। चम्बल नदी का पानी अचानक वृद्धिंगत होकर श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान् के चरणों को छू कर अभिषेक करके बाहर आ जाता था उसी स्थान पर द्रव्यसंग्रह की रचना हुई ऐसा इतिहास उपलब्ध होता है। जैसे सूर्य उगते ही पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं वैसे ही श्रुतरूपी रवि के उदय से छहद्रव्य, नौपदार्थ, पञ्चास्तिकाय आदि का ज्ञान हो जाता है।

ग्रन्थ लेखन के फल का महत्त्व—हेतु अर्थात् साधन होता है किन्तु यहाँ हेतु का अर्थ फल लिया है अर्थात् लिखने का उद्देश्य या लक्ष्य क्या है? वह फल दो प्रकार का होता है। प्रत्यक्षफल अर्थात् हाथों-हाथ, तत्क्षण या वर्तमान में सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, अज्ञान का निवारण और कर्मों की निर्जरा है। सभी धार्मिक अनुष्ठान अज्ञाननिवृत्ति के लिए कारणभूत हैं अतः उन क्रियाओं को बहुत भक्ति, आस्था, विनय के साथ तथा बिना फल की आकांक्षा से करना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्र पढ़ने से एक उपवास का फल मिलेगा, यह आकांक्षा न रखें। स्वाध्याय, दान, विधि-विधान, अनुष्ठान आदि शुभ कार्य प्रारम्भ करने के प्रथम समय से ही सातिशय पुण्य बन्ध व पाप कर्म की निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है और निर्जरा तत्त्व, मोक्ष तत्त्व के लिए भी उपायभूत है ऐसा भगवान् ने कहा है। जब सातिशय पुण्य बन्ध होता है तो धीरे-धीरे उदय में आ जाता है। बीज बोते ही फल नहीं मिलता। हाँ, ''**इसभव में न सही परभव में मिलता है**'' ऐसा भजन भी बोलते हैं। उतावली मत करो इससे गड़बड़ होता है।

शिष्य-प्रशिष्य का होना, ख्याति-प्रसिद्धि की प्राप्ति होना यह दूसरा परम्परागत फल है। इससे शिष्य आदि की वृद्धि, वृक्ष की शाखा-उपशाखा के समान होती जाती है। जैसे-परिवार में परम्परा चलती है वैसे ही कर्म की परम्परा चलती रहती है। प्रत्यक्ष फल नाश्ते के समान है तथा भूख लगने पर भोजन के समान परम्परागत फल है अर्थात् तीर्थंकर आदि पद बाद में मिलेगा। अभ्युदय अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति, यह भी परोक्ष फल है।

राजाधिराज	–	१८ श्रेणी सेना का पति मुकुटधर होता है।
महाराजा	–	५०० मुकुटधर राजा का अधिपति अधिराजा होता है।
अर्द्धमण्डलीक	–	२ हजार मुकुटबद्ध राजाओं का अधिपति होता है।
मण्डलीक	–	४ हजार मुकुटबद्ध राजाओं का अधिपति होता है।
महामण्डलीक	–	८ हजार मुकुटबद्ध राजाओं का अधिपति होता है।

अर्द्धचक्रवर्ती	–	१६ हजार मुकुटबद्ध राजाओं का अधिपति होता है।
चक्रवर्ती	–	३२ हजार मुकुटबद्ध राजाओं का अधिपति होता है।
गणधरदेव	–	६३ ऋद्धि के धारी होते हैं।
तीर्थंकर	–	परमदेव तीन लोक के नाथ होते हैं।

पहले से ही स्वर्ग के देवी–देवता कतारबद्ध स्वागत के लिए खड़े रहते हैं किन्तु इसके लिए निदान बन्ध नहीं करना है। धर्म का प्रचार–प्रसार हो ही रहा है, कर्मनिर्जरा हो ही रही है, इससे बढ़कर और क्या चाह रखना यही तो प्रत्यक्ष फल है।

जिन्होंने घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया, चौंतीस अतिशय से युक्त हैं, सौधर्मइन्द्र स्वयं जिनके कल्याणकों में आता है, एक–दो नहीं अनेक क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव भी सोलहवें स्वर्ग तक से नीचे आ जाते हैं। अभी गर्भ में प्रभु आये भी नहीं, इसके पहले ही सौधर्मइन्द्र (प्रतिष्ठाचार्य महोदय) भूमि पूजन के लिए आ जाता है और स्वर्णमयी अयोध्यानगरी की रचना करता है, ये सारे कार्य परोक्ष फल के अन्तर्गत हैं। ऐसा अरहंत पद महामंगलकारी है। इसी तरह सिद्धपरमेष्ठी का वर्णन सिद्धचक्रविधान से कुछ ज्ञात हो जाता है। जो मूल आठ प्रकृतियाँ और सभी उत्तर प्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्त्व से विमुक्त हो गये हैं। जैसे–दूध में घी रहता है लेकिन हाथ से निकालो तो नहीं निकल सकता। पहले दूध में जामन डाल दो, रातभर प्रतीक्षा करो फिर मथो, नवनीत निकलने पर तपाओ, तपाते ही दूर–दूर तक सुगन्धी फैल जाती है तब कहीं दूध में से घी निकलता है। ऐसे ही आठ कर्मों से मुक्त होने के उपरान्त घृत के समान सिद्धपरमेष्ठी लोकाग्र पर विराजमान हो जाते हैं। जो मुख्य आठ गुणों से युक्त हैं। प्रथम अरहंत सकलपरमात्मा हैं द्वितीय सिद्ध निकलपरमात्मा हैं।

सकल–निकल परमातम द्वैविध तिन में घाति निवारी।
श्री अरहंत सकल परमातम लोकालोक निहारी॥ (छहढाला)

ग्रन्थ के प्रमाण का वर्णन–यह ग्रन्थ गौण और मुख्य तत्त्व के प्रतिपादन के लिए है। संक्षिप्त रुचि रखने वालों के लिए संक्षिप्त वर्णन करते हैं और विस्तार रुचि रखने वालों के लिए विस्तार से वर्णन करते हैं। जैसे–पाँच पङ्गत में से जो पहली पंगत में भोजन करने के लिए बैठते हैं और अन्तिम पङ्गत में उठते हैं उन्हें विस्तार (विशेष) रुचि वाले जानो और जो अन्तिम पङ्गत में बैठकर सबसे पहले ही भोजन करके उठ जाते हैं वे संक्षिप्त रुचि वाले जानो। इनमें संक्षिप्त रुचि रखने वाले श्रीशिवकुमार महाराज आदि के सम्बोधन के लिए यह पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ लिखा गया। इसमें ३ महाधिकार हैं और १८ अन्तराधिकार हैं। प्रथम महाधिकार में पञ्चास्तिकाय छह द्रव्य के प्रतिपादन की मुख्यता से १११ गाथाएँ हैं। यद्यपि श्री अमृतचन्द्रस्वामी की टीकानुसार १०३ ही गाथाएँ हैं किन्तु श्रीजयसेनस्वामी ने पूरी १११ गाथाओं की टीका लिखी है। द्वितीय महाधिकार में सात तत्त्व, नौपदार्थ की मुख्यता से ५०

गाथाएँ हैं। तृतीय महाधिकार में मोक्षमार्ग के वर्णन की मुख्यता से २० गाथाएँ हैं। इस प्रकार श्री जयसेनस्वामी ने कुल १८१ गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति टीका इस ग्रन्थ में की है किन्तु श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने तात्पर्यवृत्ति में १७३ गाथाओं की ही टीका लिखी है। इसकी 'तात्पर्यवृत्ति' टीका में तात्पर्यवृत्ति अर्थात् सारभूत (मुख्य) प्रयोजनभूत शुद्ध जीवास्तिकाय है, शेष गौण हैं।

ग्रन्थ में नाम की सार्थकता—इस ग्रन्थ का पञ्चास्तिकाय सार्थक नाम है। एक नाम रखा जाता है दूसरा सार्थक हो जाता है। जैसे—तपन का अर्थ सूर्य यह सार्थक नाम है। किसी के पास एक कौड़ी भी नहीं और नाम धनञ्जय है, आँखों से अन्धा है और नाम नयनसुख है, एक लकड़हारा जंगल से लकड़ी का भार कन्धे पर ढोता है, कमर टेढ़ी हो गई है, गर्दन झुकती नहीं, फिर भी उसका नाम ईश्वर है। लोग उसको ईश्वरकाका कहते हैं।

ग्रन्थकर्त्ता की महत्ता—ग्रन्थकर्त्ता तीन प्रकार के होते हैं-मूल ग्रन्थकर्त्ता, उत्तर ग्रन्थकर्त्ता और उत्तरोत्तर ग्रन्थकर्त्ता। मूल ग्रन्थकर्त्ता अरहंतपरमेष्ठी, उत्तर ग्रन्थकर्त्ता गणधरपरमेष्ठी, उत्तरोत्तर ग्रन्थकर्त्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य आदि हैं। इस तीर्थ में मूल ग्रन्थकर्त्ता वर्धमानस्वामी का ही शासन चल रहा है जो अठारह दोषों से रहित एवं अनन्त चतुष्टय से सहित हैं। उत्तर ग्रन्थकर्त्ता चार ज्ञान व सात ऋद्धि के धारी गणधर परमेष्ठी हैं। कर्त्ता का नाम ज्ञात होने से वचन एवं कृति में प्रामाणिकता आती है अतः अरहंत परमेष्ठी से सम्बन्ध रखने के कारण श्री कुन्दकुन्दस्वामी द्वारा रचा हुआ यह पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ भी प्रमाणभूत है। इस प्रकार मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम एवं कर्त्ता का वर्णन हुआ।

उत्थानिका—द्रव्य शास्त्र रूप शब्दागम को नमस्कार करके पञ्चास्तिकायरूप अर्थसमय को कहूँगा ऐसी प्रतिज्ञा की जा रही है–

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा, समयमिमं सुणह वोच्छामि ॥२॥

अन्वयार्थ—(एसो) यह **(समणमुहुग्गदं)** वीतराग सर्वज्ञ महाश्रमण के मुख से प्रकट **(चदुग्गदिणिवारणं)** नरकादि चारों गतियों का निवारण करने वाले **(सणिव्वाणं)** निर्वाण सहित **(अट्ठं)** जीवादि पदार्थ समूह को **(सिरसा)** मस्तक से **(पणमिय)** नमस्कार करके **(इमं समयं)** इस आगम [पञ्चास्तिकाय] को **(वोच्छामि)** कहूँगा **(सुणह)** हे भव्य जीवो! सुनो।

अर्थ—श्रमण अर्थात् वीतराग सर्वज्ञ देव के मुख से उत्पन्न हुए वचन चारों गतियों के निवारण व सर्व कर्म के क्षयरूप निर्वाणकारक हैं। अतः जीवादि पदार्थों के प्ररूपक शब्दआगम पञ्चास्तिकाय समय को मैं सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ।

यह परमागम महाश्रमण के, मुख से ही उत्पन्न हुआ।
चउगति दुख का रहा निवारक, मोक्ष प्रकाशक समय कहा॥
शीश झुकाकर इस आगम को, सविनय वंदन करता हूँ।
भव्य सुनो उपयोग लगाकर, अब प्रतिपादन करता हूँ ॥२॥

व्याख्यान—मंगलाचरण में मंगल के लिए इष्टदेवता को नमस्कार किया है तथा द्रव्य आगमरूप जो शब्दसमय है उसे नमस्कार करते हैं। पञ्चास्तिकाय रूप अर्थसमय जो कि इसका अभिधेय माना जाता है। जैसे–किसी के नाम का शब्दोच्चारण करते ही ध्वनि अर्थ की ओर चली जाती है। वैसे ही शब्दसमय के व्याख्यान के साथ शब्द का वाच्यभूत जो पदार्थ है उसका भी अभिप्रायानुसार वर्णन हो जाता है। आगम से दूरवर्ती पदार्थ का भी ज्ञान हो जाता है किन्तु बिना नाम के हम ज्ञान नहीं कर सकते, नाम से हम प्रशिक्षित हैं स्मरण के साथ ही उस पदार्थ की ओर दृष्टि चली जाती है। **आत्मा** यह ढाई अक्षर कहते ही उपयोग लक्षण वाला है। **पुद्गल** कहते ही रूप रसादिक से युक्त है यह परिचित या परीक्षित होने से ज्ञात हो जाता है वरना सम्बन्ध नहीं रह पाता। जैसे–सौ कैरिट वाला किसी को हीरा मिल जाए किन्तु उसे उसके स्वरूप का ज्ञान ही नहीं है तो कुछ नहीं होगा। ये शब्द पदार्थ तक पहुँचने में परिचित होने पर सहयोगी हो जाते हैं। जिन लोगों से परिचित होते हैं उनके आते ही राग–द्वेष की तरंगें उठना प्रारम्भ हो जाती हैं। More Study, More Confusion, No Study No Confusion और शब्द सुनते ही संदेह हो सकता है।

शब्द समय का गुणानुवाद—सर्व कर्मों के विनाश से जो प्राप्त होता है वह निर्वाण है। यदि श्रद्धा से इन वचनों को हम सुनकर या पढ़कर निज आत्मा को विषय बना लेते हैं तो सर्व प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं लेकिन शब्दों के माध्यम से पाण्डित्य हासिल कर धनार्जन करना चाहें तो संसार वृद्धि का ही कारण होगा। शब्दों के माध्यम से यदि लौकिक प्रयोजन है तो नमन के योग्य नहीं है। धार्मिक ग्रन्थों को यदि किसी को देना है तो पहले यह देखकर देना कि वह ज्ञान का दुरुपयोग तो नहीं करेगा। जिनेन्द्र भगवान् के वचन गम्भीर, मधुर, मनहर और निर्दोष हैं, सुनने वालों के लिए हितकारी हैं। कण्ठ, ओष्ठ आदि के निमित्त से उत्पन्न नहीं होते, श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी अवरुद्ध नहीं होती, प्रत्येक शब्द स्पष्ट होता है। सर्व अभीष्ट वस्तु का वर्णन इसमें है। सर्व भाषात्मक है। ऐसा भी नहीं कि जो पास में बैठे उन्हें अच्छे ढंग से समझ में आ जाए, दूर वालों को नहीं। चारों तरफ उनकी एक जैसी ही मुद्राएँ दिखती हैं। इससे सभी को ऐसा लगता है कि हमारी ओर ही भगवान् देख रहे हैं। चाहे दूर हों या निकट सभी को समान रूप से सुनने में आता है। यह समवसरण का अतिशय है। प्रभु के वचन निरुपम हैं। प्रभु के वचन हमारी रक्षा करें, हमें पवित्र करें। गगनसूर्य से भी श्रेष्ठ ज्ञानसूर्य है। यह अज्ञानतम विनाशक एवं मनरूपी कमल का विकासक है। इससे अहित का त्याग, हित का ग्रहण तथा वैराग्य होता है। जिसके द्वारा दृष्टि, ज्ञान और व्रत की विपरीतता दूर होकर समीचीनता आती है।

इस प्रकार शब्दसमय का गुणानुवाद करते हैं। सर्वज्ञ मुखोत्पन्न पञ्चास्तिकाय के लक्षण रूप जो अर्थसमय है उसका यह शब्दसमय प्रतिपादक है।

स्वाध्याय चार गति के निवारण का कारण—जब संसार के स्वरूप के बारे में विचारते हैं तब पञ्चास्तिकाय का सारा विषय सामने आ जाता है और अनेक पदार्थों को देखकर भी विषय कषायों से बच जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थ पढ़ने से वास्तव में स्व के परिणामों का अध्ययन होता है जब भयानक जंगलों में रहते हैं तब वहाँ ग्रन्थ नहीं रहते फिर भी आत्म-चिन्तन में श्रमण खो जाते हैं। जैसे-सही शोध छात्र बिना पुस्तक उठाये वह पूरा शोधग्रन्थ लिख देता है। वैसे ही शास्त्र के बिना भी मात्र पिच्छिका, कमण्डलु रखकर कोटि-कोटि वर्ष निजात्म चिन्तन से निकाल देते हैं। बाह्य और अभ्यन्तर उपधि का भी वह उत्सर्ग कर निरावलम्ब जीते हैं। इतनी दृढ़ता रहती है कि अयोग्य उपभोग को तो पहले ही छोड़ चुके हैं किन्तु जो उपभोग के योग्य है उसका भी त्याग कर देते हैं, यही अर्थज्ञान उनके चारों गतियों के निवारण का कारण बन जाता है। यहाँ तात्पर्यवृत्ति में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा शब्द लिख करके, श्रीजयसेनाचार्य, श्री कुन्दकुन्दस्वामी को सिर झुकाकर नमस्कार करते हैं।

शब्दसमय से स्वसमय का भान—वर्तमान समय में धीरे-धीरे जिनवाणी के प्रति विनय, आदर, स्तुति, वन्दना आदि कार्य गौण होते चले जा रहे हैं जबकि अनेक पाहुड ग्रन्थों की रचना करने के उपरान्त भी आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी पञ्चास्तिकाय के मंगलाचरण में स्वयं शब्दसमय को सिर झुकाकर नमन करते हैं; क्योंकि शब्दसमय के माध्यम से स्वसमय का भान हो जाता है। जैसे-गणितज्ञ एक ही करणसूत्र का सूक्ष्मता से अध्ययन कर अनेक सवाल हल कर लेता है। वैसे ही शब्दसमय से हेय-ज्ञेय-उपादेय का ज्ञान कर लेते हैं। यहाँ अर्थसमय को नहीं अपितु सर्वज्ञ मुख से विनिर्गत शब्दसमय को प्रणाम किया है। इसी से हेय आदि तत्त्वों की पहचान होती है, अहिंसा का प्रचार होता है क्योंकि सर्वज्ञ जैसे श्रेष्ठ प्रचारक हैं। अब यह प्रचार श्रेष्ठ ज्ञानियों के अभाव में धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। सूक्ष्म तत्त्व समझ में नहीं आ रहा है। जैसे-आज भी हर वनस्पति में औषधीय गुण हैं किन्तु उनकी सही-सही गुणवत्ता ज्ञात न होने से अनेक वैद्य होने पर भी औषधि का प्रयोग नहीं कर पाते। उसी प्रकार दिव्यध्वनि के माध्यम से चारों अनुयोगों का निर्माण गणधर परमेष्ठी ने किया, वही शब्द, अक्षर और वही संकेत होकर भी वर्तमान में ज्ञान न होने से समझ नहीं पाते हैं।

अर्थसमय के कथन का संकल्प—यहाँ अर्थसमय को बताने का संकल्प करते हैं। तीन प्रत्यय होते हैं-शब्द, अर्थ और ज्ञान। वीतराग सर्वज्ञ महाश्रमण के मुख से निर्गत जो शब्दसमय है उसे आसन्न भव्य सुनकर शब्दसमय के वाच्यभूत जो पञ्चास्तिकाय लक्षणरूप अर्थसमय है, उसके भी अन्तर्गत जो शुद्ध जीवास्तिकाय है उसे जान लेता है फिर निर्विकल्प समाधि द्वारा उसी अर्थ में स्थित होकर अर्थात् ज्ञान प्रत्यय से चतुर्गति का निवारण कर निर्वाण को पा लेता है। विकल्प से रहित निर्विकल्प समाधि है। इसीलिए निर्विकल्प होने के लिए सामायिक कम से कम तीन बार तो करिए,

इसी से स्वात्मोपलब्धि होती है। अन्यथा पञ्चास्तिकाय को पूरा रट भी लो तो भी कुछ नहीं होगा, विधिपूर्वक कार्य करना होगा। जैसे–हलवाई मिठाई बनाता है। माना कि मीठे से मिठाई बनती है किन्तु हलवाई सीधा–सीधा मीठा नहीं मिलाता है शक्कर में अनुपात से जल मिलाकर तपाता है। इतना ज्यादा भी नहीं तपाता कि बताशा बन जाए, कम तपाये तो मिठाई रबड़ी बन जाए। अतः व्यवस्थित चाशनी बनाकर शीघ्र ही बढ़िया मिठाई बना लेता है। इसी प्रकार विकल्प से रहित परमसमाधि दशा में ही शुद्ध जीवास्तिकाय का अनुभव कर परम निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए शब्दात्मक या द्रव्यात्मक जो शब्दसमय है वह नमस्कार के योग्य व व्याख्यान के लिए उपयोगी है, जिसके माध्यम से उत्कृष्ट पदार्थ की प्राप्ति कर सकते हैं।

शब्द की विशेषता-अर्थ का ज्ञान, अज्ञान का निवारण—यह सूत्रग्रन्थ है इस प्रकार वाच्य–वाचक, अभिधान–अभिधेय, ज्ञेय–ज्ञायक आदि सम्बन्धों का ज्ञान इन्हीं शब्दों के माध्यम से हो जाता है और प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है। आचार्य जो विशेष रूप से वर्णन करते हैं उसका नाम व्याख्यान है। यह वर्णन पदखण्डना और दंडान्वय रूप है। यह व्याख्यान–व्याख्येय सम्बन्ध है। द्रव्यागमरूप जो शब्दसमय है वह अभिधान या वाचक है उस शब्द के द्वारा वाच्यभूत जो पञ्चास्तिकाय लक्षणवाला अर्थसमय अभिधेय है अर्थात् कहने योग्य है। शब्द से जिस पदार्थ को जब हम कहते हैं तब वाच्य–वाचक सम्बन्ध हो जाता है। शब्द का प्रयोग तो करें लेकिन अर्थ की ओर दृष्टि न जाए तो वह मात्र शब्दकोश जैसा ही रह जाता है। जैसे–मात्र राम–राम कहने से कुछ भी नहीं होगा यदि राम इस शब्दप्रत्यय का अर्थप्रत्यय अर्थात् राम के काम ज्ञात हो जाएँ, तो राम की निकटता पा लेता है। शब्द की यही विशेषता है कि वह अर्थ का ज्ञान और अज्ञान का निवारण करा देता है।

संयम के साथ ज्ञानार्जन करने से पूर्णज्ञान की प्राप्ति—संयम के साथ ज्ञानार्जन करना श्रेष्ठ है। यदि प्रमाद से भूल भी जाए तो भी समय पर याद आ जायेगा। जैसे–कभी बहुत थक जाते हैं, कुछ याद नहीं आता, तब विश्राम करने से तरोताजा होने पर अपने आप याद आने लगता है क्योंकि इन्द्रिय व मन स्वस्थ होते ही ज्ञान होने लगता है। फिर तो परलोक भी चले जाएँ तो भी संयमित ज्ञान काम करता रहेगा। अन्यथा स्वर्गों में जो सम्यग्दृष्टि देव हैं वे समवसरण की ओर ही क्यों जाते हैं? मिथ्यादृष्टि देवों को तो वहाँ जाना पड़ता है। यह बात अलग है कि वहाँ जाकर वे भी दृष्टि को सम्यक् कर लेते हैं। तब यहाँ जो भोग इन्हें अलभ्य थे, अप्राप्त थे वह सब वहाँ उन्हें प्राप्त हो जाते हैं फिर भी उस ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। इसका अर्थ यह है कि वहाँ जाने के उपरान्त उनका ज्ञान प्रभु के निकट ही रहने को आदेशित करता है क्योंकि संयम के साथ उन्होंने ज्ञानार्जन किया था। जो रुचिपूर्वक संयमित होकर जिनवचन सुनेंगे, पढ़ेंगे, मनन करेंगे तो आगे पूर्णज्ञान अवश्य पायेंगे।

जिणवयण-मोसहमिणं विसयसुह-विरेयणं अमिय-भूदं।
जरमरण-वाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं॥१७॥ (दर्शनपाहुड)

अर्थ–जिनवचनों की यह औषधि विषय सुख का विरेचन करने वाली अमृत स्वरूपा है। जरा-मरणरूपी व्याधि को हरण करने वाली और सर्व दुखों का क्षय करने वाली है। इस प्रकार इष्ट देवता को नमन करने की मुख्यता से दो गाथाओं से प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका–शब्द, ज्ञान, अर्थ इन तीनों भेदों में से समय शब्द का अर्थ और लोक-अलोक का विभाग कहता हूँ, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर आगे कहते हैं–

समवाओ पंचण्हं समउत्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं ॥३॥

अन्वयार्थ–(पंचण्हं) जीवादि पाँच द्रव्यों का **(समवाओ)** समूह **(समउत्ति)** समय है ऐसा **(जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं)** जिनेन्द्रों के द्वारा कहा गया है। **(सो चेव)** वही [पाँचों का मेल या समुदाय] **(लोओ हवदि)** लोक है। **(तत्तो)** इससे [बाहर] **(अमिओ)** असीमित **(अलोओ)** अलोक **(खं)** मात्र शुद्ध आकाशरूप है।

अर्थ–जिनोत्तम अर्थात् तीर्थंकर भगवान् ने पञ्चास्तिकाय रूप द्रव्यों के समूह को समय कहा है। जहाँ तक पञ्चास्तिकाय हैं वहाँ तक लोक है। इससे आगे अनन्त असीम अलोकाकाश है जो शून्य रूप है।

जीव धर्म नभ अधर्म पुद्गल, ये हैं पाँचों अस्तिकाय।
समय कहा है प्रभु ने इनको, जहाँ पञ्च का है समवाय॥
लोक वहीं तक ही माना है, इसके परे अलोक कहा।
जो अनंत है और अमित है, वहाँ मात्र आकाश रहा ॥३॥

व्याख्यान–समय शब्द का अर्थ व भेद–समय शब्द तीन प्रकार के होते हैं–१. शब्दसमय–द्रव्यश्रुत रूप, २. ज्ञानसमय–भावश्रुतरूप यथार्थ ज्ञान ३. अर्थसमय–जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं उसका नाम अर्थसमय है। पाँच अस्तिकाय रूप अर्थसमय है जो कि लोक नाम से कहा जाता है। लोक का निर्माण किसी के द्वारा नहीं हुआ।

किनहूँ न करै न धरैं को, षट् द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोक माँहि बिन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता॥

संसार में समता के अभाव में जीव भटक रहा है। लोक के आगे अलोक अमिय अर्थात् असीम जिसे मापा न जा सके ऐसा अमित है, अकृत्रिम है। यद्यपि लोक भी अकृत्रिम है। अकृत्रिम कहने से बनाया नहीं गया इतना ही अर्थ है किन्तु **अमिओ** अर्थात् काल व क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त है जिसे अलोक कहते हैं, वहाँ शुद्ध आकाश मात्र ही है। पाँच अस्तिकाय के समूह जितना लोक है।

सकारात्मक सोच–आकाश को 'ख' कहते हैं और 'ख' का अर्थ शून्य होता है लेकिन

आकाश को शून्य मत कहना। जैसे किसी ने पूछा– कमरे में कुछ दिखा? उसने जबाव दिया–कुछ नहीं दिखा, अंधेरा ही अंधेरा है। यहाँ अंधेरा भी है तो सही। कुछ नहीं ऐसा क्यों कहा? सकारात्मक सोचो, यहाँ भी 'ख' का अर्थ पूर्णरूप से शून्य नहीं अपितु पाँच द्रव्यों से शून्य है किन्तु वहाँ अनन्त अलोकाकाश है। यदि आकाश को शून्य कहोगे तो चार ही तत्त्व रहेंगे। पेट वगैरह में भी आकाश द्रव्य है। यदि नहीं होता तो मुश्किल हो जाता। दीपक तभी जलता है जब तेल से भरा होता है। लेकिन ध्यान रखना पूरा मत भर देना वरना दीपक जल नहीं पायेगा। दीपक में बाती भी चाहिए, बाहर में दीपक निश्छिद्र और भीतर से आकाश चाहिए। जैसे–पेट में अन्न पानी चाहिए और साथ ही चौथाई भाग खाली होना चाहिए। यदि यह सोच ले कि क्या पता कल भोजन मिले या न मिले ऐसा सोचकर पूरा भर दोगे तो गैस जाने के लिए स्थान न होने से गड़बड़ हो जायेगा, पेट फट जायेगा, वजन नहीं सह पायेगा। अतः आकाश सहित पाँच तत्त्व हैं यह स्पष्ट है। इस प्रकार शब्दसमय से ज्ञात हुआ कि लोक के बाहर अनन्त अलोकाकाश है।

शब्दों का महत्त्व—यदि संसार में शब्द न होते तो क्या होता? जरा सोचो दो इन्द्रिय जीवों से ध्वनि प्रारम्भ हो जाती है। वे सब वक्ता हैं, "**द्वीन्द्रियादयः सर्वे वक्तारः**" कोई भी मौन नहीं है। मोक्ष जाने के पहले ही वचनयोग समाप्त हो जाता है किन्तु अरहंत भगवंतों की भी दिव्यवाणी होती है। कातन्त्ररूपमाला में सरस्वती को नमस्कार करते हुए कहा–"**यत् प्रसादात् इयं विचित्रा लोकयात्रा प्रवर्त्तते।**" इस श्लोक में कहा है कि–लोक की यात्रा शब्द के बिना नहीं हो सकती। शब्दों के बिना भावों की अभिव्यक्ति कैसे कर सकते हैं? कुछ लोग मौन रखकर भी हाँ–हूँ करते हैं यह भी एक संकेतात्मक ध्वनि ही है।

अनन्तप्रदेशी आकाशद्रव्य की अखण्डता—जो जिनेन्द्रों में उत्तम हैं, गणधरों के द्वारा पूजनीय, वंदनीय हैं उन जिनोत्तम या तीर्थंकर के द्वारा यह कहा गया है। पाँच पदार्थों का समवायरूप लोक है इसके आगे असीम अलोक है। "**आकाशस्यानन्ताः**" आकाश स्वप्रतिष्ठित है। क्षेत्र अपेक्षा सबसे बड़ा द्रव्य आकाश ही है। शेष पाँच द्रव्यों में काल एकप्रदेशी है। परमाणु भी एकप्रदेशी है किन्तु अन्य परमाणुओं से मिलकर पुद्गल अनन्तप्रदेशी भी हो सकता है और लोकाकाश में ही रहेगा किन्तु "**आकाशस्यानन्ताः**" आकाश के अनन्त प्रदेश हैं वह अलोकाकाश की अपेक्षा से हैं। आकाश के लोक–अलोक ये दो खण्ड नहीं, अखण्ड है। ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक की कल्पना यह सापेक्ष कथन है। मानलो भारत के बाद जहाँ चीन की सीमा प्रारम्भ हो रही है तो वहाँ कोई अलग से दरार नहीं, मात्र मान्यता ही है। वैसे ही लोकाकाश की समाप्ति और अलोकाकाश की शुरुआत में कोई दरार आदि नहीं, अखण्डता ही है। जिस प्रकार दिन के १२ घण्टे के बाद रात के प्रारम्भ में समय का कोई अन्तर नहीं है। काल का प्रवाह अखण्डित है उसी प्रकार आकाश द्रव्य अखण्ड है। लोकाकाश की सीमा है क्योंकि जीवादि पदार्थ जहाँ तक देखे जाते हैं उसका नाम लोक है। उसके उपरान्त अमित प्रदेश वाला अनन्त आकाश है।

वैज्ञानिक का ज्ञान सीमित, केवलज्ञानी का असीम—आजतक विज्ञान ने आकाश द्रव्य की युक्तिपूर्वक सिद्धि नहीं की, Place, Sky और Space ये शब्द आकाश के लिए आते हैं। यद्यपि वह आकाश के ही हिस्से हैं भिन्न-भिन्न अर्थों में इसका प्रयोग कर लेते हैं। आज का विज्ञान जिसे विश्व मानता है। वह कहीं न कहीं जाकर समाप्त हो जाता है। जब विज्ञान सम्पूर्ण लोकाकाश का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं कर पा रहा है तो अलोकाकाश का कैसे कर पायेगा? अतः आकाश को शून्य कह देना अयुक्त है। उसका अनन्त रूप में अस्तित्व है। काल का जैसे आदि व अन्त नहीं है वैसे ही आकाश का भी आदि और अन्त नहीं है। आकाश के पास ज्ञान तो नहीं किन्तु ज्ञान का विषय अवश्य है। जो केवलज्ञान का विषय बनता है। आकाश का जैसा स्वरूप है वैसा जानने से प्रमाण-प्रमेय या ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध होता है। ज्ञायक केवल ज्ञानमयी आत्मा है तो ज्ञेयभूत अनन्त आकाश है, लोकाकाश तो है ही। जो जिस रूप में है वैसा ही ज्ञान जानेगा। विज्ञान की मान्यतानुसार जो विश्व है वह अनन्त आकाश के आगे बहुत छोटा है, अनन्त की एक इकाई रूप भी नहीं है। विज्ञान यही कल्पना कर लेता है कि इतना ही विश्व है किन्तु जैनागम कहता है कि विश्व अनन्त है। जो ज्ञान के द्वारा जाना जाता है वह अर्थ, पदार्थ या प्रमेय है। भले ही वह छद्मस्थ के ज्ञान से न जाना जाए किन्तु केवलज्ञान से अवश्य जाना जाता है। पाँच द्रव्यों की समष्टि को जिनेन्द्र भगवान् ने लोक व शेष को अलोक कहा है। अलोक का अर्थ ''**न लोकः इति अलोकः**'' लोक का अभाव अलोक है। प्रत्येक पदार्थ के पास जाकर भी यदि जानना चाहें तो भी यह कार्य आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति वाले देवादिक भी नहीं कर सकते क्योंकि उम्र सीमित है पदार्थ असीम अनन्त हैं इसलिए **अमिय** शब्द लिखा है।

समय शब्द के अर्थ की भिन्नता—इस गाथा में समय शब्द का अर्थ भिन्न है। समीचीन रूप से अपनी द्रव्य, गुण, पर्याय जो शुद्धाशुद्धरूप में है उसे जो प्राप्त करता है उसे यहाँ समय कहा है। जबकि समयसार में समय का अर्थ ''**समयस्य सारः समयसारः**'' ऐसा कहा है। 'अय्' धातु गत्यर्थ भी है और जानने के अर्थ में भी है। अचेतन में भी प्रतिपल परिणमन रूप कार्य हो रहा है, अतः चेतन जीव के साथ अचेतन को भी समय कहने में कोई बाधा नहीं है। यद्यपि पञ्चास्तिकाय में मात्र पुद्‌गल ही देखने में आता है, इसे कोई माने या न माने किन्तु जीव दिखता नहीं है। जैसे-गाड़ी खरीद कर लाते हैं किन्तु एकसाथ पेट्रोल नहीं खरीदते। टेंक भरने के बाद गति होती है। खत्म होने पर पुनः भरते हैं, उसी प्रकार शरीर भी टेंक की भाँति है, जो दिख रही है वह शरीर की गति है। आत्मा तो दिखता नहीं इसीलिए कई अज्ञानी जीव तो यहाँ तक सोच लेते हैं कि जब तक जिओ, अच्छे से जिओ ऋण लेकर भी घृत पिओ, मौज उड़ाओ ''**यावद् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्**'' किसी ने सर्वे किया कि-भारतवासियों के लिए यह पंक्ति सटीक-सी लगती है क्योंकि जन्म से पूर्व गर्भ से ही हर बच्चे के ऊपर ऋण (टैक्स) शुरू हो जाता है वह उऋण हो ही नहीं सकता, फिर भी विकासशील भारत है ऐसा कहना हास्यास्पद ही है।

पाँच अस्तिकाय मात्र श्रद्धा का विषय, ज्ञान का नहीं—पाँच अस्तिकाय में जीव दिखता नहीं, यह स्पष्ट है। धर्म, अधर्म, काल भी दिखते नहीं, आकाश भी कलरलेस है अतः आँख का विषय बन नहीं सकता तथा इसमें स्पर्श, रस और गन्ध भी नहीं होता है। पुद्‍गल में भी परमाणु नहीं दिखता, स्कन्ध दिखता है अतः मूल जो द्रव्य हैं वह हमारे लिए श्रद्धा के ही विषय बन सकते हैं, ज्ञान के विषय नहीं। आजतक शरीर के लिए खिलाया, पिलाया कितना खर्च किया और अन्त में जलाने के लिए और खर्च किया क्योंकि बिना जले खारी नहीं बनेगी। इस शरीर के लिए हर दिन कितना खर्च किया, पूरे जीवन के वर्षों का हिसाब लगाओ, अर्थशास्त्र देखो फिर परमार्थ लगाओ। जब एक भव का इतना खर्च है तो अनन्तानन्त भवों में इस जीव ने शरीर के लिए कितना खर्च किया? जरा हिसाब लगाओ? लगा ही नहीं पाओगे; मात्र श्रद्धा का विषय है। कुछ लोग आकर कहते हैं–महाराज! खाया नहीं जाता, ऐसा मन्त्र दे दो कि पहले की तरह खाने लग जाएँ। आहार संज्ञा का यह कार्य अभी तक रुका नहीं है। **निराहार स्वभावी आत्मा का दृढ़ श्रद्धान करो तो कभी न कभी भोजन या आहार का कार्य रुक ही जायेगा।** आज के वैज्ञानिक तार्किक युग में युवा पीढ़ी धर्म के प्रति आस्था खोती जा रही है। अतः आचार्य कथित पञ्चास्तिकाय जैसे ग्रन्थ श्रद्धा को दृढ़ करने में सार्थक आयाम दे सकते हैं।

उत्थानिका—इस गाथा में पाँच अस्तिकायों की विशेषसंज्ञा, सामान्य, विशेष, अस्तित्व तथा कायत्व कहा जा रहा है–

जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ॥४॥

अन्वयार्थ—(जीवा पुग्गलकाया) जीवास्तिकाय एवं पुद्‍गलास्तिकाय **(धम्माधम्मा)** एक धर्मास्तिकाय एक अधर्मास्तिकाय **(तहेव)** वैसे ही **(आयासं)** एक अखण्ड आकाश–ये सब **(अत्थितम्हि)** अपने अस्तित्व में **(णियदा)** निश्चित हैं **(य)** और **(अणण्णमइया)** [अपनी सत्ता से] अपृथग्भूत हैं या एकमेक हैं और **(अणुमहंता)** अणुमहान्–प्रदेशों में अनेक हैं या बहु प्रदेशी हैं।

अर्थ—जीव, पुद्‍गलकाय, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये सब अपनी अपनी सत्ता में निश्चित हैं, अपनी सत्ता से अपृथग्भूत अर्थात् एकमेक हैं और प्रदेशों की अपेक्षा बहुप्रदेशी हैं।

जीव और पुद्‍गल अनन्त औ, इक-इक धर्माधर्माकाश।
इन पाँचों का अपने-अपने, सत्ता में ही है आवास॥
अपनी सत्ता से ये निश्चित, एकमेक ही रहते हैं।
बहुप्रदेशी अस्तिकाय सब, यही केवली कहते हैं ॥४॥

व्याख्यान—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप सत्ता है और जो सत्ता है सो ही अस्तित्व कहा जाता है। ये पाँच द्रव्य अस्तित्व रूप कहे वे ही कायवन्त भी हैं क्योंकि ये अनेक प्रदेशी हैं। कालद्रव्य एक प्रदेशी

है। शक्ति-व्यक्ति की अपेक्षा से कालाणुओं में मिलन शक्ति नहीं है। एक प्रदेशी परमाणु में स्निग्ध या रूक्ष गुण की शक्ति के कारणभूत स्कन्ध बन सकता है इसलिए उपचार से या व्यवहार से कायपना कहा है किन्तु कालाणुओं में परस्पर बन्ध के कारण स्निग्ध-रूक्षपने की शक्ति नहीं है इसलिए उपचार से भी कायवन्त नहीं है। महान् प्रदेशों वाले बहुप्रदेशी अस्तिकाय हैं जो कि नियत हैं और अनन्यमय हैं। महन्त अर्थात् बहुत हैं इसलिए काय वाले हैं जो सत्ता और द्रव्य से भिन्न नहीं है **''सद्द्रव्य-लक्षणं''** जैसे-बर्तन में बेर भरे हैं ऐसे नहीं हैं किन्तु जैसे घड़े के अन्दर रूप, रस, गन्ध आदि अनन्य है, अन्य नहीं हैं। शरीर से हाथ, पैर अन्य नहीं हैं। खम्बे से उसका सार अन्य नहीं है, उसी प्रकार सत्ता से द्रव्य अन्य नहीं है। तीन लोक में पञ्चास्तिकाय ही रहते हैं ऐसा नहीं कहा, किन्तु पञ्चास्तिकाय तीन लोक में ही रहते हैं ऐसा कहा है। इन पञ्चास्तिकाय से लोक निष्पन्न है।

उत्थानिका—एक ही द्रव्य में जो पर्याय उत्पन्न होती है वह क्रमवर्ती पर्याय है और भिन्न-भिन्न द्रव्यों में जो पर्याय उत्पन्न होती है वह व्यतिरेकी पर्याय है, इसी को आगे बताते हैं-

जेसिं अत्थि सहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं।
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं ॥५॥

अन्वयार्थ—(जेसिं) जिन पाँच अस्तिकायों में **(विविहेहिं)** नाना प्रकार के **(गुणेहिं पज्जएहिं सह)** गुण और पर्यायों के साथ **(अत्थि सहाओ)** अस्ति स्वभाव है **(ते)** वे **(अत्थिकाया)** अस्तिकाय **(होंति)** होते हैं। **(जेहिं)** जिनके द्वारा **(तइलुक्कं)** तीनों लोक **(णिप्पण्णं)** उत्पन्न हुआ है।

अर्थ—जिन पञ्च अस्तिकायों का अनेक गुण और पर्यायों के साथ अस्तित्व स्वभाव है वे अस्तिकाय कहे जाते हैं। जिनसे तीनों लोक निष्पन्न हैं।

विविध गुणों औ पर्यायों के, साथ रहा अस्तित्व सदा।
अस्तिकाय वे पाँच रहे हैं, कहते हैं जिनदेव महा॥
ऊर्ध्व मध्य औ अधोलोक यह, इनसे ही निष्पन्न रहे।
अस्तिकाय हैं त्रिलोक में ही, आगम में यह वचन कहे ॥५॥

व्याख्यान—स्वभाव किसी पर आधारित नहीं है, न ही स्वभाव किसी वजह से होता है। गुड़ का मीठापन, करेले का कड़वापन किसी वजह से नहीं है कि पहले मिट्टी का ढेला था फिर उसमें मधुरता की कृपा हो गई तो गुड़ बन गया, ऐसा नहीं है। यह बात अलग है कि किसी को मैंथी, करेला मीठा लग रहा है। इसमें उसका रोग कारण है। बीमारी की वजह से मीठा भी कटुक और कटुक भी मीठा लगने लगता है। इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान स्वभावी है, इसे ज्ञान किसी ने उधार नहीं दिया है। यह बात अलग है कि कर्मों के कारण ज्ञान की पूर्णता नहीं हो पा रही है और यह कर्म राग-द्वेष आदि विकारी भावों के कारण से हैं। 'मैं ज्ञानी हूँ' ऐसा सोचकर अभिमान नहीं करना है और 'मैं अल्प ज्ञानी

हूँ' ऐसा विचारकर दीनहीन भी नहीं होना है। **स्वभाव के त्रैकालिक अस्तित्व को जानने में ही वास्तव में अस्तित्व को जानने की सार्थकता है। अस्थि का काय अर्थात् हाड़ के पुतले को अनन्तों बार पोषित किया, मगर मिला कुछ नहीं, हर बार राख ही राख हुई, खरा कुछ मिला ही नहीं क्योंकि देह का स्वभाव ही ऐसा है।**

तीन लोक की रचना अनादि से—तीन लोक की रचना किसी के द्वारा नहीं हुई। लोक का कोई आदि नहीं है। यदि इसका कोई कर्त्ता होता तो मान, राग-द्वेषादि विकार भी उसे होते कि मैंने बनाया है, मेरे बाप-दादा के जमाने में पहले जो नहीं था वह मैंने बनाया। पर उसे मान के कारण यह सत्य ज्ञान नहीं है कि जमाना तो अनादि से जमा हुआ है। इसमें अब-कब, जब-तब यह कुछ नहीं लगेगा क्योंकि अनादि से है, अकृत्रिम है। **इस प्रकार स्वभाव की ओर दृष्टि जाते ही गाम्भीर्य आने लगता है, अभिमान और दीनता सब चूर हो जाते हैं**। लोक अनादि से है अनन्त तक रहेगा। जो 'था', 'है', और आगे भी 'रहेगा', तो कल की चिन्ता क्यों?

दृष्टान्त—भविष्य की चिन्ता क्यों? दुकानदार दुकान चलाता है वह लिख देता है-''आज नगद कल उधार'' क्योंकि कल कभी आता नहीं, कल भी आज ही बनकर आता है। कल की चिन्ता करने वाले का आशा ही आशा में आज का दिन भी व्यर्थ चला जाता है। इसीलिए कल अर्थात् नश्वर शरीर की चिन्ता मत करो। अक्ल से अकल अर्थात् आत्मस्वभाव का चिन्तन करो। यह सोचना छोड़ दो कि कल क्या होगा? जो आज हो रहा है कल भी ऐसा ही होगा। अनन्तों कल आज बनकर बीत गये। जैसे-१८ वर्ष तक नेहरूजी ने प्रधानमन्त्री बनकर भारत को चलाया, उनके मरण के बाद लोग सोचने लगे अब भारत को कौन चलायेगा? लेकिन १७ महीने में लालबहादुर शास्त्री ने अनेक समस्याओं का हल करके दिखा दिया। सबके बिना चल सकता है। जैसे-ट्रेन गर्मी, सर्दी या वर्षा हो तो भी चलती रहती है, यात्री उतरते रहते हैं, कुछ-कुछ समय में ड्राइवर बदलते रहते हैं पर ट्रेन चलती रहती है। प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वयं ही स्वतंत्र रूप से होता रहता है किसी के कारण परिणमन नहीं। ठीक वैसे ही तीन लोक की रचना अपने आप ही है किसी के कारण से नहीं अपितु अनादि से है।

प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व अनादि से—अस्ति और काय ये दो बात हैं। प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व स्वभाव से ही अनादि से है। ''**स्वस्थ्य भावो स्वभावः**'' स्वभाव का अर्थ-अपना होना या अपने में होना। किसी का अस्तित्व हमारी वजह से नहीं, हमारा अस्तित्व किसी अन्य की वजह से नहीं। अस्तित्व कहो, तन्मयपना कहो या स्वरूप कहो एकार्थवाचक है। आत्मा का स्वरूप जानना-देखना है और पुद्गल का स्वरूप स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव परिणमन करना है। परिवर्तन होता ही रहेगा। जैसे-पहले के लोग आम, नारियल आदि के वृक्ष लगाते थे तो तय कर लेते थे कि मैं इस पेड़ के फल तोड़कर अपने जीवन में खा नहीं पाऊँगा लेकिन परम्परागत फल सभी खा लेते हैं। किसी के निमित्त से किसी और को फल मिल जाता है किन्तु प्रत्येक

द्रव्य का परिणमन रूप फल अपने-अपने में ही होता है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण, पर्यायों से सहित है। द्रव्य से गुण भिन्न नहीं है। जैसे-कोई ग्राहक कहता है कि सोने से पीलापन अलग करके दे दो, शक्कर से उसकी मिठास अलग करके दे दो। लेकिन द्रव्य से गुण जोड़े नहीं गए थे जो अलग कर सकें। द्रव्य है तो गुण होगा ही, वह उसका स्वभाव है और स्वभाव को अलग नहीं किया जा सकता। पत्थर से भगवान् बनाये ऐसा कहने में आता है। पर सच यह है कि भगवान् बनाये नहीं हैं अनावश्यक पाषाण तराशने से जो आकार उभरा है वही भगवान् है। अलग से कहीं से कुछ आया नहीं है। वैसे ही ज्ञान आत्मा में ही है कहीं से आया नहीं है। माता-पिता बच्चे को स्कूल में प्रवेश के लिए ले गए, बोले-हमारा बच्चा बहुत होशियार है, आपके विद्यालय में ऐसा होशियार बच्चा नहीं मिलेगा। अध्यापक बोलता है कि इतना होशियार है तो अपने पास में ही रख लो, यहाँ क्यों लाये? सच यही है कि ज्ञान या होशियारी बच्चे में ही है पर अध्यापक का निमित्त चाहिए। जैसे-माचिस की तीली को निमित्तभूत फर्श पर घिसने से आग का आविर्भाव हो जाता है।

व्यतिरेक का लक्षण—जो द्रव्य में होते हुए भी कुछ समय उपरान्त वहाँ से निकल जाए उसे व्यतिरेक कहते हैं। जैसे-लहरें उठती हैं मिट जाती हैं लेकिन पानी मिटता नहीं और पानी का शीतल गुण भी मिटता नहीं। शीतलता गुण है और जो लहरें हैं वह पर्याय हो गईं। मोही जीव इष्ट (दादा आदि) का मरण होने पर रोता है, यही तो पर्यायबुद्धि है। उसने तो मात्र ड्रेस बदली है और ड्रेस बदलने से एड्रेस बदल कर अब यह दादा पुनः उसी घर में आ गए किन्तु बच्चे के रूप में हैं, बुद्धि भी बच्चे की है। दादा को जातिस्मरण हो जाए तो संकोच होगा, लेकिन क्या कर सकता है? ऐसा ही स्वभाव है। अभी तक सही ठिकाना मिला नहीं है। बीना वाले बीना को, देवरी वाले देवरी को, महाराजपुर वाले महाराजपुर को अपना ठिकाना मान बैठे हैं। हमें भी वहीं आने को कहते हैं। कितना अच्छा हो कि वे ही यहाँ (संघ में) हमेशा के लिए आ जाएँ। यह बस्ती तो बदल जायेगी। **अपनी हस्ती को पहचान लो तो सिद्धों की बस्ती में शाश्वत ठिकाना पा लोगे।**

गुण व पर्याय का लक्षण—साथ-साथ जो होते हैं वह गुण हैं जो क्रमवर्ती हैं वह पर्याय हैं। कभी राजा, कभी रंक, कभी स्त्री, कभी पुरुष रूप परिवर्तन होता रहता है किन्तु आत्मतत्त्व ज्यों का त्यों रहता है। अज्ञानी जीव पर्याय की सुरक्षा के लिए मिन्नतें माँगता रहता है कुछ समय के लिए संयोग से मिल भी गया तो वियोग का दुख सहना पड़ेगा। '**अष्टपाहुड**' ग्रन्थ में यही लिखा है-"**पहले सन्तान के लिए रोये, मिल गई तो वियोग होने पर रोये, इतने रोये कि समन्दर भर गए। हर बार के वियोग में आँखों से गिरा एक-एक आँसू गिनें तो स्वयंभूरमण समुद्र जितना भर जाए।**" अज्ञानी का यही इतिहास रहा है।

द्रव्य का संज्ञा, लक्षण व प्रयोजन भिन्न-भिन्न हैं। गुण और पर्याय के भी संज्ञा, लक्षण व प्रयोजन भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु प्रदेशापेक्षा गुण द्रव्य से भिन्न नहीं हैं। यह सब जानकर वस्तु स्वरूप के

ज्ञाता हर्ष-विषाद नहीं करते किन्तु किसी के मन तक, किसी के वचन तक और किसी की काया तक में भी हर्ष-विषाद दिखने लगता है। कुछ लोग अज्ञानता से सोचते हैं कि गमी में भी आखिर कब तक गम में रहेंगे, घर दुकान कौन चलायेगा, फिर सामान्य होकर दुख को भूल जाते हैं यही तो संसार की लीला है।

समय एक ऐसी चीज है जिसमें गहरे से गहरे घाव भी भर जाते हैं। चित्त स्थिर रहे तो चित्र-विचित्र कुछ नहीं, जीवन सहज चलता रहता है। सब पर्यायों का परिणमन है। कभी विशुद्धि होती है तो फूला नहीं समाता, कभी संक्लेश में ऐसा लगता है कि हमारा गुणस्थान ही छूट गया। कुछ लोगों की शिकायत रहती है कि मन नहीं लग रहा है क्योंकि भीतर उथल-पुथल है। जैसे-आषाढ़ में बाढ़ आती है वैसे ही विकल्पों की बाढ़ आ रही है। **नदी में तो बाढ़ कभी-कभी आती है किन्तु आत्मा में एक दिन में ही विकल्पों की कई बार बाढ़ आती है।** कभी-कभी किसी में इतना मन लग जाता है कि जैसे बैठे हैं वैसे ही बैठे देखते रह जाते हैं घण्टों निकल जाते हैं। इस प्रकार कभी समता कभी विषमता यह चलती रहती है। **जीवन के समीकरण को ढंग से समझ लें तो हर सवाल हल हो जायेगा।**

दृष्टान्त—किसी ने आकर कहा-महाराज! आज का जमाना अलग है पन्द्रह हजार रुपये वेतन मिल रहा है। पहले तो पन्द्रह रुपये में नौकरी करते थे। तब हमने कहा-पहले पन्द्रह रुपये में एक तोला सोना मिल जाता था अब तो पन्द्रह रुपये में कैरिट (ग्राम) भी नहीं मिलेगा। पहले लोग गुमची से सोना तोलते थे अब ग्राम आ गया। गुमची गुम हो गई। सोने के रंग में भी अन्तर आ गया है। अब तो टोकरी में रुपये लेकर जाते हैं और पैकेट में सामान लेकर आते हैं। पुराने लोग कहते हैं-बेटा तुमने जितना पानी नहीं पिया, उससे ज्यादा हमने घी पी लिया। जिसे पानी पचाने तक के लिए जठराग्नि नहीं, उन्हें दूध पचाने की तो बहुत दूर की बात है। एक व्यक्ति ने तो यहाँ तक कहा कि-हम कपड़े में घी बाँधते थे क्योंकि दानेदार होता था। अब तो ऐसा घी आता है जो सर्दी में जमता नहीं और गर्मी में पिघलता ही नहीं। इस प्रकार कालानुसार परिवर्तन चलता रहता है।

स्वभाव-विभाव गुण पर्यायों का वर्णन—यहाँ स्वाभाविक-वैभाविक गुण पर्यायों का कथन है। केवलज्ञान स्वाभाविक गुण और मतिज्ञानादिक वैभाविक गुण हैं। सिद्धत्व स्वाभाविक पर्याय और नर-नारकादि वैभाविक पर्याय हैं। स्वभावपर्याय सादि-अनन्त किन्तु विभावपर्याय अनादिसान्त है। अभव्य के अनादिअनन्त रहेगी। जो पर्यायों के परिवर्तन को जानते हैं वे उछल-कूँद नहीं करते, शान्त रहते हैं। जैसे-बछड़े को बाँधकर रखने की आवश्यकता नहीं, उसके पास कूबत ही कितनी है थोड़ी देर उछल-कूँद करके गैया के पास आकर शान्त होकर बैठ जाता है। कुछ मिनट के बाद पुनः उछल जाता है लेकिन गाय, बैल कभी ऐसा नहीं करते। अकल दाढ़ जब आती है तब बहुत पीड़ा देती है लेकिन कहते हैं-अकल तभी आती है। बत्तीसों दाँत एकसाथ नहीं आते और गिरते

भी एकसाथ नहीं है। इस तरह आना-जाना चलता रहता है।

पुद्गल की स्वभाव—विभाव पर्यायों का कथन—शुद्ध परमाणु पुद्गल की स्वभाव पर्याय है और स्कन्ध विभाव पर्याय है। खाने-पीने आदि व्यवहार में जो भी पुद्गल आ रहे हैं वह विभाव पर्याय से युक्त स्कन्ध ही हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि-शुद्ध द्रव्य का चिन्तन करो। स्कन्ध में तो अनेक परमाणु हैं यह शरीर भी आहार वर्गणा के अनन्तानन्त परमाणुओं से बना है। जैसे-व्यवहार में माला है। निश्चय से तो मोती भिन्न-भिन्न हैं, माला टूटते ही मोती बिखर जाते हैं वैसे ही आयु कर्म की डोर टूटते ही देह के परमाणु रूपी मोती बिखर जाते हैं। यही जानकर ज्ञानी राग-द्वेष नहीं करते, माध्यस्थ भाव रखते हैं। **समुद्र है तो चाहे सर्दी हो या गर्मी तूफान तो आता रहेगा। इसी प्रकार संसार समुद्र में भी कर्मों का तूफान आता जाता रहेगा।** स्कन्धों में वर्ण से वर्णान्तर, गन्ध से गन्धान्तर होना यह विभाव गुण व्यंजन पर्याय है। सवेरे सुगन्धित पदार्थ डालकर भोजन बनाया, ढँककर रख दिया, गर्मी के मौसम में शाम को खोला तो गन्ध बदल गई, बदबू आने लगी, सुगन्ध दुर्गन्ध में बदल गई। उसी प्रकार **पुण्य की सुगन्ध, पाप की दुर्गन्ध में संक्रमित हो जाती है इसलिए गन्धातीत दशा को पाना ही श्रेष्ठ है।** ज्यादा ढँककर रखोगे तो भी खराब हो जायेगा और ज्यादा हवा में रखोगे तो भी खराब हो जायेगा। **जैसे—सामान को व्यवस्थित रखना चाहिए वैसे ही परिणामों में माध्यस्थ भाव रखना चाहिए।**

द्रव्य के सामान्य गुण—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि जो छह सामान्य गुण हैं वह जीव में ही नहीं, पुद्गल आदि छहों द्रव्यों में हैं। द्रव्यत्व के बारे में चिन्तन करना है तो कोई भी द्रव्य ले लो, सामान्य गुण की अपेक्षा सब समान हैं। **चाहे कितना ही अमीर हो, जिसके जन्म के समय खूब मिठाई बाँटी हो किन्तु मरण उपरान्त श्मशान अर्थात् जहाँ सुनसान है वहीं जायेगा।** मरघट में कुछ समय का जमघट है। शव को छूने से वही छुआछूत, वही लकड़ी, वही घासलेट, वैसी ही राख, नदी में खारी को बहा देते हैं, सब कुछ वही है चाहे अमीर हो या गरीब। सबके देह की सामान्य से वही स्थिति होती है। द्रव्यों के विशेष गुणों का वर्णन आगे करेंगे।

अस्तिकाय की परिभाषा—काय के समान बहुप्रदेशपने को काय कहते हैं। अस्तिकाय अर्थात् फैलाव। परमाणु एकप्रदेशी है। जीव, धर्म, अधर्म असंख्यात प्रदेशी हैं। जैसे-मानलो रुई का एक तन्तु है ऐसे कई तन्तु मिलकर धोती बन गई फैलाव हो गया ऐसे ही अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय से लोक है। लोक को किसी ने बनाया नहीं **''किनहूँ न कर्‌यो न धरै को ...।''** इसका कोई कर्त्ता नहीं, धर्त्ता नहीं, तो हर्त्ता भी नहीं, मिटेगा भी नहीं तो फिर पालनहार की क्या आवश्यकता? उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप परिणमन अनादि से चल रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। **द्रव्य कभी मिट नहीं सकता इसलिए अस्तित्व गुण के बारे में दृढ़ विश्वास कर लें तो पञ्चास्तिकाय पढ़ना सार्थक हो जायेगा।**

काल से ही द्रव्यों में परिणमन—दिन होता है रात मिटती है, रात आती है दिन मिटता है लेकिन काल न मिटता है न उत्पन्न होता है। काल आता जाता नहीं, रात आती जाती है। काल सदा शाश्वत है। हाँ, काल की उपस्थिति में सब परिवर्तन होता रहता है। जैसे—कुम्हार चक्र के माध्यम से घड़ा, तश्तरी, सकोरा आदि जो चाहे बना सकता है वैसे ही काल के माध्यम से अनन्त द्रव्यों का परिणमन होता रहता है। अनन्त आकाश के परिणमन में भी कालाणु कारण है और स्वयं के परिणमन में भी स्वयं कारण है। जैसे—आकाश स्वयं को भी अवगाहन देता है और अन्य द्रव्यों को भी अवगाहन देता है।

लोक के आकार की सिद्धि—जीवादि द्रव्य त्रिभुवन के आकार रूप परिणमन करते हैं जिसके माध्यम से लोक का आकार पहले बन जाता है। जैसे—यहाँ पर पहले से धूप है और कोई आकर यहाँ खड़ा हो गया तो जमीन पर छाया पड़ गई। छाया उस व्यक्ति के आकार के अनुसार हो जाती है इसीलिए जीव और पुद्गलों के आकार को ले करके यह चौदह राजू उत्तुंग नभ में एक आकार फलितार्थ हो जाता है। अन्यथा इन द्रव्यों के अभाव में केवल शून्य मात्र रह जाता है। इस प्रकार अस्तिकाय क्या है? यह बता दिया। इसमें असंख्यातप्रदेशी सिद्धपर्याय रूप शुद्ध जीवास्तिकाय ही उपादेय है शेष पुद्गलादि अस्तिकायों से कोई प्रयोजन नहीं है।

उत्थानिका—पाँच अस्तिकाय तथा काल की द्रव्य संज्ञा कहते हैं –

ते चेव अत्थिकाया तेकालियभावपरिणदा णिच्चा।
गच्छंति दविय भावं परियट्टण लिंग संजुत्ता ॥६॥

अन्वयार्थ—(ते चेव) वे ही [ऊपर कहे] **(अत्थिकाया)** अस्तिकाय **(परियट्टणलिंगसंजुत्ता)** परिवर्तन लक्षण [काल द्रव्य] से सहित **(तेकालियभावपरिणदा)** तीनकाल सम्बन्धी पर्यायों में परिणमन करते होते हुए व **(णिच्चा)** नित्य–अविनाशी रहते हुए **(दवियभावं)** द्रव्यपने को **(गच्छंति)** प्राप्त होते हैं।

अर्थ—जो तीन काल के भावों रूप परिणमित होते हैं तथा नित्य हैं ऐसे वे ही अस्तिकाय, परिवर्तन लिंग सहित द्रव्यत्व को प्राप्त होते हैं अर्थात् वे छहों द्रव्य हैं।

जो त्रैकालिक भाव रूप से, नित परिणमते रहते हैं।
फिर भी रहते नित्य द्रव्य पन, अस्तिकाय कहलाते हैं॥
परिवर्तन का चिह्न काल युत, छहों द्रव्य ही माने हैं।
प्राप्त हुए द्रव्यत्व भाव को, श्री जिनराज बखाने हैं॥६॥

व्याख्यान—परिणमन पर्याय की ओर ले जाता है। पत्ते आते हैं झड़ जाते हैं, परन्तु पेड़ वही रहता है। जो नित्य हैं वे मिटते नहीं और जो मिटते नहीं उनकी उत्पत्ति भी नहीं हुई है। फिर उसमें संरक्षण

की बात ही नहीं है। कितना अच्छा है द्रव्य का स्वभाव। जो द्रव्य के त्रैकालिक स्वभाव को अपने उपयोग का विषय बनाते हैं ऐसे स्थिर बुद्धि वालों की निष्ठा कितनी दृढ़ होगी। जिनके आगम ही चक्षु हैं, बाह्य अभ्यन्तर उपधि को त्याग दिया है उन्हें ग्रन्थ के स्वाध्याय की भी आवश्यकता नहीं रही। पिच्छिका, कमण्डलु, शास्त्र यह उपकरण भी छूट जाते हैं। इस प्रकार उपकरणों से भी दूर हो जाने से निर्दोष आकिञ्चन्य धर्म होता है। जब चलने की हिम्मत नहीं, बोलने की क्षमता नहीं, आहार लेने की भी क्षमता नहीं तो स्थिर हो जाओ, मौन ले लो, आहार का त्याग कर दो। **''ताहू में फिर ग्राम गली गृह बाग बजारा''**(छहढाला) इस प्रकार श्रावक भी देशावकाशिक व्रत लेकर पाप बन्ध से बचने के लिए नियम अनुष्ठान करता है। साधक हर तरह के उपसर्ग को सहते हुए परीषहजय करते हैं। द्रव्य के त्रैकालिक स्वभाव को जानकर अडिग रहते हैं, यह उनके धैर्य का प्रतीक है। **''महामना यो न चचाल योगतः''** (स्वयंभूस्तोत्र) कमठ द्वारा उपसर्ग होने पर भी द्रव्यदृष्टि वाले पार्श्वनाथ मुनिराज योग से विचलित नहीं हुए। साधक अनुप्रेक्षा के माध्यम से पर्याय का भी चिन्तन करते हैं किन्तु दृष्टि शाश्वत द्रव्य या स्वात्म वस्तु पर ही रहती है।

काल द्रव्य का विशेष विवेचन—सामान्य और विशेष दोनों गुणों से युक्त वस्तु होती है। द्रवणशील होने से द्रव्य और जो पद या शब्द के द्वारा व्याख्या के योग्य होता है वह पदार्थ है। जो किसी न किसी ज्ञान का विषय बनता है। भाव की प्रधानता से तत्त्व कहा है। कुम्हार के चाक में कील की भाँति काल द्रव्य है। इसी के माध्यम से द्रव्य परिणमते हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** में–'द्रव्याणि' और 'कालश्च' भी सूत्र हैं अर्थात् कालद्रव्य होते हुए भी अस्तिकाय नहीं है। जैसे–कील के ऊपर चाक घूमता है कील नहीं घूमती। घूमने की क्षमता काल के पास नहीं है, घूमने की क्षमता चाक के पास है काल स्थिर है। चाक जो घूम रहा है वह कील के बिना नहीं घूम सकता लेकिन कील घुमा नहीं रही है उसी प्रकार काल हठात् द्रव्यों का परिणमन नहीं करा रहा है। शुद्ध अशुद्ध सभी द्रव्यों में परिणमन की योग्यता है उसमें काल निमित्त बन जाता है। निमित्त कई प्रकार के होते हैं। निमित्त से कोई बचना भी चाहे तो तीन काल में भी काल के निमित्त से बच नहीं सकता। शुद्ध द्रव्य में भी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप परिणमन काल द्रव्य के बिना सम्भव नहीं।

व्यवहार व निश्चयकाल की पहचान—घड़ी में जो काँटे चलते हैं, उससे काल द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है अपितु काँटों से व्यवहार काल की पहचान करते हैं और व्यवहार काल से जो अज्ञात निश्चय काल है उस निश्चय काल का ज्ञान हो जाता है। निश्चय काल के बिना व्यवहार काल नहीं हो सकता।

द्रव्य में स्वयं परिणमन की योग्यता—''वर्तनायां निमित्तभूतः कालः'' कुछ लोग काल को इतना महत्त्व देने लगे हैं कि द्रव्य के स्वतंत्र परिणमन की योग्यता को गौण कर देते हैं। कुम्हार के यहाँ कील से ही बर्तन नहीं बन रहे हैं, किन्तु मिट्टी की योग्यता से बर्तन बन रहे हैं। केवल काल

ही त्रैकालिक है ऐसा नहीं, शेष द्रव्य भी त्रैकालिक हैं। **निमित्ताधीन दृष्टि नहीं रखना है, उपादान स्वरूप अपने अस्तित्व को निहारना है।** जिस प्रकार सिद्धपरमेष्ठी का ध्यान करने मात्र से सिद्ध नहीं हो जाता उसी प्रकार काल परिणमन में निमित्त मात्र होने से वही मुख्य नहीं हो जाता। दिन में सूर्य दिखता है चाँद तारे नहीं। तो क्या चाँद तारों का अस्तित्व समाप्त हो गया? नहीं। यन्त्र के माध्यम से दिन में भी तारे देखे जा सकते हैं। जैसे–चक्रवर्ती को सूर्य विमान में स्थित बिम्ब का दर्शन हो जाता है। बाहर में उजाला न रहे तो अपने आप तारे दिखने लग जायेंगे अर्थात् तारों का अस्तित्व दिन में भी है। वायु दिखती नहीं, पकड़ में नहीं आती किन्तु उसका अभाव नहीं है। प्राणवायु के बिना तो हमारा जीवन ही नहीं चलता। प्रत्येक द्रव्य को उपादान और निमित्त की अपेक्षा से जान लेना चाहिए। द्रव्य पहले था, है और रहेगा। यह काल के निमित्त से जाना जाता है किन्तु काल के कारण से प्रत्येक द्रव्य में त्रैकालिकता नहीं, वरन् स्वभाव से है। काल के बिना परिवर्तन नहीं होता, इसलिए काल पर निर्भर हो जाएँ यह गलत बात है। काललब्धि को ही मुख्य कर ले यह अनुचित है। हेतु बाहर है लेकिन हेतुभूत भाव तो भीतर है। पढ़ने वाला शिष्य है तभी पढ़ाने वाले उपाध्याय हैं, भक्त हैं तभी भगवान् हैं, आत्मा है तो परमात्मा है। भले ही शब्द के जोड़े की अपेक्षा कह दो पर प्रत्येक का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। प्रवाह अपेक्षा भले ही कह दो कि बन्धपूर्वक मोक्ष है। बन्ध नहीं तो मोक्ष नहीं। पर बन्ध तत्त्व भिन्न है मोक्ष का अनुभव भिन्न है। इस प्रकार काल और स्थान भेद के माध्यम से चर्चा होती है।

पाँच अस्तिकाय शाश्वत द्रव्य भी परिणमन की अपेक्षा क्षणिक–पाँच अस्तिकाय और काल सब शाश्वत द्रव्य हैं किन्तु परिणमन की ओर दृष्टि जाते ही क्षणिक सिद्ध होते हैं। किसी ने पूछा–कितना बजा है? बताते ही बताते पाँच सेकेण्ड आगे बढ़ जाते हैं। वास्तविक/निश्चित समय बता ही नहीं सकते क्योंकि प्रतिसमय परिणमन हो रहा है। बताने वाला भी गलत और मानने वाला भी गलत सिद्ध हो गया। यदि समय की सूक्ष्मता से मुहूर्त निकालकर कार्य करें तो व्यवहारिक कार्य हो ही नहीं पायेंगे। मिनट के अनुसार कदाचित् कार्य कर सकते हैं किन्तु सेकेण्ड और सेकेण्ड के भी अनेक भेद करें तो ऐसे मुहूर्तानुसार कार्य नहीं हो सकते। स्पष्ट है सूक्ष्मता की ओर जाने से नजर टिक नहीं पाती और जो काल बीत गया वह लौटकर कभी आता नहीं। **बारहभावना** में बोलते हैं–**''सूरज चाँद छिपै निकलै ऋतु फिर-फिर कर आवै''** दिमाग चाहे कितना ही फिरा हो लेकिन काल कभी लौटकर फिर से नहीं आता। एक पर्याय व्यय हो जाती है तो दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है। कालद्रव्य अन्य द्रव्यों के परिणमन में सामान्य रूप से निमित्त है। अन्यथा गर्मी के मौसम में कुछ पेड़ सूख जाते हैं, कुछ हरे-भरे रहते हैं। यदि एकान्त से काल ही परिणमाता तो सब सूखने चाहिए या सभी हरे-भरे होने चाहिए लेकिन ऐसा नहीं होता। यह पतझड़ और बसन्त प्रत्येक पेड़ में अपनी-अपनी योग्यतानुसार काल की मात्र उपस्थिति में हो रहा है। यह परिणमन काल के निमित्त से है, किन्तु काल से नहीं है। सम्यग्ज्ञानी ही इस व्यवस्था को जान पाता है। प्रत्येक द्रव्य की परिणमन करने की जो क्षमता है वह

अपूर्व है। आचार्यों ने केवलज्ञान को भी इतना महत्त्व नहीं दिया क्योंकि वह सादि है, जितना कि अखण्ड ज्ञानधारा को महत्त्व दिया है जो अनादि अनन्त है। ज्ञानधारा कर्म जनित नहीं, स्वभाव है, किन्तु केवलज्ञान कर्मक्षय से उत्पन्न हुआ है, नैमित्तिक है। ज्ञानधारा त्रैकालिक है द्रव्यार्थिक नयापेक्षा नित्य है, पर्यायार्थिक अपेक्षा अनित्य है। द्रव्य दृष्टि को मुख्यता देनी चाहिए क्योंकि इसमें अखण्ड तत्त्व दिखता है। इससे निर्भीकता और सहजता आती है। जीवादि द्रव्यों का परिणमन, कार्य-कारण आदि भी ज्ञात होना चाहिए। जैसे-अग्नि का कार्य धुआँ है, धुआँ का कार्य अग्नि नहीं। धुएँ के माध्यम से अग्नि का ज्ञान होता है लेकिन ऐसा कोई नियम नहीं है कि-जहाँ अग्नि है वहाँ धुआँ है ही। निर्धूम अग्नि भी होती है। इस प्रकार यह कार्य-लिंग है। लिंग अर्थात् चिह्न। उसी प्रकार हर कार्य में काल अपेक्षित है लेकिन वह काल का कार्य नहीं। **कार्य तो प्रत्येक द्रव्य की योग्यतानुसार होता है।** उपाध्याय का कार्य तो पढ़ाने का है, विद्यार्थी का कार्य है पढ़ना। लेकिन कभी-कभी पढ़ाने वाले के अभाव में एकलव्य जैसा गुरु की मूर्ति बनाकर धनुर्विद्या सीख लेता है। वह प्रतिमा यहाँ काल की भाँति निष्क्रिय है। कोई सिखाने वाला नहीं था फिर भी एकलव्य ने अपनी श्रद्धा व धारणा के बल से निपुणता प्राप्त कर ली।

काल प्रेरक नहीं, उदासीन निमित्त—काल नहीं कहता है कि घण्टी बज गई, उठ जाओ। जितनी चाबी भरी है उतनी देर तक वह बजेगी, चाहे तुम उठो या ना उठो। अब तो घड़ी के अलार्म में भी मुर्गे जैसी आवाज आती है। मुर्गा भी चार बजे से बोलता है लेकिन हमें यह नहीं कहता कि-तुम उठ जाओ। एक बार मैंने गिना वह १७ बार बोला तो मुझे लगा वह प्रतिक्रमण पाठ में "**सत्तरसविहेसु असंजमेसु**" मानो वह कह रहा है कि १७ प्रकार के असंयम को छोड़ो। मुर्गा बोलता है पर जगाता नहीं है। यदि स्वयं जागते हैं तो मुर्गा को निमित्त कह देते हैं। इतना ही काल का कार्य है, काल प्रेरक नहीं। आज इस बीसवीं शताब्दी में कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि-कालद्रव्य असंख्यात हैं और उसके कार्य अनन्त हैं। किसी के रोने में कारण, तो किसी के हँसने में कारण, किन्तु यदि काल ही कारण होता तो काल हमेशा बना रहेगा तो हमेशा रोते-हँसते ही रहना चाहिए। किन्तु यह सब काल प्रत्यय से नहीं स्वात्म प्रत्यय से हो रहा है। इस हर्ष-विषाद में कारण मोहनीय कर्म है। ११वें गुणस्थान में मोह का उदय नहीं तो हर्ष-विषाद भी नहीं। यद्यपि मोह की सत्ता वहाँ विद्यमान है और काल मोह के सद्भाव और अभाव दोनों में विद्यमान है। मोह के बन्ध, उदय, सत्त्व ये तीन कारण हैं और इनके कार्य भी भिन्न-भिन्न हैं। काल तीनों के साथ सामान्य प्रत्यय के रूप में विद्यमान है। कालाणु द्रव्य के रूप में माना गया है।

निर्विकल्पता ही स्वसंवेदन की सीढ़ी—सारे संसार में आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं के अलावा कुछ भी नहीं दिखता। कोई खा रहा है, कोई भयभीत है, कोई वासनाओं में व्यस्त है तो कोई पैसा कमाने में लगा हुआ है। परद्रव्यों के आलम्बन में संकल्प और विकल्प ही होंगे।

अतः शुद्ध जीवास्तिकाय का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और अभेद रत्नत्रय रूप जो निर्विकल्प समाधि है, उससे उत्पन्न वीतराग भाव में ही परम आनन्द है। आनन्द निजगृह में ही है और यही प्रयोजनभूत है। **विकल्पों में आनन्द नहीं फिर भी विकल्प करते हैं, निर्विकल्प होना चाहते हैं पर हो नहीं रहे हैं।** जितना भूलना चाहते हैं उतना ही याद आते हैं; क्योंकि परपदार्थों के प्रति आकर्षण है, रुचि है इसीलिए याद आते हैं। **यदि स्वशुद्धात्म तत्त्व को रुचिपूर्वक याद करेंगे तो संसार से अरुचि होगी। यही अभ्यास करना है, मात्र स्वाध्याय करने से रुचि नहीं बढ़ती।**

आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार में लिखा है कि–हे! श्रमण तुझमें यदि शुद्धोपयोग में लीन होने की क्षमता नहीं है तो कोई बात नहीं, शुद्धोपयोग में श्रद्धान कर। शुभोपयोगी वही है जो शुद्धोपयोग पर श्रद्धान करता है। जा बैठ जा शुद्धोपयोगी के पास उनकी झलक पड़ने लग जायेगी। वो तो हमेशा स्वाध्यायरत हैं, स्व का चिन्तन करते रहते हैं। समता की ओर श्रमण को आकृष्ट कर देते हैं। समता आ गयी तो न दुख है, न भय है, शान्त है। स्वस्थ संवेदन अर्थात् स्वसंवेदन। स्वसंवेदन के साथ मन-वचन-काय का विकल्प समाप्त हो जाता है। संकल्प-विकल्प मिटने पर जो संवेदन होता है वह स्वसंवेदन है। स्वसंवेदन के लिए हेय पदार्थों के प्रति चिन्तन करेंगे कि ये भयानक हैं, अहितकारी हैं तो निश्चित रूप से वे छूटेंगे। जो इष्ट है वह प्राप्त नहीं हो पा रहा है फिर भी उसके प्रति आकर्षण की दृष्टि रहती है। मान लीजिए कोई वस्तु दुकान पर खरीदने जाते हैं तो दुकान पर उसी वस्तु को आँखें खोजती हैं, उसी की गवेषणा होती है, बार-बार उसी की पूछताछ भी करते हैं। तपती दोपहरी में चलते-चलते रास्ता भटक चुके हैं यदि वहाँ छायादार घना वटवृक्ष दिख भी जाए तो भी वहाँ नहीं ठहरते, पैर मंजिल की ओर आगे बढ़ते ही चले जाते हैं। बस वैसे ही कहीं भटकना नहीं है। वीतराग सहजानन्द से युक्त स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्ध जीवास्तिकाय को जानना है। इस शरीर के भीतर शुद्ध जीवास्तिकाय शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा है।

उत्थानिका—छह द्रव्यों को परस्पर अत्यन्त संकर होने पर भी वे अपने-अपने निश्चित स्वरूप से च्युत नहीं होते ऐसा कहा है–

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥७॥

अन्वयार्थ—(अण्णोण्णं पविसंता) अन्योन्य-एक दूसरे में प्रवेश करते हुए **(अण्णं अण्णस्स)** एक दूसरे को **(ओगासं)** अवकाश **(दिंता)** देते हुए **(णिच्चं मेलंता वि य)** और सर्वकाल परस्पर मिलते हुए भी **(सगं सभावं)** अपने-अपने स्वभाव को **(ण विजहंति)** नहीं छोड़ते हैं।

अर्थ—वे द्रव्य एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक-दूसरे को परस्पर अवकाश देते हुए और सर्वकाल परस्पर मिलते हुए भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं।

सारे द्रव्य एक दूजे में, प्रविष्ट होकर रहते हैं।
देते हैं अवकाश परस्पर, आपस में मिल जाते हैं॥
फिर भी इनका स्वभाव देखो, कितना अचरज होता है।
अपने-अपने निज स्वभाव को, कोई कभी न खोता है ॥७॥

व्याख्यान—सभी द्रव्य एक दूसरे द्रव्य में प्रवेश होकर रहते हैं फिर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। जैसे—सोने में चाँदी मिलाकर आभूषण बना दिया लेकिन धातु के जानकार देखते ही बता देते हैं कि इसमें कितना सोना, कितनी चाँदी है। यद्यपि दोनों एक-दूसरे में घुले-मिले हुए लगते हैं फिर भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं। आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर कालाणु भी हैं और परमाणु भी हैं। जहाँ एक परमाणु है वहाँ अनन्त परमाणु भी हैं। अन्यथा असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त पुद्‍गल कैसे समायेंगे? एक-दूसरे को अवकाश देते हैं फिर भी अपने-अपने स्वभाव में ही रहते हैं। दूध और पानी को मिला सकते हैं, पर दोनों के स्वभाव को नहीं मिला सकते हैं।

कर्मरूपी भार से रहित होने पर ऊर्ध्वगमन—आज के विज्ञान को समझाने के लिए प्रथम हमने उनसे पूछा कि—तुम्हारा भार कितना है? आज के इस वैज्ञानिक युग में अनेक चिन्तक हैं और सभी अपनी-अपनी ही बात को सत्य कहते हैं। Many Man, Many mind लेकिन हम उन्हें यह पूछना चाहेंगे कि—बताओ तुम्हारा भार कितना है? मान लीजिए किसी का ६०, ६५ किलो वजन है लेकिन उपग्रह की ओर ऊपर जाते-जाते वजनरहित हो गए, परन्तु वे निर्भार होकर अब सिद्ध ही होने वाले हैं क्या? नहीं। इतना वजन एकदम घटने से T. B. की बीमारी हो गई है क्या? नहीं। तो फिर एक दिन में इतना भार क्यों घट गया? इससे स्पष्ट है जो वजन पहले किया था वह सही नहीं था, गुरुत्वाकर्षण की अपेक्षा से था, चुम्बकीय तत्त्व अपेक्षा सापेक्ष था।

दृष्टान्त—१. इंग्लैण्ड के संग्रहालय में एक प्रतिमा अधर में रखी है। जैसे—अन्तरिक्ष के पार्श्वनाथ की है। उस संग्रहालय में इस तरह से शक्तिशाली चुम्बक लगा रखे हैं कि ऊपर वाला ऊपर और नीचे वाला नीचे की ओर खींच रहा है तो वह प्रतिमा अधर में ही रह गई।

२. ऐसे ही हाबड़ा ब्रिज में भी भार को वर्गीकृत करने के तरीके से संतुलित किया है। यह भार वितरित करने की एक पद्धति है। इस तरह भार भी कम ज्यादा होने से सापेक्षित हो गए। पुद्‍गल की लघु और गुरु दोनों पर्यायें हैं, जीव की नहीं। यह भार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा हीनाधिक होता रहता है। वस्तु जब ऊपर जाती है तब गुरुत्वाकर्षण का खिंचाव न होने से और वस्तु हल्की होने से गिरती नहीं।

३. पानी से भरा घड़ा एक हाथ से उठाना चाहे तो नहीं उठ पाता किन्तु जिसमें कुछ पानी भरा है, ऐसी टंकी में उस घड़े को डाल दो, घड़े में पानी भरा हुआ है और टंकी में भी पानी होने से घड़े को एक हाथ से उठाना बहुत सरल हो गया लेकिन जहाँ तक पानी है वहीं तक, बाहर निकालते ही

वही भारीपन आ जायेगा, यही तो क्षेत्रादि का प्रभाव है।

हल्का लगता जल भरा, घट भी जल में जान।
दुख सुख ना अनुभूत हो, हो जब आतम ज्ञान॥

जैनाचार्यों ने जल को स्थूल कहा है अर्थात् अलग करने पर भी पुनः जुड़ जाए किन्तु स्थूल-स्थूल में अलग करने पर पुनः वैसा ही नहीं जुड़ता। जल के भीतर जाते ही वह घड़ा वजन रहित हो गया। जल में वायु तत्त्व है, ऑक्सीजन है अन्यथा वहाँ जीवित नहीं रह सकते। जो तैरना नहीं जानते वे यदि गहरे पानी में चले गए तो डूब जायेंगे और जो तैरना जानते हैं वो हाथ-पैर चलाते रहते हैं चाहे कितना ही मोटा व्यक्ति हो वो डूबेगा नहीं। दूसरी ओर चाहे दुबला-पतला बालक भी क्यों न हो तैरना नहीं जानता तो डूब जायेगा। नाव को चलाने वाले पतवार या चप्पू चलाकर पानी को काटकर आगे बढ़ा देते हैं। इस प्रक्रिया से वजन को दिशा देते हैं और भार को कम कर देते हैं। एक और प्रक्रिया है-जहाँ हाथ पैर कुछ हिलाया नहीं, मात्र श्वास की प्रक्रिया से वह डूबता नहीं, तैरता रहता है। पानी में खड़ा रह जाता है, पूरा शरीर डूब जाता है, मात्र चेहरा ऊपर रहता है, श्वास की प्रक्रिया चलती रहती है। जैसे-पानी में लकड़ी तैरती रहती है, वैसे ही यदि अभ्यास करें तो लकड़ी के समान लेटकर भी तैर सकता है। जो जीवित अवस्था में कभी तैरना नहीं जानता था वह मुर्दा होने पर अथाह पानी में भी डूबता नहीं; क्योंकि वायु निकल गई। कहते हैं-जीवित अवस्था में तीन बार नीचे से ऊपर आता है क्योंकि थोड़ी-थोड़ी वायु है, फिर मरने पर ऊपर ही रह जाता है। यद्यपि उसमें भार है, श्मशान ले जाने में चार व्यक्ति चाहिए। भार होने पर भी डूबा क्यों नहीं? उसके पेट में पानी भर गया। यदि पेट से पानी निकालने की प्रक्रिया हो जाए तो बच जाए, नहीं तो बचा नहीं सकते। वजन दूना होने पर भी मुर्दा डूबा नहीं। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है-जैसे जल में डूबते हैं वैसे ही हवाओं में भी डूबना होता है। आत्मा जितना कर्मों से हल्का होगा, ऊर्ध्वगमन करेगा। पहले ऋद्धि के माध्यम से, फिर मोह का गुरुत्वाकर्षण छूटने पर धरती से चार अंगुल ऊपर चले जाते हैं और अन्त में सर्व कर्म का क्षय करके एक ही समय में लोकाग्र में अनन्तकाल तक ठहर जाते हैं। मन्त्र आदि के माध्यम से अग्नि, वायु और पानी को भी बाँधा जा सकता है, ओलावृष्टि रोकी जा सकती है। साधना के बल पर विज्ञान को भी चमत्कृत करने वाले अद्‌भुत कार्य हो जाते हैं।

सभी द्रव्यों का परस्पर एकमेक होकर रहना—छहों द्रव्यों में एक पुद्‌गल द्रव्य ही ऐसा है जिसमें भार है, वजन है, जीव का वजन नहीं। कर्मों का वजन पकड़ में नहीं आता। "**निरुपभोग-मन्त्यम्**" जब आँखों के द्वारा कर्म देखने में ही नहीं आते तो उन सूक्ष्म कर्मों का वजन कैसे कर सकते हैं? कर्मों को देख नहीं सकते यह भी एक दुख है। कर्म के परमाणु जब स्कन्ध के रूप में परिणमन करते हैं तब एक-दूसरे से मिलकर रहते हैं। जैसे-सोना चाँदी में एकमेकपना हो गया, गहने बन गए फिर भी संकर दोष नहीं आता अर्थात् अपनी इयत्ता को खोते नहीं और ना ही व्यतिकर दोष आता है

अर्थात् एक तोले चाँदी में एक तोला सोना मिलकर दो तोला सोना नहीं हो जाता। यह सूक्ष्म विषय विज्ञान का नहीं बन सकता। जैनाचार्य कहते हैं कि–गुरु लघु को मिलाने से गुरु रूप परिणमन भी हो सकता है और लघु रूप भी। "**बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च**" बन्ध इस सूत्र पर आधारित है। छहों द्रव्य संकर व्यतिकर दोष बिना "**नित्यावस्थितान्यरूपाणि**" नित्य, अवस्थित और पुद्‌गल के बिना शेष पाँच द्रव्य अरूपी हैं और वे लोक में अनादि से रह रहे हैं इसमें से जीव और पुद्‌गल भाववती और क्रियावती शक्ति से युक्त हैं, शेष चार द्रव्यों में मात्र भाववती शक्ति है।

छहों द्रव्यों में शुद्ध जीवास्तिकाय का परिचय—संकल्प-विकल्प रूप लहरों से रहित वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न परमानन्द रूप सुख के आस्वादन से युक्त जो स्वसंवेदन ज्ञान है जिससे शुद्ध जीवास्तिकाय का संवेदन होता है ऐसा जीवास्तिकाय छहों द्रव्यों में उपादेय है। छहों द्रव्यों में निज शुद्ध जीवास्तिकाय को कैसे अलग करके जानें? क्योंकि पाँच द्रव्यों को अलग करें तो जीव शेष रहता है। जीव भी अनन्त हैं और उनमें भी निगोदिया जीव अनन्त हैं। उसमें भी प्रत्येक के असंख्यात प्रदेश हैं। उसमें हम कहाँ हैं कैसे जाने? लोक में तो हम हैं किन्तु लोक तो बहुत लम्बा-चौड़ा है। भारत में है तो भारत भी कश्मीर से कन्याकुमारी तक है। मध्यप्रदेश, राजस्थान आदि प्रान्त फिर सम्भाग, जिला, तहसील, कॉलोनी, मन्दिर उसमें भी प्रवचन सभा में हैं। तख्त पर स्वस्थान की अपेक्षा हैं, इसमें भी रूपादिगुण युक्त देह के भीतर ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी "**मैं जीव हूँ**" इस प्रकार सारे विकल्प छोड़कर स्वसंवेदन कर सकते हैं। थोड़ा-सा भी विकल्प हुआ कि परद्रव्य आ जायेगा, शब्द आ जायेगा जबकि तुम शब्दातीत हो, "**मैं कौन हूँ**" यह पूछो मत। इसे शब्दों में बाँध नहीं सकते, संवेदन करो। किसी संकेत से बताने लगेंगे तो वहाँ पर पुद्‌गल का माध्यम आ ही जायेगा अतः कहा है–"**ततः केन ब्रवीम्यहम्**" (समाधितंत्र) आत्मतत्त्व का परिचय कैसे दें? जीव निर्भार है, भार रहित है।

दृष्टान्त—जैसे गुब्बारे में चूना और थोड़ा-सा पानी डालकर ऊपर धागा बाँधकर तखत पर रख दिया। अब वह मुख का भाग भारी होने से नहीं उठ रहा है किन्तु अब धीरे-धीरे पेंदे की तरफ से उठना प्रारम्भ हो गया। क्या कोई ऋद्धि आ गई (हँसी) जिसे लिटाकर रखा था वह गुब्बारा खड़ा होकर धीरे-धीरे उठने लगा। उसके अन्दर चूना पहले ठोस रूप में था अब बिखर गया। इस रूपान्तरण के माध्यम से जान लें कि एक समय में सात राजू ऊपर तक यह जीव कैसे चला जाता है। देह के अग्नि संस्कार के बिना ही परमाणुओं का बिखराव हो जाता है और आत्मा ऊपर उठ जाता है।

संसार से पार होने की योग्यता किसको?—कई लोगों की नीचे गिरने से भी मृत्यु नहीं होती, बच जाते हैं और कुछ लोग गिरते समय बीच में ही तनाव से मर जाते हैं। तनावरूपी गुरुत्वाकर्षण बहुत खतरनाक है। अंजनचोर को देखिये–जिसने मन्त्र दिया था वह श्रावक शिरोमणि माना जाता था। विश्वास न होने से वह ऊपर नीचे हो रहा था किन्तु अंजनचोर ने तो एक बार में ही सारे सींके काट

दिये, उसे विश्वास था कि इस मन्त्र की महिमा से मैं मर ही नहीं सकता।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ के अनुसार ध्यान की प्रथम भूमिका में पार्थिवधारणा, वायव्यधारणा, आग्नेयधारणा आदि अवधारणाएँ की जाती हैं किन्तु "**मा मुज्झह मा रज्जह, मा दुस्सह इट्ठणिट्ठ-अत्थेसु**" (द्रव्यसंग्रह) इस गाथा का अनुभव करके वीतराग दशा प्राप्त होते ही सर्व धारणाएँ समाप्त हो जाती हैं। "**मा मुज्झह**" आदि कहा है तो इस गाथा से भी मोह नहीं कर लेना यह भी एक साधन है, असंपृक्त होना चाहिए। मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रहे, विषय-विषयी सम्बन्ध नहीं। सम्बन्ध नहीं रहे, सम्बन्ध रहित अवस्था या निर्बन्ध हो जाये। जैसे गुब्बारे में चूने की सघनता विरलता में बदल गई तो वह फूलकर ऊपर उठने लगा। नियम भी यही है जो भारी होता है वो नीचे रह जाता है।

ग्रहण भाव को जो रखते हैं, नीचे जाते दिखते हैं।
ग्रहण भाव को जो नहीं रखते, ऊपर जाते दिखते हैं॥
इसी बात को स्पष्ट रूप से, तुला हमें समझाती है।
भरी पालड़ी नीचे जाती, खाली ऊपर आती है॥

ध्यान रखें गुब्बारे पर बँधा धागा भी ऊपर जा रहा है, वैसे ही वीतरागी आत्मा के साथ बँधे हुए धागे के समान शरीर भी ऊर्ध्वगमन कर जाता है। वह शरीर बादर निगोदिया जीव से रहित परमौदारिक संज्ञा पाता है। यद्यपि उसकी आकृति ऊँचाई, चौड़ाई उतनी ही है किन्तु भार रहित हो गया, पारदर्शिता आ गई। मोहाकर्षण छूटते ही भव से पार हो गया। वास्तव में जो निडर होता है वही तैर पाता है।

अध्यात्म क्या है? — चेतन और अचेतन द्रव्यों में मेरा-तेरा, अच्छा-बुरा आदि संकल्प-विकल्प संसारी जीवों के बने रहते हैं। उसी के माध्यम से राग-द्वेष होते हैं और राग-द्वेष दूर होते ही निर्विकल्प दशा आती है ; यही अध्यात्म है। यह बहुत दुर्लभ है। कहने मात्र से यह अध्यात्म प्राप्त नहीं होता क्योंकि २४ घण्टे मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं अमीर हूँ, मैं गरीब हूँ इत्यादि कुछ न कुछ संकल्प-विकल्प चलते रहते हैं। इन विकल्पों के कारण ऊपर नहीं उठ सकते, ये विकल्प भी परिग्रह हैं। कुछ लोग आकर कहते हैं–महाराज! आशीर्वाद दे दो हमारी दुकान चलने लगे और दूसरी बात यह है कि दूसरे की दुकान न चले, यदि दूसरे की चलने लगेगी तो हमें विकल्प होगा। हमने कहा-दो कान खोलकर सुन लो जब तक अहंकार-ममकार रूप विकार रहेंगे तब तक दुखी रहोगे। आचार्यभगवन् ने वीतराग निर्विकल्प समाधि प्राप्त करने को कहा है। इसमें वीतराग विशेषण आर्त्त-रौद्र ध्यान से रहित होने के लिए है। वीतराग बने बिना आर्त्त-रौद्र ध्यान नहीं छूटते। मुनियों को भी सरागदशा में आर्तध्यान हो सकता है। हाँ, आरम्भ-परिग्रह से सम्बन्ध न होने से रौद्रध्यान नहीं होगा। असंयमी को विषयों की अपेक्षा से कषाय हो सकती है, लेकिन आरम्भ-परिग्रह त्यागी भी कषाय करें तो वह चिन्तनीय विषय हो जाता है। स्पष्ट है राग-द्वेष, मोह के हेतु से संकल्प-विकल्प होते हैं,

वीतरागी को नहीं। इस प्रकार हेतु और हेतुमान इन दोनों की अपेक्षा से भी 'वीतराग' विशेषण दिया है। सरागदशा में एक के बाद एक विकल्प होते रहते हैं। रौद्रध्यान की ओर ले जाने वाले विषय-कषाय से बचने के लिए साधु २८ कृतिकर्म करते हैं। उसमें भी यदि साधक प्रतिमायोग धारण कर ले तो कोई आवश्यकों की आवश्यकता नहीं। जैसे-श्रावक उपवास कर ले तो आहार देने का भी विकल्प नहीं रखता है और यदि शरीर को भोजन करा रहे हो तो उससे पूजन, भजन व साधु को आहार भी कराओ। दुनिया के कार्य करने को तो तैयार हो, तो जो दुनिया से ऊपर उठ चुके हैं उनकी भक्ति करने में जी क्यों चुराते हो? यदि आर्त्त-रौद्र ध्यान छोड़कर, समता धरकर, हाथ पर हाथ रखकर भगवान् जैसे शान्त बैठ गए तो सब अपने आप छूट जायेगा। जो ऐसे महापुरुष होते हैं उन्हें समयसार पढ़ने की भी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि वे स्वयं समयसारमय हो चुके हैं, अप्रमत्त हो चुके हैं। धन्य हैं, प्रणम्य है उनकी वह सहज आत्मलीन दशा।

वीतरागता से ही निर्विकल्पसमाधि—वीतराग हुए बिना निर्विकल्प समाधि नहीं होती और यही आत्मा का स्वरूप है। समयसार आदि ग्रन्थों में भी वीतराग विज्ञान शब्द कहा है। भेदविज्ञान तो बहुतों को हो जाता है किन्तु वीतराग विशेषण युक्त ज्ञान विरलों को होता है। जब सर्व दोषों का अभाव हो जाता है तभी वीतराग विशेषण लगता है। इसीलिए तीर्थंकर भगवान् के तीन विशेषणों में पहला '**वीतराग**' है, फिर '**सर्वज्ञ**' और अन्त में '**हितोपदेशी**' है। वीतरागी हैं इसीलिए सबको जानते हैं और सांसारिक हित का नहीं, आत्महित का उपदेश देते हैं।

वीतराग शब्द का अर्थ—वीतराग यह नकारात्मक शब्द है जिसके पास राग नहीं, वह वीतरागी है। जब राग का स्वरूप जानेंगे तभी तो राग से बच पायेंगे। जो दुर्जन नहीं है ऐसे सज्जन को मित्र बनाइये लेकिन विवेक के साथ। ऐसा नहीं कि इष्ट का मरण हो गया तो उसे उठाओ ही नहीं। हमें तो इनने पाला-पोसा है ये हमारे हितैषी हैं इसीलिए यहीं रखेंगे ऐसी स्थिति में शरीर में जीवों की उत्पत्ति होगी, सड़ना प्रारम्भ हो जायेगा। **जैसे—मृतक को जल्दी ही घर से बाहर निकालना चाहते हो वैसे ही यदि मुक्ति चाहते हो तो दोषों को भी अपनी आत्मा से बाहर करने में जल्दी करो। दुर्जन को घर में ही रखो और सज्जन को बाहर कर दो यह सज्जन की रीत नहीं है।**

आत्मा का हित किसमें—अहित को हित और हित को अहित के रूप में स्वीकारना मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत श्रद्धान है "**आतम के अहित विषय कषाय इनमें मेरी परिणति न जाय।**" "**रागादि प्रकट ये दुख दैन तिनही को सेवत गिनत चैन**" आतम का हितकारी वीतराग विज्ञान है, वीतरागता कारण है और निर्विकल्पसमाधि कार्य रूप है। **ज्ञानार्णव** में भी यही कहा है-पहले वीतरागी हो जाओ फिर एकाग्रता तो निश्चित आ ही जायेगी। पहले पञ्चेन्द्रिय विषयों का त्रियोग से त्याग करते हैं और विषय सेवन करने वालों की संगति का भी त्याग करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि-महाराज! नियम तो ले लेते हैं पर निभता नहीं। इसका कारण है कि शराब आदि का त्याग तो करते

हो, लेकिन शराबी के साथ रहते हो, उसके बिना काम ही नहीं चलता ऐसी स्थिति में शराब से कैसे बच पाओगे? या तो उसके समान तुम बन जाओ या उसे अपने समान बना लो। अपने से जो उच्च हैं उनकी संगति करो। मौन का पालन करना है तो ज्यादा बोलने वालों की संगति मत करो। वीतरागी बनना है तो पहले आरम्भ-परिग्रह छोड़ो। यह सिद्धान्त है कि वीतरागी हुए बिना सर्वज्ञ नहीं हो सकते। **स्वयंभूस्तोत्र** में **श्री समन्तभद्रस्वामी** कहते हैं-

स्वदोष - मूलं स्वसमाधितेजसा,
निनाय यो निर्दय-भस्मसात्-क्रियाम् ॥१४॥
स्वदोष-शान्त्या विहितात्म - शान्तिः,
शान्ते - र्विधाता शरणं गतानाम् ॥८०॥

वीतरागता न पाने का कारण क्या—वीतरागता न पाने में अपने दोष ही मूल कारण हैं। अपने दोषों की शान्ति करने से ही आत्म शान्ति प्राप्त होगी। मोह शान्त करते ही अन्तर्मुहूर्त में तीन घातिया कर्मों का क्षय होने से अनन्तचतुष्टय प्राप्त हो जाता है। मोहकर्म के क्षय का कार्य दसवें गुणस्थान तक होता है। इसके क्षय में गहन आत्म पुरुषार्थ कारण होता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में घातिकर्म क्षय करके, जली रस्सी के समान अघातियाकर्म भी नष्ट हो जाते हैं। यहाँ हेतु और हेतुमत् शब्द का यह अर्थ निकाल लेना चाहिए।

संकर व्यतिकर दोष का दृष्टान्त—छहों द्रव्य एकसाथ रहकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। जैसे-"कादे में हेम अमल है" कीचड़ में भी रहकर स्वर्ण अमल रहता है किन्तु लोहे में जंग लग जाती है। आजकल जो आर० सी० सी० का कार्य होता है उसमें थोड़ा-सा पानी लगते ही जंग लग जाती है और जंग लगते ही वह सीमेन्ट आदि सबको छोड़ देता है। कमण्डलु आदि में चिपकाने का जो M-seal, Araldite आदि हैं इससे अलग-अलग टुकड़े भी जुड़कर एकमेक से दिखते हैं, यह ही संकर व्यतिकर दोष का दृष्टान्त है। यदि दो विपरीत धर्म एक-साथ रहकर एकमेक हो जाएँ तो संख्या भी दो से एक हो जानी चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं है। गुण धर्म समाप्त होकर, संकरादि दोष उत्पन्न हो जायेंगे। इन दोषों का परिहार करने के लिए "**अण्णोण्णं पविसंता...**" यह गाथा दी गई है इस प्रकार प्रथम महाधिकार में तीन स्थल द्वारा समय की अर्थ पीठिका के साथ प्रथम अधिकार पूर्ण होता है।

द्रव्य के सम्बन्ध में बौद्धदर्शन और जैनदर्शन में अन्तर—बौद्ध शाश्वत द्रव्य को नहीं, पर्याय को ही मानता है और होना-मिटना ही पर्याय का स्वभाव है। सब कुछ माया है। माया का नाम ही मिटना है। बौद्धमती एकान्त से पदार्थ को क्षणध्वंसी मानते हैं। जैनदर्शन में अनेकान्त दृष्टि से स्वीकारते हैं। जहाँ आज बस्ती है वहीं खण्डहर हो जाते हैं, जहाँ-कहीं सुनसान था वहाँ नगर बस जाते हैं इस प्रकार कहीं बस जाता है तो कहीं उजड़ जाता है। वासी प्रवासी बन जाता है, यही तो माया है।

कुछ लोग इसे अविद्या बोलते हैं। पर्याय का स्वरूप उत्पाद व नाश होना है किन्तु पदार्थ का कभी नाश नहीं होता, द्रव्यार्थिक नयापेक्षा द्रव्य का नाश नहीं होता अतः उत्पाद भी नहीं होता किन्तु पर्यायार्थिक नयापेक्षा होना-मिटना दोनों होते हैं।

उत्थानिक—अब यहाँ अस्तित्व का स्वरूप कहते हैं—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ॥८॥

अन्वयार्थ—**(सत्ता)** अस्तिरूप सत्ता **(सव्वपयत्था)** सर्व पदार्थों में रहने वाली है **(सविस्स-रूवा)** नाना स्वरूप वाली है **(अणंतपज्जाया)** अनंत पर्यायमय है **(भंगुप्पादधुवत्ता)** व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यरूप है **(एक्का)** एक है अर्थात् महासत्ता की अपेक्षा एक है तथा **(सप्पडिवक्खा)** अपने प्रतिपक्ष सहित **(हवदि)** होती है।

अर्थ—अस्ति रूप सत्ता सर्व पदार्थों में विद्यमान रहती है, नाना स्वरूप को रखने वाली है, अनन्त पर्यायों को धारने वाली है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है, एक है अर्थात् महासत्ता की अपेक्षा एक है तथा अपने प्रतिपक्ष सहित है।

सत्ता सर्व पदार्थों की है, बिन सत्ता के द्रव्य नहीं।
है सम्पूर्ण विश्वरूपा यह, पर्यायें भी नन्त रहीं॥
व्यय उत्पाद ध्रौव्यमय सत्ता, सप्रतिपक्ष ही मानी है।
एक महासत्ता को प्रभु ने, पूर्णज्ञान से जानी है ॥८॥

व्याख्यान—सत्ता सर्व पदार्थों में विद्यमान रहती है। सत्ता आधार है जो है उसी की व्यवस्था, उसी का प्रबन्ध होता है। चाहे चेतन पदार्थ हो या अचेतन, मूर्त हो या अमूर्त हो, सभी का आधार सत्ता है। ''नहीं है'' यह वाक्य बोलने में 'है' तो आता ही है, केवल नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं आता। ''मैं हूँ'' इस वाक्य में भी 'हूँ' इस सत्ता का कभी विनाश नहीं होता। जो है वह मिट नहीं सकता। जो नहीं है वह उत्पन्न नहीं हो सकता, इस सिद्धान्त को स्वीकारना ही चाहिए। अन्यथा द्रव्य निरपेक्ष पर्याय और पर्याय निरपेक्ष द्रव्य मानने में अनेक दोष आयेंगे। द्रव्य निष्परिणामी हो जायेगा। इस मान्यता से मरण नहीं होगा तो एक की मान्यता से क्षणध्वंसी होने से हर समय मरण होता रहेगा। एक कहता है मरता नहीं, दूसरा कहता है टिकता नहीं। एकान्त मान्यता से यह दोष आयेंगे किन्तु अनेकान्त से सर्व सिद्धि हो जायेगी।

सत्ता का स्वरूप सम्बन्धी विवेचन—विश्व में जितने भी रूप हैं उन सभी में वह सत्ता है। वह सत्ता विश्वरूपा अर्थात् अनेक स्वभावी है, अनन्त पर्यायवाली है तथा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण वाली है। एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि प्रतिपक्ष से युक्त है किन्तु आधार अपेक्षा एक ही है।

जितने भी मिट्टी के पात्र बनते हैं उनका एकमात्र आधार चाक है वैसे ही यहाँ सबका आधार सत्ता है। सरकार व्यापार करने को उधार वगैरह देती है उससे सरकार को कोई हानि नहीं होती। इधर देती है तो उधर से किसी से ले लेती है। सत्ता एक है व्यवस्था बनी रहती है। निर्विकल्प होना चाहते हो तो सत् स्वरूप को पहचानो। स्वर्ण एक है उसकी पर्यायें अनेक हैं। उसमें मिटना बनना चलता रहता है लेकिन स्वर्ण कभी समाप्त नहीं होता। जो स्वरूप है वह सदा बना रहता है। चेतन सदा चेतन ही रहेगा, जड़ नहीं हो सकता। लक्षण नित्योद्घाटित है, किसी के द्वारा वह मिट नहीं सकता। एक ही द्रव्य की अनेक पर्यायें विविध रूप भी धारण कर सकती हैं। जैसे–पृथ्वीरूप पुद्गल से जल, जल से अग्नि, अग्नि से वायु बन सकता है। इसी प्रकार २३ वर्गणाओं में भी आहारवर्गणाएँ भाषावर्गणा और भाषावर्गणाएँ आहारवर्गणा बन सकती हैं, मनोवर्गणा कर्मवर्गणा बन सकती है लेकिन इनका पुद्गलत्व नहीं छूटेगा।

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों द्रव्यात्मक हैं। महासत्ता की अपेक्षा से सर्व द्रव्यों में व्याप्त होने वाली यह सत्ता ही है। किसी भी सकारात्मक या नकारात्मक वाक्य को लिखें तो अन्त में 'है' अवश्य आयेगा अर्थात् अत्यन्ताभाव नहीं है। इसीलिए ज्ञान सर्वथा नहीं है ऐसा नहीं; किन्तु ज्ञान, दर्शन नहीं है और दर्शन, ज्ञान नहीं है। द्रव्य पर्याय नहीं हो सकता और पर्याय द्रव्य नहीं हो सकती। इससे स्व का पर रूप होने का निषेध है, पर का निषेध नहीं है क्योंकि स्व है तो पर भी है। निश्चित यह हुआ कि स्वचतुष्टय अपेक्षा ''मैं हूँ'' पर चतुष्टय अपेक्षा ''मैं नहीं हूँ''। एक ही स्त्री अपने बच्चों की अपेक्षा माँ है, पति की अपेक्षा पत्नी है, विवक्षानुसार भेद भिन्नता है। स्पष्ट है सत्ता एक प्रकार की होते हुए भी विवक्षा भेद से भिन्न मानी जा सकती है। सत्ता एक ऐसी योग्यता है जिसे दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती है उसे वैस्रसिक कह सकते हैं। काल सापेक्ष होते हुए भी सत्ता का परिणमन किसी के आधीन नहीं है। कर्मों के कारण अर्थपर्याय नहीं है। अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं इनका परिणमन स्वाधीन है। यह सामान्य गुण अनन्त जीव द्रव्य, अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य, एक-एक धर्म-अधर्म और आकाश द्रव्य तथा असंख्यात कालाणु सभी में पाये जाते हैं। श्रामण्य गुणों में एक ''**पराणवेक्खा**'' नामक गुण आया है अर्थात् पर की अपेक्षा रहित हो अन्यथा श्रामण्य का सही रसास्वादन नहीं कर पायेंगे। जैसे–श्रामण्य स्वाश्रित है वैसे ही सत्ता भी स्वाश्रित हो। पराश्रित होने से दीनता आती है कमजोर पड़ जाता है। प्रतिपक्षी न होना ही सार्वभौमिक है। एकछत्र राज्य या सर्व सम्मति से निष्पक्ष चुनाव हो गया ऐसा कहा जाता है। जिसके ऊपर किसी का अंकुश नहीं है वह स्वाधीन है। विशालकाय हाथी पर भी महावत अंकुश लगा देता है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो स्वयं निरंकुश रहकर दूसरों पर अंकुश लगाने की योजना बनाता रहता है। मोही पर अंकुश आवश्यक है। जो स्वयं निर्मोही हैं, निजाधीन हैं, अनुशासित हैं उन पर अंकुश का काम ही क्या? पिंजड़े में जो सिंह रहता है भले ही उसे पट्टा नहीं बाँधते किन्तु रिंग मास्टर अपनी आवाज आदि के माध्यम से नियन्त्रित करता रहता है। प्रत्येक द्रव्य का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव निष्प्रतिपक्षी है। इसमें

काल का अर्थ सामान्य तौर पर यह भी समझ सकते हैं कि जीव अपनी आयु से जी रहा है दूसरों की वजह से नहीं। ऑक्सीजन का प्रबन्ध भी तभी कार्यकारी होता है जब आयुकर्म शेष हो अन्यथा फेफड़ों के रहते हुए भी आयु के बिना संकोच-विस्तार रूप स्पन्दन ही समाप्त हो जाता है।

शंका—सिद्धपरमेष्ठी के प्रदेश पूर्व भवानुसार कैसे रहते हैं?

समाधान—शरीर नामकर्म का उदय समाप्त होते ही १३वें गुणस्थान के अन्त में आकार वैसा ही रह जाता है। यह आकार किसी परद्रव्य की अपेक्षा से नहीं है वरन् स्वद्रव्य की अपेक्षा से है।

सत्ता की व्यापकता—यह स्वर्ण का घट है, यह ताम्र का घट है इस तरह अनेक प्रकार के घट की सत्ता देखने में आ जाती है किन्तु सामान्य घटपना सबमें विराजमान है इसका कोई प्रतिपक्षी नहीं है। सामान्य मानव की अपेक्षा सभी मनुष्य समान हैं। जब वोट डालते हैं तब दो पार्टी के अलावा एक पार्टी से रहित निर्दलीय भी होता है। जो बाद में पार्टी बना सकता है। मनुष्य ही वोट देने वाला होता है। नागरिकता मनुष्य को मिली है और किसी को नहीं। वह सत्ता संकुचित मानी जाती है जहाँ विपक्षी बने रहते हैं। यहाँ यही कहा जा रहा है कि सोने, चाँदी या मिट्टी आदि के घट में घटत्व की अपेक्षा एकत्व है। स्वर्ण इत्यादि की अपेक्षा स्व सत्ता मानी जाती है किन्तु इसमें व्यापकता नहीं रहती। विवक्षित एक पर्याय को लेते हैं तो वह तात्कालिक होगी, त्रैकालिक नहीं, इसमें प्रतिपक्षी भी होगा। जैसे-स्वर्ण में गन्ध की विवक्षा लेते हैं तो शेष गुण प्रतिपक्षी होंगे। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को समग्रता से लेते हैं तो वह सत्ता सार्वभौमिक होती है किन्तु मात्र उत्पाद या व्यय के रूप में ग्रहण करते हैं तो एक पर्याय रूप विवक्षा रह जाती है। जब सामान्य गौण हो जाता है तब प्रतिपक्षी मुख्य हो जाता है क्योंकि इसमें एकान्त है।

दृष्टान्त—जैसे भरतजी कहते हैं-चक्रवर्ती मैं हूँ, राज्य मुझे मिला है, मैंने छहखण्ड जीते हैं। फिर बाहुबली ने भी कहा-हमें भी जीतो तब आप चक्रवर्ती हैं। दोनों तद्भव मोक्षगामी, अकालमरण किसी का हो नहीं सकता था फिर भी अपनी-अपनी सेना के साथ खड़े हो गए। राग-द्वेष उत्पन्न हो गए।

वीतराग दशा में ही निष्पक्षता—जब कोई एक विशेष हो जाता है तो ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, सामान्य में नहीं। इसीलिए अब शिक्षा पद्धति में भी ऐसी व्यवस्था की गई है कि नम्बर नहीं बतायेंगे, श्रेणी बतायेंगे किन्तु गहराई से देखें तो श्रेणी में भी विशेषता आने से प्रतिपक्षी खड़े हो जायेंगे। इसलिए श्रेणी की बात भी विपक्ष से सहित है। वीतराग दशा में ही निष्पक्षता आती है। आचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि- निश्चयनय से यह वीतराग है, शुद्ध है। व्यवहारनय से सराग है, अशुद्ध है आदि-आदि। यह निश्चय-व्यवहार भी एक पक्ष है। उच्च भूमिका में निश्चयनय भी आधार लेने योग्य नहीं है।

आश्रय योग्य क्या—जो त्रैकालिक शुद्ध परम पारिणामिक भाव है वही आश्रय योग्य है। शुद्धनयापेक्षा सभी एक समान ही हैं। **द्रव्यसंग्रह** ग्रन्थ में कहा है कि-''**सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया**'' निगोदिया जीव हों या सिद्ध जीव हों सब समान हैं नैगमनय स्थूल को विषय बनाता है, संग्रह आदि

नय आगे-आगे सूक्ष्म को विषय बनाते हैं।

शब्दनय के तीन भेद—शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय। इनमें भी आगे-आगे विषय में सूक्ष्मता आती जाती है। इसमें पदार्थ का जो नाम नियुक्त है वह उसी रूप होता है। यदि नाम अशोक है तो रोना नहीं चाहिए, पुजारी है तो पूजा करे, साधु वह है जो साधना करे। अन्तिम एवंभूतनय सबसे ज्यादा सूक्ष्म विषय को ग्रहण करता है। उसी प्रकार ज्ञान की प्रारम्भिक दशा का नाम नैगमनय है। इसमें कार्य की योग्यता या कल्पना भी कार्य के रूप में स्वीकार की जाती है।

सत्ता सामान्य की अपेक्षा सभी द्रव्य एक—सत्ता सामान्य की अपेक्षा सर्व द्रव्य एक हैं कोई विकल्प नहीं। ''मैं हूँ'' यह कहते ही उत्तम पुरुष की ओर दृष्टि जाती है। ''तुम हो'' कहने से मध्यम पुरुष की ओर दृष्टि चली जाती है, ''बहुत सारे हो'' यह कहने से बहुवचन की ओर दृष्टि चली जाती है। उत्तम-मध्यम-अन्य पुरुष के तीनों वचन सम्बन्धी नौ वचन हो जाते हैं। भूत, भविष्यत, वर्तमान सम्बन्धी तीर्थंकर अलग-अलग हैं। वर्तमान के २४ तीर्थंकर कहे जाते हैं लेकिन वह भूतकाल के हो चुके हैं, फिर भी जब तक भविष्य के तीर्थंकर नहीं होते हैं तब तक ये वर्तमान के माने जायेंगे। भगवान् महावीर स्वामी को २६०० वर्ष हो चुके, वे भूत हो चुके हैं तो उनका शासन भी भूत है किन्तु जब तक महापद्म तीर्थंकर नहीं होंगे तब तक वे वर्तमान माने जायेंगे। यहाँ काल की इकाई की ओर किसी की दृष्टि ही नहीं है। संग्रह ही करके चल रहे हैं। यह सब नैगमनय की अपेक्षा से है और जितने पदार्थों की अवान्तर सत्ता है वह सब व्यवहार नय से है। शुद्ध जीव की सत्ता ही मात्र उपादेय है इसमें किसी भी प्रकार का दूषण नहीं है।

उत्थानिका—अब सत्ता और द्रव्य में अभेद बताते हैं—

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भाव-पज्जयाइं जं।
दवियं तं भणणंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥९॥

अन्वयार्थ—**(ताइं ताइं सब्भाव-पज्जयाइं)** उन-उन स्वभावरूप पर्यायों को **(जं)** जो **(दवियदि)** द्रवित होता है **(गच्छदि)** प्राप्त होता है **(तं)** उसे **(दवियं भणणंते)** द्रव्य कहते हैं **(तु)** परन्तु वह द्रव्य **(सत्तादो)** सत्ता से **(अणण्णभूदं)** अभिन्न है।

अर्थ—उन-उन सद्भाव रूप पर्यायों में जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है उसे सर्वज्ञ देव द्रव्य कहते हैं जो कि सत्ता से अनन्यभूत है।

उन-उन सब सद्भाव रूप जो, सत्ता है पर्यायों की।
उनमें होता द्रवणशील जो, परिभाषा वह द्रव्यों की॥
सत्ता से वह नहीं अन्य है, अनन्य द्रव्य व सत्ता है।
लोकालोक जानने वाले, कहते जिन अरहन्ता हैं ॥९॥

व्याख्यान—जो अपने-अपने गुण और पर्यायों को प्राप्त करता है उसका नाम द्रव्य है। दूसरे के द्रव्य की ओर मोही की दृष्टि रहती है, स्वयं की ओर दृष्टि नहीं रहती। दूसरे की ओर देखने से संकल्प-विकल्प के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता पर को देखने से मन के शांत सरोवर में तरंगें उठने लगती हैं। जैसे-बैल वगैरह को घास डालने पर वे अपना खाना प्रारम्भ कर देते हैं, दूसरों को नहीं देखते। लेकिन कुछ पशु दूसरों को डाली गई घास को झपटकर खा लेते हैं इसीलिए उनके गले में रस्सी बाँध दी जाती है, लेकिन उन मनुष्यों को कैसे बाँधे जिनकी दृष्टि परद्रव्यों में लगी है। मनुष्य को संतोषी होना चाहिए कि मुझे मेरे कर्मों के अनुसार मिल रहा है। जब स्वयं के कर्म काटना चाहते हो तो दूसरे के कर्म फल को क्यों चाहते हो? **सुख के लिए तो नारा, दुख के लिए किनारा।** छोटा-सा नाती भी दद्दा, बब्बा तब तक कहेगा जब तक उसे उनसे कुछ मिलेगा, पीछे लगा रहता है। परदृष्टि स्वार्थी बनाती है इसीलिए द्रव्य का स्वभाव समझो। जो सत्ता से अनन्यभूत है, त्रैकालिक अस्तित्व है उसी का नाम द्रव्य है। छह द्रव्य उपदेश्य हैं। उपदेश करने वाला जीव द्रव्य है। सुनकर गुने तो उपदेश है। महावीर भगवान् ही ऐसे हैं जो अकेले दीक्षित हुए हैं।

द्रव्य का लक्षण सत्ता—किसी भी वस्तु का लक्षण बाँधने के पहले उसकी सत्ता का होना अनिवार्य है। जब वस्तु के होने के बारे में ही संदेह है तब उसका लक्षण, क्रिया, क्षेत्र, काल आदि को कैसे बाँध सकते हैं? इसीलिए सत्ता को पहले स्वीकार करें, फिर उसका स्वरूप कहेंगे। सत्ता ही द्रव्य का लक्षण है। ''**द्रवति**'' का अर्थ पिघलना है द्रवीभूत हो जाना। द्रव्य कभी तटस्थ नहीं रहता। एक व्यक्ति में ही नहीं रहता, एक जैसा भी नहीं रहता। अतः द्रव्य का लक्षण ही द्रवति अर्थात् प्राप्त करना है। प्रश्न उठता है किसे प्राप्त करना? काल के माध्यम से ज्ञात होता है कि जो वर्तमान था वह आज मिटकर बीता कल हो गया, कल जो परिणमन होगा वह भविष्य है यह द्रव्य की द्रवणशीलता काल से ही सिद्ध होती है। जो है वह अभावात्मक नहीं होता। द्रव्य, गुण और पर्याय सभी सद्भावात्मक हैं। जो सत् है उसमें परिवर्तन होना यह उसका लक्षण है। इसी आधार पर ही तो पुरुषार्थ कर रहे हैं। कोई सोच सकता है कि मुक्ति में भी परिवर्तन हो गया तो हमारे पुरुषार्थ का क्या होगा? लेकिन घबराओ नहीं, वह मिटेगा नहीं, काल के निमित्त से परिवर्तन अवश्य आयेगा। अनुभव में परिवर्तन होता रहेगा। अभी जो अनुभव है वही आगे नहीं रहेगा लेकिन मुक्ति का नाश नहीं होगा क्योंकि द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा परिणमनशील वस्तु में नित नवीन अनुभूति होती जाती है। न्याय सूत्र है-''**स्वपूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्**'' स्व और अपूर्व अर्थ का अवभासक ज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञेयों के परिणमन की अपेक्षा से केवलज्ञान में भी द्रव्य अपनी सत्ता से पृथक् नहीं होता, होने रूप परिणमन सत्ता के साथ ही सम्भव है। द्रव्य के रहे बिना लक्षण नहीं बाँधा जा सकता। यद्यपि जो क्षणिक होता है उसका भी लक्षण बाँधा जाता है लेकिन लक्षण त्रैकालिक माना जाता है, तात्कालिक नहीं। शब्दों के कुछ अर्थ तो निर्धारित होते हैं और अन्य भी कई अर्थ निकल सकते हैं

किन्तु शब्द ज्यों का त्यों बना रहता है। जैसे–कनक पहले भी था, आज भी है। कोषकारों ने इसे स्वर्ण कहा है। भले ही लोहे की कीमत कभी बढ़ जाए, लोग स्वर्ण का उपयोग भले ही कम कर दें, तो क्या वह स्वर्ण लोहा या मिट्टी हो जायेगा? नहीं, वह तो स्वर्ण ही है। स्वर्ण का जो लक्षण है वह कभी भी मिट नहीं सकता। जीव का "**उपयोगो लक्षणं**" कभी नहीं मिटता।

अस्तित्व का त्रैकालिकपना–जो पर से प्रभावित है वह वैभाविक पर्यायों को प्राप्त होगा, यदि पर से अप्रभावित है तो स्वभाव रूप परिणमन करेगा, यह निश्चित है। जब तक सौ टंच सोना नहीं है, बट्टा है, मिश्रण है तब तक वैसा ही उसका भाव रहेगा, किन्तु अपने अस्तित्व से वह कभी वंचित नहीं रहेगा। मानलो कोई पागल हो गया लेकिन उसके पास भी ज्ञान है। वह भोजन करता है, देखता है, सोता है, चलता है, सामान्य क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं है। यह बात अलग है कि– कब हँसना, कब बोलना, कैसे चलना, कहाँ चलना ये क्रियाएँ उसकी व्यवस्थित नहीं हैं, पर उसके पास ज्ञान का अस्तित्व है। चाहे कल को कोई याद न करे तो भी कल था और हम भी कल थे, यह निश्चित है। योजना बनाकर चलने का तात्पर्य ही यही है कि भविष्य में भी अपना अस्तित्व है। अस्तित्व तात्कालिक नहीं, त्रैकालिक है या पर्यायापेक्षा तात्कालिक है। जब कोई सामान खरीदने जाते हैं तो पूछते हैं–यह कितना टिकाऊ है? जल्दी ही नष्ट होने वाला है तो नहीं खरीदते हैं। ज्यादा समय तक टिके, यही चाहते हैं कि जब तक हम हैं, हमारे बच्चे हैं तब तक यह वस्तु टिके। मोह के कारण यह चाह रहती है किन्तु जब तुम्हारी ही गारंटी नहीं तो माल की गारंटी कैसे दे सकते हैं? यदि आप लिखकर दे दें कि मैं इतने वर्ष टिकूँगा तो हम भी माल की गारंटी लिख देंगे, किन्तु यह "न भूतो न भविष्यति।"

द्रव्य और सत्ता का अभेदात्मक कथन–क्षणभंगुर इस परिवर्तनशील संसार में योजना बनाने की क्या आवश्यकता है? सत्ता कभी टूटती नहीं। संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा द्रव्य और सत्ता भिन्न-भिन्न हैं किन्तु निश्चयनय से सत्ता और द्रव्य में अभेद है। इस अपेक्षा से सत्तागत द्रव्य की संख्या एक है, पर्यायापेक्षा अनेक है। द्रव्य का लक्षण त्रैकालिक है, पर्याय का तात्कालिक। यह जो लक्षण है वह सत्ता से अभिन्न द्रव्य का भी है अर्थात् एक पदार्थ में जो अस्तित्व है वह सर्वरूप भी है, एक रूप भी है, अनन्तपर्यायात्मक भी है, एक पर्याय रूप भी है, तीन लक्षण रूप भी है और तीन लक्षण रूप नहीं भी है। "**अर्पितानर्पितसिद्धेः**" इस सूत्र से गौण-मुख्य और व्यवहारनय व निश्चयनय के माध्यम से वस्तु का स्वरूप बताते हैं, यह समझ में भी आ जाता है। पर्याय की दृष्टि से कहते हैं कि अभी आया था और सामने ही सामने यह व्यक्ति चल बसा। उसका जीवन भी बहुत संघर्षमय रहा। कभी सुख का अनुभव किया ही नहीं, किन्तु जिसे अवधिज्ञान है वह जान लेगा कि यह कहाँ से आया था, कहाँ चला गया? आना-जाना परिवर्तित हो गया, स्थान व देश बदल गया।

दृष्टान्त–जैसे कोई नौकरी करता है पाँच साल वहाँ रहा तो भवन, फर्नीचर वगैरह बनाया, घर का रंग-रोगन किया पर स्थान परिवर्तन होते ही सब छोड़कर चला जाता है। नौकरी करने वालों के

साथ यही होता है किन्तु स्थायी निवासी नये-नये मकान बनाते हैं। सोचते हैं हमारे जीवन में भले ही काम न आये हमारे बच्चों के काम आयेगा किन्तु नौकरी वालों को सरकार कहीं भी भेज सकती है। किसी-किसी नौकरी में तो प्रान्त बदल जाते हैं, लोग व भाषाएँ बदल जाती हैं। इसलिए नौकरी वाले पहले से ही ऐसी मानसिकता बनाकर रखते हैं कि कहीं भी जाएँ, हैं तो भारतीय ही। अरुणाचल चीन की सीमा पर है, वहाँ के लोगों की धारणा बन गई है कि यह भारत से अलग है। वहाँ से इधर आते हैं तो कहते कि हम भारत जा रहे हैं। यद्यपि वह भारत में ही है। पर सीमा के पास में रहने से ऐसा लगता है। पर्याय की ओर दृष्टि रखने से ऐसा ही होता है। वास्तव में भाषा के बदलने से भाव नहीं बदलते, यदि त्यौहार में विशेष वस्त्र और आभूषण पहनते तो उस समय कुछ अलग ही अनुभव करते हैं कि मैं इस वस्त्र वाला हूँ यही पर्यायदृष्टि है।

अध्यात्म भाव से ही आत्मशान्ति—

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः॥६५॥ (समाधितन्त्र)

जैसे वस्त्र के नाश होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता वैसे ही देह के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता। आत्मा में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता, यह अध्यात्म वाक्य है। एक क्षण के लिए भी यह अध्यात्म भाव आ जाए तो क्रान्ति आ जायेगी या यूँ कहें कि आत्मशान्ति मिल जायेगी। जड़ वस्तुओं को देखकर जैसा उत्साह आता है वैसा अध्यात्म सूत्र पढ़कर क्यों नहीं आ पाता? बार-बार पढ़ने पर तो वैराग्य के बल पर अनुभूति के अपूर्व-अपूर्व भाव आते हैं लेकिन कभी-कभी कुछ भी भाव नहीं आते, मात्र शब्दों का पाठ होता है, तब कहते हैं-नये सूत्र दे दो। नये कहाँ से दें? सूत्र तो उतने ही हैं। नया अनुभव करना है तो चिन्तन करिये। चिन्तन, अनुभव और परिवर्तन की भी सीमा है। इससे आगे हम नहीं जा सकते क्योंकि क्षमता ही हमारे पास इतनी है। स्वर्गों में सम्यग्दृष्टि सागरोपम काल तक रहकर चिन्तन चर्चा में समय गुजारता है। विषयों में तो अनन्तकाल बीत जाता है, पता ही नहीं चलता। खाने-पीने, घूमने में, T.V. देखने में इतने व्यस्त हो जाते हैं कि कौन आया, कब गया, पता ही नहीं चलता। इतने एकाग्र हो जाते हैं कि कितना समय निकल गया, कौन सा वार आ गया, ज्ञात नहीं रहता है किन्तु सामायिक के लिए तो कमर में दर्द होता है, T.V. देखने में नहीं होता। मन कहाँ से ऐसा प्रशिक्षित हो गया है? कहते हैं स्वाध्याय में मन नहीं लग रहा है। हाँ, तो कहीं न कहीं तो लग ही रहा होगा, जहाँ लगाना चाहते हो, वहाँ नहीं लगता तो कहीं न कहीं तो लगा है। जहाँ अन्दर से रुचि है वहीं मन लगा रहता है, वहाँ से हटना नहीं चाहता।

उत्थानिका—द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार से कहते हैं –

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वय-धुवत्त-संजुत्तं।
गुण-पज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥

अन्वयार्थ–(जं) जो **(सल्लक्खणियं)** सत् लक्षण वाला है **(उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं)** उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है **(वा)** अथवा **(गुणपज्जयासयं)** गुण और पर्यायों का आश्रय रूप है **(तं)** उसको अर्थात् उक्त तीन लक्षण वाले को **(सव्वण्हू)** सर्वज्ञ भगवान् **(दव्वं)** द्रव्य **(भण्णंति)** कहते हैं।

अर्थ–जो सत् लक्षण वाला है जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सहित है अथवा जो गुण पर्यायों का आश्रय रूप है उसे सर्वज्ञ भगवान् द्रव्य कहते हैं।

जो-जो सत् लक्षण वाला है, व्यय उत्पाद ध्रौव्य युत है।
गुण पर्यायों का आश्रय है, त्रय लक्षण से संयुत है॥
श्री सर्वज्ञदेव ने उसको, द्रव्य नाम की संज्ञा दी।
सदा काल जयवन्त रहे वह, माँ कल्याणी जिनवाणी ॥१०॥

व्याख्यान –द्रव्य की व्यवस्था पर्याय के माध्यम से की गयी है। जो आश्रय देता है वह परिणमनशील होता है। जहाँ पर गुणों का कथन आया वहाँ द्रव्य आश्रयदाता है। **तत्त्वार्थसूत्र** में द्रव्य के जितने लक्षण मिलते हैं, वह सब पञ्चास्तिकाय से लिए हैं। सत् द्रव्य है जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है। गुण-पर्यायों को आश्रय देने वाला द्रव्य है। पर्यायों में आसक्ति के कारण ही हर्ष-विषाद होते हैं। द्रव्य की ओर दृष्टि हो तो पर्यायों के संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद हो नहीं सकता क्योंकि पर्याय का नियम है कि पूर्व पर्याय जाती है और नई पर्याय आती है। ''आय के अनुसार ही व्यय होता है और व्ययानुसार आय होती है।'' आय यदि कम है तो व्यय भी कम होगा। यहाँ कर्ज लेने की तो प्रथा है ही नहीं। जितनी आमदनी है उतना ही खर्च करो। द्रव्य स्वभाव को जानने से समता आती है। जो जाना जा रहा है और जो जान रहा है ये दोनों समय-समय पर मिटते चले जा रहे हैं। इसलिए ज्ञानी उसमें समता भाव रखते हैं।

किसी के घर में यदि शोक हो जाए तो जाने वाला तो चला जायेगा, शेष लोग शोकाकुल रहते हैं और हो सकता है, जाने वाला अवधिज्ञान से जान ले। लेकिन उसको दुख होता है क्या? नहीं, वह वहीं रम जाता है। जैसे–पहले मेले में देखा था, नीचे स्टेण्ड रहता था और ऊपर कमर के बराबर ऊँची सन्दूक में बिठा दिया जाता था। उसमें एक खिड़की रहती थी। जिससे भीतर का ही दिखता था, बाहर का कुछ नहीं दिखता था। उसमें ४०-५० चित्रों में ताजमहल, इण्डियागेट आदि रील में बदल-बदल कर आधे घण्टे तक रंग बिरंगे दृश्य दिखते थे। यह सब छद्मस्थ ज्ञान के समान है किन्तु केवली त्रैकालिक अनन्त द्रव्यों को और उनकी अनन्त पर्यायों को एकसाथ जानते हैं। अतः उन्हें हर्ष-विषाद नहीं होता।

सम्यग्ज्ञान के अभाव से ही हर्ष-विषाद आदि विकल्पों की उत्पत्ति–जब तक ज्ञान नहीं

होता तब तक हर्ष-विषाद होते रहते हैं। तात्कालिक दशा को देखने से यही होता है। छोटे-छोटे बच्चों को देखते हैं वह छोटी-छोटी बातों में रोने लगते हैं, जब पुचकार लेते हैं तो वे भूल जाते हैं। गालों पर आँसू टपकते रहते हैं और हँसते रहते हैं। समझाने वाले बड़े लोग सोचते हैं कि यह बच्चा कितना अच्छा है जो सब भूलकर जल्दी हँसने लग गया।

उपयोग परिवर्तन से ही विकल्पों की समाप्ति—इसमें मात्र मन को परिवर्तित करने की बात है। जो इस त्रैकालिक सत्य को जानता है, वह घबराता नहीं, वह समझता है कि यह सब पर्दे पर चल रही फिल्म के समान है। जैसे-एक किताब में ५०० पृष्ठ हैं लेकिन किताब तो एक ही कहलायेगी। जिसने मन लगाकर इसे पढ़ लिया उसे कुछ कठिन नहीं लगता। उसी प्रकार जिन्होंने सत्य तथ्य को जान लिया है वे बच्चों जैसा रोना धोना नहीं करते, स्थितप्रज्ञ रहते हैं। देखते हुए भी नहीं देखते, चलते हुए भी नहीं चलते, बोलते हुए भी नहीं बोलते। जिस प्रकार जादू की स्लेट होती है, उस पर लेमिनेशन जैसा एक पेज रहता है, उसे ऊपर उठा दो तो सारा मिट जाता है, उसमें पेन्सिल की भी जरूरत नहीं, अंगुली से भी लिख सकते हैं। उसी प्रकार अपने उपयोग को पर से हटाते ही सब मिट जाता है। सच तो यह है कि वे साधक अपने मन में विकल्पों के कुछ भी विषय रखते ही नहीं। वे ''लिखन्नपि न लिखति'' लिखकर भी नहीं लिखते, वे संत अपने को ही लखते रहते हैं।

नयों की अपेक्षा से द्रव्य के तीन लक्षण—तीन प्रकार के लक्षणों में द्रव्य का जो सत् लक्षण है वह द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से है और **''उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्''** यह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा है। बौद्धमत में उत्पाद, व्यय तो हैं किन्तु ध्रौव्य नहीं होता। **''गुणपर्ययवद् द्रव्यम्''** यह जो लक्षण है उसमें जो पर्याय तो मानते हैं पर गुण को नहीं मानते, उसके लिए गुण को रखा है अर्थात् गुण से जो युक्त है वह गुणी है। द्रव्य सदा गुणवान ही रहता है। ध्रौव्य कभी अकेला नहीं रहता, उसके साथ उत्पाद भी है और उत्पाद है तो व्यय भी है। कर्ज सिर्फ देना ही नहीं, लेना भी होता है। लेन ; देन से जुड़ा है, दिन ; रात से जुड़ा है। अकेला दिन ही दिन नहीं होता। अमीर-गरीब, छोटा-बड़ा ये सब जुड़ा हुआ है। तुलनात्मक कोई चीज घटिया है तो बढ़िया भी अवश्य है, चेतन है तो अचेतन भी है। यह सब जानकर ज्ञानी हर्ष-विषाद नहीं करते।

यहाँ अनित्य एकान्तमत वाला बौद्ध, नित्य एकान्तमत वाला सांख्य तथा नित्य और अनित्य दोनों को एकान्त मानने वाला नैयायिक और मीमांसक मत का निराकरण है। क्षणिक एकान्त मत में घट आदि बनाने की क्रिया तो प्रारम्भ की किन्तु वह उसी क्षण नष्ट हो गया, इससे वह घट क्रिया पूर्ण नहीं हो सकती। नित्य एकान्त में भी जो सुखी है वह सुखी रहेगा, जो बैठा है वह बैठा ही रहेगा। इस प्रकार एकान्त मानने से अनेक दोष आयेंगे किन्तु अनेकान्तात्मक जैनधर्म में कोई दूषण नहीं है।

द्रव्य के तीनों लक्षणों का दार्शनिक विवेचन—यहाँ द्रव्य के तीनों लक्षण परस्पर अविनाभावी हैं और गाथा का भावार्थ यही है कि मिथ्यात्व व रागादि रहित शुद्ध जीव द्रव्य उपादेय

है। उसी की पर्यायदृष्टि से अगुरुलघुगुण द्वारा षट्गुणहानि-वृद्धि होते हुए शुद्ध उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य जिसका लक्षण है तथा अकृत्रिम अनादि-अनन्त गुण व सहज शुद्ध सिद्ध पर्याय रूप लक्षण है, ऐसा शुद्ध जीवास्तिकाय ही उपादेय है। जैनदर्शन में भी वस्तु क्षणिक है किन्तु पर्यायदृष्टि से है। वह पर्याय भी व्यंजन और अर्थपर्याय की अपेक्षा दो प्रकार की है। अर्थपर्याय की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य में एक-एक समय में पर्याय मिट रही है। व्यंजनपर्याय की अपेक्षा शुद्धाशुद्ध पर्याय होती है। अर्थपर्याय में अगुरुलघुगुण के कारण परिणमन होता रहता है। जो द्रव्य को ही एकान्त से स्वीकारते हैं पर्याय को नहीं, उनके यहाँ कारण-कार्य व्यवस्था नहीं बनती। सांख्यमत में द्रव्य हमेशा नित्य बना रहता है तो ज्ञानादिक विशेष गुणों का अभाव कैसे होगा? क्योंकि उनका कहना है कि यह विशेष गुण प्रकृति प्रदत्त हैं। जैसे-नट-बोल्ट जोड़कर मशीन बन जाती है। यदि कभी नट-बोल्ट बिगड़ जाएँ तो मशीन बेकार हो जाती है। वैसे ही प्रकृति और पुरुष के मेल से ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि मेल ही न रहे तो सब समाप्त। पुरुष ज्ञाता बना रहता है और प्रकृति के माध्यम से सारा खेल होता रहता है यह उनकी मान्यताएँ हैं। उनके यहाँ अलग से पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि जो कुछ भी है वह नित्य है, टंकोत्कीर्ण, वज्रलेप के समान है उसमें कोई अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है ऐसे उभय एकान्तवाद में भी ये ही दोष आयेंगे। द्रव्य है तो द्रव्य ऐसा ही रहेगा, यह सांख्यमत में दूषण है और बौद्धमत में पर्याय का दूषण आयेगा। जबकि जैनदर्शन में परस्पर सापेक्ष होने से संज्ञा, प्रयोजन आदि की अपेक्षा द्रव्य और पर्याय में अन्तर होने पर भी द्रव्य के प्रदेश में ही पर्याय का अपना अस्तित्व है, भिन्न नहीं है। जितना द्रव्य है उतना ही पर्याय का आकार रहेगा लेकिन एक पर्याय मिटती है और दूसरी पर्याय उसी द्रव्य में उत्पन्न होती है क्योंकि द्रव्य परिणमनशील है, इससे अनन्त गुण बने रहते हैं और एक न एक पर्याय भी बनी रहती है। गुणात्मक द्रव्य की स्थिति और पर्यायात्मक द्रव्य की स्थिति अनेकान्त पर आधारित है। जहाँ एकान्त रहता है वहीं दूषण आता है। एक ही नारी माँ है, पत्नी है, बहन है, सहेली है आदि-आदि। भिन्न-भिन्न पात्रों की अपेक्षा एक ही स्त्री सब कुछ है।

उत्थानिका—द्रव्यार्थिकनय के द्वारा द्रव्य का लक्षण तथा पर्यायार्थिकनय के द्वारा पर्याय का लक्षण कहते हैं—

उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो।
विगमुप्पाद धुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया ॥११॥

अन्वयार्थ—(दव्वस्य) द्रव्य का **(उप्पत्ती व विणासो)** उत्पत्ति और विनाश **(णत्थि)** नहीं होता है **(य)** किन्तु **(अत्थि सब्भावो)** अस्ति अर्थात् सत्तामात्र स्वभाव है। **(तस्सेव)** उसकी ही **(पज्जाया)** पर्यायें **(विगमुप्पाद-धुवत्तं)** व्यय, उत्पाद तथा ध्रुवपना **(करेंति)** करती हैं।

अर्थ—द्रव्य का उत्पाद या विनाश नहीं है किन्तु सद्भाव है उसी ही की पर्यायें विनाश, उत्पाद

और ध्रुवपना करती हैं।

नहीं उत्पाद विनाश द्रव्य का, द्रव्य अनादि-निधन कहा।
केवली जिन ने कहा द्रव्य का, सदा काल सद्भाव रहा॥
व्यय-उत्पाद-ध्रौव्यपन यह सब, पर्यायों का होता है।
द्रव्य और पर्यायों का यह, स्वभाव आगम कहता है ॥११॥

व्याख्यान—उत्पाद और व्यय यह दोनों द्रव्य के नहीं, यह सम्यक् एकान्त है क्योंकि एकान्त से द्रव्य मिट गया तो उत्पाद कैसे होगा और यदि बिना मिटे उत्पन्न हो जाए तो दोनों कहाँ रहेंगे? इससे स्पष्ट है कि द्रव्य मिटता भी नहीं और उत्पन्न भी नहीं होता। यह द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता कहो जो किसी पर आधारित नहीं है क्योंकि उत्पन्न होना यदि किसी पर आधारित है तो उत्पन्न होते ही जायेंगे और मिटना भी किसी पर आधारित है तो सब मिट जायेगा। ऐसा उत्पन्न होना और मिटना यह कल्पना या एक दृष्टि हो सकती है। यद्यपि लोक व्यवहार में कहा जाता है कि हमारे यहाँ लड़का उत्पन्न हुआ है या लड़की हुई है, बच्चा हुआ है, यही कहते हैं। मनुष्य हुआ, यह नहीं कहते हैं। अनपढ़ छोटे नादान बच्चे में द्रव्य विकासोन्मुखी है, यह विचार कर गुरु शिक्षा देते हैं। वह शब्दों का कुछ भी अर्थ नहीं जानता, यह समझकर उसे ज्ञान दान देते हैं। बचपने की पर्याय समाप्त होकर युवावस्था आ गई फिर प्रौढ़ावस्था और आगे वृद्धावस्था आई। दादा जी कहलाये या नानाजी कहलाने लगे। यह सब रिश्ते जिस समय जैसी पर्याय उत्पन्न होती है वैसे ही फिट हो जाते हैं। जिस समय नाती का जन्म होता है उस समय दादाजी और नानाजी के रिश्ते का भी जन्म हो जाता है। अनेकान्त कहता है कि पोता और दादाजी का बर्थडे एक ही दिन का और उसी समय का है। अनेकान्त कितना व्यापक है कि नाना-नानी, दादा-दादी, पोता, माता-पिता सब रिश्तों की उम्र एक सी हो गई, छोटा बड़ा कोई नहीं।

ध्रुव शब्द का अर्थ और सिद्धि—ध्रुवत्व का अर्थ है ज्यों का त्यों बना रहना। प्रत्येक समय उत्पाद आदि तीनों हैं। जो था उसका व्यय, जो नहीं था उस पर्याय का उत्पाद और उन दोनों में सम्बन्ध ध्रुवत्व का है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों पर्यायदृष्टि से हैं। ध्रुवत्व रूप परिणति पर्याय की है। जिसकी तत्त्व की ओर दृष्टि जाती है उसका श्रद्धान मजबूत हो जाता है। बर्तन को काम में ले लो और माँजो नहीं तो वह लोहे के समान लगता है। उसी प्रकार ज्ञान को माँजो स्वभाव के प्रति आत्मीयता रखो, नहीं तो मोह दूर नहीं होगा। कुछ लोग ध्रौव्य को द्रव्यार्थिकनय का विषय बताते हैं, यह ठीक नहीं है। जबकि ध्रौव्य तद्धित का शब्द है। "**ध्रुवस्य भावो ध्रौव्यम्**" इसमें 'यण्' प्रत्यय लगा है। 'ण' का अनुबन्ध होने से आदि में जो स्वर है उसमें वृद्धि होकर ध्रुव का ध्रौव्य बन गया। जैसे—निरन्तरम् का नैरन्तर्यम्, विशेष में 'इकण्' प्रत्यय लगाने से वैशेषिक, इन्द्रिय का ऐन्द्रियम् हो जाता है। द्रव्य अनादिनिधन है, वह किसी भी प्रकार से मिट नहीं सकता। जो बनता है वह मिटता है और मिटता है तो पुनः बनना होता है, यह द्रव्य में नहीं होता।

राग-द्वेष मोह से ही विकल्पों की उत्पत्ति—सरोवर या तालाब में हवा के झोंके से लहर (पर्याय) उत्पन्न हो जाती है। यद्यपि तरंगें तालाब में ही उठ रही हैं किन्तु हवा के बिना नहीं उठतीं। आत्मा में भी मोह के कारण विकल्पों की तरंगें उठती हैं। इस मोह रूपी हवा को ही रोकने का पुरुषार्थ करना है। इसके लिए मोह से दृष्टि हटाना है, दृष्टि हटते ही कर्म बन्ध रुकेगा क्योंकि हमारे परिणामों के कारण ही यह बन्ध हो रहा है। स्वभाव की ओर दृष्टि जाते ही तरंगें उठना बन्द हो जायेंगी। इतना सा कार्य आज तक नहीं कर पाए, बाकि तो **बड़े-बड़े काम के ठेके ले लेते हैं किन्तु आज तक राग-द्वेष नहीं करेंगे, ऐसा ठेका नहीं लिया।** राग-द्वेष और मोह इन तीनों को मिटाने से तीन लोक के अग्रभाग पर स्थापित हो जायेंगे।

द्रव्य, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है—द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य इन तीनों रूप हैं। इसके लिए किसी पर का सहारा नहीं लेना होता। जैसे—मुकुट का हार बनाया फिर हार का कलश बनाया, यह सब बनने में भी स्वर्णत्व कभी नष्ट नहीं हुआ, यह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। उसी प्रकार गोरस रूप जो दूध था, उसमें जामन डालकर दही बनाया, फिर मथकर नवनीत निकाला और नवनीत को तपाकर घी बनाया, इन सारी अवस्थाओं में गोरस की अपेक्षा ऐक्य है। सारी पर्यायों के परिवर्तन होते हुए भी गोरस की सतत् अनुवृत्ति है। मनुष्य कभी देव बना, देव कभी तिर्यञ्च बना, तिर्यञ्च कभी नरक गया किन्तु इन सबमें आत्मा का अस्तित्व कायम है। सब घूमघाम करके आये हैं लेकिन अपने घर नहीं आए। ''**हम तो कबहूँ न निज घर आए**'' आप लोग ऐसा भजन गाते हैं-पर घर में भटक रहे हैं। अनन्त जन्म धारण कर लिए, अब यही तय करना है कि पराये घर न जाएँ, भले ही टप-टप करती छोटी-सी कुटिया हो, पर अपनी हो। भले ही पञ्चमकाल में मोक्ष न हो किन्तु सम्यक्त्व को अंगीकार अवश्य करें।

पहले मिट्टी थी फिर उसमें पानी डाल दिया, गीली हो गई, लौंदा बन गया। घड़ा बनने के योग्य हो गया, चाक पर रखा कुम्हार ने हाथ से जैसा आकार दिया वैसा आकार बन गया, कलश बन गया, अब वह सारे के सारे रूप कहाँ चले गए? मानलो किसी ने उसे फोड़ दिया तो खप्पर बन गए, ये किसके हैं? ये तो मिट्टी के हैं। आप भजन बोलते हैं ''**मिट्टी की काया मिट्टी में एक दिन समायेगी**'' खारी भी निकाल कर मिट्टी में मिलाकर आ गए। वैक्रियिक शरीर भी क्यों न हो, देह विसर्जित होती है ''**मरते न बचावे कोई**'' बचाने वाला कोई वैद्य है ही नहीं, वैद्य को भी मरना है ''**मरना सबको एक दिन**'' सबको अर्थात् मुझे छोड़कर सबको मरना है। राजा, राणा, छत्रपति, हाथी पर सवार हो, सबको मरना है लेकिन मेरा नाम तो इसमें है ही नहीं, मुझे तो मरना ही नहीं है, ऐसा मत समझना। पहले से खड़े हो जाओ मृत्यु का स्वागत करने के लिए, तो मृत्युञ्जयी बन जाओगे। अन्यथा जीवन तो बीत ही रहा है।

''**बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रह्यौ**'' दर्पण में देखते हो, दाँत पूरे

निकल चुके हैं और लार टपक रही है। दरवाजा निकल जाने के बाद जैसा घर दिखता है वैसा वृद्धावस्था में मुख दिखता है। पहले दूध के दाँत आते हैं, वह टूटने के बाद रोटी के दाँत आते हैं और फिर शताब्दी के बाद तीसरी बार दाँत आते हैं। कहते हैं कि छोटे-छोटे जीरे की भाँति आते हैं। इन दाँतों से चने भले ही चबा लो किन्तु आँतें तो खराब हो जायेंगी क्योंकि आँतों में अब बल नहीं रहा। यह सब पर्यायों का परिणमन है, औपचारिक कथन नहीं है कर्म सिद्धान्त है। जिसमें यही कहा जाता है-मनुष्य का जन्म हुआ है किन्तु यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयापेक्षा नहीं, पर्यायार्थिक नयापेक्षा है। जब कभी शुद्ध जीवास्तिकाय की उत्पत्ति होगी अर्थात् परमात्मा बनेंगे तो निर्विकल्प समाधि से ही बनेंगे, इसके बिना उपयोग की परिणति में परमानन्द का आस्वादन नहीं हो सकता। जो यह मानते हैं कि द्रव्य शुद्ध ही रहता है, गुण भी शुद्ध रहता है मात्र पर्याय अशुद्ध रहती है, यह विपरीत श्रद्धान है।

उत्थानिका—निश्चयनय से द्रव्य और पर्यायों का अभेदरूप से कथन करते हैं-

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१२॥

अन्वयार्थ—**(पज्जयविजुदं)** पर्यायों से रहित **(दव्वं)** द्रव्य **(य)** और **(दव्वविजुत्ता)** द्रव्य से रहित **(पज्जया)** पर्यायें **(णत्थि)** नहीं होती हैं। **(समणा)** महामुनि **(दोण्हं)** दोनों का **(अणण्णभूदं)** एक अभेदरूप **(भावं)** भाव-सत्ता के अस्तित्व स्वरूप को **(परूविंति)** कहते हैं।

अर्थ—पर्यायों से रहित द्रव्य नहीं और द्रव्य रहित पर्यायें नहीं होतीं। दोनों का अनन्यभाव श्रमण प्ररूपित करते हैं।

बिन पर्याय द्रव्य ना होता, दिव्यध्वनि में कहा गया।
द्रव्य रहित पर्याय न होती, यह प्रभुवर से सुना गया॥
द्रव्य और पर्यय दोनों ही, इक दूजे से भिन्न नहीं।
परम श्रमण कहते ये दोनों, अभिन्न सत्ता धारक ही ॥१२॥

व्याख्यान—पर्याय से मुक्त द्रव्य नहीं और द्रव्य से मुक्त पर्याय नहीं, द्रव्य और पर्याय दोनों अनन्य हैं यही स्वभाव है। जैसे-जल को तपाया उसमें अंगुली डालकर देखा, क्या जल ऊपर-ऊपर ही गरम है और नीचे अपने स्वभाव रूप शीतल है? यह विश्वास करने के लिए नीचे तक अंगुली ले जायेगा तो जल जायेगी। भीतर द्रव्य शुद्ध है और ऊपर-ऊपर पर्याय अशुद्ध है ऐसा नहीं है यदि जल तप गया है तो ऊपर-नीचे आजू-बाजू सब तरफ से तपा है। **दूसरा उदाहरण**— दुकानदार को माल बेचना था और ग्राहक आ गया उसने नमूना दिखाया, अच्छा लगा और वचन दे दिया माल पैक किया तो ऊपर-नीचे, आजू-बाजू सही माल भरा और बीच में कचरा माल भर दिया, ऐसे में उसकी दुकान पर से विश्वास उठ जायेगा, ठप्प हो जायेगी। चर्चा और चर्या में भिन्नता ठीक नहीं, प्रवचन के बैंगन

और घर के बैंगन में अन्तर क्यों?

द्रव्य और पर्याय में अनन्य सम्बन्ध—द्रव्य और पर्याय दोनों में निश्चय नयापेक्षा अभेद है। द्रव्यार्थिक नयापेक्षा द्रव्य शुद्ध है और पर्यायार्थिक नयापेक्षा पर्यायें अशुद्ध हैं ऐसा जो कहते हैं उन्हें अपनी आँख खोल लेना चाहिए कि द्रव्य, गुण, पर्याय इन तीनों का गठबन्धन है। एक अशुद्ध है तो सब अशुद्ध हैं। कई बार भारत से माल विदेश भेजा, पर वापस लौटकर आ गया, ऐसा क्यों? क्योंकि जैसा दिखाया था वैसा माल नहीं था, इसलिए वापस लौटकर आया। इससे विश्वास टूटता है। विश्वास जमता है तो एक ग्राहक अनेक ग्राहकों को लेकर आता है, इसलिए यहाँ जिन वचनानुसार ही कहें, अन्यथा विश्वास टूटेगा।

गोरस यदि है तो दूध, दही, नवनीत और घी इन पर्यायों में ही मिलेगा। पर्याय से रहित द्रव्य नहीं, और ऐसा भी नहीं कि अशुद्ध पर्याय को पैदा करने वाला द्रव्य शुद्ध हो क्योंकि भीतर में शुद्ध है तो बाहर में शुद्ध होगा। महेरी खाकर डकार आयेगी तो खट्टी ही आयेगी लेकिन डकार का स्वाद तो अन्दर की बात है। बाहर तो केवल आवाज सुनाई देती है। आवाज सुनकर डकार का स्वाद पता नहीं चलता। वैसे ही शब्दों में भले ही कह दो–मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ पर अनुभूति तो राग–द्वेष भावों की हो रही है। यदि वर्तमान में प्रत्येक पर्याय में राग–द्वेष कर रहा है तो द्रव्य अशुद्ध है। जैसा खाया है वैसी ही डकार आयेगी। जिसने खट्टी महेरी खायी है उसे पचास लोग मिलकर भी मीठी डकार नहीं दिलवा सकते। इमली को आम भले ही कह दो किन्तु वह आम हो नहीं सकती। द्रव्य और पर्याय की एक ही सत्ता होने से अभिन्न है यह श्रमण कहते हैं। भाव शब्द का अर्थ द्रव्य, वस्तु या पदार्थ है। यहाँ शुद्ध निश्चयनय से सिद्धरूप शुद्ध पर्याय से अभेद जो शुद्ध जीव द्रव्य है वही उपादेय है, यह भाव है।

अस्तित्व का महत्व—स्वतंत्र अस्तित्व और काय से जो युक्त है वह अस्तिकाय है। जिसमें अस्तित्व आदि छह सामान्य गुण पाये जाते हैं। सामान्य इसीलिए है क्योंकि सभी द्रव्यों में पाये जाते हैं। अस्तित्व किसी कारण से नहीं होता है। इस अस्तित्व का बहुमान प्रत्येक व्यक्ति को आना चाहिए कि हम किसी की मेहरबानी से नहीं हैं। यह न सोचें कि वे मुक्त हो गए जिनकी मेहरबानी से हम रह रहे थे तो अब हमारा क्या होगा? दुनिया के कार्य किसी के होने से हो सकते हैं किन्तु संसार में रहना या मुक्त अवस्था में रहना किसी की वजह से नहीं। अनन्तकाल से जीव रह रहा है, अनन्तकाल तक रहेगा, यह अपने स्वतंत्र अस्तित्व का माहात्म्य है।

उत्थानिका—निश्चयनय से द्रव्य और गुणों में अभेद दिखाते हैं –

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्व–गुणाणं हवदि तम्हा ॥१३॥

अन्वयार्थ–(दव्वेण) द्रव्य के **(विणा)** बिना **(गुणा ण)** गुण नहीं हो सकते तथा **(गुणेहिं विणा)** गुणों के बिना **(दव्वं)** द्रव्य **(संभवदि ण)** सम्भव नहीं है **(तम्हा)** इसलिए **(दव्वगुणाणं)** द्रव्य और गुणों का **(अव्वदिरित्तो भावो)** अभिन्नभाव **(हवदि)** होता है।

अर्थ–द्रव्य के बिना गुण नहीं हो सकते तथा गुणों के बिना द्रव्य सम्भव नहीं। इसलिए द्रव्य और गुणों का अव्यतिरिक्त भाव है अर्थात् भिन्नता नहीं है।

बिना द्रव्य के गुण ना होते, ज्यों पुद्गल बिन रंग नहीं।
बिना गुणों के द्रव्य न सम्भव, रूप बिना ना पुद्गल ही॥
अव्यतिरिक्त अभिन्नपना है, द्रव्य और गुण दोनों में।
यह प्रभु ने प्रत्यक्ष देखकर, कहा स्वयं ही वचनों में ॥१३॥

व्याख्यान–द्रव्य के बिना गुण कहीं नहीं रह सकते और गुणों के बिना द्रव्य की पहचान सम्भव नहीं। इसलिए द्रव्य और गुणों का अभिन्नभाव होता है। जैसे–बाजार से पाँच तोला सोना खरीदने गए और दुकानदार से कहा कि भले तीस हजार रुपए तोला दे दो किन्तु पीलापन नहीं चाहिए केवल सोना चाहिए। दुकानदार ने कहा–ऐसा सम्भव ही नहीं है। स्वर्ण में तीन गुण होते हैं–१. पीलापन २. भारीपन ३. मुलायमपन। जिसमें यह तीन गुण नहीं हैं ऐसा सोना कहाँ मिलेगा? गुणों के माध्यम से ही द्रव्य की परख होती है। किसी ने कहा–आत्मा को देखो। तो कैसे देखें? संवेदन करके देखो। संवेदन अर्थात् सम्यक् वेदन। स्वयं को देखना चाहते हो तो दूसरों को मत देखो। सारी दुनिया में छान लिया लेकिन सुख पर में नहीं है **''कबहूँ न सुख संसार में सब जग देख्यो छान''** सुख कहीं बाजार में नहीं, फिर भी खोज जारी है। मध्यप्रदेश में नहीं मिला तो राजस्थान भागे, वहाँ भी नहीं तो उत्तरप्रदेश, आसाम सब जगह भागते रहे, अन्त में विदेश गए और लोगों को बताने लगे कि हम विदेश भ्रमण करके आये हैं। विदेशी कहते हैं–हम भारत भ्रमण करके आये हैं। सबको पर की महिमा आ रही है। वस्तुएँ भी विदेशी पसन्द करते हैं, चाहे कहीं की भी हो। जिस प्रकार वस्तु की महत्ता उसकी गुणवत्ता से है उसी प्रकार व्यक्ति की भी महिमा उसके व्यक्तित्व (गुणों) से है। आत्मा की पहचान भी उसके उपयोग लक्षण से है। लक्षण ही लक्ष्य को प्राप्त करा देता है। लक्ष्य अर्थात् उद्देश्य, प्राप्तव्य। वह लक्ष्य गुण के माध्यम से ही प्राप्त होता है।

द्रव्य ही गुणों का आधार–द्रव्य के कोई सींग और पूँछ नहीं, जिसको हम पहचान सकें। द्रव्य को छोड़कर गुण का और कोई आधार नहीं है। सुख गुण कहाँ मिलेगा? उसका आधार क्या है? ढूँढ़ने पर आत्मा ही उसका आधार है यह ज्ञात होगा। अब ज्ञान प्राप्त करना है तो पोथी में नहीं मिलेगा। कुछ लोग पुस्तक नीचे रखते ही नहीं, क्या इससे ज्ञान होगा? नहीं। आत्मा से भिन्न ज्ञान नहीं और ज्ञान से भिन्न आत्मा नहीं। **'बाहरी शोध करना बन्द करो, अन्तर शोध करो।'** इससे अपने आप ही आत्मा झलकने लगेगा। बाहर से ध्यान हटाओ, आत्मा का ध्यान लगाओ ऐसा सब कहते हैं लेकिन

यह ध्यान में नहीं आता कि तुम्हारे ध्यान में क्या आता है? लगता है आत्मा को छोड़कर अन्य सब ध्यान में आता है। इसके लिए बस बाहर का अन्दर में परिवर्तन करना है। उपयोग को अन्दर की ओर मोड़ना है। आत्मा अच्छी लगेगी तो उपयोग भी आत्मा की ओर आयेगा। आचार्य भगवन्त ने **''रुचि अनुसारि वीर्य''** कहा है। आत्मा के प्रति आस्था हो तो अनात्मा के प्रति अनास्था होगी ही, यह कार्य कठिन नहीं है। जब तक श्रद्धान नहीं होता तब तक कठिन है। पूर्व के संस्कारवश कठिन लग रहा है।

किसी ने बताया कि आज १५ अगस्त (स्वतंत्रता दिवस) है। तो आज ही स्वतंत्र हैं, क्या शेष दिनों में परतंत्रता है? नहीं। द्रव्य तो सदा स्वतंत्र है और देश के बारे में सोचते हैं तो भाषा की अपेक्षा स्वतंत्रता मिली? वस्तुओं की अपेक्षा स्वतंत्रता मिली? नहीं। बल्कि पहले कर्ज कम था अब ज्यादा हो गया। क्या अनावश्यक खर्च करने की स्वतंत्रता मिल गई? आवश्यक नहीं है फिर भी खरीदते जाओ। हमारे लिए तो नहीं किन्तु बच्चों के काम आयेगी। भूसा भी मिला तो खरीद कर रख दिया, यह ठीक नहीं है। कर्ज बढ़ रहा है, दोष बढ़ रहे हैं। गुणों को पहचानने का प्रयास नहीं कर रहे। जब तक दुखों के कारणों को नहीं हटायेंगे तब तक सुख नहीं मिल सकता। प्रारम्भ में यह कार्य बहुत कठिन लगता है किन्तु अभ्यास करने से आसान होने लगता है। यह कार्य रुचिपूर्वक होना चाहिए अन्यथा स्वाध्याय सुनते-सुनते तो लगता है कि अब घर जाएँ ही नहीं किन्तु स्वाध्याय होने पर जिनवाणी की स्तुति होते ही घर दिखने लगता है क्योंकि सही गुण धर्म की पहचान नहीं हुई है।

गुणों से ही द्रव्य की पहचान—गुणों से द्रव्य की पहचान होती है। पीला सोना है लेकिन अकेला पीलापन लेने जाओगे तो कहीं नहीं मिलेगा। ब्लैक गोल्ड भी आता है। काला सोना २०वीं शताब्दी की देन है, सफेद स्वर्ण भी होता है और सुना है कुमकुम के वर्ण का भी होता है, उसे कुन्दन कहते हैं। चाहे कोई भी वस्तु हो, अपने गुण के माध्यम से ही उसकी पहचान होती है। आत्मा देखने में नहीं आता, मात्र संवेदन में आ रहा है। ज्ञान के माध्यम से दूसरों को जान-देख सकते हैं किन्तु देखने वाला गुण देखने में नहीं आता। जो दिख रहा है वह रूपी पदार्थ है उसी के पीछे सारी दौड़ धूप है। बाह्य पदार्थ देखने से स्वसंवेदन छूट जायेगा, आँखें खोलते ही बाहरी दृश्य देखने में आयेगा। धन्य हैं वे जो निरन्तर शुद्ध आत्मा का संवेदन करते रहते हैं। **''वंदे तद्गुणलब्धये''** ऐसे ही गुणों को पाने के लिए वन्दन करते हैं। जो मोक्षमार्ग का नेतृत्व करते हैं, कर्म रूपी पर्वतों को चकनाचूर कर चुके हैं, लोकालोक को जान रहे हैं, ऐसे गुण जब तक प्राप्त न हों तब तक के लिए नमस्कार है। ऐसा मत करना कि भगवान् के सामने झोली लेकर खड़े हो जाओ और कहो कि आपके पास अनन्त गुण हैं, हमारी झोली भर दो। आपके गुणों में कमी नहीं आयेगी, इसके लिए एक बड़ी झोली ले आओ क्योंकि गुण बड़े-बड़े हैं, कहीं फट न जाये? पेंदे में लेमीनेशन करके ले आओ, कहीं गिर न जाए? ध्यान रखो, तीन लोक के नाथ हैं, उनके गुण भी तीन लोक के बराबर होंगे। सोच समझकर माँगो, झोली भर गई तो रखोगे कहाँ? तीन लोक के बराबर हैं, उसे लटकाओगे कहाँ? तीन लोक के नाथ को पहचान

नहीं पाए। प्रभु की महिमा **भक्तामर** में बताई है–

नात्यद्भुतं भुवन भूषण! भूतनाथ!
भूतैर्गुणै र्भुवि भवन्त मभिष्टुवन्तः।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति॥१०॥

प्रभु भक्त को अपने समान बना लेते हैं, इसमें आश्चर्य की क्या बात है? सोचो, अभी तक हम प्रभु के समान नहीं बन पाये आखिर क्यों? इच्छाओं के कारण, माँग के कारण। अब माँगना बन्द करो और जैसे प्रभु ने अपने भीतर गुण प्रकट किये वैसे ही गुणों को प्रकट करने के लिए वन्दन करें।

द्रव्य और गुण में अभिन्नपना–कोई भी पुद्गल रूपादि गुणों से रहित नहीं हो सकता। पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श के अलावा अन्य गुण नहीं हैं। जीव की ज्ञान-दर्शन आदि गुणों के अलावा अन्य कोई पहचान नहीं है। स्पष्ट है कि द्रव्य और गुण की सत्ता अभेद है। जैसे पहले स्थान था फिर बाद में भवन बनाया गया। उसी प्रकार पहले द्रव्य था फिर गुण उसमें प्रवेश कर गए, ऐसा नहीं है। द्रव्य और गुणों की सत्ता एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं है। प्रत्येक द्रव्य गुणात्मक है। रागादि विभावों से मुक्त, केवलज्ञानादि गुणों से युक्त जो शुद्धात्म द्रव्य है वही ध्यान करने योग्य है। वचनों के द्वारा उसी का उच्चारण, काय के द्वारा भी उसी के अनुकूल अनुष्ठान कर लेना चाहिए यही तात्पर्य है। **''तत्परस्य भावो तात्पर्यम्''** उसी में लीन रहना तत्पर है। किसमें? अपने ज्ञान और दर्शन में ही आत्मतत्त्व हमेशा तत्पर रहता है इसके अलावा कुछ करते ही नहीं। आखिर देखने-जानने और संवेदन के अलावा हम कुछ कर भी नहीं सकते फिर भी ऐसी धारणा बना लेते हैं कि हम जो कर रहे हैं, सोच रहे हैं, इसमें यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, ऐसा सोचकर इष्ट है तो जोड़ने में और अनिष्ट है तो तोड़ने में लग जाते हैं। यह क्रिया राग-द्वेष मूलक होती है। इस विभाव भाव को छोड़कर सोचें तो जानने-देखने के अलावा और कुछ होता ही नहीं। स्मृति होती है तो उसमें भी ज्ञान ही तो होता है। **अच्छी-बुरी याद या अच्छा-बुरा पदार्थ नहीं होता, अच्छे-बुरे हमारे परिणाम होते हैं।** यह राग-द्वेष का संस्कार जब तक नष्ट नहीं होगा तब तक यह परम्परा चलती रहेगी। जिन्हें राग-द्वेष नहीं होते हैं उन्हें याद करो। वे भगवान् हैं जो तीन लोक को जानते हैं और राग-द्वेष नहीं करते हैं। उन्हें ध्यान से मन्दिर में देख लो फिर घर जाकर याद करो। आँख बन्द करके सोते समय भी देख सकते हो। चश्मा लगाकर ही अच्छे से दिखते हैं ऐसा नहीं, **श्रद्धा भक्ति का चश्मा लगाओ।** जब शान्तिनाथ भगवान् यहाँ संसार में थे तब तुम्हारा मित्र या शत्रु के रूप में कुछ न कुछ सम्बन्ध तो होगा। प्रभु जान भी रहे हैं किन्तु वे वीतराग हैं इसलिए याद नहीं करते किन्तु हमें उनको याद करना है, इससे शान्ति मिलती है, क्लांति मिटती है। कितना अद्भुत पुरुषार्थ किया है धन्य हैं प्रभु ने कि अनन्तज्ञान होते हुए भी हर्ष-विषाद नहीं करते। यहाँ थोड़ा-सा ज्ञान हो जाए तो फूल जाते हैं। **श्री समन्तभद्रस्वामी** ने एक जगह

कहा है कि यदि स्वतंत्रता चाहते हो तो, जो स्वतंत्र हुए हैं उनका चिन्तन करो, उनका इतिहास पढ़ो। स्वतंत्रता से पहले जिन्होंने सत्याग्रह किया उन नेताओं को याद करो, तब स्वतंत्रता की महिमा आयेगी। देश में स्वतंत्र रहने के लिए गाँधी जी को याद करते हो तो पूर्ण स्वतंत्र होने के लिए भगवान् को याद क्यों नहीं करते?

आत्मा की अनन्त शक्ति का उद्घाटन किस प्रकार सम्भव—

गुणवत्ता बढ़ाना चाहते हो तो दोष हटाओ, अमृत तुल्य बनना चाहते हो तो जहर को हटाओ। श्री पूज्यपादस्वामी ने शान्तिभक्ति में लिखा है–**''विद्या-भेषज-मन्त्र-तोय-हवनैः''** औषधि, मन्त्र, जल और हवनादि से विष दूर किया जा सकता है लेकिन विधि आना चाहिए। जैसे– मैंथी दाने को धो-धोकर उसकी कड़वाहट कम कर देते हैं फिर मीठा मिलाकर उसे खाने लग जाते हैं, उसी प्रकार कषायों की कड़वाहट को तत्त्वज्ञान के जल से धोओ, धोते-धोते कड़वाहट कम हो जाने से उल्टी होना भी बन्द हो जायेगी अन्यथा ऐसी ही कड़वी चीजें-नीम, कुटकी, चिरायता खाओगे तो निगल नहीं पाओगे। तभी तो ये शुगर कोटेड कर दी जाती हैं लेकिन ध्यान रखना मीठी लग रही है तो चबाना मत, वरना अन्दर की कड़वाहट से वमन हो जायेगा। भीतर जाते ही शक्कर घुलेगी और दवाई अपना प्रभाव डालने लग जायेगी। यदि दवा का स्वाद लोगे तो कड़वी अवश्य लगेगी किन्तु बुखार ठीक कर देगी। फिर तो कड़वी होने पर भी रुचि से उसे पाँच-छह बार खा लेते हैं, निरोग होता जा रहा है और औषधि पर विश्वास बढ़ता जा रहा है। वैसे ही **मुनिराज तपरूपी औषधि से कर्मरूपी रोग को क्षीण करते हैं। बर्फीली रातों में नदी तट पर, ग्रीष्म में गिरि शिखर पर, वर्षा में वृक्ष के नीचे दृढ़ श्रद्धान के बल पर समता धरते हैं। एक बार भी यह नहीं सोचते कि ठण्डी या गर्मी जल्दी बीत जाए। तप का यह गुण है कि वह आत्मा की अनन्तशक्ति को प्रकट कर देता है।** इन्द्रिय विजय का यही प्रभाव है कि बर्फ के ऊपर भी बिठा दें तो सर्दी अनुभूत नहीं होती। ज्ञान से मात्र ज्ञान का संवेदन करते रहते हैं। इस प्रकार गुण का विश्लेषण करने वाला यह प्रकरण पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—सर्व शंकाओं को दूर करने के लिए प्रमाण सप्तभंगी का स्वरूप कहते हैं–

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥१४॥

अन्वयार्थ—(दव्वं) द्रव्य **(खु)** निश्चय से **(आदेस-वसेण)** आदेश वश विवक्षा या प्रश्नोत्तर के कारण से **(सत्तभंगं)** सात भेदरूप **(संभवदि)** होता है जैसे **(अत्थि)** स्यात् अस्ति [किसी प्रकार है] **(णत्थि)** स्यात् नास्ति [किसी प्रकार नहीं है] **(उहयं)** स्यात् उभय अर्थात् अस्तिनास्ति [किसी प्रकार अस्ति नास्ति दोनों रूप है] **(अव्वत्तव्वं)** स्यात् अवक्तव्य [किसी प्रकार अवक्तव्य है] **(पुणो य)** तथा **(तत्तिदयं)** अवक्तव्य तीनरूप अर्थात् स्यात् अस्ति अवक्तव्य [किसी प्रकार अस्ति रूप होकर अवक्तव्य है], स्यात् नास्ति अवक्तव्य [किसी प्रकार नास्ति रूप होकर अवक्तव्य है] स्यात् अस्ति

नास्ति अवक्तव्य [किसी प्रकार अस्ति-नास्ति दोनों रूप होकर अवक्तव्य है]।

अर्थ—द्रव्य विवक्षा वश या प्रश्नोत्तर के कारण सात भेद रूप होता है। जैसे-स्यात् अस्तिरूप, स्यात् नास्तिरूप, स्यात् अस्ति-नास्तिरूप, स्यात् अवक्तव्यरूप और अवक्तव्यतायुक्त तीन भंग स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य इस प्रकार सात भंग वाला है।

स्यादस्ति स्याद्नास्ति औ स्याद् अस्तिनास्ति तृतीय कहा।
अवक्तव्य चतुर्थ पाँचवाँ अस्ति अवक्तव्य रहा॥
नास्ति अवक्तव्य भंग और, अस्ति नास्ति अवक्तव्य है।
प्रश्न अपेक्षा द्रव्यों में कुल, यह सातों ही भंग कहे ॥१४॥

व्याख्यान—कोई भी व्यक्ति सात प्रकार से आदेश या प्रश्न कर सकता है। जैसे-कथञ्चित् द्रव्य है, कथञ्चित् द्रव्य नहीं है। कथञ्चित् अस्ति-नास्ति है, कथञ्चित् अवक्तव्य है, कथञ्चित् अस्ति अवक्तव्य है, कथञ्चित् नास्ति अवक्तव्य है और कथञ्चित् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है। इन सप्तभंगी के माध्यम से वीतरागता की ओर जा सकते हैं। स्वचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य है अर्थात् स्वाभिमानी व्यक्ति कहता है कि-हमें दूसरों के कोठी बंगले की आवश्यकता नहीं। हम तो अपनी कुटिया में ही ठीक हैं। कोठी में रहने वाले मोटे-मोटे गद्दों पर सोने वालों को भी नींद नहीं आती क्योंकि सन्तोष नहीं है और इधर कुटिया में भी चैन से नींद ले रहा है। ईर्ष्या, महत्त्वाकांक्षा बैचेन कर देती है। सोलहवें स्वर्ग के बाद सब अहमिन्द्र हैं, सब राजा हैं कोई प्रजा नहीं, कोई दूसरे पर आधारित नहीं, सब अपने स्वभाव से हैं, पर भाव से नहीं हैं। इसीलिए कथञ्चित् हैं, कथञ्चित् नहीं हैं, यदि इनका एक साथ कथन करना चाहें तो अवक्तव्य है। यह अवक्तव्य अस्ति के भी साथ है और नास्ति के भी साथ है और सातवें भंग में अस्ति नास्ति दोनों के साथ अवक्तव्य है।

सप्तभंगी का लक्षण—एक ही द्रव्य में अविरोध रूप से प्रमाण वाक्य और नय वाक्यों के द्वारा जो स्यात् अस्ति आदि की कल्पना है वह सप्त भंगी है। स्वचतुष्टय अपेक्षा स्यात् अस्ति और परचतुष्टय अपेक्षा स्यात् नास्ति है। मानलो कोई अमीर है उसका पड़ोसी गरीब है। प्रायः अमीर-गरीब को दबाने का प्रयास करता है। प्रलोभन देकर अपने पास बुलवाना चाहता है तब यह स्वाभिमानी गरीब कहता है-तुम सेठ हो तो तुम्हारे घर के, हम अपनी कुटिया में सुखी हैं।

दृष्टान्त—एक ब्राह्मण की लड़की को श्रीकृष्ण ने नेमिनाथ भगवान् के समवसरण में जाते समय देखा तो ब्राह्मण से कहा-हमारे छोटे भाई गजकुमार के साथ इसकी शादी कर दो तो उसने कहा-नहीं महाराज! हम तो हमारे घर में ही ठीक हैं क्योंकि आप तो राजा हैं और हम प्रजा हैं, हमारा तुम्हारा रिश्ता राजा-प्रजा के रूप में ही रहने दो, इससे आगे रिश्ता ठीक नहीं है। श्री कृष्ण ने कहा-तुम्हारी लड़की सुखी रहेगी। तब वह कहता है-ठीक है। लेकिन शर्त है कि हमारी लड़की का लड़का ही

सिंहासन पर बैठेगा, अन्यथा हमारी लड़की तो दासी ही रह जायेगी। महलों में जाकर दासी रहने से तो यहीं हमारे घर पर ही ठीक है। राजमाता बने तो अपने लड़के की वजह से बने, पर की अपेक्षा दासी बनना स्वीकार नहीं।

सप्तभंग के ज्ञान से ही तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान—परचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य नास्ति है। भगवान् ने हमें जाना है इसलिए हम हैं ऐसा नहीं, हम अपनी वजह से हैं। जो भी सप्तभंग को समझ लेता है, वह तत्त्व के स्वरूप को जान लेता है। वह पर के लिए रोता नहीं, खो जाता है स्वयं में; क्योंकि वह जान लेता है कि मैं परचतुष्टय अपेक्षा हूँ ही नहीं। अस्ति नास्ति दोनों मिलकर ही सप्तभंग हो गये। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय के विषय में नाम, स्थापना, निक्षेप आदि का प्रयोग नहीं होता क्योंकि वह एक समयवर्ती पर्याय को पकड़ता है और एक समयवर्ती में शब्द ही नहीं बन सकता इसलिए शब्द भी ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं है। शब्द, वाक्य आदि का नैगम, संग्रह, व्यवहारनय में प्रयोग होता है। अतः अवक्तव्य कहा और अन्त में युगपत् अस्ति-नास्ति के साथ अवक्तव्य, इस प्रकार स्यात् के साथ सप्तभंग हो जाते हैं। कोई सात बार प्रश्न कर सकता है और सात प्रकार से उसका उत्तर दिया जा सकता है। यह प्रमाण सप्तभंगी है।

प्रमाण और नय के द्वारा ही वस्तु का ज्ञान—प्रमाण और नय इन दो के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है। नय सप्तभंगी में स्यात् न लगा करके एवकार लगता है। प्रमाण सकल वस्तु को ग्रहण करता है नय एकदेश को ग्रहण करता है। एक ही द्रव्य सप्त भंगात्मक कैसे होता है? तो कहते हैं-देवदत्त गौण और मुख्य की विवक्षा के कारण सप्त भंगात्मक होता है। वह देवदत्त पिता की अपेक्षा पुत्र, पुत्र की अपेक्षा पिता, पत्नी की अपेक्षा पति, भानजे की अपेक्षा मामा, भतीजे की अपेक्षा चाचा आदि अनेक रिश्ते वाला हो जाता है। पदार्थ में सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्यादि धर्म हैं। इनमें से एक-एक धर्म को मुख्य करें तो सप्तभंग हो जाते हैं। जैसे-परचतुष्टय को गौण करते हैं तो स्वचतुष्टय मुख्य हो जायेगा और स्वचतुष्टय को गौण करेंगे तो परचतुष्टय मुख्य होगा। जैसे-देवदत्त में स्यात् पुत्र, स्यात् अपुत्र आदि से सप्त भंग हो जाते हैं पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा द्रव्य गौण और पर्याय मुख्य हो जाती है। **अरनाथ भगवान्** की स्तुति के अन्त में कहा-

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनय-साधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात् ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१०३॥

प्रासंगिक नयापेक्षा अनेकान्त भी एकान्त हो जाता है। अतः नय के माध्यम से कथन होता है जैसे- कथञ्चित् आत्मा जानती है किन्तु आत्मा ज्ञान के द्वारा ही जानती है, दर्शन गुण के द्वारा नहीं जानती है, यह नय वाक्य है। नयों की विवक्षा में एक धर्म की मुख्यता हो जाती है। इसे सम्यक् एकान्त कहते हैं और प्रमाण सप्त भंगी में द्रव्य की मुख्यता रहती है। आत्मा ज्ञान के द्वारा ही जानता है। यहाँ 'ही' लगाना सम्यक् एकान्त का प्रतीक है, इसका सही प्रयोग न करने पर दूषण आयेगा। जैसे-आत्मा

जानती ही है, यहाँ ज्ञान का प्रयोग न किया तो मिथ्या हो जायेगा क्योंकि आत्मा सिर्फ जानती ही है ऐसा नहीं, देखती भी है। भिन्न-भिन्न शक्तियों के माध्यम से सुनना, बोलना, चखना आदि अनेक कार्य भी करती है। पूर्णतः संवर शुद्धोपयोग के द्वारा ही होगा, शुभोपयोग के द्वारा संवर भी होता है और बन्ध भी। इस तरह सही प्रयोग करें।

ज्ञान और दर्शन गुण का कार्य—अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में ज्ञानोपयोग से दर्शनोपयोग बदलता रहता है। दर्शन गुण द्वारा सामान्य संवेदन और ज्ञान द्वारा आत्मा विशेष संवेदन करती है। ऐसे अनन्त गुण आत्मा में हैं जिनके द्वारा जानने के अलावा और भी कार्य होते रहते हैं। बिना विवक्षा के एकान्त से कहेंगे तो अन्य गुण समाप्त हो जायेंगे। स्यात् नहीं लगाना हठग्राहिता है। इससे वचनों में समीचीनता नहीं आती है तभी तो **मल्लिनाथ भगवान्** की स्तुति करते हुए कहा कि— **''स्यात्पद-पूर्वा रमयति साधून्''** साधुजन भी अनेकान्तरूप स्यात् वाणी में रम जाते हैं। बिना विवक्षा के ''अस्ति एव द्रव्यम्'' कहना दुर्नय वाक्य है। यहाँ स्वचतुष्टय की अपेक्षा स्यात् लगने से सम्यक् नय हो जाता है। 'भी' के साथ अनेकान्त आ जाता है। अपेक्षा के साथ 'ही' का कथन सम्यक् एकान्तरूप हो जाता है।

नयों का प्रयोग किस प्रकार—नय का प्रयोग असिधारा के समान है इससे काम तो बहुत जल्दी हो जाते हैं किन्तु नासमझी से स्वयं के लिए घातक भी होते हैं। यहाँ सप्तभंगी सर्वथापने का निषेधक, अनेकान्त का द्योतक है, ऐसा **श्री अमृतचन्द्राचार्य** ने कहा है। सावधानी से इसका प्रयोग करना होता है। थोड़ा-सा चूकते ही मिथ्यानय में आ जाता है। इसका प्रयोग **आलापपद्धति** में निश्चय, व्यवहार, सद्भूत-असद्भूत आदि नय के माध्यम से सीख सकते हैं। शुद्ध, अशुद्ध, परमशुद्ध और निश्चयनय अलग-अलग हैं। नयों का तो समुद्र है, जितने वचनों के प्रयोग होते हैं उतने ही नय या दृष्टिकोण होते हैं। यदि सर्वज्ञत्व है तो पर को जानने से व्यवहारनय का विषय है। व्यवहार में भेद है, निश्चय एक अखण्ड को, अभेद को विषय बनाता है। अखण्ड में भी खण्ड करने का काम व्यवहारनय का है।

अनेकान्त से ही द्रव्य की सिद्धि—उपयोग की धारा अखण्ड है, आज तक मिटी नहीं, इसका तात्पर्य ज्ञान की धारा मिटती नहीं ; ऐसा नहीं, बीच में दर्शनोपयोग की धारा आ जाती है किन्तु केवलज्ञान होने के उपरान्त ज्ञान और दर्शन दोनों धारायें एक साथ अनन्तकाल तक रहती हैं। यह क्षायिकज्ञान माना जाता है। द्रव्य-द्रव्य ही है, गुण और पर्याय नहीं है। ऐसी एकान्त मान्यता से सांख्यमत आ जायेगा और एकान्त से द्रव्य नहीं है ऐसा मानने से बौद्धमत आ जायेगा। अतः अनेकान्त से ही द्रव्य की सिद्धि होती है।

अवक्तव्य और अकथ्य में अन्तर—दोनों विरोधी धर्म एक साथ कहना चाहें तो नहीं कह सकते, यही अवक्तव्य भंग है अकथ्य नहीं। अकथ्य और अवक्तव्य में बहुत अन्तर है। अकथ्य अर्थात् कथन के अयोग्य किन्तु अवक्तव्य अर्थात् दोनों विरोधी धर्मों का एक साथ कथन नहीं होता।

जैसे–यहाँ प्रकाश नहीं है इसका मतलब यह नहीं कि अन्धकार है। जहाँ पर मैं खड़ा हूँ वहाँ पर आकर देखिए तो मेरा परिचय मिलेगा। श्रद्धा में कुछ ऐसी शक्तियाँ विद्यमान हैं जो विज्ञान द्वारा सम्भव नहीं। यहाँ द्रव्यार्थिकनय से जो सत् पदार्थ हैं उसका विनाश कभी नहीं हो सकता और जो असत् हैं उसका उत्पाद नहीं हो सकता। इस प्रकार इस गाथा में क्षणिक एकान्त जो बौद्धमत है उसका निराकरण किया है।

उत्थानिका–यहाँ असत् के प्रादुर्भाव का और सत् के विनाश का निषेध है, ऐसा इस गाथा में कहा जा रहा है–

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुण पज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥१५॥

अन्वयार्थ–(भावस्स) सत्रूप पदार्थ का **(णासो)** नाश **(णत्थि)** नहीं होता है **(चेव)** वैसे ही **(अभावस्स)** अभाव का या अवस्तु का या असत् का **(उप्पादो)** उत्पाद या जन्म **(णत्थि)** नहीं होता है। **(भावा)** पदार्थ **(गुणपज्जयेसु)** अपने गुणों और पर्यायों में **(उप्पादवए)** उत्पाद व व्यय **(पकुव्वंति)** करते रहते हैं।

अर्थ–भाव का विनाश नहीं होता है और अभाव का उत्पाद नहीं होता है। सभी भाव रूप पदार्थ अपने गुण पर्यायों में उत्पाद और व्यय करते रहते हैं।

जो सत् है उसका न कभी भी, विनाश देखा जाता है।
असत् रूप है या अभाव जो, वह उत्पन्न ना होता है ॥
पदार्थ अपने गुण पर्यायों में उत्पाद करे व्यय है।
क्योंकि गुण औ पर्यायों का, द्रव्य स्वयं ही आश्रय है ॥१५॥

व्याख्यान–आज का विज्ञान भी इस सिद्धान्त के बहुत निकट पहुँच रहा है कि द्रव्य का अस्तित्व कभी भी नाश नहीं होता किन्तु उसका रूपान्तरण होता रहता है। आजतक जिसका अस्तित्व ही नहीं रहा, उसे किसी भी रसायन पद्धति से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। यहाँ यह नहीं कहना कि मोक्ष नहीं है तो कैसे होगा? मोक्ष एक पर्याय है, अवस्था है ; द्रव्य नहीं। अशुद्ध से शुद्धदशा प्रकट होना मोक्ष है। जब द्रव्य होगा तभी तो पर्याय होगी। शुद्ध द्रव्य की पर्याय भी शुद्ध होगी और अशुद्ध द्रव्य की पर्याय भी अशुद्ध होगी क्योंकि द्रव्य का गुण–पर्याय के साथ उपादान रूप सम्बन्ध है, निमित्त के रूप में नहीं। अतः जिसका आधार शुद्ध है उसका आधेय भी शुद्ध होगा। ऐसा नहीं कि वस्तुएँ अशुद्ध हैं, स्वयं अशुद्ध है और भोजन शुद्ध बना ले, यह सम्भव नहीं है। हमारे पास शुद्ध होने की शक्ति है यह स्वीकारते हैं किन्तु वर्तमान में शुद्ध हैं यह ठीक नहीं। यदि द्रव्य शुद्ध है तो इसकी कुछ–कुछ पर्यायें शुद्ध होंगी, कुछ नहीं, ऐसा नहीं है। पर्यायें भी सभी शुद्ध ही होंगी। आधार–आधेय दोनों को शुद्ध बनाने की प्रक्रिया का नाम मोक्षमार्ग है।

उत्पाद व्यय का कथन—ज्ञान के द्वारा जाना जाता है किन्तु ज्ञान को ज्ञानी नहीं कहा, मान को मानी और क्रोध को क्रोधी नहीं कहा क्योंकि इणंत् प्रत्यय कर्त्ता और द्रव्य की विवक्षा में लगता है। ज्ञान यदि ज्ञानी हो जाए तो द्रव्य नहीं रहेगा, गुण ही गुणी अर्थात् प्रदेशवान हो जायेंगे इसलिए गुण को द्रव्य से कथञ्चित् भिन्न माना है सर्वथा नहीं। गुण को अलग से खरीद नहीं सकते। दुकानदार से कहें कि हमें सफेद चाहिए। तो वह पूछेगा सफेद क्या? चूना दूँ, सफेद कपड़ा दूँ, क्या दूँ? क्योंकि गुण-गुणी के साथ ही रहेगा। सोने का रिंग है इसमें पीला गुण हो गया, सोना द्रव्य हो गया और गोलाकार पर्याय हो गई। क्या इन तीनों को पृथक्-पृथक् करके ले सकते हो? नहीं। जो द्रव्य गुण को तो शुद्ध मानते हैं और पर्याय को अशुद्ध, उन्हें समझ लेना है कि शुद्ध होंगे तो द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों होंगे और अशुद्ध होंगे तो भी तीनों ही होंगे। प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद व्यय होता रहता है। इस गाथा में भाव का अर्थ पदार्थ है और गुण का अर्थ यहाँ सामान्य गुण ही लेना। जैसे-पुद्गल में खट्टा रस कालान्तर में मीठा हो जाता है। मीठा भी कुछ समय बाद रसान्तर हो जाता है। वर्ण में जो हरा था वह लाल या पीला होकर समाप्त हो जाता है। इसी तरह गुण और पर्यायों में उत्पाद व्यय चलता रहता है। इस वस्तु के परिणमन रूप रहस्य को नहीं मानने वाला संयोग में हर्ष और वियोग में विषाद करके मन को स्थिर नहीं कर पाता।

दृष्टान्त—तेज गर्मी में सारे पेड़-पौधे, फूल-फलों से रिक्त हो गए हैं किन्तु एक पेड़ पर हरे-हरे पत्ते आदि उग आये हैं। जबकि तालाब में पानी की बूँद भी नहीं है। नदियाँ सूख गई हैं लेकिन एक पेड़ हरा-भरा है क्योंकि उसमें १२ महीने हरे-भरे रहने का स्वभाव है। कभी-कभी सूखता हुआ-सा लगता है किन्तु फिर हरा-भरा हो जाता है। जैसे-सागवान के पत्ते झड़ जाते हैं। पुनः नये पत्ते आने पर धीरे-धीरे इतने बड़े-बड़े हो जाते हैं कि कुण्डलपुर जैसे पहाड़ को भी ढँक देते हैं। पत्ते आते रहते हैं जाते रहते हैं और पेड़ ज्यों का त्यों बना रहता है।

दूसरा उदाहरण—१० लाख रुपये लगाकर दुकान खोल दी। एक साल में २० लाख का आसामी (व्यापारी) हो गया किन्तु दूसरा व्यक्ति १० लाख लगाता है और एक साल में १० लाख ही रहे, कहता है कि दुकान चलती नहीं है। तो पुण्य और पुरुषार्थ के दो पहिये लगा दो, चलने लग जायेगी। कभी-कभी तो वह दुकान बदल देता है फिर भी कमाई नहीं होती है क्योंकि दुकान (हाट) तो वही है। कर्म स्वभाव की ओर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए, इस प्रकार आना-जाना अर्थात् उत्पाद-व्यय होता ही रहता है। अनन्तकाल से कोई भी पदार्थ मिटा नहीं और आगे मिट भी नहीं सकता, बस गुण और पर्यायों में परिवर्तन होते हुए भी गोरस बना ही रहता है।

द्रव्य के अविनाशी होने का वर्णन—आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी का '**आप्तमीमांसा**' नामक ग्रन्थ है उसमें कहा है कि जिसका दही का त्याग है वह दूध, घी ले सकता है। दूध का त्यागी दही, मट्ठा, घी ले सकता है किन्तु जिसने गोरस का त्याग किया है वह दूध, घी, मट्ठा, खोवा, छैना

आदि कुछ नहीं ले सकता। इसी प्रकार द्रव्य कितने भी गुण और पर्यायों में बदल जाए किन्तु यदि वह मूर्त है तो मूर्त ही रहेगा, अमूर्त है तो अमूर्त ही रहेगा, चेतन है तो चेतन ही रहेगा, अचेतन है तो अचेतन ही रहेगा। गोरस का कभी विनाश नहीं होगा। गुणों में परिवर्तन होता रहता है किन्तु गुणों का नाश नहीं होता। द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य का कदापि विनाश नहीं होता। इससे दृष्टि द्रव्य पर रहती है। द्रव्य का अर्थ धन भी होता है। वह धन दो प्रकार से कम होता है, एक तो घाटा लगे तब नष्ट हो जाए, दूसरा माल ले आओ तो धन खत्म हो जाए। ग्राहक माल खरीदेंगे तो धन बढ़ेगा, धन समाप्त नहीं होगा, विकास के लिए जमा किया है घाटा नहीं है। यहाँ भी हमें यही जानना है कि एक पर्याय मिट गई तो दूसरी आ गई किन्तु द्रव्य छह ही रहेंगे, परिवर्तन होने से सातवाँ द्रव्य नहीं आता। जैसे–कोई संस्था में दस हजार कर्मचारी कार्यरत हैं इनमें से किसी तारीख को कुछ अवकाश प्राप्त होते हैं तो दूसरों को भर्ती कर लेते हैं इससे संख्या घटती-बढ़ती नहीं, आय-व्यय दोनों हो रहे हैं किन्तु द्रव्य ज्यों का त्यों बना रहता है। आय कम और व्यय ज्यादा हो तो सड़क पर आ जाए। मानलो कुँए से एक दिन में जितना लीटर पानी निकाला जाता है, रात में उतना ही आ जाता है तो कोई सोचे कि पूरा खाली कर दो, उतना ही आ जायेगा लेकिन ऐसा नहीं है। पानी के स्रोत की भी एक क्षमता है। दूसरे ने सोचा कल रविवार आने वाला है, आज पानी खर्च न करो, कल दूना आ जायेगा, लेकिन देखा तो रविवार को उतना ही जल था। प्रबन्धक घबरा जाते हैं अब क्या करें? पानी तो ज्यादा आया ही नहीं। ध्यान रखो, जितना स्रोत के ऊपर भार पड़ता है उतना स्रोत रुकता है। स्रोत को कभी सूर्य का प्रकाश या हवा लग जाए तो जल की मात्रा कम हो जाती है। जितना निकलता है उतना अपनी सीमा में ही आता है।

पदार्थ के परिणमन का नियम—पदार्थ के परिणमन का एक नियम होता है उसी के अनुसार कार्य होता है। पर्यायार्थिक नय से मनुष्य का मनुष्य के अनुसार, नारकी का नारकी के अनुसार एवं आकाश द्रव्य का अवगाहन कार्य के रूप में ही परिणमन होगा। मनुष्य के रूप में एक बार जन्म हो गया तो जब तक उसकी आयु है तब तक पूर्व पर्याय का अभाव, आगामी पर्याय का उत्पाद होता जायेगा अर्थात् बचपन मिटकर युवा फिर प्रौढ़ फिर वृद्ध। वृद्ध से जवान नहीं होगा। जैसे—उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी में उल्टा होता है ऐसा नहीं होगा। उस पर्याय में उसका पुनरागमन नहीं होता। मानलो गेहूँ वगैरह बोते हैं तो मिट्टी में बीज डाला, खाद पानी के साथ सम्बन्ध हुआ सूर्य का प्रकाश, हवा मिली और अंकुरित हो गया। पौधा बढ़ा, बालें आ गईं, पक गईं और गेहूँ सूखकर हाथ में आ गया। अब यदि पुनः बोयेंगे तो पुनः अंकुरित होंगे, यह नियम है। इसी प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार पदार्थ में परिवर्तन होता रहता है फिर भी हर्ष-विषाद करते हैं। खाली बैठे-बैठे और कुछ काम नहीं, तो करें क्या? मोह का उदय है तो कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा। यह सोचकर करते जाओ तो भगवान् कैसे बनोगे? भगवान् अनादि से ही भगवान् नहीं हैं उन्होंने मोह का हनन किया और बाद

में मोक्ष पाया। हमारे लिए भी मोक्ष असम्भव नहीं है। जो सम्भाव्य होता है, योग्यता रखता है वही होता है, ज्यादा नहीं हो सकता। निश्चय नयापेक्षा क्रोधादि कषायों से बन्ध, उदय, संकल्प-विकल्प, निदानादि रूप विभावों से जीव रहित होता है। जीव के पास इतनी क्षमता है कि वर्तमान में जो क्रोधादि कषाय हो रही हैं उसे मिटा सकता है, शान्ति क्षमा जिसके हृदय में है उसके लिए सामने वाले की चिनगारी, अंगार कुछ नहीं कर सकती, क्योंकि ज्ञानी ध्यानी क्रोधाग्नि को खा जाते हैं। यदि बुद्धिपूर्वक इसे अमल करे तो सफलता पा सकता है। द्रव्यार्थिकनय से जीव उत्पाद, व्यय, आदि, अन्त से रहित एकमात्र चैतन्य स्वभावी है किन्तु पर्यायार्थिक नय से देखें तो कोई ६०, ९० वर्ष के हैं, कोई कम के हैं, आगे इनमें और कई परिवर्तन होंगे ऐसा विधिवत् परिणमन का कार्यक्रम द्रव्य में होता रहता है।

आत्मा के प्रदेशों की व्यग्रता का नाम योग है, उपयोग की व्यग्रता का नाम मोह है। निराकुल अवस्था सिद्धालय में है। अव्याबाधसुख का अभाव अर्थात् दुख कह सकते हैं लेकिन अरहंत भगवान् तो अपने में स्वस्थ्य हो गये हैं। "**य: बाध्यते बाधान् करोति इति बादर**" कर्मों के माध्यम से स्वयं बाधित हो रहा है। व्यग्रता स्वयं की है। ज्यों ही बादर नामकर्म का अभाव हो जाता है त्यों ही सूक्ष्मत्व गुण प्रकट हो जाता है। सातारूप व असातारूप दोनों प्रकार की आकुलता के अभाव का नाम निराकुलता है। एक अर्घ्य चढ़ा रहा है रोग के निराकरण के लिए और एक निरोग रहने के लिए चढ़ा रहा है, परन्तु इन दोनों में स्मृतिसमन्वाहार बराबर चल रहा है, वास्तव में यह धर्म नहीं है। दूसरे के मकान में रह रहा है इसलिए वह स्वस्थ्य नहीं है। भले ही परमौदारिक शरीर हो लेकिन परदेश तो परदेश ही है। परदेश के मायने वह नरेश नहीं हो सकता इसलिए वे भी परदेशी हैं।

वस्तु स्वभाव का चिन्तन करने की प्रेरणा—परिवर्तन हो रहा है, हमारे किए बिना ही कुछ कार्य हो रहे हैं, यह वस्तु का स्वभाव है। इस वस्तु स्वभाव के बारे में बार-बार चिन्तन करना चाहिए। मैं कर रहा हूँ यह अभिमान छोड़कर जो सत्कार्य पुरुषार्थपूर्वक करने योग्य है उसे करते चले जाओ, उसमें अभिमान न करो। वस्तुस्वरूप के रहस्य को पहचाने बिना श्रीमान्-धीमान्, अमीर-गरीब, देव-नारकी, मानव-दानव सब एक जैसे हैं, कोई अन्तर नहीं है। कोई कहे कि हम तो सेठ साहूकार का जीवन जी रहे हैं, आखिर वह विशेष क्या कर रहा है? गरीब भी खाता-पीता है, आप भी खाते-पीते हैं, उसके पास रहने की कुटिया है, सेठ के पास अट्टालिका है। एयरकंडीशन में रहता है, उसके पास कोई कंडीशन नहीं है। शुद्ध हवा खाता है किन्तु सेठ हवा भी शर्तों के साथ खाता है, गरीब एक बार खा पाता है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी देखें तो उसे भूख ज्यादा लगती है जिन्हें क्षुधा रोग ज्यादा सता रहा है तभी तो वह चार बार खा रहा है। भले ही वह स्वयं को बड़ा मान ले किन्तु वह क्षुधा रोग का रोगी है। मन्दिर में भगवान् को क्षुधा रोग मिटाने हेतु नैवेद्य चढ़ाते हैं और यहाँ रोग बढ़ाकर बड़ा अमीर, सेठ साहूकार मानते हैं। नैवेद्य चढ़ाने से भूख कम हो जाए तो क्यों घबरा जाते हैं? इसका मतलब अन्दर में तो क्षुधा रोग बढ़ाने की इच्छा है। जैसे-जैसे देह ऊपर की ओर सर्वार्थसिद्धि तक जायेगी क्षुधा कम होती जायेगी और नीचे-नीचे भवनत्रिक तक आयेंगे तो भूख बढ़ती जायेगी। सबसे

ऊपर चले गए तो भगवान् को भूख ही नहीं रहती। जिसे ज्यादा भूख है इसका तात्पर्य उसे क्षुधा रोग ज्यादा तेज है। अतः रईस लोग यह न समझें कि हम बड़े हैं। बड़े रोगी अवश्य हैं आप; क्योंकि भोजन रूपी दवाई ज्यादा खानी पड़ रही है। भगवान् के सामने क्षुधा मिटाने हेतु नैवेद्य चढ़ाते हैं क्षुधा बढ़ाने के लिए नहीं, रोग को मत माँगो। जघन्य भोगभूमि में मनुष्य, तिर्यञ्च एक दिन छोड़कर आँवला जितना भोजन लेते हैं, मध्यम भोगभूमि में दो दिन बाद बहेड़ा जितना और उत्तम भोगभूमि में तीन दिन बाद हरड़ जितना एक ही बार भोजन लेते हैं, जैसे मुनिराज करते हैं। वहाँ पर थोड़ा-सा खाने से ही तृप्ति हो जाती है इसी का नाम भोगभूमि है। यह मत समझना कि वहाँ खाने को बहुत माल मिलेगा। वहाँ भूख ही इतनी सी लगती है। आँवला-नीबू और चीकू से छोटा रहता है। बहेड़ा-इलायची से थोड़ा बड़ा जर्दालु (खुरमानी) जितना रहता है तथा हरड़ छोटी इलायची जितनी होती है, इतना-सा भोजन लेकर भी शरीर मस्त रहता है। ज्यादा खाना है तो कर्मभूमि में आ जाओ, यहाँ कम से कम दो बार और असंयमी की तो चक्की चलती ही रहती है किन्तु भोगभूमि में त्रिफला का योग हरड़, बहेड़ा, आँवला जितना भोजन है। वहाँ के भोग तृप्तिदायक अलग ही गुणवत्ता के रहते हैं। वस्तुतः ज्यादा खाना सौभाग्य का प्रतीक नहीं माना जाता, दुख का प्रतीक है। दुख के निवारण के लिए, रोग दूर करने के लिए भोजन दवाई जैसा है। इसलिए उपयोग के साथ भोजन करना चाहिए, राग के साथ नहीं। क्योंकि भोजन से रस नहीं बनता आहार पर्याप्ति से रस बनता है।

साधना की आवश्यकता क्यों—आदि-अन्त से रहित चिदानन्द स्वभाव से युक्त शुद्ध जीवास्तिकाय ही एकमात्र ध्यान करने योग्य है। शरीर के बिना भी आत्मतत्त्व मुक्त अवस्था में रहता है। यह मत सोचो कि वहाँ शरीर नहीं तो भोजन भी नहीं करते होंगे फिर बैठे-बैठे क्या करते हैं? तो सुनो-ज्ञानामृत का पान और शुद्ध जीवास्तिकाय में ज्ञानचेतना का संवेदन करते रहते हैं। स्वर्ग में यदि एक सागर की उम्र है तो एक हजार वर्ष बाद अमृत की एक घूँट लेते हैं। वह भी चम्मच से नहीं, भीतर ही भीतर बटन जैसा दबा और अमृत झरा फिर बटन बन्द। अब हजार वर्ष बाद पुनः खुलेगा और श्वासोच्छ्वास एक पक्ष में एक बार। तीर्थंकर की संख्या के बराबर एक वर्ष में २४ बार श्वास लेते हैं, ३३ सागर वाले साढ़े सोलह माह बाद एक बार श्वास लेते हैं और ३३ हजार वर्ष बाद अमृत की बूँद झरती है। जिसे जितना तीव्र पुण्य का उदय रहता है उतना बाहरी पदार्थों का सेवन कम करना पड़ता है और आनन्द की अनुभूति ज्यादा होती है। जब सर्वार्थसिद्धि से ऊपर उठ जाते हैं तब सिद्धशिला में जाकर हर पल नित नवीन ज्ञानामृत का सेवन चलता रहता है। सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों से ज्ञानामृत ही ज्ञानामृत झरता है। वहाँ ज्ञान ही शरीर, ज्ञान ही चक्षु, ज्ञान ही चेतना है। उन्हें किसी प्रकार का रोग नहीं है क्योंकि "**शरीरं-व्याधि-मंदिरम्**" शरीर ही छूट गया तो कोई आधि-व्याधि नहीं, पूर्ण स्वस्थ हैं। ऐसी पूर्ण स्वस्थता पाने के लिए ही साधना है। मात्र शारीरिक साधना ही नहीं, आत्मिक साधना ही होनी चाहिए। सहनशीलता होनी चाहिए। गुस्सा करने का अर्थ उसकी भीतरी साधना टूटी हुई है।

उत्थानिका—आगे षट् द्रव्यों के गुण पर्यायों को कहते हैं–

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगो।
सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा ॥१६॥

अन्वयार्थ—**(भावा)** सत्‌रूप पदार्थ **(जीवादीया)** जीव आदि छह हैं। उनमें **(जीवगुणा)** जीव के गुण **(चेदणा)** चेतना **(य)** और **(उवओगो)** उपयोग हैं **(य)** और **(सुरणरणारयतिरिया)** देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च ये **(जीवस्स)** जीव की **(बहुगा)** बहुत-सी **(पज्जया)** पर्यायें हैं।

अर्थ—सत्‌रूप पदार्थ जीव आदि छह हैं। उनमें जीव के गुण चेतना और उपयोग हैं। देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च ये जीव की बहुत-सी पर्यायें हैं।

जीवादिक सत् रूप द्रव्य छह, श्री जिनवर की वाणी है।
जीव द्रव्य का गुण उपयोग व, द्वितिय चेतना मानी है॥
सुर नर औ तिर्यञ्च नारकी, जीव द्रव्य की पर्यायें।
द्रव्यदृष्टि यदि हो जाए तो, मिट जाएँ सब पीड़ाएँ ॥१६॥

व्याख्यान—श्री कुन्दकुन्दस्वामी क्या लिखते थे? क्या चिन्तन करते थे? रात-दिन किसका आस्वादन करते थे? इन गाथाओं से हमें ज्ञात हो जाता है कि उनका ज्ञान कितना स्वस्थ था? जीवादिक पदार्थ भाव कहलाते हैं। यहाँ जीव के गुण चेतना और उपयोग ये दो कहे हैं। उपयोग कहने से जीव द्रव्य सिद्ध होता है। चेतना कहने से आत्मा सिद्ध होता है। चेतना अर्थात् सावधानी। सावधानी दो हैं– एक स्व की, दूसरी पर की। संज्ञाओं के माध्यम से चेतना की पहचान कर सकते हैं, सुप्तावस्था में भी क्यों न हों आप, मच्छर काट दे तो हाथ उसी ओर चला जाता है। चेतना से अनुभव या संवेदन किया जाता है यह गुण हुआ और उपयोग जानने देखने का नाम है। मैं 'हूँ' या 'नहीं' इसे जानने की नहीं, अनुभूति की आवश्यकता है। यदि कोई स्वयं का संवेदन करना चाहे तो वह तो प्रत्येक समय कर ही रहा है। दृष्टि को बस भीतर ले जाए, यही तो चेतनता की सार्थकता है। इसी प्रकार रूपादिक पुद्‌गल के गुण हैं। सुर, नर, नारक, तिर्यञ्च यह सब अशुद्ध पर्यायें हैं और 'च' से शुद्ध सिद्ध पर्याय ग्रहण करें। इस प्रकार बहुत सारी पर्यायें हैं। ८४ लाख योनियों में संसारी प्राणी मुख्य रूप से चार गति रूप पर्यायों में भटकता रहता है। कहीं स्थिर ठिकाना नहीं है, जहाँ जाता है वहीं से कर्मों द्वारा धक्का दे दिया जाता है। तीन लोक में अनेकों ठिकाने छाने हैं। '**त्रिलोकसार**' आदि का स्वाध्याय करो तो सब ज्ञात हो जायेगा कि जीव कहाँ से स्थानान्तरित होकर कहाँ तक चला जाता है। तीन लोक का उसमें विस्तृत वर्णन है। इस तीन लोक में जीव भटकते रहते हैं किन्तु जो इस रहस्य को समझ लेता है वह चार गति और चौरासी लाख योनियों से ऊपर उठकर शुद्ध सिद्धपर्याय को पा लेता है। इस गाथा में जीव की पहचान गुण से कराई है। मानलो कोई देहली के पास से आया, पूछने पर उसने कहा—

राजधानी देहली से आया हूँ किन्तु उस पास के गाँव का नाम नहीं बताया तो सही पता कैसे जानेंगे? वह गाँव का नाम बताये फिर कॉलोनी का, घर का नम्बर, मोबाइल नम्बर बताये तभी सही पहचान हो पायेगी, उसी प्रकार यहाँ जीव की पहचान चेतना और उपयोग से बताई है। **यदि पर को तो पर मान लें किन्तु स्व को स्व ना जानें तो उपयोग का सही सदुपयोग नहीं है।** आगे कहेंगे कि जानना-देखना मात्र ही जीव की पहचान नहीं है, जीव वही जो सुख को चाहे और दुख से डरे अन्यथा अजीव के समान है। कोई भी कार्य करें और प्रयोजन सिद्ध न हो तो क्या अर्थ है? जीव का प्रयोजन ही यही है सुख का संवेदन हो और दुख से मुक्त हो। इसके लिए सच्चा सुख और दुख क्या है? इसे भी जानना आवश्यक है। जिसके द्वारा संसार का विकास हो, वह दुख का कारण है। उन भावों से बचें तभी वह जीव दुखों से मुक्ति पायेगा। दुखों से बचने वाले भावों को आगम में धर्म कहा है, ऐसे धर्म को ग्रहण करें।

जीव के गुण-चेतना और उपयोग—कहीं जीव का गुण चेतना कहा तो कहीं उपयोग, किन्तु श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने यहाँ चेतना और उपयोग दोनों लिए हैं। जहाँ पहचान की अपेक्षा होती है वहाँ चेतना नहीं, उपयोग काम में आता है वही लक्षण रूप में है। अन्य द्रव्यों के साथ मिल करके जीव रह रहा है। उनसे पृथक् कराने वाला यह उपयोग लक्षण ही है। चेतना अर्थात् संवेदन या अनुभूति है। जैसे-किसी व्यक्ति के हाथ-पैर बाँध दिए इससे वह इधर-उधर हिल नहीं सकता। मुख पर पट्टी बाँध दी, अब आवाज भी बन्द हो गई। आँखों पर पट्टी बाँध दी, पहचान भी बन्द हो गई। कान भी रुई डालकर बन्द कर दिये, सुनना भी बन्द हो गया। दरवाजा भी बन्द कर दिया लाइट भी बन्द कर दी। बाहर से कोई अन्दर आ नहीं सकता किन्तु अन्दर से उसे "मैं हूँ" इसका अनुभव चल रहा है, यही है चेतना लक्षण। पागल व्यक्ति भी "मैं हूँ" यह अनुभवता है। पागल भी अपना निर्णय लेने में स्वतंत्र है जो आगे चलता है, वह बड़ा माना जाता है। पागल कभी किसी के पीछे नहीं चलता उसके पीछे सब लोग चलते हैं। पागल बने बिना पागलपन का अनुभव नहीं हो सकता। चेतना गुण के कारण संवेदन करता रहता है। एकेन्द्रिय में भी चेतना व उपयोग है चाहे वह पृथ्वीकायिक हो, जलकायिक हो, अग्निकायिक हो, वायुकायिक हो या वनस्पतिकायिक हो। केवली भगवान् ने अनन्त एकेन्द्रिय जीवों को जान लिया है। जब प्रासुक करके जल पीते हैं तब तो उसमें एकेन्द्रिय जीव भी नहीं रहते किन्तु मात्र छना है तो त्रस जीवों से तो रहित हो गया पर एकेन्द्रिय को तो छाना नहीं जा सकता। प्रतिमा नहीं है तो ऐसे ही छानकर पी रहा है। वह कहता है-जल पी रहा हूँ, जलकायिक पी रहा हूँ, ऐसा नहीं कहता। प्रभु ने जो कहा है, उस पर उसकी आस्था है। अतः उसका सम्यक्त्व बना रहता है किन्तु सचित्त त्याग प्रतिमा है तो प्रासुक करके पीयेगा। प्रायः सचित्त कहते ही दृष्टि वनस्पति की ओर चली जाती है किन्तु ऐसा नहीं। अकृत्रिम चैत्यालयों में जो बिम्ब हैं उनमें भी जीवत्व है। कई लोग इसे नहीं मानते किन्तु ग्रन्थ में पृथ्वीकायिक की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण

बताई है जिसे आँख से भी नहीं देख सकते अर्थात् इतनी सूक्ष्म अवगाहना होते हुए भी उसमें जीवत्व रहता है। इसलिए खान से पत्थर निकालने मात्र से अचित्त नहीं हो जाता, उसमें भी संवेदनशीलता रहती है। हृदय की फड़कन पकड़ में न आए या हृदय की धड़कन रुक जाए तो एकदम यह घोषित नहीं किया जाता कि यह मृतक हो गया। निरीक्षण या परीक्षण की अपेक्षा मृत्यु हो चुकी है, ला-इलाज है, अघोषित मृत्यु है। छाती की धड़कन रुकने के बाद भी उसे मृतक घोषित नहीं करते, पर Hospital खाली कराने के लिए कह देते हैं कि अब हम चिकित्सा नहीं कर सकते। यदि भीतर से संवेदन टूट जाए तो वह मृतक ही है।

प्राण के प्रकार—शुद्ध व अशुद्ध जीव की अपेक्षा दो प्रकार के प्राण होते हैं। शुद्ध जीव दस प्राणों से रहित मात्र चेतना प्राण से युक्त होते हैं। पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण हैं। ज्यादा बोलने, ज्यादा सोचने से वचन और मन बल को क्षति पहुँचती है और रक्तस्राव आदि रोग होने पर काय बल घटता है। प्रमाद की भूमिका में आते ही आयु प्राण की उदीरणा प्रारम्भ हो जाती है। अप्रमत्त होते ही उदय तो रहेगा किन्तु उदीरणा होने वाले उन निषेकों से बच जाते हैं, इस प्रकार दस प्रकार के प्राणों से जिसका जीवन चल रहा है उसे जीव कहते हैं किन्तु सिद्ध होते ही दस प्राण नहीं रहते अतः "**सिद्धाः न जीवाः**" कह दिया। सिद्ध अजीव है ऐसा नहीं कहो क्योंकि चेतना प्राण है। व्यवहार प्राण से मुक्त हो गए किन्तु निश्चय प्राण से युक्त हैं।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से चेतना दो प्रकार की है। कर्म, कर्मफल ये दो अशुद्ध चेतना हैं। यह १४ वें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहती हैं किन्तु आजकल कुछ लोग चतुर्थ गुणस्थान में ही ज्ञानचेतना की परिकल्पना कर रहे हैं, सिद्धों जैसा सुख यहीं से शुरू करा रहे हैं जबकि श्री कुन्दकुन्दस्वामी इसी ग्रन्थ में आगे कहने वाले हैं कि १३वें गुणस्थान तक कर्मफलचेतना है और १४ वें गुणस्थान में भी औदयिक भाव का संवेदन होने से कथञ्चित् कर्मफलचेतना ही है। यद्यपि आस्रव नहीं होता किन्तु ध्यान का कार्य होता है और ध्यान क्रिया स्वाभाविक नहीं है अतः यहाँ तक ज्ञानचेतना नहीं है।

ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का आध्यात्मिक वर्णन—विकल्प से सहित ज्ञानोपयोग और निर्विकल्प दर्शनोपयोग होता है। जब यह दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग न रहने से ज्ञान का विषय नहीं बन सकता अतः किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं रहता। ज्ञानोपयोग में भी निर्विकल्प दशा आ सकती है तब ज्ञान भी दर्शनोपयोगवत् हो जाता है। निर्विकल्प समाधि या निर्विकल्प दर्शनोपयोग के लिए 'दर्शनीय' शब्द ठीक है क्योंकि इसे दृश्य कहते हैं किन्तु जो ज्ञान का विषय बनता है उसे दृश्य नहीं कहते। सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद और तीन मिथ्याज्ञान की अपेक्षा इस तरह ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं। क्षायिक केवलज्ञान निरावरण होने से शुद्ध है, शेष ज्ञान आवरण सहित होने से अशुद्ध हैं। दर्शनोपयोग चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवलदर्शन की अपेक्षा चार प्रकार का है। इसमें केवलदर्शन

क्षायिक व निरावरण होने से शुद्ध है, मिथ्यात्व के कारण तीन ज्ञान मिथ्या हो जाते हैं किन्तु मिथ्यात्व के कारण दर्शन मिथ्या नहीं होते, इसमें सम्यक् मिथ्या भेद नहीं है। यद्यपि दर्शनोपयोग का काल भी अन्तर्मुहूर्त है लेकिन ज्ञान के समान दर्शन में मिथ्या की कल्पना नहीं की गई। यहाँ अभेद दशा रहती है। विषय विषयी सन्निपात होने से जो स्थिति रहती है वह अन्तर्मुहूर्त तक ही रहती है। इसमें भेद रेखा नहीं खींच सकते और अनिर्णीत दशा रहती है। ज्ञान की परिणति में भी कभी-कभी अनिर्णीत दशा रहती है। दिन-रात के माध्यम से इसे जान सकते हैं। दिन का अर्थ ज्ञानोपयोग और रात का अर्थ दर्शनोपयोग किन्तु सन्धिकाल को क्या कहें? दिन या रात? संध्याकाल से साँझ बन गया उस समय कुछ दिखता तो है किन्तु निर्णयात्मक नहीं, उसे सन्धिकाल कहते हैं। ज्ञानोपयोग प्रारम्भ होने पर भी निर्णय दशा न होने तक उसे सन्धिकाल में ले लेते हैं, इसे दर्शनोपयोग नहीं कह सकते। दर्शनोपयोग तो अनिर्णीत दशा में ही रहता है किन्तु निर्णय के सम्मुख जो अवग्रहादि रूप उपयोग होता है उससे पूर्व व्यंजनावग्रह में सफेद का निर्णय भी नहीं हुआ था, उस दशा को न सम्यक् कह सकते हैं न असम्यक्। जैसे-अनिवृत्तिकरण में न ही सम्यक् है न ही मिथ्यात्व किन्तु सम्यक्त्व सम्मुख मिथ्यादृष्टि है।

इस प्रकार निर्णीत और अनिर्णीत के रूप में उपयोग को दो भागों में बाँट सकते हैं। अनिर्णीत दशा में दर्शनोपयोग और निर्णीत दशा के पूर्व में ज्ञानोपयोग के साथ चलने वाली अनिर्णय दशा फिर अवग्रहरूप ज्ञानोपयोग होता है, ऐसा हम कह सकते हैं। जहाँ किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं, वह दर्शनोपयोग है और सविकल्प दशा आने पर भी निर्णीत दशा न होने पर भी वह ज्ञानोपयोग ही है इसे दर्शन संज्ञा नहीं दे सकते, रात के अभाव और दिन के प्रारम्भ के बीच सन्धिकाल आता है। इसमें भी अन्तर्मुहूर्त काल लग जाता है, चाहे सम्यक्त्वदशा हो या मिथ्यात्वदशा हो किन्तु मिथ्यात्व का प्रभाव ज्ञान के ऊपर तो पड़ता है, दर्शन के ऊपर नहीं। यदि दर्शन पर भी प्रभाव पड़ता तो संशयादि होते। अतः स्पष्ट है कि इसका प्रभाव ज्ञान पर ही पड़ता है, दर्शन पर नहीं। (यह पहली बार नया विषय खुला है) जब तक आवरण है तब तक यह अशुद्ध है किन्तु अशुद्ध कहना और मिथ्या कहना इन दोनों में बहुत अन्तर है। क्षयोपशम दशा तक अशुद्ध व वैभाविक कह सकते हैं किन्तु मिथ्या नहीं कह सकते।

शंका—विभंगज्ञान होने से पूर्व में अवधिदर्शन होने में क्या बाधा है? जबकि अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम भी हो चुका है। इस क्षयोपशम के साथ अवधिदर्शनावरण का क्षयोपशम नहीं माने ऐसा भी नहीं। अकेले ज्ञानावरण का क्षयोपशम कहीं भी आगम में नहीं मिलता।

समाधान—गोम्मटसार कर्मकाण्ड में "**श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती**" जी कहते हैं कि तृतीय गुणस्थान में भी अवधिदर्शनावरण का क्षयोपशम रहता है, इससे यह ध्वनि निकलती है कि सम्यक्‌मिथ्यात्व जो सर्वघाति प्रकृति है उसका अवधिदर्शन पर कोई असर नहीं पड़ता। इस मिश्र प्रकृति के उदय से ज्ञान को तो मिश्र कह दिया किन्तु दर्शन को मिश्र नहीं बताया, यह भी एक चिन्तनीय विषय है। आचार्य परम्परा होने से हम यह निर्णयात्मक नहीं कह सकते कि यह ठीक है, यह ठीक

नहीं है। हाँ, यह चिन्तनीय अवश्य है।

विशेष चिंतन—नरक में कुअवधिज्ञान द्वारा सम्यग्दर्शन नहीं होता। जातिस्मरण, धर्मश्रवण, वेदना द्वारा सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के लिए भीतरी परिणति नियामक है। श्रुत केवलित्व के साथ क्षायिक सम्यग्दर्शन नियामक नहीं; क्योंकि जहाँ क्षायिक सम्यग्दर्शन है वहाँ क्षायिकज्ञान हो भी अथवा नहीं भी। क्षायिकज्ञान के साथ क्षायिकचारित्र नियामक है। १३वें गुणस्थान में भी क्षायिकचारित्र है चूँकि चारित्र का और विकास होना है क्योंकि मुक्त होने के लिए जिस चारित्र की आवश्यकता है वह आगे होना है। भजनीयता को दृष्टि में रखें, यह नियामक नहीं है। क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ दीर्घ संहनन की आवश्यकता है इसलिए यह नियम नहीं कि जो भी श्रुतकेवली हैं वे दीर्घ संहनन वाले ही हों। यदि द्वादशांग के पाठी हैं, लौकान्तिक बन रहे हैं वे क्षयोपशम वाले हैं कृतकृत्य वेदक हैं और लौकान्तिक हो गये तो वहाँ पर जाते ही वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं। इस अपेक्षा से क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ श्रुतकेवलित्व भजनीय नहीं रहा। क्षायिक चारित्र है तो क्षायिकज्ञान व दर्शन नियामक हैं। कर्मचेतना, कर्मफलचेतना दोनों अशुद्ध चेतना है। १४वें गुणस्थान के अन्तिम समय तक अशुद्ध चेतना-कर्म चेतना है। गुणस्थानातीत भाव का नाम शुद्धचेतना है।

उत्थानिका—पर्यायार्थिकनय से द्रव्य में उत्पत्ति व विनाश होता है, द्रव्यार्थिकनय से न उत्पन्न होता है न विनशता है–

मणुसत्तणेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा।
उभयत्थ जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो॥१७॥
सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसोत्ति पज्जाओ ॥१८॥

अन्वयार्थ—(देही) यह देहधारी संसारी जीव **(मणुसत्तणेण)** मनुष्यपने की पर्याय से **(णट्ठो)** नष्ट होता हुआ **(देवो)** देव **(वा)** अथवा **(इदरो)** दूसरा कोई **(हवेदि)** पैदा हो जाता है। **(उभयत्त)** दोनों ही अवस्थाओं में **(जीवभावो)** जीव द्रव्य **(ण णस्सदि)** न तो नाश होता है **(ण अण्णो जायदे)** न दूसरा कोई उत्पन्न होता है।

(सो चेव जादि) वही जीव उत्पन्न होता है और **(मरणं जादि)** मरण को प्राप्त होता है **(ण णट्ठो)** वास्तव में जीव न नष्ट हुआ **(ण चेव उप्पण्णो)** और न पैदा हुआ **(देवो मणुसोत्ति पज्जाओ)** देव या मनुष्य पर्याय ही **(उप्पण्णो य विणट्ठो)** उत्पन्न और नाश हुई है।

अर्थ—यह देहधारी संसारी जीव मनुष्य पर्याय से नष्ट होता हुआ देव अथवा अन्य पर्याय रूप होता है। उन दोनों ही अवस्थाओं में जीव द्रव्य न तो नष्ट होता है और न ही दूसरा कोई जीव उत्पन्न होता है। जो उत्पन्न होता है वही मरण को प्राप्त होता है। वास्तव में जीव न नष्ट हुआ और न पैदा

हुआ, देव या मनुष्य पर्याय ही उत्पन्न और नाश हुई है।

नर पर्याय विनष्ट हुई तो, सुर नर नारकी पशु हुआ।
बदल गईं पर्यायें लेकिन, जीव द्रव्य ना नष्ट हुआ॥
पर्यायों की उत्पत्ति में, जीव नहीं होता उत्पन्न।
पर्यायों के व्यय होने पर, नष्ट नहीं होता जीवत्व ॥१७॥
हो जाए उत्पन्न जीव तो, मरण दशा निश्चित होगी।
अतः जीव उत्पन्न न होता, और नहीं मृत्यु होगी॥
देव मनुज आदिक पर्यायों की ही उत्पत्ति होती।
और यही पर्यायें ही तो, व्यय होती देखी जातीं ॥१८॥

व्याख्यान—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय की अपेक्षा पर्यायें दो प्रकार की होती हैं। जो सूक्ष्म और वचनअगोचर है वह अर्थपर्याय है किन्तु व्यंजनपर्याय स्थूल है और वचन गोचर भी होती है। जीव की नर-नरकादि पर्याय विभावव्यंजन पर्याय है और सिद्ध पर्याय स्वभावव्यंजन पर्याय है। सुर-नर आदि जीव की बहुत सारी विभाव पर्यायें हैं। द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय की अपेक्षा पर्यायें दो प्रकार की होती हैं। द्रव्यपर्याय का एक उदाहरण-एक यान में कर्नाटक, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और विदेश के व्यक्ति बैठे हैं। एक सभा में अनेक लोग बैठे हैं अथवा एक वन में हजारों पेड़ हैं। यहाँ व्यक्ति या पेड़ की समानता अपेक्षा एक कहा जाता है।

अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत् प्रकृत्या।
आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो, गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः॥४४॥

द्रव्यपर्याय भी दो प्रकार की है-समानजातीय और असमानजातीय। पञ्चेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रिय समान जाति, मनुष्य-मनुष्य समान जाति, तिर्यञ्च-तिर्यञ्च समान जाति हैं। इसी प्रकार पुद्‍गल-पुद्‍गल समान जाति है। शरीररूप नोकर्म पुद्‍गल के साथ जीव, मनुष्य, देवादि पर्यायों का सम्बन्ध होने से असमान जाति द्रव्यपर्याय है। तेरहवीं पुस्तक में जीवस्पर्श और जीव बन्धस्पर्श कहा है। जिस क्षेत्र में सिद्ध के साथ निगोदिया आदि जीव हैं, उसे एक क्षेत्रावगाह होने से जीव स्पर्श कहा तथा जो निर्बन्ध हैं वह जीव बन्धस्पर्श में नहीं आते। जो बन्ध को प्राप्त होते हैं वही जीव बन्धस्पर्श में आते हैं। इसमें भी दो भेद हैं जैसे एक निगोदिया शरीर में एकसाथ अनन्तानन्त जीव रहते हैं मांसपिण्ड की तरह। इनमें पृथक्करण नहीं हो पाता, अतः इसे बन्धस्पर्श संज्ञा दी गई है। इस प्रकार अनेक द्रव्यात्मक होकर भी एकरूप जो द्रव्यपर्याय है वह केवल जीव और पुद्‍गल में ही सम्भव है क्योंकि ये दो द्रव्य ही अशुद्धता को प्राप्त होते हैं। इन्हें किसी रसायन से अलग नहीं किया जाता। संश्लेष सम्बन्ध वाले द्रव्यों को चलनी से छानकर अलग नहीं किया जा सकता। इन्हें बुद्धि से, लक्षण के माध्यम से अलग

किया जाता है। इस पद्धति को साधना कहते हैं। १२वें गुणस्थान के अन्त तक जीव के साथ जो अनन्त निगोदिया जीव थे, वे सब निष्कासित हो जाते हैं, यह द्वितीय शुक्लध्यान की महिमा है, कोई रसायन की नहीं। इस समय सामान्य औदारिक शरीर, परमौदारिक शरीर बन जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और कालद्रव्य की वजह से जीव और पुद्गल में कुछ भी घटित नहीं होता क्योंकि यह चारों शुद्ध द्रव्य ही घोषित किये गये हैं। ये कभी भी अशुद्ध नहीं हो सकते।

गुण पर्याय का विशेष वर्णन—अब गुणपर्याय का कथन करते हुए स्वभाव और विभावपर्याय की अपेक्षा दो भेद कहते हैं। अर्थ पर्याय में अगुरुलघु गुण की विवक्षा है इसलिए वह शुद्ध ही है। सभी द्रव्यों में सामान्य से जो पायी जाती है। गुणपर्याय भिन्न द्रव्यगत नहीं हो सकती क्योंकि गुण और द्रव्य का अस्तित्व एक है। जैसे–पीला आम कहने पर आम का पीलापन आम में ही रहेगा, अन्य में नहीं। ज्ञान मतिश्रुत ज्ञानादिक रूप परिणमन करता है अथवा मतिज्ञान ३३६ भेद रूप अथवा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप परिणमन करता है। विभाव रूप परिणमन करने की क्षमता केवल जीव और पुद्गल में ही है। जीव द्रव्य एक बार विभाव से ऊपर उठ गया तो पुनः विभाव परिणति को प्राप्त नहीं होता किन्तु शुद्ध परमाणु के रूप में परिणत होने के बाद भी पुद्गल पुनः विभाव रूप में आ सकता है क्योंकि निमित्त से विभाव की क्षमता व्यक्त हो सकती है। अन्यमती पुद्गल के समान जीव में भी ऐसा मानते हैं कि मुक्त होने के उपरान्त जीव पुनः संसार में आ सकता है। अगुरुलघुगुण के कारण चेतन–अचेतन सभी द्रव्यों में षड्गुण हानि वृद्धि होती है, यह स्वभावगुण पर्याय है।

जीव में संक्लेश और विशुद्धि के कारण गुणों में हानि–वृद्धि होती है। पुद्गलों में जो द्वयणुक आदि के स्कन्ध हैं इसमें वर्ण से वर्णान्तर, रस से रसान्तर होना यह विभाव अर्थपर्याय है, किन्तु स्वभाव अर्थपर्याय अगुरुलघु गुण के कारण षड्गुण हानि–वृद्धि रूप सभी द्रव्यों में होती है। कुछ लोग तत्समय की योग्यता वाली एक समयवर्ती अर्थपर्याय में कार्य–कारण व्यवस्था बताते हैं लेकिन यह कभी नहीं बन सकती, अन्तर्मुहूर्त पर्याय रहे तभी कारण के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। इन्होंने शुभोपयोग को शुद्धोपयोग का कारण न मान ले अतः ऐसा कह दिया अर्थात् एक भूत से बचने के लिए दूसरे भूत का सहारा ले लिया। एकान्त को मिटाने के लिए एकान्त का जो सहारा लेते हैं वहाँ कुछ समय के लिए तो अच्छा लगता है किन्तु उसमें हानि ही हानि है। तात्पर्य यही है कि जो शुद्ध जीवास्तिकाय है वही मात्र उपादेय है। जीव की त्रैकालिक सत्ता का वर्णन आचार्यों ने किया जिसे पढ़कर लगता है कि मैं पहले था, हूँ और आगे भी रहूँगा। ड्रेस अलग है। कभी आपने सोचा कि मैं अर्थात् आत्मा कभी भी नष्ट नहीं होती। जब मैं नष्ट नहीं होता तो फिर भय क्यों? यही गाढ़ श्रद्धान एक बार हो जाए तो सिद्ध हो जाए। जैसे–उबलता हुआ दूध भी १० मिनट में शांत हो जाता है उसमें वही पौष्टिकता, मधुरता है परन्तु उबलने के कारण पी नहीं पाते। गरम है इसलिए स्वाद नहीं ले पाते।

मोह सहित ज्ञान उबलते हुए दूध की तरह है उसी को पी रहे हैं इसलिए सही स्वाद नहीं आ रहा है। यही आत्मा की बात है।

पर्याय का ही उत्पाद और व्यय—जो व्यय होता है वही उत्पन्न नहीं होता, पर्यायार्थिक नयापेक्षा देव पर्याय को पाता है तो मनुष्य पर्याय को छोड़ता है। यहाँ छोड़ने का कार्य मनुष्य पर्याय की अपेक्षा और पाने का कार्य देव पर्याय की अपेक्षा से है। देव पर्याय की उत्पत्ति हो रही है, मनुष्य मर रहा है, इस सत्य को कभी नकार नहीं सकते। जो हो रहा है वही दिख रहा है और जो दिख रहा है वही हो रहा है। जिसकी ओर दृष्टि रहती है वही दिखता है, दूसरा पक्ष गौण हो जाता है, इस पद्धति से ही सही तत्त्व का निर्णय होता है। एकान्त एक नय से जानने से सही ज्ञान नहीं होगा। अपने ही दुख के बारे में सोचेंगे तो घबरा जायेंगे, दूसरों के भी दुख को देखो तो दुख अपने आप दूर हो जायेंगे। मानलो किसी का मरण हो गया और उसके वियोग में पर्याय में मूढ़ होकर कोई रो रहा है तब उसे समझाते हैं कि तुम बड़े होकर रोने लग गए तो छोटे बच्चों का क्या होगा? आना-जाना तो दुनिया की रीति है, व्यवहार है। निश्चय को न निहारकर केवल व्यवहार को ही देखोगे तो भटक जाओगे और व्यवहार की ओर न देखकर केवल निश्चय की ओर देखोगे तो भी सत्पथ पकड़ नहीं पाओगे। अतः यही स्वीकारें कि द्रव्यार्थिकनय से न नष्ट होता है न उत्पन्न। पर्यायार्थिकनय से उत्पन्न और नष्ट होता है। पर्यायार्थिकनय से देव पर्याय का उत्पाद भी हो रहा है और मनुष्य पर्याय का विनाश भी, फिर नियत तत्त्व कैसे रहा? यह परस्पर विरोध-सा लगता है कि वही मर रहा है वही उत्पन्न हो रहा है। शीत भी वहीं है उष्ण भी वहीं है, दिन भी है रात भी है, चित्त भी है पट्ट भी है। जिसके मत में एकान्त से वस्तु मिटती ही रहती है या जिसके मत में मिटती ही नहीं है उनके लिए यह कहा जा रहा है। एकान्त से जो जीव का ही मरण मानते हैं, मरण के बाद कुछ नहीं मानते तो ऐसी मुक्ति किस काम की? जीवत्व रहे तो 'मुक्ति' काम की। यह मुक्त शब्द ही बता रहा है कि मुक्ति में जीव है अब संसार में नहीं है। मुक्त भी एक अवस्था है जहाँ अनन्तकाल तक वहीं रहता है। जो मरण करता है वह पुनः जन्म लेता है ऐसा नहीं, जो मृत्युञ्जयी है उसके न जन्म है न मरण।

पर्याय दृष्टि न रखने की शिक्षा—द्रव्यापेक्षा नित्यत्व है, पर्यायापेक्षा क्षणिकत्व है इसीलिए पर्याय की ओर मत देखो। बार-बार पर्याय की ओर दृष्टि जा रही है इसीलिए तो यह बात कही जा रही है। दिन-रात भी तो बार-बार आ रहे हैं। भोजन करना, सोना, जीना, मरना भी बार-बार हो रहा है। एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करता है उसे बोरियत तो होती होगी? जीने-मरने में ही वह इतना व्यस्त है कि यह सोचने का भी वक्त नहीं है कि जी रहा है या मर रहा है। पर्यायदृष्टि होने से जीवों को ऐसा भासित होता है जैसे कि पहली बार ही जन्मा है। दादा, परदादा भी प्रशंसा करते हैं, स्वागत करते हैं, उनके सामने कई आये और चले गये किन्तु बार-बार जैसा नहीं लगता। जैसे-किसी को पीलिया रोग हो जाता है तो उसे सब पीला ही पीला दिखता है। आँखों ने पीला रंग पी लिया तो चन्द्रमा

भी पीला दिखता है तभी तो उसे हल्दी नहीं खिलाते। जब ठीक होगा तभी सफेद दिखेगा, मोहनीय कर्म के जोर से ऐसा ही होता है। कभी-कभी जानते हुए भी ज्ञान लुप्त हो जाता है। **सर्वार्थसिद्धि** ग्रन्थ में लिखा है कि पित्त प्रकुपित होने से जीव बड़बड़ाने लगता है उसमें बुखार आ जाए तो और क्या कहना? उसमें भी प्रतिकूलता मिल जाए तो दिमाग खराब हो जाता है। गर्मी बढ़ जाती है तब शब्दों में भी गर्मी बढ़ जाती है। जैसा सोचते हैं उसका भी प्रभाव अवश्य पड़ता है। कर्मों के प्रभाव की कोई परिभाषा नहीं बना सकता।

जिस व्यक्ति का त्रिस्थानीय, चतुःस्थानीय उदय चल रहा हो तो उसे कुछ भी समझ में नहीं आयेगा। माता पिता भी घर में कहते हैं–भैय्या अभी पारा गरम है हम नहीं समझा सकते हैं। रावण तो नीतिज्ञ था। मन्दोदरी, मंत्री, विभीषण आदि सब समझाकर हार गये क्योंकि उस समय रावण का त्रिस्थानीय या चतुःस्थानीय का उदय चल रहा था इसलिए असर नहीं पड़ा। जैसे– जामन डालने से दूध जमता है यदि दूध उबल रहा हो तो नहीं जमता फट जाता है। कर्म भी भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले होते हैं-किसी को बात जल्दी समझ में आती है तो किसी को समझ में आती ही नहीं है। समवसरण में तीर्थंकर का उपदेश मिथ्यादृष्टि को समझ में नहीं आता है। कर्मों के अनुभाग के आगे कुछ भी नहीं चल सकता। दवाई अच्छी है किन्तु रोगी अच्छा नहीं है उसमें दवाई को पचाने की क्षमता ही नहीं है तो फिर दवाई किस काम की? जितनी मात्रा उसे देना है उतनी वह ले नहीं सकता, वमन कर देता है तो उसे शुगर कोटेड कर देते हैं फिर वमन नहीं होता। इसी प्रकार समवसरण कब मिले? यह कहता है किन्तु जब मिला तो कर्म के तीव्रोदय में बाहर ही देखने में रह जाता है। अधर्म की कथा तो बहुत कर लेता है, धर्म की कथा मुश्किल से होती है। नरकों में भी उपदेश देना तब सार्थक है जब उसे समझ में आ जाए, तभी समझाने वाला पास होगा अन्यथा दवाई, डॉक्टर, वैद्य बदनाम हो जाते हैं कि कैसा अनपढ़ डॉक्टर है, पेट दर्द ही ठीक नहीं कर पाया।

पर्यायगत, क्षेत्रगत, द्रव्यगत विशेषता का कथन—बात स्पष्ट है कि जब सुनने की योग्यता आ जाती है तब कहीं सुनाने वाला यश पाता है। कर्म के मन्दोदय में कुछ राहत मिलती है तब अच्छा लगता है, अन्यथा नहीं। यही तो पर्यायगत विशेषता है, द्रव्यगत नहीं। क्षेत्रगत भी विशेषता होती है जैसे-म्लेच्छखण्ड का जन्मा है तो वहीं पर वह सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता, जबकि सातवें नरक में सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है अर्थात् म्लेच्छखण्ड वाला नारकी से भी गया बीता है। सातवें नरक में छह अन्तर्मुहूर्त छोड़कर ३३ सागर तक सम्यग्दर्शन के साथ रह सकता है। जबकि नरक में किसी ने उपदेश भी नहीं सुनाया, पर म्लेच्छखण्ड में उपदेश देने पर भी प्राप्त नहीं होगा। लेकिन वहाँ से यहाँ आकर उपचार करने पर सम्भव है। जैसे-किसी के हाथ पैर ठण्डे पड़ गए पर वह अभी जीवित है सौंठ घिसो, गर्मी लाओ या हेमगर्भ नामक औषधि जो हीराभस्म, मोतीपिष्टी, प्रवालपिष्टी, सोना, चाँदी मिलाकर बनाई जाती है, उसके द्वारा उपचार करने पर जो बोल नहीं पा रहा हो वह बोल जायेगा

लेकिन इसकी फाँकी नहीं लेना है, दूध की कटोरी में इसकी गोली को ४-५ सेकेण्ड रखकर गोली को अलग कर दो फिर उस दूध को पिलाते ही बोलने लग जायेगा लेकिन यह ध्यान रखना कि उस रोगी की भी योग्यता होना चाहिए तभी हेमगर्भ दवा काम करती है। जिनवाणी भी त्रिस्थानीय, चतु:स्थानीय उदय में काम नहीं करती, यही तो क्षेत्र, काल और पर्यायगत विशेषता है।

सर्वथा एकान्त कथन से वस्तु स्वरूप की सम्यक् समझ नहीं—निमित्त मिलने पर कर्मोदय समझ में आता है। कर्मों के थपेड़े में मित्र-शत्रु और शत्रु-मित्र हो जाते हैं। जो एकान्त से द्रव्य को नित्य या अनित्य मानते हैं वे वस्तु स्वरूप को सही समझ नहीं पाते हैं। जैसे—गर्म तवा पर जल की बूँद छिड़कने पर छन्न की आवाज आती है और जल की बूँद वाष्प बन जाती है। पहले कपड़े पर प्रेस करने वाले भी जल की बूँद कपड़े पर डालकर देख लेते थे ताकि कपड़ा जल न जाए। उसी प्रकार किसी की तीव्र कषाय हो तो उसे कुछ भी खिलाओ, तत्त्व नहीं बनता, जल जाता है। रावण को भी तीव्र कषाय में कुछ समझ में नहीं आया। जिनमत में एकान्त स्वभाव वाला पदार्थ नहीं है, वस्तु अनेकान्त स्वभावी ही है। पर्याय की अपेक्षा जन्म-मरण है, द्रव्य की अपेक्षा नहीं। लोग कहते हैं-जन्मदिन है अच्छा आशीर्वाद दे दो, जीवन अच्छे से पार हो जाए। तो क्या अभी तक इतने वर्ष हमारे आशीर्वाद से पार किए हैं या आयु थी इसलिए पार किये हैं? आशीर्वाद से आयु न घट सकती है न बढ़ सकती है, यह एकान्त पक्ष नहीं, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। आयु प्रतिसमय घट रही है। एक समय ऐसा भी आयेगा ''मरते न बचावे कोई'' इस सिद्धान्त को याद रखो, यह सिद्धान्त क्षायिक सम्यक्त्व के समान है, टस से मस नहीं होता। हाँ, कर्मोदय में क्षायिक सम्यग्दृष्टि को पीड़ा चिन्तन आदि हो सकते हैं किन्तु यह मेरा ही कर्मोदय है, किसी दूसरे ने दुख नहीं दिया है, ऐसा विचारता है। चारित्र मोहोदय से दुख सहने की इतनी शक्ति न होने पर भी धारणा पक्की है, श्रद्धा दृढ़ है, पाप-पुण्योदय में मेरे ही भाव कारण हैं। मैं टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी हूँ, यह जानते हुए भी संहनन के अनुसार ही सहन होता है।

द्रव्य और पर्याय की सापेक्षता का कथन—द्रव्य और पर्याय परस्पर सापेक्ष हैं इसलिए द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय भी एक दूसरे से सापेक्ष हैं। व्याख्यान अपेक्षा गौण मुख्य भले ही हो जाए, अत: द्रव्य नित्य भी है और अनित्य भी है। निश्चय से तुम्हारा कर्त्ता तुम्हारा द्रव्य ही है, अन्य द्रव्य नहीं हो सकता। द्रव्य अपने में स्वयं ही पर्याय उत्पन्न कर रहा है कोई अन्य नहीं, ऐसा सोचने से दृढ़ता आती है। उपसर्गों में भी अडिग बना रहता है, विप्लव से प्रभावित नहीं होता **''न चचाल योगत:''** भयंकर उपसर्ग को समता से सह लिया। पार्श्वनाथ भगवान् के भक्त कहलाने वालों सोचो! मक्खी भी तुम्हारे ऊपर बैठ जाए तो विचलित हो जाते हो, मच्छर आकर संगीत सुनाने लग जाए तो चलायमान हो जाते हो, मक्खी अन्यत्र आकर बैठ जाए तो ऐसा लगता है जैसे कान में पहुँच रही है हाथ उठ जाता है और हाथ के पहले मन उठ जाता है। सुषुप्तावस्था में भी यदि कोई जीव कहीं काटे तो हाथ वहीं चला जाता है, फिर तो वह सोते हुए भी सोता नहीं। यही परिग्रह संज्ञा है। नींद में

भी देह से इतनी आसक्ति है तो जागृत दशा में क्या होता होगा?

दृष्टान्त—मान लीजिए एक बड़ा-सा बिच्छू जाँघ पर आ गया छोटी सी पूँछ उठाकर डंक डाल देता है। अब तो पैर भी हिला नहीं पाते, कितना भी चिल्लाओ? बिच्छू तो कुछ सुनता ही नहीं। काले की अपेक्षा लाल बिच्छू ज्यादा तेज होता है, छोटा भी हो तो भी बड़ों-बड़ों को हिला देता है। धारणा से भी ऐसा होता है कि साँप का नाम सुनते ही नींद भंग हो जाती है लेकिन महावीर भगवान् जब बाल अवस्था में थे तब भी निडर थे। बच्चों के साथ खेल रहे थे। वहीं भयानक साँप को देखकर सारे बच्चे भाग गए किन्तु वर्द्धमान उसके फण पर पैर रखते समय भी तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर रहे थे क्योंकि पैर वैर से नहीं रखा था, लाड़ प्यार से रखा था। जैसे-लाड़ प्यार से बच्चों के गाल खींचने पर बच्चे खुश ही होते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीवों का प्रभाव क्या—विपाकविचय धर्म्यध्यान करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव के भावों का प्रभाव सामने वाले के ऊपर भी पड़ता है। महापुरुषों के सान्निध्य से वैर भूल जाते हैं। द्रव्यार्थिकनय से द्रव्यदृष्टि रखने से सर्प भी गौण हो जायेगा चूँकि वह भी पर्याय है, फूलमाला जैसा लगता है यद्यपि वह माला भी एकेन्द्रिय जीवों से गूँथी है उसमें भी जीव रहते हैं अतः साधु उसे छूते नहीं क्योंकि उसमें अनेक जीव हैं, वे स्पर्श के कारण मर न जाएँ, ऐसा विवेक रखते हैं और भेदज्ञान पूर्वक साधना करते हैं।

उत्थानिका—द्रव्य के स्वाभाविक ध्रौव्य भाव से सत् का नाश नहीं, असत् का उत्पाद नहीं, ऐसा कहते हैं-

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो।
तावदियो जीवाणं देवो मणुसोत्ति गदिणामो ॥१९॥

अन्वयार्थ—**(एवं)** इस तरह जैसा पहले कह चुके हैं **(सदो जीवस्स)** सत् पदार्थ जीव का **(विणासो)** नाश और **(असदो)** असत् पदार्थ जीव का **(उप्पादो)** जन्म **(णत्थि)** नहीं होता है। **(जीवाणं)** संसारी जीवों की **(तावदिओ)** जो इतने प्रमाण स्थिति है वह **(देवो मणुसोत्ति गदिणामो)** उनके देव या मनुष्यगति नामकर्म के उदय का विपाक है।

अर्थ—इस प्रकार जीव के सत् का विनाश और असत् का उत्पाद नहीं है और देव, मनुष्य इत्यादि कथन गति नामकर्म से उत्पन्न हुआ कर्मजनित भाव है।

जीव द्रव्य जो सत् है उसका, नाश कभी ना हो सकता।
असत् रहा जिसकी ना सत्ता, वह उत्पन्न न हो सकता॥
फिर भी मनुज मरा सुर जन्मा, यह कहने में आता है।
क्योंकि इस गति नामकर्म का, उदय तभी तक चलता है॥१९॥

व्याख्यान—द्रव्यार्थिकनय से सत् का विनाश नहीं और असत् का उत्पाद नहीं किन्तु गति नामकर्म के उदय से जीवों में यह विभाजन हो जाता है। भिन्न-भिन्न नामकर्म के उदय से अनेक जीव एक जीवत्व को प्राप्त हुए हैं, यह द्रव्यार्थिकनय है और एकत्व में अनेकत्व स्थापित करने वाला पर्यायार्थिकनय है। यह मनुष्य आ गया ऐसा कहा जाता है, यह वर्गीकरण की पद्धति, अखण्ड में खण्डित करने की प्रकृति पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से है। आचार्य कहते हैं कि कर्म विपाक को भूलकर दृष्टि को भेद से अभेद में लाओ।

गति नामकर्म से जीवों में भिन्नता—कण्डे की अग्नि, बबूल की अग्नि, नीम की अग्नि, तिनके-कागज-कोयले की अग्नि यह सारी अग्नि की अपेक्षा एक ही है लेकिन ऊपर के भेदों की अपेक्षा भेद रूप है। जैसे-पंखा दिखता है, प्रकाश दिखता है पर करंट नहीं। करंट को देखने के लिए कोई वस्तु का माध्यम चाहिए। करंट के उदाहरण से जीव को समझें। पर्याय तात्कालिक है और द्रव्य त्रैकालिक है। तात्कालिक को भी त्रैकालिक के साथ लेकर चलो। करंट की पहचान वस्तुओं से होती है और जीव की पहचान मनुष्य आदि पर्यायों से। पंखा, लाइट आदि में करंट समझ में नहीं आया तो करंट की परिभाषा भी समझ में नहीं आयेगी। जब अर्थिंग के तार को पकड़ने पर करंट लगेगा तो समझ में आ जायेगा। विवेकी लोग लकड़ी से छूते हैं तो करंट नहीं लगता। इसी प्रकार **वैरागी के पास भेदज्ञान की लकड़ी होने से परद्रव्यों से राग भाव रूप झटका नहीं लगता।** लोहा रखने से करंट से नहीं बच सकते किन्तु ताँबे की छड़ रूप जो तडित चालक है उससे बिजली से बचाव हो जाता है। जिसके पास तडित चालक रूप द्रव्यदृष्टि है वह पर्याय रूप नाम प्रकृति को नहीं पकड़ता, जीव को पकड़ता है। फिर जीव अन्य जीव से राग-द्वेष से दूर हो जाता है और जीव का स्वभाव समझकर वैरागी हो जाता है। धन्य हैं वे जीव जो जिनवाणी को अपने जीवन में उतारकर कृतकृत्य हो गये। कर्मों का फल क्वान्टिटी, क्वालिटी, ऐज, नेचर, स्थिति, अनुभाग, प्रकृति, प्रदेश के अनुसार मिलता है। विशुद्ध परिणाम अनन्त हैं, उसी प्रकार संक्लेश परिणाम भी अनन्त हैं। वर्तमान का अध्यात्म कर्मफल पर आधारित है। १४ वें गुणस्थान तक कर्मों का फल मिलता है। असिद्धत्व भाव का अनुभव १४ वें गुणस्थान के अन्तिम समय तक चलता है वह औदयिक भाव है। असिद्धत्व की अनुभूति शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं है। हाँ, श्रद्धान के बल पर जागृति बढ़ती जाती है। स्वभाव का चिंतन करते हुए यात्रा कर लो छालों के ऊपर ध्यान मत दो, तो एक दिन असिद्धत्व का अभाव हो जायेगा।

दुख का कारण क्या—नामकर्म के कारण ही जीव दुख पा रहा है। अरहंत परमेष्ठी की मूर्तियाँ भी बिना नाम के विराजमान नहीं की जाती, ये जंगम कहलाती हैं। लोग सिद्धों की पूजा कम करते हैं क्योंकि उनका कोई नाम नहीं है। अजंगम हैं, स्थायी हैं। नामकर्म के बिना कोई पहचान नहीं है। कुम्भकार की भाँति एक ही मिट्टी के अनेक पात्र बनाने के समान नामकर्म भी नानारूप बनाता है। तरह-तरह के मिट्टी के पात्रों की ओर आकृष्ट होकर लोग खरीद लेते हैं। नामकर्म के कारण देव, मनुष्य

आदि पहचान में आते हैं, जिसे गति कहते हैं। यह सब पर्यायों का खेल है। देव और नारकी ३३ सागर तक रह सकते हैं यह सब गति नामकर्म की अपेक्षा से है। अपमानित होना, पुरस्कृत होना भी नामकर्म के उदय से है। नामकर्म के उदय से रखे गये चक्रवर्ती नाम से अभिमान करता है। नामकर्म के उदय के बिना किसी का नाम भी नहीं रखा जा सकता। यदि नामकर्म ही मिटा दें तो परिचय ही समाप्त हो जायेगा। ''**नमयति आत्मानं इति नामकर्मः**''(श्री धवल) जो आत्मा को झुका दे वह नामकर्म है। नाम चाहते हो तो झुको, वोट (मतदान) चाहते हो तो हाथ जोड़ो। वोट का महत्त्व है या उम्मीदवार का? वोट की ही कीमत है तभी तो वोटर के सामने झुकते हैं। नामकर्म के कारण ही १४ वें गुणस्थान तक झुकते हैं। अयोगी होकर भी ध्यान कर रहे हैं। साधक हैं, आराध्य नहीं हुए हैं। जीव द्रव्य के पास न ही एज है, न ही इमेज है, उम्र शरीर की है। इमेज अर्थात् मूर्ति (बिम्ब)भी नामकर्म के बिना नहीं। **एज और इमेज को मिटा दो तो संसार का तट मिल जायेगा** यानि आयु को बढ़ाना चाहते हो तो संसार का किनारा नहीं मिलेगा क्योंकि संसार की जो आयु है वह इसी पर निर्भर है। संसार का किनारा का अर्थ आयु का अन्त है। शरीर नामकर्म के उदय के साथ ही उसका जुड़ाव होता है। १४ वें गुणस्थान में एक आयु प्राण ही शेष रह जाता है, उसे काटे बिना शुद्ध नहीं हो सकता। जीव की कोई उम्र नहीं होती। उम्र के कारण भेद हो गया, देव की उम्र समाप्त हो गई मनुष्य की प्रारम्भ हो गई। सारी कल्पना उम्र व शरीर के साथ चल रही है।

निजात्म द्रव्य की पहचान से ही परद्रव्यों के प्रति आकर्षण का अभाव—पुद्‌गल को पहचानने में स्पर्श, रस, गन्धादि साधन हैं। जब तक निजात्म द्रव्य की पहचान नहीं होगी तब तक परद्रव्यों के प्रति आकर्षण नहीं छूटेगा, ओरिजनल पुद्‌गल (परमाणु) को देखे बिना अज्ञानी पुद्‌गल की पर्यायों से आकृष्ट हो रहा है। परमाणु को इन्द्रिय का विषय नहीं बना सकते, सूँघ नहीं सकते, देख नहीं सकते क्योंकि वह शुद्ध द्रव्य है। शुद्ध दृष्टि से राग-द्वेष नहीं होते। अरहंत परमेष्ठी को देखने से कथञ्चित् राग हो सकता है किन्तु सिद्धपरमेष्ठी तो देखने में ही नहीं आते। अकृत्रिम चैत्यालय में चिह्न रहित प्रतिमा होती हैं, उनका कोई चिह्न नहीं, जबकि सबसे पहले चिह्न देखने की और प्रशस्ति पढ़ने की आदत रहती है बाद में भगवान् को देखते हैं। इसमें भी अपने दादा, बाबा का नाम आ गया तो यह मन्दिर हमारा है यह भाव आ जाता है। वीतरागता की ओर दृष्टि न जाकर छत्र, भामण्डल आदि देखते रहते हैं। अनन्तचतुष्टय रूप गुणों की आराधना करना सीख लें तो बाहर की प्रवृत्ति निश्चित कम हो जायेगी।

दृष्टान्त—एक बहुत बड़े बाँस या गन्ने में १५-२० पर्व होते हैं। गन्ने की अपेक्षा अखण्ड होते हुए भी पर्व की अपेक्षा भेद है। एक पर्व में जो रस है वह दूसरे में नहीं, जो दूसरे में है वह तीसरे में नहीं, पर्व की अपेक्षा खण्ड हैं, गन्ने की अपेक्षा अखण्ड है। उसी प्रकार अखण्डता की अपेक्षा जीवत्व का त्रैकालिक नाश नहीं होता। जैसे एक पोर का दूसरे पोर में अभाव है वैसे ही एक पर्याय का दूसरे

पर्याय में अभाव है। बाँस जैसे लम्बा है वैसे ही जीव असंख्यातप्रदेशी है किन्तु पर्यायें भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न होती रहती हैं। आयु के अनुसार गति होती है और गति के अनुसार आकार प्रकार होता है। आयु पूर्ण होते ही वहाँ से निकलना पड़ेगा, वह सुबह भी हो सकती है, दोपहर भी या शाम भी हो सकती है। जाने के लिए आना-कानी नहीं कर सकते हैं। उतने काल तक उस पर्याय में दूसरी पर्याय का अभाव पाया जाता है किन्तु जीवत्व की अपेक्षा ज्यों का त्यों बना रहता है। जैसे-एक व्यक्ति एक ही संस्था में ४० वर्ष तक कार्य करता है उसी में स्थान, वेतन सब बदलता रहता है पर संस्था वही है।

वस्तु तत्त्व में गौण और मुख्यता की विवक्षा—एक ही द्रव्य में नित्य-अनित्य कैसे घटित हो जाता है? जैसे-एक व्यक्ति पुत्र की अपेक्षा पिता है, पिता की अपेक्षा पुत्र है इसी प्रकार यहाँ भी मुख्य और गौण विवक्षा है। इस विवक्षा को समझने से कोई उलझन नहीं होगी। नाना के यहाँ लड़का जाता है तो माँ का कहलाता है। दादा के यहाँ रहता है तो पिता के नाम से पहचाना जाता है। मातृपक्ष की अपेक्षा जाति और पितृपक्ष की अपेक्षा कुल होता है। अब दोनों को छोड़कर तीसरे गाँव गया तो गाँव की विवक्षा रहेगी। स्कूल गया तो माता-पिता सब गौण होकर कक्षा के अनुसार चलेगा। इस प्रकार द्रव्य क्षेत्रादि के अनुसार भेद-प्रभेद होते जाते हैं और प्रसंगानुसार गौण-मुख्यता करके व्यवहार चलाते हैं। यदि गौण-मुख्यता से वस्तु तत्त्व को समझ लें तो बहुत सारे संघर्ष टल जाएँ। जो इस रहस्य को नहीं जानता उसे भी समय निकालकर समझाने का प्रयास करना चाहिए तभी यह परम्परा चलेगी, उलझे प्राणियों को सुलझाने के लिए समय निकालना पड़ता है।

श्री समन्तभद्रस्वामी श्रेयांसनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं-**''विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणो विवक्षो न निरात्मकस्ते''** निरात्मक अर्थात् उसका अभाव नहीं किया जाता किन्तु उसका प्रसंग (मुख्य) नहीं है इतना ही जानना। चार बच्चों की क्रम से शादी होने पर जिसकी शादी है उसी के बढ़ा चढ़ाकर गुण गाये जाते हैं, उसी की आवभगत की जाती है, इसे कहते हैं मुख्य और गौण। सांसारिक कार्यों में मुख्य-गौण करके काम निकाल लेते हैं किन्तु धार्मिक कार्य में सभी मुख्य हैं, धर्म बहुत दुर्लभ है।

अविनश्वर ज्ञान गुण का कथन—पर्याय की अपेक्षा अनित्य होते हुए भी द्रव्यापेक्षा कभी नष्ट नहीं होता, ज्ञानादि रूप बना ही रहता है। पहले भी जानते थे, आज भी जानते हैं और आगे भी अनन्तकाल तक जानेंगे, यह जानन कार्य कभी नहीं मिटेगा। इस अविनश्वर गुण का विश्वास होने से कोई छोटा या बड़ा नहीं रहेगा, सब समान लगेंगे। जब बालक का जन्म हुआ तभी नाना-नानी, दादा-दादी, माता-पिता, भाई-बहिन का जन्म हुआ क्योंकि उसी से यह सारे रिश्ते जुड़े हैं। एक नाती के जन्म से कितने रिश्ते-नाते सिद्ध हो गए? सारे कुटुम्ब में उत्सव होने लग जाते हैं इसीलिए द्रव्य अपेक्षा कोई छोटा-बड़ा नहीं, सब एक रूप हैं। ज्ञान की धारा व चेतना की अनुभूति सदा काल बनी

रहती है। जो इस धारा को जानता है उसकी कषाय समाप्त हो जाती है। अभी कषाय का उद्रेक है अर्थात् दृष्टि में अविनाशी तत्त्व नहीं है। कषाय पर्यायगत दृष्टि है। पर्यायदृष्टि के कारण दुख का भोक्ता है। दादा अपने को पोते से बड़ा पर्याय के कारण ही मानते हैं। शाश्वत तत्त्व समझ में आ जाए तो कषाय मत करो, यह कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। आवरण कर्म के कारण क्षयोपशम घटता बढ़ता रहता है, इसमें क्या हर्ष-विषाद करना? अविनाशी जो ज्ञान है वह कहीं नहीं जा सकता, ऐसा विश्वास करके शुद्ध आत्मतत्त्व पर ही दृष्टि टिका देना चाहिए।

दृष्टान्त—गंदे वस्त्र को तब तक धोते हैं जब तक उसमें से गन्दापन निकलता रहता है। यदि धोने से भी कपड़े में सफेदी न आवे तो साबुन ठीक नहीं है या पानी गन्दा है, दूसरा साबुन पानी लाकर धोना प्रारम्भ कर देते हैं। मल पूरा साफ होने पर वस्त्र उजला हो जाता है इसी प्रकार जीवात्मा पर कर्म मल चढ़ा है, उसे जैसे भगवान् ने छोड़ा वैसे हमें भी छोड़ना होगा, मात्र जैन कुल में जन्म लेने से जिन नहीं बनोगे। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का अर्थ शक्ति है। शक्ति अपेक्षा शुद्ध है लेकिन शुद्ध स्वभाव दिखता नहीं है क्योंकि रग-रग में मैलापन प्रवेश कर चुका है इसलिए पर्यायार्थिकनय से अभी असिद्ध है। सिद्धपर्याय का उत्पाद करना होगा। यदि पहले से ही सिद्ध है तो साधना क्यों? पहले से ही पत्थर में मूर्ति है तो शिल्पी की आवश्यकता ही क्या और यदि मूर्ति नहीं है तो भी गढ़कर कैसे निकालोगे? मूर्ति शक्ति रूप है यह स्वीकारना होगा, तभी तो छैनी हथौड़े के माध्यम से शिल्पी उभार लेता है। एक बार मूर्ति बन जाती है तो दुबारा मूर्ति में से मूर्ति कोई नहीं बना सकता। हाँ, उसी मूर्ति के हाथ-पैर नाक अंगुली आदि को सुधारा जा सकता है। उसी प्रकार आत्मद्रव्य में सिद्ध बनने की शक्ति है लेकिन पर्यायार्थिकनय से मनुष्य पर्याय नष्ट हुई और सिद्ध पर्याय की उत्पत्ति हो गई किन्तु जीवत्व की अपेक्षा न कोई उत्पन्न हुआ, न कोई नष्ट, दोनों पर्यायों में जीवत्व ज्यों का त्यों कायम रहता है यही आगे की गाथा में बताया जा रहा है।

उत्थानिका—परस्पर सापेक्षनय से पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिकनय दोनों साथ चलते हैं इसी अनेकान्त का प्रतिपादन करते हुए आचार्य कहते हैं कि द्रव्यकर्म से रागादि भावकर्म होते हैं और इनके त्याग से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है-

णाणावरणादीया भावा जीवेण सुट्ठु अणुबद्धा।
तेसिमभावं किच्चा अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो ॥२०॥

अन्वयार्थ—(जीवेण) जीव के द्वारा **(णाणावरणादीया)** ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार **(भावा)** कर्म की अवस्थाएँ **(सुट्ठु)** गाढ़ रूप से **(अणुबद्धा)** बाँधी हुई हैं **(तेसिं)** उनका **(अभावं किच्चा)** नाश करके **(अभूदपुव्वो)** अभूतपूर्व अर्थात् जो पहले कभी नहीं हुआ ऐसा **(सिद्धो)** सिद्ध **(हवदि)** हो जाता है।

अर्थ–ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप जो पर्यायें हैं वे संसारी जीव को भली भाँति बाँधे हुए हैं। उन कर्मों का मूलसत्ता से नाश करके जो अनादिकाल से लेकर किसी काल में भी नहीं हुआ था ऐसा अभूतपूर्व सिद्धपरमेष्ठी पद प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानावरणादिक कर्मों का, यदपि अचेतन रूप रहा।
राग भाव से किन्तु जीव के, प्रदेश से सम्बन्ध हुआ॥
सम्यक् पुरुषारथ के द्वारा, सब कर्मों का नाश किया।
अभूतपूर्व अवस्था पाकर, सिद्धालय में वास किया ॥२०॥

व्याख्यान–सारे विश्व में ऐसा कोई रसायन नहीं जो आठ कर्मों को आत्मा से छानकर अलग कर दे। कर्म जीव से ऐसे गाढ़ अनुबन्ध को प्राप्त कर चुके हैं कि इन्हें पृथक् नहीं कर सकते। मात्र अध्यात्म में एक वीतराग भाव रूप रसायन है जिसके माध्यम से अलग किया जा सकता है। जैसे– पारा भारी और सफेद होता है, छर्रे के रूप में रहता है उसमें से कुछ कण निकल जाए तो वह भी अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं। यदि उसे तर्जनी और अंगूठे के माध्यम से पकड़ना चाहोगे तो पकड़ नहीं पाओगे, ताकतवर भी पकड़ नहीं पायेगा। हाँ, गोबर वगैरह उस पर डाल दो तो उसके पास उसे पकड़ने की क्षमता है। राग-द्वेष के कारण जो ज्ञानावरणादि वर्गणाएँ हैं वह बँध जाती हैं। वैद्य उस पारे को भस्म बनाकर पकड़ते हैं। पारा पकड़ में नहीं आता पर भस्म पकड़ में आती है इसी तरह जीव पकड़ में नहीं आता किन्तु उसकी सांसारिक पर्याय पकड़ में आ रही है।

कर्मों का आत्मा से पृथक् होने का कारण–मोह कर्म की चपेट में जीव नशे के कारण हर पर्याय में नाच रहा है। बोतल नहीं नाचती लेकिन पीने वाले चाहे डॉक्टर हों, वकील या जज हों, सब नशे में आ जाते हैं। "**जीवरु पुद्गल नाचै यामै कर्म उपाधि है**" पारा भस्म खाकर यदि खटाई का एक कण भी पहुँच जाए तो पुनः पारा बनकर पेट फाड़कर पार हो जायेगा। जो पार हो जाए वह पारा है इसीलिए पथ्य का पालन जरूरी है। खाँसी के लिए भिलमा जो तेजाब जैसा रहता है उसका प्रयोग बताते हैं लेकिन यह ध्यान रखना जरूरी है कि यदि होंठ या मुँह पर कहीं लग जाए तो जल जाए फिर उसे ठीक ही नहीं कर सकते, इससे कई लोग नाम लिखवाते हैं। जीव भी राग-द्वेषादि के कारण पकड़ में आ रहा है यदि वीतरागता की खटाई लग जाए तो जीव अपनी स्वाभाविक दशा में आ जाए अर्थात् सिद्धपरमेष्ठी होकर एक समय में लोकाग्र पर ठहर जायेंगे फिर उन्हें कोई शक्ति पकड़ नहीं सकती। जैसे पारे को किसी चिमटे आदि से भी पकड़ नहीं सकते, वज्रकपाट से भी पार हो जाता है, नाम ही इसका पारा है। धन्य हैं जिन्होंने शुद्धत्व का रहस्य जानकर साधना करके पूज्यदशा को पा लिया। जो आज पूजक हैं वे ही आगे पूज्य बनेंगे। **आचार्य ज्ञानसागर गुरु महाराज** ने हमें समझाया था कि– प्रभावना में कंजूसी करोगे तो धर्म का प्रचार-प्रसार नहीं होगा। जितने धर्मात्मा सदस्य बनेंगे उतना धर्मभावना रूपी वेतन भी बढ़ता चला जायेगा। "**न पूर्वे संजातः इति अभूतपूर्वः।**" एक बार दूध

में से घी निकल जाता है तो पुनः घी दूध रूप में नहीं आता। उसी प्रकार एक बार जीव सिद्धपने का अनुभव करता है तो वह पुनः संसार में नहीं आता। देह के प्रति मोह ममता कम करिए व आत्मा को याद करिए। जैसा जिनवाणी में लिखा वैसा काम करिए आपका कल्याण हो जायेगा।

वर्तमान में सिद्ध मानने की मान्यता का रहस्योद्घाटन—जो वर्तमान में सिद्ध मानते हैं वह शक्ति अपेक्षा से है व्यक्ति अपेक्षा नहीं। बच्चा कहता है—पिता जी! अपने लिए तो आप कार लाये हैं, हमारे लिए कुछ नहीं लाये। पिता जी बोले—देखो बेटा! पहले खाना खा लो तुम्हारे लिए भी मैं जीप लाया हूँ। बच्चे ने खाना खा लिया तब पिता जी ने एक छोटी-सी जीप निकाल कर दे दी। बच्चा खुश! कहता है—हाँ, मुझे जीप मिल गयी। अब मैं इसी में घूमूँगा। आचार्य कहते हैं—मैं शुद्ध हूँ यदि सर्वथा ऐसा मान लिया तो जब भूख लगेगी तो तुम्हारी सिद्धपरमेष्ठी की आत्मा भोजन माँगने लगेगी। इसलिए अपेक्षा जानना चाहिए।

केवलज्ञान में असंख्यात प्रतिच्छेद हैं। लोक प्रमाण अविभागी एक निगोदिया जीव में भी शक्ति रूप से केवलज्ञान है। ज्ञानी जीव को कभी अभिमान नहीं होता, वह वस्तु स्वरूप की स्थिति को जानता है। सिद्धदशा का संसारदशा में अनुभव नहीं हो सकता। श्रद्धान और ज्ञान तो हो सकता है किन्तु अष्ट कर्म का नाश किये बिना सिद्धत्व की अनुभूति यहीं पर मानना सिद्धान्त से विपरीत है। एक बार सिद्धत्व प्रकट हो गया तो भटकन समाप्त हो जायेगी। जिस समय काललब्धि आयेगी अर्थात् निश्चयरत्नत्रय, निश्चयआराधना, परमसामायिक या परमसमाधिदशा होगी उस समय भटकन समाप्त हो जायेगी। यह सब काललब्धि के अन्तर्गत आ जाते हैं जो कि कथञ्चित् पुरुषार्थजन्य है। बिना पुरुषार्थ तीनों प्रकार के कर्मों का विनाश नहीं हो सकता। जैसे—दूध में घी मानते हैं लेकिन क्या कहते हैं कि—महाराज दूध पी लो, घी नहीं कहते। घी के साथ दवाई नहीं लेना, दूध से लेना। यद्यपि दूध में घी है किन्तु घी से लेने पर उल्टा असर करता है, दूध से लेने पर रोग ठीक हो जाता है। दूध में घी है यह शास्त्र कहते हैं। शास्त्र भी सही हैं वैद्य भी सही है। अनेकान्त धर्म है दूध में घी रहकर भी, दूध है तो घी की गन्ध नहीं और घी है तो दूध नहीं। यदि एक किलो दूध में ५० ग्राम घी है तो घी का स्वाद तो आना चाहिए लेकिन नहीं आता। दूध को जमाकर फिर नवनीत निकालकर तपाने से घी मिलता है। एक पर्याय के साथ दूसरी पर्याय की अनुभूति नहीं होती, यह तय हो गया। जब तक पानी है तब तक दूध रहता है, पानी निकलते ही खोवा या मावा बन गया। जब 'खो' गया 'वा' (पानी), तो बन गया खोवा। 'मा' अर्थात् नहीं है 'वा' यानि पानी जिसमें वह है मावा। पानी खोकर मावा बनता है। विकारों को खोकर सिद्ध बनता है। पर्याय सार्थक करना बहुत कठिन है। संसार और मुक्तदशा दोनों का एकसाथ अनुभव नहीं हो सकता। एक घण्टा स्वाध्याय सुनते हैं तो ऐसा लगता है मानो सिद्ध हो गए। हाथ की रेखानुसार काम नहीं होता, काम के अनुसार रेखाएँ बनती हैं। द्रव्यार्थिक नयापेक्षा सिद्धत्व की शक्ति सभी में विद्यमान है किन्तु वर्तमान में अनुभूति नहीं है। यदि कोई संसारी

सिद्धत्व की अनुभूति बता रहा है तो वह समझा नहीं है या अभी समझने का मुहूर्त नहीं आया है।

संसारी जीव को सिद्धत्व का मात्र श्रद्धान, अनुभूति नहीं—जीवत्व की अपेक्षा देव, मनुष्य सब समान हैं किन्तु पर्यायगत भेद है। देवों का उपपाद जन्म है, मनुष्य का गर्भज या सम्मूर्च्छन जन्म है। ज्ञानावरणादिक कर्म युक्त होने से संसारी जीव को सिद्धत्व जानने में नहीं आता। केवलज्ञानी जान सकते हैं किन्तु अनुभव में नहीं आता। बार-बार दूध से घी निकालने पर अभ्यास हो जाता है कि एक किलो दूध में ५० ग्राम घी है और सुनार को ५ तोला सोना देखकर पता चल जाता है कि इसमें ५ ग्राम बट्टा है। अशुद्धपर्याय के साथ शुद्धपर्याय का श्रद्धान तो हो सकता है किन्तु अनुभव नहीं हो सकता। इसी श्रद्धान के बल पर तपाकर स्वर्ण से किट्ट कालिमा दूर कर देता है। १६ बार तपाने पर सोना १०० प्रतिशत शुद्ध हो जाता है। जैसे—सिद्ध भगवान् सभी गुणस्थान, सभी मार्गणा से ऊपर उठकर शुद्ध हो जाते हैं। पहले श्रद्धान होता है फिर तदनुसार पुरुषार्थ करके सिद्ध हो जाते हैं। वे पुनः संसार में नहीं आ सकते इस अपेक्षा अभव्य हैं और संसारी सिद्ध बनने की क्षमता रखते हैं इसलिए भव्य हैं **"भवितुं योग्यः भव्यः"।** नयों का अर्थ तात्कालिक अनुभूति के लिए नहीं अपितु द्रव्य की क्षमता बताने के लिए है। जीव अभी अशुद्ध है तो अशुद्ध ही रहेगा ऐसा नहीं, साधना से शुद्ध हो सकता है। श्रद्धान से उत्साह आता है तो चारित्र पथ पर चलकर रागादि परिणाम से दूर हो जाता है।

रागादि से युक्त ज्ञान कैसा—रागादि से युक्त इन्द्रिय ज्ञान हमेशा सविकल्प ही रहता है। अन्तरंग में शक्ति की अपेक्षा केवलज्ञान युक्त है फिर भी अनुभव अज्ञान रूप ही है, मोह के कारण स्वयं की ही योग्यता को नहीं स्वीकारता। छोटा बच्चा यद्यपि होनहार है किन्तु छोटा होने से भक्ष्य-अभक्ष्य कुछ नहीं जानता। जहाँ मल विसर्जन करता है वहीं बैठा रहता है लेकिन माँ के सिखाने से वह धीरे-धीरे संस्कारित हो जाता है। माता-पिता भी यह सोचकर उसका पालन करते हैं कि बुढ़ापे में यही काम आयेगा। बच्चा भी यही समझता है कि मेरा भी इन्हीं के माध्यम से काम चलने वाला है लेकिन बड़ा होकर बाहर गया तो माता-पिता से बहिर्भूत ही हो गया क्योंकि लड़के का माता-पिता से और पत्नी का सास-ससुर के साथ जमता नहीं। वही माता-पिता असमर्थ अवस्था में लाचार हो कैसे भी दिन गुजार लेते हैं, उस समय तो बारहभावना में भी मन नहीं लगता। मोह युक्त ज्ञान की यही दुर्दशा है कि कुछ समझ में नहीं आता। जैसे—चमकता काँच हीरे की कणिका जैसा लगता है। काँच के टुकड़े को हीरा समझ कर सोचता है यह कितने कैरेट का होगा? इसमें एक हीरा है एक काँच का टुकड़ा है दोनों नग एक जैसे हैं। ग्राहक सोचता है कौन सा लूँ? एक पर १०-२० मक्खियाँ बैठ गईं और दूसरे पर एक भी नहीं बैठी, तो सोचा मक्खी वाला नग नकली है लेकिन यह कोई पहचान का तरीका नहीं है क्योंकि उसमें कोई मिश्री नहीं है कि मक्खी से पहचान करें। हार खरीदने में अच्छे-अच्छे हार जाते हैं, असली को पहचान नहीं पाते। **भक्तामर स्तोत्र** में भी कहा है कि—

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरि-हरादिषु नायकेषु।
तेजो महामणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥

काँच का टुकड़ा मणि जैसा चमकता है पर वह मणि नहीं है। बेन्टेक्स सोने से भी ज्यादा चमकता है लेकिन वह पालिश की चमक कुछ समय की ही है। रोबोट आदमी जैसा दिखता है किन्तु वह जीव नहीं है। अज्ञानी का ज्ञान सब भ्रान्ति रूप है किन्तु गुरुओं के सानिध्य में आकर शुद्धात्म स्वरूप को जान लेता है।

अज्ञान की पहचान वरदान है। ज्ञान की सही पहचान यही है कि उसके द्वारा आकुलता नहीं होना चाहिए। ७२ कलाओं में ज्ञान भी एक कला है। कला सो अनुभूति नहीं। स्वाध्याय करिए लेकिन आकुलता के साथ नहीं। जिस समय जो कार्य करना है वह करता है। वह आवश्यक है दुर्लभता से छह आवश्यक मिले हैं इन्हें यथाकाल में पूर्ण करिए लेकिन आकुलता न करें, क्योंकि आकुलता मूलगुण नहीं है। आकुलता के माध्यम से केवलज्ञान नहीं होता।

गुरु समागम ही परमागम—गुरु का समागम ही परमागम है। गुरु के द्वारा अनपढ़ भी ज्ञानी बन जाता है गुरु के वचन मोक्षमार्ग में पाथेय के रूप में काम करते हैं। गुरु अपनी अनुभूति का पुट देकर ज्ञान देते हैं, अनुभव देते हैं, उनके माध्यम से बहुत जल्दी रास्ता मिल जाता है। जैसे एक अंगूठा छाप अच्छे से अपना व्यापार चलाता है। उसकी कम्पनी में अनेक सी॰ ए॰ काम करते हैं। वह सी॰ ए॰ वालों को पढ़ा तो नहीं सकता किन्तु दुकान कैसे चलाई जाती है यह अच्छे से सिखा देता है। उसी प्रकार गुरु अपने आत्म अनुभव से वह ज्ञान दे देते हैं जो सारी दुनिया मिलकर भी नहीं दे सकती किन्तु स्वयं का वैराग्य दृढ़ न हो तो आनन्द का अनुभव नहीं होगा।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ (इष्टोपदेश**२७)**

दृढ़ वैराग्य से भिन्न पदार्थ में राग न होने से पृथक् दिखते हैं, संयोग से उत्पन्न भाव भिन्न दिखते हैं, देह और आत्मा में भी अत्यन्त भेद है **''जल पय ज्यों जिय तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहीं भेला''।**

यहाँ 'भेला' शब्द से स्पष्ट है एक नहीं है, भिन्न-भिन्न को भेला (इकट्ठा) किया है तभी वह भैली बनी है। जैसे-जल और दूध में अन्तर है एक किलो पानी में पावभर दूध है फिर भी दूध का प्याला कहते हैं। सफेद भी दिख रहा है, शक्कर मिला दी तो मीठा भी हो गया, तब कहता है-दूध बहुत मीठा लगा, तो वह दूध और मिश्री को भिन्न नहीं समझ पाया। वैसे ही देह और आत्मा भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक मान लेता है, मृग मरीचिका की भाँति जल का भ्रम हो जाता है। कमर में दर्द होने पर भी लोभ

के कारण चाँदी समझकर झुक गया देखा तो सीप थी। चाँदी मिल जाती तो कमर में दर्द नहीं होता, सीप थी तो दर्द बढ़ गया, यह सब उपयोग की बात है। कई बार जीवित में भी मृतक का भ्रम हो जाने से श्मशान तक ले जाते हैं। चिता पर रखने से आग की तपन से उठ बैठा ऐसा भी सुनने में आता है। तब भूत समझकर लोग भाग जाते हैं। इसीलिए **भगवती आराधना** में कहा है कि–श्वासोच्छ्वास रुकने पर भी आधे घण्टे तक णमोकार सुनाते रहना चाहिए, उसे भीतर से संवेदन रह सकता है, बाहर से अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। उसका अन्तिम आसन लगाने में जल्दी नहीं करना चाहिए, उससे उसे तकलीफ हो सकती है। अतिजोर से कान के पास भी महामन्त्र नहीं सुनाएँ, धीरे-धीरे सुनाएँ। सर्प काटने पर भी जल्दी मृतक घोषित नहीं करना, भीतर जीवत्व रह सकता है अत: उसे जल्दी जमीन में गाढ़ते नहीं अन्यथा सर्प आकर अपना विष कैसे पी सकता है। शारीरिक क्रिया मात्र से जीवन-मरण का ज्ञान नहीं हो सकता, लक्षण और संवेदन से भी यह ज्ञात हो सकता है। नाक और मुख से श्वास नहीं ले पा रहा है फिर भी रोमछिद्र या तालु से भी श्वास चल सकती है। छह माह तक भी सर्प (पवनभुक्) हवा का भोजन करके जीवन निर्वाह कर सकता है। गढ़े धन की तरफ वह न जाने कहाँ से आ जाता है? सूक्ष्म क्रियाएँ इस तरह से होती ही रहती हैं। चारों संज्ञाएँ समाप्त करने पर भी शरीर धर्म एकदम समाप्त नहीं होता। आयु के माध्यम से सब कार्य चलता रहता है। सूक्ष्म संधि का ज्ञान न होने से छद्मस्थ जीव स्थूल से ही व्यवहार करते हैं।

रागद्वेष ही शारीरिक प्रवृत्ति में कारण—श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा है कि आत्मा राग-द्वेष रूप प्रयत्न द्वारा वायु का निर्माण करती है और वायु के निर्माण से इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में प्रयत्नशील हो जाती हैं। इतना सूक्ष्म वर्णन कहीं अन्यत्र नहीं मिलता। जो भी जीव विकल्प करता है उसका शरीर में स्पंदन हुए बिना नहीं रहता। उपयोग में पहले आकार आता है योग में बाद में आकार आता है। उपयोग में कुम्भाकार पहले आता है हाथों में कुम्भ का आकार बाद में आयेगा, तभी मिट्टी का लौंदा कुम्भाकार धारण करेगा। यह सारी योजना समरम्भ, समारम्भ और आरम्भ के माध्यम से हो जाती हैं। यह सारा कार्य वायु के द्वारा होता है। जैसे-गाड़ी में बैठा-बैठा व्यक्ति क्रेन चलाता है और स्विच से हाथी की सूँड की भाँति ऊपर-नीचे करता रहता है। राग-द्वेष से मुक्त होकर जो मिथ्यात्व, अज्ञान, कषाय और योग इन चारों पायों को समाप्त कर देता है वही नि:शंक होकर कर्मों की निर्जरा करता है। अन्त में एक योग रहता है वहाँ भी वायु का निर्माण होता रहता है। १४वें गुणस्थान में परिशातन क्रिया रहती है। मात्र संवर-निर्जरा करके अन्तर्मुहूर्त में संसार समाप्त हो जाता है। ५००-५२५ धनुष की काया स्वयमेव समाप्त हो जाती है, दाह संस्कार की भी आवश्यकता नहीं रहती, ध्यानाग्नि से ही सारा कार्य हो जाता है। यह सारा कार्य अपने भीतर के परिणामों से होता है।

लोग कहते हैं–''**ऊपर वाला पासा फेंके**'' यह सैद्धान्तिक नहीं है, ''**भीतर वाला पासा फेंके बाहर चलते दाँव**'' भीतरी राग-द्वेष के कारण शरीर कार्य करता है। बटन के बिना मशीन नहीं

चलती है, असंख्यप्रदेशी आत्मतत्त्व बहुत सूक्ष्म है फिर भी इसे वीतराग स्वसंवेदन द्वारा समझने वाला आनन्द विभोर हो जाता है। यह भीतरी कार्य-कारण व्यवस्था बड़ी अद्‌भुत है।

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छदा हिंसा।
पयदस्य णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥(प्रवचनसार२१७)

''**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा**'' **(तत्त्वार्थसूत्र)** आचार्य कहते हैं कि-बन्दूक से गोली निकली और निशाना भी लगाया लेकिन निशाना नहीं लगने पर भी मारने का संकल्प तो किया ही है। इसलिए हिंसा का दोष तो लगेगा ही यदि निशाने पर लगती तो एक निशाने से कई घायल हो सकते थे। प्रमाद में अनेकों का घात सम्भव है। वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान से जीव प्रबुद्ध होता है। यही कारण-कार्य व्यवस्था है।

स्व संवेदन कब होता है-

गुरुपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्।
जानाति यः स जानाति मोक्ष सौख्य निरन्तरम् ॥(इष्टोपदेश३३)

सर्वप्रथम गुरु उपदेश फिर अभ्यास और अन्त में स्वसंवेदन होता है। '**इष्टोपदेश**' छोटी-सी पुस्तक नहीं, चोटी तक पहुँचाने वाला महान् अध्यात्म ग्रन्थ है। कुछ श्लोक तो स्वयं को झकझोर देते हैं, प्रयोग करके इन्हें लिखा है। जो पहले सिद्ध नहीं थे किन्तु सिद्धत्व की शक्ति थी, वह ध्यान के माध्यम से सिद्ध हो गए। ऐसा अभूतपूर्व शुद्ध सिद्ध जीवास्तिकाय ही एकमात्र उपादेय है।

उत्थानिका—जीव की उत्पाद व्यय दशाओं द्वारा 'सत्' का उच्छेद और असत् का उत्पाद रूप उपसंहार करते हैं-

एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च।
गुणपज्जयेहिं सहिदो संसरमाणो कुणदि जीवो ॥२१॥

अन्वयार्थ—(एवं) इसी तरह **(गुणपज्जयेहिं सहिदो जीवो)** अपने गुण और पर्यायों से सहित जीव **(संसरमाणो)** संसार में भ्रमण करता हुआ **(भावं)** उत्पाद और **(अभावं)** नाश को **(भावाभावं)** विद्यमान पर्याय के अभाव के प्रारम्भ को **(अभावभावं च)** अविद्यमान पर्याय के सद्भाव के प्रारम्भ को **(कुणदि)** करता है।

अर्थ—इस प्रकार गुण पर्यायों सहित जीव संसार में भ्रमण करता हुआ उत्पाद और नाश के माध्यम से विद्यमान पर्याय के अभाव को और अविद्यमान पर्याय के सद्भाव को करता रहता है।

गुण पर्यय से सहित जीव यह, भ्रमण जगत में करता है।
भाव रूप जो मनुज दशा थी, उसका अभाव करता है॥
देव दशा जिसका अभाव था, भावदशा को प्राप्त हुआ।
भाव अभाव व भावाभाव व, अभाव भाव यूँ सिद्ध हुआ ॥२१॥

व्याख्यान—संसारी प्राणी जो भाव स्वरूप है उसका अभाव करता है और जो अभाव था उस पर्याय को पाकर भावरूप करता है। देवायु का उदय हो गया और मनुष्य आयु का अभाव हो गया। गुण पर्यायों के द्वारा अपने आपको न छोड़ता हुआ अनन्तकाल से यह प्राणी यही कर रहा है। यद्यपि द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य शाश्वत है फिर भी पर्यायार्थिकनय से मनुष्य पर्याय का व्यय और देव पर्याय का उत्पाद हो गया अर्थात् विद्यमान का अभाव और अविद्यमान का उत्पाद हो जाता है। **तरोर्बीजवत्** यह सिलसिला चलता रहता है। किसी ने पूछा–वृक्ष पहले कि बीज पहले है? खाद, हवा, पानी का प्रबन्ध करके भी वृक्ष कहाँ से आयेगा? बीज से। बीज कहाँ से आयेगा? वृक्ष से। कोई कहता है–जो दिख रहा है उतना ही जीवन है इसीलिए मौज उड़ाकर जीवन बिताना चाहिए क्योंकि मरणोपरान्त जीवन नहीं रहता यहाँ कुछ स्थायी नहीं है जबकि जन्म के बाद मरण और मरण के बाद पुनः जन्म लेता रहता है। सामग्री की व्यवस्था में ही जीवन बीत रहा है परिणाम को व्यवस्थित नहीं कर पा रहा है। **सम्यग्दृष्टि बाह्य व्यवस्था में नहीं, परिणाम की अवस्था सुधारने में लगा रहता है इसीलिए वह थावर, विकलत्रय, पशु, व्यन्तर, ज्योतिषी आदि में उत्पन्न नहीं होता।**

संसारी प्राणी का भ्रमण कर्माधीन– संसारी प्राणी भावों के अनुसार नर–नारकादि पर्यायों में जन्म लेता है, यह भ्रमण कर्माधीन है। जैसे–आजीविका के लिए लोग देश–विदेश जाते हैं। वहाँ पर जैन हो या अजैन, भारतवासी हो या विदेशी हो उनसे सम्बन्ध जोड़कर रहने लग जाते हैं। वैसे ही जिस पर्याय में जीव जाता है वहीं आसक्त हो जाता है। कोई १०० वर्ष, कोई ५० वर्ष घर में रहकर बिना बोले ही चल देते हैं। वारंट आने के बाद कोई रुक नहीं सकता। कर्म जहाँ ले जाते हैं वहीं दीनहीन–सा चल देता है। पिछली गति क्या थी? यह भी याद नहीं रहता, नयी पर्याय में सब नया–नया दिखता है। एकेन्द्रिय घास और द्वीन्द्रिय कीड़े मकोड़े बन जाओगे तो क्या करोगे? इसीलिए हर कर्म विचार करके करो। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप से पाँच प्रकार का संसार है। इस संसार में विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावी, निश्चय रत्नत्रयात्मक, परम सामायिकरूप आत्मा उपादेयभूत है।

संसार में दुख का कारण क्या—देखे, सुने, अनुभव में आये चार संज्ञा रूप जो वैभाविक भाव हैं उनमें जीव मूर्च्छित हो रहा है। जो अपना नहीं, उसे ही अपना मान रहा है। अहित को हित रूप समझता है। धन के लिए सात समन्दर दूर चला जाता है। अब तो मोबाइल की व्यवस्था होने से मिनटों में ही काम हो जाता है। त्रिखण्डाधिपति कृष्णजी के यहाँ कामदेव प्रद्युम्न उत्पन्न हुए उनका हरण हो गया, मोबाइल तो था नहीं कैसे पता लगाएँ? विद्यायें थीं लेकिन उनकी भी सीमा होती है, क्षमता होती है। १६ वर्ष तक वहीं रहे, अपहरणकर्त्ता ने उस छोटे से बालक को पत्थर की शिला के नीचे रखा ताकि कुचल जाए किन्तु श्वासोच्छ्वास के कारण वह बड़ी शिला भी चादर की भाँति हिलने लगी। संयोग से कालसंवर विद्याधर और कनकलता ने इसे पाला। विचार करो इतनी शक्ति होते हुए भी कर्म के कारण १६ वर्ष वहाँ रहना पड़ा और यहाँ रुक्मणी को पुत्र विरह सहना पड़ा। जब महापुरुषों

की यह स्थिति है तो सामान्य लोग कौन से खेत की मूली हैं? अज्ञानी परपदार्थों में आसक्त होकर इन्हीं के चक्कर लगाता रहता है। जैसे–पतंगा दीपक की कान्ति को देख, आँख का विषय बनाकर पंखों को झुलसा देता है, फिर मर जाता है। वैसे ही मोही इन्द्रिय विषयों में झम्पापात करता है और नरक निगोद में चला जाता है। एक विषय की पूर्ति होते ही दूसरे विषय की इच्छा करता है। नौंवे ग्रैवेयक तक जाकर पुनः नीचे आ जाता है। मिथ्यात्व वश एक पर्याय का व्यय और दूसरी संसारी पर्याय का उत्पाद कर लेता है।

अतः शुद्धात्म द्रव्य का ही श्रद्धान, ज्ञान और आचरण कर लेना चाहिए। मौका मिला है तो नाव में बैठ जाओ, आगे कितने पल शेष हैं कुछ पता नहीं। "**सामान सौ बरस का पल की खबर नहीं**" दादाजी रह जाएँ और पोता चला जाए, ऐसा भी हो जाता है फिर भी अज्ञ प्राणी अपने लिए कुछ नहीं करता। तुम अपने बच्चों के लिए मेहनत कर रहे हो, अपने लिए कुछ नहीं, और कहते हो कि परोपकार से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। इस तरह पर्यायों में आसक्त हुआ अज्ञ प्राणी अनेक पर्याय धारण करता हुआ तदनुसार ही कार्य करता रहता है। इस व्याख्यान का उपसंहार करते हुए प्रथम अधिकार में द्रव्य पीठिका नामक अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

अब काल द्रव्य की मुख्यता से ५ गाथाएँ कही जाती हैं। उसमें भी छह द्रव्यों में ५ द्रव्य की अस्तिकाय संज्ञा है। गुण द्रव्य के साथ ही रहते हैं अतः द्रव्य को गुण कह सकते हैं। '**अष्टसहस्री**' एवं '**श्लोकवार्तिक**' में आचार्य '**श्री विद्यानन्दिजी महाराज**' ने एक विषय उठाया है कि द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिकनय, पर्याय को विषय करने वाला पर्यायार्थिकनय है तो गुण को विषय करने वाला गुणार्थिकनय भी होना चाहिए? तो वहाँ कहा है कि–तीन नय नहीं होते, गुण और द्रव्य दोनों एक ही हैं, अनन्य हैं। पर्याय तो कथञ्चित् पृथक् हो जायेगी किन्तु गुण नहीं। "पर्याय समुदाय द्रव्यम्" यह नहीं कहा, गुण का समुदाय तो हो सकता है।

उत्थानिका—पाँच द्रव्यों की पञ्चास्तिकाय संज्ञा है यह कहते हैं–

जीवा पुग्गलकाया आयासं अत्थिकाइया सेसा।
अमया अत्थित्तमया कारणभूदा हि लोगस्स ॥२२॥

अन्वयार्थ–**(जीवा)** जीव **(पुग्गलकाया)** पुद्‌गलकाय **(आयासं)** आकाश **(सेसा अत्थिकाइया)** शेष दो अस्तिकाय धर्म और अधर्म द्रव्य ये पाँच अस्तिकाय **(अमया)** अकृत्रिम हैं **(अत्थित्तमया)** अपनी सत्ता को रखने वाले हैं तथा **(हि)** निश्चय से **(लोगस्स)** इस लोक के **(कारणभूदा)** कारणभूत हैं।

अर्थ—अनन्तजीव, अनन्त पुद्‌गलकाय, एक अखण्ड आकाश, शेष दो अस्तिकाय धर्म और अधर्मद्रव्य ये पाँच अस्तिकाय अकृत्रिम हैं, अपनी सत्ता को रखने वाले हैं तथा निश्चय से इस लोक के कारण रूप हैं।

जीव द्रव्य औ पुद्गल काया, धर्म अधर्माकाश सभी।
बहुप्रदेशी होने से ये, अस्तिकाय हैं पाँचों ही॥
इन्हें किसी ने नहीं बनाया, किन्तु हैं अस्तित्वमयी।
इनके ही सद्भाव हेतु से, लोक सु-सार्थक संज्ञा दी ॥२२॥

व्याख्यान—जीव, पुद्गल, आकाश और शेष शब्द से धर्म, अधर्मद्रव्य अस्तिकाय हैं। **अमय** का अर्थ अमृत नहीं अकृत्रिम है। इनका निर्माण किसी ने नहीं किया और किसी भी प्रकार से समाप्त भी नहीं होंगे। लोक निर्माण में इनका बहुत बड़ा योगदान है। इसी से लोक और अलोक की सीमा रेखा आँकी जाती है। यही धर्म, अधर्मद्रव्य अलोक में चले जाएँ तो उसके साथ जीव और पुद्गल भी जायेंगे। फिर "**वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य**" यह उपकार करने वाला काल भी जायेगा क्योंकि लोक निर्माण में इन सबका योगदान है।

दृष्टान्त—जैसे–गृहस्थाश्रम में दस तरह की वस्तुओं की आवश्यकता होती है तभी घर बसता है। कन्यादान के साथ-साथ घर बसाने के लिए बर्तन आदि सारी वस्तुएँ देते हैं। अब तो प्लास्टिक का जमाना आ गया है। पहले बर्तन रहते थे तो बजते भी थे। अब तो संयुक्त परिवार ही नहीं रहे, किसी की आवाज ही सुनाई नहीं देती। पहले तो कन्या के साथ दासी-दास भी जाते थे। पुराण ग्रन्थों में आता है कि–बसन्तमाला अंजना के साथ गई थी। जैसे–पेन खरीदते हैं तो साथ में उसे रखने का केस भी देते हैं वैसे ही पहले कन्यादान के साथ सब दिया जाता था अर्थात् लोक निर्माण में सभी द्रव्य कारण हैं। वर्तना लक्षण वाला कालद्रव्य भी लोक व्यवस्था में कारण है। यद्यपि काल अस्ति तो है किन्तु काय नहीं है। यह द्रव्य किसी के द्वारा बनाये नहीं गए। जैसे–अकृत्रिम चैत्यालय हैं। ऐसी कई चीजें अकृत्रिम हो सकती हैं। किसी ने पूछा कि–शास्त्र भी अकृत्रिम हो सकते हैं क्या? हाँ, शास्त्र बनाने में मूलभूत सामग्री अक्षर, वर्ण वह अकृत्रिम हैं। शास्त्र के लिए वाक्य का और वाक्य के लिए शब्द का, शब्द के लिए अक्षर का निर्माण स्वतः ही है "**सिद्धो वर्णसमाम्नायः**"। भले ही १० खण्ड का भवन बना लो, वही ईंट, पत्थर और गारा ही चाहिए। चाहे विदेश से शिल्पी ले आओ, स्वर्ग के अकृत्रिम विमान यहाँ धरती पर खड़े नहीं कर सकते। अकृत्रिम चैत्यालय के विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों को असम्भव-सा लगता है। जब गंगोत्री विजयार्ध से निकलती है तो वहाँ कुण्ड में स्फटिक या हीरे की जटा युक्त प्रतिमा पर धारा गिरती है। वह प्रतिमा अकृत्रिम है, कल्पवृक्ष भी अकृत्रिम है। जिन्हें अकृत्रिम या अनादि-अनिधन के बारे में कोई साहित्य नहीं मिला तो वह इन्हें स्वीकार नहीं करता। सन्देहशील व्यक्ति के सामने दुर्लभ चीज नहीं दिखाना चाहिए, इससे उसका महत्त्व कम हो जाता है। लोग कहते हैं कि बिना बोले माल बिकता ही नहीं किन्तु यह नियम ज्वार-बाजरा आदि के लिए हो सकता है, हीरे-मोती के लिए नहीं। इसके लिए विज्ञापन की जरूरत ही नहीं है। अकृत्रिम का कभी भी नाश नहीं होता। जब आर्यखण्ड में प्रलय होता है तब विजयार्ध की गुफादि अकृत्रिम

स्थानों पर कुछ प्राणियों को सुरक्षित रख देते हैं। म्लेच्छ खण्ड में प्रलय नहीं होता क्योंकि बुराईयों को मिटाने के लिए प्रलय होता है परन्तु जहाँ पर बुराई ही बुराई है उसे मिटा नहीं सकते।

लोक का सत् स्वरूप—लोक उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है इसीलिए यह सत् है। '**राजवार्तिक**' में अगम्य स्थान कहे हैं। अगम्य अर्थात् जहाँ हम जा नहीं सकते, आ नहीं सकते, जहाँ यन्त्र भी काम नहीं करता। Barmuda Triangle (वरमूडा टेंगल) के बारे में अनेक शोध हुए हैं। एक पुस्तक पढ़ी थी जिसमें लिखा था कि–१५ हजार वर्ष पूर्व की प्राचीन सभ्यता उसमें है। उड़न तश्तरी थाली जैसी रहती है और वह उड़ती रहती है। उसके प्रभाव को देखने के लिए जो कोई उसके निकट गए वे आजतक लौटकर नहीं आए। अनुसन्धान से पता चला कि कुछ ऐसे (Black Holl) सघन अंधकारयुक्त क्षेत्र हैं जहाँ से अनेक हवाईजहाज वापस नहीं लौटे। वह स्थान ऐसे क्यों हैं? तो इसके लिए "**स्वभावोऽतर्क-गोचरः**" यही कहना होगा। आगम कभी तर्क गोचर नहीं होता, अचिन्त्य होता है। वचन गोचर या अनुमान का भी विषय नहीं होता। अनुमान को यहाँ प्रमाणता नहीं मिलती। लोक की गहराई, मोटाई को जानना चाहते हो तो आगम से जान सकते हो, किन्तु उसकी परिक्रमा लगाना चाहते हो तो नहीं लगा सकते। जब भूगोल पढ़ते थे तब अमेरिका को नया संसार बोलते थे। तो क्या पहले अमेरिका नहीं था? था तो किन्तु वहाँ जाने के लिये हवाईजहाज आदि साधन नहीं थे। आज भी कई स्थान ऐसे हैं जहाँ की सभ्यता अलग ही है। पत्रिका में एक बार छपा था कि–मगरमच्छ की पूँछ जैसे और मनुष्य के मुख जैसे प्राणी देखे गए, तब हमने कहा था कि–जैसे कुभोगभूमि में रहते हैं यह तो वैसे जीव हैं किन्तु विज्ञान आजतक भी उन जीवों का शोध नहीं कर पाया। जिसका शोध हो जाता है वह नया लगता है। अभी भी अनेक अगम्य स्थान हैं। ऐसे ही लोक की संरचना है, जिसमें ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोक होने से अंशवान भी हैं।

उत्थानिका—काल की कायसंज्ञा नहीं द्रव्यसंज्ञा है। अतः काल अस्तिस्वरूप वस्तु है ऐसा कथन करते हैं–

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च।
परियट्टण-संभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ॥२३॥

अन्वयार्थ—(सब्भावसभावाणं) सत्तारूप स्वभाव को रखने वाले **(जीवाणं)** जीवों के **(तह य पोग्गलाणं)** उसी तरह पुद्‌गलों के **(च)** और अन्य धर्म, अधर्म, आकाश के **(परियट्टण-संभूदो)** परिणमन में जो निमित्तकारण हो वह **(णियमेण)** नियम से **(कालो)** काल द्रव्य **(पण्णत्तो)** कहा है।

अर्थ—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप अस्तिभाव जैसे जीवों के हैं वैसे ही पुद्‌गलों के हैं अर्थात् इन दोनों पदार्थों के नव-जीर्ण रूप परिणमन जिसके द्वारा प्रकट देखने में आता है ऐसा जो पदार्थ है उसे निश्चय से काल कहा है।

सत्ता रूप जीव पुद्गल औ, धर्माधर्माकाश कहे।
परिवर्तन होने से इनके, नव्य जीर्ण ये रूप रहे॥
पर्यायों के परिणमन में, काल द्रव्य कारण जानो।
यह सर्वज्ञ देव का कहना, द्रव्यरूप को पहचानो ॥२३॥

व्याख्यान—जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों के विषय में लोगों की कई मान्यताएँ हैं। बौद्धमत का कहना है कि–क्षणध्वंसी है। सांख्यमत मानता है कि–इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता अतः काल की आवश्यकता नहीं है। परिणमन के लिए काल का सहयोग होता है अतः सांख्यमत में वस्तु परिणमनशील न होने से काल अनुपयोगी है। जीव और पुद्गल के परिवर्तन से ही व्यवहारकाल का ज्ञान होता है और व्यवहारकाल के लिए निश्चयकाल कारण है। ''**वर्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य**'' यह कालद्रव्य का उपकार है। किसी ने पूछा था कि–परत्वापरत्व किसे कहते हैं? इसमें पर और अपर दो शब्द हैं। पर अर्थात् आगे जैसे–धातु, शब्द आदि-आदि। अपर अर्थात् पीछे जो धातु आदि के पीछे सि, औ, जस् आदि प्रत्यय लगते हैं वह अपर हैं। यहाँ अस्तिकाय के वर्णन में यद्यपि काल नहीं है किन्तु अस्तिकाय के परिवर्तन में काल का योगदान है। सद्भाव अर्थात् सत्ता है।

सत् की सत्ता शाश्वत—जो सत् होता है वह क्षणिक नहीं होता उसकी सत्ता शाश्वत होती है किन्तु इन्हें एकान्त से असत् मानना दोष है। उसी प्रकार आकाश का शून्य रूप में परिचय देने से आकाश का अस्तित्व ही शून्य हो जाता है, जबकि आकाश पञ्चभूतों में एक भूत तत्त्व है, अतः शून्य नहीं कम से कम एक तो माने ही। आकाश भले ही दिखता नहीं पर वह शून्य नहीं है। '**लोकाकाशेऽवगाहः**' यदि शून्य होता तो अवगाह कैसे दे सकता है? व्यय के परिवर्तन में पुराना मिटता है और उत्पाद के परिवर्तन से नये का उत्पाद होता है। नयापन चाहते हो तो पुरानापन छोड़ो। यदि कोई हठ करे कि पहले हमें नवीन मिल जाए बाद में हम पुराना छोड़ेंगे तो ऐसा नहीं होता। दुकान में वस्तु खरीदने के समय रुपयों का व्यय करो तो वस्तु की प्राप्ति होगी। एक हाथ से देओ एक हाथ से लेओ। दुकानदार भी एक हाथ से देता है, एक हाथ से लेता है, एक समयवर्ती लेन-देन चलता रहता है। व्रत को लेना और अव्रत को छोड़ना एक समयवर्ती है। जब तक पाप नहीं छोड़ेंगे तब तक व्रत नहीं ले सकते। २८ मूलगुण रूप व्रत का संकल्प लेते ही अव्रत का त्याग हो जाता है। पाँच पापों के त्याग का नाम चारित्र है। परिग्रह छोड़ने पर ग्रन्थ तो रख सकते हैं, धन दौलत नहीं। दूसरों के स्वामी नहीं बन सकते, दूसरा भले ही स्वामी मान ले तो बात अलग है किन्तु स्वयं स्वामी होकर दूसरों को दास कहो यह गलत है। भगवान् ने कभी नहीं कहा कि–हम तुम्हें स्वीकारते हैं, वे तो आत्मस्थ हैं। पाँच पापों से मुक्ति पाना व्यवहार चारित्र है, ''**असुहादो विणिवित्ती**''। अनन्तकाल से असंयम मार्गणा में रह रहे थे इस अशुभरूप असंयम का व्यय हुए बिना संयम का उत्पाद नहीं हो सकता, इस

प्रकार उत्पाद-व्यय रूप परिवर्तन हो रहा है।

शंका—पञ्चास्तिकाय का वर्णन करने का संकल्प किया था तो फिर काल का वर्णन क्यों?

समाधान—पञ्चास्तिकाय का परिणमन रूप कार्य ही इसका परिणाम है। अध्यापक ने परीक्षा ली व विद्यार्थी ने परीक्षा दी। परीक्षा का परिणाम परीक्षा देने वाले को मिलेगा, परीक्षा लेने वाले को नहीं। उसी प्रकार कालद्रव्य परिणमन में निमित्त अवश्य है किन्तु प्रत्येक द्रव्य का परिणमन रूप परिणाम अपने-अपने में ही होता है। कालद्रव्य अस्तिकाय न होकर भी जीव-पुद्‌गल रूप अस्तिकाय के परिणमन में सहायक है। जैसे-मूर्तिक शब्दों के द्वारा अमूर्तिक आत्मा का व्याख्यान होता है। अमूर्तिक आकाश में मूर्तिक द्रव्य भी अवगाहन पाते हैं। मूर्तिक घड़ी से अमूर्तिक समय का ज्ञान होता है। पहले नालंदा आदि विश्वविद्यालय में दो प्रकार की घड़ी रहती थी-एक मटकी में रेत भरकर नीचे छेदकर दिया जाता था और दूसरी मटकी में जल भर करके नीचे छेद कर दिया जाता था उसके खाली होने तक समय का ज्ञान हो जाता था। कोई चंचल बच्चे उसका छेद बड़ा कर दे तो जल्दी छुट्टी हो जाए लेकिन वहाँ किसी बच्चे को आने नहीं दिया जाता था। वहाँ एक व्यक्ति बैठा रहता था। आज का विज्ञान आकाश, काल आदि की परिभाषा और उनके कार्य को नहीं जान पाता।

कर्म के अनुसार ही क्रिया—कर्म के अनुसार बाहर से प्रक्रिया दिखाई देती है। जैसे-अन्दर में बुखार के अनुसार शरीर में गरमाहट आती है। वात, पित्त, कफ का परिणमन मौसम के अनुसार होता रहता है। गर्मी के दिनों में माथे में आ जाता है, वर्षा में पैरों में और सर्दी में छाती में आ जाता है यह पित्त की प्रक्रिया है, ऐसे ही कर्म की प्रक्रिया होती है। वैक्रियिक शरीर नरकों में भी है और स्वर्ग में भी है किन्तु नरक में अशुभ रूप है और स्वर्ग में शुभ प्रवृत्ति रूप है दोनों की गुणवत्ता अलग-अलग है। नरकायु अशुभ है एवं तीन आयु शुभ हैं। सारभूत बात यही है कि कर्म के कारण जैसी जीव की परिणति होती है वैसी ही काल के निमित्त से क्रिया होती है किन्तु काल उदासीन निमित्त है। भरतक्षेत्र के पञ्चमकाल में जन्मे जीवों की मुक्ति नहीं होती किन्तु विदेहक्षेत्र के मुनिराज को यहाँ पर कोई उपसर्ग से गिरा दे तो यहाँ भरतक्षेत्र से मुक्ति हो जायेगी किन्तु उनका दर्शन हमें नहीं मिलेगा। वस्तुतः काल उदासीन है। जीव और पुद्‌गल प्रेरक निमित्त हो सकते हैं, शेष द्रव्य नहीं। पुद्‌गल परमाणु के द्वारा समय रूप सूक्ष्म काल उत्पन्न होता है।

समय की परिभाषा—पुद्‌गल परमाणु को आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक मन्दगति से जाने में जितना काल लगता है उसे समय कहते हैं। समयों का संग्रह नहीं किया जा सकता, काल का कोई एकत्रीकरण नहीं होता किन्तु बुद्धि के द्वारा संग्रह करके सागरोपम काल ज्ञात कर लेते हैं। जैसे-रेखा या बिन्दुओं के माध्यम से चित्र बना देते हैं जबकि बिन्दु भी एक दूसरे से मिले नहीं है। उसी प्रकार कालाणु भी रत्नों की राशि के समान आकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित हैं। एक-दूसरे से मिलते नहीं किन्तु प्रज्ञा द्वारा काल का संचय करके पल्य, सागर आदि का ज्ञान कर लिया जाता

है, यद्यपि काल स्पर्शादि से रहित है। इतने समय तक यह अध्यक्ष रहा, यह भूतपूर्व मन्त्री है इत्यादि पहचान का कार्य काल से होता है। दानदाता का नाम, उनका कार्य सब मिट जाता है किन्तु काल सर्वाधिकार सुरक्षित है।

काल शब्द की व्युत्पत्ति—इसके भी स्वकाल और परकाल की अपेक्षा दो भेद हैं। 'कल्' धातु से ही काल बना है। अब यह जीवों के परिणाम पर आधारित है कि बुरा काम करें या अच्छा। चोरी आदि बुरे काम करने से जेल मिलेगी, तिरस्कार मिलेगा और सेवा आदि अच्छे काम करने से पुरस्कार मिलेगा, दोनों में पुलिस आयेगी किन्तु एक में जेल ले जाने के लिए और एक की रक्षा करने के लिए। **स्वचतुष्टय में आत्मा की महिमा गाना है**। "**कालस्तु हेयः**" कहा है। यदि जीव में क्रियावती शक्ति क्रियान्वित है तो व्यवहारकाल निमित्तभूत है। यह शरीर भी एक-एक परमाणु से बना है लेकिन एकमेक नहीं है, कभी भी बिखर सकता है। जैसे—वर्षों से मजबूत बनी हुई इमारत भी भूकम्प, तूफान आदि से गिर सकती है। जहाँ पर्वत था वहाँ नदी बहने लग जाती है। यह काल की महिमा नहीं किन्तु भीतरी रसायन की प्रक्रिया का परिणाम है।

कालाणु की निष्क्रियता का कथन—"**निष्क्रियाणि च**" इस सूत्र से स्पष्ट है कि कालाणु निष्क्रिय है अन्यथा कहीं-कहीं पर ही प्रलय क्यों? सभी जगह समान रूप से प्रलय होना चाहिए क्योंकि कालाणु सर्वत्र विद्यमान है। जीवों के पुण्य-पापानुसार ही अच्छा-बुरा कार्य होता है। व्यवहारकाल भी वस्तुतः प्रेरक नहीं है उसके माध्यम से मिनट आदि का ज्ञान होता है, उत्पत्ति नहीं। ज्ञापक कारण है, उत्पादक कारण नहीं। घड़ी में सेकेण्ड, मिनट और घण्टे के काँटे हैं। ये काँटों की गति है काल की गति नहीं। निमेष आदि भी व्यवहार काल है। निमेष अर्थात् पलक झपकाना। देवों की पलक झपकती ही नहीं क्योंकि वह भी दुख और श्रम का प्रतीक माना जाता है। जो जितना निर्विकल्प होगा वह उतना कम पलकें झपकायेगा। छोटे से बच्चे को देखिए वह गौर से देखता है और गौर से देखते-देखते गम्भीर हो जाता है। अपलक देखता रहता है दूसरों को हँसा देता है किन्तु खुद नहीं हँसता। विकल्प के कारण ही पलकें ज्यादा झपकती हैं इसलिए कायोत्सर्ग के समय नासादृष्टि रखें या आँखें बन्द रखें। खोलकर करेंगे तो ३-४ बार पलक झपकने से कायोत्सर्ग निर्दोष नहीं होगा। भगवान् का दृष्टिदोष समाप्त हो गया है इसलिए नासादृष्टि है।

स्वयं के उपादान से ही कार्य की सिद्धि—बिना अन्तर किये निरन्तर एक-एक समय निकलते-निकलते सागरोपम काल बीत गया। जैसे—आजकल ट्यूब में हवा ज्यादा और दवाई कम रहती है दबाने पर भी बीच में हवा होने के कारण दवाई जल्दी निकलती नहीं है ऐसे ही काल का कभी भी अभाव नहीं रहता। इस प्रकार निश्चयकाल के द्वारा परिणमन होने से एक-एक समय निकलता जाता है और उपादान कारण सदृश कार्य हो जाता है। कुम्भकार, चक्र, रस्सी आदि अनेक बाह्य कारणों से घट बनता है लेकिन घट किसका है? यह पूछने पर-रस्सी का है, चाक का है या कुम्भकार का है

ऐसा न कहकर मिट्टी का है, यही कहा जाता है। यही निश्चय का घट है। जुलाहा जो कपड़ा बुनता है उसमें अनेक कारण होने पर भी मुख्य रूप से ताना-बाना रूप उपादान से ही कपड़ा बनता है। दुकानदार कहता है-हमारी दुकान का कपड़ा देख लो, कारखाना वाला कहता है-हमारे कारखाने का कपड़ा देख लो लेकिन कपड़ा तो तन्तुओं का है तीनों उदाहरणों से समझें। चावल बनाने के लिए अग्नि जलाई, अग्नि चाहे स्टोव की हो, सिगड़ी की हो या चूल्हे की। रंगभूमि के चावल (बासमति) जो पहले ब्रह्मदेश से आते थे अब पंजाब प्रसिद्ध हो गया, दक्षिण में मुरमुरा (एक प्रकार का चावल) जो शंखेश्वर के पास है वहाँ के लाओ, चाहे छत्तीसगढ़ के लाओ किन्तु चावल में स्वयं उपादान ही ऐसा है कि ढक्कन खोलते ही सुगन्ध फैल जाती है। इसी प्रकार मनुष्यादिकों में नामकर्मोदय के निमित्त से नर-नारकादि पर्याय रूप कार्य जीव का उपादान माना जाता है अन्य कोई उपादान नहीं बन सकता।

उत्थानिका-निश्चयकाल के स्वरूप को और व्यवहारकाल की कथञ्चित् प्रकार से पराधीनता दिखाते हैं-

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालोत्ति ॥२४॥

अन्वयार्थ-(ववगदपणवण्णरसो) जो पाँच वर्ण पाँच रस से रहित है **(ववगद-दो-गंध-अट्ठ-फासो य)** व जो दो गंध व आठ स्पर्श से रहित है **(अगुरुलहुगो)** अगुरुलघु गुण के द्वारा षट्-गुणी हानि वृद्धि सहित है **(अमुत्तो)** अमूर्तिक होने से सूक्ष्म है इन्द्रियगोचर नहीं है **(वट्टणलक्खो य)** तथा जो वर्तनालक्षण है **(कालोत्ति)** ऐसा यह कालद्रव्य है।

अर्थ-जो पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श से रहित है, षड्गुणी हानिवृद्धिरूप अगुरुलघुगुण से सहित है, जो अतीन्द्रिय ज्ञानगम्य अमूर्तिक पदार्थ है, एवं अन्य द्रव्यों के परिणमाने को बाह्य निमित्त वर्तना लक्षण है जिसका, ऐसा यह कालाणुरूप निश्चय कालद्रव्य जानो।

पाँच वर्ण रस और गन्ध दो, आठों स्पर्श नहीं जिसमें।
षट्गुण हानि-वृद्धि स्वरूपी, अगुरुलघु गुण हैं जिसमें ॥
अमूर्त है जो अन्य द्रव्य के, परिवर्तन में कारण है।
वर्तन लक्षण युक्त काल है, कहते प्रभु भवतारक हैं ॥२४॥

व्याख्यान-वर्तना लक्षण वाला निश्चयकाल है। **श्री उमास्वामीजी महाराज** ने पाँचवें अध्याय में सभी द्रव्यों के उपकार बताते हुए काल द्रव्य के उपकार में यही कहा। उसमें सर्वप्रथम वर्तना यह निश्चयकाल का और परिणाम आदि व्यवहार काल के लक्षण हैं। जैसे-उपयोग जीव का लक्षण है। उपयोग कहते ही जीवत्व की ओर उपयोग चला जाता है। जैसे-"**घटम् आनय देवदत्तः**" यह घट शब्द कान में पड़ते ही यदि घट शब्द से परिचित है तो घड़ा ले आयेगा, अन्यथा '**जब लौं**

घट में श्वास' घट का अर्थ आत्मा भी होता है, दृष्टि आत्मा पर टिक जायेगी। उसी प्रकार वर्तना कहते ही निश्चयकाल का ज्ञान होता है। प्रत्येक द्रव्य के परिणमन में काल द्रव्य का उपकार है। यद्यपि प्रत्येक द्रव्य स्वयं की ही उपादान शक्ति से परिणमित हो रहा है किन्तु शुद्ध द्रव्य हो या अशुद्ध द्रव्य हो परिणमन में बाह्य कारण में काल द्रव्य को ही श्रेय जाता है। कालद्रव्य दिखता नहीं किन्तु उसके परिणाम से अनुमान लगाया जाता है कि यह परिणमन जीव और पुद्‌गल में निश्चयकाल के बिना नहीं हो सकता। जिन द्रव्यों में परिणमन की योग्यता है उन्हें ही कालद्रव्य परिणमन में निमित्त बनता है।

काल का लक्षण—काल का वर्तन जो विशेष गुण है उसे लक्षण भी कह सकते हैं क्योंकि वर्तना लक्षण अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाता किन्तु इसे एकान्त से ग्रहण न करें अन्यथा सुख गुण भी लक्षण हो जायेगा। काल पाँच रस, पाँच वर्ण, आठ स्पर्श, दो गन्ध और शब्द से मुक्त है। इसे स्वर्ण के समान कसौटी पर कस नहीं सकते और काल मन के विषय से भी रहित है।

अनुमान ज्ञान का कथन—एक ओर "**हेतुमत् ज्ञानम्**" से भी विषय बनाते हैं जिसे अनुमान कहते हैं "**साधनात् साध्य-विज्ञानमनुमानम्**" यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में आता है। इसमें इन्द्रियाँ कार्य नहीं करतीं, मन के माध्यम से होता है किन्तु यह अनुमान भी प्रमाण ज्ञान के बाद होता है। हमारे पास प्रमाण ही नहीं तो अनुमान कैसे लगायें? जैसे धुएँ का ज्ञान था तो अग्नि का ज्ञान कर लिया कि जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है यह अनुमान ज्ञान है। काल इन्द्रियों का विषय नहीं बनता तो मन का भी नहीं। जिसे देखा नहीं वह मन का विषय भी नहीं बनता तो प्रश्न कर सकते हैं कि-स्वप्न में ऐसे दृश्य देखते हैं जो कभी नहीं देखे, भक्तगण गाते हैं "स्वर्ग से सुन्दर स्वप्नों से प्यारा है प्रभुवर का द्वार" स्वप्न में जो अच्छा दिखा वह पहले बाहर देखा होगा, स्वप्न में जो देखा वह रंग ही तो है। रूप में कभी-कभी किसी को बदरूप या अपरूप भी कह देते हैं। दक्षिण में अपरूप का अर्थ दुर्लभ है, जिसे ईद का चाँद कहते हैं, जो हर जगह नहीं दिखता। चाँद की सोलह कलाएँ रहने पर भी दूज की दो कला हर किसी को नहीं दिखती तो एक कला कैसे दिखेगी? जो कि शुक्लपक्ष की एकम् को होती है इसे अनुमान से ही जानते हैं। अन्दर में कुछ है तभी तो अनुमान लगा रहे हैं। परिणमन कराने वाला कोई द्रव्य है तभी तो द्रव्यों में परिणमन दिख रहा है। फिर भी यदि कोई मानना ही न चाहे तो क्या कर सकते हैं? ५+५ को १० माने ही नहीं तो क्या कर सकते हैं? मानना मन का विषय है।

किसी विषय में नकारात्मक घोषणा करना बहुत कठिन है। विद्वान् लोग एकदम ऐसी घोषणा नहीं करते और हम भी किसी को मना नहीं कहते, इससे उसे बुरा लग सकता है किन्तु इसका अर्थ 'हाँ' भी नहीं समझना। आज का विज्ञान एक सीमा तक ही मूर्तिक पदार्थ की सिद्धि कर सकता है, अनुमान से जान सकता है। गुजरात में विहार के समय एक धागे के कारखाने में विश्राम किया था। सूत के धागे बनते थे वहाँ तकली के समान यन्त्र इतनी तेजी से घूमते थे कि आँखों से उसकी गिनती नहीं कर सकते, धागे तो दूर से दिखते ही नहीं थे आँख की सीमा है उसे भी अनुमान से गिन लेते हैं।

जैसे प्रकाश की जो गति होती है उसे गिन लेते हैं।

परमाणु के बन्ध के विषय में "**न जघन्य गुणानां**" कहा है अर्थात् जघन्य शक्त्यंश के साथ बन्ध नहीं होता। दोनों समान हों तो भी बन्ध नहीं होता। बन्ध के लिए "**द्वयधिकादिगुणानां तु**" यह विधान किया है। यह बन्ध की योग्यता का वर्णन है।

परमाणु रूपी होने पर भी आँखों का विषय नहीं बनता। आँखों का विषय न बनने से यह रूपी नहीं, यह अनुमान या अर्थापत्ति लगाना गलत है। "**बाह्येतरोपाधि-समग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।**" बाह्याभ्यन्तर कारणों की समष्टि से ही द्रव्य में परिणमन होता है ऐसा **वासुपूज्य भगवान्** के स्तवन में कहा है। इससे स्पष्ट है कि कालद्रव्य स्वयं परिणमनशील है और अन्य के परिणमन में भी कारण है। ज्ञान जानता है तो उस ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे-दीपक स्वयं भी अपने प्रकाश में दिखता है और आँख वाला हो तो उसे भी दिखा सकता है। श्रद्धा की आँख (आगम चक्खू साहू) से ही हम काल को स्वीकार कर सकते हैं। अर्थपर्याय की उत्पत्ति में आगम के अनुसार अगुरुलघु गुण का ही एकमात्र उपकार माना गया है। प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघु नामक गुण है। कालद्रव्य अमूर्त होकर भी मूर्तिक-अमूर्तिक सभी के परिणमन में कारण है।

यह कालद्रव्य अणु रूप है किन्तु अणु तक आज का विज्ञान नहीं पहुँचा है। ऐसे कई स्कन्ध हैं, वहाँ तक भी विज्ञान नहीं पहुँचा है, भले ही शब्दों को पकड़कर सी॰ डी॰ या कैसेट में भर दिया हो और तारों के माध्यम से ध्वनि को दूर तक पहुँचाया हो किन्तु यह सुविधा आज ही हुई है ऐसा नहीं, पहले भी ऐसा होता था। एक लेख पढ़ा था कि ७-८ कि॰ मी॰ तक आवाज राजदरबार में यन्त्रों के माध्यम से आती थी। गुप्तचर के माध्यम से यह कार्य होता था। कई सूक्ष्म ध्वनियाँ हैं जिन्हें हम पकड़ नहीं पाते। जीव तो केवल बोलने का भाव करता है फिर वचन योग के माध्यम से शब्द वर्गणाओं को ग्रहण करते हैं। शब्द वर्गणाओं से ध्वनि उत्पन्न होती है। शब्द आपके नहीं, शब्द के भाव आपके हैं। उपयोग में भाव के कारण योग द्वारा कण्ठादिक से तद्गत भाषावर्गणा शब्दरूप परिणत हो जाती है। यह क्रिया द्वीन्द्रिय से प्रारम्भ हो जाती है किन्तु यह निरक्षरात्मक ध्वनि रूप ही रहती है। असैनी पञ्चेन्द्रिय तक ऐसी ही ध्वनि रहती है। कुछ सैनी तिर्यञ्चों में भी ऐसी ही ध्वनि रहती है। कभी-कभी मनुष्य तीव्रगति से बोलता है तब भी शब्द वर्गणाएँ शब्दरूप परिणत नहीं हो पातीं, धीरे-धीरे बोलने पर शब्दों की गति भी धीरे-धीरे होती है। जैसे-ग्रामोफोन में गति कम होने पर गीत भी रोने जैसी आवाज में सुनाई देता है। कोई गमी नहीं हुई है किन्तु ग्रामोफोन में चाबी कम हो जाने से ऐसी आवाज आ रही है।

लोकाकाश का कोई प्रदेश ऐसा नहीं जहाँ आहार वर्गणाएँ ठसाठस न भरी हों। किन्तु आहारकशरीर के रूप में परिणत होंगी तो छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि के योग के माध्यम से ही होंगी, अन्य कोई ऋद्धिधारी या केवली भी आ जाएँ तो भी नहीं; क्योंकि उनके पास आहारकऋद्धि नहीं होती।

आहारक काययोग तो जिज्ञासु महाराज के जीवन में घटित होगा या वन्दना का विकल्प रखने वाले मुनिराज को होगा। "**प्रमत्तसंयतस्यैव**" कहा है। वैक्रियिक शरीर बनने योग्य आहार वर्गणाएँ भी भरी हुई हैं लेकिन देव या नरक गति का जिसके उदय रहेगा उसी को यह शरीर बनेगा। भाव के अनुसार कर्म बँधते हैं और कर्मानुसार स्कन्ध परिणत होते हैं, वर्गणाएँ स्कन्धात्मक हैं और अनन्तानन्त परमाणुओं से एक स्कन्ध बनता है। अब यह मत सोचो कि यह कौन सा पाप उदय में आया है? तो जो तुमने बन्ध किया वही उदय में आया है। अब बन्ध कब किया? जब से होश सम्भाला है तब से तो नहीं बाँधा, पहले का ज्ञात नहीं। तो कर्म पहले का इतिहास भी ज्ञात करा रहा है।

वर्तमान विज्ञान को कालाणु की सिद्धि के प्रति कोई जिज्ञासा ही नहीं, तो सुनाना भी नहीं चाहिए। जिज्ञासा वालों को समझाने से प्रभाव पड़ता है। जबर्दस्ती करने पर तो बेटा भी दूध नहीं पीता। हाथ-पैर पकड़कर पिला भी दिया तो दही बनाकर वमन कर देगा फिर तो माँ भी दुबारा पिलाने का साहस नहीं करती। वैसे तो दही बनने में १२ घण्टे लगते हैं लेकिन सोचो पेट की खटाई कितनी है कि तत्काल दही बना देता है। मीठा-मीठा बोलने वालो! भीतर झाँको, कितनी खटाई भरी है, सहज स्वीकार करने वाले को तत्त्वज्ञान की सूक्ष्म बात समझाओ, यही तात्पर्य है।

काल को जानने की योग्यता—इस काल द्रव्य को जानने के लिए गणधर परमेष्ठी के पास भी ज्ञान की सूक्ष्मता नहीं है क्योंकि अवधि, मनःपर्ययज्ञान अरूपी को विषय नहीं बनाते हैं और काल द्रव्य अरूपी है, अमूर्तिक है। अज्ञानी मूर्तिक से ही प्रभावित रहता है। छूना, चखना, सूँघना, देखना, सुनना रात-दिन यह चक्की चलती रहती है। जीव अमूर्त होते हुए भी अमूर्त को जान नहीं पा रहा है क्योंकि उसके पास ज्ञान की इतनी सामर्थ्य नहीं है, यह सामर्थ्य केवलज्ञान के पास है। मनःपर्ययज्ञान भी अतीन्द्रिय नहीं, यद्यपि यह इन्द्रिय से उत्पन्न नहीं होता, किन्तु जो इन्द्रिय से उत्पन्न नहीं होता वह अतीन्द्रिय ही हो ऐसा नियम नहीं। मनःपर्ययज्ञान क्षयोपशमजन्य है, क्षायिक नहीं है। कालद्रव्य सूक्ष्म है और क्षायिक ज्ञान का विषय है। सर्व द्रव्य निश्चय से स्वयं से ही परिणमनशील हैं।

दृष्टान्त—जैसे कोई शीतकाल में गुरु से अध्ययन करे तो उसे प्रकाश की अपेक्षा या ठण्ड मिटाने की अपेक्षा अग्नि सहकारी है क्योंकि प्रकाश के बिना पढ़ नहीं सकते उसी प्रकार काल द्रव्य की सहयोगिता समझना। कुम्भकार के चक्र में घूमने की क्षमता है इसीलिए कुम्भकार के घुमाने से घूमता है। यदि चौकोर होता तो नहीं घूमता और नीचे कील न हो तो भी नहीं घूमता, यदि कील घूमती तो भी नहीं घूमता, स्थिर कील पर चक्र घूमता है। उसी प्रकार द्रव्यों में परिणमन की सामर्थ्य है उसमें कालाणु निमित्त है। उसमें ऐसी कौन सी चुम्बकीय शक्ति है जिससे अनन्त द्रव्य परिणमते हैं? इस जैनदर्शन को विज्ञान नहीं जानता फिर भी कुछ लोग विज्ञान के चक्कर में पड़कर जैनदर्शन की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए विज्ञान की शरण लेते हैं। वैज्ञानिकों के पास अच्छा क्षयोपशम भी है तब भी जीवद्रव्य की पहचान नहीं कर सकते।

क्षयोपशम ज्ञान से घटित आश्चर्यकारी घटनाएँ–

दृष्टान्त १.–क्षयोपशम से कभी-कभी आश्चर्यजनक घटनाएँ घट जाती हैं। अभी कुछ माह पूर्व एक लड़का पहले दो माह तक मौन रहा फिर अचानक एक दिन उसे ऐसा ज्ञान हो गया कि सूक्ष्म से सूक्ष्म बातें बताने लगा, उसके पास कतारें लगने लगीं। उससे पूछा-तुम क्या चाहते हो? तो बोला-अब्दुलकलाम साहब से मिलना चाहता हूँ। पूछा कि-उनसे क्यों मिलना चाहते हो? तब वह बोला-वह बहुत बड़े विद्वान् हैं। परमाणु बम और हाइड्रोजन बम आदि की सूक्ष्म जानकारी रखते हैं, अतः मैं उन्हीं से बात करूँगा। फिर उस १४-१५ वर्ष के लड़के ने अमेरिका के कुछ वैज्ञानिकों से भी बात की, वैज्ञानिक अचरज में पड़ गए। जिसने इंग्लिश कभी नहीं पढ़ी वह अच्छे से धाराप्रवाह अमेरिकन इंग्लिश बोल रहा है। यह देवी-देवता का प्रभाव नहीं, क्षयोपशम का प्रभाव है। मन्त्र और विद्या सिद्धि से भी सम्भव है। जैनाचार्यों ने पहले ही यह बताया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के कारण, जातिस्मरण या निमित्तज्ञान के कारण भी ऐसा हो सकता है। यह विस्मय की बात नहीं वरन् विज्ञान के लिए चुनौती है।

दृष्टान्त २.–गोम्मट्टसार में भी एक गाथा आती है **"संताण कमेणागय..."** अर्थात् वंश परम्परा क्रम से भी ज्ञान हो जाता है। पैतृक संस्कार के कारण वंशानुगत बीमारी भी चलती रहती है। ऐसा ही एक लेख आया था-पूना के पास गाँव का एक व्यक्ति जो सिर्फ मराठी जानता था किन्तु एक ही रात में हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी तीन भाषाविद् हो गया। अचानक दिमाग का बटन चालू कैसे हो गया? किसी को समझ में नहीं आया। यहाँ कोई देव भी नहीं आया जो वह ज्ञान दे गया हो।

दृष्टान्त ३.–जैसे आचार्य श्रीभद्रबाहुस्वामी जी के समय जब १२ वर्ष का अकाल पड़ा तब देवी-देवताओं ने जंगल में नगर बसाकर श्रीचन्द्रगुप्तमुनि को आहार दिया। एक दिन जब एक साधु कमण्डलु भूल आये तो लौटकर गये, देखा वहाँ कोई नगर नहीं है और कमण्डलु वृक्ष पर लटक रहा है। तब उन्होंने सोचा असंयमी देवी-देवताओं से आहार ले करके आये हैं, यह ज्ञात होते ही सभी ने प्रायश्चित्त किया। प्रायश्चित्त लिया जाता है दिया नहीं जाता। अपने आप प्रायश्चित्त लेने वाला कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता है। बालि मुनिराज ने रावण को शिक्षा देने के लिए अंगूठे से पर्वत हिलाया फिर उसके प्रायश्चित्त के लिए गुरु के पास गये और गुरु से प्रायश्चित्त लेकर ध्यान में बैठ गए।

दृष्टान्त ४. –एक व्यक्ति अहमदाबाद में १५ वर्ष से न भोजन करता है, न पानी पीता है, केवल धूप का सेवन करता है यह लेख पढ़ा था। जब सूर्य की ऊर्जा से एक का शरीर चल सकता है तो सबका शरीर क्यों नहीं? प्रासुक सौरऊर्जा से स्नान करो और घर की छत पर या खिड़की में बैठ जाओ लेकिन इससे सबका शरीर नहीं चल सकता। वैज्ञानिकों ने इसका सूक्ष्मता से परीक्षण किया किन्तु इस रहस्य को जान नहीं पाये।

आज का विज्ञान विकासोन्मुखी तो है, हर बात जिज्ञासा से पढ़ना, सुनना और सीखना भी

चाहता है किन्तु मूल स्त्रोत जो कर्म का क्षयोपशम है वहाँ तक नहीं पहुँच पाता। **तत्ततवाणं, महातवाणं, घोरतवाणं** आदि ऋद्धियाँ श्रद्धान का विषय है। विज्ञान के सामने यह चुनौती है कि आहार न करने पर भी शरीर की कान्ति बढ़ती जाती है जबकि संसारी प्राणी अन्न का कीड़ा है। छट्ठेकाल में मिट्टी भी खाने को नहीं मिलेगी, बिल बनाकर जैसे चूहे रहते हैं वैसे ही लोग रहेंगे और एक हाथ की अवगाहना वाले होंगे। अग्नि, धान्य, घास-फूस कुछ भी नहीं रहेंगे।

कालाणु ही अनन्त आकाश के परिणमन में कारण—इच्छा रूप आहारादि चार संज्ञाएँ हैं शरीर के लिए आहार जरूरी है किन्तु रस की ओर प्राणी क्यों दौड़ता है? यह संज्ञा नहीं है यह तो रसना इन्द्रिय की लोलुपता है। असाता के बाद साता का उदय आयेगा इस तरह आशा के सहारे आसमान टिका है। सच तो यह है कि आशा से आशावान टिका है, आसमान नहीं। प्रद्युम्न के ऊपर शिला चादर जैसी हिल रही थी। हनुमान से तो शिला काँच के समान चूर-चूर ही हो गई थी ऐसी शक्ति थी उनके पास। ऐसी ही काल के पास में शक्ति है। यह कालाणु लोकाकाश के अन्त तक है। बूँद के समान लोकाकाश है तो सागर के समान अलोकाकाश है, उसमें परिणमन कैसे होगा? और काल की कितनी क्षमता है? यह स्पष्ट होता है। आकाश के बीच में खण्ड नहीं आकाश अखण्ड है।

दृष्टान्त—दस दिन के उपवास के बाद पारणा के समय मुख में एक घूँट लेते ही पूरे शरीर में शीतलता फैल जाती है रोम-रोम में प्रवाह आ जाता है क्योंकि सम्पूर्ण शरीर अखण्ड है। लकड़ी के एक छोर को घुमाने से पूरी ही घूमने लगती है। एक अंग को छूने से सारे शरीर में रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पतंग की डोर नीचे है उसे हिलाने से ऊपर पतंग भी नाचने लगती है। फोन से बात करते हैं सुनते-सुनते हँसने लगते हैं, चेहरे के हाव-भाव बदल जाते हैं जबकि वह सामने नहीं है। पैर में काँटा चुभ जाए तो पूरे शरीर में दर्द होने लगता है, कुछ चखते हैं तो सुखानुभूति पूरे जीव में होती है, सिर दर्द हो रहा है किन्तु बुखार पूरे शरीर में है और ठण्डे थर्मामीटर में गर्मी आ जाने से जो सबसे भारी पदार्थ पारा था उसे भी चढ़ा देता है। उसी प्रकार कालाणु भी अनन्त आकाश के परिणमन में कारण है यही तो द्रव्य की अचिन्त्य शक्ति है।

काल और आकाश दोनों अमूर्त हैं। सिद्धपरमेष्ठी भी काल से उपकृत हो रहे है; क्योंकि काल के बिना परिणमन नहीं हो सकता। घनिष्ठ सम्बन्ध होने से दूर से भी कोई स्मरण करता है तो यहाँ हिचकी आदि के रूप में प्रभाव पड़ जाता है। अखबार में प्रशंसा रूप नाम आ जाए तो प्रफुल्लित हो जाता है। बदनामी रूप हो तो आकुलित हो जाता है। उसी प्रकार साँप या बिच्छू काट ले तो चाहे कितनी भी नींद आती हो निद्रादेवी भाग जाती है और एक मिनट में सैकड़ों बार उठक-बैठक कर देगा। बिच्छू गरमदल और साँप नरमदल वाला है। साँप के काटने पर नगाड़े बजाते रहते हैं कि कहीं सो न जाए क्योंकि सोते ही गहलता आने से मृत्यु का भय रहता है और बिच्छू के काटने पर सुलाने की कोशिश करते हैं किन्तु न तो वह स्वयं सोता है और न ही वह किसी को सोने देता है। सौ किलो वजन

वाला भी उचकने लग जाता है।

काल द्रव्य परिणमन में सहकारी कारण—विद्यादि के द्वारा विष को दूर किया जा सकता है ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। विद्याओं के माध्यम से देवताओं को बाँधना रौद्र ध्यान है। यह सचित्त परिग्रह हो जायेगा। विद्याधर पाँचवें गुणस्थान तक तो होते हैं। आगे विद्याएँ छोड़ दें तो ७वें गुणस्थानवर्ती हो जाते हैं। कालद्रव्य भी अन्य द्रव्यों के परिणमन में वैसे ही कारण है। ज्ञान अन्य ज्ञेयों को जानता है और स्वयं को भी। जैसे–सूर्य व दीपक औरों को प्रकाशित करते हैं और स्वयं को भी। उसी प्रकार कालद्रव्य पर के भी और स्वयं के भी परिणमन में कारण है। यद्यपि द्रव्य स्वयं स्वभावतः परिणमनशील है फिर भी काल द्रव्य सहकारी कारण है। जैसे–वृद्ध व्यक्ति अपने ही पैरों से चलता है पर हाथ में लाठी सहकारी कारण है किन्तु लाठी भी तभी सहारा बन सकती है जब उसके पास पैर हों। उसी प्रकार जीव और पुद्गल जब स्वयं क्रियाशील और ठहरे हुए होते हैं तभी धर्म और अधर्मद्रव्य उदासीन कारण होते हैं।

एक द्रव्य का कार्य दूसरा द्रव्य नहीं कर सकता—एक द्रव्य का गुण दूसरे के लिए कार्य नहीं कर सकता, यदि ऐसा न हो तो संकर व्यतिकर दोष का प्रसंग आ जायेगा। सभी द्रव्य उपादान कारण के समान सहकारी कारण में भी वही कार्य करने लग जाएँ तो सभी सहकारी कारण हो जायेंगे। जब एक की सहकारिता से कार्य हो जाता है तो सबकी क्या आवश्यकता? संस्था में तीन व्यक्ति मिलकर भी उतना ही कार्य करते हैं और एक व्यक्ति भी उतना ही करता है तो व्यर्थ खर्च क्यों करेंगे? इससे तो संस्था असफल हो जायेगी। जैसे–सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करती हैं। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का काम नहीं करती, वैसे ही एक द्रव्य विशेष गुण के कारण जो कार्य करता है उसे दूसरा द्रव्य नहीं कर सकता।

अनन्तकाल से संसार में भ्रमण का कारण—जो विशुद्धज्ञान-दर्शन युक्त जीवास्तिकाय है उसका लाभ न होने से अनन्तकाल से संसारी जीव भवचक्र में भ्रमण कर रहा है। जब वीतराग निर्विकल्पसमाधि में स्थित होकर संकल्प-विकल्प रूप तरंगों से रहित होकर जीव जीता है वही जीवन जीने योग्य है, इसी का निरन्तर ध्यान करना चाहिए मात्र स्वाध्याय के समय ही नहीं, यह प्रयोजनभूत तत्त्व है।

उत्थानिका—यहाँ व्यवहारकाल का कथञ्चित् पराश्रितपना दर्शाते हैं–

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदुअयण संवच्छरोत्ति कालो परायत्तो ॥२५॥

अन्वयार्थ—(समओ) समय **(णिमिसो)** निमिष **(कट्ठा)** काष्ठा **(कला)** कला **(य णाली)** और घड़ी **(तदो)** उससे बने **(दिवारत्ती)** दिनरात **(मासोदु)** मास व ऋतु **(अयण)** अयन **(संवच्छरोत्ति)** संवत्सर आदि **(कालो)** काल **(परायत्तो)** पराधीन है।

अर्थ—समय, निमेष, काष्ठा, कला, घड़ी, अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन और वर्ष ऐसा जो काल है वह पराश्रित है।

समय निमिष काष्ठा व कलाएँ, नाली दिवा निशा का काल।
माह वर्ष ऋतु अयन पल्य सब, हैं व्यवहार नयाश्रित काल॥
द्रव्य रूप जो काल रहा वह, स्वाश्रित निश्चयकाल कहा।
पर आश्रित व्यवहार काल है, कहते हैं जिनराज महा ॥२५॥

व्याख्यान—काल की सबसे छोटी इकाई समय है। निमेष भी काल की पर्याय है। स्वर्गीय देव अनिमेष रहते हैं, उनकी पलकें तो रहती हैं पर झपकती नहीं हैं। पलकों का खुलना और बन्द होना मनुष्य और तिर्यञ्चों में होता है। भोगभूमियाँ और नारकी को अनिमेष नहीं कहा "**दृष्टवा भवन्तमनिमेष विलोकनीयं**" भगवान् के दर्शन करते समय आँखों की टिमकार नहीं होना चाहिए क्योंकि झपकने से भगवान् नहीं दिखते, भगवान् तो वहीं हैं पर दिखते नहीं। जब किसी को गौर से देखते हैं तब आँखों की पुतलियाँ थम जाती हैं। मृत्यु के समय भी आँखों की टिमकार रुक जाती है। जैसे–भरत बाहुबली ने दृष्टियुद्ध के समय पुतलियाँ रोक दी थीं।

काल द्रव्य की कोई भी पर्याय इन्द्रिय द्वारा पकड़ में नहीं आती इसलिए काल द्रव्य की व्यंजन पर्याय नहीं हैं। कला, नाली, ऋतु, अयन आदि ये सब काल की पर्याय हैं। एक समय की परिभाषा बताने में भी असंख्यात समय हो जाते हैं। समय की परिगणना दिमाग से नहीं होती, केवलज्ञानी का विषय बनती है। प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है तो सोचो कर्म की निर्जरा में समय का कितना महत्त्व है। यह महत्त्व बताने में भी असंख्यात समय हो गए। एक समय में अनन्त कर्म परमाणुओं का बन्ध होता है तो असंख्यात समय में कितना बन्ध हो जाता है? एक समय में निर्जरा है तो बन्ध भी है, लेन और देन दोनों हैं। लेते ही रहोगे तो रखोगे कहाँ? सारा घर सोने से भर दोगे तो रहोगे कहाँ? सड़कों पर। इसीलिए निर्जरा है तो बन्ध भी है किन्तु जैसे–जैसे गुणस्थान बढ़ते जाते हैं वैसे–वैसे बन्ध कम, निर्जरा ज्यादा होती जाती है। मिथ्यादृष्टि ७० कोड़ाकोड़ी सागर का बन्ध कर सकता है किन्तु सम्यग्दृष्टि को अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर से ज्यादा का बन्ध होता ही नहीं। जैसे–पहले ७० किलोमीटर प्रतिघण्टा की रफ्तार की गाड़ी से चल रहे थे अब एक घण्टे में एक किलोमीटर प्रतिघण्टा अर्थात् चींटी की चाल से चलने वाली गाड़ी में बैठ गए। जो एक हाथ की चौड़ी पटरी पर बच्चों की ट्रेन चलती रहती है, उसमें उतर जाओ और आराम से चढ़ जाओ, एक्सीडेंट भी नहीं होता। कषाय में भी इतनी ही मन्दता आ जाती है। यह तत्त्व चिन्तन का परिणाम है, यदि यह तत्त्व चिन्तन का समय इधर–उधर की बातों में लगा दोगे तो व्यर्थ चला जायेगा।

व्यवहार काल का कथन—'वि' उपसर्गपूर्वक 'अव' उपसर्गपूर्वक आहरति इति व्यवहारः

२४ मिनट की एक घड़ी, २ घड़ी का एक मुहूर्त, मुहूर्त में एक समय भी कम करने से अन्तर्मुहूर्त होता है। अन्तर्मुहूर्त तक ध्यान करके मुक्ति का सम्पादक हो सकता है। ध्यान भी अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं लग सकता। ३० मुहूर्त का एक दिन-रात, दो पक्ष या ३० दिन का एक माह। मानलो किसी का जन्म या मरण २९ फरवरी को हुआ तो ४ वर्ष बाद उसकी वह जन्मतिथि या पुण्यतिथि मना पायेंगे। भारतीय संस्कृति के अनुसार ढाई वर्ष में एक माह बढ़ जाता है। अंग्रेजी माह नहीं बढ़ता है। वार में भी घट-बढ़ नहीं होती, तिथि घटती-बढ़ती रहती हैं, ऋतुएँ बदलती रहती हैं। ३ ऋतु का एक अयन होता है। अयन का अर्थ—दक्षिणायन या उत्तरायण है। दक्षिण की ओर सूर्य के गमन का नाम दक्षिणायन और उत्तर की ओर गमन का नाम उत्तरायण है। २ अयनों का एक वर्ष होता है इसी तरह जहाँ तक वर्ष गिने जाएँ वहाँ तक संख्यातकाल, इसके उपरान्त पल्य, सागर आदि असंख्यात वा अनन्त कल्पकाल बीत जाते हैं। पहले मुहूर्त घटिकादि से चलते थे अब घण्टे से चलते हैं। इस प्रकार व्यवहारकाल निश्चयकाल से उत्पन्न होता है फिर भी बाह्य पदार्थों से उत्पन्न हुआ यह कहना उपचार है।

वस्तुतः सूर्य आदि की गति से काल प्रगट रूप से ज्ञात होता है। जैसे—बादल तितर-बितर हो जाते हैं तब सूर्य की प्रभा बाहर आ जाती है। यहाँ बादलों से सूर्य उत्पन्न नहीं हुआ वह तो पहले से ही था किन्तु बादलों का हटना सूर्य के प्रकट होने में कारण है। बादल नहीं भी हटे तो भी सूर्य दिन में अपने आप दिखने में आ जाता है। उसका प्रताप कभी छुपता नहीं, उसकी धूप रूप प्रतिभा भले ही बाहर आये या न आये किन्तु ताप तो आ ही जाता है। रात में सूर्य न रहने से तापमान कितना कम रहता है और दिन होते ही ६ बजे से तापमान बढ़ने लगता है। भले ही कोहरा छाया हो, कुछ भी न दिखता हो फिर भी दिन का भान हो ही जाता है।

सूरज दूरज हो भले, भरी गगन में धूल।
सर में पर नीरज खिले, धीरज हो भरपूर ॥ (पूर्णोदय शतक)

सरोवरों में कमल अपने आप खिल जाते हैं यही सूर्योदय का संकेत है। दूरज होकर भी वह सूरज नीरज को खिला देता है और आप पास आकर उसको उड़ा देते हो तो ये कैसी बात है? यहाँ कोई कहे कि सूर्य-चन्द्र की गति में धर्मद्रव्य और कालद्रव्य भी सहकारी कारण हैं अतः व्यवहार काल का सहकारी कारण धर्मद्रव्य भी है। तो सहकारी के भी अनेक सहकारी कारण हो सकते हैं।

दृष्टान्त—जैसे मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाते हैं तो गति में धर्मद्रव्य सहायक है। ट्रेन के लिए पटरी, डीजल, कोयला या विद्युतप्रवाह भी सहायक है। इस प्रकार सामान्य और विशेष आदि एक कार्य में अनेक कारण आपेक्षित हैं। स्वस्थ व्यक्ति के नाड़ी की फड़कन से आयु का माप हो जाता है। नाड़ी की फड़कन काल के निमित्त से होती है। श्वास जो निकल रही है उसमें काल के कारण हर समय में एक-एक निषेक पुंज खिर रहा है। असंख्यात समय में उदयावली गत असंख्य

निषेक समाप्त हो जाते हैं। यह उसकी गति भी काल पर आधारित है। जैसे–मत्स्य को तैरने में जल, मनुष्यों और वाहन आदि को चलने में सड़क, विद्याधरों को विद्याओं में मन्त्र, देवों के गमन में विमान आदि के समान काल आदि अनेक द्रव्य कारण बन जाते हैं।

शंका—प्रश्न यह उठता है कि एक परमाणु जब मन्दगति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाता है तब एक समय लगता है। तो १४ राजू तक पहुँचने में कम से कम असंख्यात समय तो लगना ही चाहिए।

समाधान—आचार्य कहते हैं **'नैवम्'** ऐसा नहीं; क्योंकि परमाणु तीव्र गति से चले तो एक समय में ही १४ राजू जाने की क्षमता रखता है।

शंका—परमाणु जड़ है जीव तो है नहीं, फिर मन्दगति क्यों होती है?

समाधान—इसमें कारण स्निग्ध-रूक्षत्व रूपी क्वालिटी विशेष का परिणमन है। स्निग्ध और रूक्ष के जघन्य गुण से युक्त परमाणु की मन्दगति होती हो और उत्कृष्ट गुण युक्त होने से उसकी क्षमता बढ़ती हो तब गति में तीव्रता आती हो ऐसा लगता है किन्तु यह कहीं पढ़ने में नहीं आया। जिस प्रकार एक गाड़ी तेज रफ्तार से चलती है। एक धीरे-धीरे चलती है। पटरी वही है, पेट्रोल वही है, रफ्तार में लाने के लिए आपने गेयर बदल दिया। उसी प्रकार परमाणु में वो गेयर फिट है। एक में गेयर फिट नहीं है इसलिए धीरे-धीरे जाता है। यदि मन्द व तीव्रगति में मात्र काल कारण होता तो सबमें समान रूप से गति होती किन्तु काल मात्र उदासीन कारण है। ऐसा भी नहीं कि सिद्धपरमेष्ठी जो लोकाग्र पर विराजे हैं वह उस परमाणु को एक समय में खींच लेते हों, यदि ऊपर कोई खींच सकता है तो नीचे भी खींच सकते हैं किन्तु किसी के खिंचाव से नहीं, स्वयं की क्षमता से ही एक समय में १४ राजू गमन करता है। कालाणु भी एक-एक प्रदेश पर रत्नराशि के समान एक-एक ही स्थित है किन्तु पुद्गल एक-एक नहीं अनन्तानन्त हैं। अतः उपरोक्त हेतु ही सशक्त लगता है।

सिद्धप्रभु एक समय में ही ७ राजू पार कर जाते हैं और कोई निगोदिया जीव एक समय (ऋजुगति) में १४ राजू भी पार कर सकता है। सिद्ध तो ७ राजू ही गये किन्तु निगोदिया तो १४ राजू पार कर गया। यहाँ आहारक था और फिर सीधा १४ राजू ऊपर ठहरकर भी आहारक ही रहेगा। मानो एक पैर यहाँ और दूसरा पैर १४ राजू पर, तो क्या यहाँ सिद्ध से भी ज्यादा महिमा उस निगोदिया की है? नहीं।

दृष्टान्त—यदि देवदत्त सौ दिन में १०० योजन गमन करता है तो एक दिन में कितना करेगा? यदि साईकिल से जायेगा तो एक दिन में १० योजन भी गमन कर सकता है, स्कूटर, कार, हेलीकाप्टर से और जल्दी जा सकता है, विद्या सिद्धि से तो एक सेकेण्ड ही में १०० योजन जा सकता है। पहले कोई स्कूटर गाँव में आता था तो आवाज सुनकर देखने को भीड़ इकट्ठी हो जाती थी, अब तो हवाईजहाज की आवाज भी सामान्य लगती है। पहले दसवीं पढ़कर गाँव में आते थे तो लोग उसे

सम्मान देते थे। अब तो बी॰ कॉम॰ बे काम हो गया, इंजीनियर भी चपरासी का काम कर रहे हैं आधुनिकता में सब कुछ घटिया हो गया है।

उत्थानिका—व्यवहारकाल को किसी अपेक्षा से पराधीन कहा है। वह किस तरह पराधीन है युक्ति पूर्वक समाधान करते हैं–

णत्थि चिरं वा खिप्पं मत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता।
पुग्गलदव्वेण विणा तम्हा कालो पडुच्चभवो ॥२६॥

अन्वयार्थ—(मत्तारहिदं) मात्रा या परिमाण के बिना **(तु)** तो **(चिरं वा खिप्पं)** देर या जल्दी का व्यवहार **(णत्थि)** नहीं होता है। **(खलु)** निश्चय से **(सा वि मत्ता)** वह मात्रा भी **(पुग्गलदव्वेण)** पुद्‌गल द्रव्य के **(विणा)** बिना नहीं होती है **(तम्हा)** इसलिए **(कालो)** काल **(पडुच्चभवो दु)** पुद्‌गल के निमित्त से हुआ ऐसा कहा जाता है।

अर्थ—चिरं अथवा क्षिप्र अर्थात् अधिककाल अथवा अल्पकाल ऐसा ज्ञान कालद्रव्य के माप बिना नहीं होता और वह माप (परिमाण) वास्तव में पुद्‌गल द्रव्य के बिना नहीं होता इसलिए व्यवहारकाल पराश्रित है।

देर हो गई या जल्दी है, यह जब-जब होता व्यवहार।
मात्रा या परिमाण बिना ना, होता है यह वच व्यवहार॥
वह परिमाण बिना पुद्‌गल के, होता नहीं सुनिश्चित है।
अतः काल पुद्‌गल निमित्त से, हुआ यही जिनभाषित है ॥२६॥

व्याख्यान—यह विलम्ब-अविलम्ब, क्षिप्र-अक्षिप्र आदि पुद्‌गल के बिना पकड़ में नहीं आता। किसी की घड़ी ३ घण्टे में दो मिनट आगे बढ़ जाती है, किसी की पीछे। इसमें काल कारण नहीं, यह पुद्‌गल के आश्रय से होता है। पहले चावल, दाल तोल से मिलते थे, अब तो घड़ी भी तोल से मिलने लगी। पहले किसी विशेष व्यक्ति के हाथ में घड़ी रहती थी, अब तो घड़ी की कोई महत्ता ही नहीं है।

शंका—व्यवहारकाल पराश्रित कैसे है?

समाधान—यह कार्य जल्दी हो गया, इसमें विलम्ब हो गया इस प्रकार जहाँ शीघ्र और विलम्ब विशेषण से कथन आता है वह पराश्रित काल का ही कार्य है। जैसे—थर्मामीटर से ज्वर नापने पर पता चल जाता है इसके बिना ज्वर का पता नहीं चलता। वैसे ही इसे वहाँ पहुँचने में एक घण्टा लगा, उतरने में १० मिनट लगा, चार घण्टे तक वर्षा हुई, यहाँ काल को नापने के लिए कोई न कोई आधार लिया। अतः इसे **'परायत्ता'** कहा अर्थात् पराश्रित काल में सबसे सूक्ष्म समय है फिर भी यह परमाणु की गति पर आधारित है। आँख की टिमकार के बिना निमेष आदि का कथन नहीं हो सकता।

बिना ज्ञेय के ज्ञान का अनुभव क्या यहाँ कोई कर सकता है? रात में टॉर्च का प्रयोग करते हैं तब प्रकाश किसी न किसी ज्ञेय (पदार्थ) पर पड़ता है। यदि जानने को कुछ न मिले तो लोग पागल जैसे हो जाते हैं। अकेले बैठना अज्ञानी को अखरता है।

दृष्टान्त—१९७५ में आपातकाल के दौरान नेताओं को आंतरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम (मीसा) में १८ माह तक बन्द कर दिया था। वहाँ मात्र भोजन की व्यवस्था थी और कोई किसी से मिल नहीं सकता था, तब लोगों के मुश्किल से दिन कटे थे, किन्तु ज्ञानी चाहकर जंगल में एकान्तवास करते हैं इससे ज्ञेय का आकर्षण समाप्त हो जाता है। ज्यादा जानने से भी सिर दर्द होता है तभी डॉक्टर कहते हैं कि–मरीज के पास कोई न जाए। यदि मरीज बात करने की इच्छा करे तो उसे बेहोश कर देते हैं। कोई भी इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं, यदि थोड़ा–सा होश में आने लगता है तो पुनः बेहोश कर देते हैं। परज्ञेयों के कारण गड़बड़ ही होता है। टीका लगने पर जब वह फूल जाता है और बार–बार हाथ लगाता है तो वहाँ कपड़ा बाँध देते हैं। फिर भी हाथ लगाता है तो हाथ पर ही कपड़ा बाँध देते हैं, सम्बन्ध समाप्त कर देते हैं। ज्ञेय का भी एक व्यसन है किसी को देखने, लिखने, पढ़ने या सुनने को कुछ न मिले तो बीमार पड़ जाते हैं। जैसे आहार संज्ञा है वैसे परिग्रह संज्ञा भी है। महापुरुषों को छोड़कर हमें छह आवश्यकों में क्यों बाँधा? कुछ देखना चाहो तो समयसार देख लो, कुछ बोलना है तो समयसार की चर्चा कर लो, स्तुति करना है तो प्रभु की स्तुति कर लो, श्रावकों की नहीं। विकथा न करें, ज्ञान का ज्ञेय की ओर झुकाव पराश्रित है।

निश्चयकाल की पर्याय रूप जो समयादि व्यवहारकाल है वह घड़ी के काँटे से उत्पन्न नहीं हुआ है। **मूलाचार** में कहा है कि–सर्दी, गर्मी के दिनों में सूर्य–चन्द्र के गमन से दिन–रात का ज्ञान किया जाता है। व्यवहारकाल की पहचान सूर्य–चन्द्र की गति से होती है, सूर्य–चन्द्र से व्यवहारकाल उत्पन्न नहीं होता है। सूर्य–चन्द्रमा घूम–घूमकर आते हैं लेकिन काल कभी लौटकर नहीं आता। अतीत में जो व्यवहारकाल की क्षणिकाएँ निकल गयी हैं, वे आगे आने वाले क्षण से कम हैं। छोर न होते हुए भी भविष्य ज्यादा है।

घड़ी में १२ अंक हैं। रात के १२ और दिन के भी १२ इस प्रकार घड़ी में १२ घण्टों का ही संकेत है। २४ तक लिखने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, रेलवे स्टेशन आदि पर १२ के बाद १३, १४, १५, १६ आदि लिखा जाता है। लेकिन सामान्य तौर पर दिन के १२ बजे से रात के १२ बजे तक P.M. और रात के १२ बजे से दिन के १२ बजे तक A.M. से काम चल जाता है, किन्तु जो मुनिराज जंगल में चातुर्मास करते हैं घनघोर वर्षा होती है, दिन–रात एक पेड़ के नीचे ध्यानस्थ हो जाते हैं। ध्यान करते हुए चार माह निकल जाते हैं। अब निष्ठापन करना है। किसी ने आकर कहा नहीं कि–आज दीपावली है फिर भी वे ध्यानमुद्रा तजकर निष्ठापन कर लेते हैं। बिना आहार किए चार माह रहे फिर भी उनकी बुद्धि तीव्र है, बिना ज्ञेय के ज्ञान का रहना अतिदुर्लभ है। दो–तीन उपवास हो जाएँ या सल्लेखना आदि

के समय पर भोजन-पानी न ले पाये तो बुद्धि ठीक से काम नहीं कर पाती। दिन की दस घण्टी बजी या रात की समझ में नहीं आता।

व्यवहारकाल का पराश्रितपना—मानलो आँख पर पट्टी बाँधकर एकान्त स्थान पर उतार दिया जहाँ जंगल है एक भी व्यक्ति नहीं दिखता हो या इमारत तो है किन्तु पूरी खाली है तो घबरा जाते हैं। वहाँ ''स्वर्ग से सुन्दर सपनों से प्यारा'' नहीं गाओगे, वहाँ से जल्दी भाग जाओगे। अरण्य में भी यदि दो-तीन व्यक्ति हैं तो रात काटी जा सकती है किन्तु दिन में कोई व्यक्ति न दिखे ऐसे सुनसान स्थान पर दिन दहाड़े भी भय लगता है। यह ज्ञान, ज्ञेय रूप आलम्बन के बिना टिकता ही नहीं, पागल होने में देर नहीं लगती। स्पष्ट है कि व्यवहारकाल पराश्रित है जो कि परमार्थकाल रूप उपादान से उत्पन्न होता है।

एक सूत्र है श्री सोमदेवसूरि का ''**कालेन संचयमाने परमाणुरपि मेरोःजायते।**'' समय-समय पर इकट्ठा किया हुआ एक-एक अणु भी मेरु का रूप स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार एक-एक सेकेण्ड करते सागरोपम काल और अनन्त भव निकल गये। ''**बहिरवस्थिताः**'' सूत्र से ढाई द्वीप के बाहर ज्योतिष्क मण्डल स्थित है। स्वर्गों में घड़ी-घण्टा कुछ भी नहीं है इसीलिए रात-दिन का भी विकल्प नहीं है। चुटकी बजाते ही सागरों की आयु पूर्ण कर लेते हैं जैसे स्वप्न पूरा हो गया हो सिर्फ छह माह शेष रहने पर ज्ञात होता है कि अब यहाँ से जाना है। मिथ्यादृष्टि रोता है कि अब यहाँ से जाना पड़ेगा, किन्तु सम्यग्दृष्टि सोचता है कि यहाँ से मनुष्य बनकर चारित्र धारण करूँगा। इस प्रकार समय बीत जाता है, पर्याय मिट जाती है किन्तु परमार्थ रूप जो काल है वह कभी भी मिटता नहीं। काल का कोई रविवार नाम नहीं है। लोक व्यवहार में कहते हैं कि रविवार को सोये थे सोमवार को उठे हैं। ५० वर्ष जीवन के निकल गए तो यह साल कौन से रास्ते से आया था और कौन से रास्ते से निकल गया? सोमवार कहाँ से आता है और कहाँ चला जाता है? सोते-सोते अनन्तकाल बीत गया। **समाधितन्त्र** में श्री **पूज्यपाद** आचार्यदेव कहते हैं कि –

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्म गोचरे ॥७८॥

जो व्यवहार में सोता है वह निश्चय में जागता है और जो निश्चय में जागता है वह व्यवहार में सोता है। हमेशा जागृति awareness बनी रहती है। काल को निमित्त बनाकर लोग क्या-क्या कल्पना कर लेते हैं। व्यवहारी जीवों को व्यवहार की शरण है यह माना, किन्तु अध्यात्मदृष्टि से स्वचतुष्टय ही निश्चयकाल और परचतुष्टय व्यवहारकाल है। अज्ञानी दिन में कितनी बार बात-बात में समय को याद करता है, समयसार को नहीं। काल के पास करुणा है ही नहीं, आपके पास स्वयं के प्रति करुणा है तो स्वसमय की ओर देखो। काल को देखने से निर्विकल्प समाधि मिटती है और समयसार को देखने से काल की दशा मिटती है। श्री सुकौशलस्वामी और श्री कीर्तिधरमुनिराज दोनों

पिता पुत्र थे। श्री कीर्तिधर मुनिराज ने चातुर्मास स्थापना की और खड़े हो गए। अपने दिव्यज्ञान से जानकर ठीक समय पर निष्ठापन कर लिया, यह कल्पना नहीं है वे एक-एक श्वासोच्छ्वास को समय पर ही पूर्ण करते हैं। ३०० श्वासोच्छ्वास लिखा है तो उतने ही होते हैं हीनाधिक नहीं। जिस समय श्वासोच्छ्वास की आवाज सुनोगे तो उस समय दुनिया की आवाज नहीं आयेगी। ध्यान में एकाग्रता आती है, मन लग जाता है। जाप्य, आसन, श्वासोच्छ्वास आदि घड़ी का काम कर जाते हैं।आदिप्रभु के ज्ञान की पकड़ सूक्ष्म होने से हजार वर्ष में भी छेदोपस्थापना चारित्र नहीं हुआ। हजार वर्ष अर्थात् ३६५×१००० = लाखों दिन हो गए।

द्रव्यानुसार ही पर्याय होती है। चैतन्य की धारा है तो उसमें पुद्गल की परिणति नहीं आती। यद्यपि पुद्गल को विषय बना सकते हैं किन्तु हमारा उपादान मात्र चैतन्य प्रवाह है। रात-दिन चिन्तन की धारा में भी चैतन्यधारा कभी खण्डित नहीं होती है। यही उपादान कारण सदृश कार्य है। पेन्सिल कहने से कभी घड़ी आदि की पहचान नहीं होती क्योंकि एक-एक शब्द अपने वाच्यभूत पदार्थ के लिए युक्त है। 'सिंह' शब्द कहते ही यह हिंसक है, सैनी है, जंगल का राजा है आदि, ज्ञान की धारा दिमाग में आने लगती है। यह स्वभाव से ही है। 'सर्वज्ञ' यह तीन अक्षर कहते ही ये सबको जानने वाले हैं। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि शब्दों में कितनी क्षमता है। पर्यायवाची की अपेक्षा से एक-एक शब्द से अनेक पदार्थों का ज्ञान हो सकता है।

कालाणु का स्वरूप—आजतक परमार्थकाल को कोई देख नहीं सका, यह तो सर्वज्ञ का विषय है। सर्वज्ञ प्रभु ने कहा कि—लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर रत्नराशि के समान कालाणु स्थित है। जैसे—एक रत्न दूसरे रत्न में प्रवेश नहीं करता। उसी प्रकार एक कालाणु में दूसरा कालाणु प्रवेश नहीं करता। चैतन्य जीव ने कितनी बार परिवर्तन किया और पुद्गलों का परिवर्तन तो होता ही रहता है किन्तु कालाणु निष्क्रियत्वात् क्रिया रहित होने के कारण कालाणु जहाँ था वहाँ पर ही स्थिर है कितना धीर, गम्भीर है वह। परमाणु उथल-पुथल करता है और कालाणु शान्त है इसीलिए इसे शुद्ध द्रव्य कहा है। कालाणु असंख्य होकर भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जाते। जैसे—अहमिन्द्र। स्वर्गों में कितनी भी आश्चर्यकारी घटनाएँ होने लग जाएँ तो भी अपने विमान को छोड़कर सीमा को नहीं लाँघते, तीर्थंकरों के समवसरण में भी वे नहीं जाते। पूर्वभव में मुनि बनकर समता रखने वाले ऐसे सन्तोषी प्राणी ही अहमिन्द्र होते हैं। पूरे जीवनकाल तक यात्रा नहीं करते। नव ग्रैवेयक से लगाकर पाँच अनुत्तर तक सभी अहमिन्द्र हैं। नव ग्रैवेयक में शुक्ललेश्या वाले होकर भी बहुत से मिथ्यादृष्टि जीव हैं किन्तु अनुदिश व अनुत्तर में नियम से सम्यग्दृष्टि जीव ही रहते हैं। ये सब भागादौड़ी नहीं करते, स्थिर रहते हैं। कालाणु भी वहीं के वहीं रहते हैं और उसके निमित्त से सर्व द्रव्यों में परिणमन होता रहता है। **अनन्तकाल में दुर्लभ कुछ है तो वह जीवास्तिकाय है और चिदानन्द की अनुभूति रूप काल ही उपादेय है। शेष बाह्य काल हेय हैं।** आचार्यों ने चार आराधना रूप शुद्ध आत्मानुभूति

काल को शुद्धकाल व स्वकाल कहा है क्योंकि इसी से मुक्ति का लाभ होने वाला है। इस तरह निश्चयकाल, व्यवहारकाल और स्वकाल ये तीन हो गये। इसमें स्वकाल ही प्रयोजनभूत है। रागादि विभावरूप सर्व संकल्प और विकल्प जाल से रहित होकर उसी में लीन होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करें यही तात्पर्य है। इस प्रकार २६ गाथाएँ पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—छह द्रव्यों का चूलिका रूप से विस्तार से व्याख्यान करते हैं–

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥

अन्वयार्थ—(जीवोत्ति) यह जीव जीने वाला है, **(चेदा)** चेतना सहित चेतने वाला है **(उवओग-विसेसिदो)** उपयोग सहित है **(पहू)** प्रभू है **(कत्ता)** करने वाला **(य भोत्ता)** और भोगने वाला है, **(देहमत्तो)** शरीर प्रमाण आकारधारी है **(ण हि मुत्तो)** निश्चय से मूर्तिक नहीं है तथा **(कम्मसंजुत्तो)** कर्म सहित **(हवदि)** है। इन नौ अधिकारों को रखने वाला है।

अर्थ—आत्मा जीव है जो कि चेतना गुण से युक्त है, उपयोग लक्षण वाला है, प्रभु है, कर्त्ता है, भोक्ता है, देहप्रमाण है, अमूर्त है और कर्म संयुत है।

आतम जीव चेतने वाला, लक्षण है इसका उपयोग।
समर्थ होने से प्रभु है यह, कर्त्ता और करे फल भोग ॥
देह प्रमाणी जीव द्रव्य है, स्वभाव से ना मूर्तिक है।
जीव सदा संसार दशा में, अष्ट कर्म से संयुत है ॥२७॥

व्याख्यान—जीव चेतना युक्त होता है, यह चेतना अनुभूति परक है। उपयोग जानने और देखने की अपेक्षा से है। यह देखना जानना स्व का भी हो सकता है और पर का भी, किन्तु चेतना कहने से केवल स्व का ही अनुभव हो सकता है, पर का नहीं। इसीलिए जीव कहने से चेतन रूप अनुभूति वाला है **''जीवोत्ति हवदि चेदा''** यह कहा है और उपयोग वाला कहने से जानने-देखने वाला सिद्ध होता है। स्वानुभव का सम्बन्ध टूटने पर, पर को देखना-जानना होता है। अपनी आत्मा को देखने जानने का अर्थ है अनुभव और अनुभव में कोई क्रियाएँ नहीं होतीं मात्र संवेदन रहता है। अनुभव की कोई परिभाषा नहीं रहती, यह अकथ्य है। अपने गुण और सत्ता का मालिक स्वयं आत्मा है फिर भी अज्ञानता से पर के स्वामी बनना चाहते हैं जबकि आचार्य कहते हैं कि–मैं अपने द्रव्य का कर्त्ता हूँ, अपने ज्ञान का स्वामी हूँ व अपने गुणों का भोक्ता हूँ। इसलिए मैं पर कर्तृत्व, भोक्तृत्व व स्वामित्व को छोड़ता हूँ क्योंकि; स्वामित्व में विकल्प हैं, कर्तृत्व में संकल्प है। पर के साथ आनंद की अनुभूति होती है, स्व के साथ आनंद की अनुभूति नहीं होती यह आपकी बुद्धि की धारणा है। **श्री कुन्दकुन्द स्वामी** ने **समयसार** में कहा–**''पज्जयमूढा हि परसमया''** जब मैं अकेला हूँ तो राग-द्वेष क्यों

करूँ? दुनिया का एक तिलतुष मात्र भी मेरा नहीं है और न हो सकता है तो फिर क्यों मैं उसके पीछे पड़कर मौलिक समय नष्ट करूँ। संसारदशा में जीव देह बिना नहीं रह सकता और मुक्तदशा में ज्ञान को ही देह बना लेते हैं। जब तक कर्मयुक्त रहता है तब तक जीव को मूर्त भी कहा है किन्तु कर्म मुक्त को अमूर्त कहा है।

जीव द्रव्य का वर्णन—छह द्रव्यों में मात्र जीव और पुद्गल में स्थानान्तर की क्षमता है। पुद्गल द्रव्य लोक प्रमाण महास्कन्ध की अपेक्षा से सर्वगत है शेष पुद्गलों की अपेक्षा सर्वगत नहीं है। जीव और पुद्गल परिणाम और परिणामी दोनों हैं क्योंकि इनमें स्वभाव-विभाव दोनों रूप परिणाम हुआ करते हैं, शेष चार द्रव्य विभावव्यंजन पर्याय का अभाव होने से मुख्य वृत्ति से अपरिणामी हैं। वैसे तो परिणाम सबके पास हैं किन्तु विभाव रूप परिणमन की क्षमता इनके पास नहीं है। निश्चय से जीव विशुद्ध ज्ञान और दर्शन स्वभाव वाला है।

प्राण किसे कहते हैं—शुद्ध चेतन स्वभाव को ही प्राण कहा है। भव्य हो या अभव्य हो, सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि हो, संसारी हो या सिद्ध हो निश्चय से सब अपने-अपने विशेष गुणों से जी रहे हैं। दस या चार प्राणों से जीव जीता है यह व्यवहार है। इन प्राणों से रहित हो जाने को मरण कहते हैं। पुनः दूसरी देह धारण करने को जन्म कहते हैं, यह जन्म-मरण आत्मा का नहीं होता है। जन्म का शोर और मरण का सूतक मानते हैं और इसमें पूजन अभिषेक सब छूट जाते हैं। सूतक में छूट जाए यह तो समझ में आता है किन्तु शोर में भी छूट जाता है इसके लिए गुरु महाराज ने कहा था कि-मोही जीव संयोग और वियोग दोनों दशा में विचलित हो जाता है। मानलो कोई चुनाव में जीत गया तो उसको गुलाल लगाते हैं, ऊपर उठा लेते हैं, नाचने लग जाते हैं, जैसे-रंगपञ्चमी आ गयी हो। यह कार्यक्रम महीनों तक चलता रहता है। अतिखुशी और अतिगम में जीव में गहल भाव आ जाता है।

सिद्धपरमेष्ठी जीव हैं या नहीं—ज्ञान-दर्शन रूप प्राण कभी भी छूटते नहीं ज्यों के त्यों बने रहते हैं। व्यवहार में मुख्य चार ही प्राण हैं। इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास, ये प्राण कर्मोदय से होते हैं। श्री धवल आदि ग्रन्थों में कहा है-**सिद्धा न जीवाः** अर्थात् सिद्धों में इन्द्रियादि प्राण न होने से सिद्ध जीव नहीं है। यदि वह जीव नहीं हैं तो क्या सुख का अनुभव नहीं करते हैं? तो कहते हैं कि-ज्ञान दर्शन के माध्यम से ही सुख का अनुभव करते हैं।

ज्ञानी की वैरागी दृष्टि—जीव, मूर्त कर्म की संगति में आकर अमूर्त स्वभाव को भूल गया है। स्वभाव को याद कराना पड़ता है। जैसे-किसी का ब्याह करना है तो वह कहता है कि रूपवान के साथ ही करेंगे। सामान्य रूप से सभी के पास रूप रहता है पर उसमें भी तुलना प्रारम्भ हो जाती है। अज्ञानी अच्छे को रूप कहता है, बुरे को विद्रूप कहता है। जबकि सारे ही पुद्गल रूपवान हैं। जब राजुल के लिए कहा गया कि नेमिनाथ दीक्षित हो गए तो उनसे भी कई सुन्दर और हैं उनसे ब्याह कर लो, तब वह कहती है- मुझे रूप नहीं अरूपी चाहिए। वैराग्य के बिना यह दृष्टि नहीं आ सकती और

वैराग्य होने पर वह दृष्टि हमेशा बनी ही रहे ऐसा भी नहीं। अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में बदलती रहती है यही तो परिणामों की विचित्रता है।

अमूर्त का मूर्त के साथ बन्ध किस प्रकार—जितने भी परमाणु हैं वे इन्द्रिय के विषय नहीं होने से कथञ्चित् अमूर्त हैं अथवा शुद्ध को अमूर्त स्वीकार करते हैं। स्कन्ध सप्रदेश है अणु में भी स्कन्ध प्रदेश की क्षमता होने से सप्रदेश है। निश्चय से चार द्रव्य सप्रदेशी और दो द्रव्य अप्रदेशी हैं। जैसे—पुद्गल में स्निग्ध और रूक्षत्व के कारण स्कन्ध का निर्माण होता है। उसी प्रकार जीव में राग-द्वेष के कारण बन्ध हो जाता है। राग-द्वेष कितने खतरनाक हैं जो अमूर्त द्रव्य को भी मूर्तिक के साथ सम्बन्ध करा देते हैं। अमूर्त द्रव्य भले ही नहीं रोते किन्तु जीव द्रव्य रोने लग जाता है। राग-द्वेष के कारण ही संसारी प्राणी रुल रहा है। जैसे—दूध के पास घुलनशीलता है घी में नहीं, क्योंकि घी में पानी डालो या पानी में घी डालो तो वह ऊपर ही रहता है। घी के पास स्निग्धत्व होने पर भी विजातीय के साथ चिपकता नहीं है। जबकि दूध पानी की मात्रा में घुल मिल जाता है।

आकाश द्रव्य उपकारी होते हुए भी अभिमान से रहित—धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं। जीव, पुद्गल और काल अनेक हैं। एक आकाश द्रव्य ही ऐसा है जो सभी को अवगाह देता है। मानलो रात को १२बजे आप यहाँ आ गए और किसी दूसरे यात्री ने आपको स्थान दे दिया तब वह कहता है कि—हम कभी आयेंगे तो हमें भी तुम जगह देना, भूल मत जाना एहसान जताता है। जबकि एकेन्द्रियादि ऐसा नहीं कहते। असैनी तक मान कषाय रहते हुए भी बुद्धिपूर्वक अभिमान दिखाने की प्रक्रिया मन न रहने से उनमें नहीं रहती। प्रशंसा पाने की इच्छा मन वाले को ही होती है। छोटे से बच्चे को भूख लगी भोजन माँगा लेकिन पाँच मिनट देर हो गई तो गुस्सा आ गया और पैर से थाली खिसका दी, सब खाकर चले गए वह गुस्से में है धीरे-धीरे शान्त होते ही वह रसोई घर में चला गया और ऊपर रखा भोजन निकाल लेता है, कुछ गिरा देता है वह भी भूख लगने से बीन-बीनकर खा लेता है। तन-मन की खुराक में यही तो अन्तर है।

तन की भूख तनक है, आध पाव या सेर।
मन की भूख मनक है, लीलन चाहे सुमेर॥

कहते हैं ना—''मरता क्या न करता'' तन की सही भूख तो अभी लगी है, मन की भूख तो मान है। मन अति दुर्लभता से प्राप्त होता है लेकिन सबसे ज्यादा खतरा यहीं से पैदा होता है। चार इन्द्रिय तक के जीव नरक नहीं जाते। असैनी पञ्चेन्द्रिय पहले नरक तक ही जाता है किन्तु सैनी पञ्चेन्द्रिय सातों नरकों में जाता है। मन के साथ मान तीव्र उद्वेग को प्राप्त हो जाता है। लेकिन आकाश सब द्रव्यों को अवकाश देने पर भी कुछ नहीं कहता। किन्तु अज्ञानी कर्त्ता बुद्धि रखने वाला थोड़ा-सा भी कुछ कार्य करता है तो अपना नाम अंकित कर देता है।

पर्यायापेक्षा द्रव्यों की नित्यता और अनित्यता का कथन–

परिणाम जीव मुत्तं सपदेसं एय खेत्त किरिया य।
णिच्चं कारण कत्ता, सव्व गद मिदरंहि यपवेसे॥

इस गाथा में धर्मादि चार द्रव्य अर्थ पर्यायापेक्षा अनित्य हैं और विभावव्यंजन पर्याय का अभाव होने से नित्य हैं। जीव और पुद्गल अपने द्रव्यत्व को नहीं छोड़ते इसलिए नित्य हैं। विभावव्यंजन पर्यायापेक्षा अनित्य और स्वभावव्यंजन पर्यायापेक्षा नित्य माने हैं। जैसे–सिद्धपर्याय, केवलज्ञान–दर्शनादि, क्षायिकभाव सब नित्य रहेंगे चाहे द्रव्य सम्बन्धी हों या गुण सम्बन्धी हों सभी क्षायिकभाव नित्य रहेंगे। जीव और पुद्गल स्वभाव और विभाव परिणामी हैं शेष चार द्रव्य विभावव्यंजन पर्याय के अभाव से अपरिणामी हैं। इसी गाथा में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह व्यवहारनय से जीव के कारण हैं। जीव द्रव्य यद्यपि गुरु–शिष्यादि रूप परस्पर उपकार करता है किन्तु पुद्गलादि पाँच द्रव्यों के लिए अकारण है। जो उपकार–अनुपकार को समझता ही नहीं ऐसे आठ वर्ष से छोटे बच्चों को करुणा दान तो दे सकते हैं किन्तु धर्मोपदेश नहीं दे सकते। भूख, प्यास और ठण्ड लगे तो उसे सुविधा दे सकते हैं। वो गिर जाये तो उठा दीजिए, चोट लगी हो तो धो दीजिए, खून आ गया हो तो कपड़े से पट्टी बाँध दीजिए, उसे समझाएँ कोई बात नहीं सब ठीक हो जायेगा, णमोकार मंत्र सुनाइए और उसको कहें कि देखो बेटा! दया करने से स्व–पर दोनों का कल्याण होता है। ये संवेदना है, सहानुभूति है। ऐसे संस्कार उसमें आप डाल सकते हैं।

सम्यग्दर्शन की योग्यता–आठ वर्ष से पूर्व विषयों के संस्कार तो पड़ सकते हैं किन्तु सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। तोता रटंत जैसा पाठ याद भी कर लेता है किन्तु भावभासना नहीं होती। जो पहले से ही सम्यग्दर्शन लेकर आया है उसे कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। नरकों में अन्तर्मुहूर्त में ही वेदना से सम्यग्दर्शन की योग्यता आ जाती है किन्तु मनुष्यगति में आठ वर्ष के पूर्व नहीं आती। हाँ, गर्भ के नौ माह भी कहीं–कहीं गिन लेते हैं। **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में लिखा है– ''**दुष्कुल विकृताल्पायु......।**'' सम्यग्दृष्टि विकृत और अल्पायु वाला नहीं होता क्योंकि आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में मुनि बनकर मुक्त हो सकता है। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त को अल्प आयु नहीं गिनते। यदि सम्यक्त्व लेकर आया है तो वह इसके पहले मरण नहीं करेगा लेकिन सम्यक्त्व के बिना आया है वह यदि पहले ही चला जाता है तो अल्पायु माना जायेगा। अभिमन्यु जो गर्भ से ही सीखकर आया था यह सांसारिक कार्यों की अपेक्षा से है सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से नहीं। सम्यक्त्व की योग्यता से पूर्व बच्चे माता–पिता के साथ धर्मसभा में आ भी जाते हैं तो उछलकूद करते हैं, मना करने पर भी नहीं मानते। घर से कहते हैं मन्दिर चलो, मन्दिर में कहते हैं घर चलो।

द्रव्य का कर्तृत्व क्या–जीव शुद्ध पारिणामिक भाव की अपेक्षा द्रव्य और भाव रूप बन्ध और मोक्ष तथा घटपटादि का कर्त्ता नहीं है, वह अपने भावों का कर्त्ता है। किन्तु अशुद्ध निश्चय नयापेक्षा

शुभाशुभ उपयोग रूप पुण्य-पाप का कर्त्ता है तथा उनके फल का भी भोक्ता है। शुद्धोपयोग और परमपारिणामिक भाव में बहुत अन्तर है। परमपारिणामिक भाव की अपेक्षा न कर्त्ता है, न भोक्ता है किन्तु शुद्धोपयोग शुभाशुभ भावों के क्षय का कारण बन जाता है। शुभ उपयोग में पुण्य का, अशुभ उपयोग में पाप का और शुद्ध में पाप-पुण्य दोनों का कर्त्ता न रहकर जो बँधे हुए कर्म हैं उनका क्षय का कर्त्ता होता है। कर्त्ता है तो मोक्ष का भोक्ता भी बनेगा लेकिन शुद्ध पारिणामिक भाव की अपेक्षा भोक्ता नहीं होता है। अशुभादि तीन भाव रूप परिणमना ही जीव का कर्तृत्व है। उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य का जो मुख्य कार्य है वही उसका कर्तृत्व है।

लोक में उपादेय क्या—धर्म, अधर्म और एक जीवद्रव्य असंख्यप्रदेशी होने से लोक के बराबर है। केवली समुद्घात के समय आत्मप्रदेश लोकाकाश के बराबर व्याप्त होते हैं किन्तु शेष समयों में देह प्रमाण असर्वगत रहता है। नाना जीवों की अपेक्षा सम्पूर्ण लोकाकाश भरा हुआ है, पुद्गल भी सर्वगत है, असंख्यात कालाणु की अपेक्षा एक भी प्रदेश ऐसा नहीं जहाँ कालाणु न हो अतः यह भी सर्वगत है। एक परमाणु या एक कालाणु की अपेक्षा असर्वगत है। लोकाकाश में इस तरह छहों द्रव्य हैं लेकिन वीतराग चिदानन्द एक स्वभाव वाला शुभाशुभ मन, वचन, काय के व्यापार से रहित शुद्धात्म द्रव्य ही एकमात्र उपादेय है।

स्वाध्याय का फल—जिससे सर्व संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाए वही स्वाध्याय का फल है। संकल्प-विकल्प के माध्यम से ही संयोग-वियोग रूप भाव होते हैं। करना ही है तो सत् विकल्प करो, पहले अशुभ को छोड़ो यह पद्धति है। फिर क्रम से एक दिन शुभ भी छूटेगा। विकल्पातीत तो केवल अन्तर्मुहूर्त के लिए होते हैं। पुनः विकल्प दशा में आ ही जाते हैं चाहे श्रेष्ठ मुनिराज भी क्यों न हों। ज्ञान ज्ञेय की ओर लुढ़कता है तो विकल्प हो जाता है। यह हाइकू प्रासंगिक है–"**प्रकाश में ना/ प्रकाश को देखो तो/भूल ज्ञात हो**" प्रकाश में देखेंगे तो प्रकाश के माध्यम से पिच्छिका, पेन, पुस्तकादि वस्तुओं को देखेंगे इसलिए प्रकाश में ना देखकर प्रकाश को देखो, सूर्य को देखो, इसमें भी सुबह का सूरज देखोगे तो आकार भी दिखेगा किन्तु दोपहर के सूर्य में प्रकाश के सिवा और कुछ नहीं दिखता। बाहर धूप से भीतर आओ तो कुछ समय तक दिखाई ही नहीं देता इसी प्रकार आत्मा को देखने के समय कुछ समय तक तो कुछ दिखता ही नहीं। अज्ञात ज्ञेय को जानना बहुत कठिन होता है।

असत् विकल्पों को त्यागने की शिक्षा—प्रथम भूमिका में पाँच पाप रूप अशुभ विकल्पों को भूलकर पञ्चपरमेष्ठी की आराधना में लग जाएँ। संसार में तो तेरा-मेरा लगा हुआ है किन्तु भगवान् के विषय में भी तुम्हारे हमारे भगवान् हैं ऐसा कहने में आता है। फिर यह बीनाबारहा के शान्तिनाथ हैं, यह हमारे पनागर के शान्तिनाथ हैं इसलिए पहले हम पनागर के शान्तिनाथ जी की जय बोलेंगे इस प्रकार स्वामित्व बुद्धि से जीव विकल्प करते रहते हैं। अतः पर के कर्त्ता, भोक्ता और स्वामित्व से बचते हुए सद्विचार करें। सम्यक्प्रकृति के कारण तेरा मन्दिर, मेरा मन्दिर ऐसा भेद हो सकता है किन्तु

अन्य द्वारा बनाए मन्दिर में जाएँ ही नहीं यह अनुचित है। तेरा हेय और मेरा उपादेय हो जाए यह असत् विकल्प है। चाहे ११ फीट के भगवान् हों या १ फीट के दोनों में स्थापना से निक्षेप किया है और भावनिक्षेप की अपेक्षा ५२५ धनुष हो या साढ़े तीन हाथ के भगवान् हों दोनों के अनन्त चतुष्टय में कोई अन्तर नहीं आयेगा। जैसे–बड़ी टॉर्च को जलाने के लिए बटन दबाने में देर लगती हो और छोटी टॉर्च जल्दी जल जाती हो ऐसा नहीं। किसी मूर्ति के दर्शन से कर्म निर्जरा ज्यादा हो रही है, चमत्कार घटित हो गया ऐसा लगता है। वास्तव में यह मन का अतिशय है आत्मा की विशुद्धि ही इसमें कारण है। प्रभु विशुद्ध हैं और उनके दर्शन करने से विशुद्धि बढ़ती है। अकृत्रिम चैत्यालय के दर्शन से और अधिक विशुद्धि बढ़ेगी किन्तु स्वयं में अतिशय भक्ति हो तभी विशुद्धि बढ़ेगी अन्यथा अकृत्रिम चैत्यालय के दर्शन से देवों को सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता? जिनबिम्बदर्शन से उन्हें सम्यक्त्व नहीं होता, देवर्द्धिदर्शन से तो हो जाता है और जिनमहिमा से भी हो जाता है। जिनबिम्ब अलग है और जिनमहिमा अलग है। नरकों में वेदना से सम्यक्त्व हो जाता है लेकिन मनुष्यों को नहीं, मनुष्यों को वैसी वेदना भी नहीं है। स्थापनानिक्षेप और भावनिक्षेप में अन्तर है। साक्षात् भगवान् बैठे हैं तो फोटो देखने से क्या? एक व्यक्ति फोटो ले रहा था और बोला– महाराज! आपकी अनुपस्थिति में यही काम आता है। जिन्हें भावनिक्षेप से तीर्थंकर महिमा का दर्शन हो जाता है उन्हें जिनबिम्बदर्शन सम्यक्त्व में कारण नहीं है। तात्पर्य यही है कि उपादेय की ओर दृष्टि रखकर वर्तमान में जो सत् विकल्प हैं उन्हें करें, असत् विकल्प को नहीं।

चार्वाकमत-जीवत्व को नहीं स्वीकारता—जो चार्वाकमती हैं वह जीवत्व को स्वीकार नहीं करते, उनका मानना है कि जो दिख रहा है वो जीव नहीं है। जैसे–मशीन में जो पहिये रहते हैं वह नट बोल्ट से कसे रहते हैं उसमें तेल डालने पर मशीन चालू हो जाती है इसमें जब कमी आ जाती है तो रुकने लगती है। ऐसे ही जीव कोई वस्तु नहीं है। इसलिए ''जब तक जिओ खाओ पिओ मौज उड़ाओ'' ऐसा चार्वाक मत कहता है।

इसी २७ वीं गाथा में दो अधिकार सूत्र गाथाएँ हैं–

तत्रादौ प्रभुता तावज्जीवत्वं देहमात्रता।
अमूर्तत्वं च चैतन्यमुपयोगात्तथा क्रमात् ॥१॥
कर्तृता भोक्तृता कर्मयुक्तत्वं च त्रयं तथा।
कथ्यते यौगपद्येन यत्र तत्रानुपूर्व्यतः ॥२॥

सर्वज्ञत्व की सिद्धि—इसमें प्रमुख जीवत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व, उपयोग, कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व और कर्मसंयुक्तत्व इन सबका युगपत् और आनुपूर्वी से वर्णन करते हुए बताते हैं कि–इन दो श्लोकों के द्वारा भट्टमत के अनुसार जो शिष्य सर्वज्ञत्व नहीं मानते, उनकी सिद्धि के लिए यह व्याख्यान किया जाता है। वे जीव को तो मानते हैं किन्तु सर्वज्ञ को नहीं मानते, ऐसा लगता है कि भट्टाकलंकदेव की

मान्यता भट्टमत का समर्थन करती है लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि जैनदर्शन में भी सर्वज्ञत्व व्यवहारनय से है, निश्चयनय से नहीं। और व्यवहार एक प्रकार से औपचारिक कथन करता है। पहले कौन सर्वज्ञ हुआ क्या यह बता सकते हैं? नहीं, जो सर्वज्ञ होगा वही बता सकेगा ''**सर्वज्ञोऽनादि मध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते**'' घातिकर्ममल से रहित होते ही सबको जानने की क्षमता आ जाती है। जो क्षायोपशमिक ज्ञान तारतम्यता को लेकर चल रहा है, जिस कारण किसी को कम किसी को ज्यादा ज्ञान है अर्थात् एकदेश कर्मक्षय को सिद्ध कर रहा है वह कहीं न कहीं पूर्णतः क्षय की सिद्धि भी कर सकता है इस युक्ति से साध्यरूप सर्वज्ञत्व की सिद्धि की जाती है।

स्वदेह परिमाणत्व सिद्धि—नैयायिक, मीमांसक और सांख्यमतानुसारी शिष्य देह बराबर जीव नहीं मानते। जैसे–भवन में बैठे हैं तो आप पूरे भवन में तो नहीं बैठे हैं, उसी प्रकार जीव पूरे शरीर में नहीं रहता ऐसा वह मानते हैं। इसके लिए जैनाचार्य कहते हैं–शरीर बराबर ही जीव रहता है। जैसे–भगोनी में दूध रखा है उसमें पद्मरागमणि डाल दी तो वह सारे भगोनी के दूध को अपनी आभा से व्याप्त कर देती है। वैसे ही जीव भी पूरे देह में आभा के समान चेतनत्व को फैला करके ही रहता है। जैसे–पानी में शक्कर को घोल दिया तो पूरे में मिठास घुल जाती है, ऐसा नहीं कि कहीं कम कहीं ज्यादा हो, एक लीटर पानी में स्याही की एक बूँद पूरी जगह फैल जाती है, उसके शक्त्यंश फैल जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा के पूरे प्रदेश में ज्ञान–दर्शन गुण की आभा फैली हुई है किन्तु एक गुण दूसरे गुण में प्रविष्ट नहीं होते यह विशेषता है। एक हजार योजन उत्सेधांगुल वाला राघवमत्स्य हो या सबसे छोटा निगोदिया जीव हो सब ''**अणुगुरुदेहपमाणो**'' अपनी–अपनी छोटी–बड़ी देह बराबर संकुचित और विस्तृत होने की योग्यता रखते हैं।

अमूर्तत्व सिद्धि—कुछ लोग जीव को तो मानते हैं लेकिन अमूर्तत्व को नहीं मानते हैं, उनकी भी यहाँ सिद्धि की है।

चेतनत्व या उपयोगत्व की सिद्धि—इस प्रकार अनादि चैतन्य से युक्त जीव है। ऐसा नहीं कि कुछ समय के लिए उसके पास चेतना आ गई फिर चली गई। अनादिकाल से चेतना युक्त जीव की सिद्धि के लिए ''**कम्माणं फलम्**'' यह कहा गया है। नैयायिकमती को सम्बोधित करते हुए कहा कि–उपयोग दो प्रकार का है। अपने आपको व्यवस्थित करने में उपयोग ही सक्षम है। अन्य गुणों की अनुभूति भी चेतनात्मक ज्ञानगुण के माध्यम से ही होती है। ज्ञान–दर्शन से आत्मा जानती–देखती है और श्रद्धागुण की जानकारी भी ज्ञान–दर्शनगुण से ही मिलती है क्योंकि श्रद्धा चेतनात्मक गुण नहीं है। श्रद्धा अलग है सम्यग्ज्ञान अलग है। सम्यग्दर्शन के साथ जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है और मिथ्यात्व के साथ मिथ्याज्ञान है। स्वभाव से अन्य रूप परिणत कर जाना विभाव माना जाता है। इस तरह आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग और चार प्रकार का दर्शनोपयोग बताया है।

दर्शनोपयोग पर मिथ्यात्व का प्रभाव नहीं—यदि दर्शन भी मिथ्या होते तो चार चक्षुदर्शन

आदि और तीन कुचक्षु, कु-अचक्षु और कु-अवधि दर्शन मिलाकर सात हो जाते किन्तु दर्शनोपयोग पर मिथ्यात्व का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अपनी छाया इस जमीन पर तो पड़ती है किन्तु अधर में क्यों नहीं पड़ती? क्योंकि छाया ठोस पदार्थ पर ही पड़ती है उसी प्रकार सविकल्प, साकार उपयोग पर ही मिथ्यात्व का प्रभाव पड़ता है, निराकार जो दर्शनोपयोग है उस पर प्रभाव नहीं पड़ता।

जीव द्रव्य और ज्ञान के प्रदेशों में अभेद—जीव द्रव्य और ज्ञान गुण के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं रहते, अभेद रहते हैं किन्तु इसे न मानकर अन्यमती मानते हैं कि-जैसे दो कागज के टुकड़ों को गोंद से चिपकाते हैं उसी प्रकार जीव प्रदेश पर ज्ञानगुण को चिपकाया जाता है, चिपकाने वाली वस्तु का नाम समवाय है। इस मान्यता का खण्डन करने के लिए जीव और ज्ञानगुण में अभेद है यह कहा है। जो चार प्राणों से जी रहा है, जीता था, जीयेगा वह जीव है। पहले भी ज्ञान था, अभी भी है और आगे भी रहेगा। घन की चोट से भी हीरे का कणिका टूटती नहीं, उछल जाती है। उसी तरह ज्ञान-दर्शन की छोटी-सी कणिका निगोदिया जीव में है। वह कर्म के प्रहार से टूटती नहीं है। आत्मा का वैभव अपरम्पार है। अकेला ज्ञान आत्मा के बिना जान ले यह सम्भव नहीं। जैसे-हाथ से लिखते हैं, अनेकों कार्य हाथ से करते हैं और कहते हैं कि हाथ करता है। तो हाथ अपने आप काम नहीं करते, हाथ से काम लिया जाता है। उसी प्रकार ज्ञान अपने आप जान नहीं सकता किन्तु जानने के काम में लाया जाता है। यदि ज्ञान स्वतंत्र होता तो जानता रहता, दर्शन को कहेगा तुम देख नहीं सकते, दर्शन कहेगा तुम जान नहीं सकते हम देख रहे हैं। सब अपना-अपना काम कर ही रहे हैं तो फिर आत्मा की क्या आवश्यकता? कई लोग दर्शनधारा और ज्ञानधारा नाम देते हैं किन्तु इस धारा को बहाने वाला मूलतत्त्व आत्मा है। कोई कहता है कि-मेरी आँख बहुत अच्छा देखती है तो रात में भी देख लो। दिन में भी बिना आँख खोले देख लो दिखता है क्या? नहीं। खोलने के लिए आँख खुल जाओ ऐसा कहते हैं क्या? नहीं। पहले आत्मा सोचता है, आँख के द्वारा मुझे कुछ देखना है तभी देखने में आता है। इन्द्रियाँ उच्छ्रृंखल नहीं, भटकती नहीं, आत्मा उच्छ्रृंखल होता है। जब सुनना चाहोगे तभी श्रवणेन्द्रिय सुनती है। ज्ञान को जानना ही ज्ञान का प्रयोजन है।

मोक्षतत्त्व सिद्धि—नैयायिक दर्शन वाले ज्ञानगुण को आत्मा से भिन्न मानते हैं और ज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव होना मोक्ष मानते हैं। ज्ञानादिगुण संसारदशा में इकट्ठे होकर आते हैं और बिछुड़ते हैं तब मोक्ष होता है। यदि इसे कथञ्चित् मानलो तो कोई बाधा नहीं क्योंकि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, अवग्रह, ईहा आदि ज्ञान की अनेक परिणतियों का अभाव होना मोक्ष है यह हम भी मानते हैं वहाँ केवलज्ञान रहता है। हम गुण-गुणी में कथञ्चित् भेद मानते हैं सर्वथा नहीं। स्वर्ण की पहचान उसके गुणों से होती है इसके वर्तुल, आयताकार आभरण आदि अनेक आकार हो सकते हैं किन्तु सबमें स्वर्णत्व है। इस प्रकार गुण-गुणी में कथञ्चित् अभेद है। साध्य रूप अग्नि के लिए धूम साधन (हेतु) है धूम को साधन बनाकर साध्य रूप अग्नि को सिद्ध करते हैं। साध्य और साधन

जिसमें सिद्ध हों उसे दृष्टान्त कहते हैं। विषय पुष्टी के लिए उदाहरण देते हैं। जिसके लिए दृष्टान्त देते हैं उसे दार्ष्टांत कहते हैं। जैसे–किसी ने पूछा सिंह कैसा होता है? तो कहा–बिल्ली जैसा। यहाँ बिल्ली दृष्टान्त और सिंह दार्ष्टांत हो गया क्योंकि सिंह सामने नहीं था, समझाने के लिए समझाते हैं कि उसके कान चढ़े हुए रहते हैं, उसकी मूँछ तनी रहती है, उसकी आवाज ऐसी होती है, मुँह बिल्ली जैसा होता है, ऐसा चित्रण करके दार्ष्टांत को समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं।

शुद्ध जीवास्तिकाय से भिन्न कर्म करना, भोग भोगना आदि जीव का स्वभाव नहीं है। आत्मा इसका कर्त्ता, भोक्ता होकर भी इसका स्वभाव नहीं है। यही आगे प्रतिपादन करेंगे।

कर्म का कर्त्ता कौन—निश्चय से कर्म ही कर्म का कर्त्ता है यह बहुत मौलिक बात है क्योंकि चारों बन्ध कर्मों में ही होते हैं, किन्तु आत्मा भावकर्त्ता है इसीलिए भोक्ता भी है तो फिर उसका स्वामी भी है। यह तीनों प्रत्यय आत्मा के साथ जुड़ जाते हैं। जो रूप-रसादि रूप क्रिया है वह आत्मा में नहीं होती किन्तु पौद्‌गलादिक वर्गणाओं में ही होती है यही इसका तात्पर्य है। सांख्य दर्शन कर्मों का कर्त्ता आत्मा को नहीं, बल्कि प्रकृति को मानता है। ऐसा ही यदि जैनदर्शन एकान्त से मान ले तो सांख्यदर्शन और जैनदर्शन में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। बौद्ध कहता है कि–करेगा कोई और भरेगा कोई। इसके लिए आचार्यों ने आत्मा को 'भोक्ता' कहा है। सदाशिवमत वाले आत्मा को सदा परमात्मा स्वरूप स्वीकारते हैं और यदि जैनी भी एकान्त से यह माने कि कर्म तो कर्म में है, आत्मा में नहीं तो फिर सदाशिव और जिनमत में क्या अन्तर रह जायेगा? जब पहले से ही जीव मुक्त है तो मोक्षमार्ग की क्या आवश्यकता है? जब आत्मा शुद्ध ही है तो शुद्ध होने की प्रक्रिया ही गलत है लेकिन जिनमत में एकान्त रूप से अशुद्ध नहीं कहा है। जो अशुद्ध है उसे शुद्ध बनाया जा सकता है। पर जो पहले से ही शुद्ध है उसे शुद्ध क्या बनाना? इस प्रकार यहाँ यह स्पष्ट किया कि आत्मा ज्ञानादिगुण युक्त है। फिर भी जो ज्ञानार्जन करना है तो इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान कहीं बाहर से लाना नहीं है अपितु निमित्त के माध्यम से उद्‌घाटित करना है।

शुद्ध होने की शक्ति आत्मा में—संसारी प्राणी खान में अनगढ़ हीरे की भाँति विद्यमान है उसका मूल्य भविष्य के गर्भ में है किन्तु अभी तक अशुद्ध है तो आगे भी अशुद्ध ही रहेगा ऐसा नहीं, अपितु शुद्ध होने की शक्ति आत्मा में ही है। वर्तमान में कर्म उदय अपेक्षा रागादि भाव वाला भी है और द्रव्यकर्म बन्धन से युक्त भी है। इस प्रकार तीन अपेक्षा से आत्मा का वर्णन करते हैं। जो शुद्धत्व का अनुभव करना चाहते हैं उन्हें इन अपेक्षाओं को समझकर तदनुकूल साधना बढ़ानी चाहिए। जीव 'है' और 'होता है' इन दोनों में अन्तर है। 'है' अर्थात् मिट नहीं सकता और ''होता है'' अर्थात् बदलाहट सम्भव है।

शुद्धनिश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय का प्रयोग कहाँ—शुद्ध निश्चयनय से जीव शुद्ध चैतन्य प्राणों से जीता है और अशुद्ध निश्चयनय से क्षायोपशमिक, औदयिक आदि भावों से युक्त है।

जहाँ कहीं भी क्षायोपशमिक, औदयिक आदि भावप्राणों का कथन है वहाँ शुद्ध निश्चयनय नहीं लगता क्योंकि यह निर्विकल्पसमाधि में लगता है, उस समय रागादि भाव नहीं होते क्योंकि राग दशा में शुद्धत्व की अनुभूति कैसे हो सकती है? अतः यहाँ अशुद्ध निश्चयनय ही लगेगा। इसीलिए समयसार के पाठक को पहले शब्द का अर्थ समझ लेना चाहिए क्योंकि मन के अनुकूल भाव नहीं निकाले जाते, शब्दार्थ जानने पर वह सही भावार्थ निकाल सकता है। शब्दार्थ, मतार्थ, नयार्थ, आगमार्थ और अन्त में भावार्थ है। क्रम का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से १० प्राणों से जीव जीता है, भेद रूप होने से व्यवहार है भिन्न द्रव्य होने से असद्भूत है। जैसे–आँख से देखा यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है, उससे जो तृप्ति मिली वह अशुद्ध निश्चयनय का विषय है। यद्यपि यह औपचारिक कथन नहीं है किन्तु स्वभाव न होने से अशुद्ध है। द्रव्य और भाव शुद्ध हैं तो शुद्ध निश्चयनय की विवक्षा होगी। ऊपर उठते-उठते १३वें गुणस्थान तक एकदेश शुद्ध निश्चयनय कहा क्योंकि वहाँ एकदेश अशुद्ध निश्चयनय भी रहता है। कर्मोदय से आत्मा में आस्रव रूप वैभाविक परिणति यहाँ तक होती है। संसारी प्राणी मोह के कारण जीवत्व को कुछ समझ नहीं पाता, स्वभाव के श्रद्धान के लिए कुछ भूमिका की आवश्यकता होती है।

द्रव्य प्राणों से जीव जीता था, जी रहा है और जीयेगा यह सामान्य कथन है। यदि संसार में रहेगा तो जीयेगा यह सिद्धपरमेष्ठी के लिए नहीं, संसारी जीव के लिए कथन है। शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा यह सिद्धत्व प्राप्त कर सकता है। भव्य तो पा ही सकता है, उसके पास शुद्धोपयोग नहीं केवलज्ञान भी नहीं फिर भी वह शक्ति रखता है।

भूल को भूल समझना ही सम्यग्ज्ञान—शुद्ध निश्चयनय से शुद्धज्ञानचेतना सिद्ध होती है अशुद्ध निश्चयनय से कर्म और कर्मफलचेतना सिद्ध होती है। चाहे बुद्धिपूर्वक हो या अबुद्धिपूर्वक हो राग-द्वेष आदि भावों से कर्म बन्ध व्यवस्था रुकती नहीं, वहाँ १३वें गुणस्थान में ज्ञानचेतना का मात्र श्रद्धान रह सकता है अनुभूति नहीं। अशुद्ध चेतना के साथ है किन्तु चेतना गायब नहीं हुई यही एकमात्र शुभ लक्षण है। इसे भवितव्यता, होनहार या उज्ज्वल भविष्य कह सकते हैं। यदि योग्य साधना कर ले तो जीवन मौलिक हो जायेगा। जैसे–खान का हीरा शान पर चढ़कर सहस्र पहलूदार मूल्यवान हो जाता है। वरना विषयों के काम में लिया तो पत्थर से चटनी बाँटते हैं उसका मूल्य उतना ही रहेगा। पागल के पास भी चेतना है, संवेदना है किन्तु असैनीवत् उसका जीवन रहता है क्योंकि मन रहते हुए भी मन का सदुपयोग नहीं कर पाता पर चेतना तो है। यह वेदन या संवेदन रूप जो चेतना है वह अशुद्ध ही है। ध्यानात्मक शुद्धोपयोग केवलज्ञान और केवलदर्शन के लिए कारण है। केवलज्ञान क्षयोपशम अवस्था में नहीं रहता इसमें ज्ञान की किरण मानना बड़ी भूल है लेकिन भूल को भूल समझना सम्यग्ज्ञान है। चेतना अनुभूति परख है तो ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग एक प्रकार से उसी की एक विशेष दशा है।

स्वामित्व रखना बुद्धि की तुच्छता का प्रतीक—प्रभु का अर्थ सामर्थ्यवान है। मोक्ष और मोक्ष के कारणभूत जो परिणाम हैं उस रूप परिणमन करने की क्षमता के कारण शुद्ध निश्चयनय कहा। संसार और संसार के कारणभूत अशुद्ध परिणाम रूप परिणमन करने की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय से प्रभु कहा। वेदी में स्थापित प्रभु यहाँ आपेक्षित नहीं है, न ही केवलज्ञान से भूषित प्रभु आपेक्षित हैं, यहाँ पूज्यपने की अपेक्षा प्रभु नहीं, अपितु सामर्थ्य की अपेक्षा प्रभु कहा है। एक व्यक्ति दूसरे का स्वामी होना चाहता है लेकिन पर का स्वामी हो नहीं सकता। जो अपने आपको जिससे सामर्थ्यवान समझता है वह उसी का प्रभु माना जाता है। केवलज्ञान का भी वह प्रभु हो सकता है किन्तु दूसरे का प्रभु बनना अर्थात् अधिकार जमाना और इसे सर्वाधिकार सुरक्षित मानना अज्ञता है। अज्ञानी प्राणी दूसरों पर स्वामित्व रखना चाहता है किन्तु शुद्ध या अशुद्धदशा हो स्वयं का स्वामी स्वयं ही होता है। अशुद्धदशा में रहकर शुद्धदशा वालों पर स्वामित्व रखना यह बुद्धि की तुच्छता है।

शुद्धोपयोग कहाँ—यदि कोई चतुर्थ गुणस्थान में शुद्ध निश्चयनय से शुद्धोपयोग का कर्त्ता भोक्ता अंश रूप में माने तो तृतीय गुणस्थान में भी मिश्र अर्थात् आधा मानना पड़ेगा। तीसरे गुणस्थान में संवर भी है, ४१ प्रकृतियों का आस्रव रुक गया है और इसे क्षयोपशमिक भाव भी घोषित किया है। दूसरे गुणस्थान में तो दर्शनमोहनीय का नामोनिशान भी नहीं है, तीसरे गुणस्थान से भी शुद्ध है, पारिणामिक भाव भी है तो क्या शुद्ध निश्चयनय का आधार यहाँ ले लें? नहीं। ग्रन्थों में कहा है कि—जहाँ शुक्लध्यान होता है वहाँ पर शुद्धोपयोग होता है अथवा यथाख्यातचारित्र जहाँ होता है वहाँ पर शुद्धोपयोग होता है ऐसा भी कहा है। यदि तृतीय विवक्षा बनाते हैं तो ७वें गुणस्थान से भी शुद्धोपयोग कहा गया है। ऐसा समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय में स्पष्ट लिखा है।

स्वयं कृत कर्म का भोक्ता स्वयं—जैसा कर्म का उदय होता है यदि वैसा ही भाव करता है तो नवीन कर्म भी वैसे ही बँधते हैं। आपने कर्म किया और दूसरे को फल मिल जाए ऐसा नहीं। आपने घर वसाया और बच्चों को, दूसरों को दे दिया यह लोकतन्त्र में चल सकता है किन्तु आप कर्म करें और फल दूसरे को मिले ऐसा नहीं हो सकता। स्वयं का कर्म उदय में आयेगा तो स्वयं ही भोगेगा इसीलिए सोच करके कर्म कमाओ। पाप करके पैसा कमाओगे तो पैसे के हिस्सेदार तो सब बनेंगे लेकिन पाप के हिस्सेदार नहीं। वाल्मीकि की कथा आती है बामी से वाल्मीकि बना। बामी में रहने वाला साँप भी कहता है कि—मैं अपना घर नहीं बसाऊँगा। चींटियाँ जब तक बामी नहीं बनाती, तब तक सर्प उसमें नहीं जाता। कुमकुम से भी ज्यादा वह मुलायम मिट्टी रहती है। उसे फोड़ाफुँसी पर लोग लगाते हैं उसमें एक भी कंकड़ सम्भव नहीं। लोग कहते हैं साँप का बिल, किन्तु वह चींटियों का बिल है। यह उदाहरण मुनिराज के लिए दिया गया है क्योंकि वे भी घर बनाने के, आरम्भ का त्याग करके अनगार हो गए हैं। कोई आकर कह देता है कि—यहाँ रह जाओ तो रह जाते हैं, स्वामित्व नहीं है। स्वामित्व होने से तत्सम्बन्धी कर्म बाँधेंगे तो उदय में आयेंगे फिर भोगने में भी आयेंगे। भोक्ता भाव

का स्पष्टीकरण यही है कि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा शुद्धात्मा से उत्पन्न वीतराग परमानन्द रूप सुख का भोक्ता है और अशुद्ध निश्चयनय से इन्द्रिय जनित सुख-दुख का भोक्ता है। परिग्रहानन्दी होकर दिन-रात रौद्रध्यान करता है तो कर्म बन्ध भी होते हैं। थोड़ा-सा भी बैंक बैलेंस कम हो जाए तो चिन्ता हो जाती है। पैसे को चिन्ता नहीं होती किन्तु पैसा रखने वालों को होती है। एक बैंक से दूसरे बैंक या एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के हाथ में भी चला जाए तो भी चिन्ता नहीं, एयरकंडीशन में रखता है, हवा या किसी की दृष्टि तक वहाँ नहीं जाती ऐसी सुरक्षित लक्ष्मी रहती है। लेकिन लक्ष्मीवान कभी चाबी देखता है तो कभी तिजोरी। किसी अनजाने का फोन आ जाए तो धुक्-धुक् होने लगती है क्या पता सौदा किया था, घाटा तो नहीं हो गया, मुनीम की आवाज में घबराहट क्यों? इतने में ही चिन्ता में पड़ जाता है और अच्छे से बोल दे कि बहुल लाभ हुआ है तो फूल जाता है। इस प्रकार स्वामित्व होने से हर्ष-विषाद करता रहता है।

रागी को वीतरागता का अनुभव नहीं—जो परिग्रह का अंबार लादे हैं और शुद्ध चिदानन्द निर्विकल्प आत्मा की सुखानुभूति की बात करते हैं वह हास्यास्पद ही है। परिग्रह संज्ञा वाला शुद्ध चिदानन्द का अनुभव नहीं कर सकता। **ज्ञानार्णव** में स्पष्ट लिखा है-सुई के छेद से हाथी निकल सकता है, गधे के सिर में सींग उग सकते हैं, आकाश में फूल खिल सकते हैं, उन फूलों का सेहरा बाँझ के पुत्र को पहनाया जा सकता है लेकिन परिग्रही को ध्यान कभी नहीं हो सकता यह सब अत्यन्ताभाव के उदाहरण हैं अर्थात् पञ्चेन्द्रिय विषयों के त्याग बिना ध्यान सम्भव नहीं है। **जहाँ राग है वहाँ वीतरागता का अनुभव नहीं हो सकता, श्रद्धान हो सकता है।** परद्रव्यों में जो सन्तुष्ट है वह असद्भूत व्यवहारनय का विषय बन रहा है। परिग्रहानन्दी को संरक्षणानन्दी कहा, आत्मानन्दी या नित्यानन्दी नहीं कहा। चाबी सम्भालने में लगा हुआ है, पत्नी, पुत्र किसी पर भी विश्वास नहीं करता। भगवान् को दे दो सारा धन, तो कहता है-प्रभु तो स्वयं त्यागी हैं, हम उन्हें धन दें और वे हमारा धन भी त्याग कर देंगे तो क्या होगा? हमने पसीना बहाया है, बहाया नहीं पंखे से सुखाया है (हँसी)। दिन-रात मुट्ठी बँधी रहती है क्योंकि मुट्ठी में चाबी है कोई ले न जाए। ''**बँधी मुट्ठी लाख की, खुली मुट्ठी खाक की**'' बच्चा मुट्ठी बाँधकर ही आता है पर अन्त में खाली हाथ जाता है।

सदेहमेत्ता शरीर नामकर्म के उदय से अणु (छोटा) या बड़ा शरीर वाला होता है। सदाशिवमत वाले मूर्ति से रहित मानते हैं उन्हीं के लिए यह कहा है कि अनादि से यह शरीरनामकर्म का उदय परम्परागत चल रहा है। शुद्ध निश्चयनय से कर्म रहित है। असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों से युक्त है और अशुद्ध निश्चयनय से भावादिकर्मों से युक्त है।

पूर्वभव और आगामी भव में जीव की सिद्धि-

वच्छक्खर भव सारित्थ सग्गणिरय पियराय।
चुल्लिय हंडयि पुण मयउ, णव दिट्ठंता जाय॥

इस गाथा में पूर्वभव था कि नहीं? आगे जन्म होगा कि नहीं? इसके बारे में उदाहरण दे रहे हैं –

वच्छ का अर्थ—बालक और बछड़ा भी होता है। बच्चे का जन्म होते ही सब आनन्द मनाने लग जाते हैं जबकि बच्चा रो रहा है कि मुझे तो भूख लग रही है, पहले कुछ खाने को लाओ और अंगूठा मुँह में चूसने लगता है। पहले नौ माह पेट में भी खाया है, आहार संज्ञा छूटती नहीं। बच्चा बता रहा है कि पूर्वभव से प्रशिक्षित हूँ।

अक्खर—बोलना, चलना किसने सिखाया? सब अपने-अपने प्रयोजनवश अक्षरों का उच्चारण करते हैं। पक्षी भी सब आपस में अपनी-अपनी बोली समझ लेते हैं। दक्षिण वाले दक्षिण की, उत्तर वाले उत्तर की भाषा और किसी को मौन की भाषा सिखा देंगे तो वे मौन की भी भाषा समझ लेते हैं।

भव—देह का धारण करना। जब तक आत्मा को स्थायी नहीं माना जायेगा तब तक शरीर का धरना अर्थात् जन्मना नहीं बन सकता। मध्यलोक में रुकने वाले भूदेव कहलाते हैं, ऊर्ध्वलोक में जाकर रुकने वाले देव कहलाते हैं और ऊर्ध्वलोक के अन्त में लोकशिखर पर जाकर रुकने वाले देवाधिदेव कहलाते हैं।

सारित्थ—एक सदृश प्रत्यभिज्ञान और दूसरा एकत्व प्रत्यभिज्ञान है। जो बात एक प्राणी में देखी जाती है वही बात दूसरों में भी देखी जाती है। जैसे-चिड़िया, कौआ वगैरह में सदृशता पाई जाती है। सभी अपनी-अपनी जाति अनुसार कार्य करते हैं। सभी ही प्राणियों के भीतर आहार, भय, मैथुन और परिग्रह चार संज्ञाएँ होती हैं। दाना चुगना, उड़ना आदि। अतः इन्द्रियों के द्वारा काम करना समान है।

सग्गणिरय—स्वर्ग है, नरक है। यदि आत्मा को न माना जाए तो कौन पुण्य के फल से स्वर्ग में और पाप के फल से नरक में जायेगा।

पियराय—स्वर्गवास होने पर दादा या पिता महोदय के लिए श्राद्ध करते हैं इससे भी परलोक ज्ञात होता है।

चुल्लिय हंडयि—चार्वाकमती कहता है कि-हंडी में पानी, दाल, चावल आदि डाल दो और खिचड़ी पका लो। अनेक चीजें मिलने से जो चीज की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार जीवत्व की उत्पत्ति होती है लेकिन वह यह नहीं जानते कि शरीर बनने के लिए कर्म चाहिए और कर्म करने के लिए जीव चाहिए। उनका सिद्धान्त यह है कि-शरीर में जीव नहीं रहता। जैसे-अनेक वस्तुएँ मिलकर मशीन बन जाती है वैसे ही पाँचभूत से जीव बन जाता है लेकिन जैनाचार्य कहते हैं कि-इसके लिए कर्म और कर्म के लिए जीव के भाव चाहिए। वह खिचड़ी खदबद तो कर लेगी किन्तु उसमें जीव की उत्पत्ति नहीं होगी। जैसे-कुछ चीजें मिलाकर सड़ाने से नशीली शराब बन गई किन्तु हाथ में रखने से नशा नहीं चढ़ सकता। होश वाला व्यक्ति पीयेगा तभी बेहोश हो सकता है। वह होश वाला ही तो जीव है।

मयउ–मुर्दा शरीर भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश सहित है फिर उसमें इच्छा व ज्ञान क्यों

नहीं होते? चार्वाकमत वाले के लिए जीव की उत्पत्ति नहीं होती यह सिद्ध किया। बिना प्रशिक्षण के भी जीव कैसे सब कुछ खाना-पीना सीख जाता है। जैसे-एक बालक को अण्डरग्राउण्ड में रखा गया। वहाँ कोई नहीं है धीरे-धीरे बड़ा हुआ। युवा होते ही वासना से ग्रसित हुआ, बिना सीखे ही पुरुषवेद या स्त्रीवेद की उदीरणा से वासना उत्पन्न हो गई। यह सिद्ध कर रहा है कि कर्मोदय के बिना यह नहीं हो सकता। जब कर्म हैं तो परभव भी सिद्ध हो गया। इस तरह चार्वाकमती को अनेक उदाहरण से जीव की सिद्धि की। सामान्य से चेतना लक्षण सभी मतों ने स्वीकारा, मुक्ति सभी चाहते हैं। सुख भी एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के सभी जीव चाहते हैं।

आत्मा में ज्ञानादिक गुणों की सिद्धि के लिए दार्शनिक विवेचन—सामान्य रूप से सुख रूप भाव सब के पास हैं वैसे ही चेतना भी सबके पास है। आत्मा ज्ञान-दर्शन युक्त है यह कभी छूट नहीं सकता। नैयायिक मुक्ति में ज्ञानादिक गुण का अभाव मानते हैं। उन्हें समझाने के लिए यह कहा कि स्वभाव छूटता नहीं है, शाश्वत रहता है।

रयणदिवदिणयरुंदह्यि रयणदिव दिण यरूंदह्यि।
उडु दाउपासणुफल्हिउ अगणि णव दिट्ठंता जाणु॥

अनेक मतों के निराकरण के लिए यहाँ दृष्टान्त है। जैसे-१. रत्नदीप में प्रभा कमती बढ़ती दिखने से अनुमान होता है कि किसी में अधिक से अधिक तेज होना चाहिए। २. सूर्य की किरण का तेज ३. चन्द्रमा की चाँदनी ४. नक्षत्र की ज्योति ५. धातु पाषाणों का प्रकाश ६. सोने की चमक ७. चाँदी की चमक ८. स्फटिक की ज्योति ९. अग्नि की तेजी। हमारे पास क्षयोपशम ज्ञान है और सर्वज्ञ के पास क्षायिक ज्ञान है। यहाँ पर दर्शाया है कि इन सबका प्रकाश अलग-अलग है। कहीं न कहीं जाकर यह पूर्णसूर्य के समान हो ही जाता है। उसी प्रकार आत्मा में भी क्षयोपशम दशा कहीं न कहीं जाकर क्षायिक रूप हो जाती है। यहाँ अशुद्ध और शुद्ध दशा के व्याख्यान से यह स्पष्ट कह रहे हैं कि जो सांख्यमती केवल प्रकृति को कर्तृत्व मानता है आत्मा तो केवल चैतन्य पिंड रहता है उसे समझाया है कि शुद्धाशुद्ध की कल्पना तभी बनती है जब वह कर्म करता है और कर्म करने वाला जड़ नहीं भावयुक्त चेतन आत्मा ही होगा, भाव करेगा तो कर्म का बन्ध-उदय भी होगा। सर्वप्रथम बन्ध होगा, बन्ध का कर्त्ता होगा तो भोक्ता भी होगा। जबकि सांख्यमती कर्मों का फल आत्मा में नहीं होता वह मात्र चिदानन्द चैतन्य का उपभोक्ता है ऐसा मानता है। यदि एकान्त से जैनी भी यह माने तो समयसार में कहा कि वहाँ भी सांख्यमत आ जायेगा। जो कर्त्ता है वही भोक्ता है यह बौद्धमत को समझाने के लिए कहा। नैयायिक मीमांसकादि के संशय निवारण के लिए '**अमूर्तत्व**' का व्याख्यान किया। मांडलिकमत में मान्यता है कि मुक्त होने पर भी ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से जीव घूमता रहता है किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि-**धर्मास्तिकायाभावात्।** कुछ लोग कहते हैं कि अपनी योग्यता से आत्मा ७ राजू ऊपर जाकर टिक जाती है किन्तु यह ठीक नहीं है। सीमा को लेकर सिद्धों की योग्यता नहीं होती,

योग्यता तो अनन्तात्मक है परन्तु धर्मास्तिकाय का अभाव होने से आगे गमन नहीं है। कोई दीप (बौद्धमती) बुझने के समान निर्वाण मानते हैं। दस प्राण निकल गए और आत्मदीपक बुझ गया उनके लिए 'स्वदेहप्रमाण' कहा है। इस प्रकार नैयायिक, मीमांसक, सांख्य, बौद्धादि मत वाले शिष्यों के निवारणार्थ व्याख्यान किया।

कर्मोपाधि से उत्पन्न मिथ्यात्वादि सभी परिणाम वैभाविक हैं। केवलज्ञानादिक गुण निरूपाधि निर्दोष हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन पर्याय हैं और पर्यायों में ही अशुद्धि होती है। द्रव्य और गुण तो शुद्ध होते हैं। उन्हें कहा जा रहा है कि–मात्र पर्याय में ही नहीं द्रव्य और गुण में भी विभाव सिद्ध होगा। सामान्य गुणों की अपेक्षा आत्मा शुद्ध है, अगुरुलघुगुण से षट्गुणहानि-वृद्धि अर्थपर्याय रूप परिणमन होता रहता है, यह अशुद्ध नहीं होता। इसे सूक्ष्म, अवाग्गोचर, क्षणक्षयी और मुक्त कहा है। एकक्षणवर्ती पर्याय यदि उत्पन्न होती है तो वह कर्मोदय से नहीं होती, लेकिन कुछ अपवाद हैं। जैसे–११वें गुणस्थान में जाकर एक समय बाद मरण हो गया लेकिन वह कार्मिक पर्याय है। विभावव्यंजन पर्याय कार्मिक है, अर्थपर्याय के लिए द्रव्यत्व पर्याप्त है। यह सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय का विषय है क्योंकि यह एक समयवर्ती पर्याय को ही स्वीकारता है। दो समयवर्ती आदि पर्याय को स्थूल ऋजुसूत्रनय विषय बनाता है क्योंकि इसमें अतीत-अनागत की ओर जाने से बुद्धि में ऋजुता नहीं वक्रता आती है। वक्र का अर्थ दोनों तरफ देखना होता है। जबकि एक समयवर्ती में सामने ही देखना है प्रभु की नासादृष्टि के समान। वक्रदृष्टि पूज्य नहीं मानी जाती। काकदृष्टि, तिरछीदृष्टि यह सब दोषपूर्ण है। आज स्वाध्याय करते समय शब्दार्थ, नयार्थ, आगमार्थ, मतार्थ के बिना भावार्थ की ओर भागते हैं। जब स्वयं को ही जल्दी-जल्दी कुछ समझ में नहीं आता तो दूसरों को क्या समझायेंगे? जैसे–सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं, वैसे ही सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग हैं।

शंका—पहले जीवास्तिकाय की उत्थानिका में चार्वाक आदि मतों का व्याख्यान किया था तो पुनः अब वर्णन क्यों किया?

समाधान—तो कहते हैं कि वीतराग सर्वज्ञ की सिद्धि के लिए व्याख्यान प्रामाणिकता को प्राप्त होता है। वक्ता की प्रमाणता से ही वचनों की प्रमाणता होती है। आगम की प्रमाणता बाद में होगी पहले वक्ता कौन है? यह देखा जाता है। कभी कुछ-कभी कुछ कह दे तो वह वक्ता नहीं अपितु पूर्वापर बाधाओं से तथा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, अकिञ्चित्कर आदि दोष रहित प्रामाणिक आगम के आधार से युक्ति-युक्तवचन बोलने वाला वक्ता है। बिना आधार के बोलेंगे तो संदेह होना सहज है इसीलिए "**वक्तृ प्रामाण्याद्वचनस्य प्रामाण्यम् इति**" यहाँ धर्मी अर्थात् आधार और धर्म अर्थात् आधेय होता है। धर्म की सिद्धि के लिए धर्मी होना आवश्यक है। यदि सुख धर्म या गुण है तो किसका है? जीव का है यह। "**आत्मनि सुख वर्तते**" यह आधार बनाना आवश्यक है। करण की विवक्षा में जहाँ कहीं विवाद होने लगे तो अधिकरण को पकड़ो। आधार को छोड़ करके कभी आधेय नहीं मिल सकता।

शंका—सम्यग्दृष्टि ही शुद्धोपयोग प्राप्त करता है, अब सम्यग्दृष्टि से कौन सा सम्यग्दृष्टि लेना है?

समाधान—तो कहते हैं–विग्रहगति में भी सम्यग्दृष्टि रहता है, सातवें नरक में भी है, जुआ खेलने वाले पाण्डव भी सम्यग्दृष्टि हैं किन्तु यहाँ निर्विकल्प समाधि युक्त सम्यग्दृष्टि ही शुद्धोपयोग प्राप्त करता है यही यहाँ अधिकरण है अन्यथा नारकी सम्यग्दृष्टि जो हरपल "**नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रिया:**" अर्थात् सदैव अशुभतरलेश्या, परिणाम, वेदना आदि का धारक है। ऐसी स्थिति में उसे भी शुद्धोपयोग मानना पड़ेगा, फिर तो तृतीय गुणस्थान में भी मानना पड़ेगा और द्वितीय गुणस्थान में भी मिथ्यात्व नहीं है दर्शनमोहनीय का उदय नहीं है उत्कृष्ट से छह आवली काल तक उपशम चल रहा है, अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय है जो सम्यक्त्व के शिखर से गिराकर मिथ्यात्व की भूमि की ओर ले जा रहा है, अभी मिथ्यात्व में आया नहीं है इसे भी सासादन सम्यग्दृष्टि कहा है किन्तु यहाँ यह कोई सम्यग्दृष्टि इष्ट नहीं है। निर्विकल्पसमाधि वाला सम्यग्दृष्टि ही शुद्धोपयोगी होता है। चेतनादि गुणों की सिद्धि के लिए गुणी जो जीव है उसकी सिद्धि अनेक मत-मतान्तरों से की है।

शंका—मोक्ष के साधनभूत प्रभुत्व गुण के माध्यम से सर्वज्ञत्व की सिद्धि करते समय मुक्त अवस्था में आत्मा कैसा होता है?

समाधान—उपाधि से रहित, केवलज्ञानादि गुणों से सहित होता है। किन्तु जो मोक्ष में ज्ञान का अभाव मानते हैं तो सुख, आनन्द का संवेदन कैसे होगा? इसलिए जैनाचार्य कहते हैं कि—चेतनागुण केवलज्ञानदर्शनोपयोग के रूप में है। हाँ, क्षयोपशम ज्ञान का वहाँ अभाव है। "**एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्य:**" यदि एक ज्ञान है तो केवलज्ञान ही होता है, मुक्तदशा में एक ही ज्ञान रहता है। संसारदशा में पाँचों ज्ञान रह सकते हैं किन्तु एक जीव के एकसाथ नहीं रहेंगे।

उत्थानिका—मोक्ष का साधकपना व प्रभुत्वगुण के द्वारा सर्वज्ञ की सिद्धि के लिए मुक्त आत्मा का केवलज्ञानादि रूप एवं कर्म उपाधि रहित स्वभाव है ऐसा दिखलाते हैं –

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२८॥

अन्वयार्थ—**(सो)** वह संसारी जीव **(कम्ममलविप्पमुक्को)** कर्मों के मल से मुक्त होकर **(सव्वणाण-दरिसी)** सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होता हुआ **(उड्ढं)** ऊपर जाकर व **(लोगस्स अंतं)** लोकाकाश के अंत में **(अधिगंता)** प्राप्त होकर **(अणिंदियं)** इन्द्रिय रहित **(अणंतं)** अनन्त **(सुहं)** सुख को **(लहदि)** प्राप्त करता या अनुभव करता रहता है।

अर्थ—कर्ममल से मुक्त आत्मा ऊपर लोक के अन्त को प्राप्त करके वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अनन्त अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।

मुक्त अवस्था में शुद्धातम, कर्म मलों से रहित हुए।
ऊर्ध्व लोक का अन्त प्राप्त कर, सर्वदर्शी सर्वज्ञ हुए ॥
इन्द्रियवचन-अगोचर भगवन्, अनन्त सुख को पाया है।
मोक्ष अवस्था में आतम का, यह स्वरूप बतलाया है ॥२८॥

व्याख्यान—वस्तु तत्त्व को दिखाते हुए आचार्य कहते हैं–तुम दीन-हीन क्यों हो रहे हो, अपने आपको देखो। स्वयं को न देख पाओ तो अनंत सुख के भंडार अरहंत, सिद्धपरमेष्ठी को नमस्कार करो। जो कर्ममल से मुक्त होकर लोक के अन्त तक पहुँच गए हैं। लोक का अन्त नीचे भी है, ऊपर भी है, तिरछे आजू-बाजू में भी है किन्तु यहाँ ऊर्ध्वलोक के अन्त को ग्रहण करना है। ''**चौदह राजू उतंग नभ लोक पुरुष संठान**'' जो १४ राजू उत्तुंग है उसमें ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग में चले जाते हैं। असंख्यप्रदेशी लोकाकाश में अनन्त सिद्धपरमेष्ठी पहुँच गए हैं, अनन्त आगे पहुँचेंगे, एक-एक में अनन्त-अनन्त विराजित हैं। शुद्ध अमूर्तदशा में कोई बाधा नहीं आती इसलिए वहाँ अनन्त को जानने-देखने वाले अनन्त सिद्ध अव्याबाध सहित सुख से विराजते हैं। यहाँ ज्ञान को ही सुख नहीं कहा। अन्यमतों में ज्ञान-दर्शन दोनों मोक्ष में छूट जाते हैं ऐसा जो कहा है वह ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ इन्द्रिय सुख नहीं किन्तु अनन्त इन्द्रियातीत सुख है। अनन्त भी दो प्रकार का है एक Quantity और एक Quality की अपेक्षा अथवा एक काल की अपेक्षा और दूसरा असीम की अपेक्षा।

जब सारे कर्ममल धुल जाते हैं या ध्यान से दग्ध हो जाते हैं तब यह मुक्तदशा होती है। मुक्त हुए बिना अविनाशी सुख नहीं मिल सकता। केवली भगवान् घातिकर्म से मुक्त हैं किन्तु ज्ञानचेतना से युक्त नहीं है क्योंकि असिद्धत्व के साथ इसकी अनुभूति नहीं होती है। **केवलज्ञान से सिद्धों का ज्ञान तो हो जाता है किन्तु सिद्धत्व का अनुभव नहीं।** श्रद्धा और ज्ञान होना अलग और अनुभूति होना अलग है।

दृष्टान्त—जैसे २६ जनवरी और १५ अगस्त में अन्तर है। १५ अगस्त को स्वतंत्रता तो मिल गई, आश्वासन दे दिया कि अब स्वतंत्रता छिनेगी नहीं किन्तु सत्ता बाद में दी जायेगी। १९४७ में स्वतंत्रता तो मिल गई किन्तु गणतंत्र दिवस २ वर्ष ५ माह ११ दिन के बाद आया उसी प्रकार केवलज्ञान स्वतंत्रता दिवस के समान है। केवलज्ञान होना अलग और केवलज्ञानचेतनारूप अनुभूति अलग है। इतना ही अन्तर अरहन्त व सिद्ध में है। अरहन्त अवस्था में जीवन से मुक्त हैं, सिद्धावस्था में कर्मों से मुक्त हैं। १५ अगस्त के दिन भारत के प्रधानमन्त्री के द्वारा ध्वज फहराया जाता है लेकिन २६ जनवरी के दिन भारत के राष्ट्रपति के द्वारा २१ तोपों की गर्जना के साथ सलामी होती है। प्रधानमन्त्री तो मन्त्री है, राष्ट्र का पति नहीं है।

ऊर्ध्वगमन का अर्थ ऊपर की ओर जाना है। अग्निशिखा, रेफ और घी की भाँति शुद्ध होने पर सिद्ध ऊर्ध्वगमन करते हैं। सभी ऊपर जाना तो चाहते हैं किन्तु स्वभाव को सुधारते नहीं। सिद्धों के

पास अनन्त को जानने की और अनन्त तक जाने की अनन्त योग्यता है किन्तु धर्मास्तिकाय का अभाव होने से अर्थात् आगे पटरी की व्यवस्था न होने से एक समय में लोक के अन्त में जाकर वहीं रुक जाते हैं।

सिद्ध पूर्णज्ञानी कैसे—ज्ञान के जितने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं वह सब उद्घाटित हो चुके हैं इस अपेक्षा से सर्व अर्थात् पूर्णज्ञान है। उनके पास मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान नहीं और न ही इसके आवरणी कर्म हैं, केवलज्ञानावरण का भी अभाव हो गया है। ज्ञान के समस्त अवरोधक तत्त्व समाप्त हो गए, यहाँ "**सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः**" यह तो व्यवहार की बात है किन्तु ज्ञान के अनन्त शक्त्यंश का पूर्णतः उद्घाटन हो गया है वही परफेक्ट नॉलेज है। बीनाबारहा क्षेत्र में आज चिन्तन में यह बहुत अच्छा विषय मिला। पूर्णज्ञान में तो आनन्द है ही, पर इसकी वाचना में कम आनन्द नहीं है। जिनवाणी का जितना चिन्तन करते जाओ उतना ही स्वाद आता है। विशाल सागर में जितने गोते लगाओ उतने ही कीमती मोती मिलेंगे।

आगम से ही स्वयं का दर्शन और दूसरों का दिग्दर्शन सम्भव—जीवादि नव तत्त्व हैं उसमें जीव के कर्त्ता-भोक्ता आदि नव अधिकार में जो अभी तक कर्म से संयुक्त था उसे छोड़कर शुद्ध चेतनारूप हो जाता है, अशुद्ध चेतना नष्ट हो जाती है। यहाँ आगम से यह सिद्ध कर रहे हैं। आगम का आधार लेकर ही हम स्वयं का दर्शन और औरों का दिग्दर्शन कर सकते हैं। पूर्वापर दोष के बिना जिनवाणी के माध्यम से ही वस्तुस्वरूप को सिद्ध किया जा सकता है। **आगम एक ऐसी कसौटी है जिससे तत्त्वों को परखा जा सकता है।** पूर्व में भी जितने राजा-महाराजा हुए उन्हें आगम से युक्तिपूर्वक समझाया गया। पहले आगम से ही शास्त्रार्थ होते थे। जैसे-वकील धारा के माध्यम से प्वाइंट देता है तो मान्य होता है अन्यथा जज कहेगा यह कानूनन बात नहीं है हेतु पूर्वक बात करो। अखबार की खबरें मत दो। पहले भी शास्त्रार्थ के माध्यम से जिनत्व की रक्षा हुई है लेकिन शास्त्र घर का नहीं होना चाहिए। दुकान आपकी है, पूँजी भी आपने लगाई है, मुख्य बाजार में जगह भी निजी है, सेल्समैन को भी रखा है ये सब घर के हो सकते हैं किन्तु नाप, तौल, लीटर, मीटर घर के नहीं हो सकते हैं। यदि नकली नाप, तौल में पकड़े गये तो उस पतले-दुबले ऑफीसर को भी देखकर हाथ जोड़ लेते हैं और बिना गिने ही चुपचाप बड़े-बड़े नोट के बंडल दे देते हैं। गिड़गिड़ाने से भी कुछ नहीं होने वाला है। आचार्य कथित शास्त्र प्रमाण है तो बोलो। जब बड़े-बड़े श्री कुन्दकुन्द आचार्य, श्री पुष्पदंत-भूतबली जैसे महाराज भी कहते हैं कि हम केवली, श्रुतकेवली के अनुसार कह रहे हैं अपने मन से नहीं, तब हम अपने मन की कैसे कह सकते हैं?

उत्थानिका—पहली गाथा में जो सिद्ध भगवान् के उपाधि रहित ज्ञान-दर्शन-सुख बताया है उसी का ही **जादो सयं** इस वचन से फिर समर्थन करते हैं—

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं ॥२९॥

अन्वयार्थ—(स चेदा) वह आत्मा **(सयं)** अपने आप ही **(सव्वण्हू)** सर्वज्ञ **(य)** और **(सव्वलोगदरसी)** सर्व लोकालोक का देखने वाला **(जादो)** होता हुआ **(अणंतं)** अंत रहित **(अव्वाबाधं)** बाधा रहित **(सगं)** अपने आत्मा से उत्पन्न तथा **(अमुत्तं)** अमूर्तिक **(सुहं)** सुख को **(पप्पोदि)** पाता है या अनुभव करता है।

अर्थ—वह आत्मा अपने आप ही सर्वज्ञ और सर्व लोकालोक को देखने वाला होता हुआ अन्तरहित, बाधारहित, अपने आत्मा से ही उत्पन्न तथा अमूर्तिक सुख को पाता है या अनुभव करता है।

कर्म रहित वह मुक्त जीव ही, होते हैं सर्वज्ञ स्वयं।
सर्व लोकदर्शी होकर वह, पाते अव्याबाध सुखं ॥
है वह सौख्य अमूर्त, अतीन्द्रिय, शब्दातीत, अनुपम है।
अखण्ड सुखधर सिद्धप्रभु का, किया यहाँ पर वर्णन है ॥२९॥

व्याख्यान—केवलज्ञानादि सुख स्वयं में स्वयं से प्राप्त होता है। किसी से माँगकर, छीनकर या उधार नहीं लिया जाता और केवलज्ञानी की उपासना से पूर्णज्ञान का कुछ अंश मिल जाता हो ऐसा भी नहीं है। आत्मा स्वयं ही सर्वज्ञता को प्राप्त करता है। १३वें गुणस्थान में अनन्तसुख और शरीर रूपी कारागृह से मुक्त होने पर सिद्धदशा में बाधा रहित अव्याबाध सुख प्राप्त करते हैं। अरहंत परमेष्ठी अभी शरीर में हैं और एक-एक निषेक का खिरना हो रहा है किन्तु उसका घात नहीं कर सकते, उन्हीं के सामने कई मुनि दीक्षित-शिक्षित होकर समवसरण में केवलज्ञान प्राप्तकर मुक्त भी हो जाते हैं और वह समवसरण में ही बैठे रह जाते हैं। आत्मा सुख स्वभावी होकर भी संसारदशा में कर्म से आवृत है। जैसे-एक-एक कला उद्घाटित होते-होते पूर्णिमा के दिन सारी कलाएँ उद्घाटित हो जाती हैं। उसी प्रकार घातिकर्म नष्ट होते ही अनन्तचतुष्टय प्राप्त हो जाता है और अन्त में अष्ट कर्म विनष्ट होते ही अव्याबाध सुख प्राप्त हो जाता है।

कर्मावरण हटने से ही सर्वज्ञत्व की प्राप्ति—संसारी जीव कर्म से आवृत है। किसी पदार्थ या कपड़े आदि से नहीं ढका है। कर्म एक ऐसा ढक्कन है जिसे कोई और खोल ही नहीं सकता, स्वयं के द्वारा बन्द किया ढक्कन स्वयं से ही खुलेगा। छद्मस्थ जीव क्रम से जानता है और इन्द्रियों से जानता है व्यवधान आ जाए तो नहीं जान पाता। काल के द्वारा अन्तरित अर्थात् जो बहुत पहले हो गए और क्षेत्र अपेक्षा अन्तरित मेरु आदि तथा सूक्ष्म परमाणु यद्यपि केवलज्ञानी के प्रत्यक्ष है किन्तु हमारी बुद्धि के गम्य नहीं हैं अत: इन्हें परोक्ष कहा है। व्याकरण में अद्यतनी, ह्यस्तनी और परोक्ष यह तीन प्रकार के भूतकाल हैं। भविष्य सम्बन्धी भी तीन प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। जो आज ही हुआ है वह

अद्यतनी, कल हुआ था वह ह्यस्तनी और जो आदिनाथ आदि के काल में हो गया वह परोक्ष है। क्षायोपशमिक ज्ञान से कुछ–कुछ जानता है पूर्ण नहीं जानता, उसी प्रकार क्षायोपशमिक दर्शन से भी कुछ–कुछ ही देख पाता है।

इन्द्रियों की संगत में रहोगे तो हमेशा बाधा बनी ही रहेगी, कुछ ना कुछ पीड़ा बनी ही रहेगी। जैसे–जैसे ज्ञान का विकास होता जाता है सुख भी वैसे–वैसे विशेष होता जाता है। पञ्चेन्द्रिय विषयों से जो सुख होता है वह भी मूर्तिक होता है, सुख का संवेदन करने वाला भले ही अमूर्तिक हो। पञ्चेन्द्रिय विषयों के कितने ही अम्बार लगा लो, गुणश्रेणी रूप बढ़ाते–बढ़ाते ढेर लगा लें किन्तु धीरे–धीरे एक न एक दिन उतार पर आ ही जाते हैं अर्थात् छूट जाते हैं। वहीं चैतन्य आत्मा पुरुषार्थ के बल पर काललब्धि के वश से स्वयं ही सर्वज्ञ हो जाता है। दूसरों के द्वारा सर्वज्ञ बनाया नहीं जाता फिर भी निमित्त अपेक्षा तीन प्रकार का कथन आता है–बोधितबुद्ध, स्वयंबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध।

निमित्त का महत्त्व—निमित्त सापेक्ष होकर भी घटित तो स्वयं में ही होता है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग में निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि यह चार स्व की अपेक्षा रखते हैं शेष चार पर सापेक्षता से हैं। उपगूहन में पर के दोष ढकना किन्तु अपने दोष ढकेगा तो उपगूहन अंग नहीं रहेगा, ढकने के लिए तो कहा है पर ढक्कन कहाँ लगाएँ? दूसरों के गुणों को उद्घाटित करने से निश्चित ही स्वयं की उन्नति होती है। इसी प्रकार स्थितिकरण में भी दूसरों की स्थिति ठीक करने से स्वयं की भी ठीक हो ही जाती है। जैसे–स्वयं को सर्दी से हरारत हो रही है और १०५° डिग्री बुखार वाले के पास जाकर उसका हालचाल पूछे तो स्वयं की हरारत बिना औषधि के ही ठीक हो जाती है। नरकों की तीव्र वेदना को याद करें तो सिर दर्द गायब हो जायेगा। वात्सल्य, प्रेम या अनुराग किसके प्रति? स्व के प्रति नहीं, सधर्मी के प्रति हो। वात्सल्य के लिए गुण नहीं गुणी चाहिए। गुण से श्रद्धा हो सकती है किन्तु गुणी से प्रेम, अनुराग या वात्सल्य होता है। **राग जड़ का भी होता है। प्रेम जड़ से नहीं, जीवित प्राणी से होता है।** वात्सल्य पर निमित्त की अपेक्षा रखता है। जिनशासन की महिमा गाने से अपने कर्मों की निर्जरा होती है। जिनशासन की प्रभावना की भावना से अभिमान दूर हो जाता है। निमित्तजन्य इसको ही बोलते हैं। निमित्त से कुछ नहीं होता ऐसा नहीं ; क्योंकि जिनबिम्ब से सम्यग्दर्शन होता है। जितने भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि हुए हैं वे केवलीजिन या श्रुतकेवली के पादमूल के निमित्त से ही हुए हैं। आत्मा में लीन तो स्वयं ही होंगे किन्तु उन्हीं के चरणों में होंगे। जैसे–किसी ने क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के साथ तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया और पूर्व में नरकायु का बन्ध होने से नरक में चला गया। वहाँ से आयेगा और जब स्वयं दीक्षित होगा तो स्वयं के पादमूल में ही क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेगा किन्तु तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तो उन्होंने भी दूसरे के पादमूल में किया अर्थात् निमित्त से बच नहीं सकते। निमित्त सापेक्ष से ही श्रेणी आदि पर चढ़ सकेंगे अन्यथा नहीं। काललब्धिवशात् विशुद्धि भी कथञ्चित् स्वकाल सापेक्ष है।

सर्वज्ञ के विषय में चार्वाक मत का खण्डन—चार्वाकमती कहता है कि—सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि अनुपलब्ध है। जैसे—गधे के सींग, गधा तो है पर सींग नहीं हैं। तो उससे पूछते हैं कि सर्वज्ञ कहाँ नहीं है? इस देश में या तीनों लोक में, इस काल में या तीनों काल में? यदि वह कहता है कि तीनलोक तीनकाल में कहीं नहीं है। तो उससे पूछा—यह तुमने जान लिया कि त्रिलोक और त्रिकाल में सर्वज्ञ कहीं नहीं है, तो यही तो सर्वज्ञ की परिभाषा है, आप ही सर्वज्ञ हो गए। जैसे—कोई देवदत्त नामक व्यक्ति से कहा-वहाँ घट है ले आओ, वह कहता है—यहाँ घट नहीं है क्योंकि मैंने आँखों से देख लिया है, यहाँ खाली स्थान है। अन्य कोई अन्धा है तो वह यह नहीं कह सकता कि मैंने देख लिया, यहाँ घट नहीं है। वैसे ही जो व्यक्ति त्रिकाल और त्रिलोक का ज्ञाता है वही सर्वज्ञ का निषेध कर सकता है। यहाँ जो सर्वज्ञ अनुपलब्ध है यह जो हेतु दिया है उससे सर्वज्ञत्व के निषेध की सिद्धि नहीं कर सकते। परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ हैं, दृश्य नहीं हैं किन्तु किसी न किसी के दृश्य अवश्य हैं। जो लोग कहते हैं मन नहीं लग रहा है लेकिन कहीं न कहीं तो लग ही रहा है। कहते हैं कि मन चट से उचट जाता है मनमाना मन मानता ही नहीं। इसलिए मुनि बनने के लिए आचार्यदेव कहते हैं कि पाँच इन्द्रियाँ तो सयानी हैं बहुत जल्दी मान लेती हैं, पहले मन को जीतो, फिर इन्द्रियाँ तो स्वयमेव नियन्त्रण में आ ही जायेंगी। २८ मूलगुणों में इन्द्रियविजय तो कहा, मनविजय नहीं कहा क्योंकि मन पर एकदम लगाम नहीं लगायी जा सकती। ज्ञान और वैराग्य है तो मन शान्त हो जाता है। इन्द्रियाँ कभी भी अपने आप विषयों की ओर नहीं जाती, मन के संकेत से ही जाती हैं। जिसके पास मन नहीं है वहाँ श्रुत-अज्ञान के संकेत से इष्टानिष्ट कल्पना करते हैं। दूसरों के चित्त में जो परिणति है वह हमें दिखती नहीं लेकिन नहीं दिखती है तो क्या नहीं है? देश विदेशों में कहाँ क्या हो रहा है यह नहीं जानते, फिर भी हो रहा है।

बारह भावनाओं के चिन्तन की शिक्षा—जगत् और काय के स्वभाव के बारे में सोचो और अन्तर्जगत् की बात करो। नरकों के बारे में विचार करो, वहाँ कितनी मारपीट हो रही है। भूख-प्यास और गर्मी के बारे में सोचोगे तो उसके आगे कुण्डलपुर की गर्मी तो कुछ भी नहीं है। सर्दी इतनी भयानक है कि शून्य डिग्री से भी बहुत ज्यादा ठण्डी है। गर्मी से सर्दी ज्यादा खतरनाक है। ठण्डी में भूख भी ज्यादा लगती है किन्तु वहाँ तो एक दाना भी नहीं मिलता। जब यहाँ अकाल पड़ता है तो एक-एक दाना बीनकर खाने लगते हैं। महाराणा प्रताप और उनके बच्चों को घास की रोटी तक खानी पड़ी, ऐसी दयनीय दशा हो जाती है। इसीलिए आत्मचिन्तन करने से पूर्व १२ भावनाओं का चिन्तन करो। तीनलोक में कहाँ-कहाँ पर जीव हैं उनकी उत्पत्ति स्थान के बारे में सोचोगे तो रोंगटे खड़े हो जायेंगे और मन अपने आप ठिकाने आ जायेगा।

सर्वज्ञ की सिद्धि आगम व अनुमान से—तो विषय चल रहा था कि त्रिलोक में कहीं सर्वज्ञ नहीं है ऐसा कहने वाला स्वयं ही सर्वज्ञ हो जायेगा। भले ही अभी भरतक्षेत्र में चौदह गुणस्थान नहीं

हैं किन्तु भरतक्षेत्र की विजयार्ध श्रेणी में अभी भी चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं। यह हेतुदूषण और दृष्टान्तदूषण भी है। अब वह कहता है कि– माना कि हमारा हेतु और दृष्टान्त दूषित है तो फिर आप ही बताओ कि आपके सर्वज्ञ कहाँ हैं? तब सर्वज्ञ की सिद्धि आगम और अनुमान से ही की जा सकती है, प्रत्यक्ष से नहीं। उसी प्रकार स्वर्ग–नरक भी किसी ने देखा नहीं और बिना देखे न माने तो मत मानो। नहीं मानने वाला तो नरक में पहले जायेगा। इसलिए आगम की बात मानलो। यदि नरक नहीं मानते तो डरते क्यों हो? और स्वर्ग नहीं मानते तो स्वर्ग का लोभ क्यों करते हो? यदि नरक है तो सोचो तुम्हारा क्या होगा? सारा जीवन विषय भोगते–भोगते बीत गया, आगे के लिए कुछ पुण्य कार्य भी नहीं किया। स्वर्ग भी बहुत पास नहीं है। कल्पवासी देव होने के लिए बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है। "**सम्यक्त्वं च**" इस सूत्र से मिथ्यादृष्टि भी वहाँ जाता है लेकिन सम्यग्दृष्टि देव बनेगा तो कल्पवासी ही बनेगा ऐसा आगम से जाना जाता है। सर्वज्ञ हैं इसमें उन्होंने कोई बाधक प्रमाण नहीं दिया, इससे स्पष्ट है हमारी बात प्रामाणिक है। हमने उन्हें बाधित कर दिया कि सर्वज्ञ नहीं हैं ऐसा तुम नहीं कह सकते और सुख–दुख का जैसा संवेदन में अस्तित्व है वैसा ही सर्वज्ञ का अस्तित्व है।

पहले यूरोप वाले अमेरिका को नहीं जानते थे लेकिन अमेरिकन तो जानते थे कि हम हैं। सुख–दुख आदि के संवेदन के समान सर्वज्ञत्व है इसीलिए जब आँखें खुलीं तो सवेरा हो गया, सवेरा नहीं देखा तो आँख खुलने पर जो होता है वही सवेरा है इसलिए कहावत है–'जब जागो तभी सवेरा' इसी प्रकार पुरुष विशेष के लिए प्रत्यक्ष होना चाहिए। यहाँ कौन सा हेतु है? ऐसा पूछने पर कहते हैं "**अनुमान विषयत्वात्**" जो–जो अनुमान का विषय होता है वह किसी न किसी के लिए प्रत्यक्ष होता है। जैसे–धुएँ के साथ अग्नि की व्याप्ति है। एक बार धुआँ देखा, वहाँ पर अग्नि भी देखी फिर बार–बार देखने की आवश्यकता नहीं, अनुमान से जान लेते हैं। इसी प्रकार दूर–अन्तरित आदि पदार्थ भी किसी न किसी के विषय अवश्य हैं। संक्षेप में सर्वज्ञ के विषय में यही प्रमाण दिया जाता है। विस्तार के साथ न्याय ग्रन्थों में वर्णन है। यह अध्यात्म ग्रन्थ होने से वीतराग सर्वज्ञ का स्वरूप बताया। अतः रागादि भाव विकल्पों को छोड़कर एकमात्र उपादेयभूत परमात्म तत्त्व का ज्ञान कर लेना चाहिए।

उत्थानिका—अब जीवत्व गुण का व्याख्यान करते हैं–

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥३०॥

अन्वयार्थ—**(जो)** जो **(हु)** प्रकटपने से **(चदुहिं)** चार **(पाणेहिं)** प्राणों से **(जीवदि)** जीता है **(जीवस्सदि)** जीवेगा व **(पुव्वं जीविदो)** पूर्व में जीता था **(सो जीवो)** वह जीव है। **(पुण)** तथा **(पाणा)** प्राण **(बलं)** बल **(इंदियं)** इन्द्रिय **(आउ)** आयु **(उस्सासो)** श्वासोच्छ्वास हैं।

अर्थ—जो चार प्राणों से जीता है, जीवेगा और पूर्वकाल में जीता था, वह जीव है और वे चारों प्राण–इन्द्रिय, बल, आयु तथा श्वासोच्छ्वास हैं।

चउ प्राणों से जो जीता है, भविष्य में भी जीयेगा।
भूतकाल में भी जीता था, वही जीव कहलायेगा॥
बल आयु श्वासोच्छ्वास औ, इन्द्रिय चारों प्राण कहे।
शुद्ध सिद्ध आत्माओं में इक, मात्र चेतना प्राण रहे ॥३०॥

व्याख्यान—चार प्राणों से जो जी रहा है, जीता था और जीवेगा वह जीव है। श्वासोच्छ्वास को जैनाचार्यों ने प्राण और अपान भी कहा है। वायु को ग्रहण करना प्राण है, अपान जो प्राण नहीं है उसे छोड़ते हैं। श्वासोच्छ्वास और प्राणापान में अन्तर है। श्वासोच्छ्वास एकेन्द्रियादि में भी होता है किन्तु प्राणापान पञ्चेन्द्रिय में ही देखने में आता है। एकेन्द्रियादि में नाड़ी के माध्यम से अव्यक्त परिणमन होने से आज तक श्वासोच्छ्वास देखा नहीं गया किन्तु पञ्चेन्द्रिय में श्वासोच्छ्वास क्रिया दिखने से प्राणापान संज्ञा दी है। मुख्य रूप से इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास जो पर्याप्तक हैं उनके लिए ये चार प्राण हैं किन्तु जो अपर्याप्तक होते हैं वे एक बार भी श्वास नहीं ले पाते। इस जीव की यात्रा अनादि से आज तक प्राणों के माध्यम से चल रही है। चार प्राण प्रजा है, आत्मा राजा है। राजा जाग्रत है प्रजा सोती है। राजा तो अपने में बैठा है संसार रूपी दण्डक वन में आतम राजा संकल्प विकल्प के कारण ही भटक रहा है।

ज्ञान की क्षयोपशम दशा का नाम मन—अभी तक इस जीव की बुद्धि सम्यक् नहीं हुई तो आगे भी नहीं होगी ऐसा नहीं है। जिनकी बुद्धि सम्यक् हुई है उनका स्मरण और समागम करने से जीवन रूपान्तरित हो सकता है, मन समझ सकता है। मन क्षयोपशम रूप है। तन को खोलकर देखने से मन नहीं दिखता। मन का कुछ ठिकाना नहीं है। जैसे—सरोवर में तरंग का कोई ठिकाना नहीं, तरंग सरोवर में कहीं भी उत्पन्न हो सकती है। उसी प्रकार ज्ञान की क्षयोपशम दशा का नाम मन है वह सरोवर की तरंगवत् है। सर्वज्ञ प्रभु सैनी-असैनी भेद से रहित हैं। यद्यपि पञ्चेन्द्रिय मनुष्य हैं। मन के द्वारा ही संज्ञी को सम्यग्दर्शन होता है। सैनी को सम्यग्दर्शन १२ वें गुणस्थान तक रहता है फिर बाद में केवली होते ही परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन हो जाता है। केवली के पास मन, वचन, काय तीनों हैं किन्तु अब मन से विचार नहीं करते हैं अतः सैनीपना नहीं है। पहले जिन पदार्थों की श्रद्धा की थी वह सब अब प्रत्यक्ष देख रहे हैं। अब विश्वास की भी कोई आवश्यकता नहीं केवलज्ञान होते ही श्रद्धागुण के शक्त्यंश पूर्णतः उद्घाटित हो जाते हैं। छद्मस्थ अवस्था में परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिक ज्ञान जब तक है तब तक ही संज्ञी-असंज्ञी की परिकल्पना होती है। चतुर्थ गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दर्शन तो होता है लेकिन अवगाढ़ सम्यग्दर्शन १२वें गुणस्थान में होता है। इसमें मोह का क्षय अनिवार्य है। जो उत्तम अन्तरात्मा हैं, द्वितीय शुक्लध्यानी हैं उन्हें अवगाढ़ सम्यग्दर्शन ही होता है। चतुर्थ गुणस्थान में जो क्षायिक सम्यग्दर्शन हुआ है उसका अर्थ यह है कि—जो शक्त्यंश उद्घाटित हो गए हैं वह अब मिटेंगे नहीं, इस अपेक्षा से क्षायिक है। १२वें गुणस्थान तक

सैनी रहने से मन के माध्यम से श्रद्धान करते थे। केवलज्ञानी होते ही पूर्णज्ञान से जानने लग जाते हैं।

गुण कभी गुणी नहीं—निश्चय से चैतन्यगुण रूप प्राण से जीव जीता है। चैतन्यगुण प्राण से युक्त जीव को यहाँ प्राणी कहा गया है। कभी भी ज्ञान को ज्ञानी, दर्शन को दर्शनी और धन को धनी नहीं कहा गया, उसी प्रकार प्राण को प्राणी नहीं कहा जा सकता। कभी भी गुण-गुणी नहीं हो सकता। यहाँ भी जो प्राणी है वह जीवात्मा ही होगा। ज्ञान को आत्मद्रव्य से ज्यादा महत्त्व नहीं देना चाहिए। कुछ लोग गुण के समुदाय को द्रव्य कहकर गुणों को ही महत्त्व देते हैं। थोड़ा-सा चिन्तन करने लग जाता है तो ज्ञान ही सब कुछ है ऐसा लगता है किन्तु ज्ञान आत्मा को पहचानने का मात्र एक साधन है। विशेष गुण के आधार बिना द्रव्य पहचान में नहीं आता। हिन्दी या अंग्रेजी भाषा अथवा रहन-सहन, खान-पान के माध्यम से लोगों की पहचान होती है। गुण और क्रियाओं से मनुष्य की पहचान होती है, न कि गुण और क्रियाओं की। मकान का पता जानकर मकान में रहने वाले की पहचान करना लक्ष्य है। ज्ञान के माध्यम से आत्मा की खोज कर सकते हैं किन्तु ज्ञान को ही आत्मा कह दें यह ठीक नहीं है। कुछ लोग ज्ञान के अलावा कुछ है ही नहीं ऐसा मानते हैं।

संस्मरण—३०-३५ वर्ष पूर्व कुण्डलपुर की बात याद आ गई-राजस्थान, बुन्देलखण्ड और कई जगह के विद्वान् वहाँ थे तब प्रवचन यहीं से प्रारम्भ किया कि अनेकान्त का अर्थ क्या है? वह आधार सहित रख रहा हूँ लेकिन आधार का नाम नहीं लिया और ज्ञान-दर्शन को गौण करके कहा कि जीव के पास अनन्त गुण हैं। यदि उन गुणों का नाम लेकर कहते चले जाएँ तो अनन्तकाल के बाद भी ज्ञान का नम्बर नहीं आयेगा, तब तक शेष सारे गुण अचेतनात्मक होने से जीव को अजीव या अचेतन कहेंगे ऐसा नहीं है। जीव के लक्षण की अपेक्षा ज्ञान दर्शन उपयोग हैं किन्तु इतना ही जीव नहीं है। मोक्षमार्ग ज्ञान से नहीं सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ होता है और सम्यग्दर्शन चेतन गुण नहीं है। यद्यपि इसी से ज्ञान में समीचीनता आती है। तब प्रवचन में जो अनेकान्त को समझने वाले थे वह सब समझ गए कहने लगे कि महाराज! आज तो बिल्कुल अलग ही प्रवचन हो गया। यदि श्रद्धान को चेतन रूप में स्वीकारेंगे तो तीन चेतना हो जायेंगी-एक ज्ञानात्मक दूसरी दर्शनात्मक और तीसरी श्रद्धानात्मक जो आगम विरूद्ध है। जिस प्रकार ज्ञान और दर्शन से श्रद्धा भिन्न है उसी प्रकार ज्ञान और दर्शन से सुखगुण भिन्न है। श्रद्धान को दृढ़ करो, ज्यादा ज्ञान को प्रोत्साहन मत दो।

श्रद्धान दृढ़ करने की शिक्षा—तत्त्व चिन्तन रूप ज्ञान नहीं होते हुए भी तिर्यञ्चों में सम्यक्त्व के साथ संयमासंयम प्राप्त हो जाता है और पूर्वकोटिवर्ष तक कुक्कुट आदि जीव देशसंयम का निर्दोष पालन करते हैं। उन्हें साततत्त्व नवपदार्थों का नाम भी ज्ञात नहीं, आज तो श्रद्धान हो या न हो नाम ज्ञात हो जाए तो ज्ञानी मानते हैं। मोक्षमार्ग आस्था पर आधारित है। "**आणं ताणं कछु न जाणं सेठ वचन परमाणं**" और "**अजाणमाणो गुरु णियोगा**" यही तो मार्गसम्यक्त्व है। किसी की सम्यक् क्रिया देखकर श्रद्धान हो जाना। डोर, लोटा और छन्ना पहले श्रावक साथ में रखते थे, जीवानी करते

थे। अब तो यह क्रिया ही समाप्त हो गई। एक महानुभाव आये थे ट्यूबवेल के पानी के बारे में कह रहे थे, किन्तु वह हैण्डपम्प का पानी दही को मथने के समान मथ करके ऊपर आता है। उसमें सारे त्रसजीव मथ जाते हैं। फिर जीवानी का कोई मतलब ही नहीं क्योंकि जीव तो पहले ही मर गए फिर तो मात्र क्रिया ही रह जायेगी। कुँए के जल में विधिवत् जल छानकर जीवानी छोड़ने से जीव सुरक्षित पहुँच जाते हैं। आजकल जो नल आते हैं उसमें ऐसे रासायानिक पदार्थ डाल देते हैं जिससे लाखों लीटर पानी एकसाथ निर्जीव हो जाता है। ऐसा महा आरम्भ हो रहा है कि एक भी जीव नहीं बचता। कभी-कभी तो वह पानी पीने योग्य भी नहीं रहता है यह विज्ञान की करामात है। कुँए बन्द करवा दिये हैं और पानी का स्तर नीचे की ओर जा रहा है अब कुआँ चाहिए। धर्म और स्वास्थ्य दोनों ही दृष्टि से कुँए का पानी श्रेष्ठ है लेकिन यह क्रियाएँ सब समाप्त हो गई हैं। लोग शहरी बन गए हैं, सादगी दिखाई नहीं देती। पहले पानी कम खर्च होता था। दो लोटे से काम हो जाता था। आजकल शौच कूप दो बाल्टी पानी के बिना साफ नहीं होता। कूलर आदि में भी पानी अनावश्यक खर्च हो रहा है आरम्भ बढ़ता जा रहा है तो बढ़ती जनसंख्या में पानी कहाँ से लाएँ?

श्रद्धान की महिमा—अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्य रूप और अशुद्ध निश्चयनय से भाव रूप चार प्राणों से संसारी जीव युक्त होता है। अभेदनय से इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार ही प्राण हैं। तीनों बल का निरोध करना अर्थात् उपयोग नहीं करने से बल बना रहता है। जैसे-दुकान की छुट्टी करने से ग्राहक की भी छुट्टी हो जाती है और दिनभर की सारी गतिविधियाँ समाप्त होने से बल की बचत हो जाती है। बलबद्ध राजा और मलबद्ध रोगी हमेशा विजयी होते हैं। आयुर्वेदाचार्य रोगी को सर्वप्रथम पूछते हैं कि-बद्धमल है या नहीं? यदि है तो दवाई जल्दी लग जायेगी अन्यथा अमृततुल्य दवाई भी उसी बीमारी रूप संक्रमित हो जायेगी। संक्रमण का अर्थ है जब दर्शनमोह का क्षय करते हैं तब मिथ्यात्व का सम्यक्मिथ्यात्व में और सम्यक्मिथ्यात्व का सम्यक्त्व प्रकृति में संक्रमण होता है, यह गुण संक्रमण है। किन्तु उद्वेलना के समय सम्यक्त्वप्रकृति का सम्यक्मिथ्यात्व में और सम्यक्मिथ्यात्व का मिथ्यात्व में संक्रमण होता है यह दोष रूप संक्रमण है। दोष को गुणरूप संक्रमण करना ही आस्था की महिमा है, ज्ञान की महिमा नहीं। यह गुण संक्रमण अन्तर्मुहूर्त काल तक चलता है। सम्यग्दृष्टि अपने बल का सदुपयोग करता है। अपने बल का प्रयोग औरों के उपकार के लिए करता है। आचार्य कहते हैं कि-तीन योग को रोक करके शुद्ध जीवास्तिकाय के बारे में ही चिन्तन करना चाहिए। जैसे-किसी का ऑपरेशन होना है तो डॉक्टर पहले से ही तारीख दे देता है और कहता है कि-उस दिन कुछ भी खाकर नहीं आना, उपवास रखना है। भोजन पेट में रखना ऑपरेशन के लिए खतरा है। उसी प्रकार मन, वचन, काय की चेष्टा जब तक करते रहेंगे तब तक ध्यानस्थ नहीं हो पायेंगे। निःशल्य होना है। जिस समय जो आवश्यक है उस वक्त वही आवश्यक करना निःशल्यता है। सामायिक का समय भी स्वाध्याय में लगा दें यह ठीक नहीं है।

उत्थानिका—अगुरुलघुत्व क्या है? असंख्यात प्रदेशपना क्या है? व्यापकत्व-अव्यापकत्व, मुक्तत्व और अमुक्तत्व क्या है? इसी का प्रतिपादन करते हैं–

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे।
देसेहिं असंखादा सिय लोगं सव्वमावण्णा ॥३१॥

अन्वयार्थ—**(अगुरुलहुगा)** अगुरुलघु गुण **(अणंता)** अनंत हैं **(तेहिं)** उन **(अणंतेहिं)** अनंतगुणों से **(परिणदा)** परिणमन करते हुए **(सव्वे)** सर्व जीव **(देसेहिं)** प्रदेशों से **(असंखादा)** असंख्यात प्रदेशी हैं **(सिय)** किसी अपेक्षा से **(सव्वं)** सर्व **(लोगं)** लोक में **(आवण्णा)** व्याप्त हैं।

अर्थ—अगुरुलघुगुण के अनन्त अंश हैं। उन अनन्त अगुरुलघुगुण के अंशों से सर्व जीव परिणत हैं, वे जीव असंख्यात प्रदेश वाले हैं कुछ जीव समस्त लोक को प्राप्त होते हैं।

सब जीवों में अगुरुलघुगुण, इसमें शक्ति अंश अनन्त।
जीव असंख्यप्रदेशी जानो, अगुरुलघुगुण किन्तु अनन्त॥
सर्व लोक में व्याप्त रहे कुछ, केवलि समुद्घात जब हो।
यह वर्णन पञ्चास्तिकाय में, आगम को मम वंदन हो ॥३१॥

व्याख्यान—प्रत्येक जीव में अनन्तगुण हैं। इसमें अगुरुलघु गुण से अर्थपर्याय की व्यवस्था चल रही है। जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल अनन्तानन्त हैं और अगुरुलघु गुण अनन्तानन्त हैं। सबसे ज्यादा ज्ञान और दर्शन गुण के अविभागीप्रतिच्छेद हैं, वह भी निगोदिया से प्रारम्भ करते हैं। केवलज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेद की तो हम परिगणना ही नहीं कर सकते, मात्र अनुमान लगा सकते हैं। **परमात्मप्रकाश** में लिखा है कि अलोकाकाश में लोकाकाश एक तारे जैसा टिमटिमा रहा है। अनन्त प्रदेशी अलोकाकाश में असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश बहुत छोटा है। अनन्त अगुरुलघुगुण से जीवादि सर्व द्रव्य परिणमन करते रहते हैं। इसमें कर्मों का कोई प्रभाव नहीं है। अध्यात्म ग्रन्थों में अथवा श्रीधवल आदि की टीकाओं में अगुरुलघुगुण के माध्यम से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप जो परिणमन होता है उससे अर्थपर्याय की उत्पत्ति होती है। अर्थपर्याय एक क्षणवर्ती पर्याय होती है। शुद्ध अर्थपर्याय सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय का विषय बनती है। इसमें कार्य-कारण की व्यवस्था नहीं बनती, इसीलिए एक क्षण में मिटने वाली अर्थपर्याय ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से उत्पन्न नहीं होती अथवा उसके क्षयोपशम से उत्पन्न नहीं होती और न ही उसमें मिथ्यात्व का सम्बन्ध है क्योंकि दर्शनमोहनीय के क्षय होने के उपरान्त श्रद्धा गुण को कोई भी नहीं मिटा सकता। इतना अवश्य है कि जैसे-जैसे कर्मों का क्षय होता चला जाता है वैसे-वैसे श्रद्धा गुण के अथवा चैतन्य गुण के अविभागी प्रतिच्छेद उद्घाटित होते चले जाते हैं। काल के कारण नहीं, कर्मों के क्षय के कारण होते हैं क्योंकि काल के कारण किसी भी अविभागी प्रतिच्छेद का विकास नहीं होता ऐसा आगम का उल्लेख है। इसीलिए मुक्त होने के लिए

मूल में परिणाम ही कारण हैं। परिणामों के द्वारा ही कर्मों का क्षय अथवा साता आदि का बन्ध होता है। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और एक जीवद्रव्य प्रदेश की अपेक्षा लोक के बराबर असंख्यात प्रदेशी हैं। कुछ केवली केवलीसमुद्घात करते हैं तो लोकपूरण के समय उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं अथवा सूक्ष्म एकेन्द्रिय की अपेक्षा से ''**सियलोयं सव्वमावण्णा**'' जीव लोक में सर्वव्यापी हैं। तथा अन्य जितने केवली लोकपूरण अवस्था रहित हैं अथवा बादर एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय व पञ्चेन्द्रियादि जीव हैं वे लोक के सर्व स्थानों में नहीं हैं। पुद्गल संख्यात, असंख्यात व अनन्तप्रदेशी है कालाणु एक प्रदेशी ही है और कालाणु व परमाणु भी सर्वलोक में व्याप्त हैं। लोकाकाश के बाहर अनन्तप्रदेशी अनन्तआकाश है किन्तु लोकाकाश की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी है।

उत्थानिका—जीवों का स्वाभाविक प्रदेशों की अपेक्षा प्रमाण कहते हैं और मुक्त-संसारी जीव का भेद कहते हैं–

केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसाय जोगजुदा।
विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा ॥३२॥

अन्वयार्थ—**(केचित् तु)** कितने ही **(अणावण्णा)** व्याप्त नहीं होते हैं। **(मिच्छादंसण-कसायजोगजुदा)** मिथ्यादर्शन, कषाय व योग सहित **(बहुगा)** बहुत **(संसारिणो)** संसारी **(जीवा)** जीव हैं **(य)** तथा **(तेहिं)** उनसे **(विजुदा)** रहित **(सिद्धा)** सिद्ध हैं।

अर्थ—कितने ही जीव समस्त लोक में व्याप्त नहीं होते हैं। बहुत से संसारी जीव मिथ्यादर्शन, कषाय व योग सहित हैं तथा उनसे रहित सिद्ध हैं।

लोकपूर्ण जो समुद्घात है, उसके बिन जो प्राणी हैं।
व्याप्त नहीं वे सकल लोक में, योग सहित संसारी हैं ॥
मिथ्यादर्शन चउ कषाय युत, ऐसे जीव अनन्त कहे।
निर्विकार वसु कर्म रहित सब, सिद्धप्रभु भी नन्त रहे ॥३२॥

व्याख्यान—कुछ जीव मिथ्यादर्शन, कषाय और योग से युक्त होने के कारण लोकपूरण समुद्घात तक नहीं पहुँच पाते अर्थात् देह प्रमाण वाले ही बने रहेंगे और जो मिथ्यात्वादि से रहित हो जाते हैं वे सिद्ध हो जाते हैं। संसारी भी अनन्त हैं और सिद्ध भी अनन्त हैं। जो अनन्त गुणों के धारक हैं मुख्य रूप से आठ गुणों के धारक हैं वे सिद्ध हैं। संसारी भी अव्यक्त अनन्तगुण युक्त हैं। अगुरुलघुगुण के अर्थपर्याय की अपेक्षा सभी शुद्ध हैं, जो कि एक-एक क्षण में समाप्त होती जा रही हैं। शेष सर्व पर्यायें कर्माश्रित हैं किन्तु द्रव्य कभी समाप्त नहीं होता। अनन्त पर्यायें आत्मा से निकल गईं फिर भी आत्मद्रव्य का अभाव नहीं हुआ। नया-पुराना होना अलग है और मिट जाना अलग है। अज्ञान अगुरुलघुगुण के कारण नहीं है इस गुण की अपेक्षा से द्रव्य में प्रत्येक समय उत्पाद, व्यय,

ध्रौव्य रूप परिणमन हो रहा है किन्तु इससे केवलज्ञान उत्पन्न होने वाला नहीं है। केवलज्ञान रत्नत्रय के माध्यम से उत्पन्न होता है।

जब आयु की स्थिति अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है और शेष अघातिया कर्मों की स्थिति ज्यादा रह जाती है तब उन स्थितियों को अन्तर्मुहूर्त करने के लिए केवलीसमुद्घात किया जाता है। किन्तु प्रत्येक के लिए अनिवार्य नहीं है। समुद्घात के माध्यम से स्थिति समान करने का अर्थ अन्तर्मुहूर्त स्थिति रह जाती है ऐसा नहीं किन्तु स्तिबुक संक्रमण आदि से अविपाक निर्जरा कर सके ऐसी शक्ति लाने के लिए समुद्घात क्रिया होती है। यह औपचारिक क्रिया नहीं है, प्रायोगिक है।

अन्तर्मुहूर्त में अविपाक निर्जरा द्वारा शेष तीन अघातिया कर्मों का क्षय किया जाता है। यदि वे ध्यान नहीं करते ऐसा माने तो अपने आप सविपाक निर्जरा माननी पड़ेगी जबकि वहाँ सविपाक निर्जरा नहीं बल्कि अविपाक निर्जरा है। जो संसार से मुक्ति का एक प्रौढ़ कारण है। सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति रूप शुक्लध्यान से असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है क्योंकि समुद्घात के समय वहाँ पर उदीरणा नहीं है। उदीरणा नहीं है इसलिए असंख्यातगुणी निर्जरा नहीं होती ऐसा नहीं, जहाँ उदीरणा नहीं होती, वहाँ पर गुणश्रेणी निक्षेप नहीं होता।

पश्चिमस्कन्ध, श्री धवल, श्री जयधवल आदि ग्रन्थों में इसका वर्णन है। **राजवार्तिककार** कहते हैं कि-तीन अघातिया कर्म की स्थिति को समान नहीं किया जाता किन्तु केवल वेदनीय को ही आयु के समान किया जाता है। वेदनीय में सबसे ज्यादा द्रव्य होता है इसलिए उसे समान बनाने के लिए ही यह कार्य किया जाता है। जब वेदनीय कर्म होगा तो गोत्र और नामकर्म भी होगा किन्तु मुख्य वेदनीय है।

एक विषय और है-मिथ्यात्व का जब एक आवली काल अवशिष्ट रह जाता है, तब उस समय भी गुणश्रेणी निक्षेप नहीं होता, किन्तु वहाँ पर स्थितिघात, अनुभागघात आदि होते रहते हैं। इसी प्रकार १४ वें गुणस्थान में भी अविपाक निर्जरा है। विपाक के बिना निर्जरा अर्थात् स्वमुख से विपाक न होकर स्थिति व अनुभाग का घात करते हुए स्तिबुक संक्रमण से उदय होता है जिसे अविपाक निर्जरा कहा है।

आशा से रहित होकर विकल्पों को त्यागने की शिक्षा—सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव तीन लोक में तिल में तेल जैसे सर्व व्यापी हैं। स्थूल जीव आधार से रहते हैं किन्तु सूक्ष्म जीव को आधार की आवश्यकता नहीं। जीवन-मरण की आशा ही राग-द्वेष है। आशा से रहित होकर विकल्प त्याग करके परम आह्लाद रूप सुख रसास्वादन से परिणत निज शुद्ध जीवास्तिकाय ही एकमात्र उपादेय तत्त्व है। यही समझकर जीवनयापन करना चाहिए। आयु कर्म के अनुसार ही जीवन चलता है। चाहे नरक हो या स्वर्ग हो, केवली भगवान् भी इसे बदल नहीं सकते। स्टेशन पर गाड़ी आई नहीं है पर टिकिट खरीद ली है तो वहीं पर प्रतीक्षा करो। जिस गाड़ी की जिस क्रमांक की सीट आरक्षित है उसी में जाना होगा। आयु कर्म का कितना महत्त्व है, पता नहीं किसकी कितनी आयु है? नियत नहीं है। बचपन आता है

चला जाता है, किशोरावस्था आती है चली जाती है किन्तु वृद्धावस्था आती है और अपने साथ ले जाती है। बुढ़ापा कहता है हम अकेले नहीं जा सकते हैं हमें बार-बार आना नहीं होता इसलिए आपको लेकर ही जायेंगे। वृद्ध लोगों सुन लो।

उत्थानिका—अब देह प्रमाणपने के दृष्टान्त को कहते हैं—

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमेत्तं पभासयदि ॥३३॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे **(पउमरायरयणं)** पद्मरागमणि **(खीरे)** दूध में **(खित्तं)** डाली गई **(खीरं)** दूध को **(पभासयदि)** प्रकाश करती है **(तह)** तैसे **(देही)** संसारी जीव **(देहत्थो)** शरीर में रहता हुआ **(सदेहमित्तं)** अपने शरीर मात्र को **(पभासयदि)** प्रकाश करता है।

अर्थ—जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाले जाने पर दूध को प्रकाशित करता है उसी प्रकार देही (जीव) देह में रहता हुआ स्वदेह प्रमाण प्रकाशित होता है।

जिस प्रकार से दूध पात्र में, पद्मरागमणि रत्न रखा।
दूध तभी वह उसी रत्न की, आभा से ही युक्त दिखा॥
इसी भाँति तन में जो बसता, वह संसारी कहलाता।
निज को देह बराबर ही वह, जीव प्रकाशित है करता ॥३३॥

व्याख्यान—जैसे तपेली में कुमकुम के समान पद्मरागमणि को रखकर ७-८ लीटर भर दिया। तपेली का अर्थ है जिसका तल और मुख बराबर हो। अब जैसे-जैसे दूध से वह तपेली भरती जा रही है वैसे-वैसे वह दूध लाल-लाल होता गया। प्रवचनसार में 'नीलम' शब्द आया है, स्फटिकमणि और जपापुष्प का भी उदाहरण आता है। जिस प्रकार पद्मरागमणि ने पूरे दूध को लाल बना दिया उसी प्रकार संसारी प्राणी ज्यों ही देह धारण करता है त्यों ही पूरा शरीर प्रकाशित हो जाता है। केवल बाल और नाखून में जीव नहीं रहता लेकिन उसकी जड़ों में तो रहता है तभी तो बाल खींचने पर आँखों में पानी आ जाता है। बाहरी हिस्सा निर्जीव रहता है उसे काटने पर दर्द नहीं होता किन्तु थोड़ा-सा भी जड़ से कट जाए तो नौघेरा हो जाता है। इसलिए निर्वाण कल्याणक मनाते समय पूरा शरीर कपूरवत् उड़ जाता है मात्र केश और नाखून रह जाते हैं। जिसका अग्निकुमार देव अन्तिम संस्कार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि जितनी देह है उतने ही आत्मप्रदेश फैले रहते हैं। यदि क्रोधादि कषाय हो जाएँ तो बाहर भी आने लगते हैं। जैसे-दूध को ज्यादा तपाने से तपेली के बाहर आ जाता है। दूध उफनते समय या एक ग्लास से दूसरे ग्लास में गटपट करते समय बाहर आ जाता है उसी प्रकार वेदना, कषाय आदि समुद्घात के समय आत्मा के प्रदेश बाहर आ जाते हैं। कुछ अपवाद को छोड़कर देह के बिना आत्मप्रदेश रह नहीं सकते। यदि मानलो विक्रिया, कषाय, आहारक समुद्घात के समय मरण हो जाए

तो उतने आत्मप्रदेश बाहर रह जाते हैं देह तक नहीं आ पाते और वह पुतला जहाँ तक जाना है वहाँ तक चला जाता है। जैसे–बाहुबली का चित्र बाहर से तीन वलय जैसा तीन शेड देकर बनाते हैं वैसे ही आत्मप्रदेशों की भी तीन स्थितियाँ हो जाती हैं। पहली विग्रहगति में, दूसरी मिश्र अवस्था में, तीसरी आहारक होने पर। आत्मा के साथ मन भी रहता है इन्द्रियाँ कथञ्चित् नियत देश और नियत विषय वाली हैं किन्तु मन नियत विषय और नियत देश वाला नहीं किन्तु सर्वांग में रहता है।

संसारी जीव देहस्थ होता हुआ अपने देह मात्र को ही प्रकाशित करता है किन्तु साधारण शरीर में तो अनन्त जीव हैं। एक ही शरीर में अनन्त जीवों के आत्मप्रदेश फैले हुए हैं। जैसे–एक भवन में सौ बल्ब लगा दिये हों, एक बटन दबाते ही पूरे भवन में प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार एक जघन्य अवगाहना वाली देह में अनन्त निगोदिया जीव अथवा साधारण वनस्पतिकायिक जीव रहते हैं। इस तरह एक शरीर के अनन्त मालिक हो जाते हैं चूँकि यह प्रत्येक शरीर वाले नहीं हैं। उस शरीर के बाहर एक भी आत्मप्रदेश नहीं जा रहा है। अभी तक अनन्त सिद्ध हो गए पर एक निगोद शरीर भी जीवों से खाली नहीं हुआ और न ही कभी खाली होना सम्भव है। ऐसे जीव तीनलोक में ठसाठस भरे हुए हैं।

असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त जीवों का निवास—जितने स्थान में एक प्रत्येकशरीर रहता है उतने में अनन्तानन्त निगोदिया जीव रहते हैं। यही तो विस्मय है कि असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त जीव रहते हैं। कई लोग इस विषय में संदेह करते हैं क्योंकि समझ में नहीं आता है कि कितने ही सिकुड़कर रहें तो भी असंख्य प्रदेश में अनन्त कैसे रह सकते हैं? इसका समाधान है ''**सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं**'' जहाँ मति काम नहीं करती, बुद्धि पहुँच नहीं पाती। जो हमें दिखता नहीं तो संदेह क्यों करना? स्वर्ग, नरक, सिद्ध भगवान् हमें कुछ भी तो नहीं दिखता किन्तु आगम से मानने में आता है और मानने से ही मार्ग की शुरुआत होती है, मनाने से नहीं। क्योंकि मनाने से तो उल्टा सोचने लगता है, मानता भी नहीं, छोड़ता भी नहीं, बल्कि उल्टा जानता है, संदेह करता है। आस्था अर्थात् जागरण बहुत कठिन है। कितने करण हो गए किन्तु आज तक अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण नहीं हुए यही तो दुर्लभता है। प्रथम श्रद्धा हो फिर क्षायिक सम्यक्त्व फिर क्रमशः अवगाढ़, परमावगाढ़ सम्यक्त्व होता है और अन्त में सिद्धत्व की प्राप्ति होती है। तभी तो केवलज्ञान और ज्ञानचेतना में जैसा अन्तर है वैसा ही क्षायिक सम्यक्त्व और अवगाढ़, परमावगाढ़ सम्यक्त्व में अन्तर है।

स्वदेह प्रमाण जीव का विस्तार—कर्मानुसार जीव देह के बराबर छोटे-बड़े शरीर में फैल जाता है। त्रिलोक और त्रिकाल सम्बन्धी अनन्त द्रव्य उनकी गुण व पर्याय के युगपत् प्रकाशन की सामर्थ्य शुद्ध जीवास्तिकाय में है उससे विपरीत मिथ्यात्व रागादि विकल्पों से उपार्जित शरीर नामकर्म है जिससे उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अवगाहनानुसार संकोच-विस्तार होता रहता है। आश्चर्य तो यह है कि ज्ञान वही है किन्तु अवगाहनाएँ बदलती रहती हैं। भरतचक्रवर्ती अपने महल की छत से

सूर्य विमान में विराजमान प्रतिमाओं का दर्शन कर लेते थे। संयमी मुनिराजों को भी नहीं दिखती किन्तु एक अविरतसम्यग्दृष्टि को दिख रही हैं। सूर्य को नमस्कार नहीं कर रहे हैं उसमें जो बिम्ब हैं उन्हें नमन किया है। '''**न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ! विवान्त-वैरे**'' अन्य मनुष्य भी ५०० धनुष वाले हैं किन्तु उन्हें दर्शन नहीं होते, यह क्षयोपशम की विचित्रता है।

एक निगोदिया में रहने वाले अनन्त जीवों की दशा—एक निगोदिया में अनन्त जीव रहते हैं किन्तु सबकी बन्ध, उदय और सत्त्व की व्यवस्था पृथक्-पृथक् होती है। यदि एक की आयु बँधती है तो सबकी बँधती है लेकिन किसी की तिर्यञ्च तो किसी की मनुष्यायु बँध रही है। एक आहार करता है तो सभी आहार करते हैं। एक मरण करता है तो सभी अनन्त जीव मरण करते हैं। एक श्वासोच्छ्वास लेता है तो सभी अनन्तजीव श्वासोच्छ्वास लेते हैं किन्तु कर्मबन्ध की व्यवस्था सबकी अपनी-अपनी है। यदि असंख्यात जीवों ने मनुष्यायु बाँधी है तो वे ही मनुष्य भव का अनुभव करेंगे सभी नहीं। आप भी सोचिये? अपने अनन्त निगोद के साथियों को छोड़कर यहाँ आये हो इसी से स्पष्ट है कि सबकी कर्मबन्ध व्यवस्था स्वतंत्र है। **कर्मों से इतना परतन्त्र होने पर भी मनुष्य का मन कितना अकड़ता है इसी का नाम मान कषाय है।** कहते हैं कि ऐसा ही अनुभाग उदय में आ जाता है तो मन को मान करना ही पड़ता है क्या करें, ऐसे भाव हो ही जाते हैं। मानलो दस व्यक्तियों का मरण हो गया उनको बचाने में एक व्यक्ति और चपेट में आ गया उसका भी मरण हो जाता है, सामूहिक कर्म की उदीरणा भी होती है।

एक व्यक्ति ने आकर सुनाया कि—राजस्थान में एक बड़े ट्रक में २१५ व्यक्ति किसी कार्यक्रम में जा रहे थे। सुनकर ही आश्चर्य हुआ कि इतने लोग कैसे बैठ गए? ट्रक तेजी में था और पलट गया, पलटते ही तत्क्षण ११५ व्यक्तियों का मरण हो गया, १०० बच गए। ऐसे ही निगोदिया जीवों के भी सबका कर्म समान नहीं बँधता। यद्यपि श्वास, आहार की क्रिया एक साथ होती है। जैसे—लाइट आयेगी तो सबको समान रोशनी मिलेगी, आठ दिन में एक बार नल आये तो सबको पानी मिलेगा, राशन की दुकान में घासलेट राशनकार्ड के अनुसार समान रूप से मिल जाता है ऐसे ही कर्मानुसार व्यवस्था होती है। यही जानकर ज्ञानी कर्त्ताबुद्धि को विश्राम देते हैं। आत्मिक भावों की परिणति स्वाश्रित होती है परन्तु कर्मों के कारण जीव पराश्रित रहता है। कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा फल देते हैं यह कर्म सिद्धान्त अटल है। चौदह राजू उत्तुंग लोक में भरतखण्ड का मनुष्य हो गया तो कौन ढूँढ़ पाता है? दौलतराम जी ने कहा है—''**इह विधि गये न मिलै सुमणि ज्यों उदधि समानी**'' विशाल समुद्र में मणि गिर गई तो कैसे ढूँढ़ेंगे? अगाध जल है, मगरमच्छ भी हैं। डुबकी लगाओगे तो खुद भी डूब जाओगे। झकझोर देती है यह पंक्ति। इसलिए सही सोचो और पर में दिमाग मत लगाओ।

उत्थानिका—अब यहाँ जीव का देह से देहान्तर में अस्तित्व, देह से पृथक्त्व तथा देहान्तर में

गमन का कारण बताते हैं–

सव्वत्थ अत्थि जीवो ण य एक्को एक्क काय एक्कट्ठो।
अज्झवसाण-विसिट्ठो चिट्ठदि मलिणो रजमलेहिं ॥३४॥

अन्वयार्थ–(जीवो) यह जीव **(सव्वत्थ)** सर्वत्र [अपनी सर्वभूत भावी वर्तमान पर्यायों में] **(अत्थि)** अस्ति रूप वही है **(एक्ककाय)** एक किसी शरीर में **(एक्कट्ठो)** एकमेक होकर रहता है **(य)** तथापि **(एक्को ण)** उसमें एकमेक होते हुए उस सा नहीं हो जाता है। **(अज्झवसाण-विसिट्ठो)** रागादि अध्यवसान सहित जीव **(रजमलेहिं)** कर्मरूपी रज के मैल के कारण **(मलिणो)** मलिन [अशुद्ध] होता हुआ **(चिट्ठदि)** संसार में भ्रमण करता है।

अर्थ–यह जीव सर्वत्र अपनी भूत, भावी, वर्तमान पर्यायों में अस्तिरूप वही है और किसी एक शरीर में एकमेक होकर रहता है तथापि उसके साथ एक स्वभाव नहीं हो जाता है रागादि अध्यवसान सहित जीव कर्म रूपी रजमल के कारण मलिन होता हुआ संसार में भ्रमण करता है।

जीव अनेकों पर्यायों को, भव में धारण करता है।
पर्यायें परिवर्तित होतीं, किन्तु न जीव बदलता है॥
देह जीव व्यवहार नयाश्रित, एक कहे मल युक्त रहे।
निश्चय से तन जीव भिन्न है, ऐसे प्रभु ने वचन कहे ॥३४॥

व्याख्यान–यह जीव सर्वत्र रहता है जैसी गति मिली वहाँ उस रूप में रहता है। यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ इस तरह परिभ्रमण करता रहता है। केवल शरीर बदलता है, आत्मा नहीं। लेकिन एक ब्रह्मा है और जितने भी जीव हैं वे उसी के अंश हैं ऐसा नहीं। जीव जाति की अपेक्षा एक होकर भी सब पृथक्-पृथक् हैं। पृथ्वीकायिक सब जीव नामकर्म की अपेक्षा एक जैसे लगते हैं किन्तु एक नहीं हैं। इसी प्रकार जलकायिक असंख्यात जीव हैं। मानलो २०० इंच वर्षा होती है तो इतना पानी कहाँ से आता है? और कहाँ चला जाता है? पानी गिरता है और उसमें जीव उत्पन्न होते रहते हैं अन्तर्मुहूर्त तक उसमें जीव नहीं रहते, उसी प्रकार अग्निकायिक भी हैं जाति की अपेक्षा एक होकर भी जीव भिन्न-भिन्न हैं, एकमेक नहीं हैं। शुद्ध स्वर्ण की डलियों को भिन्न-भिन्न रंग के वस्त्रों में बाँधकर रखें तो वे सर्व स्वर्ण एक भाव के हैं, समान है। तथापि हर एक डली की सत्ता अपने-अपने वस्त्र में अलग-अलग है ऐसे ही जीव को जानना। वहीं पर भव्य भी हैं और अभव्य भी हैं किन्तु भव्य और अभव्य के परिणमन में अन्तर है।

जीव अध्यवसान करके कर्म बाँधता है। **तत्त्वार्थसूत्र** के अष्टम अध्याय में आया है- "**मिथ्या-दर्शना-विरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः**" यह बन्ध के हेतु हैं किन्तु मात्र प्रत्यय रहने से ही बन्ध नहीं होता, "**सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गला नादत्ते स**

बन्धः '' कषायवान होने से बन्ध होता है। ज्ञानावरणादि कर्मों से मलिन होता हुआ पुनः बन्ध को प्राप्त होता है। पूर्वबद्ध कर्म फल देकर छूट जाते हैं लेकिन पूर्णतः सत्ता से नष्ट नहीं हो रहे हैं। जैसे–कोई व्यक्ति एक बार ऋण लेता है फिर वह हर महिने, हर वर्ष कुछ चुकाता भी है फिर भी नया–नया उधार लेता रहता है तो ऋणी ही बना रहता है। इसी प्रकार अध्यवसान से संसारी प्राणी मुक्त न होने के कारण पुराने कर्मों को भोगता है और राग–द्वेष से नवीन बन्ध करता रहता है और मानता है कि सब अच्छा चल रहा है। क्या अच्छा चल रहा है? हर पल तो कर्मबन्ध कर रहा है लेकिन वह दिखता नहीं, फल मिलता है। उसे भोगते–भोगते संसार की भीड़ में अभ्यस्त हो जाता है, यदि साथी न मिले तो चिन्ता हो जाती है, किन्तु कोई न कोई साथी तो मिलते ही रहते हैं उसी में रम जाता है। यहाँ का जीव वहाँ, वहाँ का जीव यहाँ आ जाता है, ऊपर का नीचे और नीचे का ऊपर इस तरह परिवर्तन करता रहता है। किन्तु चार्वाक मत कहता है कि–उत्पन्न हो गया फिर मिट गया, अंश मिल करके अंशी नहीं बन सकता।

आत्मा और शरीर पृथक्-पृथक्—एक निगोदिया में अनन्त जीव एकसाथ रहकर भी एकमेक नहीं होते। उसमें जीव नित्य ही अनन्त रूप में अवस्थित रहते हैं। जैसे–छोटे–छोटे चने के बराबर आम को अमिया कहते हैं, कैरी नहीं। अमिया बहुत सारी होती हैं, उसका छिलका भी नहीं उतार सकते। होली के समय थोड़े–थोड़े बड़े होने पर उसमें खट्टापन आ जाता है। महावीर जयन्ती तक बड़े हो जाते हैं फिर भी हरा छिलका अलग नहीं कर सकते, गुठली तो अलग कर सकते हैं। पकने पर रस अलग हो जाता है, रस चूस लेते हैं और छिलका भी अलग कर देते हैं। इसी प्रकार संसारी प्राणी जब नोकर्म को पूरा–पूरा भोग लेता है और आयु कर्म पूरा हो जाता है तो शरीर रूपी छिलका यहीं छोड़ जाता है। अज्ञानी इसी देह में एकत्व का अहसास कर लेता है और ज्ञानी तत्त्वदृष्टि से शरीर और आत्मा के एकसाथ रहने पर भी भिन्न देख लेता है। समझता है कि–'' **आप अकेला अवतरे मरै अकेला होय** '' आप ही अकेले अब तरेंगे, अकेले का ही मार्ग है। जिस प्रकार दूध में जल मिलने पर ग्रामीण लोग जान लेते हैं कि इसमें कितना पानी है। दीवार पर दूध छिड़क देते हैं। पानी की मात्रा ज्यादा होने से धारा नीचे जल्दी आ जाती है नहीं तो वह वहीं रुक जायेगी। बेचने वाले कहते हैं कि–बरसात के दिनों में गाय का दूध भी पतला हो जाता है और भैंस पानी में बैठ गई इसलिए इसका दूध भी पतला हो गया। लेकिन खरीदने वाला भी जानता है कि शुद्ध दूध अंगुली में चिपक जाता है क्योंकि उसमें घी का अंश है जो पानी मिलाने से पतला हो जाता है। इसी तरह ज्ञानीजन कहते हैं कि आत्मा से शरीर पृथक् है। आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख आदि परिणामों से देह की भिन्नता का श्रद्धान, चिन्तन और अनुभवन करते रहना चाहिए। चिन्तन के श्रद्धान से अग्रिम भूमिका बलवती होती चली जायेगी और स्वयं सिद्धपरमेष्ठी हो जायेंगे।

सिद्ध अवस्था में आत्मप्रदेश चरमशरीर से कुछ कम—दूसरी बात यह है कि देह में जीव

एक कोने में नहीं सर्वत्र देह प्रमाण है किन्तु सिद्ध अवस्था में "**किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा**" इसकी व्याख्या करते हुए **द्रव्यसंग्रह** में लिखा है–जो पेट में पोल है वह कम हो जाती है। उसी प्रकार नाक, कान, फेंफड़े, खोपड़ी इत्यादि में जो पोल है जहाँ आत्मा के प्रदेश नहीं हैं वहाँ शून्य है मात्र आकाश तत्त्व है। इमली, बड़, बबूल आदि के पेड़ जैसे खोखले रहते हैं। मुनिराज उन कोटरों में बैठकर ध्यान लगाते हैं। इस तरह जितनी अवगाहना है उसमें एक तिहाई भाग कम करने से अर्थात् १०० है तो लगभग ३३ निकाल दें। एक तिहाई भाग निकाल लेने पर दो तिहाई भाग में आत्मप्रदेश रहते हैं। यद्यपि केवलज्ञानादि गुणों से एकत्व रहते हुए भी देह से भिन्न रहता है। फलितार्थ यह निकला कि शास्त्राभ्यास से यह श्रद्धान होना चाहिए कि देह से पृथक् आत्मतत्त्व है जिसका चिन्तन बार-बार करें, चिन्तन की गहराई से स्वात्मा पर विश्वास दृढ़ होता जायेगा जिससे संस्कार मजबूत होंगे।

उत्थानिका–सिद्धों के जीवत्व और देह प्रमाणत्व की व्यवस्था बताते हैं–

जेसिं जीव सहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयर मदीदा ॥३५॥

अन्वयार्थ–**(जेसिं)** जिन सिद्धों में **(जीवसहाओ)** संसारी जीव का अशुद्ध स्वभाव **(णत्थि)** नहीं रहता है **(य)** किन्तु **(तस्स)** उस [जीव स्वभाव] का **(सव्वहा)** सर्वथा **(अभावो णत्थि)** अभाव भी नहीं है **(ते)** वे **(भिण्णदेहा)** सर्व देहों से जुदे **(वचि-गोयर-मदीदा)** वचनों से अगोचर ऐसे **(सिद्धा)** सिद्ध भगवान् **(होंति)** होते हैं।

अर्थ–जिन सिद्धों में प्राण धारण रूप जीवत्व स्वभाव नहीं है किन्तु उस जीव स्वभाव का सर्वथा अभाव भी नहीं है, वे देह रहित, वचनों से अगोचर ऐसे सिद्ध भगवान् होते हैं।

जिन जीवों के कर्म जनित तो, द्रव्य-भाव दो प्राण नहीं।
किन्तु शुद्ध चैतन्यादिक वह, भाव प्राण से संयुत ही॥
वे शरीर से रहित हुए हैं, नहीं वचन के गोचर हैं।
ऐसे रूपातीत सिद्ध का, किया यहाँ पर वर्णन है ॥३५॥

व्याख्यान–सिद्धों में कर्म-नोकर्म की अपेक्षा कार्य कारण का भाव और अभाव सिद्ध किया जाता है। संसारदशा में किन कार्यों के कारणों से हम बच सकते हैं इसे शान्ति से सोचें। भावों की केवल उथल-पुथल चलती रहती है, हाथ कुछ भी नहीं आता। परद्रव्य के क्षेत्र में हम कर भी क्या सकते हैं? छाती ठोककर या शर्त लगाकर भी कुछ नहीं कर सकते। यदि रोना भी चाहें किसी के लिए तो वह भी शोक नोकषाय के बिना सम्भव नहीं। बहुत दिन तक बीमार पड़ जाएँ तो हँसी भी गायब हो जाए। एक व्यक्ति ने आकर दूसरे व्यक्ति के लिए कहा कि इनका मुस्कान का भी त्याग है किन्तु जब वेदना ज्यादा हो जाए तब उपयोग को बदलने के लिए थोड़ा-सा मुस्करा लेते हैं यह भी पराधीन या

निमित्ताधीन दशा है। संसारी जीवों में यह स्वभाव जैसा बन गया है कि कितना ही समझाओ कुछ सेकेण्ड के बाद वह उसी दशा में आ जाता है। जैसे–कुत्ते की पूँछ टेढ़ी ही रहती है, स्वभाव जैसा बन गया है। इसी प्रकार मेरे कर्त्तव्य में कहीं कमी न आ जाए ऐसी भ्रान्ति पालता है जो हटाने पर भी नहीं हटती, ऐसी दशा सभी अज्ञानियों की है। दृष्टि यदि सम्यक् हो जाए तो भ्रान्ति मिट सकती है अर्थात् अन्तर्दृष्टि होना चाहिए, बाह्यदृष्टि नहीं। यदि ड्राइवर १८० की तीव्रगति से गाड़ी चला रहा है तो वह इधर–उधर की बात सुनता ही नहीं। कुछ ड्राइवर संगीत सुनते हुए गाड़ी चलाते हैं, यदि उपयोग संगीत में चला जाए तो दुर्घटना भी हो सकती है। ज्यादा बोलने वाले या नींद लेने वाले को वह अपने पास नहीं बिठाता है। सांसारिक रोग ऐसा ही है एक को नींद आती है तो सबको आने लगती है। प्रमाद में ऐसा ही होता है। आस–पास वाले सो जाएँ और तुम जागते रहो सम्भव नहीं, आँख तो झपकेगी। वैसे भी देवियों की संख्या ज्यादा है आ जायेगी निद्रा देवी, अतः बिस्तर से उठकर, मुँह धोकर नीचे बैठ जाओ, दीवार को छोड़कर बीच में बैठो। सर्दी लग जाए तो अच्छा है, नींद भाग जायेगी। जैसे व्यक्ति के पास बैठोगे वैसे ही भाव होने लगेंगे। कर्मोदय में ऐसा हो सकता है किन्तु सावधानी रखें तो बच सकते हैं। जैसे–चौके में अचानक बिजली जल जाए या पंखा चालू होते ही बन्द कर देते हैं कहीं महाराज अन्तराय न कर दें और यदि साधक के मन में भी भाव आ गया तो औदयिक भाव तो हो ही गया अतः उससे प्रभावित नहीं होना यह भी संयम है, पुरुषार्थ है।

सिद्ध परमेष्ठी न ही सांसारिक कार्य के लिए कारण बन सकते हैं और न ही सिद्ध होने के उपरान्त किसी के कार्य रूप हो सकते हैं। दूसरे के लिए कारण भी नहीं, कार्य भी नहीं। यही बात आगे की गाथा में श्री कुन्दकुन्दस्वामी बतायेंगे। इसी के माध्यम से श्रमण यह स्वीकारते हैं कि जो कुछ भी होगा वह हमारे कर्म के उदय से होगा, कर्म उदयानुसार परिणमन न करने पर कर्म से विजय अवश्य होगी। चित्त गुफा में जब श्रमण लीन होते हैं तो कर्म अपने आप शान्त हो जाते हैं। गुजरात वाले आकर गाते हैं–''**वास जेनो चित्त गुफा मां**''।

उत्थानिका–आगे सिद्ध भगवान् के कर्म और नोकर्म की अपेक्षा कार्य–कारण भाव का अभाव दिखलाते हैं–

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण स होदि ॥३६॥

अर्थ–(जम्हा) क्योंकि **(कुदोचि वि)** किसी से भी **(उप्पण्णो ण)** उत्पन्न नहीं हुए हैं **(तेण)** इस कारण से **(सो सिद्धो)** वह सिद्ध भगवान् **(कज्जं ण)** कार्य नहीं है तथा **(किंचि वि)** किसी को भी **(ण उप्पादेदि)** नहीं उत्पन्न करते हैं **(तेण)** इस कारण से **(स)** वह सिद्ध भगवान् **(कारणमवि)** कारण भी **(ण होदि)** नहीं होते हैं।

अर्थ—वे सिद्ध किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं होते इसलिए कार्य नहीं है और किसी भी अन्य कार्य को उत्पन्न नहीं करते इसलिए वे कारण भी नहीं हैं।

नहीं किसी के कारण से ही, सिद्धप्रभु उत्पन्न हुए।
इसीलिए वह कार्य नहीं हैं, आगम का यह कथन रहे॥
अन्य कार्य को सिद्ध जिनेश्वर, कभी नहीं उत्पन्न करें।
अतः नहीं कारण हैं भगवन्, यह जिनवर ने वचन कहे ॥३६॥

व्याख्यान—इस गाथा में "**तेण ण स**" पढ़ने में थोड़ा-सा खींचना पड़ता है अपने मन को थोड़ा-सा खींचो, दूसरे के मन को नहीं, लचकदार होना चाहिए अन्यथा शुद्ध उच्चारण नहीं होगा। क्षयोपशम दशा में ऐसा होता है। कभी-कभी घास वगैरह रास्ते में होने पर पंजों के बल बहुत दूर तक चलने से अन्त में तो पैर भी नहीं उठ पाते हैं। जैसे-लम्बी दौड़ प्रतियोगिता में अन्तसमय निकट आने तक पैर थक जाते हैं उठ भी नहीं पाते, जल्दी उठाओ नहीं तो पीछे वाले आ रहे हैं। ज्यों ही विजयी रेखा को छूता है लोग उसे उठा लेते हैं। जैसे वह अपने ही बल पर चला है वैसे ही सिद्धपरमेष्ठी पर के न कारण हैं न ही कार्य। वहाँ कार्य-कारण की व्यवस्था अति सुदृढ़ है। अज्ञानी विभाव का प्रयत्न दिन-रात करते हैं, स्वभाव की ओर आने का भाव ही नहीं करते, रुचि ही नहीं तो भाव आयें कैसे? जो प्रयत्नरत हैं वे निश्चित ही एक न एक दिन सफलता पा लेते हैं।

सिद्धों में कार्य और कारण का अभाव—चक्रवर्ती और बाहुबली ने कितना समय लड़ने में व्यर्थ किया। यद्यपि पहले भी दृष्टि सम्यक् थी, वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे किन्तु बहिर्मुखी थे। ज्यों ही वीतराग दृष्टि अर्थात् निष्कषाय दशा हुई तो एक वर्ष अर्थात् तीन चातुर्मास तक ऐसे खड़े हो गए कि चित्त बाहर गया ही नहीं, आहार-पानी का स्मरण तक नहीं किया, आँखें खोलकर देखा तक नहीं। "**वस्सेय पज्जंतमुववास जुत्तं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं**" कवियों ने काव्य में शरीर पर बेल चढ़ा दी, घोंसले बनाये, सर्प, बिच्छू का वर्णन किया। चारित्र को कैसे दिखायें? धवला में संयमलब्धिस्थान के अनेक भेद बताये हैं। वह संयमलब्धि के आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। शरीर रूपी मिट्टी के पीछे यह सब उपसर्ग हो रहा है। कारण है तो कार्य है, सिद्धों में कारण ही नहीं तो कार्य भी नहीं। कर्म के कारणभूत अब उनमें कोई पर्याय नहीं रही। दूसरों के द्वारा उनमें पर्याय उत्पन्न नहीं होगी अतः किसी के कार्य नहीं हैं और न ही दूसरों में पर्याय उत्पन्न करते हैं इसलिए किसी के लिए कारण भी नहीं हैं। वह तो अनन्तज्ञान युक्त हैं, विकल्प मुक्त हैं। सोचो, मन-वचन-काय द्वारा दिन-रात अज्ञान के कारण कितने संकल्प-विकल्प करते हैं। संसारी जीव को संकल्प-विकल्प का कल्पतरु कहा है। मन के आँगन में मानो यह कल्पतरु लगा है। जो मन चाहा फल पाकर भटकता रहता है। यह तरु आज तक मुरझाया नहीं। संकल्प-विकल्प और हर्ष-विषाद के माध्यम से इसका सिंचन चलता रहता है। जिससे यह सदा फलता फूलता रहता है। किन्तु अरहन्त और सिद्धपरमेष्ठी में विकल्प

तरु सूख चुका है और श्रमण भी जब संकल्प-विकल्प छोड़कर वीतराग सम्यग्दर्शन की उपासना करते हैं तब उनमें भी भावों की पवित्र धारा बहती है, ऐसा कार्य करने में ही बुद्धिमत्ता है। शेष तो सब मत्त-प्रमत्त दशा है। सिद्धपरमेष्ठी सब जानते हैं लेकिन कुछ संकेत नहीं करते क्योंकि संकेत के साधन छूट गये हैं। ज्ञान के माध्यम से भी नहीं कर सकते। हाँ, हम सिद्धपरमेष्ठी को याद करके सिद्धत्व के बारे में पुरुषार्थ कर सकते हैं किन्तु उनमें उनका कोई योगदान नहीं। हमने उनको स्मृति का विषय बनाया है, वो नहीं बने हैं। इससे स्पष्ट है शुद्धनिश्चयनय से कर्म-नोकर्म के साथ कोई कार्य-कारण की व्यवस्था नहीं बनती। नवीन कर्म बन्ध के कारणभूत भावों से रहित मन, वचन, काय की चेष्टा को रोककर निवृत्तिकाल में अर्थात् गुप्ति के काल में श्रमण शान्त बैठते हैं। राग-द्वेष छोड़ो कहने से नहीं छूटते, पहले कार्य-कारण व्यवस्था को समझो, इससे यह कार्य सरल हो जाता है। कर्मोदय में राग-द्वेष कर रहे हो, अब पुरुषार्थ कैसे करें? तो दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करूँगा, ऐसा श्रद्धान बना लो फिर तो दुबला-पतला क्या? गामा जैसा पहलवान हो तो भी वह हारकर भाग जायेगा और श्रद्धालु दुबला-पतला होकर भी जीत जायेगा। जो शरीर के प्रति आसक्त है वह उठक-बैठक करता है किन्तु जिसने शरीरातीत होने का प्रण लिया है वो एक बार बैठ गये तो बैठ गये। गाड़ी में एक बार पेट्रोल डाल दिया फिर खूब चलाते हैं कुछ भी नहीं होता। यदि कुछ हो भी जाए तो राग-द्वेष नहीं करते। सल्लेखना के समय हड्डी-हड्डी दिखने लगती है फिर भी प्रीतिपूर्वक समाधि करते हैं। जीने और मरने की इच्छा से ऊपर उठ जाते हैं क्योंकि जब मैं मरता ही नहीं तो वाञ्छा क्यों करूँ? शरीर जा रहा है तो खुशी-खुशी विदा करते हैं। जब तक काम करता था तब तक वेतन देते थे। अब काम करना छोड़ दिया तो वेतन क्यों दें? लोकतन्त्र का भी यही नियम है कि काम लो और वेतन दो। गड़बड़ करने से सरकार छापा डाल देगी। ज्यादा भी नहीं, कम भी नहीं देना। यदि काम करे तो कह देना इतना ही देंगे। राष्ट्रीय सम्पदा का दुरुपयोग हम नहीं करेंगे, न ज्यादा लें न ज्यादा दें। शरीर के पास तो पैर हैं। आत्मा के पास तो पैर भी नहीं इसलिए शरीर को प्रसन्नता पूर्वक विदा करो, अनन्तकाल के लिए हम पहुँचाने भी नहीं आयेंगे। इस तरह शूरवीरता से सल्लेखना करते हैं। सब भूल जाओ लेकिन सल्लेखना नहीं भूलना। उस समय रागी की आँखों में पानी आ जाता है। जब जाना ही है तो रोना क्यों? हँसते-हँसते जाओ। रणाङ्गन में किसी उद्देश्य को लेकर ही जाते हैं। **बिना व्रत लिए मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ कहने से कुछ नहीं होता।**

उत्थानिका—ऐसे भी मत हैं जो यह मानते हैं कि मुक्त होने पर जीवत्व नहीं रहता है। दीपक के समान बुझ जाता है उनके लिए कहते हैं—

सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।
विण्णाण मविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे ॥३७॥

अन्वयार्थ—(सस्सदं) शाश्वतपना **(अध)** और **(उच्छेदं)** व्ययपना **(भव्वं)** भव्यपना **(च)** और **(अभव्वं)** अभव्यपना, **(सुण्णं)** शून्यपना **(च)** और **(इदरं)** दूसरा अशून्यपना **(विण्णाणं)** विज्ञान **(अविण्णाणं)** तथा अविज्ञान **(सब्भावे असदि)** सिद्धजीव की सत्ता विद्यमान न रहते हुए **(ण वि जुज्जदि)** नहीं हो सकते हैं।

अर्थ—यदि जीव का सद्भाव न हो तो शाश्वतपना, नाशवंतपना, भव्यपना, अभव्यपना, शून्यपना और अशून्यपना, विज्ञान तथा अविज्ञान जीवद्रव्य में भी घटित नहीं हो सकते। इसलिए मोक्ष में जीव का सद्भाव है ही।

यदि मोक्ष में जीव तत्त्व की, सत्ता ना मानी जाये।
तो फिर शाश्वत नाशवान औ, भव्याभव्य न रह पाये॥
शून्य अशून्य और विज्ञान व, अविज्ञान घटित ना हो।
अत: मोक्ष में जीव तत्त्व की, सत्ता निश्चित भासित हो ॥३७॥

व्याख्यान—यदि मुक्तात्मा को हम नहीं मानते तो भव्य-अभव्य, शून्य-अशून्य, विज्ञान-अविज्ञान, शाश्वत और उच्छेद यह आठ प्रत्यय भी घटित नहीं होंगे क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा शाश्वत और पर्याय अपेक्षा उच्छेद होता है। भावी पर्याय अपेक्षा भव्य और अतीत पर्याय अपेक्षा अभव्य होता है। अब जो हो गया वह पुन: नहीं होगा इस अपेक्षा से सिद्ध भी अभव्य हैं। मति आदि चार ज्ञान अपेक्षा शून्य हैं, केवलज्ञान अपेक्षा अशून्य हैं। विशेष ज्ञानापेक्षा विज्ञान हैं और क्षयोपशमरूप अल्प ज्ञान का अभाव होने से अविज्ञान भी हैं। यह आठ प्रत्यय तभी बनते हैं जब मुक्त अवस्था में जीवत्व रहता है। यदि भोगने वाला न रहे तो सुख के लिए पुरुषार्थ क्यों करें? संसारी जीवों में यह विकल्प आता है कि मैं नहीं भोग पाया तो मेरा बेटा भोगेगा। भूख, प्यास, धूप सहकर भी बुढ़ापे में बड़ा भवन बनाता है और सोचता है कि मैं नहीं रहूँगा तो बच्चे, नाती-पोते तो रहेंगे, मैं भले स्वर्ग चला जाऊँ पर वे दादा की याद तो कर लेंगे। याद करने से दादा को स्वर्ग में क्या सुख मिल जायेगा? उसी प्रकार यदि सिद्ध अवस्था में जीव रहे ही नहीं तो भोक्ता के अभाव में सुख व्यर्थ है इसलिए जीवत्व का वहाँ रहना अनिवार्य है। आठ प्रकार के हेतु देकर सिद्धों में जीवत्व सिद्ध किया। जैसे-टाँकी से उकेरने पर धोने से भी ज्यों का त्यों बना रहता है। पाषाण घिसने पर ही अक्षर मन्द पड़ते हैं, अन्यथा वैसे ही ज्यों के त्यों बने रहते हैं। उसी प्रकार एक बार अनन्तचतुष्टय उत्पन्न होने पर फिर कभी नष्ट नहीं होता। एक सज्जन ने बताया कि चार खरब वर्ष पूर्व जो हीरा खान में पड़ा था अब वह खोदने से मिला यह विज्ञान का अनुमान है। विज्ञान की अपेक्षा बनना-मिटना चलता है किन्तु जैनागम में कहा है कि एक बार सिद्ध हो गये तो अमिट हो गये। ऐसे सिद्धत्व को स्वीकारने से ही आठ प्रत्यय सिद्ध होते हैं अन्यथा नहीं, किन्तु पर्यायार्थिक नयापेक्षा चार खरब वर्ष पुराना जो हीरा था, वह गला तो नहीं लेकिन इतना काल बीतने से वह पुराना हो गया है, द्रव्यत्व की अपेक्षा ज्यों का त्यों है। पर्यायों की अपेक्षा नश्वरता

और द्रव्यत्व की अपेक्षा अविनश्वरता ये दोनों प्रत्यय तभी लग सकते हैं जब द्रव्य का अस्तित्व हो। जब कभी आप सिद्ध बनेंगे तो आदिनाथ भगवान् सीनियर ही रहेंगे, महावीर भगवान् भी सीनियर रहेंगे और हम जूनियर रहेंगे, हमारे बाद भी अनन्त सिद्ध होंगे वो सब जूनियर रहेंगे और स्वयं (एक साथ ताली बजाते हुए बोले सीनियर)।

हमसे किसी ने पूछा कहाँ जा रहे हो? हमने कहा–मोक्ष जा रहे हैं। जब हम मोक्षमार्गी हैं तो मोक्ष अवश्य जायेंगे, ये कहो ना कि हम स्वर्ग जा रहे हैं इसमें क्या बाधा है? फिर ऐसा क्यों कहते हो कि हम मर रहे हैं? स्वर्ग भी एक स्टेशन है जहाँ हमें रुकना पड़ेगा, किन्तु जाना तो मोक्ष है। जैसे–कोई देहली जा रहा है बीच में आगरा आ गया तो रुकना तो पड़ेगा लेकिन आगरा जा रहे हैं ऐसा नहीं कहेगा। हम भी मोक्ष जा रहे हैं यह बात अलग है कि स्वर्ग घूमकर जाना होगा। टिकिट ही ऐसा है इसे एक बार ले लिया तो वापस नहीं करना, मार्ग से हटना नहीं। सिद्धान्त को समझो, जल्दी करने से कुछ नहीं होता। यह मत सोचो कि देरी होने से जैसे रेल के डिब्बे में स्थान नहीं मिलता वैसे वहाँ स्थान नहीं मिलेगा तो क्या होगा? वहाँ एक में अनन्त को समाने की क्षमता है, सिद्धशिला में जगह की कोई कमी नहीं। जो कोई भी सिद्ध हुए हैं उनसे मत पूछो कि इतनी देरी से क्यों आये? क्योंकि प्रत्येक सिद्ध के पहले अनन्त सिद्ध हुए और बाद में भी अनन्त होंगे। पहले और अन्त में कोई है ही नहीं, सभी सिद्धों का एक समान सुख रहता है। अनन्तकाल के बाद भी वही सुख का आस्वादन रहेगा। निर्विकार चिदानन्दरूप परिणमन करना यही भव्यत्व है। अब सिद्धपरमेष्ठी सिद्धत्व को छोड़कर मिथ्यात्व आदि रूप परिणमन नहीं करेंगे इस अपेक्षा अभव्यत्व है। अनन्तकाल के बाद भी उनके अनन्त सुख में कमी नहीं आयेगी। प्राय: संसार में एक बार किसी वस्तु को खाने पर दुबारा खाने पर उतनी स्वादिष्ट नहीं लगती किन्तु मुक्ति में ऐसा नहीं है नित्य नई–नई पर्याय उत्पन्न होती हैं। जैसे–समुद्र में वही पानी है वही हवा है लेकिन लहर नई–नई उत्पन्न होती रहती हैं इसी का नाम पर्याय है। सिद्धों के सुख में कभी कमी नहीं होती, किसी से बाधित नहीं होते इसी से अव्याबाध सुख कहा है। जो स्वचतुष्टय अपेक्षा अशून्य हैं और पर चतुष्टय अपेक्षा शून्य हैं। हमारा अस्तित्व दूसरे की अपेक्षा से नहीं है स्व की अपेक्षा से है। तभी तो कहते हैं कि आप अपनी हवेली में साहूकार होंगे, हम अपनी झोपड़ी में ही ठीक हैं। स्वचतुष्टय की अपेक्षा हमें दीनता नहीं आती, भले ही रूखी–सूखी खाते हैं लेकिन सूख नहीं रहे हैं तरोताजा लगते हैं और कोई माल खा–खाकर भी सूख रहे हैं। रईस व्यक्ति दूसरे के ऊपर आश्रित होकर भले स्वयं को महत्त्वपूर्ण मान ले, पर जीवन का आनन्द नहीं ले पाते हैं किन्तु कुछ लोग अपनी झोपड़ी में रहकर तपन में भी टीनसेड के बाजे सुनते रहते हैं और चैन से जी लेते हैं। स्वचतुष्टय में ही आनन्द है, पर चतुष्टय की अपेक्षा शून्य है। पर को मत देखो, स्व में क्या कमी है यह देखो। अभिमानी भी नहीं होना और दीनहीन भी नहीं, अन्यथा व्यवस्था गड़बड़ हो जाती है।

एक साथ एक–दो नहीं अनन्त द्रव्य–गुण–पर्यायों का प्रकाशन करने वाला विमल ज्ञान है।

इसलिए वीतराग विज्ञानरूप है किन्तु छद्मस्थ अवस्था में मतिश्रुत आदि अनेक प्रकार की पर्यायें होती हैं। **''ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने''** यह सूत्र कहता है जब तक ज्ञानावरणी कर्म का उदय रहेगा तब तक प्रज्ञा और अज्ञान दोनों परीषह रहेंगे। प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान भी परीषह है। जैसे ज्ञान तो मिला किन्तु थोड़ा मिला। अवधिज्ञान मिला किन्तु मनःपर्ययज्ञान नहीं मिला। ये सब मिले किन्तु श्रुतकेवली जैसा उत्कृष्ट क्षयोपशम नहीं मिला। वो भी मिल गया तो केवलज्ञान अभी नहीं मिला। यदि केवलज्ञान मिल जाता तो ये चारों ज्ञान नहीं रहते। अनन्तकाल के बाद भी सिद्धपरमेष्ठी विद्यमान हैं। इसी से कहा जा रहा है कि शाश्वत सुख यदि मिलता है तो सिद्धपरमेष्ठी को ही मिलता है शेष सब आकुलता वाले सुख हैं।

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमाँहि न तातैं शिवमग लाग्यो चहिये॥ (छहढाला)

निराकुल सुख चाहिए तो मोक्षमार्ग में लगो, मोक्षमार्ग में आकुलता नहीं होना चाहिए किन्तु मोक्ष पाने की जो आकुलता होती है उसे आकुलता नहीं कहते। तपस्वी तप करते हुए भी खेद का अनुभव नहीं करते अपितु उत्साह बढ़ता रहता है और प्रत्येक समय असंख्यातगुणी निर्जरा होने से आगे बढ़ते जाते हैं। मोक्षमार्ग में दीन-हीन होने की बात ही नहीं। मन को इस प्रकार समझाना चाहिए। मन कमजोर होने से एक घण्टा होते ही सोचता है बहुत धर्म हो गया, ज्यादा सुनने से भी सुख की मात्रा में कमी आ जाती है। ज्यादा बोलने से आवाज गड़बड़ हो जाती है। यह सब अशाश्वत हैं, मात्र सिद्धों का सुख शाश्वत है। सोचो कैसा होता होगा? यह जो आठ विकल्प बताये हैं। मतिश्रुतादि चार ज्ञान मोक्षमार्ग में किञ्चित् कार्यकारी हैं किन्तु दृष्टि केवलज्ञान की ओर रखनी चाहिए क्योंकि यह चारों छूटने वाले हैं। निर्विकल्प होने के लिए पर को भूलना ही पड़ता है किन्तु स्वयं को नहीं भूलना। यदि विकल्प में पड़ गये तो स्वयं को भूल जाओगे और स्वयं को याद रखा तो मुक्ति के अलावा कुछ भी पाने की आकुलता नहीं रहेगी। कर्म की निर्जरा हो ही रही है और निर्जरा होना ही ज्ञानी का सही वेतन है। यह पर्याय छूटेगी तो पहले से स्वागत में देव खड़े रहेंगे। बीच में स्टेशन के समान उस सम्यग्दृष्टि का स्वर्ग में देव स्वागत करेंगे फिर वह नीचे आयेंगे पुनः संयम की गाड़ी पकड़ेंगे। मार्ग पर विश्वास रखेंगे तो मंजिल अवश्य मिलेगी, जहाँ अनन्त सिद्ध हैं।

उत्थानिका—चार्वाकमती और भट्टमती शिष्यों के संदेह का निराकरण करते हुए जीव के अमूर्तत्त्व का व्याख्यान करने वाली तीन गाथा का प्रकरण पूर्ण हुआ। जीव के पास तीन प्रकार की चेतना होती है। जीव में ज्ञान और दर्शन मुख्य हैं किन्तु इसे यहाँ गौण करके तीन प्रकार की चेतना किसे होती है? इसका इस प्रकरण में विश्लेषण किया जाता है—

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को।
चेदयदि जीवरासी चेदग भावेण तिविहेण ॥३८॥

अन्वयार्थ—(एक्को) एक **(जीवरासी)** जीवों का समुदाय **(कम्माणं फलं)** कर्मों के फल को

(तु एक्को) और एक जीवराशि **(कज्जं)** कार्य को **(अध)** तथा **(एक्को)** एक जीव राशि **(णाणं)** ज्ञान को **(चेदयदि)** वेदती है या अनुभव करती है। इस तरह **(तिविहेण)** तीन तरह की **(चेदगभावेण)** चेतना के भाव से [जीवों को अनुभव होता है]।

अर्थ—एक जीवराशि का समुदाय कर्मों के फल को, एक जीवराशि का समुदाय कार्य को तथा एक जीवराशि का समुदाय ज्ञान का अनुभव करता है। इस तरह त्रिविध चेतना के भाव से जीवों को अनुभव होता है।

एक जीवराशि कर्मों के, फल का वेदन करती है।
एक जीवराशि वह है जो, कार्य विशेष वेदती है॥
शुद्धज्ञान का वेदन करती, शुद्ध सिद्ध यह राशि है।
कर्म, कर्मफल, ज्ञान चेतना, त्रिविध चेतना मानी है ॥३८॥

व्याख्यान—कर्म, कर्मफल और ज्ञानचेतना यह तीन प्रकार की चेतना है। **''संसारिणो मुक्ताश्च''** संसारी और मुक्त ये दोनों ही प्रकार के जीवों में चेतना है। चेतना कभी मिटती नहीं किन्तु तीन प्रकार की चेतना में भव्यों को दो का अभाव हो सकता है ज्ञानचेतना शाश्वत रह जाती है। संसार दशा में ज्ञानचेतना नहीं रहती, कर्मचेतना अर्थात् स्थान से स्थानान्तर जाने की प्रक्रिया तथा नये-नये कर्म बन्ध भी करना। बँधे कर्मों के उदय में आने पर संवेदन करना कर्मफलचेतना है। हम जैसे कर्म करेंगे वैसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावानुसार फल मिलेंगे। एक का कर्म दूसरे को फल नहीं देता, ऐसा गाढ़ विश्वास होना चाहिए। एकान्तरूप से पर के ऊपर दोषारोपण कर स्वयं बरी हो जाएँ ऐसा मोक्षमार्ग में नहीं चलता। घर में छह सदस्य रहते हैं तो एक-दूसरे को काम सौंपकर बरी हो जाते हैं। अच्छा हुआ तो मैंने किया, बुरा हुआ तो कहते हैं तुम यही करते रहते हो। स्वयं को दूध के धुले मानते हैं, मट्ठे के धुले नहीं। इस प्रकार कर्मों को गौण करके नोकर्मों को कर्त्ता मानकर राग-द्वेष करते हैं **''अपनी करनी आप करे सिर औरन के धरता''** बारहभावना में बोलते हैं। उपयोग को पवित्र करके इसे बोलें, लेकिन स्वयं करें और दूसरों को दोष दें यह ठीक नहीं है। दिनभर पाप कमाये और तीनों संध्या में सामायिक पाठ पढ़े तो क्या पाप मिटेगा? नहीं। आचार्य कहते हैं कि प्रत्येक समय अपने परिणामों की निगरानी करना है क्योंकि इन्हीं परिणामों से ही कर्म उदय में आकर फल देते हैं।

निर्मल शुद्धात्मानुभूति के अभाव में जब तक कर्म का उपार्जन होता है तभी तक मोहमल से चित्त मलीन रहता है। जीव की सामर्थ्य मोह के कारण टूट जाती है जिससे संसारी प्राणी कर्म फलों का वेदन करता है। कोई समय ऐसा नहीं जिस समय कर्म का फल न मिलता हो। जैसे-किसी को एक विभाग में हर महिना १ लाख वेतन मिलता है। जब ३० दिन में १ लाख तो हर दिन, हर घण्टे, हर मिनट में भी कुछ मिल रहा है और वह यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाता है, कि मेरे पड़ोसी को तो

सिर्फ १० हजार रुपये मिलता है। उसके घर में ६ व्यक्ति खाने वाले हैं और मेरे यहाँ तो दो ही हैं। ''खर्चा कम आमदनी ज्यादा'' है इसलिए मैं बड़ा सेठ हूँ, इस तरह अपनी मान्यता बना लेता है। पुण्य और पुरुषार्थानुसार जैसे वेतन मिलता है वैसे ही संसारी जीवों को जो अनुभव हो रहा है वह कर्मों का फल है यह सिद्धान्त कहता है। वर्तमान में जो हमें अनुभव हो रहा है वह हमारा स्वभाव नहीं है, कर्मोदय से होने वाला औदयिक भाव है। कर्म हमारा स्वभाव तो है नहीं, कर्मोदय से हमारे भीतर जो भाव पैदा हुए हैं वह हमारे स्वभाव कैसे हो सकते हैं? इसीलिए ज्ञानी जीव कर्मोदय में जो फल मिलता है उसमें राग-द्वेष नहीं करते, जिस कारण नूतन कर्मों को भी नहीं बाँधते, वही शुद्धात्मानुभूति है। कर्मोदय में रोते रहोगे तो पुनः उन्हीं भावों से वैसे ही कर्म बँधेंगे, फिर उदय होगा, ऐसे तो रोना-धोना कभी छूटेगा ही नहीं। कर्मों के कारण ही सुख-दुख, अच्छा या बुरा रूप वेतन मिल रहा है। यदि स्वाश्रित रहना चाहते हो, दूसरों पर आधारित होकर नहीं जीना चाहते हो तो राग-द्वेष छोड़ दो। जितने भी वर्तमान में व्यवहार की अपेक्षा बड़े कहलाते हैं उन्हें उतना ही राग-द्वेष ज्यादा रहता है। इसमें कोई संदेह नहीं, जिसके पास जितना परिग्रह है, मूर्च्छा भाव है वह उतना ही दुखी है, उतना ही घना कर्म भी बाँध रहा है। कर्मबन्ध मूर्च्छा पर आधारित है। रंगपञ्चमी में रंग डालते हैं जितना रंग चिकना व गहरा होता है उतना ही मुश्किल से छूटता है, उसी प्रकार जिसके पास ज्यादा मूर्च्छा है उसको तीव्र कर्म बँधता है, अनेक भव में भी नहीं धुल पाता है। बहुत पानी खर्च करना पड़ता है इसीलिए रंग ऐसा लगाओ जो धूप के द्वारा उड़ जाए। जैसे-पूजन के समय केशरिया वस्त्र पहनते हैं। हल्की हल्दी का रंग भी धूप में उड़ जाता है। कुछ रंग चाहे कितना भी घिसो, जाता ही नहीं, ऐसा ही भावानुसार कर्मों का फल जानना चाहिए। यह कर्मफल चेतना हुई। अब कर्मचेतना क्या है? सर्वप्रथम यह सोचें कि कर्मबन्ध कहाँ तक होता है? वैसे साम्परायिक आस्रव दसवें गुणस्थान तक होता है और ईर्यापथ आस्रव १३वें गुणस्थान के अन्तिम क्षण तक होता है। यह सब कर्मचेतना के अन्तर्गत आ जाता है। जो जितना राग-द्वेष कम करता है वह उतना ही श्रेष्ठ साधक माना जाता है। मोक्षमार्ग में पहलवानी नहीं करना है। दुबला-पतला व्यक्ति भी इस दौड़ में आगे हो सकता है। जो जितना राग-द्वेष करता है उतना ही असफल हो जाता है। राग-द्वेष कम करने से निर्जरा अधिक होती है। टैक्स (बन्ध) भी कम देना पड़ेगा अन्यथा कर भुगतान में ही धन चला जाता है।

आमद कम खर्चा ज्यादा लक्षण है मिट जाने का।
कूबत कम गुस्सा ज्यादा लक्षण है पिट जाने का॥ (मूकमाटी)

संसारी प्राणी मिटना भी नहीं चाहता, पिटना भी नहीं चाहता, केवल ऊपर उठना चाहता है तो ऊपर उठने के लिए राग-द्वेष कम करो। पहले के लोग मोटा खाते थे, मोटा पहनते थे और कर्म निर्जरा में आगे रहते थे। आज तो पतला खाते, पतला पहनते-ओढ़ते हैं इसलिए पुण्य भी पतला हो रहा है, गाढ़ा नहीं हो रहा है। पहले गाँव में रहकर भी सन्तोषी रहते थे, अब तो गाँव कोई पसन्द नहीं करता।

२१वीं शताब्दी में प्रवेश कर चुके हैं गाँव वालों को गँवार कहने लगे हैं लेकिन साग, सब्जी, गेहूँ आदि सब गाँव से ही आते हैं। रोजगार अर्थात् रोज यानि प्रतिदिन कमाकर घर लावे सो रोजगार। देहली के पास गुड़गाँव बसा है, कहने को गाँव है पर देहली से भी मँहगा है। जो व्यक्ति शान्ति से रहना चाहता है उसे शान्त स्थानों पर साधारण तरीके से रहना चाहिए, किन्तु अब तो स्पर्धा हो रही है। खाने को कुछ नहीं है पर होड़ में आमदनी से अधिक खर्च कर रहा है। अमेरिका हो या भारत सभी देश अपनी सुरक्षा के लिए बहुत जमानिधि खर्च करते हैं फिर भी सुरक्षा नहीं हो पा रही है। राग-द्वेष कम करने से ही कर्मफल चेतना शान्त हो सकती है और जितना नया कर्मबन्ध कम होगा उतना ही जीव को लाभ है।

जिन्होंने चेतनभाव द्वारा शुद्धात्मा की अनुभूति से समस्त घातिकर्म रूपी कलंक को नष्ट कर दिया है और केवलज्ञान को पा लिया वही ज्ञानचेतना को पाते हैं। इस तरह मूल में कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानरूप चेतना यह तीन हो गईं। जैसे-किसी ने भोजन बनाया है उसका सेवन कर रहा है यह कर्मफल चेतना हो गई, साथ ही वह अभिमान के साथ सोच रहा है कि मेरे पास तो सब सामग्री है परन्तु इसे तो माँगकर खाना पड़ रहा है इस कषाय के कारण कर्मचेतना भी हो गई। जो हर्ष-विषाद से ऊपर उठकर आत्मसाधना में लग जाता है वह उत्तम पात्र रूप साधक माना जाता है। कभी-कभी एक बार आहार लेकर वन में शान्त होकर स्वरूप का चिन्तन करते हैं। यही श्रेष्ठ साधना है। कर्मोदय में जो हर्ष-विषाद से बचता है वही सामायिक है। राग-द्वेष छूटे नहीं तो साधना नहीं, विराधना ही मानी जाती है, जिससे कर्मों का तीव्र फल मिलता है। अतः हर्ष-विषाद न करते हुए शरीर को मात्र भाड़े के समान देकर साधना कर लेना चाहिए। जैसे-मशीन खरीदकर काम करते हैं बीच-बीच में तेल आदि डालते हैं तब मशीन प्रसन्न होती है क्या? नहीं। उसी प्रकार शरीर भी एक मशीन है भोजन-पानी, तेल आदि डालने के समान है। २४ घण्टे में एक बार दे दो और काम ले लो, प्रसन्नचित्त होकर देने से ऑईलिंग बहुत अच्छी किस्म का हो जाता है। "**खीरसवीणं, सप्पिसवीणं, महुरसवीणं, अमियसवीणं**" आदि ऋद्धि होने पर तो रूखा-सूखा लेने पर भी योगसाधना के माध्यम से वर्गणाएँ क्षीर आदि रूप हो जाती हैं "**यैः शान्तराग रुचिभिः**" अर्थात् जिन परमाणुओं से शरीर का निर्माण हुआ है वह कान्ति प्रदान करता है। जो राग-द्वेष से भरकर कितना ही अच्छा भोजन करे उसका शरीर कान्तिमय नहीं होता। चिन्तामग्न रहने से रईस व्यक्ति भी टी० बी० का मरीज जैसा दिखता है या कजली जैसा दिखता है। जब कजरियाँ का त्यौहार आता है तब गेहूँ बोते हैं। ८ दिन में वह उग तो जाते हैं, छाया में बड़े भी हो जाते हैं मगर सूर्यप्रकाश, खाद वगैरह न मिलने से उसमें सत्व नहीं रहता। बाहर निकालने पर जल्दी मुरझा जाते हैं। लेकिन जो हवा, प्रकाश, गर्मी सब कठिनाई को सहनकर पौधा खड़ा होता है वह शक्ति युक्त होकर फलता है। योग साधना से जो वर्गणाएँ आती हैं वह भी सशक्त होती हैं। देह को कितना ही अच्छा खिला दो '**उतरी घाटी हुई माटी**' दूध पिला दो तो उल्टी में दही बनकर निकलता है। छैना वगैरह कुछ नहीं दिखेगा। उसे कोई छूना भी नहीं चाहेगा। वह कहता है तुमने

कुछ दूध में मिलाया होगा तभी तो उल्टी हो गई, फटकर मट्ठा बनकर आ गया। चौका गंदा हो गया तो, तुमने खिलाया है अब तुम ही साफ करो। पाँच मिनट भी नहीं हुए कि दूध का सत्व कहाँ चला गया। इसीलिए कहते हैं कि सावधान चित्त होकर कार्य करने से कर्म उदय में आने पर भी सब समाधान हो जाता है। सम्यग्दृष्टि को अन्तर्मुहूर्त की आबाधा के बाद कर्म उदय में आ जाते हैं। तीन प्रकार की चेतना में इन दिनों ज्ञानचेतना की चर्चा बहुत चल रही है लेकिन श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने जो लिखा है उससे विपरीत धारा बह रही है।

उत्थानिका—आगे शिष्य पूछता है कि इन तीन प्रकार की चेतना को कौन-कौन अनुभव करते हैं? इसका उत्तर देते हैं—

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा ॥३९॥

अन्वयार्थ—(खलु) वास्तव में **(सव्वे)** सर्व **(थावरकाया)** स्थावर कायधारी जीव **(कम्मफलं)** कर्मों के फल को और **(हि)** निश्चय से **(तसा)** त्रस जीव **(कज्जजुदं)** कार्य सहित कर्मफल को और **(पाणित्तं अदिक्कंता)** जो प्राणों से रहित हैं **(ते जीवा)** वे जीव **(णाणं)** ज्ञान को **(विंदंति)** अनुभव करते हैं।

अर्थ—सर्व स्थावरकायधारी जीव कर्मफल का वेदन करते हैं, त्रसजीव कार्य सहित कर्मफल को वेदते हैं और जो प्राणों से अतिक्रान्त हो गये हैं वे जीव ज्ञान का अनुभव करते हैं।

पाँचों स्थावर जीव कर्म फल, का ही वेदन करते हैं।
कर्म चेतना का त्रस प्राणी, वेदन करते रहते हैं॥
दस प्राणों से रहित सिद्धजिन, ज्ञान चेतना अनुभवते।
ऐसे सिद्ध शुद्ध परमेष्ठी, को भावों से हम नमते ॥३९॥

व्याख्यान—जितने भी स्थावरकाय अर्थात् एकेन्द्रिय हैं वे सब कर्मफलचेतना के धारक हैं। त्रस कर्मचेतना और कर्मफल चेतना युक्त हैं। यद्यपि स्थावर में भी कर्मचेतना है पर वह स्थान से स्थानान्तर नहीं जाते अतः कर्मचेतना को गौण किया है। जैसे—अपराधी को दण्डित करने की जब बात आती है तो कहते हैं कि—बालक को और महिलाओं को मत मारो। उसी प्रकार स्थावर असहाय जैसे हैं गर्मी, सर्दी, वर्षा सब सहते रहते हैं, स्थानान्तर नहीं जाते। चातुर्मास जैसे एक ही स्थान पर रहते हैं। जहाँ हैं वहीं निर्वाह करते हैं। यद्यपि हर्ष-विषाद रूप कर्मचेतना उन्हें भी है किन्तु मुख्यरूप से कर्मफल चेतना है। दस प्राणों से जो अतिक्रान्त हैं वही ज्ञानचेतना के अधिकारी हैं। यहाँ मोह से अतिक्रान्त होना नहीं कहा, क्योंकि मोह प्राण नहीं है। यहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की बात ही नहीं कही, प्राणों से ऊपर उठने वालों को ही केवलज्ञान का अनुभव होता है। जब सामायिक में लीन हो

जाते हैं तब भी बल का प्रयोग तो होता रहता है। वहाँ प्राण तो रहते हैं किन्तु बुद्धिपूर्वक न होने से ज्ञानचेतना की भूमिका बनने लगती है, पर मुख्य रूप से जब तक प्राणातिक्रान्त नहीं होता तब तक ज्ञानचेतना नहीं होगी। हरियाली देखकर सब प्रसन्न हो जाते हैं लेकिन धूप में खड़े केले के पेड़ को हवा-पानी से क्या तकलीफ है? यह नहीं समझते हैं। सुख-दुख सब अव्यक्त हैं वे शुभाशुभ दोनों फलों का अनुभव करते रहते हैं। विकार रहित परमानन्द स्वभावरूप आत्मा का सुख है इसके अभाव में जीव राग-द्वेषरूप परिणमन करता है और कर्मचेतना का अधिकारी होता है किन्तु जो प्राणों से अतिक्रान्त हैं वे विशिष्ट शुद्धात्मानुभूति से उत्पन्न परमानन्दमय सुखामृत समरसी भाव द्वारा ज्ञानचेतना अनुभवते हैं। इस प्रसंग में यह बताना चाहते हैं कि दो बार प्राणों का अतिक्रमण होता है एक तो १३वें गुणस्थान में दूसरा सिद्धअवस्था में। प्रथम मोह का क्षय होता है, अन्तर्मुहूर्त बाद तीन घातिया कर्मों का एकसाथ क्षय होता है। दो बार क्षय के प्रकरण आते हैं। मोह क्षय के बिना तीन घातिया कर्मों का क्षय नहीं हो सकता, घातिक्षय होते ही पाँच इन्द्रिय और मनबल प्राण निकल जाते हैं।

मनोयोग और मनबल में विशेषता—सयोग केवली के मनोयोग है पर मनबल नहीं है। '**कायवाङ्मनः कर्मयोगः**' '**स आस्रवः**' यह तो उनके पास है किन्तु जो सैनी मार्गणा रूप है उससे दूर हो गए। मनोबल १२ वें गुणस्थान के अन्त तक रहता है आगे "**संज्ञी असंज्ञी भेदाभावात्**" ऐसा **षट्खण्डागम** में आया है। जबकि मनोयोग १३ वें गुणस्थान तक रहता है। मनोबल और मनोयोग एक नहीं हैं। **गोम्मट्टसार** आदि ग्रन्थों से भी इनका अन्तर ज्ञात होता है। सैनी ही सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है असैनी नहीं। १२ वें गुणस्थान में मनोबल से मुक्त हो जाने से जीवनमुक्त कहते हैं। सिद्धों को शरीर मुक्त या अशरीरी कहते हैं, निकल परमात्मा भी कहते हैं। सकल अर्थात् शरीर से युक्त हैं, निकल अर्थात् देह से निकल गए, ज्ञानशरीरी हो गए। कुछ प्राणों से मुक्त हो जाने से केवली को कथञ्चित् ज्ञानचेतना है, किन्तु मुख्य रूप से सिद्धों को ही ज्ञान चेतना कही गई है। यदि प्राण पहले से निकल जाएँ तो १४ वें गुणस्थान में ध्यानादिक नहीं कर पायेंगे, लेकिन ध्यान रखो ध्यान को कभी भी प्राण नहीं कहा। ध्यान से कर्मों की निर्जरा होती है किन्तु प्राण के माध्यम से संकल्प-विकल्प आदि होने से कथञ्चित् कर्मों का बन्ध होता है। १४ वें गुणस्थान में जाकर यह रुक जाता है। मन, वचन और काय बल के द्वारा भी कर्मबन्ध रूपी टैक्स देना पड़ता है। कोई बड़ी मशीन खरीदकर उसका उपयोग करे या न करे किन्तु प्रतिसमय उसका टैक्स तो देना ही पड़ेगा या फिर पहले से ही टैक्स काट लेते हैं। उसी प्रकार जितने भी प्राण हैं उसके माध्यम से हम चेष्टा करते हैं जिससे निश्चित कर्मबन्ध होता है। २५ क्रियाओं के द्वारा भी साम्परायिक आस्रव होता है। जब तक यह साधन है तब तक बन्ध होता ही रहता है लेकिन कर्म निर्जरा में भी मनोयोग सहायक है जिससे आत्मा को संयत बना सकते हैं। इस प्रकार तीन चेतना की मुख्यता से यह प्रकरण पूर्ण हुआ।

तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग को जीव के लक्षण रूप में स्वीकारा है, चेतना को

नहीं। मानलो कोई वस्तु खो जाए तो कैसे ढूँढ़े? लक्षण के माध्यम से ढूँढ़े। यह जीवित है या मरण हो गया, नाड़ी देखकर जान लेते हैं। वैद्य कहता है–नाड़ी पकड़ में नहीं आ रही, हाथ तो पकड़ में आ रहा है नाड़ी छूट रही है। तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से नाड़ी की पहचान करते हैं। नाड़ी की फड़कन से स्वस्थता–अस्वस्थता की पहचान कर लेते हैं। उसी प्रकार उपयोग लक्षण द्वारा जीव की पहचान कर लेते हैं। चेतना लक्षण नहीं क्योंकि आपके पास चेतना है या नहीं यह दूसरा कोई जान नहीं सकता। ज्ञान–दर्शन के माध्यम से पदार्थ को विषय बनाते हैं। जैसे–सोना खरीदते समय पीलापन, भारीपन के माध्यम से पहचान लेते हैं। सोना पहनते–पहनते ५० वर्ष हो गए लेकिन परख नहीं आती किन्तु सुनार स्वर्ण न पहनने पर भी बहुत जल्दी परख कर लेता है। उसी प्रकार उपयोग से जीव का लक्षण समझ लेना चाहिए, लेकिन लोग कहते हैं महाराज! आप हमारी पहचान बता दो किन्तु हम आपकी पहचान कैसे बताएँ? अपनी पहचान स्वयं करना होगा, स्वयं ही इसका संवेदन कर सकते हैं, यही सही स्वाध्याय है। इसके लिए किसी भी किताब की आवश्यकता नहीं है। जीव को शास्त्र से नहीं अपने ज्ञान–दर्शन से पहचानोगे। काली कोठरी में भी रख दो तो भी ''**मैं हूँ**'' इसकी पहचान अवश्य हो जाती है।

अज्ञान, सम्यग्ज्ञान, केवलज्ञान और ज्ञानचेतना यह चार बातें हैं। सम्यग्ज्ञान का फल है ज्ञानचेतना, जो प्राण से रहित दशा में होती है। यदि सम्यग्ज्ञान को ही ज्ञानचेतना कहेंगे तो प्राणों से अतिक्रान्त होने की बात जो श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने कही है वह अप्रासंगिक हो जायेगी। अतः जहाँ प्राण नहीं रहते और मृतक भी नहीं रहते ऐसे सिद्धों को ज्ञानचेतना होती है, विग्रहगति में भी आयु प्राण रहता है इसीलिए यहाँ भी ज्ञानचेतना नहीं होती। जब तक संसारदशा है तब तक देह से भिन्न शुद्धात्मानुभूति नहीं कर सकते। शुद्धोपयोग अलग है, सम्यग्ज्ञान और केवलज्ञान अलग है और ज्ञानचेतना भी भिन्न है। ज्ञानचेतना के लिए प्राणातिक्रान्त होने की शर्त रखी है यह अवस्था शरीरातीत होने पर सिद्धों में ही होती है। ज्ञानचेतना को सम्यग्ज्ञान के साथ कहना आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी के साथ न्याय नहीं है। यदि टीकाकार श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने १३वें गुणस्थान में ज्ञानचेतना कही भी है तो अरहंत जीवनमुक्त रहते हैं। जो श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम व नोइन्द्रियावरण के क्षयोपशम से होने वाले संज्ञी–असंज्ञी भाव से ऊपर उठ गए हैं। क्षयोपशम दशा तक ही संज्ञी–असंज्ञी भाव रहता है। क्षायिकज्ञान होने पर क्षयोपशम भाव नहीं रहता। इसलिए केवली भगवान् मन से विश्वास नहीं करते किन्तु केवलज्ञान के साथ परमावगाढ़ सम्यक्त्व होने से होता है। छह प्राणों का अभाव हो जाने से केवलज्ञान के साथ ज्ञानचेतना श्री अमृतचन्द्रस्वामी ने कह दी लेकिन श्री कुन्दकुन्दस्वामी के अनुसार नहीं, यह ध्यान रखना। सभी प्राण निकलना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यहाँ प्राण निकालना नहीं है। अकालमरण नहीं करवाना है किन्तु आयु पूर्ण कर दसों प्राणों से अतिक्रान्त होने पर ज्ञानचेतना होती है। चतुर्थ गुणस्थान में ज्ञानचेतना की चर्चा करने वालों को इस गाथा का भाव समझ में आया

ही नहीं है। श्री अमृतचन्द्रसूरि को भी समझ नहीं पाये और श्री जयसेन महाराज की तो वह चर्चा करना ही नहीं चाहते। समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय इन तीनों ही ग्रन्थों पर श्री अमृतचन्द्रस्वामी की टीका है और श्री जयसेनाचार्य की भी, किन्तु श्री कुन्दकुन्दस्वामी के एक-एक अक्षर की पदखण्डना रूप खण्डान्वय टीका श्रीजयसेनसूरिजी की है। विद्वानों का कहना है कि श्री अमृतचन्द्र-स्वामी की टीका प्रौढ़ है। सामान्य संस्कृतज्ञ इसे समझ नहीं पाते किन्तु श्रीजयसेनस्वामी की टीका २-३ वर्ष भी संस्कृत पढ़ा हो तो वह आत्मसात् कर सकता है। हमें भी ऐसा ही लगता है। लेकिन वो हिन्दी न पढ़े, यही हमारा कहना है। लोग 'जय हिन्द' कहकर हर बात में हिन्दी जोड़कर संस्कृत, प्राकृत को भूलना चाहते हैं अथवा मनचाहा अर्थ निकालना चाहते हैं, प्रकाशन करके अपनी तरफ से भावार्थ लिख देते हैं। हिन्दी में तो भावार्थ लिखा जा सकता है, पर संस्कृत में लिखें तो पसीना आ जाए।

ज्ञानचेतना—अज्ञान, सम्यग्ज्ञान, शुद्धोपयोग तथा केवलज्ञान के साथ भी जुड़ती नहीं है, न ही विग्रहगति में होती है, इस विषय को स्वाध्यायशील श्रोता, पाठकों के सामने रखने से उनकी आस्था मजबूत होगी और श्रुत की प्रभावना होगी।

उत्थानिका—आत्मा के उपयोग गुण का व्याख्यान करते हैं—

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ॥४०॥

अन्वयार्थ—(उवओगो) उपयोग **(खलु)** वास्तव में **(दुविहो)** दो प्रकार का है **(णाणेण य दंसणेण संजुत्तो)** ज्ञान और दर्शन से संयुक्त अर्थात् ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग, **(सव्वकालं)** सर्वकाल **(जीवस्स)** इस जीव के **(अणण्णभूदं)** एकरूप है—जुदा नहीं—ऐसा **(वियाणीहि)** जानो।

अर्थ—उपयोग वास्तव में दो प्रकार का है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। जो कि सर्वकाल इस जीव से एकरूप हैं अलग नहीं ऐसा जानो।

चैतन्यानुविधायी है जो वह परिणाम कहा उपयोग।
पहला है ज्ञानोपयोग औ, दूजा है दर्शन उपयोग॥
आत्मप्रदेशों से अनन्य हैं, दोनों ही उपयोग सदा।
जानो और इसे मानो तुम, कहते हैं जिनदेव महा ॥४०॥

व्याख्यान—ज्ञान और दर्शन दो उपयोग से जीव हमेशा युक्त रहता है। इसे कभी जीव से अलग नहीं कर सकते हैं। जैसे—स्वर्ण से पीलापन अलग नहीं कर सकते, घी से गन्ध और चिकनाहट दूर नहीं कर सकते। घी के द्वारा प्रकाश कर सकते हैं, उजाला हो सकता है परन्तु दूध से प्रकाश नहीं कर सकते। घी जैसा स्वाद व गन्ध भी दूध से नहीं आती। एक लीटर दूध में छटाँक भर घी निकलता है। अब तो छटाँक कोई जानता ही नहीं, छट गया, पर Old is Gold है। दूध में घी विद्यमान होने पर भी

घी की गन्ध नहीं आती। घी का स्पर्श-रस भिन्न है, दूध का स्पर्श-रस भिन्न है। दोनों की चिकनाहट भी भिन्न-भिन्न है। यदि दूध को उबालकर पानी निकाल दिया जाए तो दूध गाढ़ा होकर मावा बन जायेगा। खोवा से घी निकल आयेगा लेकिन दानेदार नहीं निकलेगा। इससे स्पष्ट हुआ कि जिस प्रकार दूध के अलावा घी का कोई अस्तित्व नहीं है उसी प्रकार उपयोग को छोड़कर जीव का कोई सत्व नहीं है। इन दोनों गुणों के माध्यम से आत्मा का श्रद्धान और पहचान कर सकते हैं। जाने-देखे सो जीव है, यदि नहीं जाने-देखे तो वह जीव नहीं है। मानलो ९० वर्ष की उम्र है तो आधा जीवन सोने में बिता दिया शेष आधा जीवन भी खाने-पाने आदि अन्य कार्य में निकाल देता है-

बालपने में ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणीरत रह्यो।
अर्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो॥ (छहढाला)

बालपन को गधा पचीसी कहते हैं। मन में जो ठान लिया तो ठान लिया, किसी की बात मानना नहीं है जिद पूरी करके ही रहता है। लाकर नहीं दोगे तो मुश्किल कर देगा। "**सुपुत्रो कुलदीपकः**" कहा है। सन्तान का पालन-पोषण करते हैं, जो बड़ा होकर कमाने बाहर चला जाता है सारा जीवन यूँ ही दूसरे के कार्यों में बीत जाता है। धर्म्यध्यान में जो क्षण बीते वह ही अपने हैं शेष सब शरीर की और घरवालों की सेवा में व्यर्थ गए। जमापूँजी साथ नहीं जायेगी जो पुण्य-पाप कर्म हैं वही साथ जायेंगे। देख लो, पाप की पालड़ी भारी है या पुण्य की। कर्मोदय में कोई भी परिवारजन भोगने में साथ नहीं देगा, स्वयं को ही भोगना होगा। दुर्गति होगी तो साथ जाने को कौन तैयार है? कोई नहीं। सब स्वार्थ का संसार है, सुन रहे हो या नहीं? खाने के लिए साथ देंगे, पाप भोगने में साथ नहीं देंगे। इससे स्पष्ट है कि सब अपने-अपने कर्म के भोक्ता है, यह जानकर मोह छोड़ दो।

आत्मा का चैतन्य अनुविधायी परिणाम उपयोग है। छह द्रव्यों में चैतन्यद्रव्य को अलग करने के लिए इसी लक्षण की आवश्यकता होती है। संवेदन के लिए दूसरे की आवश्यकता होती ही नहीं। दूसरे का संवेदन होता ही नहीं है यदि होता भी है तो कर्म और कर्मफल का संवेदन होता है। अनेकों पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को लक्षण से पहचान कर शेष पदार्थों को अलग कर देते हैं। उपयोग से यही कार्य होता है। हाँ, उपयोग के साथ चेतना भी बनी रहती है क्योंकि चेतनायुक्त आत्मद्रव्य हमेशा स्व के प्रति संवेदनशील रहता है लेकिन पर का संवेदन नहीं करता। चेतना के साथ सदा बना रहे उस परिणाम का नाम उपयोग है। अन्य ग्रन्थों में "**उभयनिमित्त वशात्**" यह शब्द और जोड़ देते हैं निमित्त बाह्य और भीतरी अपेक्षा दो प्रकार के होते हैं। इन दोनों के माध्यम से "**चैतन्यानुविधायि**" चेतना का अनुभव संवेदन रूप जो परिणाम होता है उसका नाम उपयोग कहा, जो आत्मा का लक्षण है।

स्वयं टीकाकार कहते हैं कि चेतना का अन्वयरूप से परिणमन या अनुभव होता है। अन्वय और व्यतिरेक यह दो शब्द हैं। अन्वय अर्थात् उसके बिना इसका परिणमन नहीं होता। जैसे-आत्मा

का ज्ञान के साथ अन्वय है। ज्ञान का मिथ्या और सम्यक् होना अलग वस्तु है, किसी भी रूप में बना रहना अन्वय है। यदि ज्ञान-दर्शनादि गुण का अन्वय एक सेकेण्ड भी न रहे तो जीव जड़ पुद्गल हो जाए क्योंकि जड़ में उपयोग नहीं रहता। जीव ज्ञान-दर्शन उपयोग संयुक्त होता है। कुछ लोग संयुक्त का अर्थ अलग से आकर जुड़ा है ऐसी संयोजना मानते हैं। और संयोजना है तो अनन्तानुबन्धी के समान विसंयोजना भी हो सकती है। इस तरह आत्मा में ज्ञान-दर्शन की संयोजना मानते हैं। जैसे-आँखें खोलते हैं तो पलकें खुलने से देखने में आ जाता है और बन्द होने पर आँखों से नहीं दिखता। इसी तरह ज्ञान का आत्मा के साथ संयोग है। ऐसा भारत के बड़े-बड़े विद्वान् मानते हैं।

जैसे-गोंद से चिपकाने पर दो पदार्थ एक हो जाते हैं वैसे ही समवाय से ज्ञान आत्मा से जुड़ जाता है किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है। जब तक जोड़ या सम्बन्ध रहता है तब तक जानता है। जोड़ खुलने से या विश्लेषण से सांख्य दर्शन मुक्ति मानता है क्योंकि जब तक ज्ञान रहता है तब तक विकल्प रहते हैं। अच्छा तो यही है कि विकल्प मिट जाएँ। "**तद् विकल्पाः नयाः, श्रुतज्ञानेन विकल्पः**" ऐसा सूत्र में कहा है जितने विकल्प हैं वह सब नयात्मक श्रुतज्ञानापेक्षा हैं। इष्टानिष्ट विकल्प मतिज्ञान से नहीं श्रुतज्ञान से होते हैं। जैसे-एकेन्द्रिय की जड़ जहाँ खाद, पानी, शीत और आर्द्रता होती है वहीं जाती है, उस ओर सूखा होते ही वहाँ से मुड़ जाती है। मतिज्ञान ने सिर्फ उष्णता या रुक्षपन का ज्ञान कराया इससे आगे वहाँ से हटने का काम श्रुतज्ञान का है। आज का विज्ञान भी कहता है कि यदि शान्त रहा नहीं जाता और लोग रहने भी नहीं देते तो इंजेक्शन लगाकर उसे बेहोश कर देते हैं अर्थात् होश ही समाप्त कर देते हैं फिर काटो, पीटो कुछ भी करो। यह विज्ञान सारी दुनिया में चलता है। जिस श्रुतज्ञान से विकल्प उत्पन्न होते हैं उससे सम्बन्ध ही समाप्त कर देते हैं। सम्यग्दर्शन के माध्यम से सम्बन्ध नहीं होता उससे तो आत्मा में स्वस्थता रहती है। सम्बन्ध जोड़ने वाला श्रुतज्ञान है उसे भी छोड़ना है। सांख्यमत कहता है कि जब तक श्रुतज्ञान है तब तक मुक्ति नहीं मिलेगी। इसीलिए "**ज्ञानादि विशेष गुणानामभावः मोक्षः**" इससे यह स्पष्ट हो गया कि ज्ञानचेतना और ज्ञान में अन्तर है। ज्ञानचेतना स्वमुखी है, परोन्मुखी नहीं। ज्ञान विकल्पात्मक है बाहर की ओर ले जाता है ऐसा बौद्धों का कहना है। "**निर्विकल्पं दर्शनं, सविकल्पं ज्ञानं**" विशेषता से रहित अभेद को दर्शन स्वीकारता है, कहीं पर भी "आत्मग्राही दर्शनं" ऐसा लिखा नहीं मिलता, मात्र **धवला** में **श्री वीरसेनस्वामी** ने कहा कि दर्शन का अर्थ आत्म विषयक है और ज्ञान का अर्थ पर विषयक है। ज्ञान और दर्शन जीव के साथ सर्वदा रहते हैं। 'दा' प्रत्यय काल की विवक्षा में लगता है। जैसे-कदा, सदा इत्यादि। सर्वत्र क्षेत्र वाचक है। ज्ञान-दर्शन का लक्षण, संज्ञा और प्रयोजन अलग-अलग है और आत्मा का प्रयोजन अलग है। इसी प्रकार सुख का भी ज्ञान-दर्शन से भिन्न प्रयोजन है किन्तु आत्मा के प्रदेश की अपेक्षा ज्ञान-दर्शन, सुख, चारित्र आदि अभिन्न हैं।

उत्थानिका—आगे ज्ञानोपयोग के भेदों के नाम और स्वरूप का कथन करते हैं—

आभिणिसुदोधिमण केवलाणि णाणाणि पंच भेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते ॥४१॥

अन्वयार्थ–(आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि) मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल **(पंचभेयाणि)** ये पाँच भेदरूप **(णाणाणि)** सम्यग्ज्ञान हैं **(य)** और **(कुमदिसुदविभंगाणि)** कुमति, कुश्रुत, विभंग **(तिण्णि वि णाणेहिं)** ऐसे तीन अज्ञानों से **(संजुत्ते)** संयुक्त [सर्व आठ भेद ज्ञान के] होते हैं।

अर्थ–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं और कुमति, कुश्रुत व विभंगावधि ऐसे तीन अज्ञानों से संयुक्त सर्व आठ भेद ज्ञानोपयोग के होते हैं।

मति श्रुति अवधि मनःपर्यय हैं, और पाँचवाँ केवलज्ञान।
भेद कहे ज्ञानोपयोग के, ये पाँचों ही सम्यग्ज्ञान॥
कुमति कुश्रुत कुअवधि ज्ञान ये तीनों ही अज्ञान कहे।
पाँच और ये तीनों मिलकर, आठ ज्ञान के भेद रहे ॥४१॥

व्याख्यान–ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है। सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का है–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। ज्ञान के साथ मिथ्यात्व के रहने से कुमति, कुश्रुत, और विभंगावधि यह तीनों मिथ्याज्ञान हो जाते हैं। 'कु' को मति व श्रुत के आगे लगाना, विभंग का अर्थ मिथ्याअवधि है। यदि 'कु' और लगा देंगे तो डबल मिथ्या हो जायेगा अतः विभंग के पहले कु नहीं लगाना। **तत्त्वार्थसूत्र** के प्रथम अध्याय में "**मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च**" सूत्र है अर्थात् तीन ज्ञान कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि रूप विपरीत हो जाते हैं। 'विभंग' कहने की आगमिक या सैद्धान्तिक परम्परा है। आदित्य अर्थात् सूर्य पर मेघपटल यदि छा जाता है तो कहीं-कहीं पर कोहरा हो जाता है, कुछ दिख नहीं पाता, कहीं कुछ-कुछ दिखता है जैसे खिड़कियों से झाँककर देखते हैं ऐसा दिखता है। कहीं पर वर्षा में भी बिल्कुल खुला मौसम रहता है। पूर्वी देशों में सूरज जल्दी उग आता है। पश्चिम की ओर ७ बजे तक उगता ही नहीं है। गिरनार यात्रा पर गये थे तब ऊपर ७ बजे तक भी कुछ ही दिखता था जबकि शिखरजी में ४:३० बजे से ही दिखने लगता है और शाम को सूर्यास्त भी ४:३० बजे हो जाता है। कई लोग भागते-भागते आकर 'अनथउ' (सायंकालीन भोजन) कर लेते हैं कहीं सूर्यास्त न हो जाए। राजस्थान में ७:३० बजे तक हाथ की रेखा दिखती है, लोग भोजन करते हैं। एक आदित्य होते हुए भी कहीं पर ऐसा, कहीं पर ऐसा हो जाता है। इस प्रसंग में जो कथा सुनी है वह कह देना चाहते हैं कि–श्री कुन्दकुन्दस्वामी विदेहक्षेत्र में एक सप्ताह रहे किन्तु वहाँ पर आहार नहीं किया, ऐसा सुनते हैं। आहार क्यों नहीं किया? इसका इतिहास यही सुनने में आता है कि जब यहाँ भरतक्षेत्र में दिन रहता है तब वहाँ विदेहक्षेत्र में रात रहती है और स्वयं को भरतक्षेत्र का निवासी मानकर रात्रिभोजन का त्याग

होने के कारण आहार नहीं किया, यह उनका अपना विचार है। समवसरण में गए तो इलायची जैसे दिख रहे थे, तब भगवान् से पूछा–यह मनुष्य जैसा कीड़ा कौन है? यह सब कवि की कल्पना है, जो विदेहक्षेत्र के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए रची गई हो, वस्तुतः क्या है? यह कुछ कह नहीं सकते।

यहाँ आदित्य एक होने से, इस ढंग से कार्य होता है लेकिन विदेहक्षेत्र में यह घटित नहीं होता, क्योंकि जम्बूद्वीप सम्बन्धी दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं वहाँ अलग रूप से होगा, इस प्रकार एक ही आत्मा कर्मोदय के कारण चार क्षायोपशमिक ज्ञान रूप तथा प्रक्षीणज्ञानावरण ऐसा कहने से केवलज्ञान रूप हो जाता है। इस प्रकार आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग का व्याख्यान किया।

उत्थानिका–अब मतिज्ञानादि पाँच ज्ञान का भिन्न-भिन्न गाथाओं द्वारा वर्णन करते हैं। इसमें सर्वप्रथम मतिज्ञान का वर्णन करते हैं–

मदिणाणं पुण तिविहं उवलद्धी भावणं च उवओगो।
तह एव चदुवियप्पं दंसणपुव्वं हवदि णाणं ॥४२॥

अन्वयार्थ–**(पुण)** तथा **(मदिणाणं)** मतिज्ञान **(तिविहं)** तीन भेद वाला है **(उवलद्धी)** उपलब्धि या जानने की शक्ति **(उवओगो)** उपयोग या जाननेरूप व्यापार **(च भावणं)** और भावना या जाने हुए का विचार **(तह एव)** उसी प्रकार **(चदुवियप्पं)** चार प्रकार का है। **(दंसणपुव्वं)** दर्शनपूर्वक **(णाणं)** यह ज्ञान **(हवदि)** होता है।

अर्थ–उपलब्धि या जानने की शक्ति, उपयोग या जानने रूप व्यापार और भावना या जाने हुए का विचार इस प्रकार मतिज्ञान तीन भेद वाला है तथा अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से चार प्रकार का भी है। यह ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है।

त्रिविध रहा वह मतिज्ञान है, प्रथम कहा उपलब्धि रूप।
जानन के व्यापार रूप में, दूजा है उपयोग स्वरूप॥
चिंतन रूप भावना तीजा, अवग्रहादिक चउ विध हैं।
दर्शनपूर्वक मतिज्ञान हो, जैनागम का यह मत है॥४२॥

व्याख्यान–श्रुतज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं होता, मतिज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। इसी प्रकार अवधिज्ञान, अवधिदर्शन पूर्वक होता है और केवलज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं, केवलदर्शन के साथ होता है। कई लोग दर्शनपूर्वक में पूर्व का अर्थ कारण के रूप में लेते हैं किन्तु कारण के रूप में नहीं, उसका उपस्थित होना आवश्यक है। जैसे–निक्षेप ज्ञान में कारण तो नहीं किन्तु पूर्व में होता है तो वह प्रासंगिक ज्ञान व्यवस्थित हो जाता है। यद्यपि नय प्रमाण द्वारा तत्त्वादि का ज्ञान होता है किन्तु निक्षेप पूर्वक करते हैं तो वह ज्ञान व्यवस्थित हो जाता है। उसी प्रकार निक्षेप पूर्वक ज्ञान की भाँति यहाँ दर्शनपूर्वक

मतिज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान और दर्शन दोनों मिल करके वस्तुगत सामान्य और विशेष को विषय बनाते हैं। वस्तुतः **''दंसण पुव्वं हवदि णाणं''** यह कहा है। निश्चयनय से अखण्ड एक विशुद्धज्ञानमय ही जीव है किन्तु कर्मोदय से चित्र-विचित्रता आ रही है। जैसे-जल में हवा के झोंके से तरंगें उठती हैं वैसे ही ज्ञानावरणी कर्म के कारण ज्ञान में तरंगें उठती हैं। संसार दशा में जब तक जीव रहता है तब तक व्यवहार दशा में कर्म द्वारा आवृत रहता है। दूसरा **उदाहरण—**कोई व्यक्ति घर में सदस्य रूप में जब तक रहता रहा, तब तक घर का नाम चलता है किन्तु दीक्षित होते ही पहले का नाम नहीं चलेगा, परिवर्तन हो गया। जड़ सम्पदा का पूरा त्याग होते ही दूसरा नाम रखते ही जय-जयकार होने में देर नहीं लगती। ध्यान रखना, आधी सम्पदा त्याग करने पर नाम नहीं बदलता, दुकान में से स्वामित्व जल्दी हट जाता है लेकिन जो परिग्रह की गाँठ बँधी है उसे खोलने में बहुत देर लगती है।

मतिज्ञान की परिभाषा—मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से पाँच इन्द्रिय और मन द्वारा मूर्त-अमूर्त द्रव्य को विकल्प सहित जो जानता है वह मतिज्ञान है। चाहे मतिज्ञान हो या श्रुतज्ञान वह विकल्प सहित ही रहता है। मोह जन्य विकल्प होगा तो बन्ध होगा, अतः जानने का कार्य ही बन्द करने को कहा है। इसीलिए कहा है-**''मां चिंतह''** चिन्तन भी मत करो। कई लोग चिन्तन के लिए खूब प्रयास करते हैं लेकिन चिन्तन से विकल्प और विकल्प से बन्ध होगा। जिसके पास लब्धि और उपयोग रूप भावेन्द्रिय है, वहाँ उस लब्धि को ही उपलब्धि कहा है। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न अर्थ ग्रहण की क्षमता को लब्धि कहते हैं। जैसे बारहभावना को अनुप्रेक्षा कहते हैं, इसमें भावना रखी है, ज्ञात पदार्थ को पुनः पुनः चिन्तन करना भावना है। आयुर्वेदशास्त्र में भावना का अर्थ पुट होता है। औषधि को तैयार करते समय भावना देते हैं अर्थात् बार-बार कूटते, पीसते, जलाते और पकाकर उसमें भावना पैदा की जाती है। नीला, पीला आदि रूप को ग्रहण करने का जो व्यापार है, वह उपयोग है। **उपयोग के सदुपयोग से बड़े-बड़े काम हो जाते हैं। गुरु के एक शब्द और एक पद के ज्ञान से बीजबुद्धि और पदानुसारिणी ऋद्धिधारी हो जाते हैं।** इस प्रकार के अतिशय हो जाते हैं कि सारी किताब का ज्ञान हो जाता है, वही ज्ञान तो फिर जानने का व्यापार करता है।

अवग्रह आदि की अपेक्षा मतिज्ञान चतुर्विध कहा किन्तु यह सामान्य सत्तावलोकन पूर्वक ही होता है, सामान्य सत्तावलोकन का एक उदाहरण बताते हैं। जैसे-बटन दबाते ही फोटो खींचने पर जो नेगेटिव कॉपी आयी, उसे सामान्य अवलोकन रूप दर्शन कह दो, अब पॉजेटिव बनाने में प्रकाश हानिकारक है। अतः एकदम अंधेरे कक्ष में जाकर जितनी साइज का चाहिए, उतनी साइज में बनाकर ले आते हैं, यह ज्ञान के समान है। पहले दर्शन होता है दर्शन में कुछ विशेष नहीं दिखता मात्र आऊट लाइन जैसी रहती है। यदि वही फोटो कहकर दे दें तो कहते हैं कि इसके लिए थोड़े ही हमने ५० रुपये दिये हैं, हमें तो पॉजेटिव चाहिए। तब नेगेटिव ओरिजनल कॉपी जिसके पास है, वही पॉजेटिव बना सकता है। दर्शन में कोई विकल्प नहीं क्योंकि कुछ दिखता ही नहीं है। नाक, आँख अच्छे-अच्छे कपड़े

पहने थे वह कुछ नहीं दिख रहा, बाल भी सफेद काले सब बराबर, फोटो खिचाते समय हँस रहे थे, यहाँ तो दाँत ही नहीं दिख रहे। हाँ, दर्शन में ऐसा ही होता है तभी आत्मानुभूति में निर्विकल्पसमाधि अर्थात् "**दर्शनवत् ज्ञानं कुरु**" दर्शन के समान ज्ञान को करना चाहिए। दुनिया को दिखाने के लिए सब पॉजेटिव चाहते हैं, यही तो गड़बड़ हो रहा है। ध्यानी इसीलिए शान्त रहते हैं क्योंकि आत्मा का स्वरूप निर्विकार निराकार है। शुद्धात्मानुभूति के समय श्रुतज्ञान ही होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है किन्तु मतिज्ञान दर्शनोपयोग के द्वारा भी हो सकता है यह बात यहाँ स्पष्ट की है। निर्विकल्प शुद्धात्मानुभूति ही अनन्त सुख का साधन होने से एकमात्र उपादेय है उसे ही ग्रहण करें।

उत्थानिका—पाँच ज्ञान सम्यग्ज्ञान होते हैं इसी प्रसंग को लेकर अब श्रुतज्ञान का वर्णन करते हैं–

सुदणाणं पुण णाणी भणंति लद्धीय भावणा चेव।
उवओगणयवियप्पं णाणेण य वत्थु अत्थस्स ॥४३॥

अन्वयार्थ—**(पुण)** फिर **(णाणी)** ज्ञानीजन **(सुदणाणं)** उस श्रुतज्ञान को **(भणंति)** कहते हैं **(वत्थु अत्थस्स णाणेण य)** जिसके द्वारा पदार्थ और उसके भाव को जानने से **(लद्धी य भावणा चेव उवओगणयवियप्पं)** उस श्रुतज्ञान के लब्धि, भावना, उपयोग व नय ऐसे भेद होते हैं।

अर्थ— ज्ञानीजन उस श्रुतज्ञान को कहते हैं, जिसके द्वारा पदार्थ और उसके भाव को जानने से श्रुतज्ञान के लब्धि, भावना, उपयोग व नय ऐसे भेद होते हैं।

श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के, क्षयोपशम होने पर हो।
मूर्त-अमूर्त पदार्थ जानता, श्रुतज्ञान कहते उसको॥
श्रुतज्ञान की शक्ति लब्धि, विचार रूप भावना है।
नय उपयोग भेद भी इसके, ज्ञानीजन का कहना है॥४३॥

व्याख्यान—यहाँ श्रुतज्ञान का लक्षण न बताकर इसके भेद-उपभेद के माध्यम से और चौथे चरण में उसका भाव उद्घाटित कर रहे हैं। लब्धि, भावना, उपयोग और नय विकल्प वाला, इस प्रकार श्रुतज्ञान चार प्रकार का होता है। "**तत्प्रमाणे**" सूत्र में पाँच प्रकार का ज्ञान दो प्रमाण में विभाजित है जिसमें मति, श्रुतज्ञान परोक्षप्रमाण और अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण में आ जाते हैं। पाँच ज्ञान में विश्लेषक या व्याख्याता कौन है और कौन नहीं है? इस पर विचार करते हैं तो चार ज्ञान नहीं बोलते, मात्र एक ही बोलता है। मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान तो बोलते नहीं और केवलज्ञान भी नहीं बोलता, यह भी कहें तो कोई अन्योक्ति नहीं होगी। मात्र एक श्रुतज्ञान विश्लेषक है। जो स्वार्थ प्रमाण है उसे ज्ञानात्मक कहा गया है और परार्थ प्रमाण को शब्दात्मक कहा गया है। शब्दात्मक परिणति में श्रुतज्ञान के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। अन्य ज्ञान के साथ ज्ञानात्मक स्वार्थ प्रमाण तो जुड़ जाता है लेकिन शब्दात्मक द्रव्य श्रुतात्मक सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता। आगे जाकर केवलज्ञान में भी दिव्यध्वनि के समय श्रुत अर्थात् शब्द या वचनयोग का आलम्बन लेकर ही

कहा जाता है उसके बिना कहा नहीं जाता। पंडित दौलतरामजी कहते हैं– **''भवि भागन वच जोगे वशाय, तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रम नशाय''** यद्यपि यह प्रसंग अलग है किन्तु कुछ कहते हैं तो वह वचन के माध्यम से ही कहा जायेगा। वचनप्रमाण श्रुतज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है यह विषय नया है। ऐसी व्याख्या बहुत कम सुनने को मिलती है। व्याख्यान या विषय का प्ररूपण करना और विषय को विषय बनाना इसमें बहुत अन्तर है। कोई व्यक्ति एम.ए. कर लेता है यह अलग वस्तु है और एम॰ ए॰ वालों को पढ़ाना अलग है। स्पष्ट है जब कभी बोलने का प्रसंग आता है तो वचन प्रयोग में श्रुतज्ञान अपना योगदान निश्चित रखता है। हाँ, मन के बिना योगदान नहीं देता यह स्वीकारते हैं लेकिन मन मात्र श्रुतज्ञान के अन्तर्गत ही आता है ऐसा नहीं समझना।

श्रुतज्ञान का विशेष विवेचन—कल से पयुर्षण पर्व प्रारम्भ हो रहे हैं इसलिए इसका विश्लेषण तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में कल श्रुतज्ञान के माध्यम से होगा। अवधिज्ञान में इन्द्रिय और मन का आलम्बन नहीं लिया जाता क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। मन का आलम्बन लेकर बोलना प्रारम्भ करें तो वचनयोग या काययोग भी हो सकता है। जब कभी बोलेंगे तो अतीत के अनुभव के माध्यम से बोलेंगे, वर्तमान में नहीं बोल सकते। श्रुतज्ञान हमेशा अतीत की ओर ले जाता है। जब शब्द प्रयोग करते हैं तो चिन्तन के साथ करते हैं। **''वितर्कः श्रुतम्''** यह सूत्र आया है इसीलिए ध्यान के समय इस आलम्बन से भी मुक्त होना चाहते हैं। जब कभी चिन्तन करते हैं तो शब्दों में ही लड़ते रहते हैं, आराम नहीं मिलता। स्वार्थ और परार्थ इन दो प्रमाणों में, स्वार्थ में ज्ञान की परिणति होती है और परार्थ प्रमाण में शब्द या व्यंजन के माध्यम से कार्य होता है। इसलिए चिन्तन की दशा में बोलें या न बोलें, पर शब्द की मुख्यता अवश्य होती है, फिर वह शब्द से अर्थ की ओर चला जाता है। यह कार्य श्रुतज्ञान के माध्यम से होता है, अतः श्रुतज्ञान के आयाम में जानना और विश्लेषण करना यह काम होते हैं। विश्लेषण को अन्तर्जगत् की गहराई में पहुँचाने का श्रेय श्रुतज्ञान को जाता है। यद्यपि स्मृति में भी गहराई आती है उस स्मृति के माध्यम से अर्थान्तर की ओर जो दौड़ होती है वह छलाङ्ग जैसी होती है। जिस प्रकार शतरंज के खेल में वजीर, राजा, हाथी, ऊँट और मन्त्री से लेकर प्यादे वगैरह जितने भी हैं सब खिसकते रहते हैं लेकिन घोड़ा एक ऐसा है जो छलाङ्ग लगाता है। उसी प्रकार मतिज्ञान के आलम्बन से श्रुतज्ञान ऐसी छलाङ्ग लगाता है कि वह अन्तर्जगत् के भी अन्तर्जगत् में पहुँच जाता है, यह श्रुतज्ञान का श्रेय है। अभी आप लोग जो यह प्रवचन सुन रहे हैं वह सब शब्द का चमत्कार है। कोई भी ज्ञान अपने भावों को अन्य के पास अभिव्यक्त नहीं कर सकता, लेकिन एक सेकेण्ड में श्रुतज्ञान ही हजारों लाखों व्यक्तियों को अन्तस् में लीन कर देता है। यह किसी और के वश की बात नहीं है इसीलिए श्रुतज्ञान अन्य ज्ञान की अपेक्षा आगे है। हाँ, श्रुतज्ञान के साथ केवली शब्द का भी विशेषण लगाया जाता है। केवलज्ञान के पास भी यह क्षमता नहीं है क्योंकि अभिव्यक्ति के लिए शब्द आवश्यक होते हैं। केवली श्रुतज्ञान से ऊपर उठ चुके हैं फिर भी अर्थश्रुत की रचना श्रुतज्ञान ही करता

है। कौन क्या भाषा बोल रहा है? यह शब्दों के चयन से ही ज्ञात होता है। बिना शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। केवलज्ञान के माध्यम से तो जानते हैं और द्रव्यश्रुत जो वचनात्मक है उसका आधार लेकर प्रतिपादन करते हैं। केवली भगवान् भाव मन से ऊपर उठ चुके हैं। १२वें गुणस्थान से ऊपर जाने पर भावश्रुत तो समाप्त हो जाता है और द्रव्यश्रुत अर्थात् वचनात्मक अर्थाभिव्यक्ति के लिए आवश्यक होने से अवलम्बन अनिवार्य है। परम वक्ता तो प्रभु ही हैं उन्हें सत्य और अनुभय वचन के लिए वैसे ही वचन की आवश्यकता है।

शंका—आचार्यश्री जी 'देखो' ऐसा कहने का क्या तात्पर्य है?

समाधान-यह अनुभय वचन है, बचने का साधन है। 'हाँ' या 'ना' कहने से विवाद की सम्भावना रहती है।

श्रुतज्ञान के मतिज्ञान पूर्वक होने की सिद्धि—प्रमाण से सम्पूर्ण वस्तु को जाना जाता है। "**सकलादेशो प्रमाणः विकलादेशो नयाः**" नय रूप साधन से अर्थ अर्थात् गुण पर्याय रूप ज्ञान करते हैं। अर्थ वर्तमान के लिए कहा जाता है, अतीत अनागत के लिए नहीं। जो पर्यायों को या पर्यायों से प्राप्त होता है वह अर्थ है। जो वर्तमान पर्याय विशिष्ट होता है। अतीत और अनागत तो अभी अव्यक्त रूप हैं। पर्याय एक समय में एक ही होती है, एक व्यय होती है दूसरी उत्पन्न, उस रूप द्रव्य का परिणमन हो जाता है। यह वर्तमान पर्याय विशिष्ट अर्थ ऋजुसूत्रनय का विषय बन जाता है। ऋजु अर्थात् वर्तमान को ग्रहण करता है। यहाँ अर्थ का अर्थ वर्तमान विशिष्ट द्रव्य है जो कि गुण पर्याय रूप है। आंशिक रूप से वस्तु को ग्रहण करने वाला नय है, इस प्रकार श्रुतज्ञान द्वारा अर्थ से अर्थान्तर की ओर या शब्द से अर्थ की ओर यात्रा होती है। यह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है लेकिन मति सो श्रुत नहीं। हाँ, मति जिसके पूर्व में हो वह श्रुतज्ञान है किन्तु जिस समय श्रुतज्ञान होता है उस समय मतिज्ञान नहीं रहता। मतिज्ञान द्वारा गृहीत पदार्थ को विषय बनाकर उससे अर्थान्तर गति करना श्रुतज्ञान है। मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पाँचों एकार्थवाची हैं। यदि कोई इन्हें श्रुतज्ञान के भी पर्यायवाची कहे या अनुमान को मतिज्ञान का पयार्यवाची कहे तो '**अर्थान्तरं न**' पर्यायवाची नहीं हो सकता। शब्दों के माध्यम से हर्ष भी हो सकता है, विषाद भी। क्योंकि शब्दों में इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति कराने की क्षमता है। ज्ञानी इसे श्रुतज्ञान कहते हैं जो लब्ध्यात्मक, भावात्मक, उपयोगात्मक और नयात्मक होता है। इस गाथा का संक्षेप से यह अर्थ हुआ।

आत्मा ज्ञान के द्वारा जानती है, ज्ञान नहीं जानता। उसी प्रकार दर्शन नहीं देखता, आत्मा दर्शनगुण के द्वारा देखती है। आँखें अपने आप नहीं देखतीं किन्तु आँख से देखते हैं यह व्यवहार से कहा जाता है। देखने का भाव होने पर आँखें खुलने की क्षमता हो तो खुल जाती हैं और देखने लगता है। उसमें भी क्षयोपशम न हो तो लेंस भी लगा ले तो भी नहीं दिखता। आंगोपांग नामकर्म के उदय से अंगों की जो रचना हुई है उसमें यदि क्षमता नहीं है, तो भी आँखें खुल नहीं सकतीं। कई लोग

अन्तसमय में सम्बोधन के समय कहते हैं कि–आँखें खोलो, लेकिन वह खोल नहीं पाता। जब खोलने का समय था तब खोली नहीं और यूँ ही चला जाता है। उसी प्रकार श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से आत्मा मूर्त और अमूर्त वस्तु को परोक्ष जानती है, इसे ज्ञानीजन श्रुतज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर—अब मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अन्तर क्या रहा? तो बताते हैं–स्पर्शनेन्द्रिय रूप मतिज्ञान से हवा के एक झोंके में ठण्डापन महसूस हुआ, यह स्पर्शन इन्द्रिय का विषय हुआ, मन अभी काम नहीं कर रहा है। इसके बाद मन में आया कि यह ठण्डापन कहाँ से आया? कहीं वर्षा तो नहीं हो रही? पंखा तो चालू नहीं हुआ? अब यहाँ जो वर्षा अथवा पंखा की ओर दृष्टि गई यह अर्थान्तर है। यह इन्द्रिय ज्ञान नहीं, मन के माध्यम से हो रहा है। बहिर्जगत् में पञ्चेन्द्रिय विषयों तक सीमित रहकर सारी दुनिया भटक रही है, लेकिन ज्ञानी स्वयं को अन्तर्जगत् में इतना लीन कर देते हैं कि आहार, नाम, पहचान सब भूल जाते हैं, इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझते। मनोयोग से कार्य करने वालों के लिए टेबिल पर, समय पर भोजन–पानी रख दिया जाता है, ताकि थोड़ी–सी गर्दन हिलते ही देखने में आ जाए। बात लीनता की है। जब बच्चा खेलना चाहता है तो उसे खाने जैसी चीज और वह खिलौना भी दे दिया जाता है भले ही वह अभी उससे खेल रहा है, पर कभी भी वह खा लेगा। अर्थ से अर्थान्तर इन्द्रिय का नहीं मन का विषय है। कीड़े–मकौड़े कभी खेलते नहीं। पञ्चेन्द्रिय होने के बाद भी जो सैनी हैं वह मन के माध्यम से खेल–कूँद करते हैं, यह श्रुतज्ञान का विषय है।

जीवन समझो मोल है, न समझो तो खेल।
खेल–खेल में युग गये, वही खिलाड़ी खेल॥
खेल सको तो खेल लो, एक अनोखा खेल।
आप खिलाड़ी आप ही, बनो खिलौना खेल॥ (सूर्योदय शतक)

प्रमाण और नय का कथन—वस्तु को समग्र रूप से ग्रहण करने वाला प्रमाण व एकदेश को ग्रहण करने वाला नय है। यह किसी एक गुण या पर्याय को ग्रहण करने की अपेक्षा से कहा है। ज्ञाता का अभिप्राय नय है। यह एक ही वस्तु को लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई अथवा गोल, आयत, स्क्वायर इत्यादि भिन्न–भिन्न रूप से सामने रख देता है। यहाँ मोटाई का अर्थ घनत्व की दृष्टि से है। वह घनत्व लम्बाई–चौड़ाई–मोटाई किसी भी रूप में हो सकता है किन्तु एक इंच मोटाई को लेकर जब संगमरमर खरीदते हैं तब एक फीट लम्बा–चौड़ा और एक इंच मोटे का भाव बता देते हैं। यहाँ घनत्व की महत्ता है। जितना लम्बा है उतना ही चौड़ा हो ऐसा कोई नियम नहीं। आगे स्पष्ट करेंगे कि ७ घन राजू प्रमाण ही लोक होता है ऐसा कोई नियम नहीं है।

'अर्थ' का अर्थ क्या है? तो वस्तु के एकदेश को अर्थ कहते हैं या वर्तमान पर्याय विशिष्ट का नाम अर्थ है। जो ज्ञान का विषय बन जाता है। अतीत और अनागत तो अव्यक्त रूप हैं, व्यक्त तो

वर्तमान में है। अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों व्यक्त हो जाएँ तो परिणमन क्या करेगा? कुछ लोग इस रहस्य को नहीं जानते। एक ही बार में सब परिणमन हो चुका अब कुछ करना शेष ही नहीं रहा। अतीत में जो पर्याय निकल चुकी, वह भी उस पदार्थ में है यह कहना गलत है क्योंकि जो परिणमन हो चुका, वही परिणमन वर्तमान में नहीं होता, पुराना हो चुका। पुराना मिटेगा, तभी नया आयेगा यह नियम है। इसीलिए **''यः सर्वाणि चराचराणि विधिवद् द्रव्याणि तेषां गुणान्, पर्यायानपि भूत भावि भवतः''** जिस प्रकार वर्तमान को प्रत्यक्ष जानते हैं उसी प्रकार अतीत-अनागत को भी जानते हैं लेकिन वर्तमान में भी वह पर्याय है ऐसा नहीं। यदि वर्तमान में भी वह पर्याय है तो एक साथ तीन पर्यायें हो गईं, जबकि ऐसा नहीं हो सकता। अतः **''अर्थस्य''** का अर्थ एक पर्याय विशिष्ट या एक गुण विशिष्ट को, नय से जाना जा सकता है। नय समग्र को नहीं जानता। इन्द्रिय द्वारा जानने से एक समय में एक ही इन्द्रिय का विषय बनने से वस्तु अखण्ड नहीं दिखेगी। कठोर आदि स्पर्श का ज्ञान करते समय रंग का ज्ञान नहीं है इसे ही नय ज्ञान कहते हैं। वस्तु को जिस पहलू से देखें उस समय वही मुख्य होगा, अन्य जितने भी हैं वह सब अन्य नय का विषय होगा। नय अंश को और प्रमाण अंशी को ग्रहण करता है।

दृष्टान्त—यदि वर्तुल में ६० अंश का कोण बनाना है तो इसके लिए दृष्टि मोड़ना होगी तब कोण ही दिखेगा वर्तुल नहीं, यह नय के माध्यम से होगा। जैसे-यह ६ इंच की पेन्सिल है, लाल है, इत्यादि। बाहर में बहुत कुछ है, अन्दर में क्या है? पता नहीं। जब मतिज्ञान से जानते हैं तो ऊपर से देखे तो नीचे का नहीं दिखता क्योंकि यह परोक्षज्ञान है। नय से समग्र को नहीं जान सकते। इसीलिए महावीरस्वामी गौतम गणधर से कहते हैं—हे गौतम! प्रमाद छोड़कर बैठ जाओ तभी केवलज्ञान होगा। बोलो नहीं, आँख खोलो नहीं, अन्य किसी पदार्थ को तोलो नहीं, जब तक केवलज्ञान प्राप्त न हो अन्तरात्मा बनकर बैठ जाओ। यह एक कविता जैसी बन गई।

उपादेयभूत भाव श्रुत का कथन—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक जो वस्तु है उसे भावश्रुत कहा है। सम्यग्दर्शन भी भावश्रुत में आ गया। यह रत्नत्रयरूप भावश्रुत ही उपादेय है क्योंकि उपादेयभूत तत्त्व का यह साधक है। निश्चयनय से यह उपादेयभूत है। यह जो ग्रन्थ लेकर पढ़ रहे हैं वह इसका बहिरंग साधन है यह सब मन के माध्यम से जाना जाता है। पूर्व में भी हमने इस विषय में चर्चा की थी। यदि स्मृति में रखेंगे तो भाव अच्छे से समझ लेंगे अन्यथा 'काला अक्षर भैंस बराबर' ऐसी श्रुति है अर्थात् अक्षरों का वर्ण भी काला और भैंस का वर्ण भी काला है। हॉर्न भी बजाते रहो तो भी भैंस वहीं के वहीं खड़ी रहती है, भले ही आप रास्ता छोड़ दें। भैंस के आगे बीन बजाओ तो भी कुछ नहीं सुनती जैसे बहरी हो। इसीलिए ज्ञान का उपयोग करो और तात्पर्य समझो। तात्पर्य अर्थात् सारभूत पदार्थ यही श्रुतज्ञान की महिमा है जो अन्तर्जगत् की ओर ले जाती है। दीपक के माध्यम से प्रकाश मिलता है और प्रकाश से वस्तु प्रकाशित हो जाती है। लेकिन उस

प्रकाश के माध्यम से वस्तु की खोज या पहचान कर लेने में ही दीपक की महिमा है अन्यथा ''ले दीपक कुँए पड़े'' हाथ में दीपक लेकर भी कुँए में गिर पड़े तो दीपक से प्रयोजन ही क्या? अतः श्रुतदीपक द्वारा प्रयोजनभूत तत्त्व को पाना ही श्रुताराधना की सफलता है, यह व्यवहार हो गया।

उत्थानिका—जिस प्रकार श्रुतज्ञान का स्वरूप व भेदों का कथन किया उसी प्रकार अवधिज्ञान का स्वरूप व भेदों का प्रतिपादन करने हेतु आगे की गाथा कहते हैं–

ओहिं तहेव घेप्पदु देसं परमं च ओहिसव्वं च।
तिण्णिवि गुणेण णियमा भवेण देसं तहा णियदं ॥४४॥

अन्वयार्थ—(तहेव) वैसे ही श्रुतज्ञान के समान **(ओहिं)** अवधिज्ञान को **(घेप्पदु)** ग्रहण करो **(देशं)** देशावधि **(च परमं)** और परमावधि **(ओहिसव्वं च)** और सर्वावधि **(तिण्णिवि)** तीनों ही **(णियमा)** नियम से **(गुणेण)** सम्यक्त्वादि गुण से होते हैं **(तहा)** तथा **(भवेण)** भव के द्वारा **(णियदं)** नियम से **(देसं)** देशावधि होता है।

अर्थ— श्रुतज्ञान के समान ही अवधिज्ञान भी देशावधि, परमावधि व सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार का स्वीकार करो। ये तीनों ही भेद सम्यक्त्वादि गुणों से सहित होते हैं। इनमें भवप्रत्यय अवधिज्ञान नियम से देशावधि रूप ही होता है।

अवधि ज्ञानावरण कर्म के, क्षयोपशम से हो उत्पन्न।
अवधिज्ञान उसे होता जो, सम्यक्त्वादि गुण संपन्न॥
देश परम सर्वावधि तीनों, अवधिज्ञान के भेद रहे।
भवप्रत्यय से देशावधि हो, ऐसा श्री जिनदेव कहे॥४४॥

व्याख्यान—अवधिज्ञान को देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार का स्वीकार करना चाहिए। इसके अन्य प्रकार से भी दो भेद हैं, गुणप्रत्यय व भवप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव व नारकियों को होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य व तिर्यञ्चों को होता है। जो मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है उसे भी भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। देशावधिज्ञान में एकदेश जानता है, पूरा नहीं। अवधि का अर्थ सीमित जानना है। गुण का अर्थ सम्यक्त्वादि रूप परिणामों के साथ अवधिज्ञानावरण कर्म का जो क्षयोपशम होता है वह गुणप्रत्यय है। देवों व नारकियों में भव की मुख्यता रहती है यद्यपि वहाँ पर भी अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है।

ज्ञान और दर्शन शक्ति का प्रयोग कर्त्ता कौन?—जानने की क्रिया ज्ञान के माध्यम से आत्मा करती है। ज्ञान एक प्रकार की शक्ति है जो अपने आप काम नहीं करती, उसे काम में लाया जाता है। यदि व्यक्ति सो जाए तो क्या शक्ति अपने आप काम करेगी? नहीं। हाँ, आपका प्रश्न है कि कभी-कभी लाइट आने पर बल्ब अपने आप जल जाता है तो क्या बिना बटन दबाये बल्ब जल गया? नहीं।

ध्यान रखो पहले से बटन ऑन था तभी बल्ब अपने आप जल गया। उसी प्रकार कोई जीव मूर्च्छित अवस्था में चला जाए तो ज्ञान शक्ति काम नहीं करती। ज्ञान-दर्शन एक शक्ति है इनसे काम लेने वाला आत्मतत्त्व है इसलिए शक्ति भले ही कमजोर हो किन्तु काम लेने वाला बलजोर है तो उसका काम बहुत अच्छे ढंग से हो जाता है। कम पढ़ा लिखा हो तो भी काम कर लेता है और बहुत पढ़ा लिखा होने पर भी बहुत देर तक समझ नहीं पाता। गुरुदेव ने कहा था-थाली में बहुत सारा परोस दिया है लेकिन जितनी भूख है उतना खा लो, पचा लो अर्थात् प्रयोजनभूत तत्त्व को समझ लो। यह जानूँ, वह जानूँ, यह भी एक शल्य है। "**आवासएसु परिहीणदाए तस्स मिच्छा मे दुक्कडं**" आवश्यकों में कमी करके जो स्वाध्याय आदि में लगा रहता है, इसमें भी दोष लगता है इसीलिए प्रतिक्रमण के समय पर प्रतिक्रमण, स्वाध्याय के समय पर स्वाध्याय करो। ऐसा नहीं कि सामायिक में मन नहीं लग रहा है तो "**स्वाध्यायः परमं तपः**" कहकर स्वाध्याय शुरू कर दो। यह सूत्र '**मूलाचार**' में 'श्री वट्टकेराचार्य' ने कहा है। ध्यान रखो स्वाध्याय करते समय आज तक किसी को केवलज्ञान हुआ है क्या? नहीं। और दूसरी बात उपदेश देते-देते भी किसी को मुक्ति मिली है क्या? दोनों को नहीं। लेकिन उपदेश सुनकर जो आत्मा में लीन होगा वह तत्क्षण भी मुक्त हो सकता है और जो सिंहासन पर विराजे हैं वे बड़े महाराज जब तक योगनिग्रह नहीं करेंगे, तब तक उन्हें मोक्ष मिलने वाला नहीं है। उपदेश देना मुक्ति के लिए कारण नहीं तो फिर देते क्यों हैं? अभी आयु है, योग है इसीलिए दे रहे हैं। यही बात यहाँ कह रहे हैं कि जो शक्ति है उसका उपयोग करना होता है।

अवधिज्ञान के भेद—आत्मा अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम से मूर्त वस्तु को प्रत्यक्ष जानता है अर्थात् इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना जानता है। इन्द्रिय द्वारा क्रम-क्रम से जानता है और अवधिज्ञान अपने विषय को एकसाथ जानता है। लब्धि, भावना और उपयोग रूप तीन प्रकार का श्रुतज्ञान बताया था उसी प्रकार देशावधि आदि तीन भेद रूप अवधिज्ञान जानना। जिसमें परमावधि और सर्वावधि चरमदेह वाले तपस्वी को होता है। चरमदेह वाले होकर भी जब तक घर में रहेंगे तब तक नहीं होगा क्योंकि अभी तप का उन्होंने आलम्बन लिया नहीं है। यह तीनों अवधिज्ञान सम्यक्त्वादि गुणों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। भवप्रत्यय वाले परमावधि, सर्वावधि प्राप्त नहीं कर सकते, भले ही द्वादशांग के पाठी हों, इन्द्र भी हों फिर भी प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ पर भवप्रत्यय से देशावधिज्ञान ही प्राप्त हुआ है। इस प्रकार क्षयोपशम की क्षमतानुसार अध्ययन करके प्रयोजनभूत ज्ञान का चयन कर लेना चाहिए अन्यथा ज्ञान का कोई पार नहीं है। वर्तमान समय में एक भी अंग या पूर्व का पूर्णज्ञान नहीं है किन्तु आंशिक रूप में उपलब्ध है।

दृष्टान्त—अमावस्या की रात है, काली घटाएँ छा रही हैं और एक व्यक्ति रास्ते से जा रहा है, २-३ रास्ते आने पर वह सोचता है कि इन २-३ रास्तों में से कौन सा सही रास्ता है? तभी अचानक हल्की-सी बिजली चमकती है। बस उतना चमकना ही पर्याप्त है, उसमें ही वह सही रास्ता देख लेता

है। वैसे ही जितना श्रुतज्ञान हमारे पास है, उसी से हम गन्तव्य तक जा सकते हैं।

उत्थानिका—आगे मनःपर्ययज्ञान को कहते हैं–

विउलमदी पुण णाणं अज्जवणाणं च दुविह मणणाणं।
एदे संजमलद्धी उवओगे अप्पमत्तस्स॥४५॥

अन्वयार्थ—**(पुण)** फिर **(अज्जवणाणं)** ऋजुमतिज्ञान **(च)** और **(विउलमदी णाणं)** विपुलमतिज्ञान **(दुविहं)** यह दो प्रकार का **(मणणाणं)** मनःपर्ययज्ञान होता है **(एदे)** ये दोनों **(अप्पमत्तस)** अप्रमत्त मुनि के **(उवओगे)** उपयोग में **(संजमलद्धी)** संयम के द्वारा प्राप्त होते हैं।

अर्थ— ऋजुमतिज्ञान और विपुलमतिज्ञान यह दो प्रकार का मनःपर्ययज्ञान होता है। ये दोनों अप्रमत्त मुनि के उपयोग में संयम के द्वारा प्राप्त होते हैं।

पर के मन की मूर्त वस्तु को, जाने मनःपर्यय ज्ञानी।
द्विविध भेद ऋजु-विपुलमति हैं, कहते प्रभु अंतर्यामी॥
निर्विकार अप्रमत्त मुनि जब, धरे उपेक्षा संयम को।
तब ही हो उत्पन्न ज्ञान यह, ज्ञानी को मम वंदन हो॥४५॥

व्याख्यान—''**मणणाणं**'' अर्थात् मनःपर्ययज्ञान–ऋजुमति, विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है। जिनके पास संयमासंयम है उन्हें यह प्राप्त नहीं होता। जिनके पास संयमलब्धि स्थान है उन मुनिराजों को ही यह प्राप्त होता है। संयमलब्धि स्थान और उपेक्षा संयम, अप्रमत्त मुनि को प्राप्त होता है बाद में उसका उपयोग छठवें गुणस्थान में होता है, क्षयोपशम भाव १२वें गुणस्थान तक रहता है। गाथा में **अप्रमत्त** शब्द से सप्तम से बारहवें गुणस्थान तक उत्पत्ति की अपेक्षा सम्भव है। उपशमश्रेणी हो या क्षपकश्रेणी हो, प्रयोग करें या न करें, इससे प्रयोजन नहीं, यहाँ तो मात्र इसका उत्पत्ति स्थान बताया है। मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से दूसरे के मनोगत मूर्त वस्तु को प्रत्यक्ष जानते हैं। जो कुछ भी मनोगत चिन्तन होता है वह मूर्त का ही होता है। जैसे–चन्द्रमा को देखते हैं तो आसमान भी देखने में आता है वैसे ही अमूर्त सिद्धपरमेष्ठी का भी चिन्तन क्यों न हो, उनके ज्ञानोपयोग का परिणमन मूर्त रूप रहता है। उनका भावमन हो या द्रव्यमन रूपी रहता है इसीलिए वह विषय बना देता है यह फलितार्थ है। अन्यथा जीव को जान ही नहीं सकेगा क्योंकि वह अरूपी है। अतः उस ज्ञान की परिणति मूर्त रूप में है तभी उसे मूर्त कहा है। अवधिज्ञान जब जीव को विषय बनाता है तब मनः पर्ययज्ञान उसके अनन्तवें भाग को किस रूप में जानेगा? तो जो जीव के मन में चिन्तन चल रहा है वह विचार की अपेक्षा सूक्ष्मता को प्राप्त है। **श्लोकवार्तिक** में भी यही प्रश्न किया कि अवधिज्ञान का विषय मूर्तिक है तो अमूर्तिक जीव कैसे विषय बनेगा? तब उत्तर दिया–वर्तमान बन्धदशा में जीव मूर्तिक है। गुणस्थानातीत सिद्धत्वदशा में अमूर्तिक होगा, संसारदशा में जीव विभावव्यंजन पर्याय सहित है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य का विभाव परिणमन नहीं होता है।

ऋजुमति और विपुलमति ज्ञान में अन्तर—ऋजुमति ज्ञानी दूसरे के मन या मनगत सरल विषय को जानते हैं, विपुलमति ज्ञानी वक्र विचारों को भी जान लेते हैं, निर्विकार चरमशरीरी मुनि को ही विपुलमति ज्ञान होता है। चरमदेह कहने से प्रतिपात अप्रतिपात से कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति का अर्थ है वह किसी भी प्रकार से प्रतिपात को प्राप्त नहीं होगा अर्थात् प्रारम्भ के दो शुक्लध्यान प्रतिपाति हैं। यदि द्वितीय शुक्लध्यान ११वें गुणस्थान में है तो ठीक है किन्तु जिनने ११वें गुणस्थान में द्वितीय शुक्लध्यान माना ही नहीं है, यदि वे प्रतिपात सिद्ध करेंगे तो १२वें गुणस्थान से नीचे गिरना चाहिए क्योंकि यह ध्यान प्रतिपाति है। गुरुओं ने जो आर्ष ग्रन्थों की व्याख्या की है, उसे श्रवण करना चाहिए। **श्री पूज्यपाद महाराज** के अनुसार प्रतिपाति का अर्थ चारित्र विशेष को प्राप्त करके उससे गिरते नहीं हैं। जैसे—ऋजुमति वाले मुनिराज ११वें गुणस्थान में यथाख्यात चारित्र को प्राप्त कर नीचे आ गए, यह प्रतिपात माना जाता है। मनः पर्यय ज्ञानी की मृत्यु नहीं होती ऐसा नहीं कहा, और वे नियम से क्षपक श्रेणी ही चढ़ते हैं ऐसा भी नहीं कहा। अप्रतिपात का अर्थ ''मरणाभाव'' ऐसा निकालते हैं तो ये तद्भव मोक्षगामी चरमदेही जीव को होता है ये निश्चित है किन्तु विपुलमति ज्ञान तद्भव मोक्षगामी चरमदेह वालों को ही होता है ऐसा उन्होंने नियम नहीं बनाया। और विपुलमति ज्ञान वाले नियम से क्षपकश्रेणी ही चढ़ते हैं ऐसा भी नहीं कहा। हाँ, उपशम श्रेणी नहीं चढ़ेंगे। जब चढ़ेंगे नहीं तो उतरेंगे कैसे? यहाँ यह निषेध किया है कि चढ़कर के उतरते नहीं। यदि तद्भव मोक्षगामी चरमदेही नहीं हैं तो वे श्रेणी ही नहीं चढ़ेंगे, उन्हें उसी भव में मोक्ष नहीं पाना है तो मरण कर जायेंगे लेकिन वे अपने जीवन काल में गिरेंगे नहीं यह नियम विपुलमति ज्ञान वालों के लिए है, ऋजुमति ज्ञान वालों के लिए नहीं।

ऋजुमति ज्ञानी नियम से प्रतिपाति ही हैं ऐसा अर्थ भी नहीं लगाना, क्षपकश्रेणी भी चढ़ सकते हैं किन्तु विपुलमति ज्ञानी चढ़कर उतरते नहीं यह निश्चित है। द्वितीय शुक्लध्यान एक मान्यतानुसार ११वें गुणस्थान में भी होता है। उनके अनुसार द्वितीय शुक्लध्यान प्रतिपाति सिद्ध हो जायेगा लेकिन १२वें गुणस्थान में द्वितीय शुक्लध्यान मानने वालों की अपेक्षा प्रतिपाति नहीं होगा। दोनों मनःपर्ययज्ञान संयम में ही उत्पन्न होते हैं, परमावधि और सर्वावधि ज्ञान भी श्री पूज्यपाद आचार्य के अनुसार संयम होने पर विशुद्ध परिणामों से ही होता है। विशुद्ध परिणाम का अर्थ रत्नत्रय के साथ-साथ वीतरागता भी है, वीतरागता भी दो प्रकार की है—बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक। दस प्रकार के धर्म्यध्यान में विराग धर्म्यध्यान माना है। छट्ठे गुणस्थान तक सराग धर्म्यध्यान होता है सप्तम से विराग होता है। १५ प्रमाद से रहित अप्रमत्त मुनि को ही यह उत्पन्न होता है, यह नियम उत्पत्ति का है बाद में प्रमत्त संयत में भी रहता है ऐसा भावार्थ निकालना चाहिए। **राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक** ग्रन्थ में भी यह मनःपर्ययज्ञान संयमलब्धि वालों को ही प्राप्त होता है यही कहा है। उसमें भी वर्धमान चारित्र वाला हो, सप्त ऋद्धियों में से कोई एक ऋद्धि वाला हो। इस प्रकार दुर्लभता दर्शायी है।

उत्थानिका—आगे केवलज्ञान को कहते हैं –

णाणं णेयणिमित्तं केवलणाणं ण होदि सुदणाणं।
णेयं केवलणाणं णाणाणाणं च णत्थि केवलिणो ॥४६॥

अन्वयार्थ—(केवलणाणं) केवलज्ञान **(णेयणिमित्तं)** ज्ञेय के निमित्त से **(ण होदि)** नहीं होता है **(सुदणाणं ण होदि)** न ही श्रुतज्ञान है **(केवलिणो)** केवली भगवान् के **(णाणाणाणं च णत्थि)** ज्ञान अज्ञान की कल्पना नहीं है, उसे **(केवल)** मात्र **(णाणं)** ज्ञान **(णेयं)** जानना योग्य है।

अर्थ—केवलज्ञान ज्ञेय के निमित्त से नहीं होता है और न ही केवलज्ञान श्रुतज्ञान रूप है। केवली भगवान् के ज्ञान अज्ञान की कल्पना नहीं है, उसे केवल (मात्र) ज्ञान जानना।

ज्ञेय निमित्ताधीन नहीं है, क्षायिक केवलज्ञान महा।
वैसे ही श्रुतज्ञान प्रभु ने, ज्ञेय निमित्तक नहीं कहा॥
पूर्णज्ञान अक्रम होने से, ज्ञानाज्ञान विकल्प नहीं।
एक मात्र है शुद्ध ज्ञान ही, मेघ रहित ज्यों दिनकर ही॥४६॥

व्याख्यान—ज्ञेय के निमित्त को लेकर उत्पन्न होने वाले चार ज्ञान का कथन किया। जैसे—**ईहा मतिज्ञान पूर्वकं मनःपर्ययज्ञानम्** कहा। यद्यपि ज्ञान आत्मा में आत्मा से ही उत्पन्न होता है किन्तु ज्ञेय के बिना उत्पन्न नहीं होता। स्व भी ज्ञेय है किन्तु स्व को ही ज्ञेय बनाकर मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता, पर को निमित्त बनाकर उत्पन्न होता है इसीलिए "**ईहा मतिज्ञान पूर्वकं मनःपर्ययज्ञानं**" ईहा पूर्वक ही मनःपर्ययज्ञान होता है। जानने का स्वभाव होकर भी यह ज्ञान बिना निमित्त के नहीं जानता। जिस ज्ञान में इन्द्रियाँ हेतुभूत हैं वे आत्मा के लिए सहयोग प्रदान करती हैं। जैसे—कोई देखने में असमर्थ है तो चश्मा लगाकर लिखता है, देखता है वैसे ही परोक्ष ज्ञान 'ज्ञ' स्वभाव वाला होकर भी ज्ञेय को जानने के लिए समर्थ नहीं है, अतः उसके लिए इन्द्रियादिक हेतु आवश्यक हैं। लेकिन केवलज्ञान ज्ञेय के निमित्त से उत्पन्न नहीं होता, केवलज्ञान होते ही नाना ज्ञान का अभाव होकर एकमात्र यही विशेष ज्ञान शेष रहता है जो बिना किसी की सहायता या निमित्त से होता है। आपका ज्ञान कितना पराश्रित है, कई लोग कहते हैं कि—आत्मा में ही आत्मा का ज्ञान उत्पन्न होता है। अब थोड़ी-सी आँख बन्द करके सोचो 'सोना' यह शब्द सुन लिया इसमें चार मात्रा, दो व्यंजन, दो स्वर हैं, जो सोना शब्द सुना, यह पराश्रित हो गया यही ज्ञेय निमित्त कहलायेगा, समझ में आ रहा है ना! अब सबको भूलकर आत्मा का ध्यान करो, आत्मा कहते ही, "**उपयोगो लक्षणं**" तत्त्वार्थसूत्र सामने आ गया, 'उपयोग' यह चार अक्षर आ गए, तो क्या उपयोग का अर्थ भी सामने आ गया? नहीं, उपयोग का लक्षण आत्मा है यह समझ में आ गया। शब्दों के माध्यम से स्वानुभव प्रत्यक्ष ज्ञान रूप आत्मानुभव हो गया। निर्विकल्प हो गया, यहाँ निर्विकल्प का अर्थ कुछ लोग दर्शनोपयोग लेते हैं जबकि अध्यात्म में कहा

है कि जब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है तब साकार उपयोग पूर्वक ही होती है। मध्य में या निष्ठापन में दर्शनोपयोग आ सकता है। यहाँ निर्विकल्प का अर्थ हर्ष-विषाद से मुक्त होना है। उसमें मैं "ज्ञानवान हूँ" यह विकल्प भी छूट जाए तब कहीं जा करके निर्विकल्प होता है। जानना स्वभावी होकर भी हमारा ज्ञान कितना कमजोर है? सप्तम गुणस्थान तक धर्म्यध्यान कहा है। इसी ध्यान में पार्थिवी आदिक धारणाएँ होती हैं। इसमें भले ही बाहर का सहारा न लें लेकिन यह कल्पना रूप या धारणात्मक होती हैं। **ज्ञानार्णव** में कहा है कि-रूपातीत ध्यान भी रूपातीत नहीं है यह भी एक रूप है जिसे हम वर्तमान में इन्द्रिय से नहीं देख सकते। इसी प्रकार शुद्धोपयोग में भी जान लें किन्तु प्रत्यक्ष केवलज्ञान की अपेक्षा यह भी परोक्ष है। जो इन भूमिकाओं को पार नहीं करके सीधा ज्ञेयातीत, भवातीत होने की बात करते हैं, वे पवित्र भावों से अतीत अवश्य हो जाते हैं अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर पाते हैं। ध्यान प्रक्रिया में सर्वप्रथम ध्याता का स्वरूप निर्धारण करना आवश्यक है, जिस किसी को ध्यान हो जाए ऐसा नहीं। भले ही बाहर की किताब न खोलो पर अन्तर की किताब खुली है तो निर्विकल्प नहीं है। लोग कहते हैं-

ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय, ढाई अक्षर ही पढ़ना है। तो प्रेम का क्यों पढ़े? "ढाई अक्षर आत्मा का पढ़े सो भगवन् होय" आत्मा आस्था का केन्द्र है, आधार है, आत्मा में ही आस्था है, रास्ता है, रत्नत्रय का आधारभूत है आत्मा। पर का आश्रय लेने की बुरी आदत छोड़ो। अज्ञानी कहता है कि-मैं इसका आदी हो गया हूँ, बाहर में किताब भले ही नहीं खोलते पर किताब को कोश बनाकर भीतर फिट कर दिया है, उसी को खोलते रहते हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** का आम्नाय रूप मुखाग्र पाठ का अर्थ अन्तर्जल्प रूप नहीं है बहिर्जल्प है, किताब को दिमाग में रख लिया और दिमाग का मुख पर आ गया, भीतर गया ही नहीं। जैसे-सम्मोहन शक्ति से खेल दिखाते हैं, हाथ सफाई भी कहते हैं और यह मुख की सफाई है दोनों में अन्तर नहीं है। मिथ्यादृष्टि भी ११ अंग तक का ज्ञान पा लेता है, अपने आपको ज्ञानी मान लेता है लेकिन है यह पराश्रित ही। थोड़ी-सी स्मृति गायब हो जाए तो छटपटाने लगता है, धारणा मिटने से ध्यान कैसे लगाए? ध्यान और धारणा में अन्तर है। समयसार में कहा है कि-११ अंग १४ पूर्व का आलम्बन भी छोड़ो, यद्यपि यह बहुत अन्दर की बात है। नियमसार पढ़ने से ज्ञात हो जाता है कि कौन बहिरात्मा, कौन अन्तरात्मा और कौन परमात्मा है? इससे स्पष्ट होता है कि केवलज्ञान ज्ञेय निमित्तक नहीं, हाँ ज्ञेय उसमें झलकते हैं यह बात अलग है।

केवलज्ञान ज्ञेयाधीन नहीं-"जिसमें ज्ञेय झलकते हैं, वह परमार्थ है और जो ज्ञेय की ओर लुढ़कता है वह परम आर्त है" हमारा ज्ञान पदार्थ की ओर ढुलकता है। झलकन और ढुलकन में बहुत बड़ा अन्तर है। झलकन में उलझन नहीं। आत्मा में शान्ति उछल रही है फिर भी बाहर भागता है। वक्ता तो पराश्रित है पर श्रोता भी पराश्रित है और यदि वक्ता की भी आदत पड़ जाए, भीड़ इकट्ठी करने की, भीड़ में रहने का आदी हो जाए तो वह कमजोरी है, पर के आश्रित होना कमजोरी है। इससे

ज्ञान के निकट नहीं आ पाता, यह स्वभाव नहीं है, बोलना भी एक कमजोरी है। लोग कहते हैं कि– बोले बिना मैं जी नहीं सकता। केवलज्ञान ज्ञेयाधीन नहीं है, प्रत्यक्ष होकर भी वह पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता। शेष चार ज्ञान ज्ञेयाधीन हैं क्योंकि पदार्थ के साथ जुड़कर होते हैं। कोई सीधा लिख लेता है तो कोई स्मरण करके, कोई मुखाग्र करके, कोई बिना लाइन के कागज पर लिखता है लेकिन कागज का आधार तो है ही। चिन्तन भी एक आधार है, केवलज्ञान घट–पटादि के आश्रय से न होकर सीधा अपने आप में होता है। जैसे यह ज्ञेय निमित्तक नहीं, वैसे ही विकल्प से भी उत्पन्न नहीं होता। मति, श्रुतज्ञान इन्द्रियादिक की सहायता से होता है, केवलज्ञान में श्रुत अर्थात् शब्द का आधार अवश्य होता है उस दिव्यध्वनि का आधार लेकर अनेकों को ज्ञान प्राप्त हो जाता है लेकिन केवली स्वयं श्रुतज्ञान से अतीत होते हैं तथा किन्हीं पदार्थों को जानने की अपेक्षा ज्ञान और किन्हीं पदार्थों को न जानने की अपेक्षा अज्ञान हो ऐसा भी ज्ञानाज्ञान केवली को नहीं होता। ''**ज्ञेयार्णवान्तर्गता**'' अनन्त ज्ञेय रूपी समुद्र जिनने पार कर दिये, कुछ भी बचा नहीं। यदि कोई कहे कि सर्वज्ञ ने सब नहीं जाना तो उसने कैसे जाना कि सर्वज्ञ ने सब नहीं जाना। फिर यह प्रश्न उठता है कि कहाँ के सर्वज्ञ ने नहीं जाना, विदेहक्षेत्र वाले ने या कहीं और वाले ने नहीं जाना? यदि वह सब जान रहा है तो स्वयं ही सर्वज्ञ हो जायेगा। कोई पूछे कि सर्वज्ञ पदार्थ के आदि को जानते हैं या नहीं? जब आदि रूप पर्याय है ही नहीं तो कैसे जाने? जो पदार्थ का यथार्थ स्वरूप है वैसा ही जानते हैं। जैसे रिंग वृत्ताकार है इसका कोई आदि अन्त नहीं, वैसे ही आदि, अन्त से रहित ज्ञेय होते हैं। उदाहरण से स्पष्ट हो गया कि मति, श्रुतज्ञानी के पास ज्यादा प्रश्न करने की भी सामर्थ्य नहीं है। गणधर परमेष्ठी के आगे सब चुप हो जाते हैं। आत्मा से विमुख नहीं, सम्मुख होने के लिए, शान्त होने की प्रक्रिया ही अपनानी होती है। मतिश्रुत आदि ज्ञान के जो पाँच भेद कहे हैं वह व्यवहार अपेक्षा से हैं, निश्चय से अखण्ड एक ज्ञान मात्र प्रतिभास रूप आत्मा है। मेघ रहित आदित्य के समान आत्मा है।

उत्थानिका–आगे तीन प्रकार के अज्ञान को कहते हैं–

मिच्छत्ता अण्णाणं अविरदिभावो य भावआवरणा।
णेयं पडुच्च काले तह दुण्णय दुप्पमाणं च ॥४७॥

अन्वयार्थ–(मिच्छत्ता) द्रव्य मिथ्यात्व के उदय से **(अप्पाणं)** ज्ञान, अज्ञान रूप अर्थात् कुमति, कुश्रुत व विभंगज्ञान रूपी होता है **(अवरदिभावो य)** तथा व्रत रहित भाव भी होता है **(भावआवरणा)** इस तरह तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप भाव सम्यग्दर्शन व भावसंयम का आवरणरूप भाव होता है **(तह)** वैसे ही मिथ्यात्व के उदय से **(णेयं पडुच्च काले)** ज्ञेय रूप जीवादि पदार्थों को आश्रय करके तत्त्व विचार के समय में **(दुण्णय दुप्पमाणं च)** सुनय दुर्नय व प्रमाण दु:प्रमाण हो जाता है। यहाँ यह तात्पर्य है कि मिथ्यात्व से विपरीत तत्त्वार्थ का श्रद्धानरूप जो व्यवहार सम्यक्त्व है तथा जो निश्चय सम्यक्त्व का कारण है अथवा जिस व्यवहार सम्यक्त्व का फल निर्विकार शुद्धात्मानुभव रूप

निश्चय सम्यक्त्व है वे दोनों ही व्यवहार और निश्चय ग्रहण करने योग्य हैं।

अर्थ—द्रव्य मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान, अज्ञानरूप अर्थात् कुमति, कुश्रुत व विभंगज्ञान रूप होता है तथा व्रत रहित भाव भी होता है। इस तरह तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप, भाव सम्यग्दर्शन व भाव संयम का आवरण रूप भाव होता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से ज्ञेयरूप जीवादि पदार्थों को आश्रय करके तत्त्व विचार के समय में सुनय, दुर्नय और प्रमाण, दुष्प्रमाण हो जाता है।

द्रव्य रूप मिथ्यात्व उदय से, ज्ञान होय अज्ञान स्वरूप।
व्रत से रहित भाव हो उसके, रहे अज्ञान असंयम रूप॥
तत्त्व विचार काल में भी तो, सुनय कहाता दुर्नय है।
प्रमाण भी दुष्प्रमाण होता, कहे प्रभु जो अक्षय हैं ॥४७॥

मिथ्यात्व का प्रभाव—प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व के साथ अज्ञान और अविरति भी रहेगी। जहाँ यह भाव रहेंगे, वहाँ नय, दुर्नय और प्रमाण, दुष्प्रमाण हो जायेगा। मिथ्यात्व का प्रभाव केवल श्रद्धान पर ही नहीं, बहुत दूर तक पड़ता है। ज्ञान को अज्ञान, नय को दुर्नय और प्रमाण को दुष्प्रमाण बना देता है। **विमलनाथ** प्रभु की स्तुति करते हुए श्री **समन्तभद्रस्वामी** कहते हैं "**य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः**" जो नय परस्पर एक दूसरे को नहीं मानते वे एक दूसरे को नीचे गिराकर मिट जाते हैं। लेकिन सम्यक्त्वदशा में एक दूसरे को चाहते हुये परस्पर उपकारी सिद्ध होते हैं, यह सम्यक्त्व की महिमा है जिससे ज्ञान में भी समीचीनता आ जाती है। नय एक दूसरे के पूरक होने से सुनय और प्रमाण रूप होते हैं। जब दायीं तरफ देखते हैं तब दोनों आँखें उसी तरफ देखती हैं। ऐसा नहीं कि एक दायें, दूसरी बायें देखे। बैलगाड़ी में दो बैल एक ही दिशा में ले जाते हैं। एक पूर्व, दूसरा पश्चिम की ओर ले जाये तो गाड़ी वाहक परेशान हो जायेगा। आपस में बैल मेल नहीं करेंगे तो एक दूसरे को सींग दिखाने लग जायेंगे, फिर तो बैठने वाला ही भय से भाग जायेगा कि कहीं मुझे भी सींग न दिखाने लग जाए। यहाँ पर द्रव्य मिथ्यात्व के उदय से भाव आवरण रूप भाव मिथ्यात्व होता है। मिथ्यात्व के कारण कुमति, कुश्रुत और कुअवधि ज्ञान हो जाता है। केवलज्ञान अज्ञान रूप नहीं होता क्योंकि १३वें गुणस्थान में चार घातिया कर्म नहीं हैं। जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ अविरति, कषाय, प्रमाद, योग अवश्य रहेंगे लेकिन जहाँ मिथ्यात्व नहीं है वहाँ अविरति रह भी सकती है और नहीं भी। यदि प्रमत्त विरत गुणस्थान है तो नहीं रहेगी। अविरति अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान सम्बन्धी तीन प्रकार की है। जहाँ मिथ्यात्व रहेगा वहाँ अनन्तानुबन्धी अवश्य रहेगी।

मिथ्यात्व सम्बन्धी व्याप्ति—श्री विद्यानन्दिजी महाराज का न्याय ग्रन्थ आप्तपरीक्षा है और आप्तमीमांसा श्री समन्तभद्रस्वामी का है। इसमें उन्होंने इस प्रकार की व्याप्ति बताई है कि जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ अविरति निश्चितरूप से रहेगी किन्तु जहाँ पर अविरति है वहाँ पर मिथ्यात्व रह भी

सकता है और नहीं भी। अतः प्रथम गुणस्थान में तो अविरति भाव रहेगा ही, इसका अर्थ है। जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ अज्ञान अवश्य रहेगा, किन्तु जहाँ अज्ञान है वहाँ मिथ्यात्व रह भी सकता है और नहीं भी। तृतीय गुणस्थान में भी अज्ञान है, द्वितीय गुणस्थान में भी अज्ञान है, आगे भी है, पर द्वितीय गुणस्थान में दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियाँ नहीं हैं। इससे स्पष्ट है मिथ्यात्व की व्याप्ति अविरति के साथ नियम से रहेगी, अन्यथा अकलंकदेव प्रथम गुणस्थान में उस अनन्तानुबन्धी की उदीरणा आदि कैसे मानते, जो विसंयोजना करने के बाद भी नीचे आ जाते हैं उनका सत्व बना रहता है। तृतीय गुणस्थान की भाँति पञ्चम गुणस्थान को अलग ही विरताविरत गुणस्थान कहा है। जिस प्रकार प्रभात में न रात है, न दिन है, दिन होने वाला है लेकिन दिन नहीं है, उम्मीदवार है। उसी प्रकार संयमासंयमी भी मुनि होने का पात्र है उम्मीदवार है। "**तत्त्वार्थ श्रद्धानं**" सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा, किन्तु सम्यक्त्व पर आवरण करने वाला मिथ्यात्व है। इस प्रकार भाव मिथ्यात्व रूप भावावरण को स्वीकार किया। मिथ्यात्व के उदय में वस्तु को जानने में प्रमाण, दुष्प्रमाण हो जाता है। जैसे-शराब पीने वाला कोई न्यायाधीश भी क्यों न हो, पीकर न्याय नहीं कर सकता। बहुत अच्छा देश विख्यात गाड़ी चालक ही क्यों न हो, शराब पीकर चलायेगा तो नदी-नाले में गिरा देगा। गाड़ी को ऊपर नहीं, नीचे ही ले जायेगा। उसी प्रकार अच्छा वक्ता भी क्यों न हो, मिथ्यात्व के उदय से नय भी दुर्नय और प्रमाण भी दुष्प्रमाण हो जायेगा।

व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप—निश्चय सम्यक्त्व का कारणभूत व्यवहार सम्यक्त्व है जो कि भाव आवरण से रहित अर्थात् भाव मिथ्यात्व से रहित है तथा भीतर से भाव सम्यक्त्व सहित है। वह व्यवहार सम्यग्दर्शन माना जाता है जो निर्विकल्पसमाधि में प्राप्त निश्चय सम्यग्दर्शन का कारण है। जो व्यवहार सम्यक्त्व को सर्वथा अभूतार्थ ही स्वीकारता है वह आगम के रहस्य को नहीं समझ पायेगा, क्योंकि उसकी धारणा ही ऐसी बनी हुई है कि सम्यग्दर्शन में भेद होता ही नहीं है। जब कभी सम्यग्दर्शन होगा तो निश्चय सम्यग्दर्शन ही होगा, यह विचारधारा ठीक नहीं, क्योंकि भेद प्रवृत्ति में व्यवहार सम्यग्दर्शन ही रहता है, यह आगम का कथन है।

अब जो द्रव्य से गुणों को सर्वथा भिन्न ही मानते हैं उसमें जो दोष आते हैं उनका कथन करते हैं। सोना द्रव्य है और सोने का पीलापन उसका गुण है। यदि कोई कहे कि सोना द्रव्य और उसका पीलापन दो अलग-अलग पुड़िया में बाँधकर लाओ। अब गुण तोले के हिसाब से लाएँ या टन के हिसाब से लाएँ यह भी बता देना चाहिए। सबके घर में सोना है तो क्या सोना और उसका पीलापन अलग-अलग है? और बाद में दोनों को मिलाकर आभरण बनाते हैं? जैसे-दाल-चावल मिलाकर खिचड़ी बनाते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है उसी प्रकार द्रव्य अलग है और गुण अलग है, ऐसा जो लोग मानते हैं उनके लिए दोष दिया जा रहा है। कुछ लोगों की अवधारणा है कि द्रव्य और गुण तो शुद्ध हैं मात्र पर्याय अशुद्ध है।

उत्थानिका—आगे दर्शनोपयोग के भेदों की संज्ञा व स्वरूप कहते हैं–

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं ॥४८॥

अन्वयार्थ—**(दंसणं)** दर्शन **(अवि)** भी **(चक्खुजुदं)** चक्षु सहित **(अवि)** तथा **(अचक्खुजुदं)** अचक्षु सहित **(य)** और **(ओहिणा सहियं)** अवधि सहित **(चावि)** तैसे ही **(अणिधणं)** अंत रहित **(अणंतविसयं)** अनंत को विषय करने वाला **(केवलियं)** केवल सहित [दर्शनोपयोग चार भेद वाला] **(पण्णत्तं)** कहा है।

अर्थ—दर्शन भी चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और अनन्त जिसका विषय है ऐसा अविनाशी केवलदर्शन ऐसे चार भेद वाला कहा है।

चक्षु युक्त दर्शन है पहला, अचक्षुदर्शन दूजा है।
अवधिज्ञान के पूर्व सुनिश्चित, अवधिदर्शन तीजा है॥
अन्त रहित अविनाशी दर्शन, विषय अनन्त बनाता है।
केवलज्ञान साथ हो जिसके, केवलदर्शन चौथा है ॥४८॥

व्याख्यान—दर्शन भी चार भागों में विभाजित है, इसमें चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शन ये तीन तो छद्मस्थ दशा में पाये जाते हैं और एक केवलदर्शन सर्वज्ञ दशा में पाया जाता है। ''**अनिधनमनंतविषयं**'' अनिधन अर्थात् मरण से रहित केवलदर्शन होता है, जो निराकार निर्विकल्प होता है। ''**आकारेण सहितं साकारं सविकल्पं**'' इसे सागार भी कहा है तथा ''**निराकारेण सहितं निर्विकल्पं दर्शनम्**'' दर्शन को अनगार भी कहा है। यहाँ सागार का अर्थ श्रावक और अनगार का अर्थ मुनि नहीं है फिर भी कथञ्चित् यह कह भी सकते हैं क्योंकि श्रावक ज्यादा विकल्प में रहते हैं, मुनि निर्विकल्प हो सकते हैं। समयसार में कहा है कि ''**ज्ञान को दर्शनवत् बनाओ**'' यह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ज्ञान स्वभाव से सविकल्प होते हुए भी निर्विकल्पदशा में दर्शनवत् हो जाता है। यह कौन है? कहाँ से आया? क्यों आया? इस तरह जितने भी विकल्प हैं सब संदेह, समस्या और आकुलता को पैदा करने वाले हैं। इसलिए विस्तार न करो, प्रश्न न उठाओ इससे ज्ञान का विकास भले ही होता हो किन्तु सम्यग्ज्ञान का विनाश भी हो सकता है क्योंकि जितना उलझेंगे उतना ही थकेंगे, फिर एक समय ऐसा भी आयेगा जब मन कहेगा कि इसमें क्या रखा है? अत: ज्ञान को उतना ही विषय दो जिससे दर्शनवत् हो जाए और शुद्धोपयोग में ठहर जाए। यदि ज्ञानोपयोग को दर्शनवत् नहीं बनाया तो निर्विकल्पसमाधि को ग्रन्थों में ही पढ़ते रहेंगे, वह प्राप्त नहीं हो पायेगी। इसीलिए '**दर्शनवत् ज्ञानं क्रियताम्**' ज्ञान को दर्शनवत् करिये। दर्शन के चार भेद हैं। यह आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा अनन्त, अखण्ड, एकदर्शन स्वभाव वाला है कोई भेद नहीं है। भेद कर्मोदय निमित्तक है। चक्षुदर्शनादि का

क्षयोपशम होने से चक्षु इत्यादि से दर्शन का विषय बनेगा किन्तु अमूर्त नहीं, मूर्त ही बनेगा। समयसार में व्यवहार से भगवान् की स्तुति की गई है कि–५०० धनुष के हैं, समवसरण में १२ सभाएँ हैं, गन्धकुटी में कमल के ऊपर सिंहासन पर विराजित हैं, हेमवर्ण वाले हैं इत्यादि सब व्यवहारनय का विषय है। वास्तव में तो भगवान् अनन्तचतुष्टय गुणों से युक्त हैं जो आँखों से देखने में नहीं आते। अनन्तचतुष्टय के प्रतीक रूप में यह वर्ण मान लिए हैं जैसे अनन्तज्ञान का सफेद, अनन्तवीर्य का लाल, अनन्तसुख का हरा, किन्तु दर्शन कलरलेस या रंगहीन है। चक्षुदर्शन में भी यदि कलर लायेंगे तो यह चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञान हो जायेगा। **द्वौ कुन्देन्दुतुषार हार धवलौ** अथवा **यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं** यह सब व्यवहार की अपेक्षा भक्ति है। निश्चय की अपेक्षा **ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं** जो ज्ञान प्रभु में प्रकाश को प्राप्त हो रहा है वैसा अन्यत्र नहीं है। प्रभु को मणि व अन्य ज्ञानधारक देवों की काँच से तुलना की है।

ज्ञान और दर्शन में अन्तर– ज्ञान और दर्शन में बहुत अन्तर है। दर्शन **''णेव कट्टुमायारं''** आकार को ग्रहण नहीं करता। इसमें रूप, रस, गन्ध आदि भेद नहीं रहता। इसलिए पहले निर्विकल्प दर्शन को स्वीकारा है। **श्री वीरसेन जी महाराज** का कहना है कि **''परग्राही ज्ञानं, स्वग्राही दर्शनं''** जबकि यहाँ पर **श्री जयसेन महाराज** कह रहे हैं कि बाहर में जो इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है उससे पूर्व जो सामान्य अवलोकन होता है वह दर्शन के माध्यम से होता है। आँख के द्वारा जो रूप का ज्ञान होता है उससे पहले चक्षुदर्शन होता है। आँख खुलने मात्र का नाम रूप ज्ञान नहीं है। जब आँख खुलने के बाद विषय-विषयी सन्निपात हो जाता है अर्थात् देखने वाला और दिखने वाले पदार्थों में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो अन्तर्मुहूर्त तक चलता है तथा स्पर्शादि से रहित होता है, उस समय दर्शन होता है। किन्तु दर्शन में बाहरी द्रव्य को विषय बनाया गया है यह जो कहा है, यही आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, आचार्य श्री समन्तभद्र महाराज, आचार्य श्री अकलंकदेव, आचार्य श्री विद्यानन्दिजी एवं पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य आदि सभी महाराज का कहना है। एकमात्र श्री वीरसेन जी महाराज जो श्री धवल-श्री जयधवलकार हैं, वे केवल जो आत्मा को ही ग्रहण करे सो दर्शन ऐसा मानते हैं। यदि दर्शन भीतर रह जायेगा तो ज्ञान वहाँ पर कुछ काम नहीं कर सकेगा क्योंकि दर्शन पहले होता है। दर्शन भीतर ही रह गया तो ऐसी स्थिति में सामान्य अवलोकन किए बिना ज्ञान हो ही नहीं सकेगा। यह दोष दिखने के बावजूद भी श्री वीरसेनस्वामी यह सिद्धान्त मानते हैं। यह विषय कहाँ से लाये? यह ज्ञात नहीं होता। संभवतः श्री सिद्धसेनगणी आदि हुए हैं उनका भी यह भाव प्रतीत होता है जो प्राचीन परम्परागत है किन्तु वह श्वेताम्बर आम्नाय में होता है। स्पष्ट यह हुआ कि चक्षुदर्शन में पेन्सिल विषय नहीं बनती, यह तो नेत्रेन्द्रिय के ज्ञान का विषय है, चक्षुदर्शन का नहीं। जहाँ रंग, आकार कुछ न दिखे वह दर्शन है, इसमें कोई पहचान नहीं होती। धुँधले-धुँधले ज्ञान से भी पहले दर्शन होता है। जब निद्राकर्म का उदय रहता है तो पूछते हैं-सुन रहे हो कि नहीं? हओ। सुन रहे हो कि नहीं?

हओ। फिर पूछते हैं-सो रहे हो कि नहीं? ऐसे ही ज्ञान से पूर्व की भूमिका में यह काम होता रहता है, जो ज्ञान का विषय नहीं बनता। चक्षु इन्द्रिय के अलावा शेष इन्द्रियाँ और जो मन है, उसके ज्ञान से पूर्व जो सामान्य अवलोकन होता है वह अचक्षुदर्शन है। अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर यदि दर्शन को आत्मग्राही ही माने तो बाहर में मूर्त वस्तु के ज्ञान से पूर्व अवधिदर्शन कैसे विषय बनेगा? क्योंकि भीतर तो आत्मा का ज्ञान होगा जो मूर्त तो है नहीं जबकि अवधिदर्शनावरण के क्षयोपशम के आधार पर ही अवधिज्ञान होता है। जो विषय अवधिदर्शन का बना था उसी को माध्यम बनाकर के अवधिज्ञान होगा। यदि ऐसा न माने तो अवधिज्ञान के समय पदार्थ का डायरेक्ट ज्ञान हो जायेगा क्योंकि दर्शन तो आत्मग्राही माना है। फिर तो केवलदर्शन भी अपनी आत्मा को ही देखेगा और उसी समय केवलज्ञान आत्मा सहित तीन लोक को भी जानेगा। तीन लोक को जानने का श्रेय तो ज्ञान को होगा लेकिन तीन लोक को देखने का श्रेय दर्शन को नहीं होने से 'सर्वदर्शी' विशेषण नहीं लग सकेगा।

व्यवहार और निश्चयनय की विवक्षा से श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने उपयोग द्वारा जो स्पष्टीकरण किया है अन्यत्र कहीं भी ऐसा सुन्दर विश्लेषण अन्य आचार्यों ने नहीं किया। यदि किया है तो इन्हीं का अनुकरण करके किया है। आचार्य श्री अकलंकदेव ने भी राजवार्तिक में इसे नहीं स्वीकारा है और अष्टसहस्री से पूर्व लिखी गई अष्टशती जो ८०० श्लोक प्रमाण है, उसमें भी कुछ नहीं कहा। इससे स्पष्ट है कि न्यायकारों ने इसे नहीं स्वीकारा। जीवद्रव्य स्वभावापेक्षा अमूर्त है। यह श्रुतज्ञान की अपेक्षा श्रद्धान हो जाता है। जैसा भगवान् ने कहा उसे स्वीकार लिया, यही तो जिनवाणी का ज्ञान हो गया। लेकिन यह उधार ज्ञान है, अपना नहीं, दूसरों का है। जीवद्रव्य एकान्त से अमूर्त नहीं है, **''न मूर्तः इति अमूर्तः''** अथवा **''ईषत् मूर्तः अमूर्तः''**। तीन लोक और तीन काल सम्बन्धी ज्ञान भी दर्शन के द्वारा ही होता है। केवलदर्शनावरण के क्षय होने से तीन काल और तीन लोक सम्बन्धी जो भी वस्तुएँ हैं उनकी सामान्य सत्ता को एकसमय में जो देखता है उसका नाम अनिधन-अनन्त विषय वाला स्वाभाविक केवलदर्शन है। इस प्रकार चार दर्शन का वर्णन किया। केवलदर्शन के साथ अविनाभाव रखने वाला अनन्तगुणों का आधारभूत शुद्ध जीवास्तिकाय ही उपादेय है यह अभिप्राय है।

उत्थानिका—दर्शनोपयोग व ज्ञानोपयोग के १२ भेद बताये हैं। जितने ज्ञान के भेद बताये उतने ही ज्ञानी के भेद होना चाहिए। ऐसा पूछने पर कहते हैं—

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहिं ॥४९॥

अन्वयार्थ—(णाणी) ज्ञानी आत्मा **(णाणादो)** ज्ञान गुण से **(ण वियप्पदि)** भिन्न नहीं किया जा सकता है, पृथक् नहीं किया जा सकता है तथा **(णाणाणि)** ज्ञान **(णेगाणि)** अनेक प्रकार [मति आदि रूप से] **(होंति)** होते हैं। **(तम्हा दु)** इसीलिये ही **(णाणीहिं)** [हेय उपादेय तत्त्व के विचार करने वाले] ज्ञानियों के द्वारा **(विस्सरूवं)** नानारूप **(दवियत्ति)** जीव द्रव्य है ऐसा **(भणियं)** कहा गया है।

अर्थ—ज्ञान से ज्ञानी का भेद नहीं किया जाता तथापि ज्ञान के मति आदि अनेक भेद हैं। इसीलिए हेय-उपादेय तत्त्व के विचारक ज्ञानियों ने द्रव्य को कथञ्चित् भेद-अभेदरूप अर्थात् विश्वरूप कहा है।

ज्ञानी ज्ञान से भिन्न नहीं है, जहाँ गुणी वहँ गुण रहते।
तदपि एक ही ज्ञान नहीं है, अनेक ज्ञान प्रभु कहते ॥
ज्ञानीजन भी अतः द्रव्य को, विश्वरूप है यह कहते।
सकल विश्व के ज्ञायक प्रभु को, तीन योग से हम नमते ॥४९॥

व्याख्यान—जितने ज्ञान के विकल्प हैं, उतने ही ज्ञानी होना चाहिए। जैसे-दो हाथ, दो पैर, दो आँख आदि होने से उतने ही उसको देखने वाले भी होना चाहिए, यह युक्ति देता है। कई बार एक होकर भी दो जैसे लगते हैं। कौआ की देखने की आँख रूपी दो खिड़की होने पर भी मण्डल एक ही रहता है। जैसे एक ही सूर्य कभी दक्षिणायन, कभी उत्तरायण होता रहता है। पूछने वाला कहता है कि-जितनी आँखें उतने व्यक्ति होना चाहिए। तो कहते हैं- चाहे अनेक निगाहें हों या अनेक ज्ञान हों किन्तु जानने-देखने वाला उससे पृथक् नहीं रहेगा, एक ही रहेगा। वैरायटी होने के कारण उपयोग करने वाला भी उतना ही हो, ऐसा नहीं। इसी कारण विचारों में भेद-भिन्नता होने से अनेक प्रकार के मत-मतान्तर खड़े हो जाते हैं। मत-मतान्तर बना तो देते हैं फिर उससे हटना मुश्किल हो जाता है क्योंकि प्रश्न और उत्तर दोनों से भी मोह हो जाता है। इसी से मत-मतान्तर हो जाते हैं। एक बार कह दिया तो सिद्ध करके ही रहते हैं यह ठीक नहीं है, यदि आगमानुसार कहें तो ठीक है। "**नाना जीवाः नाना कम्माः**" कहकर श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने समाधान किया। द्रव्य को कथञ्चित् विश्वरूप कहा। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञानी अलग-अलग हैं। इनके भेदोपभेद वाले भी अलग हैं तथा केवलज्ञानी भी अलग हैं। इस युक्ति के द्वारा द्रव्य विश्वरूप या अनेक रूप हो जाता है ऐसा कहा, लेकिन एकवचन द्रव्य के लिए कहा। कुछ लोग इस रहस्य को नहीं समझने के कारण कहते हैं कि क्रोध तो जड़ है। अब मान लिया कि क्रोध जड़ है तो क्रोध, क्रोध ही होता है या कोई और, आप सुन रहे हैं? थोड़ा-सा घुमा फिराकर पूछ रहे हैं, सुनलो। अब क्रोध ही क्रोधी बनेगा, मान ही मानी, माया ही मायावी और लोभ ही लोभी बनेगा या कोई और बनेगा? यह रहस्य की बात है। क्रोध यद्यपि जड़ है लेकिन जड़ के उदय में जड़ नहीं, चेतना क्रोधी होती है। जब बन्ध हो जाता है तो अनन्यवत् एकमेक हो जाता है।

जैसे कोई नशीली वस्तु खा लेता है तो नशा करने वाला नाचता है, नशीली वस्तु जिस शीशी में है वह नहीं नाचती। शराबी के प्राणों तक वह पहुँच जाती है। प्राण तो जड़ है और जड़ को नाचना नहीं चाहिए लेकिन जड़ ही नाचता है आत्मा नहीं। उस वक्त यदि पुलिस को देख ले तो सीधा हो जाता है। उसी प्रकार ऊपरी बाधा किसी को हो जाए तो भीड़ देखकर नाचने लगता है और यदि कोठरी

में बन्द कर दें तो शान्त बैठ जाता है। भूत भी भीड़ से प्रभावित होता है। इसी प्रकार जीव के क्रोधादि कर्म यदि सत्ता में हैं तो क्रोधी नहीं बनाते। जेब में पैसा हो तो यह ले लूँ, वह ले लूँ ऐसा मन करता है किन्तु बैंक में पैसा हो तो हस्ताक्षर करने पड़ते हैं, पता आदि लिखने पर ही पैसा निकल सकता है अर्थात् सत्ता के कर्म अज्ञानी नहीं बनाते। यदि हाथ में नशीली चीज रखी है तो कुछ असर नहीं करती। देखने से कुछ प्रभाव पड़ सकता है, पर सूँघने से विशेष प्रभाव पड़ता है। देखने से विषय-विषयी सन्निपात होने से अनेक कार्य घटित होने लगते हैं। अनन्य हो जाता है अर्थात् क्रोध के उदय में मानी, मायावी या लोभी नहीं बनता। एक समय में उदय एक का रहता है परन्तु बन्ध चारों का होता रहता है। जैसे-अनन्तानुबन्धी क्रोध का उदय आया तो क्रोध का ही अनुभव करेगा, मानादि उदय में नहीं हैं तो उनका अनुभव नहीं करेगा किन्तु बन्ध चारों का होता रहता है। कषायोदय में संसारी प्राणी गाफिल रहता है, समझ नहीं पाता। मान को कोई कषाय मानता ही नहीं। स्तब्ध बैठ जाता है, स्तब्ध अर्थात् गुमसुम रहना। इससे भी लोग प्रभावित हो जाते हैं। क्रोध से तो क्षुब्ध हो जाते हैं, सभा भङ्ग हो जाती है जबकि ये दोनों द्वेष के प्रतीक हैं। मान एकान्त में नहीं आता, यह भी सयाना है दूसरों को देखने से आता है। कहीं बाहर जाते हैं तो आभूषण वगैरह पहनते हैं, यद्यपि आभूषण पहनते तो भीतर से हैं लेकिन सबको दिखना चाहिए इसलिए कॉलर हटाकर बाहर कर लेते हैं। ऐसा करते हो तभी तो मैं कह रहा हूँ। बहुत कुछ चीजें ऐसी हैं जो स्वयं के लिए नहीं दूसरों को दिखाने के लिए होती हैं फिर भी स्वयं कषायों का रस तो लेता ही है। स्वयं के कर्मोदय से क्रोधी, मानी आदि होता है, मात्र जानने से नहीं। यदि जानने मात्र से हो जाए तो अरहंत परमेष्ठी को सबसे ज्यादा कषाय हो जायेगी। इस प्रकार कर्मों का बन्ध जीव के साथ एकमेकता को लेकर होता है।

कर्मोदय में कषायों से बचने का प्रयास—ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म के उदय से ज्ञान और दर्शन में भेद हो जाता है किन्तु ज्ञाता-दृष्टा तो एक ही रहता है। जीवद्रव्य विश्वरूप नहीं होता, उपयोग की अपेक्षा से भी एक समय में एकरूप ही रहता है क्योंकि जब मतिज्ञान होता है तो श्रुतज्ञान काम नहीं करता, श्रुतज्ञान होता है तो अवधिज्ञान काम नहीं करता। उसी प्रकार दर्शन भी एकसाथ नहीं होंगे क्योंकि जो स्वामी है वह एकसाथ अनुभव नहीं कर सकता। जैसे-क्रोध का उदय है और बेहोशी में है तो क्रोध का उदय रहते हुए भी क्रोधी नहीं रहते। उसी प्रकार **जब आत्मा में खो जाओगे, दुनिया से सो जाओगे तो क्रोधी नहीं बनोगे।** पर के कारण जीव कषायी नहीं होता बल्कि स्वयं उस ओर उपयोग ले जाने से क्रोधी, मानी आदि हो जाता है। सन्त इस कला को जानते हैं अतः वे स्वयं में खो जाते हैं, सो जाते हैं। यहाँ रजाई ओढ़कर सोने का तात्पर्य नहीं है। रईस लोग विकल्पों से मुक्त होने के लिए नशीली चीजों का सेवन कर लेते हैं तो क्या उनका कर्म बन्ध रुक जाता है? नहीं। कर्मोदय में भी आत्मा जाननहारा रहे तो क्रोधादि कषायों का नशा नहीं चढ़ सकता। कषायों से किनारा कर दो, कर्म चला करके स्वयं चिपकने वाले नहीं हैं। अच्छे-अच्छे साधक भी कषाय के कारण बर्बाद

हो जाते हैं। जैसे–पित्त की थैली में पित्त रहता है जिसके कारण जो भोजन किया है उसका पाचन होता रहता है। पित्त की थैली में स्टॉक में भी काफी पित्त भरा रहता है फिर भी स्वस्थ रहता है किन्तु पित्त कुपित हो जाए तो भीतर भोजन जाते ही उल्टा देता है। कषाय भी कुपित पित्त की भाँति है। जैसे उखड़ा पित्त भयानक होता है वैसे ही कषाय उखड़ती है तो दूसरों को भी खोद-खोद कर याद करके उखाड़ देती है। चाहे बाजार में घूम रहा हो, चाहे कोने में बैठा हो कषाय कहीं भी उखड़ सकती है। हाथी खम्भे से बँधा हुआ रहता है तब वह '**स्तम्भेरमः**' यूँ-यूँ करके उसे उखाड़ने का प्रयास करता है किन्तु महावत उसे उखाड़ने नहीं देता, वैसे ही ज्ञानीजन कषायरूपी पित्त को स्वस्थ रखते हैं क्योंकि पित्त भोजन पचाने में सहायक है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव कषायों को उदय में लाकर उनका समूह का समूह निर्जरित कर देते हैं, उदय से प्रभावित नहीं होते। ज्ञानी की यही कला है। मोक्षमार्ग में नकल करने में भी कोई बाधा नहीं। आदिनाथ, शान्तिनाथ, महावीर भगवान् किसी की भी नकल करके पास हो जाओ, प्रमाणपत्र मिल जायेगा किन्तु आजकल बच्चे न पढ़ना चाहते हैं और न ही उनमें नकल करने की योग्यता है। ऊधम के अलावा कुछ करना नहीं चाहते। यदि उन्हें ५०० पृष्ठ की पुस्तक भी दे दो तो कौन से पृष्ठ पर उत्तर है यह नकल करना और कठिन है इसलिए नकल में भी अकल का उपयोग करो।

कर्म निर्जरा की दुर्लभता–किसी से प्रभावित होकर देख-देख करके बोधितबुद्ध और प्रत्येकबुद्ध तो हो जाते हैं, किन्तु स्वयंबुद्ध को किसी से कोई मतलब नहीं। पढ़ते वक्त ऐसा लगता है कि हम क्रोधादि कषायों को बिल्कुल जीत लेंगे किन्तु जब पेपर देने बैठ जाते हैं, तब लगता है कितना कठिन पेपर है, घबराने लगते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में होने वाले काम में आदिनाथ भगवान् को एक हजार वर्ष लग गये। "हम होते तो झट कर देते" यह बोलना बहुत आसान है किन्तु करना बहुत ही कठिन है। कर्म निर्जरा करना बहुत कठिन है। जो आजतक नहीं हो पाया, बात समझ में आ रही है? (सभी सिर हिलाते हुए–हाँ) आत्मा कभी क्रोधी भी हो जाती है तो कभी ज्ञानी भी, किन्तु क्रोध कभी भी क्रोधी नहीं होता।

ज्ञानी से ज्ञान को पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि यहाँ भेद नहीं कर सकते तो ज्ञान भी बहुत सारे न होकर एक ही होना चाहिए? नहीं, क्योंकि ज्ञानादि अनेक होने से जीवद्रव्य, विश्वरूप या नानारूप 'हेयोपादेय तत्त्वस्थ' सर्वज्ञ द्वारा कहा है। एक ही अस्तित्व से युक्त होने के कारण जीव एकद्रव्य है। मानलो किसी ने एक ही कपड़े की ड्रेस बनवायी, यहाँ एक ही कपड़े का अर्थ बहुत लम्बा-चौड़ा है। उसी प्रकार आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हुए भी क्षेत्र की अपेक्षा से कहा वह बीच में खण्डित नहीं अखण्ड है। एक साथ से ही इसका अस्तित्व है अर्थात् अनादि से है। जैसे–रूप, रस आदि गुण युक्त परमाणु है उसमें से रूप को हटा दें या गन्ध को हटा दें, ऐसा नहीं कर सकते। उसी प्रकार अखण्ड आत्मतत्त्व में कुछ ही आत्मप्रदेशों में चेतनता हो और कुछ में न हो, ऐसा नहीं। आज

का विज्ञान कहता है कि आपके शरीर का यह भाग क्रियान्वित नहीं है। वहाँ क्रियावती शक्ति न होने से निष्क्रिय है लेकिन आत्मा जहाँ है वहाँ चैतन्य अवश्य रहेगा। लोकाकाश के बराबर अर्थात् असंख्यातप्रदेश युक्त होने से भी समवाय घटित कर जीव को एकक्षेत्र माना जाता है। जैसे–लोकाकाश का प्रमाण एकरूप है वैसे ही असंख्यप्रदेश का आत्मा एक पिण्ड है। शुद्ध जीवास्तिकाय की अपेक्षा शुद्ध एक अस्तित्व से निर्वृत्त होने से एक द्रव्य है। इसमें किसी अन्य द्रव्य का समावेश नहीं है। एक स्थान पर **समयसार** में कहा है कि–सत्तागत कर्म सम्यग्दृष्टि के कैसे हैं? तो जैसे मिट्टी की ढेली दीवार पर चिपकी रहती है, उदय में आने के उपरान्त भी उसमें वह स्निग्धत्व और रूक्षत्व न रहने के कारण वैसे ही चले जाते हैं, उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मोक्षमार्ग में यही पुरुषार्थ है। बहुत शक्ति लगाकर फावड़ा चलाने की कोई आवश्यकता नहीं। ज्यादा शक्ति वाले पहलवान होने से उन्हें चैन नहीं पड़ती, दीवार से ही भिड़ जाते हैं। शक्ति का अतिरेक होने से उद्रेक होने लगता है जैसे साईकिल चलाते हैं तो उसमें थोड़ी हवा ज्यादा भर दो तो यूँ-यूँ उछलने लगती है इसलिए अनुपात से ही हवा भरकर साईकिल चलाने से गति अच्छी होगी, अन्यथा मूंग के बराबर भी कंकड़ आने से उछलने लग जायेगी। ऐसे ही बॉलीबॉल, फुटबॉल में भी ज्यादा हवा भर लेने से खेलते-खेलते जल्दी उछल जाती है। इसमें भी जैसे सही हवा का अनुपात न हो तो खिलाड़ी आउट हो जाता है ऐसे ही अज्ञानी जीव में भी क्षायोपशमिक ज्ञान या शक्ति ज्यादा हो जाए तो अनर्थ का कारण हो जाती है।

केवलज्ञानादिक अनन्त गुण एक ही जीव में हैं लेकिन जीव में भेद नहीं होता। जैसे–कञ्चे में लाल, पीला, हरा आदि अनेक रंग होते हुए भी कञ्चा एक ही है। वैसे ही ज्ञानादिक गुण अनेक हैं लेकिन आत्मा तो एक ही है। आजकल भले ही बच्चे कम्प्यूटर से खेल खेलते हों, कञ्चे से न खेलते हों किन्तु उदाहरण तो बिल्कुल सही बैठ गया। आत्मा एक अकेली ही है। अकेले ही शतरंज का खेल खेलो, पक्ष भी स्वयं बनें और विपक्ष भी स्वयं।

उत्थानिका–द्रव्य का गुणों से भिन्नत्व हो और गुणों का द्रव्य से भिन्नत्व हो तो दोष आयेगा ऐसा बताते हैं–

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे।
दव्वाणंतिमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति ॥५०॥

अन्वयार्थ–(जदि) यदि **(दव्वं)** द्रव्य **(गुणदो)** गुण से **(अण्णं)** अन्य **(हवदि)** होवे **(य)** और **(गुणा य)** गुण भी **(दव्वदो)** द्रव्य से **(अण्णं)** भिन्न हो तो **(दव्वाणंतियं)** द्रव्यों के अनंतपने को करते हैं **(अधवा)** अथवा **(दव्वाभावं)** द्रव्य से पृथक् रहने वाले गुण द्रव्य के नाश को **(पकुव्वंति)** करते हैं।

अर्थ–यदि द्रव्य गुणों से अन्य होवे और गुण भी द्रव्य से भिन्न हों तो द्रव्य के अनन्तपने का अथवा द्रव्य के नाश का प्रसंग आयेगा।

यदि सर्वथा द्रव्य गुणों से, अन्य कहें तो दूषण हो।
निराधार गुण माने यदि तो, एक द्रव्य भी अनन्त हो॥
यदि माने गुण भिन्न द्रव्य से, दोष सर्वथा में आता।
द्रव्यों का ही अभाव होता, यह मत सदोष कहलाता ॥५०॥

व्याख्यान—यदि द्रव्य को गुण से और गुण को द्रव्य से सर्वथा भिन्न अर्थात् प्रदेशों से भिन्न मानते हैं तो एक द्रव्य के अनन्त द्रव्य हो जायेंगे या गुण अलग होने से द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा। जैसे–किसी को पहचान के लिए अपना पता देते हैं तब मात्र जबलपुर नहीं बोलते क्योंकि जबलपुर तो बहुत बड़ा है। तब उसमें स्थित लार्डगंज, शिवनगर, हनुमानताल, कमानियागेट, मढ़िया, तिलवारा आदि में किसी एक स्थान को बताते हैं। उसमें भी गली, मकान नम्बर आदि होते हैं। अब तो मोबाइल नम्बर पर फोन करने से अमेरिका में रहो या कहीं भी रहो, बात हो जायेगी, अपना स्थान पता बताने की आवश्यकता ही नहीं है। वह कहेगा कि मैं जबलपुर मढ़ियाजी से बोल रहा हूँ तो वह समझ लेगा। कभी-कभी तो पास के कमरे से बोलते हैं और कहता है–दिल्ली से बोल रहा हूँ। जिस प्रकार बिना सही पते के सही ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार गुण के बिना भी द्रव्य की पहचान नहीं हो सकती। बाहरी तौर पर हिन्दी, मराठी, कन्नड़ आदि भाषाओं से पहचान कर मित्रता बन जाती है फिर शरीर की ऊँचाई आदि से पहचान होती है। उसमें भी गोरा है, साँवला है अर्थात् एकदम काला नहीं। जैसे–पनागर क्षेत्र में प्रवेश करते ही सॉवले रंग के पार्श्वनाथ भगवान् के दर्शन हो जाते हैं। वह एकदम काले नहीं है इसीलिए साँवलिया पार्श्वनाथ प्रसिद्ध हैं। "**तमाल-नीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः, प्रकीर्ण भीमाशनिवायु वृष्टिभिः**" तमाल वृक्ष (केले का वृक्ष) के समान हरा रंग होता है लेकिन वह भी साँवलापन लिए हुए होता है। इसी तरह मोर के कण्ठ जैसा नीलापन अलग होता है। यह सब व्यवहार पहचान के लिए है।

द्रव्य गुण से और गुण द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं—द्रव्य को गुण से पृथक् मानने पर एक द्रव्य में अनन्त गुण होने से द्रव्य से अनन्तगुणे गुण हो जायेंगे और द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा। जितने गुण हैं वही द्रव्य बन जायेंगे अर्थात् द्रव्य अनन्त बन जायेंगे, ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या गुण बिना आश्रय के रह सकते हैं? यदि रहते हैं तो गुणों को खरीद कर ले आओ। इतने रुपये नहीं हैं तभी तो खरीद नहीं रहे हो। "**द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः**" ऐसा कहा है अर्थात् द्रव्य के आश्रित गुण होते हैं। लौकिक जन द्रव्य का अर्थ रुपया-पैसा लगाते हैं और अर्थ निकालते हैं कि रुपये के आश्रय से निर्गुणी भी गुणी माने जाते हैं। आश्रय का तात्पर्य यह भी है कि अनन्तज्ञानादिक गुण शुद्धात्मद्रव्य के आश्रित रहते हैं। यदि द्रव्य से गुण सर्वथा पृथक् मानेंगे तो गुण के बराबर द्रव्य अनन्त हो जायेंगे क्योंकि बिना आश्रय के गुण रह नहीं सकते। वह द्रव्य ही कहे जायेंगे और बिना गुण के द्रव्य हो नहीं सकता।

ऐसा कोई पुद्गल ले आओ जिसमें रूप रसादि गुण न हों, तो सर्वथा भेद मानने से जो पहले दोष दिये थे वह सब उपस्थित हो जायेंगे। स्वर्ण को कसौटी पर कसते समय एक लकीर खींचकर निर्धारण करते हैं कि इसमें कितना सोना है, कितना बट्टा है? इसी प्रकार व्यक्ति की भी उसके व्यवहार और वचन से परीक्षा होती है और नम्बर दिये जाते हैं, दक्षिण में नम्बर को गुण कहते हैं। ज्ञान का तारतम्य इन्हीं नम्बरों या गुणों के माध्यम से आँका जाता है। सुनाई दे रहा है? यद्यपि वर्षा जोर से हो रही है फिर भी अध्यात्म ग्रन्थ की बात सबके कानों तक पहुँच जाए इसीलिए जोर से बोलने का प्रयास कर रहा हूँ। आकाश द्रव्य के अवगाहना गुण से जितने भी व्यक्ति मण्डप में हैं वे अभी मण्डप को छोड़कर अन्यत्र जा नहीं सकते। जिस तरह द्रव्य को छोड़कर गुण कहीं नहीं जा सकते। व्यक्ति में 'त्व' प्रत्यय लगने से धर्म या गुण का प्रतीक व्यक्तित्व बन जाता है।

द्रव्य और गुण अभिन्न प्रदेशी—द्रव्य और गुण के प्रदेश अभिन्न हैं। चालनी से जैसे छानकर आटा नीचे और चापर ऊपर रह जाता है उसी प्रकार गुण छनकर निकलते नहीं हैं। भगोनी में दूध रखने पर बिल्कुल बाहर नहीं आता। यह बात अलग है कि उसमें २ लीटर दूध रखने की क्षमता है और आप ४ लीटर भरोगे तो बाहर तो आयेगा, पर छेद करके नहीं आता। उसी प्रकार जितने द्रव्य के प्रदेश हैं उतने ही प्रदेश में गुण व्याप्त होकर रहते हैं। २ इंच लम्बा-चौड़ा और आधा इंच मोटा सोने का बिस्कुट है, उसे कहीं से भी देखो पीलापन सर्वत्र एक-सा ही दिखेगा, जितना द्रव्य का आकार है। इसी प्रकार जितना आत्मद्रव्य का आकार है उतना ही गुण का आकार है। ठण्डे पानी के ग्लास में जहाँ कहीं भी ऊपर-नीचे, आजू-बाजू अंगुली डालें तो ठण्डक ही मिलेगी। आत्मा के प्रदेश जितने में फैले हैं उतने में ज्ञान गुण फैल गया, वहीं दर्शन गुण, चारित्रादि अनन्त गुण व्याप्त हैं। जैसे-स्फटिक मणि के सामने गुलाब का फूल रख देने पर पारदर्शी होने से वह मणि उस रूप की दिखने लगती है। यदि लालरंग का गुलाब स्फटिक के ही आकार का रख दो तो स्फटिक अब और अधिक लाल दिखने लगेगा, वैसे ही आत्मद्रव्य में अनन्त गुण हैं किन्तु एक कोने में ज्ञानगुण और दूसरे कोने में दर्शनगुण रहता हो ऐसा नहीं, सब मिलकर रहते हैं फिर भी गुण, गुण के आश्रय नहीं द्रव्य के आश्रय से रहते हैं। सारे गुण एकसाथ हैं, सबका द्रव्य पर समान अधिकार है, कोई अलग नहीं होता और न ही किसी गुण को अलग करने का अधिकार है। द्रव्य कभी नहीं कहता कि ज्ञान गुण तुम रह जाओ, दर्शन आदि गुण अलग हो जाओ, तुम्हारा कुछ काम नहीं है। यह द्रव्य की रहस्यपूर्ण व्यवस्था है।

द्रव्य-गुण-पर्याय की पृथकता के सम्बन्ध में अन्य मतियों का निराकरण—अब एकान्त रूप से जो द्रव्य-गुण-पर्याय को पृथक् स्वीकारते हैं उनके लिए कहते हैं कि पहले व्यपदेश अर्थात् निर्देशादिक कहे हैं या जितने भी नाम कहे हैं, वह सब भिन्न-भिन्न हैं, तभी तो उनके नाम हैं। जो कहता है कि प्रत्येक पदार्थ एक-एक शब्द के लिए रूढ़ है तो वहाँ पर्यायवाची शब्द नहीं बन सकता। देव कहने से देव ही आयेगा; इन्द्र, शक्र या पुरन्दर नहीं आ सकते। कई लोगों के अपर नाम रहते हैं, प्यार

का नाम अलग और बाहर का नाम अलग होता है। नैयायिक मत का कहना है कि–जितने भी द्रव्य और गुण हैं वे गुण द्रव्य से पृथक् रहेंगे जबकि जैनमतानुसार गुण द्रव्य से संज्ञा, लक्षण आदि अपेक्षा ही भिन्न हैं सर्वथा नहीं। नाम से, शब्द से, कथन से, आकार–प्रकार, संस्थान इन सबमें व्यवहार आता है, निश्चय में कुछ नहीं। जो कि विकल्पातीत होता है। निर्विकल्प होने की कला निश्चयनय की दृष्टि से आती है। अरहंत परमेष्ठी के शरीर के रंग निश्चयनय में गौण हो जाते हैं। अनन्त चतुष्टय यह शब्द भी गौण हो जाता है। मात्र उस अखण्ड पिण्ड रूप शुद्ध आत्मा की अनन्त चतुष्टय रूप अनुभूति रहती है; जो अद्वैत है, अभिन्न है। अन्यमती कुछ भी कह दें इससे कुछ नहीं होता, आत्मा का स्वरूप ही अलग है। अवगाहना भी देखोगे तो पुनः नामकर्म आ गया। सिद्धप्रभु में जो पहले नामकर्म था उस नामकर्म में शरीर नामकर्म के उदय से प्राप्त अन्तिम शरीर से कुछ कम आत्मा के प्रदेशों का आकार वहाँ पर होता है। उस आकार को नहीं, सिद्धों को निराकार देखो। यहाँ स्थिति ऐसी है कि दर्पण में अपना मुख मत देखो, मात्र दर्पण को देखो। इसमें अपना मुख पहले क्यों दिखता है? इसलिए दिखता है कि दर्पण में मुख देखने की आदत है। हमारा मुख कैसा दिख रहा है? किन्तु हमारा इरादा है दर्पण देखने का। लेकिन दर्पण कौन देखता है? **दर्पण में नहीं, दर्पण को देखो।**

शुद्ध जीवास्तिकाय का रहस्य—केवलज्ञानादि अनन्त गुणों का पिण्ड, लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशी शुद्धात्म तत्त्व है किन्तु पञ्चेन्द्रिय विषयों की लत में पड़ने से आत्मा का आनन्द स्वरूप स्वाद नहीं आ सकता, इन्द्रिय विषयों का ही स्वाद आयेगा। इसके अलावा अज्ञ संसारी प्राणी अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेना जानता ही नहीं। कहने में तो बहुत जल्दी कह देंगे कि इसकी अनुभूति के लिए परिग्रह से ऊपर उठना होता है लेकिन इसके लिए बाह्य परिग्रह मात्र का त्याग करने से ही नहीं, बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होना पड़ता है। इसका अर्थ यह नहीं कि गर्दन यों (ऊपर) की, यों (नीचे अन्दर की ओर) कर ली। इसके लिए शरीर में नहीं, दृष्टि और आस्था में परिवर्तन आवश्यक है। इन्द्रिय विषयों से तथा अतीत के विकल्प और अनागत की योजनाओं के संकल्प से ऊपर उठकर एकमात्र स्वात्म तत्त्व रह जाता है। वही मैं उपादेयभूत शुद्ध जीवास्तिकाय हूँ।

अपनी आत्मा का स्वरूप महान् है उसकी महिमा लाओ। पर के महल की अपेक्षा अपनी ही झोपड़ी अच्छी है। घर का बना व्यञ्जन अच्छा नहीं लगता, बाजार की पैकेट में बन्द डबलरोटी अच्छी लग रही है किन्तु घर की सुबह की रोटी शाम को अच्छी नहीं लगती, बरसों की रोटी डबलरोटी अच्छी लगती है। जो पैरों से बनायी जाती है वह पावभाजी (डबलरोटी) है। उसमें इतने जीवों का स्थान बन चुका है वह अवर्णनीय है। घर में अठपहरी घी की बनी रोटी अच्छी नहीं लगती। आत्म तत्त्व अच्छा नहीं लग रहा है इसका अर्थ बाहर अच्छा लगता है। पर चतुष्टय में परत्व है, परन्तु स्व चतुष्टय में सौभाग्य भरा है।

निश्चय ज्ञान का रहस्य—यदि कोई कह दे कि तुम्हें ध्यान करना नहीं आता है तो गुस्सा नहीं

आना चाहिए। उसे क्या मालूम कि मैं ध्यान कर रहा हूँ या नहीं कर रहा हूँ लेकिन अज्ञानी पहले इसी बात को सिद्ध करना चाहता है कि मुझे ऐसा क्यों कह दिया? लेकिन तुम यदि अपने को आत्मा मानते हो तो कोई तुम्हें कुछ कह ही नहीं सकता क्योंकि वह जो आपकी आलोचना कर रहा है वह आपका स्वरूप है ही नहीं, तुम क्यों अपने ऊपर लेते हो? बिना मान्यता के आप उसका प्रतिकार करने में तत्पर हो ही नहीं सकते। यदि कोई प्रशंसा करता है तो वन्समोर कहते हैं और यदि बुरा कहे तो गेटआउट कहते हैं। शब्दों में जो ध्वनि निकलती है वह स्पष्ट बता रही है कि हमने न तो आत्म स्वरूप समझा है, न ही पर का स्वरूप समझा है। जब प्रतिकार से परे निःप्रतिकार की दशा रहती है उसे निश्चय ज्ञान कहते हैं, वही एकमात्र उपादेय है।

उत्थानिका—अब द्रव्य और गुणों में प्रदेश अपेक्षा कथञ्चित् अभिन्नपने का कथन करते हैं–

अविभत्तमणण्णत्तं दव्वगुणाणं विभत्तमण्णत्तं।
णिच्छंति णिच्चयण्हू तव्विवरीदं हि वा तेसिं ॥५१॥

अन्वयार्थ—**(दव्वगुणाणं)** द्रव्य और गुणों का **(अविभत्तं)** एकपना तथा **(अणण्णत्तं)** अभिन्नपना है **(णिच्चयण्हू)** निश्चयनय के ज्ञाता **(विभत्तं अण्णत्तं)** उनका विभाग व भिन्नपना **(णिच्छंति)** नहीं चाहते हैं। **(वा)** अथवा **(तेसिं)** उनका **(तव्विवरीदं)** उससे विपरीत स्वभाव अर्थात् द्रव्य और गुणों में प्रदेश भेद न होने से अभेद है और संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की विभिन्नता होने से भेद है। भिन्नपने से विपरीत अभिन्नपना भी **(हि)** निश्चय से सर्वथा नहीं मानते हैं।

अर्थ—द्रव्य और गुणों का एकपना तथा अभिन्नपना है, निश्चयनय के ज्ञाता उनका विभाग व भिन्नपना नहीं चाहते हैं। अथवा उनका उससे विपरीत स्वभाव अर्थात् भिन्नपने से विपरीत अभिन्नपना भी निश्चय से सर्वथा नहीं मानते हैं।

द्रव्य गुणों में एक भाव है, प्रदेश भेद नहीं इनमें।
निश्चय नय के ज्ञाता कहते, भेद कथञ्चित् भी इनमें ॥
संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन, के कारण ही अन्य कहा।
इसी अपेक्षा से जिनमत में, कथन किया ना अन्य रहा ॥५१॥

व्याख्यान—अविभक्त अर्थात् प्रदेश भेद रहित अनन्यत्वपना है। जिसका ज्ञान प्रमाणभूत है वे किसी भी द्रव्य को गुणों से तथा गुणों को द्रव्य से भिन्न नहीं मानते। एक द्रव्य के गुण अनन्त हैं। गुण अलग शब्द है और द्रव्य अलग है। जितने शब्द होते हैं, उतने अपने स्वभाव होते हैं। गुण का स्वभाव द्रव्याश्रित रहना है तो द्रव्य का स्वभाव गुणों को आश्रय देना है। अनन्तगुण एक द्रव्य में आश्रय पाकर कभी एक-दूसरे को भगाते नहीं हैं। संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा द्रव्य और गुणों में भेद भिन्नता है किन्तु आधार-आधेय की अपेक्षा एक दूसरे पर दोनों आधारित हैं। इसीलिए अविभक्त के

रूप में मानते हैं। जैसे–अणु में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श यह चार गुण हैं, इनके प्रदेश भिन्न नहीं हैं वैसे ही शुद्ध जीवद्रव्य में केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से केवलज्ञान, केवलदर्शनावरण कर्म के क्षय से केवलदर्शन, दर्शनमोह व चारित्रमोह के क्षय से क्रमशः क्षायिक सम्यक्त्व व क्षायिक चारित्र रूप स्वाभाविक गुण प्रकट होते हैं। अशुद्ध जीव में मति, श्रुत, अवधिज्ञान आदि विभाव गुण रहेंगे। यद्यपि ये ज्ञान सम्यक् हैं फिर भी वैभाविक हैं क्योंकि आवरण कर्म के एकदेश अनुदय से उसमें जो स्थिति रहती है वह वैभाविक ही मानी जाती है लेकिन अन्यत्वपना नहीं है। जैसे–विंध्याचल और हिमाचलपर्वत में भिन्नपना है क्योंकि हिमाचल कहीं है और विंध्याचल कहीं है अथवा एक क्षेत्र में रहते हुए भी जल और दूध का भिन्न प्रदेशपना है वैसा द्रव्य और गुण में भेद नहीं है।

द्रव्य और गुण में आधार–आधेय सम्बन्ध–जिनेन्द्र भगवान् द्रव्य और गुणों में एकान्त रूप से अन्यत्व और अनन्यत्व स्वीकार नहीं करते हैं अर्थात् द्रव्य कहीं, गुण कहीं ऐसा नहीं है। जैसे–मिले हुए दूध और जल को लोक व्यवहार से अभेद कहते हैं लेकिन उसमें दूध की चिकनाहट आदि गुण अलग है और जल की शीतलता आदि गुण अलग है। एकान्त रूप से भिन्न भी नहीं है अन्यथा मात्र जल का स्वाद आना चाहिए दूध का स्वाद नहीं। दूध और जल मिले होने पर भी दोनों के प्रदेश अलग–अलग हैं। द्रव्य और गुण में ऐसी प्रदेश भिन्नता नहीं है। इसमें आधार–आधेय सम्बन्ध है। द्रव्य आधार है और गुण व पर्याय आधेय हैं लेकिन आधारभूत द्रव्य पहले था और आधेयभूत गुण व पर्याय बाद में हुए, ऐसा नहीं है। जैसे–गमला पहले रखा फिर पौधा लगाया या पहले भवन बनाया फिर लोग आकर रहने लगे, ऐसा नहीं।

विषय कषाय हेय हैं–अन्त में प्रयोजनभूत बात कही है कि विशुद्धज्ञान–दर्शन स्वभावी जो आत्मतत्त्व है उससे अन्य जो विषय–कषाय हैं, वे हेय हैं और विषय–कषाय से रहित परम चैतन्य रूप निर्विकल्प परम आह्लाद स्वरूप सुखामृत के आस्वादन से जो सहित है, लोकाकाश के समान असंख्यात शुद्ध प्रदेशों से युक्त है, केवलज्ञानादि अनन्त शुद्ध गुण जिसमें है वही एकमात्र उपादेय है। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

उत्थानिका–आगे द्रव्य और गुणों में नाम आदि की अपेक्षा भेद है तो भी वे एकान्त से द्रव्य और गुणों का भिन्नपना नहीं मानते हैं।

ववदेसा संठाणा संखा विसया य होंति ते बहुगा।
ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंते ॥५२॥

अन्वयार्थ–**(ववदेसा)** कथन या संज्ञा के भेद **(संठाणा)** आकार के भेद **(संखा)** संख्या या गणना **(य विसया)** और विषय या आधार **(ते बहुगा होंति)** ये बहुत प्रकार के होते हैं **(ते)** ये चारों **(तेसिं)** उन द्रव्य और गुणों की **(अणण्णत्ते)** एकता में **(चावि)** और **(अण्णत्ते)** उनके भिन्नपने में **(विज्जंते)** होते हैं।

अर्थ—कथन या संज्ञा के भेद, आकार के भेद, संख्या या गणना और विषय या आधार ये बहुत प्रकार के होते हैं। ये चारों उन द्रव्य और गुणों की एकता में तथा उनकी अनेकता में भी हो सकते हैं।

द्रव्य और गुण इन दोनों में, नहीं सर्वथा भेद रहा।
है व्यपदेश और संस्थान, संख्या विषय प्रकार कहा॥
इन चारों से भेद कथञ्चित्, और अभेद कथञ्चित् है।
जिनशासन जयवंत रहे नित, ऋषि मुनियों से वंदित है ॥५२॥

व्याख्यान—तत्त्व या द्रव्य, व्यपदेश अर्थात् कथन के विषय अवश्य बनते हैं। संख्या, आकार-प्रकार आदि प्रसंगों की अपेक्षा कथन होता है जो कि अन्य रूप भी होता है और अनन्य रूप भी होता है। जैसे–प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यात हैं किन्तु जीवद्रव्य एक है। यदि सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में एक अंग निकाल दें तो इसकी क्या पहचान रहेगी? कुछ नहीं। शरीर के आठ अंगों में हाथ, पैर, मस्तक, धड़ आदि को निकाल दें तो देह का अस्तित्व क्या रहेगा? कुछ नहीं। इसीलिए शरीर को अंग कहकर हाथ-पैर आदि को उपांग भी कहा है। हाथ को भी अंग कहा है और शरीर को भी अंग कहा, व्यवहार इसी ढंग से चलता है। इसी प्रकार जीवादि द्रव्यों की विवक्षा में भी लगा लेना अर्थात् कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न कह सकते हैं। जैसे–मेरी आँखें अच्छे से देखती हैं तो क्या आँखें आपसे भिन्न हैं? मेरा हाथ अच्छा काम करता है तो क्या हाथ तुमसे भिन्न है? हमारी आत्मा अच्छी है तो क्या आप अलग और आपकी आत्मा अलग है? नहीं। लेकिन कुछ व्यवहार ऐसा ही होता है जिसमें एकान्त से पृथकता और अपृथकता भी सिद्ध नहीं होती। वस्तु के भेदोपभेद बनाकर ऐसा कहा जा सकता है। जैसे–वृक्ष से उसकी शाखा, तना, पत्ते आदि को अलग कर दो तो वृक्ष क्या रहेगा? जड़ को भी अलग कर दो तो वृक्ष क्या रहेगा? उसका नाम ही नहीं रह पायेगा क्योंकि सब अंग निकल गए। यद्यपि शाखा, तना, पत्ते, जड़ इन सबके नाम अलग थे, इनके अलग होने से वृक्ष तो होना चाहिए किन्तु वृक्ष नहीं रहा क्योंकि इन सबकी समष्टि ही वृक्ष है।

उत्थानिका—आगे निश्चय से भेद और अभेद का उदाहरण बताते हैं–

णाणं धणं च कुव्वदि धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं।
भण्णंति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू ॥५३॥

अन्वयार्थ–(जह) जैसे **(णाणं)** ज्ञान **(णाणिणं)** पुरुष को ज्ञानी **(च)** और **(धणं)** धन **(धणिणं)** पुरुष धनी **(कुव्वदि)** करता है **(च दुविधेहिं)** ऐसा दो तरह के अभेद और भेद से **(भण्णंति)** कह सकते हैं **(तह)** ऐसा **(तच्चण्हू)** तत्त्वज्ञानी **(पुधत्तं एयत्तं चावि)** भेदपने और अभेदपने को कहते हैं।

अर्थ—जैसे ज्ञान अपने संयोग से ज्ञानी को और धन अपने संयोग से धनी को करता है ऐसा

दो प्रकार से कहा जाता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी भेदपने और अभेदपने को कहते हैं।

जैसे कोई धन पाकर धनवान नाम पा जाता है।
वैसे आतम ज्ञान अपेक्षा ही ज्ञानी कहलाता है॥
कहे पृथक् तत्त्वज्ञ उसे जो, प्रदेश से ही भिन्न रहे।
जो प्रदेश से अभेद रहता, निश्चय से एकत्व कहें ॥५३॥

व्याख्यान—मानलो कोई व्यक्ति है तो उस व्यक्ति को धनी कैसे कहा? धन जिसके पास है वह धनी है। अच्छा रूप है तो सुरूप, अच्छा रूप नहीं तो कुरूप कहते हैं, अरूप नहीं कहते। अच्छे, बुरे दो विकल्प हो जाते हैं। जड़ धन भिन्न है फिर भी अज्ञानी को अभिन्न जैसा लगता है। जीव द्रव्य चेतन है इसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं है। स्वयं जीव द्रव्य होकर भी जीव के गुणों के बारे में न विचारकर जड़ के गुणों को अपना स्वरूप मानता है जबकि सुरूप और कुरूप सब पुद्गल की परिणतियाँ हैं। आत्मा की कोई अवगाहना नहीं, संस्थान नहीं, कोई आकार-प्रकार घोषित नहीं किया जा सकता "**जाण अलिंगग्गहणं जीव मणिद्दिट्ठ संठाणं**" कहा है। आत्मा किसी साधन द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसे लम्बा-चौड़ा, गोल-तिरछा कुछ भी आकार वाला नहीं कह सकते। ज्ञान के माध्यम से आत्मा ज्ञानी होता है, चेतना के माध्यम से आत्मा चेतन कहा जाता है। स्वभाव उसका चेतन नहीं, गुण की अपेक्षा चेतन कहा जाता है। जीव को गुण के द्वारा ही अन्य द्रव्य से भिन्न कर सकते हैं इसलिए ज्ञान से जीव को ज्ञानी और धन से जीव को धनी कहते हैं, पर यह ध्यान रखना कि ज्ञान कभी ज्ञानी नहीं होता, धन कभी धनी नहीं होता। तिङन्त प्रत्यय को प्राप्त करने के लिए अन्य द्रव्य का संयोग चाहिए जैसे धन के संयोग से ही उसे हम धनी कह सकेंगे। गुण को ही गुणी कह दें तो फिर द्रव्य कोई वस्तु नहीं रहेगी। इस प्रकार यहाँ व्यवहार पृथक्त्व और एकत्व के भेद से 'भेद में अभेद' और 'अभेद में भेद' रूप दो प्रकार का कथन किया है। धन अपने नाम, संस्थान, संख्या और विषय इन चार भेद से भिन्न है और धनी पुरुष भी इन भेदों की अपेक्षा धन से भिन्न है।

भिन्न वस्तु के साथ भिन्न व्यपदेश तथा अभिन्न वस्तु के साथ अभिन्न व्यपदेश—जैसे धन से धनी का अस्तित्व भिन्न है, साईकिल वाले से साईकिल का अस्तित्व भिन्न है ऐसा भिन्न अस्तित्व रखने वाला जो पुरुष है उसका व्यपदेश भी भिन्न होगा। आदत के कारण खोर शब्द लगाते हैं। जैसे-चुगलखोर, शराबखोर आदि। कहीं हार भी लगाया जाता है तारणहार, पालनहार आदि। इस प्रकार भिन्न वस्तुओं के साथ अपना तादात्म्य न होते हुए भी तारने वाला आदि कहा जाता है। यहाँ कहने का अर्थ यही है कि भिन्न व्यपदेश है तो आकार प्रकार भी भिन्न होगा। जैसे-धन भिन्न है तो उसका अस्तित्व भी भिन्न है, जिसके पास बहुत धन है वही धनी है। जिसके पास ज्ञान है वही ज्ञानी कहा जाता है किन्तु जैसे धन धनी से भिन्न है ऐसा ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है, अलग से ज्ञान को चिपका कर ज्ञानी नहीं बनाया, क्रोध आकर चिपक गया और क्रोधी हो गया ऐसा नहीं। जब किसी

को ऊपरी हवा (भूत-प्रेत) लग जाती है तो वह बड़बड़ाने लगता है और जब शान्त हो जाता है तो कहते हैं कि हवा चली गई। तो क्या इसी तरह उड़ता हुआ ज्ञान आ गया और गोंद के समान आत्मा में चिपक गया? ऐसा नहीं है। जैसे भिन्न वस्तु धन से धनी कहा जाता है वैसे ही अभिन्न ज्ञान से ज्ञाता कहा जाता है। दर्शन से दृष्टा, सुख गुण से सुखी है, ऐसा नहीं कि जैसे रुपयों से सब्जी खरीद लाते हैं वैसे ही रुपयों से सुख लाकर आत्मा में भर दो। यदि दुकान में सुख बिकता तो खरीद लेते, सुख समाप्त होने पर फिर खरीद लेते। ऐसे में तो सेठ साहूकार भी अहंकारी हो जायेंगे कि हम सुखी बना रहे हैं किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। आत्मा का ज्ञान, सुख आदि गुण आत्मा को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहते। पाँच ज्ञान के नामादिक की अपेक्षा भिन्न व्यपदेश है। भिन्न वस्तु के साथ भिन्न व्यपदेश और अभिन्न वस्तु के साथ अभिन्न व्यपदेश होता है। जैसे शरीर आत्मा एक नहीं हैं फिर भी एक क्षेत्रावगाह के कारण ऐसा अनुभूत हो रहा है। इसी तरह जो नाम और उपाधियाँ हैं उन्हें भी अपना नहीं मानना चाहिए। जैसे-किसी ने एक तमाचा मार दिया तो मुझे मार दिया, ऐसा मत मानो। भले ही तुम्हारी आँखों के सामने तमाचा मारा हो फिर भी तुम्हें नहीं मारा, यह निश्चयनय अपना लो तो स्वयं सुखी हो जाओगे। सामने वाला सुखी हो या न हो तुम उसके साथ क्यों दुखी हो रहे हो कि तमाचे से मेरे गाल लाल-लाल हो गए, जल रहे हैं, यह सब शरीर के प्रति एकत्व के कारण हो रहा है, वस्तुतः ऐसा नहीं है।

निश्चयनयरूप दृष्टि रखने में ही सार्थकता—मैं पढ़ रहा हूँ, सुन रहा हूँ या पढ़ा रहा हूँ, सुना रहा हूँ इस तरह निमित्त में उलझ जाते हैं, अतः निश्चयनय रूप दृष्टि रखने में ही सार्थकता है, इस उलझन को सुलझाने का और कोई उपाय नहीं है। सूत के धागों की लड़ी उलझने पर घंटों बैठकर सुलझाई जा सकती है किन्तु आत्मा शरीर के साथ अनन्तकाल से उलझ गया है उसको कैसे सुलझाएँ? निश्चयदृष्टि के अलावा इसका अन्य कोई उपाय नहीं है। मैं दुबला हो गया, वजन कम हो गया है, व्यवहारनय से ऐसा प्रतीत होता है किन्तु ऐसा नहीं है। व्यवहार से कहने में आता है कि यह वृक्ष की शाखा है, सैकड़ों टहनियाँ हैं और पत्तों की तो गिनती ही नहीं है। निश्चयनय से तो वृक्ष से शाखा, टहनी, पत्ते पृथक् ही नहीं हैं फिर भी अभेद में भेद, व्यवहारनय से कर लेते हैं, उसी प्रकार निश्चयनय से आत्मा और ज्ञान अभिन्न हैं। जीव और ज्ञान का संस्थान, क्षेत्र आदि भिन्न नहीं है। सफेद दीवार में जितनी दीवार की आकृति है उतनी ही सफेदी की भी आकृति है। जितना द्रव्य है उतने ही गुण हैं किन्तु यह सम्यक्ज्ञान न होने से जीव नर, नारकादि पर्यायों में भ्रमण कर रहा है।

सम्यग्ज्ञान का सदुपयोग—मोक्ष वृक्ष का बीजभूत यह सम्यग्ज्ञान ही है, जो सकल विमल केवलज्ञान का कारण है। थोड़ी देर आँख बन्दकर, सुनना बन्दकर, चिन्तन शुरू कर दें, मैं कौन हूँ? मेरा आकार कैसा है? लेकिन उसमें दो हाथ, दो पैर, चेहरा, नाक, कान जिस विन्यास से परिचय है उसमें यह नहीं सोचना कि मैं दो हाथ-पैर वाला हूँ किन्तु संवेदन करते चले जाना है कि 'मैं कौन हूँ'।

जो पढ़ने, लिखने, सुनने में आया है, इसके अनुभव के लिए पुरुषार्थ करना होगा, व्यर्थ के कार्यों में जीवन व्यस्त होता जा रहा है। फोटो में देखकर कहता है कि यह 'मैं' हूँ, घर में जो नाम था अब घर त्याग करने पर दूसरा नाम मिल गया। धीरे-धीरे उसी नाम रूप मानने लगता है। यह सब बाह्य परिचय भूलकर जो आत्मा की खोज करना चाहता है वही स्वयं को पा सकता है अन्यथा देव हुआ तो स्वयं को देव ही मान लिया, तिर्यञ्च में कौआ, चिड़िया हुआ तो वही मान लिया, अमीर-गरीब, जवान-बुढ़िया चाहे कुछ भी हो तदनुरूप अनुभव करता है, यह सब भूलकर मैं केवलज्ञान स्वरूप हूँ, यह सब तो स्वप्न के समान है क्योंकि जागते ही स्वप्न टूट जाता है। जैसे स्वप्न में रो रहे थे लेकिन स्वप्न टूटते ही रोते नहीं हैं, वैसे ही ज्ञानी भी पर्याय के वियोग में रोते नहीं हैं। जब घर में गमी हो जाती है तो कुछ समय कमी लगती है फूट-फूटकर रो लेते हैं। कुछ लोग तो दिखाने के लिए भी रोते हैं, कुछ समय के बाद रोना बन्द हो जाता है। अनन्तों भव बीत गए लेकिन एक ही भव की याद में रो पाओगे। सम्यग्ज्ञान होते ही रोना बन्द हो जाता है अन्यथा केवलज्ञान होने पर तो अनन्त भव जानने से बहुत रोना पड़ेगा लेकिन ज्ञानी रोते नहीं हैं, यही ज्ञान का सदुपयोग है।

उत्थानिका—यदि ज्ञान को ज्ञानी से अत्यन्त भिन्न मानोगे तो क्या दोष होगा?

णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदो दु अण्णमण्णस्स।
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥५४॥

अन्वयार्थ—(णाणी) ज्ञानी आत्मा **(णाणं च)** और ज्ञान **(अण्ण-मण्णस्स)** एक दूसरे से **(सदा)** हमेशा **(अत्थंतरिदो दु)** यदि भिन्न हों तो **(दोण्हं)** दोनों आत्मा और ज्ञान को **(अचेदणत्तं)** अचेतनपना **(पसजदि)** प्राप्त हो जायेगा यह **(सम्मं)** समीचीन **(जिणावमदं)** जिनेन्द्र भगवान् का कथन है।

अर्थ—यदि ज्ञानी आत्मा और उसका ज्ञान एक दूसरे से हमेशा भिन्न पदार्थ हों तो दोनों आत्मा और ज्ञान को अचेतनपना प्राप्त हो जायेगा यह भले प्रकार वस्तु स्वरूप को जानने वाले जिनेन्द्र भगवान् का कथन है।

ज्यों अग्नि से भिन्न उष्ण गुण, माने तो यह दोष रहा।
ज्ञान ज्ञानी में भेद सर्वथा, माने तो यह दोष बड़ा॥
इससे ज्ञान व ज्ञानी दोनों, होंगे जड़ भावों से युक्त।
यह मत है सर्वज्ञ प्रभु का, पूर्णज्ञान से जो संयुक्त ॥५४॥

व्याख्यान—एकान्त से ज्ञानी ज्ञान से भिन्न ही है, अर्थान्तरभूत है ऐसा मानने से दोनों ही जड़ हो जायेंगे। मानलो घर में दस सदस्य हैं। पड़ौसियों को घर का सदस्य नहीं मानते, यह मानते हैं कि हम दस हैं, एक नहीं हैं। लेकिन कोई विकट समस्या आ जाए तो एक हो जाते हैं और कहते हैं कि हम एक परिवार के हैं। इसी तरह ज्ञानादि अनन्त गुण एक ही आत्मा के परिवार के माने जाते हैं। गाथा

में ज्ञानी और ज्ञान की बात कही है। श्रद्धा और आत्मा के लिए नहीं कहा, जबकि ज्ञान के समान श्रद्धा भी गुण है लेकिन ज्ञान चेतन और श्रद्धा अचेतन गुण है। आत्मा की पहचान चेतन के माध्यम से ही होती है। "**संसारिणो मुक्ताश्च**" इस सूत्र में संसारी जीवों में उपयोग की और मुक्त जीवों में चेतन की मुख्यता है, उपयोग की नहीं। चेतन गुण है द्रव्य नहीं। चेतन गुण की अपेक्षा द्रव्य को सचेतन कहा। ज्ञान, दर्शन यह दो ही उपयोग की मार्गणा हैं। यह दोनों गुण चेतन हैं जो कि जानने देखने की अपेक्षा से हैं लेकिन अनुभूति की अपेक्षा चेतना की मुख्यता है। एकान्त से उपयोग को आत्मा से भिन्न मानने पर जीव और ज्ञान, दर्शन दोनों गुण अचेतन हो जायेंगे। जो कि जिनमत से विपरीत है अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् ने ऐसा नहीं माना, यह इसका अर्थ है। जैसे–अग्नि गुणी है उससे अत्यन्त भिन्न उष्णत्व गुण मानने से दहन क्रिया में असमर्थ हो जायेगा क्योंकि उष्णत्व गुण ही अग्नि से पृथक् हो जायेगा, तो शीतल होने से अग्नि किसी को जला नहीं सकेगी और उष्ण गुण भी अग्नि को छोड़कर रह नहीं पायेगा। इसी प्रकार निश्चय से जीव या ज्ञानी को ज्ञान से अत्यन्त भिन्न मानने से दोनों अचेतन हो जायेंगे।

शक्ति का उपयोग करने से ही कार्य की सिद्धि होती है–देवदत्त कुल्हाड़ी से लकड़ी काटता है, कुल्हाड़ी और लकड़ी दोनों देवदत्त से भिन्न हैं। कुल्हाड़ी से काटता है पर कुल्हाड़ी काटती नहीं, देवदत्त काटता है। ऐसा नहीं कि हाथ में लेकर खड़ा हो जाए और कुल्हाड़ी अपने आप ही लकड़ी काट दे। जब वह कुल्हाड़ी से काटने की प्रक्रिया करेगा, तभी कटेगी। काटने वाला देवदत्त है, कुल्हाड़ी नहीं। यदि कुल्हाड़ी से ही लकड़ी कटती तो देवदत्त की आवश्यकता ही क्या? जब भिन्न उपकरण की यह दशा है तो ज्ञान से अभिन्न आत्मा की क्या दशा होगी? यदि आत्मा न जानना चाहे तो ज्ञान जबर्दस्ती नहीं करता। जिसे पैसा इकट्ठा करना है वह मेले में जाकर भी बिना खर्च किये कमाकर आ जायेगा। लोग घूमेंगे, पैसे खर्च करके मेले का मजा लेंगे लेकिन वह आधा भोजन करके भी इकट्ठा करता रहेगा। व्यक्ति जो चाहे सो कर सकता है उसी प्रकार आत्मा जो चाहे सो जान सकती है क्योंकि जानने वाला आत्मा है। देवदत्त लकड़ी काटना चाहेगा तो काट लेगा किन्तु कटेगी कुल्हाड़ी से ही। यह स्पष्ट है ज्ञान अपने आप नहीं उलझता। चलाकर नहीं जानना यही अध्यात्म है। यहाँ कुल्हाड़ी के स्थान पर ज्ञान है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से एक विशेष शक्ति प्राप्त होती है जो आभ्यन्तर उपकरण रूप है। यदि शक्ति का उपयोग न करे तो लकड़ी अपने आप नहीं कटेगी। पढ़ाने वाले उपाध्याय भी हैं, पुस्तक व प्रकाश भी है, ये सब सहकारी कारण होने पर भी आभ्यन्तर कारण क्षयोपशम नहीं है तो समझ नहीं सकता, चाहे कितनी मेहनत करे, सिर दर्द और हो जायेगा। कोई कहे कि फूँकते रहने से अग्नि सुलगती है तो ध्यान रखें फूँकने से बुझ भी जाती है। क्षयोपशम बढ़ाने के प्रयास में जो था वह भी कम न हो जाए यह ध्यान रखना। १२ वर्ष के अकाल के उपरान्त जो कुछ भी बचा है उसे ही प्राप्त कर लो। वीतराग सहज सुन्दर आनन्दमय परमार्थ सुख ही एकमात्र उपादेय है, इसे न जानकर ही संसार

भ्रमण हुआ है। यह तब समझ में आयेगा जब इसका क्षयोपशम होगा। एक-एक दिन कटते जा रहे हैं किन्तु कर्म कट जाएँ, यह कोई नियम नहीं।

ज्ञान व ज्ञानी में समवाय सम्बन्ध नहीं—अज्ञान परीषह सहन करने से कर्म निर्जरित होते हैं। ज्ञान हो या न हो कोई प्रयोजन नहीं, श्रुतकेवली भी पीछे रह जाते हैं और इन्हें एक अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो जाता है। जो पहले आगे थे वे ही पीछे वाले की जय बोल रहे हैं क्योंकि वे केवली हो गए हैं। रिश्वत देकर केवली नहीं हुए और गुस्सा करने से भी केवली नहीं हो जाते कि मुझे केवलज्ञान क्यों नहीं हो रहा है। श्री गौतम गणधर शान्त होकर बैठ गए, जब तक सामने महावीर स्वामी थे तब तक पूर्णज्ञान नहीं हुआ, ज्यों ही प्रातः वीरप्रभु मुक्त हुए त्यों ही शाम को श्री गौतमस्वामी केवली हो गए। प्रातः प्रभु का निर्वाण कल्याणक और शाम को श्री गौतम गणधर को केवलज्ञान हो गया। प्रभु महावीर, श्री गौतम गणधर इत्यादि व्यपदेश हैं। यहाँ कोई कहे कि—दाँत जो भिन्न हैं उससे काटने पर पुरुष ही काटने वाला कहलाता है इसी तरह पृथक् ज्ञान से आत्मा को जानने वाला मानने में क्या दोष है? तब आचार्य कहते हैं कि—काटने में दाँत तो बाह्य निमित्त हैं उपादान रूप काटने की शक्ति तो पुरुष में ही है और बिना शक्ति के दाँत अकार्यकारी हैं। ज्ञान और ज्ञानी का सम्बन्ध दाँत व पुरुष जैसा नहीं है। जिसमें प्रदेशों की एकता हो वही गुण-गुणी कहलाते हैं। ज्ञान व ज्ञानी में संयोग या समवाय नहीं, तन्मय भाव है।

उत्थानिका—आगे ज्ञान और ज्ञानी को समवाय (संयोग) सम्बन्ध होने का निराकरण करते हैं –

ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी।
अण्णाणीति च वयणं एगत्तप्पसाधगं होदि ॥५५॥

अन्वयार्थ—(दु) तथा **(णाणदो)** ज्ञान से **(अत्थंतरिदो)** अत्यन्त भिन्न होता हुआ **(सो)** वह जीव **(समवायादो)** समवाय सम्बन्ध से **(णाणी)** ज्ञानी **(ण हि)** नहीं होता **(अण्णाणि त्ति य वयणं)** यह जीव अज्ञानी है ऐसा वचन **(एगत्तप्पसाधगं होदि)** गुण और गुणी की एकता को साधने वाला होता है।

अर्थ—ज्ञान से अत्यन्त भिन्न होता हुआ वह जीव समवाय सम्बन्ध से ज्ञानी नहीं होता है। ''यह जीव अज्ञानी है'' ऐसा वचन गुण और गुणी की एकता को साधने वाला हो जाता है।

ज्ञान ज्ञानी में भेद सर्वथा, किन्तु है सम्बन्ध समवाय।
ऐसा जो एकत्व मानते, मिथ्या है कहते जिनराय॥
अज्ञानी अज्ञान युक्त है, इसमें कुछ समवाय नहीं।
त्यों ज्ञानी भी ज्ञान युक्त है, जिनमत में समवाय नहीं ॥५५॥

व्याख्यान—समवाय के कारण अर्थान्तरभूत ज्ञान व आत्मा एक हो जाते हैं, यदि अज्ञानी इस प्रकार की एकता को स्वीकारता है तो प्रश्न होता है कि ज्ञान के समवाय के पूर्व आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी? यदि ज्ञानी था तो ज्ञान का समवाय सम्बन्ध हुआ यह कहना व्यर्थ होगा ; क्योंकि ज्ञानी तो पहले से ही था और यदि अज्ञानी था तो वह अज्ञान गुण के समवाय सम्बन्ध से अज्ञानी था या स्वभाव से अज्ञानी था। यदि वह जीव अज्ञान गुण के समवाय सम्बन्ध से अज्ञानी था तो अज्ञान गुण का समवाय कहना व्यर्थ होगा क्योंकि अज्ञानी तो पहले से ही था। जैसे अज्ञानीपना स्वभाव से है वैसे ही ज्ञानीपना भी स्वभाव से मानने में क्या बाधा है? क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण और गुणी भिन्न नहीं होते। अतः आत्मा का ज्ञान से समवाय सम्बन्ध न मानकर तादात्म्य सम्बन्ध मानने में क्या बाधा है? समवाय के कारण जीव ज्ञानी नहीं होता क्योंकि वह ज्ञानगुण से भिन्न नहीं है। अज्ञानी शब्द ही गुण और गुणी में एकत्व को सिद्ध करने वाला है। अज्ञानी का अज्ञान से और ज्ञानी का ज्ञान से एकत्व है। समवाय सम्बन्ध से नहीं, स्वभाव से एकत्व है। यदि ज्ञान समवाय से जीव को ज्ञानी मानते हैं तो इस समवाय सम्बन्ध से पहले अज्ञानी था तब जीव का अज्ञान के साथ एकत्व सिद्ध हो रहा है फिर समवाय से ज्ञानी कैसे सिद्ध करोगे? क्योंकि अज्ञान से जीव अभिन्न है इसलिए समवाय से ज्ञानी हो नहीं सकता, जैसे अज्ञानी से अज्ञान का एकत्व सिद्ध है वैसे ही ज्ञानी से ज्ञान का एकत्व सिद्ध है, इसलिए समवाय कोई मतलब नहीं रखता।

दृष्टान्त—पहले दो पैरों के द्वारा चला करते थे फिर वृद्ध होने पर कहते हैं कि—पैर ने काम करना बन्द कर दिया, इसलिए लाठी लेकर चल रहे हैं। तब नाती–पोते पूछते हैं कि आप स्वयं चल रहे हैं या लाठी को चला रहे हैं? लगता तो ऐसा है कि जो लाठी चलना नहीं जानती, उसे आप चला रहे हैं। दादा कहते हैं—जब तुम हमारी अवस्था में आओगे तब मालूम पड़ेगा। वह कहता है—हमें तो अभी से यह समझ में आ रहा है कि यदि पैरों में चलने की क्षमता न होती तो लाठी से कैसे चलते? यह तो केवल सहारा है। इसी प्रकार अज्ञान के कारण अज्ञानी है तो उसमें अज्ञान का समवाय कहाँ हुआ? यह तो एकत्व का ही प्रसाधक है और यदि समवाय से अज्ञानी मानते हैं तो पुनः ज्ञान का समवाय नहीं होगा। जैसे—बादलों से घिर जाने पर भी सूर्य के भीतर तो प्रकाश रहता ही है, वैसे ही अनन्त प्रकाशमय केवलज्ञान सबकी आत्मा के भीतर रहता है, किन्तु केवलज्ञानावरण कर्म के कारण ढका है, इसलिए इसे दूर करना है। यदि भीतर में केवलज्ञान नहीं हो तो कर्म किसके ऊपर आवरण डाल रहा है? एवं उसकी क्षमता को रोकने में कौन–सा आवरण कर्म काम कर रहा है? पहले इसी को श्रद्धान में लाओ, तभी आवरण दूर होगा। जैसे हवा से तितर–बितर होते ही मेघपटल द्वारा ढका हुआ सूर्य का प्रकाश प्रकट हो जाता है वैसे ही अनादिकाल से कर्मपटल से ढका हुआ आत्मा ध्यानसाधना के बल से कर्मपटल को तितर–बितर कर ज्ञानसूर्य प्रकटा देता है। वह ज्ञानप्रकाश आत्मा से भिन्न नहीं है। इस तरह समवाय सम्बन्ध से जीव ज्ञानी नहीं होता, यह मात्र धारणा है।

उत्थानिका—गुण और गुणी की एकता को छोड़कर और कोई समवाय नहीं है इसी बात का समर्थन करते हैं–

समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य।
तम्हा दव्वगुणाणं अजुदासिद्धित्ति णिद्दिट्ठा ॥५६॥

अन्वयार्थ—**(समवत्ती)** द्रव्य और गुण का अनादिकाल से साथ-साथ रहना **(समवाओ)** समवाय है **(अपुधब्भूदो य)** यही अपृथग्भूत या अभिन्न है **(अजुदसिद्धो य)** तथा यही अयुतसिद्ध है- कभी मिलकर नहीं हुआ है **(तम्हा)** इसलिये **(दव्वगुणाणं)** द्रव्य और गुणों का **(अजुदा सिद्धित्ति)** अयुत सिद्धपना है ऐसा **(णिद्दिट्ठा)** कहा गया है।

अर्थ—एकसाथ एकमेक रूप होकर रहना ही समवाय है। इसको ही अपृथग्भूत या अयुतसिद्ध कहते हैं। चूँकि द्रव्य और गुण समवाय से एकत्वरूप होकर रहते हैं अतः द्रव्य और गुण को अयुतसिद्ध कहा है।

इक अस्तित्व द्रव्य औ गुण का, पृथक्भूत नहीं हो सकता।
जिनमत का समवाय यही है, सदा साथ में जो रहता॥
अयुतसिद्ध ही कहा इसी को, गुण द्रव्यों से भिन्न नहीं।
एक भाव सम्बन्ध इन्हीं का, अन्य कोई सम्बन्ध नहीं ॥५६॥

व्याख्यान—सम अर्थात् एक-साथ की वृत्ति होना समवाय है अर्थात् द्रव्य अनादि से है तो गुण भी उसी के साथ अनादि से हैं। गुण द्रव्य से पृथक् नहीं रह सकते, और द्रव्य भी गुण के अभाव में नहीं रहता। समवर्ती का अर्थ समानता नहीं है। समानता और एक साथ रहने में बहुत अन्तर है। समान मानने से द्रव्य सो गुण और गुण सो द्रव्य हो जायेगा, लेकिन जबसे जितना द्रव्य है तबसे उतने ही प्रदेश में जितने गुण हैं उन सबका फैलाव है। सभी गुणों के और द्रव्य के आकार में कोई अन्तर नहीं है। जैसे–मीठा डालकर कोई खाद्य पदार्थ बनाया अब उसका आकार कैसा भी हो जैसा स्वाद एकभाग में है वैसा ही पूरे में आयेगा। एक लीटर दूध में कुछ वस्तुएँ डालकर उबाल दिया तो प्रत्येक अंश में उसका स्वाद पहुँच जायेगा। वैसे ही द्रव्य का जो आकार है उसके गुण, उसमें उसी आकार में व्याप्त रहते हैं लेकिन वह गुण ऊपर से नहीं डाले गये। जैनाचार्यों ने इसे '**समवत्ती समवायो**' के रूप में स्वीकारा है। आपके सिखाने से किसी में ज्ञान आ गया ऐसी धारणा मत बनाओ क्योंकि वह पहले ज्ञान से खाली था बाद में आपने ज्ञान भर दिया, ऐसा नहीं है। जो सीख रहा है वह भी ऐसा ना समझे कि मुझमें ज्ञान उड़ेल दिया है। सिखाने वाला अभिमान न करे और सीखने वाला दीन-हीन न बने वरन् वस्तु के स्वरूप को समझें। जीवद्रव्य के हर प्रदेश में ज्ञान, दर्शन आदि अनेक गुण व्याप्त हैं। समवाय का अर्थ यह नहीं है कि गोंद से दो वस्तुओं को जैसे चिपकाते हैं वैसे ही ज्ञान समवायरूपी

गोंद से आत्मा से चिपक गया, किन्तु जबसे आत्मा है तभी से ज्ञान है, इसी का नाम समवाय है। गुण से द्रव्य भिन्न नहीं, द्रव्य से गुण भिन्न नहीं हैं। जैसे–दो अलग–अलग वस्तुओं को गटपट करके एक करते हैं ऐसे द्रव्य और गुण एकमेक नहीं हैं। गुणों का पहले से ही द्रव्य के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। वही जिसकी आत्मा हो उसे तदात्म कहते हैं और उस आत्मा के भाव को तादात्म्य कहते हैं, जो अयुतसिद्ध अर्थात् अनादि से सिद्ध है।

कर्म और आत्मा में संयोगज बन्ध—जैसे–एक युवा का युवती से सम्बन्ध होते ही पति–पत्नी के भाव उत्पन्न हो जाते हैं, इसे संयोगज भाव कहते हैं। कर्म संयोग से आत्मा में औदयिक आदि भाव उत्पन्न होते हैं, मात्र पारिणामिक भाव ही कर्म निरपेक्ष है। गोंद से पृष्ठ को चिपका देना संयोग सम्बन्ध है। जैसे–ईंट, चूना, गारा, लोहा आदि के संयोग से भवन बनता है वैसे ही संयोग के माध्यम से अपनी आत्मा में संयोगज बन्ध होता है। यह जीव का स्वतत्त्व भाव है। इसे निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध भी कह सकते हैं। कर्म का उदय निमित्त है और उससे होने वाले भाव नैमित्तिक हैं। इसमें से कर्मोदय को छीन झपटकर अलग नहीं कर सकते। जैसे–वस्त्र को साबुन से घिस–घिस कर मल अलग कर देते हैं वैसे ही कर्म को बन्ध से विपरीत भावों के द्वारा ही निकाला जा सकता है। वह भी संयोगज भाव है, स्वाभाविक भाव नहीं है। कर्मक्षय से उत्पन्न भाव को कथञ्चित् स्वाभाविक कह सकते हैं लेकिन कर्म निरपेक्ष जानन भाव या प्रमेयत्व गुण है वह स्वभाव है। कर्म के उदय से कुछ–कुछ जान रहे हैं लेकिन जानने की क्रिया तो हमारी स्वाभाविक है। यह गाथा बहुत मौलिक है, साहस भर देती है जिससे दीनता दूर हो जाती है। किसी को सिखाने–समझाने से यदि उसके पास ज्ञान आ जाता है तो पेन्सिल को समझा दो, तख्त को भी समझा दो, जिससे यह भी समझदार हो जायेंगे और जीवों की संख्या भी बढ़ जायेगी लेकिन ऐसा नहीं हो सकता। द्रव्य और गुण के बीच अयुतसिद्धि अर्थात् अनादि सिद्धपना है। कोई समवाय सम्बन्ध नहीं है, समवृत्ति अर्थात् सद्वृत्ति या तादात्म्य सम्बन्ध है। कोई व्यक्ति अन्य में अपने भाव नहीं डाल सकता, दो व्यक्ति मिलकर एक नहीं हो सकते। आज के वैज्ञानिक युग में आश्चर्यजनक घटनाएँ सुनने में आती हैं कि धड़ एक है मस्तक दो हैं बचने की उम्मीद नहीं है फिर भी उन्हें कुशल डॉक्टर द्वारा जिंदा रखने का प्रयास किया है। वे भी दो प्राणी हैं एक नहीं, यह डॉक्टर जानते हैं। ज्ञान व ज्ञानी में ऐसा नहीं, अनादि से तादात्म्य है। गुण–गुणी का संज्ञा, लक्षण व प्रयोजन की अपेक्षा भिन्नता होते हुए भी प्रदेश की अपेक्षा अभिन्नता है। जैसे–डण्डे वाला, छतरी वाला, घड़े वाला, साईकिल वाला, दूध वाला, यह कहने में आता है, इन सबमें प्रदेश भिन्नता है। दूध अलग है, आदमी अलग है, लेकिन जीव को ये ज्ञान वाले! इधर आओ, ऐसा नहीं कहते। धीमान, बुद्धिमान् शब्दों में मतुप् प्रत्यय है। इस प्रकार कथञ्चित् गुण–गुणी की भिन्नता कही है। 'कथञ्चित्' शब्द जैनदर्शन में रामबाण जैसा है, प्राण या श्वास जैसा है जिससे जीवन चलता है। इससे निर्विवाद होकर सामने वाले व्यक्ति को दिशाबोध दे सकते हैं।

आत्म चिन्तन से कर्मों की निर्जरा—अव्याबाध सुख आदि अनन्तगुण केवलज्ञान में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इन सभी गुणों का आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध ही जानना। समस्त रागादि विकल्पों के त्याग पूर्वक ध्यान की भावना करते हुए जब भी समय मिले तब आत्मस्वभाव के बारे में रुचिपूर्वक चिन्तन करना चाहिए। इससे तेरा-मेरा से जो कर्म बँधते हैं वह छूट जाते हैं। जब कर्म उदय में आते हैं तब मालूम पड़ता है कि मैंने ऐसी कौन-सी गलती की थी? जिससे ऐसा फल मिल रहा है।

उत्थानिका—द्रव्य और गुणों में किसी अपेक्षा से कथञ्चित् भेद है और कथञ्चित् अभेद है। इसी बात को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के माध्यम से अग्रिम दो गाथाओं में कहते हैं–

वण्णरसगंधफासा परमाणुपरूविदा विसेसेहिं।
दव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति ॥५७॥

अन्वयार्थ—(हि) निश्चय से **(वण्णरसगंधफासा)** वर्ण, रस, गंध, स्पर्श **(परमाणुरूविदा)** परमाणु में कहे हुए **(विसेसा)** गुण **(दव्वादो य अणण्णा)** पुद्गल द्रव्य से अभिन्न है तो भी **(अण्णत्तपगासगा)** व्यवहार से संज्ञादि की अपेक्षा भेदपने के प्रकाशक **(होंति)** होते हैं।

अर्थ—पुद्गल परमाणु में जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये चार विशेष गुण कहे हैं वे निश्चय-नयापेक्षा द्रव्य से अनन्य अर्थात् एकमेक हैं और व्यवहारनयापेक्षा संज्ञा, लक्षण आदि के भेद से अन्यत्व के प्रकाशक हैं।

परमाणु में वर्ण गन्ध रस स्पर्श चार गुण नाम कहे।
यह वर्णादिक गुण निश्चय से, पुद्गल से इकमेक रहे ॥
प्रदेश से यह भिन्न नहीं हैं, यह मत जिनवर भाषित है।
संज्ञादिक से पृथक् कहा जो, यह व्यवहार नयाश्रित है ॥५७॥

व्याख्यान—वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श यह चारों विशेषगुण पुद्गल को छोड़कर कहीं नहीं रह सकते। पुद्गल को कहीं से भी दृष्टिपात करो छूना, चखना, सूँघना और देखना यह चार क्रियाएँ होंगी। इन्हीं चार के पीछे मारा-मारा फिर रहा है। शब्द जो कर्णेन्द्रिय का विषय है, वह भी पुद्गल कृत पर्याय है, गुण नहीं है। सारा संसारचक्र इन चार के आधार पर ही चल रहा है। यह चारों गुण द्रव्य से अनन्य हैं अर्थात् इन्हें द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। बिना गुण का पुद्गल तो भगवान् भी लाकर नहीं दिखा सकते, तो फिर अन्य कोई कैसे दिखा सकता है? रूप से रस, रस से गन्ध, गन्ध से स्पर्श का अन्यत्व है। तात्पर्य यह है कि संज्ञा, लक्षणादि की अपेक्षा अन्य होते हुए भी प्रदेशापेक्षा पृथक् नहीं कर सकते। जब पृथक् नहीं कर सकते तो इस पुद्गल द्रव्य पर अधिकार कैसे जमा सकते हैं? किन्तु सभी अधिकार जमाने के लिए लड़ते रहते हैं, लेकिन आजतक कोई भी चेतन-अचेतन परद्रव्यों पर अधिकार नहीं जमा पाया।

कौरव-पाण्डव की लड़ाई से महाभारत और राम-रावण की लड़ाई से रामायण बन गई। देवों में भी कषाय समुद्घात होता है। अवधिज्ञान लगाकर जान लेते हैं कि यह पूर्व का वैरी है मैं इसे क्यों छोड़ूँ? संघर्ष वहाँ पर भी है किन्तु जहाँ लड़ाई-झगड़े होते हैं वहाँ पुलिस व्यवस्था से परिस्थिति सामान्य हो जाती है। ऐसे ही स्वर्गों में इस प्रकार की व्यवस्था है, बाहर से कुछ नहीं करते किन्तु लड़ने के भाव तो कर ही लेते हैं। इस प्रकार वर्ण आदि पुद्‌गल से अनन्य भी हैं और लक्षण आदि की अपेक्षा अन्य भी हैं अर्थात् अन्यत्व के प्रकाशक भी हैं।

उत्थानिका—पूर्व गाथा में जो दृष्टान्त दिया था उससे क्या फलितार्थ द्योतित होता है? इसी को दार्ष्टान्त के माध्यम से कहते हैं—

दंसणणाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि णण्णभूदाणि।
ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो ॥५८॥

अन्वयार्थ—**(तहा)** वैसे **(जीवणिबद्धाणि)** जीव से तादात्म्य सम्बन्ध रखने वाले **(दंसणणाणाणि)** दर्शन और ज्ञान गुण **(णण्णभूदाणि)** जीव से अभिन्न हैं सो **(ववदेसदो)** संज्ञा आदि से **(पुधत्तं)** परस्पर भिन्नपना **(कुव्वंति)** करते हैं **(हि)** निश्चय से **(सभावादो णो)** स्वभाव से पृथक्पना नहीं करते हैं।

अर्थ—जिस प्रकार पूर्व गाथा में कहा है उसी प्रकार जीव द्रव्य से सम्बन्ध रखने वाले दर्शन व ज्ञान गुण निश्चयनयापेक्षा अनन्य हैं, स्वभाव हैं परन्तु व्यवहारनयापेक्षा संज्ञा व लक्षण के भेद से पृथक् रूप व्यपदेशित किये गये हैं।

ज्यों पुद्‌गल से वर्णादिक गुण, भिन्न नहीं देखे जाते।
त्यों निश्चय से दर्श ज्ञान गुण, अनन्य आतम से रहते॥
संज्ञादिक से भिन्न परस्पर, स्वभाव से यह पृथक् नहीं।
यही प्रभु ने देखा जाना, कहती है यह दिव्यध्वनि ॥५८॥

व्याख्यान—जिस प्रकार रूप रसादि पुद्‌गल के विशेष गुण हैं, स्वभाव हैं उसी प्रकार दर्शन, ज्ञानादि गुण जीव से अनन्य हैं किन्तु संज्ञा, लक्षण आदि की अपेक्षा भिन्न भी हैं। आत्मप्रदेश की अपेक्षा पृथक् नहीं हो सकते। आत्मा के भी प्रदेश हों और गुण के भी अलग प्रदेश हों फिर दोनों एकमेक हो जाएँ, जैसे प्रदेश बन्ध होता है, ऐसा नहीं है। संज्ञादि अपेक्षा भेद होते हुए भी निश्चय से अभेद है। संस्कृत में 'कुरुतः' शब्द द्विवचन है जो ज्ञान और दर्शन इन दो के लिए है। ज्ञान को आठ और दर्शन को चार प्रकार का स्वीकारा है। यहाँ शुद्ध-अशुद्ध की विवक्षा नहीं है फिर भी निश्चयनय से आदि, मध्य, अन्त से रहित, परमानंदमालिनी, चैतन्यशालिनी, भगवती आत्मा में अनाकुल लक्षण वाला उपादेयभूत जो परमार्थ सुख है, उसका उपादान कारण केवलज्ञान-दर्शन ही श्रद्धान योग्य व

जानने योग्य है। मुनिराज आर्त-रौद्रध्यान रूप विकल्प त्याग करके इन्हीं ज्ञान-दर्शन के बारे में विचारते हैं। जो स्वयं को समझदार मानता है वही अक्सर बीच मँझधार में रहता है। नदी तो बहती रहती है उसमें बहने वाला जीव है, जो चिल्लाता है, हे भगवन्! मुझे बचा लो। कहता है **''मैंने तेरे ही भरोसे पारसनाथ भँवर में नैया डार दई''** जान बूझकर नैया डाल दी, अब आवाज देने की क्या आवश्यकता है? उपसर्ग विजेता होने से पार्श्वनाथ मेरे उपसर्ग भी दूर करेंगे, यह सोचता है। ऐसे अनन्त पार्श्वनाथ हो गए लेकिन स्वयं के कर्म स्वयं को ही काटना होगा। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के रूप में दो गाथाओं का प्रकरण पूर्ण हुआ।

कर्म से आत्मा भिन्न—वीतराग परमानंद सुधारसयुक्त समताभाव से परिणत शुद्ध जीवास्तिकाय से कर्म भिन्न हैं। आत्मा से कर्म बँधे तो हैं लेकिन अलग भी कर सकते हैं। जैसे दही को मथकर घी और छाँछ अलग कर देते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में क्रीम निकालने पर भी दूध रह जाता है जबकि घी निकलने पर तो वह दूध छाँछ जैसा गुणकारी भी नहीं रहता, फिर भी ऐसा दूध पी रहे हैं और उसी दूध के भाव से खरीद रहे हैं। यही तो आज के विज्ञान का विकास है। क्रीम निकालने पर उसमें कुछ नहीं बचा, यदि उसे मथा जाए तो कुछ नहीं निकलेगा, मेहनत और व्यर्थ जायेगी, फिर भी ऐसा दूध पी रहे हैं। कर्म से आत्मा भिन्न है यह बात मनन मन्थन करने वाले मुनि जानते हैं जो क्रीम के समान शुद्धात्मानुभूति रूप स्वाद लेते हैं और देहादिक नोकर्म व कर्म को छाँछ की भाँति छोड़ देते हैं। ऐसे सम्बन्ध को लेकर १८ गाथाओं से वर्णन किया जा रहा है।

उत्थानिका—जीव अपने परिणामों को करते हुए अनादि अनन्त है या सादि सान्त है ऐसी शंका होने पर समाधान करते हैं–

जीवा अणाइणिहणा संताऽणंता य जीवभावादो।
सब्भावदो अणंता पंचग्गगुणप्पधाणा य ॥५९॥

अन्वयार्थ—(जीवा) जीव **(जीवभावादो)** अपने जीव संबंधी भावों से **(अणाइणिहणा)** अनादि अनिधन हैं **(संता)** सांत हैं **(णंता य)** और अनंत हैं **(पंचग्गगुणप्पधाणा य)** इस तरह पाँच मुख्यगुणधारी हैं तथा **(सब्भावदो)** सत्तापने से **(अणंता)** अनंत हैं।

अर्थ—जीव पारिणामिक भावों की अपेक्षा अनादि अनन्त हैं, औदारिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक ये तीनों भाव परिवर्तित होते रहते हैं इस अपेक्षा से सादि सान्त हैं, क्षायिक भाव की अपेक्षा सादि अनन्त हैं, सद्भाव की अपेक्षा जीवत्वभाव से अनन्त हैं इस तरह वे जीव पाँच मुख्य गुणों (भावों) की प्रधानता वाले हैं।

सहज शुद्ध चेतन भावों से, जीव अनादिनिधन रहा।
कर्म जनित भावों के कारण, सादि-सान्त भी भाव कहा॥

सादि-अनन्त अनादि-अनन्त व, भाव अनादि-सान्त रहे।
पाँच भाव से युक्त जीव सब, अनन्त हैं यह ग्रन्थ कहे ॥५३॥

व्याख्यान—अध्यात्म की दृष्टि से जीव अनादि से है और अनन्तकाल तक रहेगा। सिद्धान्त की अपेक्षा ऐसे अभव्य जीव भी हैं जो अनादि से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे, मुक्त नहीं होंगे। औदयिकभाव अनादि से हैं किन्तु भव्यजीव अन्त भी कर सकते हैं, इसलिए अनादि-सान्त भी हैं। क्षायिकभाव सिद्धत्व तक रहता है अतः सादि-अनन्त है। अभव्यजीव अनन्त हैं, भव्य उससे भी अनन्त गुणे हैं तथा अभव्य सम भव्य या दूरान्दूर भव्य उससे भी अनन्त गुणे हैं। नाना जीव की अपेक्षा ये पाँच भाव या गुण अनादि से चले आ रहे हैं और अनिधन काल तक रहेंगे। आचार्यों ने जो सिद्धान्त प्रतिपादन किया वह अध्यात्म में भी प्रतिपादित है, पर मुख्य और गौण की अपेक्षा से कथन होता है। शुद्ध पारिणामिक भाव अन्य द्रव्य निरपेक्ष है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से शुद्ध पारिणामिक भाव विषय बन जाता है। शुद्ध चैतन्य अनादि से 'था', 'है' और 'रहेगा', इसे कोई मिटा नहीं सकता। स्वभाव की पहचान होने से दीनता व अभिमान मिट जाता है और अनेक वरदान मिल जाते हैं। 'अनादि' शब्द कालवाचक है "**न आदिवर्तते इत्यनादिः**" अनादि को जानने के लिए पीछे जाओ कल-सोमवार था, इसके पहले रविवार था इसके पहले शनिवार था, इस तरह मंगलवार तक आ गए किन्तु वह मंगलवार अलग था, आज का अलग है। वह सप्ताह अलग था, यह सप्ताह अलग है। हाँफते-हाँफते अतीत में भागते जाओ इन्हीं सात दिनों की ही पुनरावृत्ति होगी। उसी प्रकार आगे बढ़ोगे तो भी वही सात वारों के नाम की पुनरावृत्ति होगी। अनन्तकाल तक दिन बदलते जायेंगे। जो काम कर रहा हूँ इसका फल कल तो अवश्य मिलेगा, इसी भरोसे पर संसारी प्राणी लोभ लालच के कारण अभी तक भटक रहा है। कहीं ठिकाना नहीं मिला फिर भी सोच नहीं रहा है कि आगे क्या होने वाला है? ग्रन्थों में क्षेत्र व स्पर्शन अनुयोग द्वार आता है। जिसमें क्षेत्र वर्तमानकाल विषयक और स्पर्शन अतीत-अनागतकाल एवं वर्तमान की अपेक्षा होता है। अतीत में जितना स्पर्शन घटित हुआ अनागत में उतना तो होगा ही। पहले जो वार, सप्ताह बीत गए, वही आगे भी आने वाले हैं, वार कभी घटते-बढ़ते नहीं। इसी तरह सप्ताह, पक्ष, माह और वर्ष बीतते जा रहे हैं और जन्म-मरण की पुनरावृत्ति हो रही है फिर भी विश्वास रखता है कि मंथन करके कुछ सुख निकाल ही लूँगा लेकिन पानी के मन्थन से नवनीत की प्राप्ति नहीं होती है।

कर्मक्षय और क्षायिक भाव की उत्पत्ति एक समयवर्ती—क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिकभाव सादि हैं। इनमें जो मिट जाते हैं वह सान्त कहलाते हैं। कुछ ऐसे भाव होते हैं जो कर्म निरपेक्ष होकर भी हमेशा बने रहते हैं तो कुछ कर्मसापेक्ष होकर भी नहीं मिटते हैं। ऐसे अशुद्ध पारिणामिक और शुद्ध पारिणामिक भाव हैं। जिसमें कर्म निरपेक्ष होकर भी भव्यत्व आदिक अशुद्ध पारिणामिक भाव हैं, क्योंकि यह स्वभाव नहीं हैं, इसे अनादि सान्त कह सकते हैं। कर्मक्षय से उत्पन्न

क्षायिकभाव सादि अनन्त है। कर्म क्षय और क्षायिकभाव की उत्पत्ति एक समयवर्ती है। जैसे- अन्धकार का मिटना और प्रकाश का होना एक समयवर्ती है। सर्व कर्म का क्षय होने से सिद्धत्व की उत्पत्ति हुई, जिसका अब नाश नहीं होगा, इसीलिए इसे क्षायिकभाव कहते हैं जो अनादि-अनन्त-सहज-शुद्ध-पारिणामिक भाव है। यद्यपि स्वभाव अपेक्षा जीव शुद्ध है, किन्तु व्यवहार की अपेक्षा अनादि कर्मबन्ध की वजह से कीचड़ सहित जल की भाँति औदयिक आदि भावरूप परिणत हो जाता है तब नूतन कर्म जनित भावों की अपेक्षा जीव सादि-सान्त जानना चाहिए।

सिद्धत्व की प्राप्ति में अन्तरंग व बहिरंग निमित्त आवश्यक—जो संसार के अन्त से सहित हैं उन्हें भी टीकाकार दूसरे अर्थ से सान्त कहते हैं, वे भव्य हैं और अनन्त संसार वाले अभव्य हैं। अभव्यों से भव्यों की संख्या अनन्तगुणी है, उससे भी अभव्य के समान जो भव्य या दूरान्दूर भव्य हैं वे अनन्तगुणे हैं। इनकी संख्या सबसे ज्यादा है। आजतक यह संख्या खाली नहीं हुई तो आगे भी नहीं होगी। यद्यपि काल का कोई आदि और अन्त नहीं है फिर भी अतीत का काल कम है और अनागत का अधिक है। पहले जो सिद्ध हुए उनसे आगे और अधिक होंगे यह इसका अर्थ है। सब अपनी योग्यता से सिद्ध होते हैं इसके लिए बाह्य द्रव्यों के निमित्त ही पर्याप्त नहीं, अन्तरंग निमित्त भी होता है। भीतरी निमित्त में सम्यग्दर्शन के योग्य जो परिणाम हैं वह दुर्लभता से मिल जाते हैं और काम हो जाता है। शाश्वत धाम मिल जाता है लेकिन आजतक मिला नहीं, स्वप्न जैसा लगता है। आजतक ऐसा कोई योग नहीं मिला, क्यों नहीं मिला? इस जिज्ञासा का समाधान प्रभु ही समझते हैं, हम तो व्याख्यान ही कर सकते हैं। अनादि-अनन्त गुणधारक मिथ्यात्वादि सादि-सान्त दोषों से रहित जो शुद्ध जीव है वही एकमात्र उपादेय है, जो भव्य के रूप में है। इस तरह पाँच भावों का व्याख्यान दो-दो अर्थ निकाल कर किया, ऐसा रहस्य पहली बार खुला है।

द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि में अन्तर—पर्यायार्थिक नयापेक्षा उत्पाद-व्यय दोनों होते हैं, द्रव्यार्थिकनय से नहीं। इसमें कहीं विरोध नहीं है, अपेक्षाकृत दृष्टि से देखते हैं तो सब घटित हो जाता है। द्रव्यदृष्टि से चंचलता मिट जाती है। ऐसा महसूस होने लगता है कि आखिर यह सब क्या है? मोह निद्रा में पड़कर क्या-क्या किया? पर्यायदृष्टि से पर्याय ही पर्याय दिखती है। मान लो भगवान् के पास जाकर दृष्टि, मूर्ति पर केन्द्रित करते हैं तो ऊपर-नीचे कुछ नहीं दिखता, सब गायब हो जाता है। फोटोग्राफी करने वाला जिस अंग पर प्रकाश डालता है वही मुख्य हो जाता है। जब पर्याय को मुख्य करते हैं तब द्रव्य ओझल-सा हो जाता है। समुद्र की लहरें देखने पर समुद्र के शेष जल पर दृष्टि नहीं रहती। पानी को देखते-देखते अञ्जुलि में पानी भर लिया यद्यपि अञ्जुलि के जल और समुद्र के जल में अन्तर नहीं है, किन्तु जो लहरें समुद्र में दिख रही हैं वह अञ्जुलि के जल में नहीं हैं, यही तो दृष्टि की बात है। रागी बहुत सारा जल देखकर मनोरंजन करता है लेकिन वैरागी चिन्तन करता है कि इसमें कितने जलकायिक जीव हैं? जब इस छोटी-सी बूँद में असंख्य जीव होते हैं तो अपार जल राशि में

कितने जीव होंगे? इस प्रकार अपायविचय और उपायविचय धर्म्यध्यान कर लेता है। तीर्थंकर कुछ ऐसे ही दृश्य देखकर विरक्त हो जाते हैं। कश्मीर घूमने तो कई लोग जाते हैं जो हरियाली देखने, पेड़, पौधे, पर्वत देखने के लिए करोड़ों रुपये खर्च कर देते हैं किन्तु इस दृष्टि से देखने वाले कम हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** में नारकी, देव, मनुष्य का स्थान बताया, लेकिन तिर्यञ्च के बारे में कुछ नहीं कहा, तब पूछने पर यह सूत्र कहा "**औपपादिकमनुष्येभ्य: शेषास्तिर्यग्योनय:**" उपपाद जन्म वाले (देव, नारकी) तथा मनुष्यों को छोड़कर शेष जितने भी जीव हैं वे तिर्यञ्च हैं। इसमें ही अनन्त जीव हैं, शेष तीन गतियों में तो असंख्यात ही हैं। तीनों लोकों में अपार जीवराशि है। पाँचों इन्द्रियों के विषय भी वहीं हैं केवल दृष्टि का फेर है। पानी की लहरें देखकर खुश होते हैं लेकिन वह भी पेट में पानी हो तो अच्छा लगता है और अकाल पड़ा हो या उपवास हो तो अच्छा नहीं लगता।

द्रव्यदृष्टि रखने से ही सारभूत तत्त्व की प्राप्ति सम्भव—इसीलिए पर्यायदृष्टि गौण करके द्रव्यदृष्टि बनाओ, इससे त्रैकालिकता झलकती है। बड़ी-बड़ी नदियाँ निकलती हैं और सागर में मिलती हैं फिर वाष्प बनकर पुन: जल बनने की प्रक्रिया चलती रहती है। आय-व्यय इन दोनों दशा में असंख्यात जलकायिक जीवों की ओर दृष्टि रखते हुए आत्म चिन्तन करना चाहिए। "**जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्**" जगत् और काय के स्वभाव का चिन्तन करता है कि जब असंख्य बादर वायुकायिक जीव पेड़-पौधों से टकराते हैं तब हवा का झोंका मुझे अच्छा लगता है जबकि असंख्य जीवों का घात हो जाता है। यदि सूक्ष्म शरीर होता तो इन जीवों का वध नहीं होता, किन्तु बादर होने से ये जीव व्याघात को प्राप्त हो रहे हैं, और अधिक (मोटे) होते तो और अधिक जीव टकराकर मरण को प्राप्त होंगे, इस प्रकार का चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है। कोई व्यक्ति शीत-उष्ण स्पर्श पाकर इन्द्रिय सुख का आस्वादन करता है, जबकि रत्नत्रयधारी वैरागी अपने चिन्तन से असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा करते रहते हैं। चाहे कहीं छिप जाओ लेकिन श्वास लेने छोड़ने से जीवों की टकराहट से विराधना तो होगी ही, आचार्यों ने निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग रूप अजीवाधिकरण से साम्परायिक आस्रव होता है, यह कहा है। द्रव्यदृष्टि रखने वाले सारभूत तत्त्व पा लेते हैं। जिसे भूसा समझकर फेंक देते थे, उसे एकत्रित कर अब छत्तीसगढ़ में एक फैक्ट्री के अन्दर मशीन द्वारा तेल निकाल रहे हैं। तिल में तो तेल निकलता ही है लेकिन भूसे से भी निकाल रहे हैं। पेट्रोलियम का उत्पादन भी इस प्रकार कर रहे हैं अर्थात् भूसे में तेल देखने की दृष्टि चाहिए। आवश्यकता अविष्कार की जननी है। आज आर्थिक समस्या का हल करने विज्ञान अविष्कार में लगा हुआ है लेकिन ज्ञानी वैरागी जो द्रव्यदृष्टि रखता है उसे परमार्थ दिखने लगता है फिर मानसिक शारीरिक कष्ट रह ही नहीं पाता।

उत्थानिका—जीव को औदयिक आदि भाववशात् सादि-सान्तपना और अनादि अनन्तपना होने में विरोध नहीं है–

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स होइ उप्पादो।
इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्ण विरुद्धमविरुद्धं ॥६०॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस प्रकार **(जीवस्स)** जीव के **(सदो)** विद्यमान पर्याय का **(विणासो)** नाश व **(असदो)** अविद्यमान पर्याय का **(उप्पादो)** जन्म **(होइ)** होता है **(इदि)** ऐसा **(जिणवरेहिं)** जिनेन्द्रों के द्वारा **(भणिदं)** कहा गया है **(अण्णोण्ण-विरुद्धं)** यह बात परस्पर विरोधरूप है तथापि **(अविरुद्धं)** विरुद्ध नहीं है।

अर्थ—इस प्रकार से जीव के विद्यमान पर्याय का नाश व अविद्यमान पर्याय का उत्पाद होता है ऐसा जिनवरों ने कहा है। यह बात परस्पर विरुद्ध रूप होकर भी विरुद्ध नहीं है।

विद्यमान पर्याय नरादिक, उसका विनाश हो जाता।
सुर आदिक पर्यायों का उत्पाद भाव देखा जाता॥
है अन्योन्य विरुद्ध तथापि, किञ्चित् विरोध ना रहता।
जो जिनवर से कहा गया वह, यह पञ्चास्तिकाय कहता ॥६०॥

व्याख्यान—कथञ्चित् सत् का विनाश और असत् का उत्पाद देखा जाता है। देव पर्याय मिटी मनुष्य हो गया, मनुष्य पर्याय मिटी तिर्यञ्च हो गया इस तरह परिवर्तन देख रहे हैं। यद्यपि उत्पाद और विनाश एक दूसरे के विरोधी हैं। पर्याय लहर की भाँति मिट भी रही है, उत्पन्न भी हो रही है। यदि जीव नये-नये उत्पन्न हो जाएँ तो आबादी बहुत बढ़ जायेगी। बाँट रखे हुए तराजू के दो पलड़े की भाँति एक खाली ऊपर चला जाता है और बाँट रखा हुआ पलड़ा नीचे आ जाता है। खाली रहने पर दोनों पलड़े समान रहते हैं। लहर उत्पन्न होती है मिटती है लेकिन अपार जलराशि ज्यों की त्यों बनी रहती है। उसी प्रकार जीव की पर्यायें उत्पन्न होती हैं और मिटती हैं किन्तु जीवराशि बराबर बनी रहती है। एकेन्द्रिय में पृथ्वीकायिक, जलकायिक आदि जीवों की जितनी संख्या आगम में बतायी है, उतनी बनी ही रहती है। सूर्य-चन्द्रमा आते जाते रहते हैं कृष्णपक्ष में एक-एक कला समाप्त होती है शुक्लपक्ष में उद्घाटित होती है लेकिन कलाएँ तो उतनी ही हैं जो हमारी दृष्टि से दिखाई नहीं देती हैं। बहुत कम जीव हैं जो क्षणिकत्व को गौण करके अपरिवर्तनीय त्रैकालिक सत्य को अपनी दृष्टि का विषय बना लेते हैं।

गति, कषाय आदि सब औदयिक भाव हैं। चारों गतियाँ गतिनामकर्म की वजह से हैं। एक समय में एक ही गति और एक ही आयुकर्म का उदय होता है। आगामी आयुकर्म का बन्ध होने पर एक बध्यमान और दूसरी भुज्यमान, इस तरह दो आयु रह सकती हैं लेकिन उदय में एक ही रहती है। आयु का विनाश होने पर औदयिकभाव का भी नाश हो ही जाता है। किसी श्रावक ने आशीर्वाद माँगा कि महाराज! हमारे बच्चे होते हैं पर जीते नहीं है, आप चिरंजीवी रहने का आशीर्वाद दे दो। बहुत जीयें

यही चिरंजीव का अर्थ है। जिनके पुत्र हैं उन्हें पूछा जाए कि यह कौन है? तो कहते हैं–यह हमारा चिरंजीव है। तो क्या पुत्र का नाम चिरंजीव है? नहीं। बहुत जीये, यह भाव है लेकिन वह अपना आयुकर्म लेकर आया है उसकी स्वयं की उम्र है तो एक दिन मिटना निश्चित है। इतनी उम्र बीत गई, अब तो समता आना ही चाहिए। पहले भी आँखों से धारा बहती थी, अभी भी बह रही है। बुढ़ापे में अपने आप ही आँखों से पानी निकलने लगता है। सब निकालकर यहीं खाली कर दो क्योंकि देवगति में जाओगे तो पानी आयेगा ही नहीं, वहाँ रोना–धोना नहीं होता। रोना अर्थात् आँखों से पानी आना और धोना अर्थात् पोंछ लेना। नीतिकार कहते हैं कि–आँखों में पानी आने से ज्योति बढ़ती है। जैसे–स्टोव में पिन लगाने से ठीक हो जाता है। लेकिन लोग रोने को दुख का प्रतीक मानते हैं यह ठीक नहीं है। कितनी बार चारों गतियों में भटक चुके कोई गिनती नहीं। देवगति का अभाव, मनुष्य गति का सद्भाव, दोनों के बीच में कोई अन्तराल नहीं है। जैसे–सोमवार और मंगलवार के बीच कोई अन्तराल नहीं है, एक समयवर्ती है, एक दिनवर्ती नहीं है, ऐसा ही स्वभाव है। स्वभाव को जानने के बाद चिन्ता नहीं रहती और चिन्ता की धुन भी अपने आप शान्त हो जाती है। स्वभाव ज्ञात होने पर शान्ति से बैठे रहो, भले ही सामायिक में शरीर से खड़े हो गए, पर कहते तो यही हैं कि सामायिक में बैठे हैं। वस्तुतः आत्मा न बैठती, न उठती, न खड़ी होती है फिर भी व्यवहार में पर्यायदृष्टि होने से पर्याय ही दिखती रहती है। एक बार द्रव्यदृष्टि हो गई तो हर्ष–विषाद सब समाप्त हो जायेंगे। मानलो काला और सफेद रंग का फर्श है, यदि काले पत्थर पर दृष्टि टिका दी तो पूरा काला ही काला दिखेगा और यदि सफेद रंग पर टिकायेंगे तो सारा सफेद ही सफेद दिखेगा। जिस पर दृष्टि गढ़ी है फिर वही–वही दिखता है। द्रव्य पर दृष्टि टिकने पर पर्याय की ओर दृष्टि नहीं जाती, ऐसा अभ्यास जिन्हें हो जाता है उन्हें राग–द्वेष होता ही नहीं। लगातार अभ्यास होने पर उपयोग परिवर्तित होने पर भी हर्ष–विषाद नहीं होता, जीवन सहज हो जाता है, यह अभ्यास की बात है।

पूर्व गाथा में कहा था कि असत् का उत्पाद नहीं और सत् का विनाश नहीं होता, किन्तु यहाँ कह रहे हैं कि जो नहीं था उसी का उत्पाद हुआ, जो था उसका नाश हुआ यह विरोध जैसा लगता है लेकिन पर्यायार्थिकनय से उत्पाद भी होता है और व्यय भी। सादि–सान्त है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय परस्पर सापेक्ष हैं।

उन्मार्ग पर जाते हुए मन को आत्मा में स्थिर करना ही स्थितिकरण—ज्ञायक एक स्वभाव वाला सदानन्दमय आत्मस्वरूप का चिन्तन, मनन और ध्यान करें किन्तु मन जल्दी उचट जाता है। मन का स्वभाव उचटने का है तो उसे पकड़कर स्थिर करना अपना स्वभाव है।

उम्मग्गं गच्छतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं।
सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ (समयसार१४९)

ऐसा स्थितिकरण अंग होना चाहिए। सम्यग्दर्शन होगा तो स्थितिकरण अंग अवश्य होगा।

आजकल चर्चा का विषय रहता है कि दूसरे के पास सम्यग्दर्शन है कि नहीं? हमारे पास तो है ही। प्रायः स्वाध्याय का उपयोग इसी में हो रहा है जबकि दूसरों की चर्चा न करके अपनी बहिर्मुख चित्तवृत्ति को स्वमुख करना चाहिए। नटखट बच्चे को बाहर जाता देख माँ अपने सारे कार्य छोड़ पकड़ने चली जाती है कि कहीं एक्सीडेंट न हो जाए। इसके लिए आधा दरवाजा बनवाते हैं तथा उसे बन्द रखते हैं, कहीं बच्चा बाहर न चला जाए। बाहर भागना बच्चे का स्वभाव है तो पकड़कर अन्दर रखना माँ का स्वभाव है। उन्मार्ग पर जाते हुए मन को अपनी आत्मा में स्थिर करना सम्यग्दृष्टि का स्थितिकरण अंग माना जाता है।

उत्थानिका—जीव को सत् भाव के उच्छेद और असत् भाव के उत्पाद में निमित्तभूत उपाधि का प्रतिपादन करते हैं-

णेरइयतिरियमणुआ देवा इदि णामसंजुदा पयडी।
कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं ॥६१॥

अन्वयार्थ—(णेरइय-तिरिय-मणुआ देवा इदि) नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ये **(णामसंजुदा पयडी)** गति नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं **(सदो भावस्स)** विद्यमान पर्याय का **(णासं)** नाश और **(असदो उप्पादं)** अविद्यमान पर्याय का उत्पाद **(कुव्वंति)** करती हैं।

अर्थ—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये गतिनामकर्म की प्रकृतियाँ हैं। जो विद्यमान पर्याय का नाश और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद करती हैं।

सुर तिर्यञ्च मनुज औ नारक, नामकर्म के भेद सभी।
पर्यायार्थिक नय आपेक्षित, व्यय होता उत्पाद तभी॥
सत् पर्याय विनशती है औ, असत् भाव की उत्पत्ति।
होती रहती पर्यायों में, यह माँ जिनवाणी कहती ॥६१॥

व्याख्यान—नामकर्म की भेद विवक्षा से ९३ प्रकृतियाँ हैं। प्रभेद करने पर अनेक भेद हो जाते हैं। यही नामकर्म की प्रकृतियाँ ही नारकी को मिटाकर मनुष्य और मनुष्य को मिटाकर देव बना देती हैं। **जो आत्मा को दूसरे के सामने झुका देता है वह नामकर्म है। जहाँ तक झुकाने रूप कार्य है वहाँ तक नामकर्म है। १४वें गुणस्थान के अन्तिम समय तक नामकर्म है।** ध्यान करना भी झुकना है। संसार में सब नामकर्म का ही झगड़ा है। नामकर्म की प्रकृति में बदलाहट आने से अनेक तरह के विकल्प हो जाते हैं। जैसे—किसी को बहुत दिन बाद एक बेटा हुआ था उसका अवसान दीपावली पर हो गया फिर दो वर्ष बाद एक बेटा और हो गया लेकिन मन उसी में अटका है। अभी भी दीपावली का त्यौहार वहाँ नहीं मनाया जाता जबकि वही लड़का दूसरे बेटे के रूप में जन्मा है। यही पर्यायवृत्तिरूप नाम का परिणाम है। अच्छे से अच्छे बोलने वाले भी शराब पीने के बाद लड़खड़ाकर

बोलने लग जाते हैं, गहल भाव का प्रभाव दिखने लगता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त भी वह नाम अपना प्रभाव दिखा सकता है और चारित्र धारण करने के उपरान्त भी वह नाम अपना प्रभाव उस चारित्रधारी के ऊपर दिखा सकता है। जैसे–बकुश मुनि उपकरण और शरीर में सूक्ष्म रूप से अटक जाते हैं। उसमें अटकाव के कारण आनन्द की सुगन्धी नहीं फूटती। जब तक दही का मन्थन करके नवनीत निकालकर तपाया न जाए, पानी का अंश नष्ट नहीं होता, तब तक वह कड़कड़ाता हुआ आवाज करता रहता है। घी बनने पर ऐसी आवाज नहीं आती। अभी विज्ञान ने शोध किया है कि कच्चा घी कोलस्ट्रोल का कारण बनता है। अच्छे ढंग से यदि तप जाए तो जमेगा नहीं इससे हार्ट अटैक (हृदयाघात) की बीमारी का कारण नहीं बनेगा। घी की परीक्षा करने के लिए पानी की बूँद छिटका देते हैं। उसकी आवाज से पता चल जाता है। जैसे–कसौटी पर सोने को कसा जाता है उसी प्रकार घी की परीक्षा कर लेते हैं। यदि ज्यादा तप जाता है तो उसकी गन्ध अलग आने लगती है या खाने पर कण्ठ बैठ जाता है, तो समझ लेते हैं कि ज्यादा तप गया है। रेडीमेड (तैयार) बाजार का खाने वालों को यह ज्ञान ही नहीं होता। यदि नामकर्म नहीं हो तो जीवों को पहचानना मुश्किल हो जाए। जैसे–बल्ब को देखते हैं तो पहचान लेते हैं किन्तु प्रकाश को देखने पर सब समान होने से पहचान नहीं पाते। संसारी प्राणी भी शरीर को देखकर एक–दूसरे की परीक्षा में लगे हुए हैं। साधु भी जब उपकरण आदि के प्रति राग की भूमिका से ऊपर उठ जाते हैं तब शुद्धोपयोग की भूमिका पाते हैं। घण्टों एक स्थान पर बैठने से बाह्य तप हो सकता है पर शुद्धोपयोग नहीं कह सकते। उपवास ग्रहण करते समय भी शुभोपयोग की भूमिका कही है। वह बाह्यतप अभ्यन्तरतप का हेतु बने तो कार्यकारी है। तप शुद्धोपयोग का कारण हो ही जाए, ऐसा नहीं। **प्रवचनसार** में आया है कि तप व्यवहार की भूमिका में है निश्चयनय में नहीं। परमार्थभूत कार्य वही है जिसमें विकल्प नहीं है। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्ति, स्वाध्याय आदि शुभोपयोग की भूमिका में हैं। प्रवृत्ति में शरीर का माध्यम होने से उस रूप भूमिका के कारण बट्टा लगता ही है अर्थात् विकल्प होते ही हैं। इन विकल्पों को दूर करने के लिए नामकर्म को गौण करना अनिवार्य है। यह नरक–तिर्यञ्चादि गतियाँ नामकर्म के कारण ही हैं।

दृष्टान्त द्वारा भावमन और द्रव्यमन के पराभव का रहस्योद्घाटन—समुद्र में छोटी–बड़ी अनेक लहरें उठती रहती हैं लेकिन लहरों में क्या दिखता है? पानी ही पानी तो दिखता है। इसके सिवा लहर क्या वस्तु है? लोग कहते हैं–शराब चाहे बोतल में रहे या पेट में जाए, एक शीशी से दूसरी शीशी में ही तो गई है। जो बर्तन में भोजन था वह तन में आ गया, पेट में आ गया या उधर का इधर आ गया, क्या फर्क पड़ता है? ऐसा कहते हैं। उनके लिए कहते हैं एक थाली से दूसरी थाली में पुंज रखा जाता है, इतना ही तो अन्तर है पर इसे पूजन क्यों कहते हैं? क्योंकि पुंज चढ़ाते समय भावों में भक्ति रूप परिणाम रहते हैं। इसी तरह शराब पेट में डालते समय तामसिक परिणाम रहते हैं जिससे भावमन

का पराभव और द्रव्यमन को घात पहुँचता है। जब मान को घात पहुँचता है तो कहते हैं वज्रपात हो गया। पराभव का अर्थ गहलभाव और अपमान अर्थ भी लिया है। होश में नहीं रहना ही भावमन का अपमान है। शराब तन में आते ही होश खो देता है बात समझ में आ गयी (हाँ गुरुदेव) कितनी सूक्ष्म समझाई है।

एक ही भाव पुण्यबन्ध और संवर-निर्जरा में कारण—धन एक डिब्बे से दूसरे डिब्बे में चला गया, एक के नाम से दूसरे के नाम पर चला गया। ५० लाख इधर से उधर हो गया, इतना ही तो अन्तर आ गया, इसी में ठण्डा पसीना क्यों आने लगा? डॉक्टर कहता है इस मरीज को सदमा लगा है, धक्का लग गया, कौन सा? किसका धक्का लग गया? धक्का लगने से हार्टअटैक नहीं होता, लेकिन उसे ICU में रख दिया, वहाँ से घर पर, घर से मुख्य सड़क पर आ गए, अब किसी काम का नहीं रहा, घटना घट गई। घट अर्थात् प्राण चले गए। ''जब लौं घट में प्राण'' घट फूट गया। नर-नारकादि पर्यायों के संयोग-वियोग में ऐसी मान्यता बना लेता है। हम इसे छोड़ देंगे, ऐसा कहना बहुत आसान है, करना कठिन है। अपने शत्रु को घाटा लग जाए तो कलेजे को शान्ति मिलती है, जबकि उसमें हमें क्या मिला? कुछ नहीं। लेकिन भावों के तारतम्य या उसकी मिथ्या मान्यता से ऐसा होता है। **पुंज इधर से उधर चढ़ाने से मात्र पुण्य बन्ध ही होता है ऐसा नहीं, संवर-निर्जरा भी होती है क्योंकि कर्मक्षय के लक्ष्य से पूजा कर रहे हैं, इसलिए प्रत्येक धर्मकार्य भावों के साथ करें।**

गतिनाम कर्म से ही नर-नारकादि पर्यायों में उत्पत्ति- नर-नारकादि पर्याय केवल नामकर्म के ऊपर ही आधारित नहीं अपितु मोहनीयकर्म पर भी निर्धारित हैं। सहजानन्द टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव नित्य है फिर भी व्यवहार से नामकर्म आदि के कारण निर्विकार दशा से च्युत होता हुआ नर-नारकादि प्रत्यय का कार्य करने लग जाता है। यद्यपि १४ वें गुणस्थान में भी मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी आदि प्रकृतियाँ विद्यमान हैं, शरीर भी है, शरीर नामकर्म सत्ता में भी है किन्तु शरीर नामकर्म का उदय नहीं है। नीचगोत्र की भी सत्ता उपान्त्य समय तक है पर वह स्वमुख से नहीं, स्तिबुक संक्रमण से उच्चगोत्र रूप उदय में आ रहा है यह सब घटना वहाँ घट रही है। तत्त्वज्ञानी यह सब देखते हुए भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होते। मनुष्यगति नामकर्म से जीव मनुष्य के रूप में पहचाना जाता है या स्वयं को मनुष्य रूप स्वीकारता है। जैसे-सरोवर में लहर उत्पन्न होती और मिटती है उसी प्रकार अनादिनिधन जीवद्रव्य में अर्थपर्याय की अपेक्षा उत्पाद और व्यय होता रहता है। यह अर्थपर्याय सूक्ष्मऋजुसूत्रनय का विषय बनती है। व्यंजनपर्याय चिरस्थायी होती है; इसमें भी शुद्ध-अशुद्ध दो भेद हैं।

दृष्टान्त—एक ग्रामोफोन होता है जिसमें दो चाक रहते हैं। एक चाक वाला भी रहता है उसमें बीच में छेद वाली प्लेट लगी रहती है वह घूमती रहती है और साथ ही उसकी जो पिन है वह भी खिसकती रहती है पूरी होने पर रुक जाती है। उसे एक बार चालू करके चले जाते हैं। मानलो उसे कोई पकड़ ले तो वह आवाज चली जाती है रुक जाती है और अलग ही आवाज आने लगती है।

इसी प्रकार बाहर में पञ्चेन्द्रिय विषयों में उपयोग गया तो अन्तर्नाद बन्द होकर कर्मबन्ध होगा, यह निश्चित बात है। इसीलिए इन्द्रिय विषयों के व्यापार करने से ज्ञात होता है कि वह शुद्धात्मानुभूति से बाह्य है। चाहे इसे स्वीकार करो या न करो किन्तु यह आगम की बात है। **कर्मोदय में भी हर्ष-विषाद न करे, ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रखे, इस साधना में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता।** जैसे- ग्रामोफोन में बजाना नहीं पड़ता, चाबी भरकर पिन लगाते ही बजने लगता है। यदि जंग लग जाए तो खर-खर करता है बाद में बीच में दबाकर धीरे से तश्तरी निकाल लेते हैं। ऑपरेशन करते समय डॉक्टर के पास अनेक प्रकार के कैंची व औजार रहते हैं, जो कि जंग लगे हुए नहीं बिल्कुल साफ-सुथरे रहते हैं। हाँ, अब लेजर आदि से भी ऑपरेशन होते हैं समय के अनुसार नया-पुराना होता जाता है। भले ही अब प्लास्टिक का जमाना आ गया हो पर सुई प्लास्टिक की नहीं बन सकती, बन भी जाए तो काम नहीं करेगी क्योंकि उसमें कठोरपना नहीं रहेगा।

एक-एक सीढ़ी चढ़ने से ही लक्ष्य की प्राप्ति- विषयों को हेय मानकर उपादेय को पकड़ने से, ज्ञेय-ज्ञायक भाव रखने से ही निर्विकल्प समाधि प्राप्त होगी। ज्ञेय-ज्ञायक भाव आये बिना निर्विकल्प समाधि मिलना कठिन है। जब कभी गाड़ी चालू करते हैं तब गेयर में डालते हैं। तो क्या एकदम टॉप में डालते हैं? नहीं। पहले फर्स्ट में, सेकेण्ड में, थर्ड में, फिर टॉप में लाते हैं। मन भी एकदम शान्त नहीं होता। अशुभोपयोग से सीधा शुद्धोपयोग नहीं होता। प्रथम गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान में जा सकते हैं। पहले गुप्ति नहीं होती, मूलगुण होते हैं, चारित्र होता है फिर क्रम से गुप्ति होती है। शिखर पर जाने से पहले शिखर के आनन्द की लहर आती है।

गाथा का सार यही है कि कर्मों की ८ मूल और १४८ उत्तर प्रकृतियों से रहित वीतराग परमाह्लाद चैतन्य स्वरूप से प्रकाशमान शुद्ध जीवास्तिकाय ही एकमात्र उपादेय है। इन्द्रियों के द्वारा शुद्धात्म स्वरूप पकड़ में नहीं आता अतएव जब तक इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती रहेगी तब तक उपयोग शुद्धात्म स्वरूप से च्युत रहेगा। एक-एक समय निकलता जा रहा है, घड़ी का काँटा आगे सरकता जा रहा है इसलिए समय का सदुपयोग करो।

उत्थानिका—अब जीव के उत्पाद-व्यय का कारण कर्म उपाधि है यह बताते हैं-

उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु वित्थिण्णा ॥६२॥

अन्वयार्थ—(ते जीवगुणा) वे [परमागम में प्रसिद्ध] जीव के भाव **(उदयेण)** कर्मों के उदय से [औदयिक] **(उवसमेण)** कर्मों के उपशम से [औपशमिक] **(य खयेण)** और कर्मों के क्षय से [क्षायिक] **(दुहिं मिस्सिदेहिं)** दोनों [क्षय और उपशम] के मिश्र से [क्षायोपशमिक] तथा **(परिणामे)** पारिणामिक भावों से **(जुत्ता)** संयुक्त **(बहुसु य अत्थेसु)** बहुत से अर्थों में **(वित्थिण्णा)** फैले हुए हैं।

अर्थ—वे जीव के परिणाम कर्मों के उदय से युक्त औदयिक, उपशम से युक्त औपशमिक, क्षय

से युक्त क्षायिक, क्षय और उपशम के मिश्र से युक्त क्षायोपशमिक तथा परिणामिक भावों से संयुक्त ऐसे बहुत से भेदों में फैले हुए हैं।

जीवद्रव्य के मूल भाव कुल, पाँच प्रभु ने बतलाये।
कर्मोदय से रहा औदयिक, क्षय से क्षायिक कहलाये॥
औपशमिक विधि के उपशम से, क्षय-उपशम से मिश्र हुए।
परिणामिक आत्मिक भावों से, उत्तर भेद अनेक रहे ॥६२॥

व्याख्यान—कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और आत्मिक स्वभावों से युक्त कुल पाँच भाव हैं। भावों को गुण भी कहा है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान को भी गुण कहा, यह जीव के परिणाम हैं।

शंका- कर्म में उदय हो रहा है या जीव में?

समाधान—कर्मोदय के बिना जीव के औदयिकभाव उत्पन्न नहीं हो सकते। यदि कर्म में ही उदय होता तो कर्म में ही औदयिक भाव होना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं है। कर्म स्वयं मनुष्य नहीं बनता, मनुष्यगति नामकर्म के उदय से जीव मनुष्य बनता है, ऐसा न मानने से सिद्धान्त गलत हो जायेगा। आत्मा परिणमनशील है लेकिन कर्म के अनुरूप ही उसका परिणमन होगा यह भी अकाट्य नियम है। मनुष्यभव मनुष्यगति के बिना नहीं होगा। लहर जो दिख रही है वह जल में हवा से उत्पन्न हो रही है, हवा रुकते ही लहर समाप्त हो जाती है, हवा चली लहर आ गयी। कुछ लोग सरोवर को देखने गए तो देखा कि सरोवर की सतह पर से लोग चलकर आ रहे हैं, जा रहे हैं, यह क्या हो गया? वह लहरें कहाँ चली गयीं? ठण्डी हवा चल रही है ऊपर का पानी आइसक्रीम जैसा जम गया है, नीचे मछलियाँ तैर रही हैं, ऊपर पट्टी जैसा जम गया है। यह औपशमिक भाव का उदाहरण है, अन्तर्मुहूर्त के लिए अन्तरकरण हो गया। बर्फ जमाने में तो बहुत मेहनत लगती है लेकिन सरोवर में उसे किसी ने जमाया नहीं है। आत्मा में कर्म के कारण भाव उत्पन्न होते हैं, अन्य किसी के कारण नहीं। पाषाण में कभी भी लहर उत्पन्न नहीं होती किन्तु हवा से पानी में ही लहर उठती है। किसी के कर्म हमारे उदय में आ जाएँ, ऐसा नहीं होता। कोई कहे कि हम तो शान्त बैठे थे, जब से आप आये तो आपके कर्मोदय के कारण हममें औदयिकभाव उत्पन्न हो गया। तब वह कहता है कि जबसे आपको देखा तब से हमारे भीतर शान्तभाव उत्पन्न हो गए। एक शान्त हो रहा है, दूसरा अशान्त। यह सब अपने-अपने परिणामों से हो रहा है। पारिणामिक भाव की ओर दृष्टि रखने से शान्ति मिलती है, जो न राग-द्वेष के कारण है और न ही मुक्ति के कारण है। परिणाम ही एकमात्र इसका प्रयोजन है।

कर्म सापेक्ष और कर्म निरपेक्ष की अपेक्षा से भावों के भेद—बहुश्रुत अर्थात् गोम्मटसार, तत्त्वार्थसूत्र आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों में भावों का विस्तार से वर्णन है। क्षायिकभाव तो कर्मों के क्षय से होते हैं जो केवलज्ञानादि रूप हैं। क्षायिकभाव भी कर्म सापेक्ष होने के कारण उपचार से कर्मजनित हैं। चार भाव कर्म सापेक्ष हैं किन्तु पारिणामिकभाव कर्म सापेक्ष न होकर भी वैभाविक परिणति से सहित

है जैसे–भव्य–अभव्य आदि भाव। ये भाव यदि कर्मजनित हैं तो औदयिकभाव कहना चाहिए और यदि क्षायिकभाव कहते हो तो सिद्ध अवस्था में भी रहना चाहिए, लेकिन नहीं रहते। भव्यत्वभाव मोक्षमार्गी की अपेक्षा संख्यात, सम्यग्दर्शन की अपेक्षा असंख्यात ही रहते हैं। जैसे–भव्य अनन्तानन्त हैं और सिद्ध अनन्तानन्त हैं। भव्यत्वभाव अशुद्ध पारिणामिक सिद्ध हो गया, ध्यान भी अशुद्ध पारिणामिक भाव है।

शंका—१४ वें गुणस्थान में जो चौथा ध्यान है वह कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से नहीं है तो किसकी वजह से है? शुद्ध पारिणामिक भाव से भी नहीं है, यदि है तो सिद्धों को भी होना चाहिए।

समाधान—आत्मा में क्रियावती शक्ति होने के कारण मुक्ति होने से पूर्व में जो क्रिया होती है वह ध्यान है। जैसे–गाड़ी स्टार्ट करने से पूर्व किक मारना पूर्व भूमिका है और प्राण के पूर्व भूमिका रूप कारण पर्याप्तियाँ हैं। ''**बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्न कर्म विप्रमोक्षो मोक्षः**'' यहाँ १४वें गुणस्थान में भी ''**कृत्स्न कर्म**'' कहा तो कृत्स्न का अर्थ द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म और योग आदिक तथा अशुद्ध पारिणामिक भाव से अयोगदशा में भी जो ध्यान हो रहा है वह कर्म निरपेक्ष होकर भी वैभाविक पारिणामिक भाव है। यही कृत्स्न का अर्थ है।

कर्म निर्जरा के लिए ध्यान अनिवार्य—कर्म की निर्जरा के लिए ध्यान अनिवार्य है क्योंकि १४वें गुणस्थान में अविपाक निर्जरा, बिना चतुर्थ शुक्लध्यान के नहीं हो सकती। यद्यपि पहले भी निर्जरा और ध्यान कर रहे थे पर, वह ध्यान अलग था और यह ध्यान अलग है। गाड़ी चालू होने के बाद किक भी नहीं मारते यदि मार दें तो धड़ाम से नीचे गिर जाए। जब तक कर्म शेष रहते हैं तब तक ध्यान रहता है। १४वें गुणस्थान में उदीरणा नहीं है फिर भी अविपाक निर्जरा कर रहे हैं, यह ध्यान की महिमा है। इस प्रकार ध्यान को अशुद्ध पारिणामिक भाव कहा। लेश्या को भी अशुद्ध पारिणामिकभाव कहा है। **षट्खण्डागम** में १२वें गुणस्थान तक लेश्या को क्षायोपशमिक भाव भी कहा है। ''**कषायानुरंजित योगप्रवृतिः लेश्याः**'' योग को भी पारिणामिक भाव कहा है। योग आत्मा की वह शक्ति है जिससे कर्मों को ग्रहण किया जाता है। यह शक्ति स्वाभाविक है, किसी पर आश्रित नहीं है। सिद्धों में भी वह शक्ति विद्यमान है पर अब व्यक्तिकरण नहीं होगा। योग और भव्यत्व के समान ध्यान भी पारिणामिक भाव है। दुर्ध्यान मोह सापेक्ष है, मोह से आर्त, रौद्र ध्यान होते हैं। ११वें गुणस्थान में मोह नहीं है तो वहाँ प्रथम शुक्लध्यान है अध्यात्म ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है। यथाख्यात चारित्र संयम मार्गणा में भी इसे अपर्यवसान माना है जिस प्रकार क्षायिकसम्यग्दर्शन क्षायिकभाव है उसी प्रकार यह भी है। अब अकषायभाव वाले अनन्त कहे और यथाख्यात चारित्र वाले संख्यात हैं, असंख्यात भी नहीं हैं। दर्शन और चारित्र मोहनीय को समाप्त करके यथाख्यात चारित्र होता है। परम यथाख्यात तो १४ वें गुणस्थान में कहा है।

शंका—सिद्धों में यथाख्यात चारित्र क्यों घटित नहीं किया?

समाधान—कषाय का अभावरूप अकषायभाव नकारात्मक भाव है और यथाख्यात चारित्र सकारात्मक भाव है यही इन दोनों में अन्तर है। यथाख्यात चारित्र रूप ध्यान है, अकषाय भावरूप ध्यान नहीं है।

औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के हेतु हैं। मोह के साथ उदय वाला औदयिकभाव बन्ध का कारण है। शुद्ध पारिणामिक भाव बन्ध व मोक्ष दोनों के लिए कारण नहीं है, यह क्रिया से रहित है।

उत्थानिका—औदयिक आदि भावों को जीव कैसे करता है, इसी का उत्तर देते हैं –

कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं।
सो तस्स तेण कत्ता हवदि त्ति य सासणे पढिदं ॥६३॥

अन्वयार्थ—(कम्मं) कर्मों को **(वेदयमाणो)** भोगता हुआ **(जीवो)** जीव **(जारिसयं)** जिस तरह का **(भावं)** भाव **(करेदि)** करता है **(सो)** वह [जीव] **(तेण)** उससे **(तस्स)** उसी भाव का **(कत्ता)** कर्त्ता **(हवदि त्ति य)** होता है ऐसा **(सासणे)** जिनशासन में **(पढिदं)** व्याख्यान किया गया है।

अर्थ—कर्मों को भोगता हुआ यह जीव जैसे भाव को करता है, उस भाव का उस प्रकार से वह कर्त्ता होता है ऐसा जिनशासन में कहा है।

संसारी पल-पल कर्मों का, अनुभव करता दिखता है।
जैसे भाव जीव करता है, उसका ही वह कर्त्ता है॥
जिनशासन में यही कहा है, अर्हत् केवलज्ञानी ने।
निज को पर कर्त्ता यदि माना, भटकोगे भवअटवी में ॥६३॥

व्याख्यान—कर्म का उदय संसारी जीवों को प्रतिपल बना रहता है। रात हो या दिन हो, जल में रहे या थल में रहे, कर्म का उदय तो सर्वत्र होता है। कर्म बँध जाए तो कोई बाधा नहीं, लेकिन उदय में आते ही मनुष्य को सिर दर्द हो जाता है। जिसके सिर ही नहीं है उसे क्या दर्द करेगा? यदि हाथ-पैर दर्द करते हैं तो एकेन्द्रिय अपदा है, उसके तो पैर भी नहीं हैं, हाथ भी नहीं हैं। पेट के बल खिसकने वाले दो इन्द्रिय जीव हैं। सबको औदयिकभाव के अनुरूप वेदन बना ही रहता है। भावों के अनुसार बन्ध होकर उदय में आने पर वेदन होता है। जैसा भाव करता है उसी का वह कर्त्ता हो जाता है। इस प्रकार जिनशासन में भावों को करने की प्रक्रिया कही है। यह प्रक्रिया अभी तक रुकी नहीं है। कर्मोदय से ही जीव में भाव होते हैं और भाव होने से कर्म बन्ध होता है। पहले से तेरहवें गुणस्थान तक बन्ध चलता है, चौदहवें गुणस्थान में कर्मबन्ध की अपेक्षा निष्क्रिय कहा है।

बन्ध के हेतु—बन्ध के हेतु में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कहे हैं। उनमें से योग १३ वें गुणस्थान तक है। १४ वें गुणस्थान में कोई कारण नहीं है किन्तु निष्क्रिय भी नहीं है। सभी क्रियाएँ आस्रव कराने वाली ही हों ऐसा नहीं किन्तु कुछ क्रियाएँ कर्मक्षय के कारणभूत भी होती हैं। जैसे ध्यान एक ऐसी क्रिया है जो बन्ध को रोकने और बद्धकर्म की निर्जरा का कारण है श्री **सम्भवनाथ** भगवान् की स्तुति करते हुए श्री **समन्तभद्र** महाराज कहते हैं–

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतु बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ! तवैव युक्तं नैकान्त-दृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥ (स्वयंभूस्तोत्र१४)

अर्थ—बन्ध, बन्धहेतु और बन्ध का फल तथा मोक्ष, मोक्षहेतु और मोक्ष का फल। हे सम्भवजिन! यह आपके ही अनेकान्त मत में हैं। जो एकान्तमती हैं उनके यहाँ यह स्थितियाँ नहीं बनतीं यह निश्चित है। ध्यान बद्धकर्म के संवर, निर्जरा व क्षय का कारण है। ध्यान में क्रिया नहीं होती ऐसा नहीं, निर्जरा एक महान् क्रिया है। मुक्ति का सम्पादन इसी पर आधारित है। इस प्रकार ध्यानरूप भावों का कर्त्ता हो जाता है। कर्त्ता है तो कर्म है, कर्म है तो उसका फल है यह सब व्यवस्था चलती रहती है।

कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता जीव स्वयं है—इस प्रकार औदयिक आदि भावों का कर्त्ता व पूर्व बद्धकर्मों का भोक्ता संसारी प्राणी होता है। रागरहित-आनन्दपूरित-प्रचण्ड-अखण्डज्ञान को सूर्य की उपमा दी है। ऐसे ज्ञान से परिणत आत्मभावना से जो रहित है उसके मन, वचन, काय का व्यापार चलने से जब कर्मों का बन्ध हो जाता है तो उदय में भी आता है। आठों कर्मों का उदय है एक भी मूल कर्म क्षय को प्राप्त नहीं हुआ। हाँ, उदयाभावी क्षय होना अलग बात है। उदय समय जैसा परिणाम करता है वैसा ही आगे चलता रहता है। जैसे-बटन दबाते ही जैसी छवि सामने है वैसी ही फोटो में प्रतिबिम्बित हो जाती है। उसी प्रकार जैसा भाव करता है उसी के अनुसार कर्मबन्ध होता है और फिर उदय में आता है। उदय समय रोना-धोना करोगे तो फिर नया कर्म बँधेगा। इस तरह आजतक अन्तराल नहीं पड़ा। एक समय का भी अन्तराल आ जाए तो मुक्त हो जाए। बन्ध-उदय का यह सिलसिला सतत चल रहा है। अशुद्ध निश्चयनय से रागादि परिणामों को करके नवीन कर्मों का कर्त्ता है इसमें जीव अपने ही भावों का कर्त्ता है। जीव भाव तक ही सीमित है। रागादि भाव करते समय जीव स्वशुद्धात्मभावना से च्युत हो जाता है। ऐसा नहीं कि स्वशुद्धात्मा की भावना भी करते जाएँ और कर्म भी बाँधते जाएँ। शुद्धात्म भावना से च्युत होकर कर्म का कर्त्ता-भोक्ता बन जाता है, इस कथन की मुख्यता से यह गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि व्यवहार से रागादि परिणामों का कारण उदय प्राप्त द्रव्यकर्म है–

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥६४॥

अन्वयार्थ—**(कम्मेण विणा)** [द्रव्य] कर्म के बिना **(जीवस्स)** जीव के **(उदयं)** औदयिक

(वा) या **(उवसमं)** औपशमिक या **(खइयं)** क्षायिक या **(खओवसमियं)** क्षायोपशमिक भाव **(ण विज्जदे)** नहीं होते हैं **(तम्हा)** क्योंकि **(भावं तु कम्मकदं)** भाव तो कर्मकृत हैं।

अर्थ—कर्म के बिना जीव को औदयिक, औपशमिक, क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव नहीं होते हैं इसलिए ये चारों प्रकार के भाव कर्मकृत हैं।

द्रव्यकर्म के बिना न होता, रागादिक औदायिक भाव।
द्रव्यकर्म बिन औपशमिक ना, और न होता क्षायिक भाव॥
भाव क्षयोपशमिक ना होता, द्रव्यकर्म के बिना कभी।
अतः कर्मकृत चार भाव हैं, कहते हैं यह जिनवर जी॥६४॥

व्याख्यान—द्रव्यकर्म के बिना रागादि भावों का उदय अर्थात् औदयिक भाव, औपशमिक भाव, क्षायोपशमिकभाव और क्षायिकभाव नहीं हो सकते। इसलिए भाव ही कर्म का कर्त्ता है। भाव करने पर नहीं चाहते हुए भी कर्म बन्धन हो ही जाता है, इसे रोक नहीं सकते। दुकान एक बार खोल दी तो बन्द नहीं कर सकते। बन्द करके देख लो, लेन-देन सब ठप्प हो जायेगा। लाखों रुपयों की पूँजी लगी है, व्यवस्थित लेन-देन चलता रहता है तो व्यापार भी अच्छा चलता रहता है, इसी तरह भावों से भी बन्ध होता है। पुनः कर्मोदय से पुरुषार्थ की कमी से नवीन बन्ध हो जाता है। न चाहते हुए भी अपने आप ऐसे ही भाव हो जाते हैं। सो जाओ तो भी कर्म बँधते रहेंगे, यहाँ तक कि १३वें गुणस्थान में भी यह भाव होते हैं, वहाँ पर भी स्वाभाविक पारिणामिक भाव नहीं है। यद्यपि केवली भगवान् हर पल जागृत रहते हैं, तो भी भाव योग के माध्यम से साता वेदनीय का बन्ध हो रहा है क्योंकि साताकर्म के बन्ध योग्य भाव हो रहे हैं। भावों के बिना बन्ध हो नहीं सकता। इससे स्पष्ट है कि भाव ही कर्म का कर्त्ता है। द्रव्यकर्म का उदय व्यवहार से बन्ध में कारण है।

दृष्टान्त—जैसे दर्पण को मुख के सामने कर दिया तो मुख की छाया उसमें दिखेगी, वैसे ही द्रव्यकर्म के उदय की उपयोगरूपी दर्पण पर छाया पड़ जाती है और बन्ध हो जाता है। यद्यपि कर्म, कर्म में ही है फिर भी दृष्टान्त में छाया तो दर्पण में पड़ रही है। यहाँ भी दर्पण, दर्पण में ही है और मुख मुख में ही है लेकिन दर्पण की विशदता के कारण पदार्थ झलकते हैं।

वेदनीय कर्म का उदय है तो वह मोहनीय के बिना घातक नहीं होता। मोहनीय से बचना चाहते हो तो पर को अपना मत मानो ऐसी जिनकी साधना है। उनको आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी भी नमोऽस्तु करते हैं। सप्तम गुणस्थान में मुनिराज जो विपाकविचय धर्म्यध्यान करते हैं वह हर व्यक्ति के बस की बात नहीं है। बाह्य वातावरण से वे प्रभावित नहीं होते, ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रखते हैं। मोह के कारण जीव औदयिकभाव का संवेदन करता है। कुछ ऐसी चीजें हैं जो बाहरी स्थूल पदार्थ पर ही अपना प्रभाव डालती हैं तो कुछ सूक्ष्म पर। जैसे-एक्सरे शरीर के रंग-रोगन को न पकड़कर भीतर

जहाँ रोग है वहाँ किरणों का प्रवेश कराकर उतने ही स्थान को सेंक के माध्यम से जलाता है, शेष आँत आदि स्थान पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। उन आँतों के पास ऐसी कौन-सी क्षमता है जो प्रभावित नहीं होतीं, स्पष्ट है एक ही पदार्थ का भिन्न-भिन्न क्षेत्र में भिन्न-भिन्न परिणाम फलित होता है। कर्मों का भी ऐसा ही खेल है, किसी क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि को तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो जाता है, तो किसी क्षायिक सम्यग्दृष्टि को भी नहीं हो पाता, ऐसे कौन सी क्वालिटी के भाव हैं जो तीर्थंकर प्रकृति के योग्य परिणाम हो गए। वहीं पर निगोदिया जीव भी हैं, वही औदारिक शरीर है पर तीर्थंकर प्रकृति की वर्गणाएँ वहीं क्यों बँधी? अपने-अपने भावानुसार कर्म बँधते हैं, पर के अनुसार नहीं। इसीलिए हमारे भगवान् हाथ पर हाथ रखकर विराजते हैं। मैं पर का कुछ नहीं कर सकता, यह इसका प्रतीक है। भगवान् के समान आँख बन्द करके बैठ जाएँ, नासादृष्टि हो, तो निर्जरा होना प्रारम्भ हो जायेगी। सम्यग्दृष्टि जीव को ही निरन्तरबंधी यह तीर्थंकर प्रकृति बँधती है, तथा आठवें गुणस्थान के छट्ठे भाग तक बँधती है।

द्रव्यकर्म के उदय के बिना औदयिक आदि चार भावों की उत्पत्ति नहीं—जीव के औदयिक आदि चार भाव द्रव्यकर्म के उदयादि बिना नहीं होते, अतः ये भाव द्रव्यकर्मकृत हैं। केवलज्ञानादि क्षायिक ९ लब्धियाँ तथा अनाकुलता रूप निश्चयसुख आदि अनन्तगुण सब क्षायिकभाव हैं यही उपादेय हैं, इसी का श्रद्धान कर लेना चाहिए। मिथ्यात्वादि विभावरूप विकल्पजाल को छोड़कर क्षायिकभाव अथवा परम पारिणामिकभाव का निरन्तर ध्यान करते रहना चाहिए। ज्ञान हो तो ध्यान हो। सांसारिक सब कार्यों में ध्यान लगाते हैं फिर आत्मा का ध्यान कैसे लग सकता है? किसी भी विषय में हर्ष-विषाद न करके समता धारण करना ही ध्यान की धारा है।

मोह के कारण ही उपयोग में रागादि भाव होते हैं—समतारूप ज्ञान की प्रवृत्ति बहुत अद्भुत है। दर्शनोपयोग के समय हर्ष-विषाद होते हुए भी बुद्धिपूर्वक कोई चिन्तन नहीं चलता। इसी तरह ज्ञानोपयोग में भी इष्टानिष्ट कल्पना से रहित ज्ञानप्रत्यय से अनेक संकल्प-विकल्पों से बच सकते हैं। दर्पण के ऊपर जो धूल लगी है उसे हाथ या कपड़े से साफ कर सकते हैं लेकिन छाया जो पड़ रही है वह मिट नहीं सकती। ज्ञेय का जो उपयोग पर प्रतिबिम्ब पड़ा है उसे मिटा नहीं सकते। जो संवेदन है वह ज्ञेयगत् नहीं, आत्मगत् है, उसे मिटा नहीं सकते। बाहर का ज्ञेय मिटे तो अन्दर का मिटे, इसे हाथ नहीं लगा सकते किन्तु थोड़ा-सा खिसकते ही दर्पण में आकृति समाप्त हो जाती है, इसी प्रकार मोह के खिसकते ही उपयोग में जो रागादि भाव हैं वह समाप्त हो जायेंगे। बर्तन माँजने के समान या पोंछा लगाने के समान मोह को हाथ से साफ नहीं कर सकते। हाँ, हर्ष-विषाद नहीं करने रूप बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ कर सकते हैं। ज्ञेय जो झलक रहे हैं वह तो झलकेंगे ही, उसे मिटा नहीं सकते। केवलज्ञान में तो त्रिकालसम्बन्धी सभी पर्यायें झलक रही हैं। पहले कितने लोग अपने-पराये थे या जो लोग उनके वियोग में रोते रहे, वे सब पूर्णज्ञान में झलक रहे हैं। अभी मुक्ति नहीं हुई है तो क्या

प्रभु स्वयं अपनी आँख का पानी पोंछते हैं? नहीं। केवली भगवान् तो राग-द्वेष, मोह न होने से १८ दोषों से रहित होकर हाथ पर हाथ रखे बैठे हुए हैं। पर के कर्त्ता न होने का यह प्रतीक है अर्थात् विश्वकर्मा नहीं हैं। व्यवहार से विश्वधर्मा हैं, निश्चय से आत्मधर्मा हैं। देखने-जानने के अलावा कोई कर्म नहीं करते, कृतकृत्य हो गए हैं। ध्यान संवर-निर्जरा का कारण है, इससे बन्ध नहीं होता। १३ वें गुणस्थान तक बन्ध के कारण हैं, १४ वें गुणस्थान में बन्ध नहीं निर्जरा है। इसी का नाम क्रिया है जो ध्यान के प्रयोग से हो रही है।

उत्थानिका—द्रव्यकर्म को सर्वथा जीव भाव का कर्त्ता मानने से दूषण होता है ऐसा कथन करते हैं-

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।
ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं भावं ॥६५॥

अन्वयार्थ—(जदि) यदि **(भावो)** [रागादि]भाव **(कम्मकदो)** कर्मकृत हैं तो **(किध)** किस तरह **(अत्ता)** आत्मा **(कम्मस्स कत्ता होदि)** [द्रव्य]कर्म का कर्त्ता होता क्योंकि **(अत्ता)** आत्मा **(सगं भावं)** अपने ही भाव को **(मुत्ता)** छोड़कर **(अण्णं किंचि वि)** अन्य कुछ भी [द्रव्यकर्म आदि को] **(ण कुणदि)** नहीं करता।

अर्थ—यदि भाव सर्वथा कर्मकृत हों तो आत्मा कर्म का कर्त्ता कैसे हो सकता है? क्योंकि आत्मा तो अपने भाव को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता।

द्रव्यकर्म के द्वारा ही यदि, किया सर्वथा भावकरम।
तो फिर भावकर्म का कर्त्ता, कैसे हो सकता आतम?
क्योंकि अपने भावकर्म का, मात्र आतमा है कर्त्ता।
अन्य द्रव्य सम्बन्धी भाव का, जीव नहीं किञ्चित् कर्त्ता ॥६५॥

व्याख्यान—उपादान और निमित्त कार्य की उत्पत्ति के लिए दो कारण कहे हैं। इसमें द्रव्य की शक्ति का नाम उपादान है और सहकारी कारण का नाम निमित्त है। जैसे-घट के लिए मृतिका की शक्ति उपादान कारण है और कुम्भकार, दण्ड, चक्र आदि निमित्त कारण हैं। निश्चयनय से मिट्टी घट कार्य की कर्त्ता है और व्यवहारनय से कुम्भकार, क्योंकि निश्चयनय से कुम्भकार अपने चैतन्य परिणामों का ही कर्त्ता है। जहाँ उपादान कारण है वहाँ निश्चयनय है और जहाँ निमित्त कारण है वहाँ व्यवहारनय है। कुम्भकार के ज्ञान में घट आकार रूप परिणमन का कर्त्ता कुम्भकार नहीं है घट ही है, ऐसा सर्वथा माने तो अचेतन घट चेतनात्मक घटाकार परिणामों का कर्त्ता कैसे होगा? अचेतन द्रव्य अचेतन परिणामों का कर्त्ता होता है, चेतन का नहीं। पहले जो प्रश्न किया था कि सर्वथा द्रव्यकर्म ही भावकर्म का कर्त्ता माना जाए तो क्या होगा? इससे जीव अकर्त्ता हो जायेगा, जिससे द्रव्यकर्म के बन्ध का अभाव होगा और कर्म बन्ध न होने से संसार का अभाव होगा। जिससे यह जीव सर्वथा मुक्त

ही रहेगा किन्तु यह प्रत्यक्ष से विरोध रूप है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा के भावकर्मों का निमित्त पाकर द्रव्यकर्म होता है और द्रव्यकर्म से संसार होता है, निश्चयनय से आत्मा कर्मों का कर्त्ता नहीं है।

उत्थानिका—पूर्व सूत्र में आत्मा को कर्मों का अकर्त्ता है ऐसा दूषण देते हुए पूर्व पक्ष किया था उसी का आगे खण्डन करते हैं–

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं हवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥६६॥

अन्वयार्थ—**(भावो)** व्यवहार नय से रागादि भाव **(कम्मणिमित्तो)** कर्मों के निमित्त से होते हैं **(पुण)** तथा **(भावकारणं)** रागादि भावों के कारण **(कम्मं)** द्रव्य कर्म का बन्ध **(हवदि)** होता है **(तेसिं)** उन द्रव्य और भाव कर्मों का **(खलु)** निश्चय से **(कत्ता ण दु)** [परस्पर उपादान] कर्तापना नहीं है **(दु)** परन्तु **(कत्तारं विणा)** [उपादान] कर्त्ता के बिना **(ण भूदा)** वे नहीं हुए हैं।

अर्थ—जीव के भाव में कर्म निमित्त है और कर्म के लिए जीवभाव निमित्त है परन्तु वास्तव में एक-दूसरे के कर्त्ता नहीं हैं किन्तु कर्त्ता के बिना होते हैं ऐसा भी नहीं है।

भावकर्म भी द्रव्यकर्म के, निमित्त पाकर होते हैं।
पुनः कर्म वसु भावकर्म के, निमित्त से ही होते हैं॥
पुद्गल भावकर्म नहीं कर्त्ता, जीव न द्रव्यकर्म कर्त्ता।
द्रव्य-भाव दो कर्म नियम से, हुए नहीं हैं बिन कर्त्ता॥६६॥

व्याख्यान—द्रव्यकर्म के उदयरूप निमित्त से भावकर्म होते हैं और वह भावकर्म नूतन द्रव्य कर्म बन्ध के लिए कारण बन जाते हैं। निमित्त का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव पृथक् है और जीव का भाव उस निमित्त से बिल्कुल पृथक् है फिर भी कर्मोदय से आत्मा में भाव उत्पन्न हो जाते हैं और भाव होते ही उम्मीदवार रूप कार्माण वर्गणाएँ कर्मरूप परिणत हो जाती हैं, यह बहुत बड़ा रहस्य है। न भाव दिखते हैं और न ही कर्म, फिर भी यह कार्य अनादि से चल रहा है। अभिमान करने से न कुछ कार्य होता है और दीन-हीन होने से न कुछ कार्य रुकता है। कोई सोचे कि हम कर्म मिटाकर रहेंगे, ऐसा सोचने से मिट नहीं सकते। दया से, अभिमान से या अरजी करके किसी से कर्म छुड़वा नहीं सकते, यह कटु सत्य है। भले ही परिवार में गृहस्थ एक दूसरे के पूरक बन जाएँ, पर कर्मोदय में कोई साथ नहीं दे सकता, यह एक अटल सिद्धान्त है। फिर एक दूसरे का उपकार क्यों करें? तो जो निमित्ताधीन दृष्टि रखने वाले हैं वो ऐसा पूछते हैं उनके लिए कहा जाता है कि ऐसा कर लो, किन्तु मैं यह करके ही रहूँगा ऐसा अभिमान नहीं करना।

दृष्टान्त—एक कथा आती है–ग्वाले ने साधु को ठण्ड न लगे इसलिए अग्नि जलाकर सुरक्षा कवच बना दिया। सवेरा होते ही वह ऋद्धिधारी मुनि "**णमो अरहंताणं**" कहकर गगनमार्ग से चले

गए। कोई सोच सकता है कि–१२ घण्टे सेवा की, कुछ तो बोल जाते, आशीर्वाद भी नहीं दिया, तो क्या मुनिवर में दया नहीं थी? बिना कहे उसने भक्ति की, कुछ तो बोल जाते, उसका मार्ग प्रशस्त हो जाता। केवल "**णमो अरहंताणं**" बोल करके चल दिये लेकिन वही उसके लिए मन्त्र बन गया। जिससे नदी के तेज प्रवाह में बहता हुआ ग्वाला णमोकार मन्त्र के स्मरण मात्र से; जिनका दर्शन सबको प्रिय था ऐसा, सेठ सुदर्शन हो गया। निमित्त से दृष्टि हटाना बहुत बड़ी साधना है। जब हम ही अपने भावों से शाश्वत सुखी होने का कार्य नहीं कर पा रहे हैं तो दूसरे का कैसे कर सकते हैं? ऐसी धारणा अन्तर्दृष्टि रखने वाले साधक ही बना सकते हैं जो बहुत कम हैं।

द्रव्यकर्म और भावकर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध–द्रव्यकर्म से भावकर्म और भावकर्म का कारण द्रव्यकर्म हो जाता है किन्तु भाव और द्रव्यकर्म का कर्त्ता भिन्न-भिन्न है। यह सिद्धान्त समझ में आ जाता है किन्तु इसे अमल करना कठिन है।

शंका–तीर्थंकर भगवान् में छह महिने तक उपवास करने की क्षमता है फिर भी बार-बार आहार के लिए उठते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं, मनःपर्ययज्ञान है, वज्रवृषभनाराच संहनन है, अकालमरण नहीं होगा, केवलज्ञान तो होना ही है यह जानते भी हैं, प्रशस्त नामकर्म के उदय के कारण कितने ही उपवास कर लें तो भी उनके शरीर में एक झुर्री भी नहीं आयेगी, किशोर अवस्था जैसा ही रूप रहेगा। यह सब निश्चित है फिर भी आहार के लिए क्यों उठते हैं? ऐसी कौन सी आवश्यकता पड़ी कि गृहस्थ के सामने जा करके यूँ हाथ आगे बढ़ाना पड़ा?

समाधान–आचार्य कहते हैं कि यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कोई भी घड़ी हो चाबी अनिवार्य है। अब तो ऑटोमेटिक आ गई हैं पर उसमें भी सेल या करंट चाहिए। कोई भी मशीन हो, पेट्रोल या सौर ऊर्जा आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। तभी तो आहार लेने के लिए उठते हैं और आहार लेने के उपरान्त ध्यान में मन लगता है यह उन्हीं के द्वारा लिखित आगम में कहा गया है। उन्हीं ने अनुभव किया, बाद में केवलज्ञान हुआ फिर मूलाचार की रचना हुई। उसमें बताया है कि आहार आवश्यक है अनिवार्य नहीं।

ऐसे कई ऋद्धिधारी मुनिराज हैं जिन्हें जीवनपर्यन्त आहार करने की कोई आवश्यकता नहीं, फिर भी आहार करते हैं। ऋद्धियों के प्रकरण में आता है कि एक उपवास एक आहार, दो उपवास एक आहार इस तरह बढ़ाते चले जाते हैं और बढ़ाते-बढ़ाते एक समय ऐसा भी आ जाता है कि उपवास में ही जीवन निकाल देते हैं। "**उग्गतवाणं, दित्ततवाणं, तत्ततवाणं, महातवाणं, घोरतवाणं, घोरगुणाणं**" आदि तप ऋद्धि के भेद हैं।

शंका–ऐसा भी एक प्रश्न उठ सकता है कि जब तीर्थंकर छद्मस्थ अवस्था में आहार के लिए उठते थे, तो गणधर परमेष्ठी क्यों नहीं उठते?

समाधान–यह समवसरण की महिमा है कि भूख नहीं लगती, इसलिए गणधरपरमेष्ठी

समवसरण छोड़कर कहीं नहीं जाते। तीर्थंकर के लिए आहार में उठना क्यों अनिवार्य है? यह बात समझ में नहीं आती। अन्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि आहार में उठने या न उठने में ज्यादा विकल्प उन्हें नहीं होता। अध्यात्म में आत्मिक साधना की बात कही जाती है। मशीन में पेट्रोल आदि डालने के समान आहार दे देते हैं और वह इस क्रिया के कर्त्ता भी हैं। बिना कर्म के आहार क्रिया नहीं हो सकती। भावकर्म का कर्त्ता जीव है किन्तु सांख्यमत के समान एकान्त नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक अपेक्षा एक दूसरे से ऐसे सम्बन्ध हैं, जिसके कारण सब घटित हो जाता है। पूर्व में आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है ऐसा कहा था इसी का परिहार करने के लिए व्याख्यान किया है।

आत्मा के भावों से ही कार्मण वर्गणाएँ कर्म रूप परिणत—शुद्ध जीवास्तिकाय के प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्व-रागादि को परिणाम या भाव के रूप में स्वीकार किया है यह कर्म के निमित्तभूत हैं। कर्मोदय से रहित जो चैतन्यपक्ष है वह जब परमात्म भावना रूप स्वभाव से प्रतिपक्षभूत होता है तब उदय में आया हुआ कर्म निमित्त बन जाता है इसे कर्म निमित्तभाव कहा है। आठ कर्म रूप परिणत होने की क्षमता वाली कार्मण वर्गणाएँ हैं जो कि द्रव्यकर्म रूप परिणत होने वाली हैं लेकिन निमित्त के बिना परिणत नहीं होतीं।

दृष्टान्त—जैसे स्याही की टिकिया है उसे पाउडर के रूप में बना कर पेन में भर लेने से क्या लिख पायेंगे? नहीं, पानी चाहिए, तो ठीक है पानी से लिख लो, नहीं लिख सकते। स्याही की टिकिया में पानी का निमित्त मिलने पर लेख तैयार हो जाता है, उसी प्रकार कार्मणवर्गणा रूपी टिकिया में पानी के समान आत्मा के भाव का सम्बन्ध होते ही कर्म रूप परिणमन हो जाता है। वनस्पति में भी नामकर्म है, रूप, रसादि भाव हैं। जैसा पहले बीज को बोयेगा फिर खाद-हवा, पानी के माध्यम से वैसा ही अंकुर उत्पन्न होगा। जैसे-पद्मप्रभ जी के शरीर का लाल रंग है वैसा ही पलाश का फूल भी उत्पन्न हो गया। ऐसा लाल रंग कहीं मिल ही नहीं सकता, जो सहज रूप से इसमें है। अन्य वनस्पति में भी वही खाद, हवा, पानी मिल सकता है पर उनके जैसा लाल रंग नहीं है क्योंकि सबके उपादान में ऐसी योग्यता नहीं है। वैसे ही आत्मा के भावानुसार परिवर्तन होता रहता है।

भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय का विवेचन—षट्खण्डागम, धवला आदि ग्रन्थों में भवप्रत्यय व गुणप्रत्यय का एक प्रसंग आया था उसके अनुसार खाद-पानी इत्यादि से स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि रूप परिणमन हो जाना गुणप्रत्यय है। तथा कैसा भी भोजन करे, पर उसका रंग जीवन के अन्त तक वही रहेगा यह भवप्रत्यय है। जैसे-नरकों में नारकी का रंग काला है। नीचे-नीचे और काला होता जाता है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा क्योंकि ऐसा ही नामकर्म का उदय है। श्री नेमिनाथ भगवान् तीर्थंकर थे, कुछ कमी नहीं थी, दूध, घी, केशर भी घोलकर पी लेते तो भी शरीर का रंग कृष्ण ही रहता है। कुछ जीवों का दूध-भात खाकर भी काला रंग रहता है और किसी का मिट्टी खाकर भी सफेद रंग रहता है; इससे यह फलितार्थ निकलता है कि बाहरी रसायन भिन्न है और भीतर का कर्म

भिन्न है। जैसा कर्म का उदय रहेगा वैसा ही परिणाम होगा, यह निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। हुण्डावसर्पिणी काल में भरत–ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों में रंग भेद है जैसे–विदेश में रूस, अमेरिका, यूरोप, अफ्रीका सब जगह भिन्न–भिन्न रंग हैं; कहीं गोरे, कहीं काले हैं। इन दोनों में लड़ाई अभी भी चलती रहती है। इसका मूल कारण कर्म है जो विज्ञान को समझ में नहीं आता। भारतवासियों को फिर भी समझ में आ जाए, लेकिन उन्हें समझ में नहीं आता। अकाल पड़ जाए तो अन्न समुद्र में फेंक देंगे लेकिन मनुष्यों को खाने के लिए नहीं भेजेंगे; क्योंकि काले–गोरे रंग का भेद है। इस भेद–भाव में अच्छे–अच्छे व्यक्ति बह जाते हैं यह भवप्रत्यय की बात कही।

ब्रह्मचर्य अवस्था में सुना था कि भैंस के दूध का दही जमाकर भारी चीजों के साथ खाओ इससे निद्रादेवी बहुत जल्दी आ जायेगी। निद्रा–निद्रा, प्रचला–प्रचला, स्त्यानगृद्धि निद्रा की उदीरणा भी सम्भव है, लेकिन नियम नहीं है। अतिमात्रा में या गरिष्ठ भोजन के सेवन से प्रमाद निश्चित आता है। इसीलिए छह तपों के वर्णन में नीरस भोजन का विधान किया, क्योंकि इससे आलस्य दूर हो जाता है और स्वाध्याय, ध्यान निर्दोष हो जाता है। इस तरह तप का प्रयोजन बताया है। जिह्वा इन्द्रिय के वश न होकर इसे जीतने से द्रव्यप्राण और भावप्राण की रक्षा हो जाती है। अच्छे–अच्छे व्यक्तियों को भोजन के बाद नशा चढ़ता है, मूर्च्छित होकर सो ही जाते हैं। इसीलिए १०–११ बजे तक भोजन से निवृत्त होकर सामायिक के पूर्व एक घण्टे का अन्तराल रखें। इससे मध्याह्न में भी सवेरे जैसा लगेगा। ध्यान अच्छे से होगा। इसका प्रभाव पड़ता ही है इसे नकार नहीं सकते, उपेक्षित नहीं कर सकते। अजगर की नींद प्रसिद्ध है, वह बहुत मोटा व भारी होता है और आलसी भी होता है। यदि उसे कोई छेड़ दे तो जरा–सा फुसकार देता है लेकिन वह काटता नहीं है। यदि काट भी ले तो कुछ नहीं होता, ऐसा सुनते हैं। यह स्वाभाविक गुण भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय में आ जाता है, यह स्पष्ट हुआ।

द्रव्यकर्म और भावकर्म में अन्योन्य सम्बन्ध—भावकर्म, द्रव्यकर्म के लिए निमित्त है और द्रव्यकर्म का उदय भावकर्म के लिए निमित्त है, लेकिन एक–दूसरे के लिए उपादान कारण नहीं हैं। अब इसमें जीव के रागादि भावकर्म और कर्मगत भी भावकर्म होते हैं। जीव में राग–द्वेष आदि उत्पन्न करने की क्षमता का नाम तत्शक्ति है जो कि द्रव्यकर्म का भावकर्म है। जैसे–स्याही की टिकिया में पानी के बिना लिखने की क्षमता नहीं आती, वैसे ही जीव के भावों द्वारा द्रव्यकर्म की शक्ति के बिना कर्म बन्ध रूप कार्य नहीं होता, ऐसा अन्योन्य सम्बन्ध है, इसे नकारा नहीं जा सकता। फिर भी उपादान और निमित्त का कार्य भिन्न–भिन्न ही माना जाता है।

भावों की क्षमता के अनुसार ही जीव में हीनाधिक बन्ध—कर्मबन्ध और निर्जरा में आत्मा का भाव ही कारण है। एकेन्द्रिय जीवों में वह अनुभाग नहीं पड़ता जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों को पड़ता है इससे फलितार्थ निकलता है कि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के भावों की क्षमता बढ़ चुकी है। पर्यायगत विशेषता के कारण यह किसी भी अवस्था में रहे, एकेन्द्रिय से कई गुना अधिक बन्ध संज्ञी पञ्चेन्द्रिय

को होता है। **धवला** में आया था कि क्षपक श्रेणी में बहुत कुछ कार्य करने के उपरान्त असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के बराबर स्थिति बन्ध और स्थिति सत्त्व हो जाता है फिर चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय के समान स्थिति बन्ध होकर "**द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य**" तक पहुँच जाता है।

जीव में शुद्धनय की अपेक्षा कर्त्ता भाव नहीं है किन्तु अशुद्ध निश्चयनय से कर्तृत्व भाव माना है और यह औपचारिक नहीं है। अशुद्ध का अर्थ वैभाविक और निश्चय का अर्थ उपादान रूप है यह अध्यात्म का रहस्य है। शुद्ध कहने का अर्थ दूसरे द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है। जब शुद्धभाव का कर्त्ता है तब अशुद्धभाव का नहीं। यह त्रैकालिक सत्य है। यह क्षमता होते हुए भी जो जीव राग-द्वेषादि भाव बुद्धिपूर्वक करते हैं उन्हें उन भावों को छोड़ने का पुरुषार्थ करना चाहिए और आत्म स्वभाव के प्रभाव का चिन्तन करना चाहिए, यही प्रारंभिक पथ है।

उत्थानिका—पूर्व में जो प्रश्न किया था उसी का समाधान यहाँ किया। प्रश्नोत्तर के साथ में दो गाथा कहकर अब पुनः आगम से इसे ही दृढ़ करते हैं–

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ॥६७॥

अन्वयार्थ—**(अत्ता)** आत्मा **(सगं सहावं)** अपने ही स्वभाव को **(कुव्वं)** करता हुआ **(सगस्स भावस्स)** अपने ही भाव का **(कत्ता)** कर्त्ता होता है **(पोग्गलकम्माणं ण हि)** पुद्‌गल कर्मों का कर्त्ता नहीं होता है **(इदि)** ऐसा **(जिणवयणं)** जिनेन्द्र का वचन **(मुणेयव्वं)** मानने योग्य है।

अर्थ—आत्मा अपने ही स्वभाव को करता हुआ अपने ही भाव का कर्त्ता होता है। पुद्‌गल कर्मों का कर्त्ता नहीं होता है ऐसे जिनेन्द्रदेव के वचन मानने योग्य हैं।

करता हुआ आत्मभावों को, जीवद्रव्य देखा जाता।
अतः स्वयं के परिणामों का, आतम कर्त्ता कहलाता॥
पुद्‌गलमयी द्रव्यकर्मों का, कर्त्ता जीव न निश्चय से।
इस प्रकार प्रभुवर की वाणी, जानो तुम इस आगम से॥६७॥

व्याख्यान—आत्मा अपने स्वभाव का कर्त्ता है विभाव का नहीं, पुद्‌गल कर्म का भी नहीं यह जिनवचन है अर्थात् सिद्धान्त है क्योंकि जिनवर अन्यथावादी नहीं हैं। जिनवचन का अर्थ ही वस्तु तथ्य है इसे स्वीकार लेना चाहिए। महत्त्वपूर्ण तथ्य आचार्यों ने हमें जिनवाणी के माध्यम से अवगत कराया है। घातिया कर्मों का नाश शुक्लध्यान द्वारा होता है इस मत को गौण करके, दूसरे मतानुसार मोहकर्म का नाश धर्म्यध्यान द्वारा होता है। १० वें गुणस्थान के अन्त तक वह धर्म्यध्यान होता है, मोहक्षय होते ही क्षपकश्रेणी वाले १२ वें गुणस्थान में प्रवेश करके प्रथम व द्वितीय दो शुक्लध्यान के माध्यम से तीन घातिया कर्मों का क्षय करते हैं, ऐसा आगम मिलता है। इससे यह ध्वनि निकलती

है कि "**मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्**" मोहनीयकर्म के क्षय के लिए पुरुषार्थ बताया है। चौथे से सप्तम गुणस्थान तक तीन दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबन्धी इन सात प्रकृतियों का क्षय होता है। शेष २१ चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों को अष्टम गुणस्थान में भूमिका बनाते हुए १० वें गुणस्थान के अन्त तक क्षय कर देते हैं, यह पुरुषार्थ आत्मा के भावों पर आधारित है। मोहनीयकर्म के जितने भेद हैं उन सबको धीरे-धीरे नाश करते हैं। दर्शनमोहनीय में भी क्रम से मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करके सम्यक्प्रकृति के शेष रहने पर कृतकृत्यवेदक होकर उसका भी क्षय हो जाता है। सर्वप्रथम मोह का क्षय होता है पुण्य कर्म का नहीं। कई लोग पुण्य कर्म के क्षय के चक्कर में लगे हुए हैं जो कि सैद्धान्तिक नहीं है।

आज ही प्रातः विषय आया था कि केवली, आठ समयवर्ती केवली समुद्घात करते समय अन्य प्रकृतियों की स्थिति घात आदि करते हैं किन्तु प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग घात करते हैं ऐसा नहीं आया। विचार करो, जब केवली भगवान् भी सातावेदनीय आदि प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभागबन्ध का घात नहीं कर रहे हैं तो यह उल्टी हवा कहाँ से चल पड़ी? समझ में नहीं आता। पुण्य का अर्थ यहाँ पुण्यप्रकृति से नहीं किन्तु पुण्य का अर्थ है संयमी द्वारा किये जाने वाले छह आवश्यक और पाप का अर्थ असंयम है, जिसको छोड़ दिया है। अब पुण्य मत करो, यह इसलिए कहा जा रहा है कि अब यह छह आवश्यक न करके निश्चय-आवश्यकों की ओर आ जाओ। प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त, आलोचना इन सबको छोड़कर निश्चय-प्रतिक्रमण आदि में आ जाओ। भेद में पुण्यबन्ध होता है इसलिए उसे छोड़कर अभेद को स्वीकार करो। लेकिन जिसके पास अभी संयम की कोई भूमिका ही नहीं उसके द्वारा जो पुण्यबन्ध होता है उसे भी छोड़ने की बात करना आगम से बिल्कुल विपरीत है।

हम अपने भावों तक सीमित रह सकते हैं। दूसरे का अन्तर्भाव अपने में करता चाहते हैं यह तीन काल में भी सम्भव नहीं है। दीवार के ऊपर सफेदी लगाकर आप कर्तृत्व बुद्धि से मान लेते हैं कि मेरे द्वारा दीवार सफेद हो गयी, किन्तु दीवार तो दीवार में है। सफेदी-सफेदी में है। उसी प्रकार शरीर, शरीर में रहता है। आत्मा, आत्मा में रहती है। शरीर का धर्म आत्मा में व आत्मा का धर्म शरीर में नहीं आ सकता।

कर्मों का कर्त्ता स्वयं कर्म है लेकिन जीवों के भावानुसार ही वह कर्त्ता है। कर्म में भी स्पर्शादि हैं यह अपने स्वभावानुसार चलते हैं और जीव अपने चैतन्य परिणाम के अनुसार चलता है। चैतन्यमय परिणामों का कर्त्ता चेतन आत्मतत्त्व है इसी का नाम "**सगं सहावं**" है। अपने-अपने स्वभावानुसार ही कर्त्ता और कर्म बनते हैं। इसमें जीव आत्म भावों के अलावा रूपादि का कर्त्ता नहीं है और कर्म भी चैतन्य रूप परिणामों का कर्त्ता नहीं है। **आलापपद्धति** में उपचार की अपेक्षा जीव में अचेतनभाव भी आया है और कर्मों में चैतन्यभाव भी आया है। नय विषय को सरल करने वाला होकर भी बहुत

जटिल होता है क्योंकि उसे प्रसंगानुसार लगाना होता है। पूर्व में कहा था कि–कर्म में भावकर्म भी रहता है जिसमें राग पैदा करने की शक्ति रहती है जो अन्य पुद्‌गलों में नहीं रहती। द्रव्य–क्षेत्रादि के निमित्त से कर्मों में अनुभाग पड़ता है। जैसे–गुड़वेल तो कड़वी है ही, यदि नीम पर चढ़ जाए तो कड़वेपन की मात्रा और अधिक बढ़ जायेगी। जैसे–कोई बच्चा गिर जाए तभी गुस्से में आकर माँ चिल्ला दे कि खाया नहीं था क्या? वह रोने वाला तो था ही, अब और जल्दी जोर–जोर से रोने लगा। यदि उस समय माँ हँसकर कह देती है कि कुछ नहीं हुआ, घोड़ा कूदा है इस तरह बहलाने से रोता हुआ भी वह हँसने लग जाता है। उसी प्रकार कर्मों में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार परिणमाने की क्षमता है।

कर्म को चेतन और जीव को रूपी कहने का रहस्योद्‌घाटन–कर्म में राग पैदा करने की क्षमता होने से उपचार से चेतन कहा है और कर्म पुद्‌गल के साथ गठबन्धन होने से जीव को रूपी कह दिया। निर्बन्धदशा में स्वभाव से वह अरूपी ही है। उपयोग की प्रणाली चैतन्यमय ही है तो नशीली वस्तुओं का प्रभाव पड़ नहीं सकता जबकि प्रभाव देखा जाता है। नाम सुनते ही परिणाम बिगड़ने लग जाते हैं। केवलज्ञानी सर्व पदार्थों को जानते हैं पर उनको विकार उत्पन्न नहीं होता। समाधि करने वाले के पास मित्र मण्डली आकर उसके निकटवर्ती लोगों को फोन करके सुनाने लग जाएँ तो उसे मोह जाग्रत हो जायेगा क्योंकि वह अभी मोह की भूमिका में है। उपयोग के ऊपर जल्दी असर करेगा। कर्म के साथ रहकर रूपी हो गया है इसीलिए ऐसा कहा जाता है। कई प्रसंग ऐसे मिलते हैं जिससे वर्षों की तपस्या निष्फल हो जाती है भावों में विकृति आ जाती है।

अब सिद्धान्त की अपेक्षा विचारते हैं तो किसी को अवधिज्ञान होकर मिथ्यात्व गुणस्थान हो गया। मिथ्यात्व में आने से विभंगज्ञान हो गया। विभंगज्ञान अनुगामी नहीं है और पर्याप्त दशा में ही होगा जबकि अवधिज्ञान तो अनुगामी है अर्थात् साथ जा भी सकता है, आ भी सकता है। मिथ्यात्व के कारण उसी क्षयोपशम में कितना अन्तर आ जाता है। उसी प्रकार अमूर्तिक होकर भी मूर्तिक की संगति से मूर्तिक बन गया, यही आस्रव दशा है। भावास्रव के बिना द्रव्यास्रव नहीं होता।

दृष्टान्त–विद्यालय में गुरुजी जब किसी एक बच्चे को नाम लेकर खड़ा करते हैं तो वह सोचता है पता नहीं, सबके सामने क्या पूछने वाले हैं? अन्य विद्यार्थी सोचते हैं कि अच्छा हुआ हमारा नम्बर टल गया। उसी प्रकार कौन से कर्म का उदय कैसा आता है? पता नहीं और वह उसी व्यक्ति पर आघात करता है। आत्मा स्वभाव से अरूपी है और कर्म अतिसूक्ष्म होकर भी जो कर्म उदय में आया वह रूपी है। रूपी अरूपी पर प्रभाव डाल रहा है इसलिए बन्ध दशा में एकान्त से जीव अरूपी और चेतन ही है ऐसा नहीं, यद्यपि जीव में चैतन्य का अभाव नहीं हुआ है किन्तु स्वभाव से विपरीत परिवर्तन हो जाता है। स्वभाव का अभाव न होकर भी अशुद्ध हो गया।

दृष्टान्त–जैसे जल का स्वभाव ठण्डा है पर उबलते पानी की वाष्प लगते ही आँच लगने

लगती है, ऐसा क्यों हो रहा है? स्वभाव से जल ठण्डा है तो तप क्यों रहा है? तो अग्नि के सम्पर्क के कारण जल की प्रवृत्ति विपरीत हो जाती है वैसे ही जीव स्वभाव से चेतन पिण्ड है फिर भी अनुभव में कर्मास्रव हो रहा है। आस्रव रुकते ही अन्तर्मुहूर्त में ही मुक्ति हो जाती है। १३वें गुणस्थान तक तो आस्रव हो रहा था, दूसरे ही समय १४ वें गुणस्थान में पहुँचते ही निरास्रव हो जाने पर व्युपरत-क्रियानिवृत्ति ध्यान के ध्याता हो जाते हैं।

निश्चयनय को अभेद अर्थात् स्वभाव की ओर ले जाने वाला तथा व्यवहारनय को भेद अर्थात् विभाव की ओर ले जाने वाला कह सकते हैं। शुद्धभावों का कर्त्ता भी अभेद विवक्षा में है। प्रकृति, स्थिति आदि बन्ध आत्मा के परिणामों द्वारा कर्म में हो रहे हैं या कर्म-कर्म से बँधता है ऐसा कहने में बाधा नहीं है क्या? जैसे-गाय के गले में रस्सी बँधी है। वास्तव में गाय नहीं बँधी है यह उदाहरण नहीं उदाहरणाभास है। पति का सम्बन्ध पत्नि से है चाहे कितनी ही दूर रहे, पर विवाह का बन्धन हो चुका है इसे सम्बन्ध बोलते हैं किन्तु तलाक लेते ही ५ मिनट भी नहीं लगा कि कानूनन मुक्त हो जाते हैं फिर कोई मतलब नहीं रहता। भावों के द्वारा ऐसा ही बन्धन होता है। व्यवहार में रस्सी-रस्सी से बँधी है ऐसा न कहकर, गाय बँधी है ऐसा ही कहते हैं क्योंकि वह बन्धन गाय की स्वतंत्रता में बाधक है। उसी प्रकार भव्य हो या अभव्य, सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि, कोई भी हो, वास्तव में कर्म-कर्म से बँधा है ऐसा एकान्त मानने में तो संसार ही नहीं रहेगा और संसार नहीं तो मोक्षमार्ग भी नहीं, फिर तो स्वाध्याय भी कुछ कार्यकारी नहीं है। यदि कार्मण वर्गणाएँ कर्मरूप परिणत होती हैं और कर्म-कर्म से बँध गया तो आत्मा को स्वतंत्र होना चाहिए था, मोक्ष हो जाना चाहिए था, आस्रव-बन्ध होना नहीं चाहिए और आस्रव-बन्ध है तो संसार मानना ही पड़ेगा। इनसे छुटकारा पाने के लिए ही प्रवचन दिए जा रहे हैं। प्रवचन के माध्यम से सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्ष पाया जा सकता है।

उत्थानिका—निश्चयनय से अभेद षट्कारक होने से कर्म और जीव अपने-अपने स्वरूप के कर्त्ता हैं, ऐसा यहाँ कहते हैं—

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥६८॥

अन्वयार्थ—(कम्मं पि) जिस प्रकार कर्म भी **(सेण सहावेण)** अपने स्वभाव से **(सगं)** स्वयं **(अप्पाणं)** अपने द्रव्य कर्मपने को **(सम्मं)** भले प्रकार **(कुव्वदि)** करता है **(तारिसओ)** वैसे ही **(जीवो वि य)** जीव भी **(कम्मसहावेण भावेण)** [रागादि] कर्मरूप अपने भाव से अपने भावों को करता है।

अर्थ—कर्म भी अपने स्वभाव से आप ही अपने द्रव्यकर्मपने को सम्यक् प्रकार से करते हैं और वैसे ही यह जीव भी औदयिकादि कर्म रूप भाव से अपने भावों का करता है।

निज स्वभाव से कर्म स्वयं ही, अपने को ही करता है।
उसी तरह ज्यों जीव स्वयं के, भावों का ही करता है॥
द्रव्य स्वयं अपने षट्कारक, रूप परिणमित होता है।
जीव कर्म और कर्म जीव का, निश्चय से ना कर्त्ता है ॥६८॥

व्याख्यान—शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा केवलज्ञानादिक शुद्धभाव ही स्वभाव कहलाते हैं। जीव अपने चिद्रूप स्वभाव का ही कर्त्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से रागादिभाव भी स्वभाव हैं क्योंकि कर्मों के उदय से तो रागादिक उत्पन्न होते हैं किन्तु कर्मों में नहीं होते हैं। इनका आधार आत्मतत्त्व ही होगा। माना कि यह कर्मकृत हैं कर्म के उदय से हैं किन्तु आत्मा का ही इसमें उपादान है। राग हो रहा है पर हम नहीं कर रहे हैं ऐसा कई लोग कहते हैं। लेकिन रागभाव ऊपर-ऊपर लहर की भाँति नहीं होगा यह भीतर-भीतर भी है इसीलिए राग-द्वेषादि स्वभाव कह दिया। यह हमारे-तुम्हारे वचन नहीं, आचार्यों के भी नहीं, जिनेन्द्र भगवान् के वचन हैं, ऐसा श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है। यद्यपि यह अशुद्ध कर्तृत्व भाव है, हेय है। स्वभाव को हेय नहीं कहा जा सकता लेकिन यह विभाव स्वभाव है, इसके विपरीत जो अनन्तसुखादि भाव हैं, वह उपादेय हैं यह समझना।

अभेद षट्कारक का कथन—अभेद षट्कारक में कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, सम्बोधन सब उसी में होता है। जैसे-**वीर भक्ति** में आता है –

धर्मः सर्व सुखाकरो हितकरो, धर्मं बुधाश्चिन्वते।
धर्मेणैव समाप्यते शिव-सुखं, धर्माय तस्मै नमः॥
धर्मान्नास्त्यपर सुहृद् भव-भृतां, धर्मस्य मूलं दया।
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं, हे धर्म! मां पालय॥

धर्म सब सुखों की खान व हित को करने वाला है। बुद्धिमान् लोग धर्म का संचय करते हैं। धर्म के द्वारा ही मोक्षसुख प्राप्त होता है। इसलिए धर्म के लिए नमस्कार हो। संसारी प्राणियों का धर्म से बढ़कर अन्य कोई दूसरा मित्र नहीं है। धर्म की जड़ दया है। मैं सदैव मन को धर्म में लगाता हूँ। हे धर्म! मेरी रक्षा करो।

अध्यात्म में मुख्य रूप से अभेद षट्कारक माने जाते हैं। इसमें सम्बन्ध कारक नहीं होता। भेद कारक में जैसे-देवदत्त भोजन का कर्त्ता है। इस वाक्य में भोजन कर्म है। हाथ द्वारा करता है यह करण है। क्षुधा मिटाने के लिए करता है यह सम्प्रदान है। इसी तरह अपादान और सम्बन्ध भी जान लेना और पाटे पर बैठना यह आधार अधिकरण है। इस तरह अध्यात्म ग्रन्थ में भेद कारक नहीं है। कार्मण वर्गणाएँ स्वयं कर्त्ता हैं जो कर्म रूप को प्राप्त हो रही हैं। यदि सम्बन्ध को छोड़कर स्वभाव रूप षट्कारक हो जाते हैं, तो इसमें निमित्त दृष्टि हट जाती है। जिससे वह स्वयं के भावों का ही अपराध

स्वीकारता है, कर्म को दोष नहीं देता। अचानक शेर सामने आ जाए तो डरने की आवश्यकता नहीं है। एक जीव दूसरे जीव से क्यों डरे? षट्कारक लगाइये। सिंह सिंह में है, मैं मुझमें हूँ अतः ज्ञाता-दृष्टा बनकर देखते रहो, वह भी देख रहा है। घण्टों समयसार की व्याख्या सुनी है अब आत्म स्वभाव को देखना है। मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध रखना, यदि ध्यान भी नहीं लगे तो कोई बात नहीं, ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तक सीमित रहने से राग-द्वेष नहीं होते।

श्री नेमिचन्द्र आचार्य कहते हैं कि-ध्यान के पूर्व ''**मा मुज्झह मा रज्जह, मा दुस्सह इट्ठणिट्ठ अत्थेसु**'' इष्टानिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष, मोह मत करो। चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो यही एकमात्र अभ्यास करो कि मैं ज्ञायक हूँ और जो ज्ञान का विषय बन रहा है वह ज्ञेय है। इसमें मेरा-तेरा, अच्छा-बुरा भाव नहीं रखना, यह बहुत बड़ा ध्यान है। अन्तर्मुहूर्त भी पूरा नहीं होता कि कुछ न कुछ विकल्प आ जाते हैं यह मन का स्वभाव है। विकल्प भी आ जाएँ तो कोई बात नहीं, केवल जानना-देखना है। अपने आप में ही सब कुछ हो रहा है, भिन्न पदार्थों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। भिन्न पदार्थों को देखने से दीनता आ जाती है या अभिमान आ जाता है। माया के लिए भी दूसरा कोई चाहिए, तभी माया होती है अकेले में कुछ नहीं होता। अग्नि क्या ईंधन के बिना जलती है? अग्नि-अग्नि को जलाती है क्या? नहीं। ''**स्वयमेव क्षीयते**'' यदि ईंधन न हो तो बुझ जाती है। घर में यदि कम्बल में आग लग गई तो क्या करोगे? उसे उठाकर ऐसे स्थान पर रख देंगे जहाँ ईंधन या चादर वगैरह कुछ न हो फिर तो वह आग अपने आप बुझ जायेगी। यह जलाने की नहीं बुझाने की प्रक्रिया है। सुलगाने की प्रक्रिया अलग है, धीरे-धीरे फूँकते हैं ताकि सुलग जाए। यदि बुझाना चाहते हो तो ईंधन मत डालो, कहते हैं ना, तूल मत दो, हवा मत दो इससे अग्नि और जलेगी। निमित्त मिलते ही आग और बढ़ेगी। कुछ लोग कहते हैं कि-बर्रैया के छत्ते में हाथ क्यों डालो, शान्ति से बैठी हैं हाथ डालोगे तो काटेंगी, यह निश्चित है। ज्ञेय की ओर देखोगे तो चार प्रकार की कषाय उत्पन्न होंगी। राग पर के कारण होता है इसीलिए निमित्त को भूल जाओ। अपने आप कभी राग उत्पन्न नहीं होता। स्वयं स्वस्थ हो जायेंगे तो सामने वाला भी पास आकर स्वस्थ हो जायेगा क्योंकि एक दूसरे से कषाय हो रही है अकेले से नहीं। क्रोध के बाद मान फिर माया और लोभ सब अन्तर्मुहूर्तवर्ती हैं यदि इन्हें बीच में ही उखाड़ लें तो व्याघात हो जाता है। जैसे-मनोयोग से प्रवचन कर रहे हो और बीच में कोई प्रश्न कर दे तो प्रवचन में व्याघात हो जाता है। किसी ने छहढाला का प्रश्न किया इसी बीच में दूसरे ने समयसार का प्रश्न कर दिया या कर्म सिद्धान्त का विषय चल रहा था तो बीच में व्याकरण का प्रश्न पूछ लिया। इस तरह से उपयोग परिवर्तन से विकल्प या व्याघात हो जाता है और उदीरणा हो जाती है। अन्यथा व्याघात के बिना एक कषाय अन्तर्मुहूर्त तक निश्चित चलेगी।

मैं स्वयं के भावों का कर्त्ता हूँ पर के भावों का नहीं-जो जितेन्द्रिय-जितमना होते हैं वे विपरीतता में भी कर्म की निर्जरा करते हैं बन्ध नहीं, यही तो ज्ञान की महिमा है। सावधानी रखने से

कर्म नहीं बँधते। इस प्रकार मैं स्वयं के ही भावों का कर्त्ता हूँ पर के भावों का नहीं। यदि यह भाव उपयोग में आ जाए तो उस समय राग-द्वेष नहीं कर सकता। कर्म अपने आप ही गौण हो जायेंगे।

दृष्टान्त—पड़ोस में कोई घटना घट जाए तो क्या हमेशा दुखी रहेंगे? एक बिल्डिंग में ५०० परिवार रहते हैं, जहाँ आये दिन कहीं शोर-कहीं सूतक चलता रहता है। घर पास-पास होने पर भी शोर-सूतक नहीं लगता और अमेरिका में भी सम्बन्धी हैं तो फोन से पता लगते ही मोह का सम्बन्ध होने के कारण शोर-सूतक लगता है। व्यवहार से जितना सम्बन्ध है उतना सूतक लगेगा। यदि किसी ने आत्महत्या कर ली, भोजन-व्यापार सब साथ में है तो सभी को छह माह का सूतक लगेगा। यदि अलग हैं उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है तो १०, १२ दिन का लगेगा। जबकि वही परिवार के सदस्य हैं फिर ऐसा क्यों? क्योंकि उनका सम्बन्ध उसके साथ नहीं था। यदि घनिष्ठ मित्र का मरण हो गया, जो भाई से भी अधिक प्रिय था तो भी उसे एक दिन का ही सूतक लगता है और भाई से कई वर्षों से बोलता नहीं था फिर भी खून का रिश्ता होने से पूरे १२ दिन का लगेगा। यदि मुनि हो गये और पूर्व के परिवार में किसी का मरण हो गया तो एक घंटे का भी सूतक नहीं लगेगा। सामायिक का समय है तो अपने आवश्यक को छोड़ते नहीं और अधिक निर्मोही होने की साधना में लग जाते हैं। अभाव का प्रभाव उन पर नहीं पड़ता स्वयं में स्थिर हो जाते हैं। बँधे कर्म निर्जरित हो जाते हैं बन्ध रुक जाता है। अभेद षट्कारक घटित हो जाते हैं। आहार का विकल्प भी छूट जाता है। सामायिक में लीन हो जाते हैं।

दृष्टान्त—प्लेन जब जमीन पर चलता है, तो अपने तीनों पहियों को बाहर निकाल लेता है। जब उड़ता है तो समेट लेता है। श्रमण भी जब व्यवहार में आते हैं तो षट्कारक अपनाते हैं। जब ध्यान में (निवृत्ति में) आते हैं तो षट्कारकों को अपने भीतर समेट लेते हैं। एक का विधान होता है तो दूसरे का निषेध हो जाता है। विमान भागता है तो गति कम होती है। उड़ता है तो गति अधिक होती है। प्रवृत्ति में कम निर्जरा होती है। निवृत्ति के समय ज्यादा निर्जरा होती है। प्रवृत्ति में षट्कारक भेद रूप हैं, निवृत्ति में अभेद रूप हैं। **जैसे उड़ने में ही विमान की शोभा है वैसे ध्यान में ही, निवृत्ति में ही रत्नत्रय की शोभा है।**

शुद्धात्म तत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान और उसके अनुरूप अनुष्ठान यह अभेद षट्कारक हैं। अभेद षट्कारक भी जब तक रहेंगे तब तक मुक्ति नहीं होगी क्योंकि जब तक तीर्थंकर भगवान् समवसरण में बैठे रहते हैं तब तक १३ वाँ गुणस्थान ही रहेगा, १४ वाँ गुणस्थान नहीं आ सकता। समवसरण का त्याग किये बिना मोक्ष नहीं जबकि समवसरण में अन्य को मुक्ति हो सकती है किन्तु उनको नहीं होगी, क्योंकि उपदेश दे रहे हैं। असंख्य जीवों का कल्याण हो रहा है परन्तु उनका निर्वाण कल्याणक अभी नहीं होगा। इस तरह अभेद षट्कारक को लेकर दो गाथाओं का प्रकरण पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—अब जिसे नय का ज्ञान नहीं है अभेद और भेद षट्कारक को भी जानता नहीं है वह कर्म और जीवों का, अन्य कोई कर्त्ता है और अन्य जीव द्रव्य फल देता है ऐसा जो दूषण है उसके

लिए शिष्य प्रश्न करता है–

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुञ्जदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥६९॥

अन्वयार्थ–(जदि) यदि **(कम्मं)** द्रव्यकर्म **(कम्मं)** द्रव्यकर्म को [एकांत से बिना जीव के परिणाम की अपेक्षा के] **(कुव्वदि)** करता है और **(सो अप्पा)** वह आत्मा **(अप्पाणं)** अपने को ही **(करेदि)** करता है [द्रव्यकर्म को नहीं करता है तो] **(किध)** कैसे **(अप्पा)** आत्मा **(तस्स फलं)** उस [कर्म] के फल को **(भुंजदि)** भोगता है **(च)** और **(कम्मं)** कर्म **(फलं देदि)** [आत्मा को] फल देता है।

अर्थ–यदि द्रव्य कर्म, द्रव्य कर्म को करे और आत्मा आत्मा को ही करे तो द्रव्य कर्म आत्मा को फल क्यों देगा? और आत्मा उसका फल क्यों भोगेगा?

कर्म स्वयं अपना कर्त्ता निज स्वरूप का कर्त्ता आतम।
ऐसा माने तो कर्मों के फल को क्यों भोगे आतम?
आठ कर्म ज्ञानावरणादिक, चेतन को कैसे फल दें?
पूछ रहा है शिष्य गुरू से, हे गुरुवर! यह उत्तर दें ॥६९॥

व्याख्यान–शिष्य की जिज्ञासा है कि कर्म ही कर्म का कर्त्ता है और आत्मा ही आत्मा का कर्त्ता है। कर्म का कर्त्ता आत्मा नहीं है। तो सीधी-सी बात है कि कर्म का फल आत्मा कैसे भोगता है? कर्म ने कर्म किया तो कर्म ही भोगे। कहा भी है–**''अपने-अपने कर्म का फल भोगे संसार''** यह कैसी बात है? एक व्यक्ति बाहर गर्मी में खड़ा रहकर खस की टाटी सींचता है दूसरा जो सेठ है वह अन्दर आराम के साथ बहार ले रहा है। जबकि सींचने वाले को ठण्डी बयार भी नहीं मिलती है मुश्किल से ५० रुपये मिलते हैं। यह क्या है? समझ में नहीं आता। जब कर्म ने कर्म किए तो फल आत्मा क्यों भोग रहा है? प्रश्न बिल्कुल ठीक किया है। जो कर्त्ता नहीं है उसे रस कैसे आयेगा? **समयसार** में ऐसी ही एक मौलिक गाथा आई है–**''सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि''** सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता, और सेवन नहीं करता हुआ भी उसका सेवन कर रहा है।

दृष्टान्त–जैसे तीन दिन के लिए दूल्हा राजा माना जाता है। बारात में हजारों व्यक्ति आते हैं पर दूल्हा कुछ काम नहीं करता, आसन पर ही बैठा रहता है। शादी उसी की हो रही है, सारा लेन-देन भी उसी के लिए हो रहा है, रस भी सबसे ज्यादा उसी को आ रहा है, शेष सब प्राकरणिक हैं उस दूल्हे के कारण आये हैं। जो कुछ कर्त्ता नहीं, काम देखता नहीं फिर भी सारा रस उसी को आ रहा है। राजा युद्ध नहीं लड़ता फिर भी राजा हार गया या जीत गया यही माना जाता है। युद्ध सैनिक लड़ रहे हैं फिर भी रस राजा को आ रहा है। जिसे रस आ रहा है वह उसका कर्त्ता है तो भोक्ता भी वह ही है। इसीलिए फल की इच्छा न रखते हुए प्राकरणिक बनकर कार्य करिये; यही समयसार की कला है। ऐसी

स्थिति में आत्मा उस कर्मफल का कैसे भोक्ता हो सकता है? पूर्व में किया गया प्रश्न बिल्कुल उपयुक्त होता यदि जीव के भाव बिना ही कर्म अपना कार्य कर लेता और बिना द्रव्यकर्म के आत्मा भावकर्म कर लेता। क्योंकि जिसने कर्म नहीं किए उसे फल कैसे मिल सकता है? समयसार जीवन में आते ही अन्तर्मुहूर्त भी नहीं लगता कि वह अकर्त्ता भाव में लीन हो जाता है। कोई सोच सकता है अभी तो कर्म किया था और अब सुनते नहीं, देखते नहीं उसे सब कुछ नाटक जैसा लगता है लेकिन वह साधक सोचता है कि अज्ञानदशा में जो किया, उसे क्यों याद करूँ? जेल में ले जाओ या महल में ले जाओ "**भवने वने वा**" कोई फर्क नहीं पड़ता। आत्मा आत्मा में लीन हो जाती है। दुनिया जिसे देख रही है वह 'मैं नहीं हूँ' जो 'मैं हूँ' उसे ये दुनिया देखती नहीं। कारागृह में बन्द कर दिया तो न भोजन करते हैं, न रोते हैं, न दुखी होते हैं तब थानेदार सोचता है यह तो पागल जैसा है, व्यर्थ में निगरानी के लिए पुलिस रखी है खर्चा हो रहा है ऐसा सोचकर छोड़ देते हैं। इस प्रकार ज्ञानी होना चाहते हो, संसार से छूटना चाहते हो, तो ज्ञान की बात करो। दुनिया की दृष्टि में पागल भी बन जाओ तो कोई बात नहीं। आत्मा का स्वभाव ध्यान रखो, कर्म उदय में तटस्थ रहो। यदि एकान्त से आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है तो भोक्ता कैसे हो सकता है? जबकि फल भोगता हुआ देखा जाता है। इसके लिए निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से नय विवक्षा द्वारा आचार्य समझाते हैं।

उत्थानिका—अब ६९वीं गाथा में कहे गये पूर्वपक्ष के निराकरण पूर्वक सिद्धान्तसूत्र का प्रतिपादन करने वाली गाथा कहते हैं–

ओगाढगाढ णिचिदो पोग्गल कायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं ॥७०॥

अन्वयार्थ—(लोगो) लोक **(सव्वदो)** सभी ओर से **(सुहुमेहिं)** सूक्ष्म **(बादरेहिं य)** और स्थूल **(विविहेहिं)** नाना प्रकार के **(णंताणंतेहिं)** अनन्तानन्त **(पोग्गल-कायेहिं)** पुद्‌गल के स्कंधों से **(ओगाढ-गाढ-णिचिदो)** पूर्ण रूप से भरा हुआ है।

अर्थ—यह लोक सब तरफ से सूक्ष्म और बादर नाना प्रकार के अनन्तानन्त पुद्‌गल स्कन्धों से पूर्ण रूप से भरा हुआ है।

पुद्‌गल स्कन्धों के द्वारा यह, सर्व लोक ही भरा हुआ।
ज्यों कज्जलदानी में काजल, भरा अतिशय सघन रहा॥
अतिशय सूक्ष्म और बादर यह, पुद्‌गल कहे अनन्तानन्त।
अनेक भेद रहे पुद्‌गल के, परमाणु औ नाना स्कन्ध ॥७०॥

व्याख्यान—जहाँ आत्मा रहती है वहाँ लोक में सूक्ष्म और बादर अनन्त पुद्‌गल स्कन्ध ठसाठस भरे हुए हैं। जीव जैसे राग-द्वेषादि भाव करता है, वैसे कर्म चिपक जाते हैं। फिर उसी के अनुसार फल देना प्रारम्भ कर देते हैं। जिसने राग-द्वेष छोड़ दिया उसका सब काम हो गया। मानलो क्षमा माँगने

पर भी सामने वाला व्यक्ति क्षमा नहीं करना चाहता तो क्या माँगने वाले की गलती नहीं सुधरेगी? ऐसा नहीं है। अज्ञान दशा में जो गलती की थी, उसे ज्ञान दशा में छोड़ दिया इतना पर्याप्त है। लोक में अनन्त जीव हैं किस-किसके पास क्षमा माँगने जाओगे? **''खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वेजीवा खमंतु मे''** इतना चिन्तन कर आत्मध्यान में लग जाओ मुक्त होने में देर नहीं लगेगी। अज्ञान से ही संसार है इसलिए सावधान होना है, किसी दूसरे को हटाना नहीं है। सब भावों का खेल है। जब तक राग था तब तक सम्बन्ध था फिर तलाक के लिए कोर्ट में केस लगा दिया लेकिन जब राजीनामा कर लेते हैं तब कोर्ट भी कुछ नहीं कर सकती, क्योंकि लड़ने के भाव समाप्त हो गए हैं। यदि ऐसा ही करना था तो कोर्ट में क्यों आये? और यदि आये हो तो कार्यवाही पूरी करनी होगी। आपसी समझौते से इसी तरह केस कम हो जाएँ तो बहुत अच्छा है। इसीलिए तो न्यायालय है। आस्रव-बन्ध होते हुए भी अन्तर्मुहूर्त में ऐसा पुरुषार्थ किया कि सर्व कर्म से मुक्त हो गए, नोकर्म के अन्तिम संस्कार की भी आवश्यकता नहीं। ५२५ धनुष की देह के लिए न तेल लगेगा, न लकड़ी, न माचिस लगेगी। भावकर्म का क्षय होते ही नोकर्म का क्षय हो जाता है। अग्निकुमार देवों का आकर कार्य करना औपचारिक है।

गाथा में **अवगाढ़** और **गाढ़** शब्द है अवगाढ़ का अर्थ एकप्रदेश में बहुत सारी वर्गणाएँ ठसाठस भरी रहती हैं और गाढ़ का अर्थ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध लेकर उसके साथ बन्ध की पूरी व्यवस्था हो जाती है। जिस तरह पाँच स्थावर लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं उसी तरह काजल जैसी गाढ़रूप से कार्मण वर्गणाएँ भरी हुई हैं या एक ग्लास पानी है उसमें शक्कर और डाल दो तो वह भी समा जायेगी। उसी प्रकार से यह लोक है इसमें सभी प्रकार की वर्गणाएँ निहित हैं, भाषा वर्गणाएँ हैं, आहार वर्गणाएँ जो औदारिक, वैक्रियिक व आहारक शरीर रूप परिणत होती हैं, मनोवर्गणा आदि हैं। जैसे-एक बर्तन में कुमकुम रखा उसमें पानी मिला दिया, उसी में नमक इत्यादि का घोल मिला दिया सब मिलकरके उसी एक बर्तन में हैं किन्तु एक दूसरे रूप परिणत नहीं हुए। कुमकुम के गुण धर्म अलग और नमक इत्यादि के गुणधर्म अलग हैं। उसी प्रकार यह सभी वर्गणाएँ एकमेक होकर रहते हुए भी एक वर्गणा दूसरी वर्गणा रूप परिणत नहीं होती। कार्मण वर्गणाएँ, कार्मण वर्गणा के रूप में रहेंगी, मनोवर्गणाएँ मनो वर्गणा के रूप में, शब्द वर्गणाएँ शब्द वर्गणा के रूप में और आहार वर्गणाएँ आहार वर्गणा के रूप में रहेंगी। कार्मण वर्गणाएँ शब्द वर्गणा या मनोवर्गणा रूप परिणत नहीं होतीं। ऐसी ही व्यवस्था निरन्तर रहती है। यह सूक्ष्म अर्थात् दृष्टि के अगोचर है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि-आत्मा में जब मिथ्यात्व, राग-द्वेष आदि परिणाम होते हैं तब उनका निमित्त पाकर कर्म योग्य पुद्‌गल निश्चय से अपने ही उपादान कारण से स्वयं ही कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं-

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सहावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णावगाहमवगाढा ॥७१॥

अन्वयार्थ—(अत्ता) आत्मा **(सहावं)** स्वभाव [अपने रागादि भाव] **(कुणदि)** करता है तब **(तत्थगदा)** वहाँ प्राप्त **(पोग्गला)** पुद्‌गल स्कंध **(सभावेहिं)** [अपने] स्वभाव से **(अण्णोण्णागाहं)** अन्योन्य [आत्मा और कर्मवर्गणा परस्पर] अवगाह को **(अवगाढा)** अत्यन्त गाढ़पने के साथ **(कम्मभावं)** द्रव्य कर्म भाव को **(गच्छंति)** प्राप्त करते हैं।

अर्थ—जब आत्मा मोह, राग, द्वेष रूप अपने भाव को करता है तब वहाँ रहने वाले पुद्‌गल अपने ही स्वभाव से जीव में अन्योन्य-अवगाह रूप से प्रविष्ट हुए कर्म भाव को प्राप्त होते हैं।

जब संसार दशा में आतम, रागादिक परिणाम करे।
कर्म वर्गणामय पुद्‌गल तब, कर्म रूप परिणमन करे॥
किन्तु अपने उपादान से, कर्म रूप परिणमन धरे।
एकक्षेत्र अवगाह परस्पर, पुद्‌गल गाढ़े भरे हुए ॥७१॥

व्याख्यान—आत्मा जब कर्म उदय में रागादि भाव करता है तब वह अपने उन भावों का कर्त्ता होता है। वहाँ ग्रहण करने योग्य जो वर्गणाएँ हैं वही कर्म और नोकर्म रूप परिणत हो जाती हैं। जिसमें कषाय द्वारा स्थिति व अनुभाग पड़ जाता है तथा योग द्वारा प्रदेशों की परिगणना रूप प्रदेश बन्ध और प्रकृति बन्ध होता है। इसमें जो संघातन क्रिया होती हैं उससे स्थिति पड़ती है। कर्म वर्गणाओं में जो स्थिति पड़ती है वह कषाय के द्वारा आबाधा को लेकर पड़ती है और नोकर्म वर्गणाओं में जो स्थिति पड़ती है वह योग के माध्यम से पड़ती है और अनन्तर समय में निर्जरित भी हो सकती हैं। अनन्तर समय में औदारिक वर्गणाएँ तीन लोक में फैल सकती हैं अतः कर्म की स्थिति अलग है और नोकर्म की स्थिति अलग है। संघातन के माध्यम से जो वर्गणाएँ औदारिक आदि नोकर्म के रूप में हैं वे परिशातन होने के उपरान्त भी कुछ काल तक वैसे के वैसे फैल करके रहेंगी। ऐसा **धवला ग्रन्थ** की १३वीं पुस्तक में आया है। इसकी स्थिति कषाय द्वारा नहीं पड़ती, किन्तु योग द्वारा पड़ती है क्योंकि कषाय से जो स्थिति पड़ती है वह आबाधा सहित पड़ती है अर्थात् इसी पुस्तक में योग के माध्यम से स्थिति और अनुभाग पड़ता है यह कहा है। जो कि आबाधा सहित नहीं एवं कर्मकृत भी नहीं, किन्तु योगकृत माना जाता है। १३ वें गुणस्थान में जो साता का बन्ध हो रहा है वह कषाय के अभाव में योग का परिणाम है। योग के पास भी स्थिति अनुभाग डालने की शक्ति है किन्तु गोंद के समान कषाय जैसी शक्ति नहीं है। योग के पास जल जैसी शक्ति है जल भी चिपकाने में काम आता है। जब पूजन करते समय चावल गिर जाते हैं तब पानी से हाथ गीला करके चिपकाकर उठा लेते हैं। क्या वहाँ गोंद लगाते हैं? तोय (जल) के पास भी चिपकन है, सूखने पर चावल नहीं चिपकते। ग्रन्थों में क्रम से

स्निग्धता बतायी है–ऊँट का दूध, भैंस का दूध, गाय का दूध, बकरी का दूध फिर जल को रखा है, यद्यपि इनमें गोंद जैसी चिकनाहट नहीं है। गीला होने रूप चिकनाहट ईर्यापथ आस्रव जैसा है। अनन्तर समय में ही कर्मवर्गणाएँ निर्जरित हो जाती हैं। संघातन क्रिया के द्वारा नोकर्म वर्गणाएँ आठवर्ष अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि वर्ष तक रह सकती हैं। संघातन क्रिया के अनुसार यह योगकृत स्थिति है और साता प्रकृति का जो एक समय की स्थिति का बन्ध हुआ है वह भी योगकृत है। पूर्व में जो बँधी हैं उनका निकल जाना परिशातन है। लेकिन जिसका पूर्व में संघातन होता है उसी का परिशातन होता है। ऐसा नहीं कि संघातन का ही तत्क्षण परिशातन हो जाए। क्योंकि १४ वें गुणस्थान में संघातन समाप्त हो जाने पर भी परिशातन हो रहा है। बन्ध और निर्जरा के समान संघातन अर्थात् चिपकना, परिशातन अर्थात् बिछुड़ना। १३ वें गुणस्थान में संघातन क्रिया द्वारा योग से नोकर्म वर्गणाएँ शरीर में आ करके चिपक रही हैं जिससे पूर्वकोटि वर्ष तक आहार किए बिना ही (केवली में कवलाहार का निषेध है यह हेतु दिया है) शरीर टिकता है क्योंकि ऐसी नोकर्म वर्गणाएँ आती हैं जिसके द्वारा भूख-प्यास नहीं लग सकती।

कषाय सहित कर्मबन्ध में अनन्तर समय में निर्जरा नहीं हो सकती, अन्तर्मुहूर्त के बाद ही हो सकती है। संघातन क्रिया योग पर आधारित है उसमें आबाधा नहीं पड़ती।

शंका–जब आत्मा रागादि भाव करता है तब कोई भी पुद्‌गल सीधे कर्म रूप परिणत हो जाते हैं या पौद्‌गलिक कार्मण वर्गणा पहले से ही है?

समाधान–जिसमें कर्म रूप परिणत होने की क्षमता है वही पुद्‌गल कार्मण वर्गणाएँ अपने आप कर्मरूप परिणत हो जाती हैं, ऐसी ही ध्वनि निकलती है।

स्थित कार्मण वर्गणाएँ अपने उपादान से ही कर्म रूप परिणत–सूर्य पूर्व की ओर है और इन्द्रधनुष पश्चिम में बन जाता है अथवा सूर्य पश्चिम की ओर है तो इन्द्रधनुष पूर्व में बन जाता है। बहुत दूर हैं, विपरीत दिशा भी है फिर भी बादलों से जो वर्षा हो रही है उन बूँदों पर प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ने से इस प्रकार के इन्द्रधनुष का निर्माण हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा में भाव होते ही पौद्‌गलिक कार्मण वर्गणाएँ जो कर्म रूप परिणत होने की योग्यता रखती हैं वह अपने उपादान से कर्मरूप परिणत हो जाती हैं, जो वहीं स्थित रहती हैं। गमनशील जो होती हैं वह कभी भी बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकतीं, यह तात्पर्य है। 'स्थित' विशेषण दिया है।

दृष्टान्त–कमरे में झाड़ू लगाकर पानी से पूरा धो दिया, साफ कर दिया ऐसा लगता है पर ऑक्सीजन, कार्बनडॉइऑक्साईड आ ही रही हैं, ऐसे आत्मा में कर्म नहीं आते हैं।

शंका–आत्मा अपने भावों का कर्त्ता है तो स्वभाव का कर्त्ता क्यों कहा? क्योंकि स्वभाव का अर्थ तो रागादि से रहित वीतराग परिणाम का नाम है इससे बन्ध कैसे होगा और रागादिक विभाव परिणाम को स्वभाव कैसे कह सकते हैं?

समाधान—अशुद्ध निश्चयनय से रागादि विभाव परिणाम भी स्वभाव कहलाता है। स्वभाव का अर्थ यहाँ "**स्वस्मिन् आत्मनि भवति इति स्वभाव:**" अपनी आत्मा में होते हैं अतः स्वभाव कहा है किन्तु पुद्गल वर्गणाएँ स्वभाव में नहीं हैं आत्मा के प्रदेशों पर तो स्थित हैं पर अलग अस्तित्व रखती हैं। यदि स्वभाव में घुल जाएँ तो गड़बड़ हो जाए, स्वभाव में तो रागद्वेषादिक हैं आत्मा की परिणति रूप हैं इसीलिए अशुद्ध निश्चयनय से स्वभाव कहा, यह अन्योक्ति नहीं है।

दृष्टान्त- हिन्दी में कुर्सी पर बैठो ऐसा कहते हैं। कुर्सी में बैठो ऐसा नहीं कहते। 'ऑन द चेयर' कह सकते हैं 'इन द चेयर' नहीं। किसी ने पूछा-कहाँ खड़े हैं? तो हिन्दी में जबाब दिया दरवाजे में खड़े हैं, लेकिन अंग्रेजी में "इन द डोर" नहीं "एट द डोर" कहेंगे। पड़गाहन के लिए दरवाजे में नहीं खड़े रहते, द्वार पर खड़े रहते हैं। लोग कहते हैं-सागर में रहते हैं तो क्या सागर के भीतर रहते हैं? किसी भी भाषा को बोलने के पहले समझो, गहराई में जाओ, तभी भाषा पर अधिकार होगा और रस भी आयेगा। पेड़ में फल लगे हैं और पेड़ पर फल लगे हैं इसमें भी बहुत अन्तर है।

दूध में पानी मिलाने से एक क्षेत्रावगाह हो गया, लेकिन जो मीठापन है वह दूध का स्वभाव है पानी का नहीं। इसी प्रकार आत्मा के स्वभाव में राग द्वेषादिक हो रहे हैं। अन्यथा कार्मण वर्गणाएँ कर्म रूप परिणत नहीं होतीं तथा आत्मा और कर्म एकक्षेत्रावगाही भी है।

आत्मा में स्थित कार्मण वर्गणाएँ ही कर्मरूप परिणत—साता को असाता रूप में या असाता को साता रूप संक्रमण में एक अन्तर्मुहूर्त चाहिए तब वह फल देना प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार रागादि भाव अशुद्ध निश्चयनय से स्वभाव कहे हैं। थोड़ा संस्कृत भाषा का भी ज्ञान होना चाहिए ताकि कहाँ पर कौन सा कारक व कौन सी विभक्ति लगानी है यह ज्ञान हो जाए। कर्म योग्य जो स्कन्ध हैं वह कर्म दशा को प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ प्राप्त होने का अर्थ कहीं जाने का तात्पर्य नहीं है। जैसे कोई कहता है कि मैं सफलता प्राप्त करने के लिए १० हजार किलोमीटर दूर जा रहा हूँ या मैं बोलने जा रहा हूँ जबकि खड़े-खड़े स्थिर होकर बोल रहा है फिर भी कहता है-बोलने जा रहा हूँ। व्यवहार में ऐसा कहने में आता है इससे क्षेत्र से क्षेत्रान्तर गमन करने का अर्थ नहीं लेना, जो वहीं स्थिर हैं वह पुद्गल स्कन्ध जीव के रागादि का निमित्त पाकर कर्म भाव रूप अपने आप परिणमन कर जाते हैं, यह अर्थ है। कहते हैं कि मैंने खिचड़ी बना दी लेकिन कोई जीव खिचड़ी कैसे बना सकता है? दाल चावल मिलाकर मात्रानुसार पानी डालकर सिगड़ी पर रख दिया, फिर तश्तरी ढक दी अब पकने की क्रिया रूप परिणमन स्वयं उसी में हो रहा है। जीव कहाँ पक रहा है? इसीलिए कर्त्तापन का अभिमान छोड़ो बिगड़ जाने पर कहता है-क्या करूँ? पानी भारी था, खारा था इसलिए दाल कच्ची रह गई। मैंने तो बहुत अच्छे से बनाई थी इस तरह पानी पर आरोप लगा देते हैं। संसारी प्राणी की यही बीमारी है। पर का मालिक न होने पर भी अभिमान के कारण मालिक बनना चाहता है। अनन्तकाल के इस रोग का इलाज संसार में कहीं नहीं है इसी के कारण संक्लेश भाव से बन्ध को प्राप्त हो जाता हैं।

उत्थानिका—आगे कर्मवर्गणा के कर्म योग्य पुद्गल किस तरह अपने आप ही कर्म रूप हो जाते हैं, इसका दृष्टान्त कहते हैं–

जह पुग्गलदव्वाणं बहुप्पयारेहिं खंधणिव्वत्ती।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ॥७२॥

अन्वयार्थ—**(जह)** जैसे **(पुग्गलदव्वाणं)** पुद्गल द्रव्यों की **(बहुप्पयारेहिं)** बहुत प्रकार से **(खंधणिव्वत्ती)** स्कंधों की रचना **(परेहिं)** दूसरों से **(अकदा)** बिना की हुई **(दिट्ठा)** दिखलाई पड़ती है **(तह)** वैसे **(कम्माणं)** कर्मों का [बन्ध] होना **(वियाणाहि)** जानो।

अर्थ—जिस प्रकार पुद्गल द्रव्यों की अनेक प्रकार की स्कन्ध रचना दूसरों के द्वारा किये बिना ही दिखाई देती है उसी प्रकार कर्मों का बन्ध होना जानना चाहिए।

पुद्गल नाना भेदों से ज्यों, स्कन्ध रूप परिणत होता।
नहीं किसी से स्कन्ध बना वह, निज शक्ति से ही होता॥
पर से अकृत कर्म स्वयं त्यों, निज के उपादान से ही।
चेतन भावों के निमित्त से, कर्म रूप हो पुद्गल ही ॥७२॥

व्याख्यान—कुछ दिन पहले पन्ना शहर में हीरे का एक नग मिला। वैज्ञानिकों ने उसकी उम्र ४० अरब वर्ष बताई है। पहले भी यह पन्ना शहर था जिसमें अरबों वर्ष पूर्व ही इसको हीरे रूप में परिवर्तन हो चुका था। इसे किसी ने बनाया नहीं था। कोई बीज भी नहीं बोया था जो हीरे रूप परिणमन कर गया। जिस प्रकार इस भूमि में कहीं सोना, कहीं चाँदी, कहीं शीशा तो कहीं लोहा स्वयमेव बन जाता है उसी प्रकार जीवों के भावानुसार पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं। **तत्त्वार्थ सूत्र** के पञ्चम अध्याय में "**स्निग्धरूक्षत्वाद् बंधः**" सूत्र कहा है। बन्ध के नियम के लिए "**द्व्यधिकादि-गुणानां तु**" "**गुणसाम्ये सदृशानाम्**" "**न जघन्यगुणानाम्**" "**बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च**" ये सूत्र कहे हैं। जिनके अुनसार दो अधिक गुण वालों के साथ ही बन्ध होता है अधिक गुण वाला परिणामी होगा, कम गुण वाला उसके साथ हो जायेगा। गुणों की समानता होने पर सदृश वालों का बन्ध नहीं होता किन्तु गुणों की असमानता हो तो सदृश का भी बन्ध हो जाता है। जघन्य शक्त्यंश वालों के साथ भी बन्ध नहीं होता। इत्यादि नियम होने पर जिसमें कम शक्त्यंश है वह अधिक वालों के अनुसार परिणमन करेगा। मानलो साझेदारी में दुकान खोल दी, इसमें जिसने अधिक प्रतिशत रुपया लगाया है उसी के नाम से फर्म होगी। उसी प्रकार सोना, हीरा किसी ने बनाया नहीं है भूमि के भीतर ऐसी ही अनुपात में रासायनिक प्रक्रिया होती है और उस योग्य वर्गणाओं के मिलने से सोना बन जाता है। इसी तरह विस्फोटक सामग्री यूरेनियम है जो बहुत कीमती होता है वह भी ऐसे ही बन जाता है। सुमेरु पर्वत अनादिनिधन है, हिमवन आदि पर्वत के दोनों पार्श्वभाग रत्न खचित हैं, यह सारे रत्न कहाँ

से आये? आये नहीं, ऐसा ही परिणमन है। नन्दीश्वरद्वीप की रचना में भी पुद्गल स्कन्ध ऐसे ही परिणमन कर जाते हैं। कर्मों का भी इसी तरह से परिणमन होता है। चन्द्रकान्तमणि पर चन्द्रमा की चाँदनी पड़ जाए तो शुद्ध जल झरने लगता है और सूर्यकान्तमणि पर सूर्य का प्रकाश पड़ जाए तो अग्नि निकलने लगती है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध है। यह स्वभाव से ही होता है।

तत्त्व चिन्तन से बँधे कर्मों की निर्जरा—जो निश्चय रत्नत्रय से रहित है उस आत्मा में मिथ्यात्व रागादि परिणाम होते ही कार्मण वर्गणाएँ कर्म रूप परिणत होकर आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाती हैं। यह स्वभाव है, इसे रोक नहीं सकते लेकिन गुरु समागम में तत्त्वचिन्तन करने से बँधे हुए कर्म निर्जरित होने लगते हैं। मिथ्यात्वदशा में भी अन्तःकोड़ाकोड़ी स्थितिबन्ध करने की क्षमता आ सकती है। संक्लेश के निमित्त मिलने पर भी संयम रखें और ज्यों ही शुभसमागम का अवसर आए लाभ उठा लें। मौका देखकर तप के क्षेत्र में अच्छे ढंग से पूर्ण सहन करने की क्षमता जाग्रत करके विशुद्धि के द्वारा निर्जरा कर लेनी चाहिए। यह एक प्रकार का खेल है। जैसे-क्रिकेटर मौका देखकर बहुत सारे रन बना लेता है। ऐसे ही श्री कुन्कुन्दाचार्य कहते हैं कि मनुष्य जीवन का अवसर प्राप्त हुआ है तो उपयोग को स्वस्थ कर लेना चाहिए। असंख्यातलोक प्रमाण परिणाम हैं। परिणाम सुधारने का दूसरा कोई रास्ता नहीं है अतः अन्य कोई चेष्टा न करें। शुभ अवसर का लाभ लेने रूप पुरुषार्थ से ही ६ माह ८ समय में ६०८ जीव नियम से मोक्ष जाते हैं कम या ज्यादा नहीं। अभी तक अपना नम्बर नहीं आया इतना तो याद रखो।

उत्थानिका—निश्चय से जीव और कर्म को निज-निज रूप का ही कर्तृत्व होने पर भी व्यवहार से जीव को कर्म द्वारा दिये गये फल का उपभोग विरोध को प्राप्त नहीं होता ऐसा यहाँ दिखाते हैं—

जीवा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढ गहण पडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं दिंति भुंजंति ॥७३॥

अन्वयार्थ—(जीवा) जीव और **(पुग्गलकाया)** पुद्गलकाय [द्रव्य कर्मवर्गणाओं के पुंज] **(अण्णोण्णागाढ-गहणपडिबद्धा)** परस्पर एक-दूसरे में गाढ़रूप से बंध रहे हैं **(काले)** उदयकाल में **(विजुज्जमाणा)** [पुद्गल जीव के] वियोग पाते हुए **(सुहदुक्खं)** [साता या असातारूप] सुख-दुःख **(दिंति)** देते हैं **(भुंजंति)** [तब जीव उनको] भोगते हैं।

अर्थ—संसारी जीव और कर्मवर्गणाओं के पुंज परस्पर एक दूसरे में गाढ़ रूप से बँध रहे हैं। उदयकाल में कर्म, जीव से पृथक् होने पर भी उसे सुख-दुख देते हैं और जीव उनको भोगते हैं।

जीव द्रव्य औ पुद्गल काया, इन दोनों का है संबंध।
काल अनादि से आपस में, बँध रहा अत्यन्त सघन॥
वही कर्म जब उदय काल में, रस देकर खिर जाते हैं।
जीव अकेला उसे भोगता, सुख-दुख फल जो देते हैं ॥७३॥

व्याख्यान—जीव और पुद्गल दो भिन्न तत्त्वों का मेल होने पर पुद्गल फल देता है स्वमुख से अथवा पर मुख से, किन्तु सुख-दुख, हर्ष-विषाद रूप अनुभव जीव करता है। जब तक पौद्गलिक कर्म के साथ जीव का सम्बन्ध रहता है तब तक यह क्रम भी चलता रहता है। यह सम्बन्ध अनादि से है किन्तु अनन्तकाल तक रहे, ऐसा नियम नहीं है। साधना के बल पर इसे समाप्त किया जा सकता है। जैसे पूर्व में शराब का उदाहरण दिया था कि शराब पीने वाला सुप्रीम कोर्ट का जज भी क्यों न हो, उसे भी नशा आयेगा। उस नशे में वह यद्वा-तद्वा कोई भी फैसला दे सकता है। अनेक प्रकार के नशे होते हैं—पैसे के नशे में व्यक्ति सत्य को असत्य और असत्य को सत्य कह देता है। संसारी जीव इसमें अभ्यस्त है। जिसके साथ सम्बन्ध होता है वह कितने ही दूर क्षेत्र में रहे तो भी सम्बन्ध बना रहता है और सम्बन्ध विच्छेद होने पर पास रहने पर भी तत् सम्बन्धी सुख-दुख नहीं होता। उसी प्रकार जीव और पुद्गल का सम्बन्ध छूट जाने पर पुद्गलकर्म सुख-दुख रूप फल नहीं दे सकते।

शुद्ध जीव तत्त्व की प्राप्ति भेदज्ञान द्वारा सम्भव—हल्दी और चूने को मिलाने से प्रत्येक कण में लाल रंग का निर्माण हो जाता है। वह अवगाढ़ता को प्राप्त हो जाते हैं। क्या कोई ऐसा रसायन भी हो सकता है? जिसे डालने पर हल्दी और चूना फिर से मूल रूप में आ जाएँ, ऐसा सुनने में नहीं आया। किन्तु जीव और विजातीय कर्म के सम्बन्ध विच्छेद को करने वाला भेदज्ञान नामक एक रसायन अवश्य है। जैसे मिले हुए सोना और चाँदी को पृथक् करने का रसायन होता है। वैसे ही आत्मा और कर्म को भी पृथक् करने वाला 'भेदविज्ञान' एक उत्तम रसायन है। प्रायः चौके में हल्दी के साथ तीखे का योग होने से लचका वगैरह लाल हो जाता है, यह संसर्ग का प्रभाव है। आत्मा में भी रागादि रूप परिणमने की क्षमता है और कर्म वर्गणाओं में रागादि उत्पन्न करने की क्षमता है। इसमें निमित्त पुद्गल है, उसमें भी अन्य पुद्गल नहीं; कर्मरूप पुद्गलों का ही इस प्रकार का प्रभाव है।

आत्मा और शरीर दो पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं—जो शरीर से आत्मा को पृथक् स्वीकार करना नहीं चाहते, उनसे पूछना चाहते हैं कि किसी के मरण होने से पूर्व और मरण होने के बाद खून में अन्तर क्यों आ गया? उसमें भी किसी को बीमारी से मरण होने पर या अचानक एक्सीडेन्ट से मृत्यु होने पर खून की जाँच में अलग तत्त्व निकलते हैं। कुछ ऐसे रिसर्च हो रहे हैं जिसमें कुछ ऐसी शक्ति को स्वीकारने के लिए बाध्य हो जाते हैं। ज्यों ही आत्मा देह से अलग हो जाती है देह ठण्डी पड़ जाती है ऊष्मा समाप्त हो जाती है, टेम्परेचर बिल्कुल नीचे आ जाता है। इससे आत्मा और शरीर दोनों के मिलने और बिछुड़ने का ज्ञान उक्त लक्षणों से हो जाता है। अब उसमें कर्म सिद्धान्त को और जोड़ दें। पर्याप्त आदि नामकर्म के उदय समाप्त हो गए। अचानक मृत्यु होने से हृष्ट-पुष्ट निरोग शरीर तो है ही, अब उसे जो पहले व्यंजन अच्छे लगते थे, उसके मुख में डाल दो; एक भी दाना भीतर नहीं जाता है। घोलकर पेट में डाल दो, ज्यों का त्यों पड़ा रहेगा क्योंकि पाचन शक्ति समाप्त हो गई। पाचन की गोली, सोंफ आदि सब डाल दो जिससे पच जाए किन्तु मुख से बाहर क्यों आ रहा है? इसका

जवाब विज्ञान के पास नहीं है। वही बात यहाँ कही जा रही है **काले विजुज्जमाणा** उदयकाल में अपना रस देकर खिर जाते हैं। फिर एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। रागादि भाव युक्त जीव और स्निग्ध रूक्ष गुण युक्त पुद्गल हल्दी चूने की भाँति मिल गए हैं। एक-दूसरे में अवगाहित होते हुए संश्लेष सम्बन्ध को प्राप्त हुए हैं। यह रसायन अपने आप में बहुत अद्भुत है। विज्ञान के लिए यह चुनौती है। इस शरीर रूपी मशीन का निर्माण कराने वाला कौन है? छोटे से छोटा मिक्कू जैसा जीव है उसमें भी नाक, आँख इत्यादि सारे पुर्जे विद्यमान हैं और वह छोटे हिस्से से देख भी रहा है भले ही उसके पास मन नहीं है लेकिन चक्षुदर्शन उसके पास है। दो आँखें हैं, उसमें आपका बिम्ब झलक रहा है। वह पंख फड़फड़ाता रहता है। उसकी टाँगें बाल से भी पतली रहती हैं। चार पैरों से हेलीकॉप्टर के समान आकर हाथ के ऊपर उतर कर बैठ जाता है। उसकी आँखों में घूरकर देख लो सामने वाले का बिम्ब तो उसकी आँखों में आ ही जाता है। वही चार इन्द्रिय जीव कब सैनी पञ्चेन्द्रिय बन जाए कुछ कह नहीं सकते। एक सेकेण्ड भी नहीं लगेगा और मनुष्य बन जायेगा। कर्मों के द्वारा शरीर रूपी मशीन का निर्माण होकर अन्तर्मुहूर्त के भीतर दूसरी पर्याय को ग्रहण करने की क्षमता अन्य किसी दर्शन में दृष्टिगोचर नहीं हो सकती। विस्तार से कर्म का उत्पादन, कार्यकाल, स्थिति आदि का वर्णन ४००-५०० पृष्ठ वाली धवला आदि ग्रन्थों की ३९ पुस्तकों में है। इनका स्वाध्याय आत्मतत्त्व के निकट पहुँचाने में सहायक है।

कर्म भीतर एवं बाहर दोनों रूप से फल देते हैं—जीव निर्विकार, चिदानन्द स्वभाव युक्त है किन्तु जब मिथ्यात्व व रागादि के साथ एकत्वरूप रुचि रखता है तो मिथ्यादर्शन हो जाता है। मिथ्यात्व युक्त ज्ञान मिथ्याज्ञान है और उसी रूप परिणमन मिथ्याचारित्र है। इस प्रकार मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से परिणत जीव संसारी है, मोही है। पुद्गल कर्म सुख-दुख रूप फल उन्हें देते हैं जो आकुलता उत्पन्न कराने वाले हैं। इससे भीतर में सुख-दुख और बाहर में इष्टानिष्ट संयोग-वियोग चलता रहता है। जो मत एकान्त से साता-असाता को जीवविपाकी मानकर बाह्य में उसका कोई कार्य नहीं रहता ऐसा मानते हैं, उनकी बात यहाँ निरस्त हो जाती है क्योंकि बाहर में इष्टानिष्ट विषय कभी कटुक कभी मधुर रूप फल देते हैं। कर्म सिर्फ भीतरी हर्ष-विषाद ही उत्पन्न करते हैं ऐसा नहीं, बाहर में भी सुख-दुख रूप आकुलता के लिए प्रबन्ध कर देता है। जैसे-असाता के उदय में काँटे आदि का समागम हो जाता है।

नोकर्म के बिना कर्म फलता नहीं—इष्ट-अनिष्ट दोनों प्रकार के प्रलय होते हैं। इसका भी सम्पादन कर्म करता है क्योंकि नोकर्म के बिना कर्म फलता नहीं है। लाभान्तराय कर्म के उदय के कारण ही विघ्न उत्पन्न होते हैं। लाभान्तराय का क्षयोपशम होने पर भी साता आदि का उदय होना चाहिए तभी उस कर्म के फल का अनुभव हो सकता है, अन्यथा नहीं। कई लोग एकान्त से ऐसा मानते हैं कि दुख के लिए मात्र असाता ही कारण है बाहरी कोई पदार्थ नहीं क्योंकि बाहरी संयोग किसी कर्म

का फल नहीं है। उनके अनुसार करोड़ों रुपये का जो सहयोग मिला है वह साता के कारण नहीं है, वह तो हाथ का मैल है ऐसा कहते हैं। तो फिर अड़ोस-पड़ोस के घर न जाकर उसके ही घर में लक्ष्मी क्यों आई? वह लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से ही यदि मानते हैं तो हम कहना चाहते हैं कि जिस तरह केवली भगवान् ज्ञान के द्वारा ही जानते हैं तो अनन्तज्ञान से जान लें, फिर अनन्तशक्ति की क्या आवश्यकता है? लेकिन अनन्तशक्ति के अभाव में एक भी पदार्थ झलक नहीं सकता। यद्यपि दोनों कर्म भिन्न हैं फिर भी दोनों का सम्बन्ध है उसी तरह असाताकर्म के साथ अनिष्ट पदार्थों का संयोग नहीं है तो विषाद नहीं होगा। जैसे घर में किसी एक व्यक्ति का अवसान हो गया, उसे जलाकर आ गये, रात हो गई, सब सो चुके हैं लेकिन एक को डर लग रहा है। जब वह (व्यक्ति) है ही नहीं, तो डर किस बात का है? रह-रह कर याद जो आ रही है उनकी जीरो वॉट जैसी गढ़ी हुयी लाल-लाल आँखें दिख रही हैं, यह सब असाता कर्म के बिना नहीं हो सकता और यह असाता कर्म उस व्यक्ति के मरण रूप अनिष्ट संयोगज नोकर्म से फलित हुआ है।

षट्खण्डागम की धवला टीका में ऐसा लिखा है कि अनाकुल रूप पारमार्थिक सुख से विपरीत भीतर आकुलता पैदा करने वाले निश्चय से हर्ष-विषाद रूप तथा व्यवहार में इष्टानिष्ट पदार्थ विषयक कटुक सुस्वादु इत्यादि रूप सांसारिक सुख-दुख मिलते रहते हैं।

वीतराग परम आह्लादरूप सुखामृत आस्वादन ही सच्चा भोजन है इससे रहित जो जीव व्यवहार से द्रव्यकर्म व पदार्थों का तथा अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावों का भोग करता है। जो रुपया-पैसा पास में है उसे एकान्त से साता के उदय बिना मानेंगे, तो क्यों रख रहे हो? केशियर के अन्दर में अरबों रुपये रहते हैं लेकिन वह उसका मालिक नहीं है क्योंकि उसके लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम नहीं है। कोई अरबपति है लेकिन उठ-बैठ नहीं सकता, घर में बढ़िया कार है पर उसके किसी काम की नहीं, आँखों से दिखता नहीं, खाने-पीने पर भी स्वाद आता नहीं, साइनस हो गया है, सूँघने से कुछ भी गन्ध आती नहीं, दिमाग के पुर्जे ढीले पड़ गये हैं कुछ समझ नहीं पाता। आवाज सुनकर छोटे-छोटे बच्चे हँसते हैं लेकिन उसे मालूम नहीं पड़ता कि क्यों हँस रहे हैं? हाथ की लाठी भी हिल रही है। कोई उठाता नहीं है तो चिल्लाता है भगवान् आप ही उठा लो। कोई नहीं चाहता कि बुढ़ापा आये, सब जवान ही रहना चाहते हैं, जाने की कोई बात ही नहीं करना चाहता परन्तु वृद्ध तो होना ही है कोई अमर नहीं है। किसी डिपार्टमेन्ट में काम कर रहे हो तो एक दिन अवकाश अवश्य प्राप्त होगा।

लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से लाभ और इष्ट-अनिष्ट का संयोग साता और असाता के ऊपर आधारित है। यह साता से इष्ट का लाभ मोहक्षय के बाद भी रहता है। क्षायिकलाभ जब होता है तब भी भोग-उपभोग मिल जाते हैं, समवसरण की रचना, पञ्चाश्चर्य आदि होते हैं। "**वेदनीय शेषा:**" यह सूत्र क्यों कहा? क्योंकि ग्यारह परीषह होंगे वहाँ साता-असाता के उदय में सुख-दुख तो हैं किन्तु आकुलता नहीं होगी। संसारी जीवों में सामान्य रूप से दरिद्रता आदि असाता के कारण तथा

सुभिक्ष आदि साता के कारण से होते हैं इसीलिए साता-असाता दोनों वेदनीय की प्रकृति होकर भी सुख-दुख रूप बाह्य पदार्थों की सम्पादक है, ऐसा आगम में लिखा है।

घातिया और अघातिया कर्मों के भेद—घातियाकर्म केवल घात करते हैं, देशघाति हों या सर्वघाति हों; कुछ देते नहीं है। उनका काम घात करने का है। अघातिया कर्मों में प्रशस्त-अप्रशस्त दो भेद हैं; इसमें लेन-देन है इसीलिए तो संसारी जीव कुछ न कुछ पाने को आतुर रहता है। प्रशस्त से सुख और अप्रशस्त से दुख मिलता है। घातिया कर्म सभी अप्रशस्त ही माने हैं किन्तु धवला ग्रन्थ में आया है-पुरुषवेद प्रशस्त है। स्त्रीवेद, नपुंसकवेद अप्रशस्त है। सम्यक् प्रकृति भी प्रशस्त मानी जा सकती है क्योंकि उससे सम्यग्दर्शन का घात नहीं होता, सर्वघाति स्पर्धकों का अभाव होने के कारण उसे कथञ्चित् प्रशस्त कहते हैं। जैसे-न्याय के सम्बन्ध में धर्मयुद्ध करे तो वह रौद्र-ध्यान होते हुए भी प्रशस्त है। वैसे ही पुरुष वेद और सम्यक् प्रकृति को उपचार से प्रशस्त कहा है। वस्तुतः कर्म का विभाजन करने में पाप रूप ही कहा है। इस प्रकार भोक्तृत्व की व्याख्या हुई।

उत्थानिका—अब कर्तृत्व और भोक्तृत्व का उपसंहार करते हैं-

तम्हा कम्मं कत्ता भावेण हि संजुदोध जीवस्स।
भोत्ता दु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं ॥७४॥

अन्वयार्थ—**(तम्हा)** इसलिए **(कम्मं)** द्रव्यकर्म **(जीवस्स)** जीव के **(भावेण संजुदो)** रागादिभाव से संयुक्त होता हुआ **(हि)** निश्चित ही **(कत्ता)** [अपनी कर्मरूप सुख दुःख अवस्थाओं का] कर्त्ता है **(अध)** अथवा **(जीवो)** जीव **(चेदगभावेण दु)** अपने अशुद्ध चेतकभाव से **(कम्मफलं)** कर्मों के फल का **(भोत्ता)** भोक्ता **(हवदि)** होता है।

अर्थ—इसलिए द्रव्य कर्म जीव के भाव से संयुक्त होता हुआ निश्चय से अपनी कर्म रूप अवस्थाओं का कर्त्ता है और व्यवहार से जीव भाव का कर्त्ता है परन्तु वह भोक्ता नहीं है, जीव अकेला ही अपने अशुद्ध चेतनभाव से कर्मफल का भोक्ता होता है।

आठ कर्म का उपादान से, द्रव्यकर्म ही है कर्त्ता।
जीवों के रागादि भाव का, कर्म निमित्त मात्र कर्त्ता॥
रागादिक भावों के कारण, जीव कर्म फल भोक्ता है।
जीव कर्म दो कर्त्ता हैं पर, भोक्ता केवल आत्मा है ॥७४॥

व्याख्यान—जो कर्म का कर्त्ता होता है वह भोक्ता भी होता है तथा चेतनकर्म के माध्यम से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का संवेदन भी करता है। फल भोगते समय यदि हर्ष-विषाद न करें तो नूतन बन्ध नहीं होगा यह नियम है। इसीलिए कर्मोदय के समय हर्ष-विषाद नहीं करना ही साधना है जो कैवल्य की उपलब्धि का साधन है। इससे स्पष्ट है कि जीव और पुद्गलकर्म एक-दूसरे के

उपादान नहीं बन सकते, कर्मबन्ध के समय कर्म का उपादान वह स्वयं है, व्यवहार से जीव के रागादि भाव निमित्त हैं। निश्चय नयापेक्षा जीव द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों का कर्त्ता नहीं है अर्थात् राग किये बिना भी जीवित रह सकता है। जैसे पशु आदिक वस्त्र के बिना रहते हैं वैसे मनुष्य भी रह सकता है। लेकिन कर्मोदय से लज्जादिक के कारण मनुष्य अपनी परिष्कृत बुद्धि से ऐसी सोच बना लेता है, वस्तुतः यह अनिवार्य नहीं है। कर्मों से स्वयं का पृथक् चिन्तन करने से सारी बातें गौण होती चली जाती हैं। अभ्यास न होने से यही वस्तुएँ अनिवार्य जैसी लगती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इस उम्र में नमक, मीठा, घी तो खाना ही चाहिए तथा इतनी केलोरी ऊर्जा तो होना ही चाहिए। जबकि यह सब न होने पर भी हृष्ट-पुष्ट रहता है। इनके बिना भी सब अच्छे से चल रहा है। एक लेख में पढ़ा था कि खाने आदि के पदार्थों में लवण आदि मधुर रस भी रहता है। मात्रा में भले कम हो फिर भी ऊपर से जिह्वा के कारण डाल देते हैं, नहीं डाला हो तो भी चौके में किसी ने कहा कि डाल दिया है, तो भी चल जाता है और उस रस की ओर ध्यान भी नहीं जाता है। वैसे ही पुद्गल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रहते ही हैं। ५० वर्ष तक अच्छी मात्रा में सब पहुँच गया है अब कुछ भी चीजों की आवश्यकता नहीं रहती। एक लेख में पढ़ा था कि-बच्चों के लिए नींद पूरी चाहिए, वृद्धावस्था में नींद इतनी आवश्यक नहीं। वह खाँसते रहते हैं किन्तु नींद लगने के उपरान्त खाँसी नहीं आती यह साइकोलॉजी है। ज्यों ही उठ गए तो फिर खाँसते हैं। वृद्ध, बच्चे जैसे हैं काम तो कुछ रहता नहीं, बैठे-बैठे सोते रहते हैं। उस समय उनका काम होता रहता है। शरीर को जैसा बनाओ वैसा बन जाता है। विकल्प हो जाए तो नींद अपने आप भाग जाती है।

वेदनीय कर्म ही सुख-दुख में कारण—जीव मिथ्यात्व रागादि भावों के कारण कर्म संयुक्त रहता है तो भोक्ता हो जाता है। जब निश्चय सामायिक, शुद्धोपयोग और वीतरागभाव से नीचे आ जाता है तो कर्म बाँधता है और यदि इन भावों से युक्त रहता है तो कर्म नहीं बाँधता, यह इसका रहस्य है। कर्म के बन्ध की प्रक्रिया व फल भोगने की प्रक्रिया एकसाथ चल रही है लेकिन हमारा उपयोग बन्ध की आन्तरिक प्रक्रिया को नहीं देख पाता, यह रहस्यपूर्ण है। फल की प्रक्रिया स्थूल है दिख जाती है। उपयोग यदि आत्मतत्त्व की ओर लगा रहता है तो बन्ध नहीं होता और यदि बाहरी तत्त्व की ओर जाता है तो बन्ध होने लगता है, यह नियम है। जो परम चैतन्य प्रकाश से विपरीत अशुद्ध चेतन है उससे बन्ध होता है क्योंकि शुद्ध-बुद्ध स्वभावी परमात्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सहजसुखानुभव रूप जो फल है उससे विपरीत सांसारिक सुख-दुख का अनुभव करता रहता है इसीलिए इसे शुभाशुभ भावों का फल कहा है। शुभफल सुख रूप और अशुभफल दुख रूप होता है जो कि प्रशस्त-अप्रशस्त कर्मफल पर आधारित है। **षट्खण्डागम** में **''वेदनीयो चेव वेदनीयो''** यह कहा है अर्थात् सात कर्मों में वेदन नहीं, वेदनीय कर्म से ही वेदन होता है। यदि साता का उदय है तो सुख रूप और असाता का उदय है तो दुख रूप वेदन होता है। तभी तो सयाने लोग बोलते हैं 'साता है' अर्थात् ठीक हो।

राजस्थान में कहते हैं 'सरधा कोनी' अर्थात् सामर्थ्य नहीं है। आपके पास ज्ञान है कि नहीं? दर्शन है या नहीं? आयु कर्म ठीक चल रहा है या नहीं? यह कुछ नहीं पूछते। साता है, सब प्रसन्न हैं, सुखी हैं यही पूछते हैं। तो कहते हैं-रामराज्य चल रहा है। राम तो चले गए अब रामराज्य कैसे? इसका अर्थ है रामराज्य में सब सुखी थे ऐसे हम भी सुखी हैं। रामराज्य राम के लिए नहीं प्रजा के लिए होता है। जो स्वयं को दुखी बना करके भी प्रजा को सुखी बनाते हैं इसी का नाम रामराज्य है। प्रजा को सुखी देख राजा अपने आपको सुखी समझता है। जब राजा सहनशील और कर्त्तव्यपरायण होता है तो ''यथा राजा तथा प्रजा'' वैसी सहनशील और कर्त्तव्य परायण प्रजा भी होती है।

वेदनीय को यदि भूल जाएँ, गौण कर दें तो शेष कर्मों का पता ही नहीं लगेगा। **इष्टोपदेश** में कहा है कि-ज्ञानी ''**बहिर्दुःखेष्वचेतनः**'' बाहरी दुखों में अचेतन सम हो जाते हैं अर्थात् अनुभव नहीं करते, तभी तो तपस्या होती है। बाहर आने से हाँ-हूँ, हाँ-हूँ होता है स्वानुभव में नहीं। घण्टों निकल जाते हैं, पर से सम्बन्ध ही नहीं रहता, कनेक्शन काट लेते हैं। जैसे-मनरूपी इंजन को अलग कर देते हैं फिर द्रव्येन्द्रियाँ सो जाती हैं और द्रव्येन्द्रिय का काम भावेन्द्रिय के बिना होता ही नहीं। मन भी शान्त हो जाता है इन्द्रिय द्वार बन्द करके अर्थात् बेहोश करके डॉक्टर मरीज के सामने ही चीरा-फाड़ी कर लेते हैं फिर भी वह रोता नहीं, चिल्लाता नहीं। खून बह रहा है, भीतर के पुर्जे बाहर लाकर रख देते हैं। जैसे हाथ, पैर शून्य हो जाते हैं या सो जाते हैं वैसे ही ध्यानीजन शरीर को शून्य कर देते हैं। देह से सम्बन्ध तोड़कर स्वयं में लीन हो जाते हैं। उसी प्रकार साता-असाता को गौण कर दें तो सुख-दुख कोई वस्तु है ही नहीं, फिर तो ज्ञानचेतना होने में देर ही नहीं लगेगी क्योंकि इसी से इष्टानिष्ट रूप कर्मफल को स्वीकार कर रहा है। पहले तो हाथ ही नहीं लगाने देते थे और अब सामने ही हाथ काटा जा रहा है, चीरा जा रहा है फिर भी दर्द का अनुभव नहीं हो रहा है, चमत्कार तो देखो क्योंकि कनेक्शन तोड़ दिया है। जब बड़े-बड़े ऑपरेशन करते हैं तब बेहोश कर दिया जाता है क्योंकि वह इतना सहन नहीं कर पाता है और डॉक्टर शान्ति से अपना काम करते रहते हैं। बाहर का शरीर तो बहुत स्थूल है, जिसके माध्यम से संवेदन होता रहता है। अन्तिम जो सूक्ष्म कार्मण शरीर है वह ''**निरुपभोग-मन्त्यम्**'' अर्थात् इन्द्रिय का विषय नहीं बनता उससे आत्मतत्त्व बिल्कुल भिन्न है। वायर में जैसे करंट प्रवाहित रहता है किन्तु देखने में नहीं आता, वायर फिटिंग ही देखने में आती है और उसका कार्य बाहर में बल्ब का प्रकाश, पंखा आदि के माध्यम से ज्ञात हो जाता है। ऐसे ही सुख-दुख रूप जो संवेदन हो रहा है वह वेदनीय के कारण ही है शेष सात कर्म इस तरह संवेदन में नहीं आते।

तन-मन दोनों में सुख-दुख होते रहते हैं। कभी-कभी तन की तरफ मन न होने से ध्यान नहीं रहता। मानलो खून बह गया, पैर खून से लथपथ हो गया और ज्ञात ही नहीं हुआ। जब देखा तो चक्कर आ जाता है। ऐसा पहले कुछ क्यों नहीं हुआ? क्योंकि उस तरफ ध्यान नहीं गया। ज्ञान होने पर भी ज्ञानी को ध्यान नहीं रहता, जो भीतर कर्म थे वह उदय में आते रहते हैं पर ज्ञानी स्वयं में लीन रहते

हैं। इससे असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा होती रहती है। वध, तृणस्पर्श आदि परीषह जीतते रहते हैं। औदारिक शरीर के कारण तीव्र कर्मबन्ध हो सकता है तो असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा भी हो सकती है। वैक्रियिक शरीर से नहीं होगी क्योंकि ध्यान जो लगता है वह वैक्रियिक शरीर के माध्यम से नहीं लगता। इसके पुर्जे अलग हैं, इसमें तो चतुर्थगुणस्थान से ऊपर उठ ही नहीं सकता। औदारिक शरीर का महत्त्व कर्मसिद्धान्त से ही ज्ञात होता है। इसे अच्छे कार्य में लगाओ यही तात्पर्य है।

उत्थानिका—कर्मसंयुक्त जीव की मुख्यता से अब प्रभुत्व गुण का व्याख्यान करते हैं–

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं।
हिंडति पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥७५॥

अन्वयार्थ—(एवं) इस तरह **(अप्पा)** आत्मा **(सगेहिं कम्मेहिं)** अपने ही [शुभ–अशुभ भाव] कर्मों के द्वारा **(कत्ता)** कर्त्ता **(भोत्ता)** और भोक्ता **(होज्जं)** होकर **(मोहसंछण्णो)** मोह या मिथ्यादर्शन आच्छादित होकर **(पारम्)** पार होने योग्य **(अपारं)** अथवा न पार होने योग्य **(संसारं)** संसार में **(हिंडति)** भ्रमण करता है।

अर्थ—इस प्रकार आत्मा अपने कर्मों का कर्त्ता व भोक्ता होता हुआ मोह से आच्छादित होकर सान्त अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

अपने भाव शुभाशुभ द्वारा, जीव कर्म का कर्त्ता है।
कर्मफलों का भोक्ता होकर, मोहाच्छादित होता है॥
कहा अनन्त अभव्य अपेक्षा, भव्य अपेक्षा सान्त कहा।
चतुर्गति में भ्रमता-भ्रमता, काल अनन्ता दुख सहा ॥७५॥

व्याख्यान—मोह से युक्त होता हुआ जीव अपार संसार में भ्रमण करता है। अभव्य की अपेक्षा संसार अपार है लेकिन भव्यजीव तो पार पा सकते हैं। **''द्रव्यक्षेत्रादि निमित्त वशात् कर्मण: फलमापय:''** कर्म के उदय को रोका नहीं जा सकता, उसे मोड़ा जा सकता है। बाढ़ पूरित नदी में वेग अधिक होने से तैर नहीं सकते, किन्तु वेग समाप्त होने पर तैरकर पार हो सकता है। जब तक हिम्मत नहीं करते तब तक नदी को भी पार नहीं कर सकते। अभी तक पार नहीं हुए इस अपेक्षा से संसारसागर अपार है। जिन्हें संसार से पार होना है तो संसार को जिसने पार कर लिया है उनके दर्शन कर लें। उनके द्वारा मार्ग प्रशस्त हुआ है, वे मार्ग दिखाकर गए हैं। संसारी प्राणी यदि कर्म करने में सक्षम है तो कर्म काटने में भी सक्षम है। कर्म कभी भी कर्त्ता नहीं होता, कर्म तो कर्म होता है। संसारी जीव कर्म का कर्त्ता होता है तो कर्म को नष्ट भी कर सकता है। जैसे–स्लेट पर लिखने में गलती हो जाए तो मिटा देते हैं, लिखा भी हमने था और मिटाया भी हमने। उसी प्रकार गलती हो गई है तो अब सुधारो, ऐसा नहीं कि गलती हो गई तो और गलती ही करते जाएँ। अभी तक ऐसा ही होता आया है, मिटाना

चाहें तो मिटा सकते हैं। मानलो एक कविता लिखी स्वयं को बहुत अच्छी लगी लेकिन जैसे ही ज्ञात हुआ कि गलत लिखी है तो भी उसे नहीं मिटाता क्योंकि स्वयं को अच्छी लग रही है, यह अज्ञान है। जो कोई भी पढ़ेगा तो गलत ही कहेगा, भले ही मिटाते समय थोड़ी परेशानी हो लेकिन मिटाना ही उचित है। उसी प्रकार जो गलती की है उसे किसी को बताकर मिटा दो या अकेले में मिटा दो। जिन्होंने मुक्ति पाई है उन्होंने भी पहले अनन्तों बार गल्तियाँ की थीं, यह परम्परा है। गलती करना स्वभाव-सा बन गया है फिर इसी का भोक्ता होता हुआ आत्मा संसार में भ्रमण कर रहा है। किसी ने हमें संसार में फँसाया नहीं है। जो मोही बनके फँसे हुए हैं उनकी बातों में न आकर, जो सुलझ गए हैं उनकी संगति करें तो निश्चित ही भ्रमण दूर हो सकता है। कठिन तो है लेकिन असंभव नहीं। अभी तक नहीं हुआ तो आगे भी असंभव है, ऐसी मान्यता मत बनाओ। मोह छोड़ते ही पथ प्रशस्त हो जायेगा। आज छोड़ें या कल छोड़ें, कभी भी छोड़ें पर मोह को छोड़ना ही होगा। यह किसी की मदद से नहीं छूटेगा। दो लोग मिलकर आधा-आधा मोह का हिस्सा काट लें ऐसी पार्टनरशिप नहीं होगी। अपनी जितनी पूँजी है उसे लगाकर काटना प्रारम्भ कर दो। परिवार के सदस्यों से पूछने पर कुछ नहीं होने वाला है। पूर्वभव में भी अनेक परिवार के लोग हो चुके हैं। स्वर्गों में भी देव-देवी का संयोग रहता है विशेष यह है कि लौकान्तिक देवों व अहमिन्द्रों का परिवार नहीं होता है। कितनी बार परिवार अपनाये और छोड़े, इसका ज्ञान तो केवलज्ञान होने पर होगा बड़ी लम्बी-चौड़ी कथा है।

संस्मरण—संसार दशा में शांति का काम ही नहीं है। हमेशा राग-द्वेष के द्वारा कर्म बन्ध होता रहता है। मैंने गुरु महाराजजी (आचार्य ज्ञानसागरजी) से कहा-एक समाधि वाले मुनि को ४८ मुनि महाराज समाधि करवाते हैं। लेकिन वह समाधिस्थ मुनि स्वर्ग में जाने के बाद उपकारी के पास आते क्यों नहीं? तो महाराज जी ने कहा-पंचमकाल में कोई कल्पवासी देव यहाँ नहीं आते, क्योंकि स्वर्गीय नंदनवन का प्रभाव ही ऐसा है कि वहाँ जाकर वे उसी में रम जाते हैं और उनका सागरोपम काल विषयों में लीन होने के कारण जल्दी बीत जाता है। वे वहाँ व्यस्त हो जाते हैं। अनंत जीवों को देखो उनकी अपेक्षा तुम्हारा कितना सौभाग्य है। अतः कोई भी कठिनाई आ जाए लेकिन अपने परिणामों को सुरक्षित रखो। बीच में एक भव शेष रहे ऐसा भाव रखो। एक-एक कर्मों का फल तुम्हें ही मिलेगा। भविष्य को देखकर संतोष भाव रखो, आकुलता मत करो।

निश्चयनय से जीव न कर्म का कर्त्ता है, न भोक्ता है जबकि व्यवहारनय से कर्मों का कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है। अब तक कितने दुख सहे वह याद ही नहीं है। यदि याद आ जाएँ तो और अधिक दुख होगा। पूर्व का जातिस्मरण हो जाए तो उसके माध्यम से सम्यग्दर्शन भी उत्पन्न हो सकता है लेकिन जातिस्मरण यहाँ बहुत कठिनाई से होता है। प्रत्येक के जीवन में हो यह नियम नहीं लेकिन जिनवाणी के माध्यम से इतना तो स्मरण रह जाता है कि हर एक जीव की यह अनन्त कथा है। पूर्व जीवन की जो अनुभूति हुई वह कुछ भी याद नहीं है। शत्रु-मित्र, सुख-दुख कुछ भी स्मरण नहीं है। कितनी बार

आँखों से पानी बहा, यह याद नहीं है। तीन इन्द्रिय तक तो आँखें होती ही नहीं तो क्या उन्हें दुख नहीं होता है? होता तो है लेकिन दुख के भार को कम करने का यह एक तरीका है जो वे आँसू बहा नहीं सकते। '**बीती ताहि बिसारि के आगे की सुधि लेय**' बिसारने का अर्थ-कषाय को भूल जाओ, पर दुखों को याद रखो तभी तो दुख के कारणों को छोड़ पाओगे।

वैराग्य दृढ़ करने के लिए **तत्त्वार्थसूत्र** में एक सूत्र आया है "**हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्य-दर्शनम्**" इस प्रकार भावना भाने से महाव्रत धारण कर सकते हैं या लिए हुए महाव्रत की रक्षा कर सकते हैं अन्यथा कितने कर्म बँधे? कितने उदय में आए? कितने छूटे? कुछ पता नहीं। तेली के बैल की भाँति चक्कर खा रहा है। उसके आँखों में पट्टी और गले में घण्टी बाँध दी जाती है। बार-बार घूमने से चक्कर खाकर गिर न जाए, इसीलिए तेली ऐसा करता है। वह बहुत होशियार होता है, आजकल तो न तेली है न बैल है, मील से तेल आता है। दौलतराम जी ने भजन में लिखा है-"**जिया जग धोखे की टाटी, आँखन बाँधी पाटी**" श्री ज्ञानसागरजी महाराज की समाधि के समय कुछ श्रावक यह भजन गाया करते थे। बैल की आँखों पर पट्टी बँधी रहती है, दिनभर घूमता है वह सोचता है कि काफी चल चुका हूँ अब शाम को नया शहर मिलेगा। पर ज्यों ही पट्टी हटती है तो स्वयं को वहीं पाता है। इसी प्रकार इस जीव की भी यही दशा है। बहुत घूमघाम कर आया लेकिन वहीं का वहीं है। सब कुछ पुराना है, नया कुछ काम किया ही नहीं है। निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञान, दर्शन इत्यादि कार्य के अलावा कुछ नहीं किया और व्यवहारनय से इससे विपरीत कर्मबन्ध के कारण चतुर्गति संसार में भ्रमण कर रहा है।

मोहपूर्वक बन्ध और बन्धपूर्वक मोक्ष—भव्य अपेक्षा '**पार**' और अभव्य अपेक्षा '**अपार**' शब्द है। अतीत की ओर देखते हैं तो कोई पार नहीं था, अनागत में भव्य पार पा सकता है। संसार महासागर में किसी ने गिराया नहीं, स्वयं मोह से गिरे हुए हैं। अनादि से कोई जीव निर्मोही नहीं था। इतिहास को देख लो यदि निर्मोही होता तो संसार में भटक ही नहीं सकता क्योंकि मोहपूर्वक बन्ध और बन्धपूर्वक ही मोक्ष होता है। जिसे मोक्ष चाहिए उसे मोह तोड़ना होगा। निश्चयनय से जीव मोह रहित अनन्तज्ञानादि गुण सहित है किन्तु व्यवहार से दर्शन व चारित्रमोह से आच्छादित है।

उत्थानिका—अब कर्मसंयोग रहित जीव की मुख्यता से प्रभुत्व गुण का व्याख्यान करते हैं-

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ॥७६॥

अन्वयार्थ—(जिणभासिदेण) जिनेन्द्र कथन के द्वारा **(मग्गं)** मोक्षमार्ग को **(समुवगदो)** भले प्रकार प्राप्त करता हुआ **(णाणाणुमग्गचारी)** सम्यग्ज्ञान के अनुसार धर्ममार्ग पर चलने वाला **(धीरो)** का धीर भव्य जीव **(उवसंतखीणमोहो)** उपशान्तमोह[पहले मोह को उपशम] अथवा क्षीणमोह [मोह का क्षय] करके **(णिव्वाणपुरं)** मोक्षनगर को **(वजदि)** चला जाता है।

अर्थ—जिनवचन द्वारा मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सम्यग्ज्ञान के अनुसार धर्ममार्ग पर चलने वाला धीर पुरुष मोह का पहले उपशम फिर क्षय करके मोक्षनगर को चला जाता है।

जिनवर द्वारा उपदेशित जो, वचनों को स्वीकार करे।
मोहकर्म का उपशम क्षयकर, ज्ञानमार्ग अनुसरण करे॥
धीर वीर वह पुरुष सुनिश्चित, प्राप्त करे निर्वाण नगर।
कर्म मुक्त प्रभुता पाने की, बतलाई यह सही डगर ॥७६॥

व्याख्यान—गाथा में '**धीर**' शब्द आया है। सबको वीर सुनाई दे रहा है क्योंकि यहाँ एक तरफ धीर है, दूसरी तरफ वीर है। धीर-वीर आत्मा ही मोक्षमार्ग पर चलकर निर्वाणपुर तक पहुँच जाती है। यहाँ सभी मोह की नगरी से आए हैं। आगे भी मोहनगरी की ओर जाने को तैयार हैं किन्तु अब निर्मोहनगर की ओर जाने का संकल्प कर लो, ज्ञानमार्ग में प्रवेश करने वाला धीर ही निर्वाणपुर पहुँचता है। संसार के हर कार्य में धीरज रखते हैं।

दृष्टान्त—जैसे-व्यापार में कभी घाटा लगता है, ग्राहक नहीं आते हैं तो चिन्ता होने पर लोग समझाते हैं, भैया धीरज रखो! दुकान खोली है तो ग्राहक आयेंगे। यदि ग्राहक आ भी गये तो उधार माँगते हैं तब उदारता के साथ उधार भी दे देते हैं। कभी उधारी चुकाने भी आया तो इस शर्त के साथ कि पुनः उधार चाहिए। इस तरह उदारता के साथ धैर्य रखते हैं, तब कहीं दुकान चलती है। किसी की दुकान बहुत अच्छी चलती है तो किसी की धीमी चलती है। तो क्या दुकान में पहिये लगे हैं? हर क्षेत्र में धैर्य रखना होता है। निर्वाणपुर कितना दूर है? यह जिनवाणी और जिनदेव से पूछो। जिनवचन कहते हैं निर्वाणपुर बिल्कुल समीप है, अपने ही भीतर है, चलते चलो। रुको नहीं। अब ग्राहक बनाया है तो उधार ही सही, यदि छोड़ दोगे तो वह दूसरी दुकान पर जा सकता है इसलिए छोड़ो नहीं, ग्राहक बनाना सीखो। जिस तरह दुकानदार को ग्राहक पर विश्वास रहता है, उसी तरह ज्ञानपथ पर चलने वाला आत्मा कभी भी हताश नहीं होता क्योंकि उसे यथार्थ श्रद्धान रहता है कि यही सच्चा मार्ग है। भले ही मैं धीरे-धीरे चल रहा हूँ, थोड़ी देर लगेगी पर अंधेर नहीं है। इस सम्यग्ज्ञान के माध्यम से कर्म की निर्जरा होती रहती है। हताश नहीं होते कि बहुत सारे पहुँच चुके हैं, मैं अभी बहुत दूर हूँ। जितनी कूबत है उतनी ही कार्य में गति होगी। जैसे-कोई कुँए से मटका भरकर पानी निकालता है तो कोई छोटी लुटिया से निकालता है, छोटे बच्चे छोटी-सी डिब्बी पर सुतली बाँधकर पानी निकाल लेते हैं। उनकी भी छोटी-सी डिबिया रूपी आत्मा में थोड़ा-सा ज्ञान चारित्र रूपी जल है। जो कि समवसरण की ओर जाते हुए फुदकते हुए छोटे से मेंढक की भाँति है। ज्यादा तप-त्याग नहीं कर सकते तो कोई बात नहीं, भावना तो बड़ी रख ही सकते हैं।

मोक्ष की प्राप्ति भेद व अभेद रत्नत्रय से ही सम्भव—निगोद से जीव निकलते रहते हैं और पहुँचते भी रहते हैं। इस तरह आने-जाने का सिलसिला चलता रहता है। कोई औपशमिक सम्यग्दर्शन

को प्राप्त होते हैं, कोई क्षायिक तो कोई क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं। परन्तु मोक्षमार्ग मात्र सम्यग्दर्शन से नहीं, अपितु भेद व अभेद रत्नत्रय धरकर मुनि बनने से प्राप्त होता है। मुनि को ध्यानावस्था में अभेद रत्नत्रय प्राप्त होता है। इस तरह अभेद रत्नत्रय निश्चयमोक्षमार्ग और भेद रत्नत्रय व्यवहारमोक्षमार्ग माना जाता है। जिनेन्द्र भगवान् के वचनों का आश्रय लेकर ही वीतराग विज्ञानमय स्वसंवेदन ज्ञान से जो अभेद शुद्धात्म तत्त्व है उसे प्राप्त किया जा सकता है। जैसे लोग कहीं जाने से पूर्व पूछताछ करते हैं कि यह मार्ग बॉम्बे या जबलपुर कहाँ जाता है? इस प्रकार पूछकर ही चलना प्रारम्भ करते हैं। वैसे ही सम्यग्ज्ञान से मुक्ति के मार्ग की पहचान कर धीरे-धीरे चारित्र पथ पर चलना प्रारम्भ कर देते हैं। भरत-ऐरावत में पञ्चमकाल के अन्त में एक मुनिराज, एक आर्यिका, एक श्रावक और एक श्राविका ही रहते हैं। तब कल्की राजा टैक्स माँगता है, श्रावक तो दे देंगे, पर त्यागी, साधु का कोई व्यापार वगैरह नहीं है वह क्या दें? तब प्रथम ग्रास ही टैक्स के रूप में माँग लेता है। कल्की राजा के राज्य में बिना टैक्स (कर) के कोई भी नहीं रह सकता। श्रावक कहता है कि मेरे हाथ से एक नहीं, दो-चार ग्रास ले लो, तब कल्की कहता है- मुनि के हाथ से ही लूँगा। मुनि पिण्डहरण नामक अन्तराय मानकर बैठ जाते हैं और जान लेते हैं पञ्चमकाल का अन्त आ गया है, अब धर्म नहीं रहेगा। तब चारों ही प्राणी सल्लेखना ग्रहण कर प्रथम स्वर्ग में चले जाते हैं। **प्रवचनसार** में आया है कि ''**करपात्र में आये हुए ग्रास को किसी को भी किसी भी प्रकार से नहीं देना चाहिए।**'' आजकल ऐसा भी काम होने लगा है कि ऊपर से छोड़ देते हैं और श्रावक नीचे से हाथ बढ़ा देते हैं, यह ठीक नहीं है आगम से विपरीत है। साधु ने ले लिया है तो अब देना नहीं चाहिए, यदि देना ही है तो अभयदान दो। ऐसे धीर, वीर, गम्भीर साधु ही पञ्चमकाल के अन्त तक मोक्षमार्ग का निर्वाह करेंगे फिर पञ्चमकाल के अन्त में धर्म समाप्त हो जायेगा। असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये सब समाप्त हो जायेंगे। वस्त्र, भवन, खेती, अग्नि आदि सब नाश हो जायेंगे और कृत्रिम चीजें भी नहीं रहेंगी। इस प्रकार से आर्य खण्ड, म्लेच्छखण्ड के रूप में परिवर्तित हो जायगा। संस्कार, विवाह आदि कार्य समाप्त हो जायेंगे। मनुष्य, तिर्यञ्चों जैसा आचरण करेंगे इसलिए दिन डूबने से पहले सँभल जाओ, नहीं तो अंधेरे में कहीं फँस गए तो निकलना मुश्किल हो जायेगा। नीचे ही जाना पड़ेगा। नरक से निकलकर यहाँ आए फिर नरक जाना पड़ेगा। इस प्रकार वे भव्य पुंडरीक (श्रेष्ठ) जीव ही बाधाओं से रहित अनन्तसुखादि गुणों के आधारभूत शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप निर्वाणनगर को प्राप्त होते हैं। जो घोर उपसर्ग आने पर भी निश्चयरत्नत्रय के आधारभूत समाधि के मार्ग से च्युत नहीं होते हुए, पाण्डव आदि के समान धीर, वीर, गम्भीर होते हैं। इस प्रकार कर्म से रहित कैसे हों? इसका व्याख्यान करने वाली गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—अब नौ अधिकारों में जीवास्तिकाय के दस अथवा बीस विकल्प के साथ आगे का विशेष रूप से व्याख्यान करते हैं –

एको चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो होदि।
चदु चंकमणो भणिदो पंचग्गगुणप्पधाणो य ॥७७॥
छक्कापक्कमजुत्तो उवउत्तो सत्तभंगसब्भावो।
अट्ठासओ णवट्ठो जीवो दसट्ठाणगो भणिदो ॥७८॥
पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को।
उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति ॥७९॥

अन्वयार्थ—(सो उवजुत्तो) वह उपयोगवान **(एको चेव महप्पा)** एक ही महान् आत्मा [जातिरूप से एक ही प्रकार है] **(दुवियप्पो)** ज्ञान-दर्शन के भेद से दो प्रकार तथा **(तिलक्खणो होदि)** उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की अपेक्षा तीन लक्षण वाला होता है। **(चदुचंकमणो भणिदो)** [वही] चारगति में घूमने से चार प्रकार **(पंचग्ग-गुणप्पधाणो य)** पाँच मुख्यभावों को धारने से पाँच प्रकार कहा गया है। **(छक्कापक्कमजुत्तो)** [वही] छह दिशाओं में गमन करने से छह भेदरूप, **(सत्तभङ्ग सब्भावो)** सात भंग स्वभाव से सातरूप, **(अट्ठासओ)** आठ गुणों के आश्रय से आठरूप, **(णवत्थो)** नव पदार्थों में व्यापक होने से नवरूप और **(दस ठाणगो)** पृथ्वी, जल, तेज, वायु, साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय इन दस स्थानों में प्राप्त होने से दसरूप **(जीवो)** जीव **(भणिदो)** कहा गया है। **(पयडिट्ठिदि अणुभागप्पदेस बंधेहिं)** प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंधों से **(सव्वदो)** सर्व तरह से **(मुक्को)** छूटा हुआ जीव **(उड्ढं)** ऊपर को **(गच्छदि)** जाता है। **(सेसा)** शेष संसारी जीव **(विदिसावज्जं)** चार विदिशाओं को छोड़कर [शेष छह दिशाओं वाली] **(गदिं)** गति को **(जंति)** जाते हैं।

अर्थ—उपयोगवान् वह महात्मा एक ही है, वही जीव दो प्रकार है, वही तीन लक्षण वाला होता है, वही चतुर्गति भ्रमण से चार प्रकार कहा गया है, वही पाँच मुख्य भावों की प्रधानता वाला है, वही छह दिशाओं में गमन करने वाला होने से छह भेद रूप है, वही सात भंगों से सिद्ध होता है इससे सात रूप है, वही आठ गुणों का आश्रय है इससे आठ रूप है, वही नव पदार्थों में व्यापक होने से नवरूप है, वही दस स्थानों में प्राप्त होने से दस रूप कहा गया है। प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बन्ध से सर्वतः मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है, शेष संसारी जीव (भवान्तर में जाते हुए) चार विदिशाओं को छोड़कर छह दिशाओं में गमन करते हैं।

जीव द्रव्य उपयोगमयी है, अतः एक ही माना है।
ज्ञानदर्श उपयोग भेद से, दो प्रकार भी जाना है॥
कर्म कर्मफल ज्ञानचेतना, होने से त्रय भेद कहे।
चार चतुर्गति भ्रमण अपेक्षा, भावों से पन भेद रहे ॥७७॥

चार दिशा ऊपर नीचे तक, दिशा गमन छह अपक्रम हैं।
सप्त भंग से जाना जाता, इसीलिए सातों विध हैं ॥
आठ कर्म या आठ गुणों के, आश्रय से अठ रूप कहा।
नौ पदार्थ से नव स्वरूप है, दस स्थानों को प्राप्त रहा ॥७८॥
प्रकृति, स्थिति, अनुभाग बंध औ, प्रदेशबंध कहा चौथा।
इनसे पूर्ण मुक्त हो आतम, ऊपर जाता है सीधा॥
शेष सभी संसारी प्राणी, चउ विदिशा में ना जाते।
मरण समय पर छहों दिशा में, श्रेणी रूप गमन करते ॥७९॥

व्याख्यान—सामान्य रूप से महान् आत्मा एक है। ज्ञान, दर्शन अथवा संसारी व मुक्त की अपेक्षा दो प्रकार का है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अथवा द्रव्य, गुण, पर्याय या ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अपेक्षा त्रिलक्षण रूप है। चार गतियों में भ्रमता है, पाँच भाव से युक्त है। छह दिशाओं में गमन करने वाला है। सप्त भंग से जाना जाता है। सिद्धों के आठ गुण के आश्रय से आठ प्रकार का भी है। नौ पदार्थों के भेद से नौ प्रकार का है। पृथ्वीकाय आदि की अपेक्षा स्थान प्ररूपणा से जीव दस प्रकार का भी है। खान से सोना निकलता है लेकिन १०० टंच सोलहवानी का नहीं, कच्चा माल निकलता है। दुकानदार कच्चा माल लाते हैं और पक्का बनाकर बेच देते हैं। इसमें मुनाफा ज्यादा होता है क्योंकि पक्का होने के बाद बाजार में जो मूल्य है उसी के अनुसार बेचना पड़ता है किन्तु कच्चे माल को समय पर अच्छे से सुधारने से अच्छा भाव मिल जाता है। जो कच्चा है वही पक्का माल बनता है। होनहार तो वही होता है। सभी जीवों में कच्चे माल के समान केवलज्ञानादि विद्यमान हैं। इसमें छोटे-बड़े से कुछ मतलब नहीं है। एकेन्द्रिय है तो छोटा हो गया और पञ्चेन्द्रिय है तो बड़ा हो गया, ऐसा कुछ नहीं। ज्ञानादि सबमें विद्यमान हैं। संग्रहनय की अपेक्षा से महान् आत्मा एक है।

एक ही ब्रह्म है और सब उसके अंश हैं इस मत का खण्डन—अब कोई अन्यमती कहता है कि हजार व्यक्तियों में सभी के सामने एक-एक पानी से भरा भगोना रख दिया। सभी में धवल चन्द्रमा दिख रहा है अर्थात् हजार चन्द्रमा दिख रहे हैं, वास्तव में चन्द्रमा तो एक ही है। ऐसे ही परमात्मा तो एक ही है पर उसका अंश सभी में बँट जाता है। सामने वाले की युक्ति भी बहुत मजबूत है। जैसे एक ही चन्द्रमा सबमें दिख रहा है उसी प्रकार से एक ही जीव सब लोगों के शरीर में दिख रहा है। एक-सी आत्मा है यह नहीं कहकर, वह एक ही आत्मा है ऐसा मानता है। जो साड़ी या धोती बनाते हैं तो उसके धागे या तन्तु एक से रहते हैं और बनाने पर बड़ी छोटी इत्यादि कर देते हैं। उसी प्रकार आत्मा एक-सी है। अन्यथा या अन्य प्रकार मानने पर उत्तर देते हैं ऐसा नहीं है। भगोने में जो चन्द्रमा प्रतिबिम्बित हो रहा है इसी कारण से बहुत सारे चन्द्रमा दिख रहे हैं, वस्तुतः चन्द्रमा तो गगन में एक

है बाकी ये सब तो उसके प्रतिबिम्ब हैं। जैसे–देवदत्त के आगे-पीछे, ऊपर-नीचे अनेक दर्पण हैं। उन सबमें उसकी भिन्न-भिन्न छवि दिख रही है। उसका कारण क्या है? जबकि उसका तो एक ही मुख है। तो काँच की भिन्न-भिन्न आकृति के कारण भिन्न-भिन्न आकार वाला मुख दिख रहा है अन्यथा दिखने वाली सभी आकृतियाँ भी चैतन्य होना चाहिए। वस्तुतः वह काँच की परिणति है मुख तो एक ही है, ऐसी युक्ति है।

एक ही ब्रह्म है और हम सभी उसके अंश हैं, ऐसी अन्यमती की मान्यता है किन्तु ऐसा नहीं है। प्रत्येक के भीतर भिन्न-भिन्न आत्माएँ हैं। यदि एक होती तो एक के हँसने पर सभी को हँसना चाहिए, एक खुशी का अनुभव करता है तो सभी को करना चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि सबका अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। इसीलिए "**आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय**" यह भावना कभी भी नहीं छोड़ना। इससे आत्मा पर संस्कार पड़ेंगे कि सुख-दुख, बन्ध और मुक्ति के समय भी 'मैं अकेला हूँ' ऐसी भावना भाने से मोह टूटता है अन्यथा मोह मजबूत होगा। जिसके प्रति जीव मोह करता है लेकिन सामने वाला मोह नहीं करता, तो क्या होगा? वह तो पार हो जायेगा लेकिन मोह करने वाले को पता ही नहीं चलेगा। फिर भी मोही सोचता है कि मैं उसे छोड़ नहीं सकता, तो मुक्ति में जाकर मिल लो। वह अब दुनिया में नहीं मिलेगा, भव से पार मिलेगा। इसलिए "**राजा राणा छत्रपति**" यह भावना भले ही रोते हुए बोलो लेकिन बोलते रहो, इससे रोना अपने आप रुक जायेगा। राजा रंक हो गए, रंक राजा हो गए। सब अपनी-अपनी करामात दिखाकर चले गए। अब अपनी बारी है, करामात दिखाओ और चले जाओ। करने योग्य कार्य करने का नाम ही करामात है, नहीं करने योग्य कार्य करोगे तो बदनाम हो जाओगे।

जीवास्तिकाय के दस विकल्प सहित विशेष व्याख्यान- ज्ञान और दर्शन दो की मुख्यता से जीवतत्त्व के विवेचन में अनन्त गुण समाहित हो जाते हैं। संसारी और मुक्त अपेक्षा तथा भव्य-अभव्य की अपेक्षा भी जीव दो प्रकार के हैं। भव्य कौन और अभव्य कौन हैं? आत्मा के इस पारिणामिक भाव का निर्णय केवली के अलावा कोई नहीं कर सकता, यहाँ तक कि गणधर परमेष्ठी भी असमर्थ हैं। द्रव्य, गुण, पर्याय की अपेक्षा तीन रूप स्वीकार किए हैं। इनमें से एक की भी अनुपस्थिति में सब समाप्त हो जायेगा, न द्रव्य रहेगा न गुण और न ही पर्याय रहेगी। गुण और पर्याय के बिना द्रव्य की पहचान नहीं कर सकते। अपना परिचय नगर अर्थात् क्षेत्र से देंगे, शक्ल से बतायेंगे, यह सब गुण व पर्याय रूप हैं इसके बिना पहचान नहीं हो सकती। यदि भाषा से पहचान कराना चाहें तो १८ महाभाषा और ७०० लघु भाषाएँ हैं जो जल्दी बदलती रहती हैं वह लघु भाषा है। यह भाषा भी जीव की नहीं, पुद्गल की पर्याय है। स्पष्ट है कि द्रव्य की अपने गुण व पर्याय से ही पहचान होती है केवल गुण से नहीं, क्योंकि गुण को देख नहीं पाते। काला, नीला, पीला, हरा यह सब रूप गुण की पर्यायें हैं। गुणों को ग्रहण करने की क्षमता इन्द्रियों के पास नहीं है। आँखें स्थूल स्कन्धों को विषय

बना सकती हैं। शुद्ध द्रव्य, शुद्ध गुण और शुद्ध पर्याय हमारे ज्ञान के विषय नहीं बनते। भगवान् को क्या जान सकते हैं? देख सकते हैं? नहीं। भगवान् का आकार भी बनाना चाहो तो परद्रव्य का आश्रय लेना पड़ेगा।

विकार रहित चैतन्य एक लक्षण युक्त स्वाभाविक सिद्ध अवस्था निर्बन्ध है। बन्ध दो में होता है अकेले में बँध ही नहीं सकते। स्कन्ध में बन्ध की व्यवस्था देखने में आती है। निश्चयनय से बन्ध भी नहीं और मोक्ष भी नहीं है। चार गति व्यवहार नयापेक्षा हैं। चार गति में जीव भ्रमण कर रहा है इसलिए इससे भी जीव की पहचान होती है। बालक जन्म के समय अकेला था, विवाह हुआ तो दो हो गया, बेटा हो गया तो तीन हो गए, बेटी हो गई तो चौपाया बन गया। लोग ऐसा पर सापेक्ष कथन कर लेते हैं। किसी भी तरह आत्मा की बात समझ में आ जाए, यही लक्ष्य है। अन्तिम अक्षरी कविता भी बनती है, कविता के अन्तिम अक्षर को लेकर दूसरी कविता शुरू कर देते हैं। जो मुखाग्र या कण्ठस्थ रहता है वह स्थायी ज्ञान माना जाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जीवद्रव्य की पहचान करना भी एक दृष्टिकोण है। जैसे-चौबीस ठाणा में २४ स्थान से वर्णन किया है। पहाड़े में २ से गुणित रूप में चालू हो जाता है-दो दूनी चार, दो तिया छह। इसी प्रकार ढाई से भी कर सकते हैं, सवा दो, पौने तीन से भी कर सकते हैं। पहले के लोग पॉव, पौन, छटाँक यह सब चलाते थे। अब तो कम्प्यूटर आ गया तो स्मृति ही चली गई। २+२ के लिए बटन दबाते हैं, अंगुली से नहीं गिन पा रहे हैं। अब यह स्थिति आ गई है, दिमाग लगाने की आवश्यकता ही नहीं रही। कम्प्यूटर फेल हो जाए तो क्या करोगे? अब तो अंगूठा छाप को भी कोर्ट में महत्त्व दे रहे हैं। अनपढ़ के अंडर में कई सी.ए. काम करते हैं, कम्पनी चला लेते हैं, बड़े-बड़े मैनेजर को भी निर्देशित करते हैं। निरक्षर होकर भी इतना अच्छा मेनेजमेन्ट करना जानते हैं।

पाँच भावों से जीव की पहचान तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में पर्युषणपर्व के दूसरे दिन कराई जाती है। पहले दिन तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, नय आदि का वर्णन करते हैं फिर द्वितीय अध्याय में भावों का कथन करके कौन से भाव वाले अधो, मध्य, ऊर्ध्वलोक में कहाँ रहते हैं? यह बताया जाता है। कर्म के उदय आदि की अपेक्षा चार भाव होते हैं। पारिणामिकभाव कर्म की अपेक्षा नहीं रखता। जैसे-जीवत्व किसी कर्म की वजह से नहीं है। ज्ञान का स्वभाव होने से ज्ञेय झलकते रहते हैं प्रमेयत्व गुण स्वतः है। जीव में ज्ञान-दर्शन किसी की वजह से नहीं हैं, पर के आश्रित नहीं हैं, पर निरपेक्ष हैं। जीव को जानने के लिए यह पाँच भाव आवश्यक हैं किन्तु अनुभव करने के लिए इनकी आवश्यकता नहीं है। जैसे-स्वयं को जानने के लिए पाँच इन्द्रिय व मन की कोई आवश्यकता नहीं है। 'मैं हूँ' यह जानने के लिए टॉर्च की आवश्यकता नहीं है। स्वयं की पहचान के लिए किसी दूसरी वस्तु या दर्पण की कोई आवश्यकता नहीं है। मेरे पास पाँच अंगुलियाँ हैं या नहीं, अरे! कोई ले तो नहीं गया। यहाँ पाँच अंगुलियाँ गिनने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। 'मैं हूँ' यह संवेदन चेतना द्वारा होता रहता

है। चेतनता की पहचान के लिए किसी साथी की भी आवश्यकता नहीं। मेरा स्वरूप आप बता दो, यह कहने की नहीं, स्वयं अनुभव करने की बात है। पढ़ना अलग है, अनुभव करना अलग है। स्वाध्याय करते-करते लहर भी आना चाहिए Routine (रुटिंग) वाली बात नहीं होनी चाहिए। पारिणामिक भाव परनिरपेक्ष भाव है। जो अपने पास है, उसी का अनुभव स्वयं को होगा। अपना अनुभव दूसरों को और दूसरों का अनुभव अपने को नहीं होता। पर का ज्ञान हो सकता है, संवेदन नहीं। पर में ही जीव भटक रहा है, पर के लिए सब कुछ करने को तैयार है लेकिन स्वसंवेदन के लिए कोई दुकान खोलने की आवश्यकता नहीं, अंधा अथवा अंगूठा छाप व्यक्ति भी स्वसंवेदन कर सकता है। न्यायग्रन्थ में लिखा है कि **''शब्दानुच्चारणोऽपि स्वस्यानुभवनम् अर्थवत्''** बहुत अच्छा सूत्र है इसका अर्थ है-शब्द के उच्चारण बिना भी स्व का अनुभव होता है। जो शब्द द्वारा पहचान में लगा है वह स्वसंवेदन रहित होगा क्योंकि वह पुस्तकों के पृष्ठों में ढूँढ़ता रहेगा। मानलो स्मृति भी अच्छी है, कहाँ-क्या लिखा है? सब मालूम है, पर स्व का अनुभव नहीं है क्योंकि दूसरों के द्वारा अनुभव नहीं लिया जाता। जैसे-यह पेन्सिल ६ इंच लम्बी, ६ सेन्टीमीटर मोटी है यह सब शब्द के रूप में है। जिसे पेन्सिल का परिचय शब्दों में नहीं है वह भी इसे देखकर जान सकता है। **आचार्य अकलंकदेव** ने दर्शन के विषय में कहा कि-बच्चा जन्म लेकर ज्यों ही आँख खोलता है तो सामने खड़े लोगों को देखता है, वह अंधा नहीं है लेकिन उसे माता-पिता आदि का कुछ विकल्प नहीं है। भोगभूमि में सन्तान उत्पन्न होते ही माता-पिता का अवसान हो जाता है। पिता को छींक और माँ को जम्हाई आने से मरण होता है। माता-पिता कौन हैं? पता ही नहीं चलता। निर्विकल्प दर्शन जैसा होता है। पर का दर्शन और ज्ञान हो सकता है लेकिन संवेदन पर का नहीं होता। किताबी ज्ञान से अनुभव नहीं होता, आत्मसात् करने से अनुभव होगा। इस प्रकार पाँचों भावों के माध्यम से आत्मा का साक्षात्कार होता है। यद्यपि पाँचों ही भाव आत्मा के हैं लेकिन चार, कर्म सापेक्ष होने के कारण अलग कर सकते हैं किन्तु चैतन्यरूप पारिणामिक भाव कभी भी समाप्त नहीं होता। जिसके साथ हमारा संवेदन जुड़ा रहता है। यह संवेदन लूला, लंगड़ा, बहरा व गूंगे को भी होता है। इन्द्रिय व मन के अभाव में भी स्व का संवेदन कर सकते हैं। विकल्प से रहित होने पर और अच्छा संवेदन होता है।

मरण के समय जीव कभी विदिशाओं में नहीं जाता, शेष छहों दिशाओं में गमन करता है। प्रकृति आदि चारों प्रकार के बन्ध से रहित सिद्धपरमेष्ठी की ऊर्ध्वगति ही होती है। समवसरण में भी भगवान् का मुख चारों दिशाओं में होता है, विदिशाओं में नहीं। ध्यान के लिए भी पूर्व और उत्तर दिशा ही बतायी है, दक्षिण व पश्चिम नहीं। विदिशाओं में कोण अर्थात् तिरछापन दिखता है। कोण वाले दर्पण में देखने पर आधे ही दिखेंगे, सही नहीं दिखेंगे। सही दिशा में देखेंगे तो बिम्ब पूर्ण दिखेगा। पूर्ण दर्शन सही दिशा में ही होगा, विदिशा में नहीं। दीवार में यदि त्रिकोण आदि निकले हुए हों तो वास्तु के हिसाब से ठीक नहीं माना जाता। इससे स्पष्ट है सही दिशा में बैठने से बुद्धि सही काम करती है। सप्तभंग और

अष्टकर्म से भी संसारी जीव की पहचान होती है। आयुबन्ध के समय आठों ही कर्मों का आस्रव होता है अन्यथा आयु को छोड़कर सभी सातों कर्मों का आस्रव प्रतिसमय हो रहा है। आयुकर्म से मनुष्यभव प्राप्त हुआ और गतिनामकर्म से मनुष्य रूप पहचान हुई, मोहनीय से सुख-दुख का अनुभव हो ही रहा है। इस प्रकार आठ कर्मों के फल के बिना संसार में किसी की पहचान नहीं होती।

सात तत्त्वों में पुण्य-पाप मिलकर नवपदार्थ से भी जीव की पहचान होती है। जिनबिम्ब के माध्यम से भी तत्त्वज्ञान कर सकते हैं। कई स्वाध्यायशील लोगों की ऐसी अवधारणा है कि जो देवदर्शन, पूजन, अभिषेक करते हैं उन्हें तत्त्व की पहचान नहीं है, वे क्रियाकाण्डी हैं। इस प्रकार सम्यक् स्वाध्याय न करने से ऐसे विकल्प भी हो सकते हैं। स्वयं तो ग्रन्थ पढ़कर तत्त्ववेत्ता होने का भ्रम पालते हैं और बाकी सब ऐसे ही हैं, ऐसा मानते हैं। भगवान् को देखने से उनकी वीतरागता दिखती है। वीतरागता दिखने से आस्रव का अभाव हुआ अर्थात् संवर हो गया। जहाँ संवर है वहाँ निर्जरा अवश्य है। कई लोगों की यह धारणा हो सकती है कि संवर और निर्जरा अलग-अलग भावों से होती है जबकि जिन भावों से कर्म रुके, उन्हीं भावों से जो बँधे हुए कर्म थे वह निष्कासित होने लगे तो निर्जरा भी हो गई, इस प्रकार प्रभु दर्शन से संवर, निर्जरा दोनों होते हैं। भगवान् वीतरागी हैं परन्तु पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध सभी से सहित हैं। अर्हत् अवस्था में शरीर होने से अजीवतत्त्व भी है, स्वयं जीवतत्त्व है ही और चार घातिया कर्म नाश हो जाने से जीवनमुक्त हो गए। अब कौन कहता है कि भगवान् के दर्शन से साततत्त्व, नवपदार्थ का ज्ञान नहीं होता? यह सब भगवान् में घटित हो रहा है पाषाण में नहीं। यदि ज्ञान नहीं ध्यान करना चाहते हो तो प्रभु के चरणों में बैठकर दृष्टि को अचल करके देखो। जैसे- विधान में ८-९ घण्टे बैठ जाते हो, इधर-उधर की कोई चर्चा भी नहीं करते। भगवान् की समीपता जितनी ज्यादा मिले, उतना अच्छा है। तत्त्व श्रद्धान करते समय क्षयोपशम सम्यग्दर्शन आदि हो सकता है किन्तु ध्यान रखना क्षायिक सम्यग्दर्शन जिनेन्द्र भगवान् के साक्षात् दर्शन से ही होगा अन्यथा नहीं। साक्षात् भावनिक्षेप के भगवान् से या श्रुतकेवली के चरणों में ही होगा। स्वाध्याय करते समय आजतक किसी को क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। इससे स्पष्ट है स्वाध्याय की अपेक्षा देवदर्शन का महत्त्व ज्यादा है। अपढ़ के लिए भी यह कार्यकारी है। तिर्यञ्च तो अपढ़ भी हैं और अपद भी हैं। समयसार देखकर उन्हें कुछ भी नहीं होने वाला है किन्तु जिनबिम्ब देखकर उन्हें भी सम्यग्दर्शन हो सकता है। इस तरह जिनदर्शन की उपयोगिता और मौलिकता स्पष्ट हुई। केवल पढ़ने से ही तत्त्वज्ञान होता है यह बहुत बड़ा भ्रम है "**संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे**"। पढ़ने से ही तत्त्वज्ञान होता है यह विभ्रम है, अध्यवसाय है। स्वाध्याय करना व्यर्थ नहीं किन्तु मात्र इसे ही तत्त्वज्ञान का कारण मानना यह बहुत बड़ा भ्रम है।

अब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येकवनस्पति, साधारणवनस्पति और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय इन दस के माध्यम से जीव की पहचान करते हैं। जब एकेन्द्रियों की पहचान

करेंगे तभी पृथ्वीकायिक, जलकायिक आदि की रक्षा कर पायेंगे, ये भी जीव हैं। जो तत्त्व का ज्ञाता तो है किन्तु इन स्थावरकायिक जीवों पर दया नहीं है तो उसका ज्ञान व्यर्थ है। जो जीवदया का पालन करता है वह छह तत्त्व का ज्ञान रखता है। दशलक्षण, अष्टमी, चतुर्दशी के दिनों में हरी का त्याग रखता है क्योंकि हरी में जीव रहते हैं। कई लोग हरी की जगह पीला ले लेते हैं और यह भी कहते हैं कि– महाराज! यह ले लो, सूखी है। लेकिन वर्ण हरा है क्योंकि जल्दी–जल्दी सुखा दी है इसलिए हरी तो रहेगी। इस प्रकार हरी के त्याग में भी तत्त्व का ज्ञान निहित है। जीवतत्त्व का ज्ञान है तभी तो वनस्पति पर दया कर रहे हैं। एकदम छोटी तुरइ आदि नहीं खरीदते। किसान वगैरह भी कभी छोटे फल तोड़ने नहीं देते, उसकी पूर्ण अवगाहना होने पर तोड़ने को कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जीवतत्त्व का ज्ञान उन्हें भी है। साधारण नहीं लेना कुछ ऐसी भी साग–सब्जियाँ होती हैं जो अभक्ष्य होती हैं। यह सब पहचान करके त्याग करता है तो क्या उसे तत्त्वज्ञान नहीं है? क्या तत्त्वज्ञानी के (सींग और पूँछ रहती है) कोई विशेष चिह्न रहता है? ऐसा कुछ नहीं है। श्रुतज्ञान तो श्रव्यकाव्य अर्थात् रेडियो जैसा है और दृश्यकाव्य अर्थात् टेलीविजन के समान जिनबिम्ब दर्शन है। उसमें मात्र शब्द सुनने में ही आते हैं दर्शन नहीं है। सांव्यवहारिक के साथ कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, श्रुतज्ञान परोक्ष ही है अर्थात् श्रव्यकाव्य जैसा है लेकिन मतिज्ञान दृश्यकाव्य जैसा है। दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य में बहुत अन्तर है। सुनते–सुनते तो थक जाते हैं लेकिन दृश्य देखकर एक सेकेण्ड में जल्दी समझ जाते हैं।

मतिज्ञान के माध्यम से जो इस प्रकार की दयामय क्रिया का पालन करता है, वह क्रियाकोष की आचारसंहिता रूप चरणानुयोग का ही स्वाध्याय कर रहा है। क्या यह स्वाध्याय नहीं है? केवल द्रव्यानुयोग पढ़ना ही स्वाध्याय है क्या? जो मूलाचार, रत्नकरण्डकश्रावकाचार इत्यादि को स्वाध्याय न मानकर, यह सम्यग्दर्शन के लिए कारण नहीं हैं ऐसा कहते हैं वे बहुत बड़ी भूल में हैं। स्वयं को तत्त्वज्ञानी मानकर पत्रिकाओं में आलोचनात्मक लेख छापते हैं क्योंकि उन्हें दूसरे लोग पढ़े–लिखे लगते ही नहीं। पढ़े–लिखे की आखिर क्या परिभाषा है? जो भाषा जानता है वही तो परिभाषा जानेगा, लेकिन भाव नहीं जाने तो क्या प्रयोजन है? इसीलिए तो दस प्रकार के जीवों की पहचान करके जो दया में लगा है उसी का तत्त्वज्ञान ठोस व प्रायोगिक है। प्रयोग के साथ सैद्धान्तिकज्ञान अवश्य रहता है। श्रद्धान के साथ अमल करने से विषय और मजबूत हो जाता है, इसीलिए देव–शास्त्र–गुरु की उपासना और नियम के साथ जो कोई भी जप–तप करता है वही सही तत्त्वज्ञानी है, भले ही उसे कहना नहीं आता। जैसे–तिर्यञ्च भी कुछ नहीं कह पाते फिर भी उनके पास सम्यग्दर्शन रह सकता है, संयमासंयम भी प्राप्त कर सकता है, ऐसे तिर्यञ्च असंख्यात हैं। संयमासंयमी मनुष्य तो संख्यात ही हैं क्योंकि पर्याप्तक मनुष्य संख्यात ही हैं। स्वर्ग में कल्पवासी देवों की जितनी संख्या है वह सब मनुष्य से नहीं, तिर्यञ्चों के द्वारा ही पूर्ति की गई है। जो असंख्य द्वीप–समुद्र के बाद स्वयंभूरमण द्वीप और समुद्र है, उसमें रहने वाले संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जीव असंयत सम्यग्दृष्टि भी असंख्यात होते हैं और

संयमासंयमी भी असंख्यात होते हैं। मनुष्य में तो गिनती के हैं इसलिए १६ स्वर्गों तक तिर्यञ्चों से ही ज्यादा स्थान भरता है। जो दया का भाव रखता है वह निश्चित तत्त्व श्रद्धान रखता है। जिनवाणी पर श्रद्धान रखने के कारण ही दस प्रकार के जीवों का रक्षण करके अपनी श्रद्धा को मजबूत बनाता है इस प्रकार जीवास्तिकाय का कथन हो गया।

उत्थानिका—आगे पुद्गल के चार भेद कहते हैं–

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥८०॥
खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसोत्ति।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥८१॥

अन्वयार्थ—**(ते पुग्गल-काया)** वे पुद्गलकाय **(खंधा)** स्कंध, **(खंधदेसा)** स्कंध देश **(य)** तथा **(खंधपदेशा)** स्कंध प्रदेश **(य)** और **(परमाणू)** परमाणु **(होंति)** होते हैं। **(इदि)** ये **(चदुवियप्पा)** चार भेदरूप **(मुणेयव्वा)** जानने चाहिए। **(खंधं)** स्कंध **(सयलसमत्थं)** सभी का समुदाय है **(तस्स दु अद्धं)** उसके ही आधे का **(देसोत्ति)** स्कंध देश है **(च)** और **(अद्धद्धं)** उस आधे के भी आधे का **(पदेसो)** स्कंध प्रदेश होता है। **(चेव)** उसी प्रकार **(परमाणू)** परमाणु **(अविभागी)** विभाग रहित सबसे सूक्ष्म होता है।

अर्थ—पुद्गलकाय के स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश ऐसे तीन प्रकार के स्कन्ध तथा परमाणु ये चार भेद होते हैं। समस्त पुद्गल पिण्डात्मक वस्तु स्कन्ध है, उसके अर्द्ध को देश कहते हैं, अर्द्ध का अर्द्ध वह प्रदेश है और अविभागी को परमाणु कहते हैं।

चार भेद पुद्गल के हैं यह, आगम द्वारा बतलाया।
प्रथम स्कन्ध है और दूसरा, स्कन्धदेश प्रभु ने गाया॥
स्कन्धप्रदेश तीसरा माना, चौथा परमाणु जानो॥
पुद्गल काया के विकल्प यह, जिनवचनों से पहचानो ॥८०॥
अनन्त परमाणु का मिलकर, एक पिण्ड जब हो जाता।
वही स्कन्ध कहलाता उसका, आधा स्कन्धदेश होता॥
उसी स्कन्ध के आधे का भी, आधा स्कन्धप्रदेश कहा।
जिसका भाग नहीं हो दूजा, वह परमाणु नाम रहा ॥८१॥

व्याख्यान—पुद्गलकाय के चार भेद हैं, उसमें स्कन्ध, स्कन्धदेश और स्कन्धप्रदेश में अनन्त भेद हैं किन्तु परमाणु का एक ही भेद है। उदाहरण के लिए अनन्तानन्त परमाणुओं का एक उत्कृष्ट स्कन्ध है। माना कि यहाँ अनन्तानन्त का प्रमाण ६४ है। ६४ में से एक-एक परमाणुओं को घटाते जाएँ

तो ३२ परमाणुओं का जघन्य स्कन्ध है और ६३ से ३३ तक परमाणुओं का मध्यम स्कन्ध है। इसी प्रकार से जघन्य स्कन्ध में से एक-एक परमाणु कम होने से ३१ परमाणुओं का उत्कृष्ट स्कन्धदेश जानो तथा १६ परमाणुओं का जघन्य स्कन्धदेश जानो और ३० से लेकर १७ परमाणुओं तक मध्यम स्कन्धदेश जानना। जघन्य स्कन्धदेश में १ परमाणु कम करने पर १५ परमाणुओं का उत्कृष्ट स्कन्धप्रदेश मानो और २ परमाणुओं का जघन्य स्कन्धप्रदेश मानो, १४ से ३ परमाणु तक मध्यम स्कन्धप्रदेश मान लें और १ परमाणु जो अविभागी है उसमें भेद कल्पना नहीं है। संक्षेप से सकल पुद्गलपिण्ड का नाम स्कन्ध है उसके आधे का नाम स्कन्धदेश है और इससे भी आधे का नाम स्कन्धप्रदेश है। २ परमाणुओं के संघात से लेकर सकल पृथ्वीपर्यन्त संघात से अनन्त भेद होते हैं। इस प्रकार भेद, संघात से पुद्गल के अनन्त भेद होते हैं।

उत्थानिका—स्कन्धों में व्यवहारनय से पुद्गलपने को कहते हैं –

बादरसुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलोत्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं ॥८२॥

अन्वयार्थ—**(बादरसुहुमगदाणं)** बादर और सूक्ष्म परिणमन को प्राप्त **(खंधाणं)** स्कन्धों का [समुदाय] **(पोग्गलोत्ति)** पुद्गल है ऐसा **(ववहारो)** व्यवहार है। **(ते)** वे स्कंध **(छप्पयारा)** छह प्रकार के **(होंति)** होते हैं **(जेहिं)** जिनसे **(तेलोक्कं)** तीन लोक **(णिप्पण्णं)** रचा हुआ है।

अर्थ—बादर और सूक्ष्म परिणमन को प्राप्त स्कन्धों को ये पुद्गल हैं, ऐसा व्यवहार है। वे स्कन्ध छह प्रकार के होते हैं जिनसे यह तीन लोक रचा हुआ है।

बादर-सूक्ष्म रूप से परिणत, स्कंधों को पुद्गल कहते।
पूरण-गलन स्वभावी पुद्गल, छह प्रकार इसके रहते॥
ऊर्ध्व मध्य औ अधोलोक त्रय, पुद्गल से निर्मापित हैं।
अर्हत् भाषित यह वाणी गुरु, कुन्दकुन्द से वर्णित है ॥८२॥

व्याख्यान—जैसे शुद्ध निश्चयनय से सुख सत्ता चैतन्य बोध आदि शुद्ध प्राणों से जो जीता है वह सिद्ध स्वरूपी जीव है। व्यवहारनय से चार अशुद्ध प्राणों से जो जीता है वह भी जीव है जो कि चौदह गुणस्थान व मार्गणा के भेद से अनेक भेद वाला है। वैसे ही जो अभेद परमाणु है वही निश्चय से पुद्गल है किन्तु व्यवहारनय से स्कन्ध रूप को भी पुद्गल कहा है। जो छह प्रकार के होते हैं इन्हीं से तीन लोक रचा हुआ है। अन्य किसी विशेष पुरुष ने न इसे बनाया है और न यह किसी के द्वारा नाश होता है और न ही किसी के द्वारा धारण किया हुआ है।

उत्थानिका—छह प्रकार के स्कन्धों का क्रमशः वर्णन करते हैं–

पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा।
कम्मातीदा येवं छब्भेया पोग्गला होंति॥८३॥

अन्वयार्थ–(पुढवी जलं च छाया) पृथ्वी, जल और छाया **(चउरिंदियविसय)** चक्षु इन्द्रिय के विषय को छोड़कर **(कम्मातीदा)** कर्मों के योग्य **(पोग्गला)** पुद्गल **(कम्मपाओग्गा)** कर्म वर्गणाओं से भी अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध **(छब्भेया येवं)** ये छह भेद **(होंति)** होते हैं।

अर्थ–पृथ्वी, जल, छाया, चक्षु इन्द्रिय के विषय को छोड़कर शेष चार इन्द्रिय के विषय, कर्मों के योग्य पुद्गल और कर्मों से सूक्ष्म स्कन्ध ऐसे छह भेदरूप पुद्गल होते हैं।

पुद्गल के छह भेद कहे ज्यों, पृथ्वी बादर-बादर है।
जलादि बादर स्थूल सूक्ष्म ज्यों, छाया आदिक पुद्गल हैं॥
चक्षु सिवा चउ अक्ष विषय सब, बादर सूक्ष्म कहाते हैं।
कर्म योग्य पुद्गल और कर्मातीत स्कंध भी होते हैं॥८३॥

व्याख्यान–स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म-सूक्ष्म। जो खण्ड किए जाने पर स्वयमेव मिल न सकें, वे **स्थूल-स्थूल** हैं जैसे–पर्वत, पृथ्वी, घट, पट, काष्ठ, पाषाण आदि। जो अलग-अलग किए जाने पर भी उसी क्षण ही स्वयं मिल जाते हैं वे **स्थूल** हैं जैसे–घी, तेल, जल, दूध आदि। जिनको देखते हुए भी हाथ से पकड़कर अन्य स्थान पर नहीं ले जा सकते वे **स्थूल-सूक्ष्म** हैं जैसे–धूप-छाया, आतप-प्रकाश, चन्द्रमा की चाँदनी आदि। जो आँखों से दिखाई नहीं दे वे **सूक्ष्म-स्थूल** हैं जैसे–आँख के सिवाय अन्य चार इन्द्रियों के विषय वायु, रस, गन्ध, शब्द आदि। जो किसी भी इन्द्रिय से न जाने जाएँ ऐसे पुद्गल **सूक्ष्म** हैं। जैसे–ज्ञानावरणादि कर्म के योग्य वर्गणाएँ। **सूक्ष्म-सूक्ष्म** पुद्गल वे हैं जो इन कर्म वर्गणाओं से भी सूक्ष्म दो अणु तक के स्कन्ध हैं।

सूक्ष्म और बादर वस्तुओं में विशेष अन्तर–जो दिखता है वह बादर है लेकिन जितने भी बादर हैं सब आँखों से दिख ही जाएँ ऐसा नहीं। जैसे–धूप बादर-सूक्ष्म है दिखती तो है पर पकड़ में नहीं आती। शब्द सूक्ष्म-स्थूल हैं जो दिखते नहीं किन्तु पकड़ में आ जाते हैं सी.डी. में भर देते हैं। गन्ध आँखों से दिखती नहीं पर घ्राण इन्द्रिय की पकड़ में आ जाती है लेकिन ऐसा नहीं कि डिब्बी में मात्र गन्ध को बन्द करके रख दो। सूक्ष्म पदार्थ इन्द्रियों के द्वारा पकड़ में नहीं आते जैसे–यहाँ पर कई तरंगें हैं किन्तु सुनने में नहीं आतीं। यदि रेडियो पर स्टेशन लगा दें तो तरंग की अभिव्यक्ति सुनने में आ जाती है। किसी ने फोटो ली, लाइट चमक गई, यह बादर है। कभी-कभी आँख बन्द कर लें तो भी उस चमक की तेज रफ्तार अनुभूत हो जाती है। किरण का प्रभाव रहता है। आतप का अलग प्रभाव रहता है और उद्योत का अपना अलग प्रभाव रहता है। जिसकी दिन में कई बार फोटो लेते रहते हैं उसकी आँखों की ज्योति पर प्रभाव पड़ता है रिफ्लेक्शन पड़ता है। एक्स-रे वगैरह लेने वाले अलग कपड़े पहनते हैं फिर यदि पुनः दूसरा एक्स-रे करना है तो कुछ समय बाद करते हैं, लगातार करने

से दुष्प्रभाव देखने को मिलता है। केंसर के रोगी को सेंक देते समय डॉक्टर अलग तरह के कपड़े पहनता है क्योंकि उसकी किरणों का दुष्प्रभाव पड़ता है। मोबाइल को ऊपर जेब में रखने से हार्ट पर असर पड़ता है उसमें चमचम करती हुई अलग-सी किरणें निकलती रहती हैं, यह बादर तत्त्व प्राण के लिए पोषक नहीं है।

कार्मण वर्गणाओं का कर्म रूप परिणमन—कार्मण वर्गणाएँ अनन्त को भी लाँघकर अनन्तानन्त रूप में प्रतिक्षण आत्मा के असंख्य प्रदेशों में आ रही हैं और अनेक भेद-उपभेद के रूप में आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त हो रही हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** अथवा प्राभृत ग्रन्थों की टीकाओं में कहा है कि-कर्म के योग्य पुद्गल योग और कषाय के कारण कर्म रूप परिणत हो जाते हैं। कार्मण वर्गणा के विषय में भी आचार्यों में दो मत हैं। यह वर्गणाएँ अन्य क्षेत्रों से नहीं आतीं। जैसे चुम्बक से लोहे की सुई वगैरह आकृष्ट हो जाती हैं वैसे आत्मप्रदेशों के स्पन्दन से कार्मण वर्गणाएँ खिंच जाती हैं, ऐसा नहीं है। किन्तु जो आत्मप्रदेश पर स्थित हैं वे ही कार्मण वर्गणाएँ कर्म रूप परिणत हो जाती हैं। आस्रव का अर्थ आना नहीं, परिणमन करना है। कहीं से आती-जाती नहीं, वहीं पर ही वर्गणाएँ स्थित रहती हैं। सिर के स्थान पर जो कार्मण वर्गणाएँ हैं वह पैर के अंगूठे तक नहीं आतीं, जो जहाँ हैं वहीं स्थित रहती हैं।

बन्ध काल में आत्मप्रदेशों में जो कार्मण वर्गणाएँ स्थित हैं वह वहीं अवगाढ़ता से गाढ़ता को प्राप्त हो जाती हैं। **श्री धवल ग्रन्थ** की १३वीं पुस्तक में बन्धस्पर्श और क्षेत्रस्पर्श का वर्णन आया है उसके अनुसार जहाँ धर्मद्रव्य है वहीं अधर्मद्रव्य, आकाश, जीव, पुद्गल और कालाणु सभी द्रव्य विद्यमान हैं इसे बन्धस्पर्श नहीं क्षेत्रस्पर्श कहा है। बन्धस्पर्श के लिए **''स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः''** अथवा **''कषायत्वात्''** ऐसा कहा है। जो कि जीव का पुद्गल के साथ ही होता है। एक क्षेत्र में रहने मात्र से ही बन्ध नहीं होता, जहाँ सिद्धपरमेष्ठी के प्रदेश हैं वहीं पर निगोदिया जीव भी हैं यह जीवस्पर्श है। एक साधारण शरीर की जघन्य अवगाहना में अनन्तानन्त निगोदिया जीव रहते हैं वह जीवस्पर्श होकर भी जो जैसा योग का आलम्बन लेता है वैसा ही उसे बन्धस्पर्श होता है। अर्थात् कार्मण वर्गणाएँ कर्मरूप में सभी की समान रूप से परिणत नहीं होतीं। क्षीर-नीर के समान जीव कर्म के साथ रह रहा है पर कर्म से भिन्न शुद्ध-बुद्ध परमात्म तत्त्व ही उपादेय है।

उत्थानिका—अथानन्तर परमाणु के व्याख्यान की मुख्यता से दूसरे स्थल में पाँच गाथाएँ कही जाती हैं। जिसमें सर्वप्रथम परमाणु के स्वरूप का कथन करते हुए उसकी विशेषता का वर्णन करते हैं-

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥८४॥

अन्वयार्थ—(सव्वेसिं खंधाणं) सभी स्कन्धों का **(जो अंतो)** जो अंतिम भेद है **(तं)** उसको **(परमाणु)** परमाणु **(वियाण)** जानो **(सो)** वह **(सस्सदो)** अविनाशी, **(असद्दो)** शब्दरहित,

(एक्को) एक, **(अविभागी)** विभागरहित तथा **(मुत्तिभवो)** मूर्तिक है।

अर्थ—सर्व स्कन्धों का जो अन्तिम भाग है उसे परमाणु जानो। वह अविनाशी है, शब्द रहित है, एक है, विभाग रहित है तथा मूर्तिक है।

सब स्कन्धों के अन्त भाग को, परमाणु की संज्ञा दी।
त्रिकाल अविनाशी परमाणु, एक प्रदेशी अविभागी॥
रूप-रसादिक गुण युत मूर्तिक, शब्दातीत इसे माना।
परमाणु का स्वरूप है यह, परमागम से पहचाना॥८४॥

व्याख्यान—पूर्व में छह प्रकार के स्कन्धों का वर्णन कर आये हैं। उनमें निरन्तर भेद करने से जो अन्तिम भाग शेष बचे, जिसका कि दूसरा विभाग करना सम्भव न हो उसे परमाणु जानना चाहिए। जिस तरह सभी कर्म स्कन्धों का नाश करने पर जीव द्रव्य के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है उसी तरह पुद्गल स्कन्ध का भेद करते-करते पुद्गल द्रव्य के शुद्ध स्वरूप अर्थात् परमाणु की प्राप्ति हो जाती है। जैसे-द्रव्यार्थिकनय से परमात्मा टंकोत्कीर्ण, ज्ञाता-दृष्टा, एक स्वभाव रूप होने से नाश रहित अविनाशी है, शाश्वत है, वैसे ही यह परमाणु भी पुद्गलपने के स्वभाव को कभी न छोड़ने से नित्य है। यद्यपि स्कन्धों के मिलाप से एक पर्याय से पर्यायान्तर को प्राप्त होता है तथापि अपने द्रव्यत्व से सदा टंकोत्कीर्ण नित्य द्रव्य है। जैसे शुद्ध जीवास्तिकाय निश्चयनय से स्वसंवेदन ज्ञान का विषय होने पर भी शब्दों का विषय न होने से अर्थात् शब्दरूप न होने से अशब्द है। वैसे ही यह परमाणु भी यद्यपि पुद्गल स्कन्ध के मिलने से शब्द पर्याय को धारण करता है। अतः शक्ति रूप से शब्द का कारण है तथापि व्यक्ति रूप से शब्द पर्यायरूप नहीं है, इसलिए परमाणु अशब्द रूप है। जैसे शुद्धात्म द्रव्य निश्चयनय से पर की उपाधि से रहित केवल अर्थात् पर की सहायता से रहित एक कहा जाता है वैसे ही पुद्गल द्रव्य भी द्व्यणुक आदि पर की उपाधि रहित होने से केवल सहायरहित एक है अथवा एकप्रदेशी होने से एक है। जैसे-निश्चयनय से परमात्म द्रव्य लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है तथापि अपने अखण्ड एक द्रव्यपने की अपेक्षा भागरहित अविभागी है वैसे ही परमाणु भी निरंश होने से विभागरहित अविभागी है। फिर भी वह परमाणु अमूर्तिक शुद्ध जीव द्रव्य से विलक्षण २ स्पर्श, १ रस, १ गन्ध और १ वर्ण इन गुणों से सहित होने से मूर्तिक है। परमाणु की उत्पत्ति किसी मूर्तिक स्कन्ध से निरन्तर भेद करने से ही होती है अतः इसे मूर्तिभव कहा है।

उत्थानिका—आगे पृथ्वी आदि जाति के परमाणु भिन्न नहीं हैं ऐसा कथन करते हैं-

आदेसमत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥८५॥

अन्वयार्थ—(जो दु) जो **(आदेसमत्तमुत्तो)** आदेश मात्र मूर्तिक **(धादुचदुक्कस्स कारणं)** चार धातुओं का कारण **(परिणामगुणो)** परिणमन गुण वाला **(सयं असद्दो)** स्वयं शब्द रहित है, **(सो**

परमाणु) वह परमाणु **(णेओ)** जानो।

अर्थ—जो आदेशमात्र से मूर्त है, पृथ्वी आदि चार धातुओं का कारण है, परिणमन गुण वाला है तथा जो स्वयं शब्द रहित है उसे परमाणु जानना चाहिए।

जो आदेश मात्र से मूर्तिक, उसको परमाणु जानो।
पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु चउ, धातु का कारण जानो॥
परमाणु परिणमन स्वभावी, स्वयं शब्द से रहित रहा।
किन्तु शब्द का कारण है यह, श्री जिनवर का कथन रहा॥८५॥

व्याख्यान—परमाणु पुद्गल द्रव्य है तथा उसमें पाये जाने वाले स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चार गुण हैं। इन चारों ही गुणों से परमाणु मूर्तिक कहलाता है। उनका भेद संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से ही है, प्रदेशों की अपेक्षा उनका भेद नहीं किया जा सकता है, अर्थात् वर्णादि गुण परमाणु में सर्वांग व्यापक हैं। वस्तुस्वरूप यह है कि परमाणु निर्विभाग है क्योंकि उसका जो प्रदेश आदि में है, वही मध्य में और अन्त में है। अतः जो आदि, मध्य, अन्त प्रदेश परमाणु द्रव्य का है वही उसके भीतर व्याप्त उसके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि गुणों का जानना चाहिए क्योंकि द्रव्य-गुण में प्रदेश भेद नहीं होता। परमाणु दृष्टि से नहीं देखा जा सकता है तो भी रूपादि गुणों के कारण से मूर्तिक है।

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुकायिक जीवों की देहोत्पत्ति का कारण परमाणु— निश्चयनय से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुकायिक जीव शुद्ध, बुद्ध एक स्वभावधारी हैं, परन्तु व्यवहारनय से अनादि कर्मोदय वशात् उन जीवों ने पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु नाम के शरीर ग्रहण किए हुए हैं। उन जीवों के सभी शरीर तथा उन जीवों द्वारा जिन पृथ्वी, जल, अग्नि व वायु के पुद्गल स्कन्धों को अपना शरीर नहीं बनाया है या बनाकर छोड़ दिया है ऐसे पृथ्वी आदि सभी पुद्गल स्कन्धों के उपादान कारण परमाणु हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों ही पुद्गल जातियाँ एक ही तरह के परमाणुओं से उत्पन्न हुई हैं। इनके परमाणुओं की जातियाँ पृथक्-पृथक् नहीं हैं, इनमें पर्याय के भेद से भेद होता है। यह परमाणु जड़ होने से औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक इन चारों भावों से रहित केवल अपने पारिणामिक भावों को रखने वाला होने से परिणमनशील है। एक ही परमाणु कालान्तर में बदलते-बदलते पृथ्वी या जल या अग्नि या वायुरूप हो जाता है। स्पर्शादि चार गुण परमाणु में सदा काल पाये जाते हैं। पृथ्वी आदि में गौणता और मुख्यता के भेद से गुणों का न्यूनाधिक कथन भी किया जाता है। पृथ्वी जाति के परमाणुओं में चारों ही गुणों की मुख्यता है। जल में गन्ध गुण की गौणता एवं अन्य तीन गुणों की मुख्यता है। अग्नि में गन्ध और रस गुण की गौणता है स्पर्श और वर्ण गुण की मुख्यता है। वायु में तीनों गुणों की गौणता है मात्र स्पर्शगुण की मुख्यता है। पर्यायों के कारण परमाणु में अनेक प्रकार के गुण होते हैं। कहीं पर किसी एक गुण की प्रगटता-अप्रगटता के कारण अनेक प्रकार की परिणति को धारण करते हैं।

शंका—जिस प्रकार परमाणुओं के परिणमन से गन्धादिक गुण उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार शब्द भी प्रकट होता है क्या?

समाधान—परमाणु एक प्रदेशी होता है इसलिए शब्द रूप उत्पन्न नहीं होता। शब्द अनेक परमाणुओं के स्कन्धों से उत्पन्न होता है। इस कारण परमाणु शब्दमय नहीं है। ऐसा परमाणु का स्वरूप जानना चाहिए।

उत्थानिका—अब पुद्गल द्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान करते हैं जिसमें सर्वप्रथम पुद्गल के भेद कहे जाते हैं–

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो॥८६॥

अन्वयार्थ—**(सद्दो)** शब्द **(खंधप्पभवो)** स्कंध से उत्पन्न, **(खंधो)** स्कंध **(परमाणुसंगसंघादो)** परमाणुओं के समूह के मेल से बनता है। **(तेसु पुट्ठेसु)** उन [स्कंधों] के परस्पर स्पर्श होने पर **(णियदो)** निश्चय से **(उप्पादगो)** [भाषा वर्गणाओं से होने वाला] उत्पादक **(सद्दो)** शब्द **(जायदि)** उत्पन्न होता है।

अर्थ—शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है। वह स्कन्ध अनन्त परमाणुओं के समूह से बनता है। उन स्कन्धों के परस्पर स्पर्श अर्थात् टकराने से निश्चय से भाषावर्गणाओं से होने वाला शब्द उत्पन्न होता है।

अनन्त परमाणु समूह से, स्कन्ध नाम पा जाता है।
शब्द हुआ उत्पन्न स्कन्ध से, ऐसा आगम कहता है॥
इन स्कन्धों का स्पर्श परस्पर में जब भी पाया जाता।
वचन वर्गणा से होता जो, शब्द रूप वह कहलाता॥८६॥

व्याख्यान—शब्द परमाणु रूप नहीं है और परमाणु से उत्पन्न भी नहीं हुआ है। दो परमाणु परस्पर में टकराकर ध्वनि या शब्द उत्पन्न करते हों, ऐसा भी नहीं है। शब्द स्कन्धों से ही उत्पन्न होता है। वह स्कन्ध अनेक परमाणुओं का पिण्ड है उसमें भी विशेष स्कन्धों से ही शब्द का उत्पादन होता है। द्वयणुक को भी स्कन्ध माना है। परमाणु के मिलन से संघात होता है संघात नामकर्म और शरीर नामकर्म के उदय में अन्तर है। बन्धन और संघात नामकर्म में भी अन्तर है। शरीर नामकर्म के उदय से जो वर्गणाएँ ग्रहण कीं वह बन्ध को प्राप्त हो गईं यह बन्धन नामकर्म है किन्तु निश्छिद्र अर्थात् सघनता संघात नामकर्म से आती है। जैसे–लेन्टर (छत) डालते समय यदि कोई छेद रह जाए तो कितनी भी कोशिश करो, छेद से पानी टपकता रहेगा क्योंकि संघात ठीक नहीं है। बन्धन तो हो गया पर संघात नहीं हो पाया इसलिए कूट-कूट करके लेन्टर को निश्छिद्र बनाते हैं। जैसे–ठूँस-ठूँसकर भोजन करना बोलते हैं। परमाणुओं का आपस में बन्ध होने से स्कन्ध बन जाता है, इन्हीं स्कन्धों के

स्पर्श से या संघर्ष से शब्द उत्पन्न होता है। एक हाथ से ताली नहीं बजती, एक हाथ दूसरे हाथ से मिल जाए वह ताली है। यदि किसी का एक ही हाथ है तो बेंच या गाल पर स्पर्श करेगा तो भी आवाज (शब्द) आ जायेगी। शब्द सामान्य रूप से ध्वनि का नाम है। कुछ जीव निरक्षर भी होते हैं, साक्षर भी होते हैं।

शब्द की उत्पत्ति का रहस्योद्घाटन—शब्द आकाश में भले ही रहता है पर वह आकाश का गुण नहीं है क्योंकि आकाश के पास रूप-रसादि नहीं है जबकि शब्द के पास रूपादि चारों गुण हैं। आकाश अस्तिकाय होकर भी स्कन्धात्मक नहीं है। परमाणु-परमाणु मिलकर आकाश का निर्माण हो गया हो ऐसा नहीं है। आकाश में स्कन्ध रहते अवश्य हैं और इन स्कन्धों के स्पृष्ट होने से ही शब्द की उत्पत्ति होती है। एक बार यदि शब्द उत्पन्न होता है तो वह शब्द अन्य शब्दों को भी उत्पन्न कर देता है। जैसे-यहाँ एक हजार व्यक्ति बैठे हैं तो दो हजार कान हो गये, एकसाथ सब सुन रहे हैं तो सबके पास कितने शब्द आ गये? दोनों कानों में अलग-अलग तरंग जा रही है। यदि प्रत्येक व्यक्ति कम से कम दो शब्द सुन रहा है भले ही शब्द वही हैं! तो भी एक हजार व्यक्ति के दो हजार शब्द हो गये। इसमें भी मानलो 'कनक' शब्द बोला तो सबके कानों में एकसाथ 'कनक' शब्द नहीं गया। पहले 'क' अक्षर फिर 'न' और फिर 'क' गया, इस प्रकार कनक शब्द सुनने के लिए तीन बार श्रवण किया, तब कहीं 'कनक' शब्द को पूरा सुन पाए। इसमें भी व्यञ्जन अलग हैं और स्वर अलग हैं। इसमें तीन व्यञ्जन हैं और तीन स्वर कुल छह हैं। एक कान में छह, दूसरे कान में छह तो एक हजार व्यक्ति के कुल बारह हजार हो गये। इससे स्पष्ट हो गया कि एक शब्द में दूसरे शब्द उत्पन्न करने की क्षमता होती है। प्रत्येक शब्द अनेकों शब्दों को उत्पन्न कराता ही है ऐसा भी नहीं, उसमें जीव के भावानुसार जैसा अनुभाग पड़ा है, वैसा होता है। अभी जो मुख से शब्द निकल रहे हैं, वह सुन रहे हो क्या? हाँ गुरुदेव! (सभी शिष्य बोले) यह शब्द सीधे आपके कान में नहीं आते। पहले वह जीवादि से टकराते हैं फिर अन्य शब्द उत्पन्न कर कहीं और टकराते-टकराते सुनने में आते हैं अर्थात् उसमें बीच में कई विग्रह पड़ते हैं। यह नियम है कि शब्द उत्पन्न होकर कहीं न कहीं टकराते हैं और शब्द से शब्द उत्पन्न होते चले जाते हैं।

दृष्टान्त—एक कोरा कागज है, उसके नीचे कार्बन रखा, पुनः एक सफेद कागज और नया कार्बन रखा। इस प्रकार लगभग बीस कागज रख दिये। उसमें एक पर **'णमो अरहंताणं'** लिखा और नीचे कार्बन खिसकाकर सभी सफेद कागज पर देखा, वही शब्द सभी कागज पर आ गये। शब्द बोलने का भाव करते ही तरंग के अनुसार भाषा वर्गणाएँ वैसे ही शब्द का निर्माण करती हैं। यदि 'कनक' बोलना है तो कनक ही आयेगा 'सनक' नहीं आयेगा। तरंग क्रम से लोक के अन्तिम छोर तक चली जाती है। जिस समय हमने वचन बोला उसके दूसरे समय में ही ब्रह्माण्ड तक जाने की क्षमता है। टकराते-टकराते वही शब्द ध्वनि प्रतिध्वनि रूप हो जाता है। ध्वनि को साउण्ड (आवाज) तथा

प्रतिध्वनि को इको साउण्ड कहते हैं। जैसे–गुफा वगैरह में ध्वनि करने से प्रतिध्वनि आने लगती है अर्थात् जो बोलेंगे वही लौटकर सुनायी देगा। दूसरों को जो सम्बोधन करेंगे वही स्वयं को सुनना पड़ेगा। इस तरह एक शब्द से अनेकों शब्द उत्पन्न हो जाते हैं। कार्बन की क्षमता का उदाहरण ध्यान रखना।

शब्दों में सम्यक्त्व की शक्ति—यदि भावात्मक शब्दों के साथ अध्यात्म की बात कह दें और किसी की प्रेरणा मिल जाए तो बात कई दिनों तक गूँजती रहती है। वर्षों के उपरान्त भी वह सुनता रहता है, अन्तर्मन भीग जाता है। वह आकर कहता है महाराज! आपने जो कहा; उसकी तस्वीर–सी खिच गई है, शब्द आज भी कानों में गूँज रहे हैं। मानलो बचपन में माँ चल बसी, या चल करके कहीं और बस गई, फिर भी बेटा माँ को नहीं भूलता, उसकी एक–एक बात याद करता है। कहीं ऐसा भी उल्लेख आता है कि देशना सुनी और सप्तम पृथ्वी में चला गया, वहाँ कोई धर्मश्रवण कराने वाला नहीं है तो पूर्व में जो सुना था उसी धर्मश्रवण के संस्कार के कारण आज देशनालब्धि होकर सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। वचनों में ऐसी शक्ति है कि वह कालान्तर में भी काम करती है।

शब्दों को सोच समझकर बोलो—यह लोक, भाषा वर्गणाओं से ठसाठस भरा हुआ है। एक बार 'आ–आ' शब्द बोला तो वह हमें पता नहीं चलता कि कितनी दूर तक जाता है। जैसे ईर्यापथ से चलते हुए भी अचानक कोई पत्थर में ठोकर लगने से वह पत्थर लुढ़कता हुआ चींटियों के ऊपर भी गिर सकता है, किसी भी जीव पर गिर सकता है, छत से गिरकर किसी सामायिक करने वाले को भी चोट पहुँचा सकता है। ऐसे ही तीनलोक में शब्द कहीं भी जा सकता है और किसी को भी चोट पहुँचा सकता है। इसलिए जोर से नहीं बोलो, बोलो ही नहीं तो अच्छा है, बोलना ही पड़े तो सत्य बोलो। जैसे कई शब्द अपने कानों में चुभते हैं तो अन्य के कानों में भी चुभेंगे। शब्द पौद्‌गलिक हैं, किसी को स्पर्श करेंगे तो उसे भी पीड़ा होगी। एक के पीछे एक १० व्यक्ति खड़े हैं। एक गोली सबको पार करती हुई चली जाती है, एक ही गोली से कितनों की जान चली जाती है। जब एक–एक कदम ईर्यापथ से देखकर रखते हो, तो बोलते वक्त सोचकर क्यों नहीं बोलते? कभी अन्तराय हो जाए या उपवास हो और कोई जोर से चिल्लाये या माइक से तेज आवाज आए तो वह प्रदूषित ध्वनि दिमाग पर असर करती है। उपवास वालों के पास या सल्लेखना के समय जोर–जोर से णमोकार की रट लगाते हैं। जैसे अभी ही स्वर्ग पहुँचा रहे हों अर्थात् तब तक मन्त्र बोलेंगे, जब तक वह स्वर्ग नहीं चला जाए। ऐसे समय पर मृदु भाषा में बोलना चाहिए, उससे पूछ लें हम बोलें या नहीं। कभी–कभी वह बोल ही नहीं पाता, भीतर में पीड़ा का संकेत भी नहीं दे पाता। कभी–कभी शब्द गोली से भी बढ़कर काम करता है। गोली चूक सकती है शब्द नहीं। एक बार घुस जाए तो अपना काम करके ही निकलता है।

भाषा वर्गणाओं का शब्दरूप परिणमन—जैसे निष्कुट स्थान तक जाने के लिए २–३ मोड़ लेने पड़ते हैं वैसे ही शब्द सीधा ऋजुगति से नहीं आ सकता। १३वीं पुस्तक में इसका प्रकरण आता

है कि भाषा वर्गणाएँ किस प्रकार शब्द रूप परिवर्तित हो जाती हैं। जैसे–पहले अग्नि के द्वारा धातु को बिल्कुल पानी के समान पिघलाया जाता था अब अग्नि की कोई आवश्यकता नहीं, तपती हुई ईंटें उस धातु में डालने से धातु पिघल जाती है। अलग से अग्नि लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक बार शब्द उत्पन्न हो गया तो वह क्षमतानुसार अन्य शब्दों को उत्पन्न करता चला जाता है इसलिए बोलना भी वचनबल का प्रयोग है। यदि कोई नहीं मानता है तो बल का प्रयोग करने से अपने आप ठीक हो जाता है। कोई नहीं मानता हो तो उसे ऐसे शब्द सुना देते हैं कि उसे अपने आप ही सोचना पड़ता है। वचनबल के समान मनबल भी होता है। मन द्वारा सोचने से भी तरंग चली जाती है। कायबल में हाथ आदि का प्रयोग होता है।

श्रवण इन्द्रिय का आलम्बन लेकर भावेन्द्रिय द्वारा शब्द समझने योग्य होता है। अनन्त परमाणुओं के समूह से स्कन्ध उत्पन्न होता है। जब ये आपस में स्पृष्ट या संघटित होते हैं तो शब्द उत्पन्न होता है। कुछ स्कन्ध भाषावर्गणा के योग्य होते हैं। जैसे–उदाहरण में कार्बन दिखता नहीं है, वह सूक्ष्म के समान हो गया। सामने एक सफेद कागज स्थूल रूप दिखता है लेकिन अन्दर में सूक्ष्मता से देखें तो कार्बन है। कार्बन को भी उल्टा रखेंगे तो सब गड़बड़ हो जायेगा। कार्बन की स्याही फैल सकती है। पहले स्याही से लेखनी द्वारा लिखते थे फिर भी पृष्ठ फटते नहीं थे, अब तो ऐसे पृष्ठ आने लगे कि एक तरफ लिखो तो पेज फट जाते हैं या दूसरी तरफ स्याही फैल जाती है। जैसे–बच्चों को टीका लगाने पर फैल जाता है। उस समय कार्बन की व्यवस्था एक ही तरफ थी उसी ढंग से लिखते थे। ऊपर के कार्बन में जो शब्द उभर कर आते हैं वह नीचे के कार्बन से नहीं आते, उसी प्रकार शब्द भी आगे–आगे जाकर धीरे–धीरे मन्द होते जाते हैं लेकिन प्रत्येक में ऐसा नहीं होता क्योंकि दिव्यध्वनि के प्रभाव से जो प्रथम कार्बन पृष्ठ पर निकलता है वैसा ही अन्तिम पृष्ठ पर भी छपता है। समवसरण में असंख्य देव, देवी, तिर्यञ्च और संख्यात मनुष्य बैठे रहते हैं लेकिन सबको समान रूप से दिव्यध्वनि सुनाई पड़ती है। सभी को यही लगता है कि भगवान् हमारी तरफ ही देख रहे हैं एवं हमारे लिए ही सुनाया जा रहा है, पुण्य के कारण ऐसा हो जाता है। जैन सिद्धान्त के अनुसार परमाणु के बाद तीव्र गति करने वाला शब्द है क्योंकि शब्दों में टकराहट से गति तीव्र हो जाती है। प्रकाश की गति नहीं मानी है क्योंकि उसमें रिफ्लेक्शन है। रिफ्लेक्शन और गति में बहुत अन्तर है जैसे क्रिया और परिणाम में अन्तर है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना क्रिया है किन्तु स्थानान्तर नहीं जाने रूप आत्मा के भावों का नाम परिणाम है। शब्दों में एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने की क्रिया है जबकि प्रकाश में नहीं है। यह कार्बन जैसी व्यवस्था सर्वत्र निरन्तर है। एकसाथ असंख्यात देव–देवी और अनेक मनुष्य बोल रहे हैं, तिर्यञ्च भी अपने ढंग से बोल रहे हैं, नारकी भी आवाज कर रहे हैं, गूंगा भी आवाज करता है, इस तरह सदैव ध्वनियाँ तरंगायित होती रहती हैं। दो इन्द्रिय से सभी वक्ता हैं। बाहर में मुख है और तालु, ओष्ठ आदि भीतरी हैं। यह भिन्न–भिन्न जीवों के भिन्न–भिन्न स्थान पर तालु

ओष्ठ आदि कहीं पर भी रहते हैं। जैसे मेघ गर्जना यहाँ होती है और वर्षा वहाँ हो रही है।

जहाँ भाषा वर्गणा रहती है वहीं पर शब्द रूप परिणमन हो जाते हैं। नीचे कार्बन की व्यवस्था नहीं है तो कुछ भी अक्षर नहीं आयेंगे और यदि धीरे से लिखेंगे तो भी नीचे कार्बन में नहीं आयेगा। इसीलिए प्रत्येक बात में अनुभाग शक्ति अर्थात् शक्त्यंश जोड़ना अनिवार्य है। अन्यथा धीरे से लिखने पर कार्बन होते हुए भी कुछ नहीं होगा। यदि ३०-४० फीट नीचे गहराई में जाकर बोलें तो ऊपर कानों से कुछ सुनाई नहीं देगा। यन्त्र से सुनने की बात नहीं कर रहे हैं, क्योंकि शब्द पौद्‌गलिक हैं, घात को प्राप्त होते हैं, गतिमान नहीं हो पाते। जैसे-रेडियो में शब्द तरंगें हैं किन्तु वह स्टेशन नहीं है तो तरंग होते हुए भी अभिव्यक्त नहीं हो पायेगी। अलग-अलग कम्पनी के रेडियो होते हैं किसी में कुछ स्टेशन होते हैं, किसी में कुछ। एक स्टेशन के पास ही दूसरा स्टेशन लगा रहता है, बाल मात्र का अन्तर रहता है। एकदम सीलोन से विविधभारती आ जाता है। हजारों किलोमीटर का अन्तराल होने पर भी रेडियो में पास-पास स्टेशन रहता है। फोन का सिस्टम अलग रहता है, मोबाइल, वायरलेस सबकी पद्धति अलग-अलग है। भाषा वर्गणा ही शब्द रूप होगी, अन्य नहीं। जैसे कागज पर कार्बन रखने से ही छपेगा, आकाश प्रदेश के ऊपर कार्बन रखने से नहीं। शब्द आकाश का गुण नहीं है। यदि होता तो वह कर्णेन्द्रिय का विषय नहीं बन सकता क्योंकि अमूर्त आकाश का गुण भी अमूर्त होगा।

शब्द के प्रकार—शब्द दो प्रकार के हैं भाषा और अभाषा। भाषा रूप शब्द के दो भेद हैं-प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिक, पुरुष विशेष के प्रयोग से उत्पन्न होते हैं, अपने आप नहीं। मेघों से जो शब्द उत्पन्न होते हैं, वह वैस्रसिक हैं। इसमें पुरुष विशेष का कोई हाथ नहीं है, प्रकृतिकृत हैं। हवा की टकराहट से जो आवाज आती है, वह भी संगीत जैसी बजती है। कहीं टीन आदि में सुराख हो तो बिल्कुल तार जैसी बजती है।

भाषा दो प्रकार की हैं-अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। संस्कृत, प्राकृत, आर्य, म्लेच्छ भाषादिरूप जो शब्द है वे सब अक्षरात्मक हैं। प्राकृत भाषा १८ महाभाषा में नहीं आती है, लघुभाषा में आती है। समयसार में कहा है कि-म्लेच्छों को म्लेच्छ भाषा में ही समझाया जाता है यह व्यवहार माना जाता है। दो इन्द्रिय से लेकर असैनी तक अनक्षरी भाषा है, दिव्यध्वनि भी अनक्षरात्मक होती है लेकिन इसमें एकमत नहीं है। प्रायोगिक के चार भेद हैं-**तत**-ढोल, नगाड़े के शब्द। **वितत**-तार, वीणा आदि के शब्द। **घन**-झालर, घण्टा आदि से उत्पन्न शब्द। **सुषिर**-बांसुरी, शंख इत्यादि के शब्द। हारमोनियम में भी छेद रहते हैं, नीचे से आने वाली हवा के कारण भिन्न-भिन्न आवाज निकलती रहती है। यह शब्द रूप पुद्‌गल हेय तत्त्व हैं फिर भी सुन रहे हैं क्योंकि इन शब्दों के माध्यम से शुद्धात्मतत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है लेकिन उपयोग स्थिर हो, तभी समझ में आयेगा। सभी को सुनने में आ रहा है लेकिन किसी को सुनना अच्छा नहीं लग रहा हो, ऐसा भी हो सकता है क्योंकि उसका उपयोग हो सकता है किसी और स्टेशन पर लगा हो। रेलवे स्टेशन पर अक्सर बहुत भीड़ रहती है,

चारों ओर से आवाजें आती रहती हैं फिर भी फोन से बात कर लेता है। जिस नम्बर पर फोन लगाया है उसी की आवाज कान में आ रही है, अन्य की आवाज नहीं आती। उसी प्रकार जिनवाणी सुनते समय भी कई लोगों का स्टेशन अलग ही रहता है उसके अनुसार वह समझ लेता है, किसी को जबर्दस्ती तो नहीं सुना सकते। मतलब की बात तो समझ लेंगे बाकी उड़ा देंगे। इसलिए देशनालब्धि अलग और करणलब्धि अलग है। सारभूत तत्त्व को छोड़कर चालनी निस्सार चापर वगैरह को रख लेती है किन्तु सूप निस्सार को फटकार कर सार को रख लेता है।

सार-सार का ग्रहण हो, असार को फटकार।
नहीं चालनी तुम बनो, करो सूप सत्कार ॥ (पूर्णोदयशतक ४६)

चालनी और सूप, दोनों स्वभाव के लोग रहते हैं। इस प्रकार शब्द पुद्गल की एक पर्याय है यह स्पष्ट हुआ।

उत्थानिका—परमाणु एकप्रदेशी है यह कहते हैं–

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता।
खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाणं ॥८७॥

अन्वयार्थ—[यह परमाणु] **(पदेसदो)** प्रदेश से **(णिच्चो)** नित्य है [क्योंकि एक प्रदेशपना इसका कभी मिटता नहीं है] **(ण अणवकासो)** अनवकाश नहीं, [किसी को अवकाश न दे ऐसा नहीं है] **(ण सावकासो)** सावकाश नहीं [अवकाश नहीं भी देने वाला है क्योंकि एक प्रदेशमात्र है] **(खंधाणं पि य कत्ता भेत्ता)** स्कंधों का कर्त्ता तथा उनका भेदने वाला है व **(कालखंधाणं)** चूँकि मंदगति के द्वारा आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर पहुँच कर समय का विभाग करता है इसलिए काल का तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप चतुर्विध संख्याओं का समय/संख्या **(पविहत्ता)** विभाग करने वाला है।

अर्थ—परमाणु नित्य है क्योंकि एक प्रदेशपना इसका कभी मिटता नहीं है। किसी को अवकाश न दें ऐसा नहीं है फिर भी अवकाश नहीं देने वाला है क्योंकि एक प्रदेश मात्र है। स्कन्धों का कर्त्ता तथा उनको भेदने वाला है व काल की समय आदि संख्या का विभाग करने वाला है।

वह परमाणु नित्य कथञ्चित्, इक प्रदेशपन ना मिटता।
इसीलिए वह सावकाश औ अनवकाश भी ना रहता॥
स्कंधों का कर्त्ता और भेदक, काल विभाजन कर्त्ता है।
यहाँ अणु के गुणधर्मों का, ग्रंथ सु-वर्णन करता है ॥८७॥

व्याख्यान—परमाणु नित्य है, परमाणु के प्रदेश से स्पर्शादि गुण भिन्न नहीं हैं उन्हें अवकाश देने के लिए समर्थ है अतः इस अपेक्षा से सावकाश है और अन्य अपेक्षा से सावकाश नहीं भी है क्योंकि

एक प्रदेश में अविभागी रूप एक ही है दो आदि प्रदेशों की जगह उसमें नहीं है इसलिए अवकाश देने में असमर्थ भी है। अपने एक ही प्रदेश से स्कन्धों का भेद करने वाला है। परमाणु के माध्यम से अर्थात् इंच आदि के माध्यम से आकाश के प्रदेश नापे जा सकते हैं। स्कन्धों का कर्त्ता स्वयं परमाणु है। एक परमाणु से दूसरा परमाणु मिलने पर स्कन्ध बनता है। इसी प्रकार काल के बारे में भी किसी ने पूछा– कितना समय हो गया? तो कहा १ घण्टे में ५ मिनट कम हैं। इस तरह वह परमाणु काल को नापने के लिए भी कारण है। क्योंकि मन्दगति से आकाश के एक प्रदेश को लाँघने में जो काल लगता है वह समय है। मन्दगति से कहा गया है क्योंकि तीव्रगति से वह १४ राजू भी पूर्ण कर सकता है यह गाथार्थ है।

न अनवकाश में डबल नेगेटिव है अर्थात् वन पोजेटिव है। तात्पर्य यह है कि अनन्तानन्त परमाणुओं का पिण्ड भी एक परमाणु में अवकाश प्राप्त कर सकता है, ऐसी क्षमता परमाणु के पास रहती है और परमाणु शुद्ध भी रह सकता है। अनन्तानन्त परमाणुओं का एक पिण्ड और ऐसे अनन्तानन्त पिण्ड भी एक प्रदेश पर रह सकते हैं। एक शुद्ध परमाणु जहाँ है वहाँ अनन्त परमाणु रह सकते हैं जो कि स्कन्ध रूप नहीं हैं, ऐसा सूक्ष्म रूप परिणमन करने की क्षमता परमाणु में विद्यमान है। एक प्रदेश की अपेक्षा परमाणु कभी नष्ट नहीं हो सकता। एक दूसरे में प्रविष्ट होते हुए भी परमाणु अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

परमाणु स्कन्धों का भेत्ता व कर्त्ता–परमाणु स्कन्धों का भेत्ता भी है और कर्त्ता भी है। जैसे– जीव जब वीतरागी हो जाता है तब अपने प्रदेशों में रागादि के लिए स्थान न देकर कर्मस्कन्धों का भेत्ता हो जाता है और यदि राग करता है तो उसका कर्त्ता हो जाता है। यदि किसी परमाणु के स्निग्ध और रुक्षत्व में विषमता या जघन्य परिणमन हो जाए तो अनन्त पुद्‍गल पिण्ड में से भी वह परमाणु अलग हो जायेगा। जैसे–राजगिर के लड्डू में जिस राजगिर के दानों की चिकनाहट कम हो जाती है, वह निकल जाता है, चिपका नहीं रहता। "**स्निग्धरुक्षत्वाद् बन्धः**" इस सूत्र से परमाणु स्कन्ध का कर्त्ता हो जाता है। जैसे रागादि भावों से जीव द्रव्यकर्मों का कर्त्ता हो जाता है।

कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु के भेद से परमाणु दो प्रकार का माना गया है। स्कन्ध रूप कार्य, परमाणुओं में स्वयमेव होता है। संसारी जीव मैं करूँ, मैं करूँ यह कहता रहता है लेकिन इच्छानुसार न कर सकता है, न मर सकता है क्योंकि जब तक आयुकर्म का अभाव नहीं होता तब तक मर नहीं सकता और जब तक नूतन आयु का उदय नहीं होगा तब तक जन्म भी नहीं ले सकता। कुछ कर नहीं सकता फिर भी भाव करता चला जाता है। कर्मोदय में ऐसा खेल चल रहा है "**जीव रु पुद्‍गल नाचे यामे कर्म उपाधि है**" इस पंक्ति का अर्थ समझाने वाले तो बहुत मिल जाते हैं किन्तु अन्तर्दृष्टि से विरले समझ पाते हैं। जीव और पुद्‍गल नाच रहे हैं ऐसा बोलते हैं पर वास्तव में पुद्‍गल नहीं नाचता, जीव नचाता है। जीव अभिनेता भी हो जाता है और निर्देशक भी। वैराग्य परक इन

पंक्तियों का अर्थ जब समझ में आता है तो विचार आता है कि क्या मैं ज्ञानी का काम कर रहा हूँ? दूसरों को अच्छे से समझाता है लेकिन स्वयं बहिर्वृत्ति में ही जीता है।

परमाणु के विषय में अद्भुत रहस्य का उद्घाटन—अणु की उत्पत्ति स्कन्ध में भेद होने पर होती है इसलिए **कार्य परमाणु** कहलाता है और जब स्कन्ध का कर्त्ता बनता है तो **कारण परमाणु** कहलाता है। जो कारण है वह शक्ति रूप हमेशा रहता है, कभी भी निमित्त पाकर परिणमन को प्राप्त हो सकता है। राजगिर के पास लड्डू रूप होने की क्षमता है लेकिन गुड़ या शक्कर के मिलने पर ही होगा। ज्ञानावरणादि कर्म आकर भी केवलज्ञान की क्षमता को मिटा नहीं सकते। अभव्य में भी योग्यता तो है पर व्यक्त नहीं होगी। इसी प्रकार कारण परमाणु बहुत सारे हैं और उसी एक परमाणु में अनन्तानन्त पुद्गल के अनन्त स्कन्ध भी रह रहे हैं और उसमें एक-एक बिखरे हुए, बिना बन्ध के अनन्त परमाणु भी हैं। जब तक बन्धन के योग्य परिणाम नहीं मिलेंगे तब तक उन्हें जबर्दस्ती कोई बाँध नहीं सकता। परमाणु सदा स्कन्ध के रूप में रहते हैं ऐसा नहीं, बिखरे-बिखरे अनन्तानन्त परमाणु असंख्यातप्रदेशी आकाश में हैं। इस अद्भुत रहस्य को समझने से ऐसा लगता है कि सब छोड़कर शान्ति से बैठ जाओ। ''करिष्यामि-करिष्यामि'' कहता रहता है ''मरिष्यामि-मरिष्यामि'' नहीं कहता। **''भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गला:''** जीव पुद्गल कर्म को भोगता हुआ अनन्तकाल से पञ्चपरावर्तन रूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है। कई जीव तो नित्य निगोद में ही बैठे हैं आजतक निकले ही नहीं। प्रत्येक छह माह आठ समय में वहाँ से ६०८ जीव निकल रहे हैं पर अभी तक एक निगोदिया जीव का शरीर भी रिक्त नहीं हुआ। वहाँ का कोष बहुत विशाल है, वहाँ दरिद्रता नहीं है, गरीबी नहीं है, सब साहूकार हैं, जीव अनन्त बने ही रहते हैं।

एक प्रदेशी परमाणु बहुत सारे प्रदेशों से घिरे हुए जो स्कन्ध हैं उनसे भिन्न है और स्कन्ध भी परमाणु से भिन्न है। परमाणु काल की संख्या का भेद करने वाला भी है। परमाणु जब मन्दगति से आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जाता है वह व्यवहार काल एक समय रूप है, इसीलिए परमाणु को प्रविभक्ता अर्थात् भेदक कहा है। प्रत्येक समय नूतन-नूतन केवलज्ञान कहने में कोई बाधा नहीं। ज्ञान से भी प्रत्येक समय भेद किए जा सकते हैं। **द्रव्यसंग्रह** में सिद्धपरमेष्ठी में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों घटित किए हैं। संसार पर्याय का व्यय, सिद्धत्व का उत्पाद और जीवत्व की अपेक्षा ध्रौव्य घटित किया। अगुरुलघुगुण के द्वारा भी प्रतिसमय अर्थपर्याय की अपेक्षा नवीन पर्याय का उत्पाद और पूर्व पर्याय का व्यय हो रहा है। कई तरह से उत्पादादि घटित हो सकते हैं। आत्मा के एक प्रदेश में भी केवलज्ञान है और सब प्रदेश में भी केवलज्ञान है। इस प्रकार असंख्यात प्रदेशों की अपेक्षा भेदक भी सिद्ध हो जाता है।

राजवार्तिक के अनुसार स्पर्श, रस आदि के भेद २० भी हो सकते हैं, असंख्यात भी, अनन्त भी हो सकते हैं। अंश और अंशी की जब कल्पना करते हैं तो यह सब बुद्धि द्वारा भेद घटित हो सकते

हैं इसीलिए शंकाकार ने कहा था कि– एक समय में असंख्यात प्रदेश को लाँघ करके परमाणु चला जाता है। यद्यपि असंख्य प्रदेश को लाँघा है पर एक प्रदेश के बाद दूसरा प्रदेश अवश्य आया है कितनी ही तीव्र गति हो पर क्रम से ही लाँघेगा। एक समय के असंख्यात प्रदेश रूप भेद बुद्धि में तो आ गए। **राजवार्तिक** में उदाहरण दिया कि पान के ५० पत्ते हैं और सुई से छेद किए तो चाहे कितनी ही तीव्र गति से छिदे हों किन्तु क्रम से ही छिदे हैं। मानलो एक समय में ही ५० पत्ते छिद गए तो इसमें समय भेद कैसे करेंगे? यह प्रश्न छद्मस्थ कर सकता है। तो आचार्य कहते हैं कि यहाँ भी पत्ते अर्थात् असंख्यात प्रदेश की अपेक्षा भेद कर सकते हैं इसी को वेग कहते हैं। 'विज्' धातु से वेग बना है, 'इ' का गुण होकर 'वे' बना और 'अज्' प्रत्यय लगा यदि 'सम्' उपसर्ग लगा दें तो संवेग, 'आ' से आवेग, 'उत्' लगाने से उद्वेग, 'निर्' से निर्वेग इस प्रकार अनेकों शब्द बन जाते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि–काल निरपेक्ष भी काम हो सकता है। **आइन्स्टीन का सिद्धान्त** है कि जब गति बढ़ जाती है तो काल निरपेक्ष हो जाता है लेकिन काल निरपेक्ष कोई कार्य नहीं होता है। काल तो उस परिवर्तन में एक सामान्य कारण है। जब उसका वेग बढ़ जाता है तब पूर्व में जितना काल लगता था उतने काल की आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु "**वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य**" इस सूत्र से काल की उपस्थिति मात्र रहती है क्योंकि कालाणु सक्रिय नहीं, परमाणु सक्रिय है। इसमें ऐसी शक्ति है कि एक समय में १४ राजू तक जा सकता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा संख्या चार प्रकार की है तथा जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा दो प्रकार की भी है। एकप्रदेशी परमाणु की अपेक्षा जघन्य संख्या है। दो आदि से अनन्तप्रदेश पर्यन्त क्षेत्र संख्या का भेद परमाणु जनित है। इसी प्रकार परमाणु की गति से एक समय, दो समय आदि काल संख्या के भेद भी ज्ञात होते हैं और एक प्रदेशी परमाणु में जघन्य, उत्कृष्ट भेद सहित जो वर्णादिक भाव हैं, उस भावसंख्या को भी परमाणु करता है। वैसे संख्या की अपेक्षा "**णाणो**:" यह कहा है किन्तु समझाने के लिए व्यवहार में ऐसा कहा जाता है। जैसे कोई राम, राम, राम की दो तीन चार ऐसी गिनती करता है तो क्या इतने राम हो गए? यद्यपि राम तो एक ही है, यह तो उच्चारण की संख्या है। एक सांख्यमत होता है। सांख्य अर्थात् 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'आख्य' यानि जैसा स्वरूप कहा है वैसा ही अर्थात् शुद्धात्म तत्त्व है। सांख्यमती आत्मा को हमेशा शुद्ध मानते हैं और प्रकृति को कर्त्री मानते हैं। एक शुद्धात्मतत्त्व का नाम सांख्य है। उसी प्रकार यहाँ एक समयरूप जघन्य काल की संख्या है और अनन्त समय रूप उत्कृष्ट व्यवहार काल की संख्या है। इस प्रकार जघन्य और उत्कृष्ट की अपेक्षा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की संख्याओं का कथन हुआ। इस प्रकार पुद्गल परमाणु द्रव्य के प्रदेशों का आधार लेकर समय आदि व्यवहार काल के कथन की मुख्यता से एकत्वादि संख्या का कथन करते हुए द्वितीय स्थल में चार गाथाएँ पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—अब पुद्गल परमाणु द्रव्य में गुण पर्याय के स्वरूप का कथन करते हैं –

एयरसवण्णगंधं दो फासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ॥८८॥

अन्वयार्थ—(एयरसवण्णगंधं दो फासं) जिसमें एक रस, एक वर्ण, एक गंध व दो स्पर्श हों **(सद्दकारणं)** शब्द का कारण हो **(असद्दं)** स्वयं शब्द रहित हो **(खंधंतरिदं)** स्कंध से जुदा हो **(तं दव्वं)** उस द्रव्य को **(परमाणुं)** परमाणु **(वियाणाहि)** जानो।

अर्थ—जो एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श गुण वाला है, शब्द की उत्पत्ति का कारण है, स्वयं अशब्द रूप है स्कन्ध से पृथक् है उसको परमाणु जानो।

एक वर्ण रस गन्ध अणु में, और स्पर्श गुण दो इसमें।
स्कन्धभाव में परिणत होता, शब्द रूप शक्ति इसमें ॥
हो जब पृथक् स्कन्ध रूप से, तब होता अणु शब्द रहित।
उसे द्रव्य परमाणु जानो, यह वर्णन जिनदेव कथित ॥८८॥

व्याख्यान—गाथा में वियाणेहि और वियाणाहि दोनों पाठ आते हैं। परमाणु में लाल, काला, पीला, नीला, सफेद या धवल (जिसे बुन्देलखण्ड में धोरा बोलते हैं; जैसे पुद्गल को पोग्गल कहते हैं) इन पाँच रूप में कोई एक। खट्टा, मीठा, कड़वा, चरपरा और कसायला इन पाँच रसों में कोई एक। सुरभि-दुरभि इन दो गन्ध में कोई एक रहता है। यहाँ दुरभि शब्द कहा, असुरभि नहीं कहा है। प्राचीन ग्रन्थ षट्खण्डागम में भी दुरभि शब्द आया है जो दुर्गन्ध का प्रतीक है। प्राकृत भाषा प्राचीन है, संस्कृत भाषा बाद में आयी। संस्कृत आर्यों की भाषा है, किसी अनार्य को 'तथास्तु' कहने पर भी कुछ नहीं समझ में आता तो उसे उसी की भाषा में समझाया जाता है। जिसकी जो भाषा है, उसी भाषा में बोलोगे तभी दुकान चलेगी। भगवान् के समवसरण में देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सभी अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। यदि कोई कठिन साहित्यिक शब्दों का प्रयोग करे तो सबको समझ में नहीं आयेगा। यहाँ दुर्गन्ध के लिए दुरभि शब्द आया है। स्पर्श के आठ भेद होते हैं- शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, हल्का-भारी, कठोर-नरम। इन चार युगलों में से परमाणु में शीत-उष्ण में से कोई एक तथा स्निग्ध-रूक्ष में से कोई एक गुण पाया जाता है। इस प्रकार एक परमाणु में स्पर्शगुण के निम्न चार विकल्पों में से कोई एक युगल रहता है। शीत-स्निग्ध, शीत-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध या उष्ण-रूक्ष। इस प्रकार परमाणु में ५ गुण होते हैं।

परमाणु शब्द का कारण—परमाणु स्वयं शब्द रूप नहीं किन्तु शब्द का कारण होता है। जैसे-आत्मा शब्द रूप नहीं होता किन्तु प्रायोगिक भाषा में शब्द का कारण होता है। पुरुष का इसमें प्रयोग होता है। कुछ लोगों का कहना है कि-भगवान् की दिव्यध्वनि नैसर्गिक या वैस्रसिक है जबकि कोई भी शब्द रूप ध्वनि आत्मा के निमित्त से होती है। **श्री समन्तभद्र महाराज जी धर्मनाथ भगवान्** की

स्तुति करते हुए कहते हैं–

कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो, नाभवंस्तव मुनेश्चिकीर्षया।
नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो, धीर! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥७४॥ (स्वयंभूस्तोत्र)

हे धर्मनाथ प्रभो! आपकी चेष्टा अद्‌भुत है। आपकी मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ कुछ करने की इच्छा से नहीं हुईं और न ही बिना विचारे ही हुईं। इसीलिए तो आपका चरित्र अचिन्त्य है, यह वैस्रसिक, नहीं प्रायोगिक कार्य है। परमाणु में एक प्रदेश होने से शब्द की अभिव्यक्ति का अभाव है किन्तु शब्द का कारण अवश्य है। परमाणु स्कन्ध बनने की क्षमता तो रखता है किन्तु स्वयं स्कन्धान्तरित है अर्थात् स्कन्ध से भिन्न स्वभाव वाला है। जैसे–पारसमणि लोहे को स्वर्ण बनाने की क्षमता रखती है फिर भी लोहे और स्वर्ण से पारसमणि पृथक् रहेगी। उसी प्रकार परमाणु भी स्कन्ध से पृथक् है। निश्चय से आत्मा शुद्ध बुद्ध है लेकिन व्यवहार से द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप स्कन्ध से सहित है। जिस तरह परमाणु निश्चय से अस्तिकाय नहीं है, चार ही अस्तिकाय द्रव्य हैं। व्यवहार से पुद्‌गल बहुप्रदेशी है।

आज का विज्ञान कहता है कि–अंगुली ऊपर से एक अखण्ड दिखती है किन्तु सूक्ष्मदर्शी यन्त्र द्वारा देखने पर अनेकों छेद दिखते हैं, एक बाल भी रस्सी जैसा दिखता है। रुस के वैज्ञानिकों ने बाल जैसा पतला तार बनाया और अमेरिका के पास भेज दिया। अमेरिका के वैज्ञानिकों ने उस तार में छेद करके पोल बनाकर दिखा दिया। जिसको अखण्ड कह रहे थे, उसी में सुरंग निकाल दी और उससे भी पतला तार बना दिया। वस्तुतः सूक्ष्मता क्या है? यह कहना कठिन है किन्तु जैनाचार्यों ने स्कन्ध से परमाणु को पृथक् करने का अद्वितीय कार्य किया है। वर्तमान में विज्ञान द्वारा जो अविष्कार हुए वह स्कन्धों को पकड़कर हुए हैं और स्कन्ध को ही परमाणु संज्ञा दे दी। अभी और न्यूट्रॉन, प्रोट्रॉन, इलेक्ट्रॉन रूप भेद होते जा रहे हैं। अभी अभेद नहीं हुआ, इस पर शोध चल रहे हैं। अभी तक एक परमाणु पकड़ में नहीं आया और सूक्ष्मदर्शी यन्त्र द्वारा भी आ नहीं सकता। इस प्रकार परमाणु में शब्दादि के अभाव रूप स्वरूप बताकर पाँचवीं गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका–आगे पुद्‌गलों के भेद संक्षेप से कहते हैं–

उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदिय काया मणोकम्माणि।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पुग्गलं जाणे ॥८९॥

अन्वयार्थ–(इंदिएहिं उवभोज्जं) इन्द्रियों से भोगने योग्य पदार्थ को **(य)** और **(इंदिय)** इन्द्रियों **(काया)** शरीरों **(मणो य)** मन तथा **(कम्माणि)** आठ कर्म और **(जं अण्णं मुत्तं हवदि)** जो अन्य मूर्तिक पदार्थ है **(तं सव्वं)** उन सभी को **(पुग्गलं)** पुद्‌गल द्रव्य **(जाणे)** जानो।

अर्थ–इन्द्रियों से भोगने योग्य पदार्थ, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच प्रकार के शरीर और मन तथा आठ कर्म इत्यादि जो कुछ दूसरे मूर्तिक पदार्थ हैं उन सबको पुद्‌गल द्रव्य जानो।

पञ्चेन्द्रिय से जो स्पर्शादिक, पाँच विषय भोगे जाते।
पाँचों द्रव्येन्द्रिय औ पाँचों, शरीर पुद्गल कहलाते॥
द्रव्यकर्म नोकर्म और भी, मूर्तिक पदार्थ जितने हैं।
वह सब हैं पुद्गल पदार्थ ही, केवलि जिन ने जाने हैं ॥८२॥

व्याख्यान—पाँचों इन्द्रियों के द्वारा पाँच प्रकार के विषय भोगे जाते हैं, जीव भोगने में आ ही नहीं सकता। सर्वत्र पुद्गल का ही बाजार है। सभी मूर्त पदार्थ पुद्गल हैं। हाइकू है—**चालक नहीं / गाड़ी दिखती मैं ना/काया दिखती। (या साड़ी दिखती)** गाड़ी के भीतर ड्राइवर बैठा है तो भी दूर से गाड़ी आ रही है, यही कहते हैं। गाड़ी वाला आ रहा है ऐसा नहीं कहते, भीतर बैठा गाड़ी चलाने वाला ड्राइवर नहीं दिखता। उसी प्रकार आत्मा ने काया रूपी साड़ी पहनी है वह दिखती है या गाड़ी ही दिखती है चालक अर्थात् जीव नहीं दिखता। पुद्गल का ठाट है, जहाँ कहीं भी चले जाओ, देश या विदेश, पाताल या ऊपर, तीन लोक में कहीं भी जाओ पुद्गल में ही संसारी प्राणी रम रहा है। राम को भूलकर परशुराम हो गया है। परशु अर्थात् कुल्हाड़ी लेकर जो चलता है वह परशुराम है और जो आत्मा में रमता है वह आतमराम है। परमात्मा जो भगवान् हैं वह दिखते नहीं और जो दिखते हैं वह भगवान् नहीं। इसीलिए इन्हें अलखनिरञ्जन कहा। अलख अर्थात् देखने योग्य नहीं है और कर्म कलुषता रूप अञ्जन से रहित ऐसे सिद्धपरमेष्ठी अलखनिरञ्जन हैं। ऐसा भी एक मत है जो सगुण अर्थात् सकल परमात्मा जो कि समवसरण में विराजे हैं उन्हें भगवान् नहीं मानता। सत्व, रज और तम गुण से रहित निर्गुण निराकार ही परम ब्रह्म है शेष अविद्या है ऐसा मानता है। परमसमाधि रूप वीतरागदशा में जो आत्मानुभूति होती है उस आत्मानुभूति के अभाव में जीव पुद्गल की ओर दौड़ता है, पदार्थों का सञ्चय करता है और उसका उपभोग करने का पुरुषार्थ करता है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, लेकिन भोग्य पदार्थ मिल जाए, इसके लिए दिन-रात पुरुषार्थ रत रहता है किन्तु पदार्थों का मिलना या न मिलना कर्म पर आधारित है। कर्म के उदय से जिसे चाहता है वह मिल नहीं पाता और जिसे नहीं चाहता वह उपलब्ध हो जाता है। **''जो भाता है वो पाता नहीं। जो पाता है वो भाता नहीं, इसलिए सुख साता नहीं''** इससे जीव दुखी रहता है, यह सब अज्ञान का परिणाम है।

इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों को जानने का बाह्य साधन मात्र- संसारी प्राणी लौकिक ज्ञान को ही ज्ञान कहता है और इसी में जीवन खपा देता है। लेकिन ऐसा अनेक प्रकार का लौकिक ज्ञान हो भी जाए तो क्या लाभ? यदि सम्यक् श्रद्धा युक्त ज्ञान प्राप्त न हो तो जीव इन्द्रिय-विषय और कषाय इत्यादि में ही लगा रहेगा। इन्द्र का अर्थ आत्मा है, जो ज्ञान स्वरूपी है लेकिन जब तक इन्द्रियों की सहायता नहीं लेता तब तक बाहरी वस्तुओं को जान नहीं पाता, इसलिए बाह्य पदार्थों को जानने का बाह्य साधन इन्द्रियाँ हैं। देह में आत्मा है या नहीं? यह ज्ञान हम इन्द्रियों के माध्यम से कर लेते हैं। दर्पण की भाँति पाँच इन्द्रियों के व्यापार से यह ज्ञात हो जाता है कि भीतर आत्मा क्या कर रही है?

इन्द्रियाँ भी जड़ का विस्तार हैं ये तब तक काम करती हैं जब तक भीतर आत्मतत्त्व है। आत्मा से पृथक् होने पर शरीर में इन्द्रियाँ रहते हुए भी कोई काम नहीं करतीं। क्यों नहीं करतीं? इसका उत्तर विज्ञान के पास नहीं है लेकिन हमारे पास है। आत्मा चल बसी अर्थात् यहाँ से जाकर कहीं और बस गई और यहाँ रोना-धोना प्रारम्भ हो गया। सम्यग्ज्ञान के अभाव में संसारी जीव, किसका जन्म हुआ किसकी मृत्यु हुई यह वास्तविकता न जानकर उलझनों में उलझा रहता है। लेकिन इतना अवश्य है कि तब तक शरीर कार्य करता है जब तक जीव का अस्तित्व उसमें है। यह सब जानते हुए भी पञ्चेन्द्रिय विषयों के प्रति मोह रहता है। अच्छे-अच्छे व्यक्तियों से भी विषयों की आसक्ति छूटना कठिन है।

काय की परिभाषा व भेद—इन्द्रियाँ जिसमें रहती हैं उसे काय या शरीर कहते हैं। जो पाँच प्रकार के हैं। जिनमें औदारिक, वैक्रियिक और आहारक ये तीन काम में आते हैं। आज वर्तमान में वैक्रियिक शरीर देखने को नहीं मिलता है आहारक, तैजस और कार्माण तो वैसे भी दिखते नहीं। एक औदारिक शरीर ही दिखता है, कभी नया तो कभी पुराने के रूप में। **आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज** कभी कहते थे कि **ये पुराना चरखा है, तो कभी कहते थे कि पुराना टट्टू है।**

विकल्पों का विराम नहीं—आत्मा के बारे में जो कुछ पढ़ने, सुनने या करने रूप विकल्प हैं, वह सब मन का सहारा लेकर उत्पन्न होते हैं। किसके मन में क्या है? यह पूछने की अपेक्षा अपने मन में क्या है, क्या विकल्प चल रहा है? यह जान लो। वैसे विकल्प का कभी विराम नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव पूर्व में भोगे हुए पञ्चेन्द्रिय विषयों का विकल्प करता है या इन्द्रिय सुख में जो बाधक बन रहे हैं उन्हें हटाने का विकल्प करता है। जबकि सम्यग्दृष्टि वैरागी सोचता है कि ये विषय, दुख व पाप के मूल हैं, कर्माश्रित हैं, स्थिर नहीं हैं। पञ्चेन्द्रिय विषयों के भोग शुगर कोटेड गोली जैसे हैं ऊपर से मीठी अन्दर से कड़वी है। इन्द्रिय विषय भी प्रारम्भ में सुख रूप भासित होते हैं किन्तु अन्तिम उपसंहार दुखमय है, वास्तव में शुरू में भी दुख रूप ही हैं। धन का अर्जन करते समय दुख तथा अर्जित धन के रक्षण में भी दुख है, खर्च करने में पसीना आता है। बचाकर रखना चाहता है लेकिन यदि कोई उठाकर ले जाए तो दुख होता है। जड़ दौलत आती है तो पीठ पर लात मारती है इससे तोंद निकल जाती है और छाती फूल जाती है तब अकड़कर चलने लगता है और जब जाती है तब छाती पर एक लात देकर जाती है तो कमर टूट जाती है और कूबड़ निकल जाती है। दौलत के जाते ही सड़क पर आ जाते हैं फिर किसी को मुँह दिखाने लायक भी नहीं रहते। **जो दो लात देती है वह दौलत।** प्रसंग चल रहा है जड़ धन और दूसरे के मन से दृष्टि हटाकर स्वयं के मन का अध्ययन करने का, इससे ज्ञात हो जायेगा कि विषयों से कितना विमुख हुआ और आत्मतत्त्व के कितना सम्मुख हुआ। भले ही आत्मानुभूति नहीं हो रही है लेकिन यह विश्वास हो जाए कि **विषयों के सेवन से संसार का वर्धन होता है।** इतना विश्वास ही पर्याप्त है, यही विश्वास आत्मतत्त्व के सम्मुख करेगा।

तीन लोक में पुद्गल ही एकमात्र मूर्त—मूर्तिक पदार्थ के अलावा संसार में और कुछ नहीं

दिखता। जीव भी शरीरधारी ही दिखता है, जो मूर्त है। खदान में १०० टंच सोना नहीं मिलता, पत्थर मिट्टी से युक्त पदार्थ को छान कर धोने के बाद तपाने से शुद्ध सोना प्राप्त होता है। लगभग एक टन मिट्टी खोदने पर मुश्किल से एक तोला सोना निकल पाता है। उसी प्रकार तीनों लोकों में आत्मतत्त्व का साक्षात् दर्शन हमें नहीं होता, शरीर सहित जीव का ही दर्शन होता है। शरीर को बचाने का मतलब जीव को बचाना है इसीलिए दयालु व्यक्ति जीव-जन्तुओं के ऊपर पैर नहीं रखते हैं अर्थात् जीवविज्ञान का वह ज्ञाता है। अविभागी परमाणु हो या संख्यात, असंख्यात, अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध हो वह सब पुद्‌गल का ही विस्तार है। तीनलोक में पुद्‌गल ही एकमात्र मूर्त है। जो पञ्चेन्द्रिय विषय के रूप में ग्रहण करने में आता है। **मंगतरायजी की बारह-भावना में ''जीव रु पुद्‌गल नाचै यामैं कर्म उपाधि है''** यह पंक्तियाँ कही हैं। इसमें जीव तो देखने में आता नहीं किन्तु नाचने में कारण जीव के परिणाम ही हैं। परिणाम समाप्त होते ही न जीव को नाचना पड़ेगा, न पुद्‌गल को। पुद्‌गल के कारण जीव में परिणाम उत्पन्न होते हैं ऐसा भी मानते हैं। लेकिन **पुद्‌गल कर्मोदय में जीव हर्ष-विषाद न करे तो नूतन कर्मबन्ध रूपी अगली फसल नहीं आयेगी। यही पुरुषार्थ की सीमा है।** यहीं से मोक्षमार्ग की शुरुआत हो जाती है या मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन इसी आधार से चढ़ सकते हैं।

इस प्रकार पञ्चास्तिकाय और छह द्रव्य का प्रतिपादन करने वाला प्रथम महाधिकार में दस गाथापर्यन्त तीन स्थल के द्वारा पुद्‌गलास्तिकाय नामक पञ्चम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ। इसके उपरान्त उपादेयभूत केवलज्ञानादि रूप शुद्ध जीवास्तिकाय से भिन्न हेयरूप धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय के अधिकार में ७ गाथाओं का प्रकरण दे रहे हैं। वस्तुतः यह दोनों द्रव्य आत्मा के लिए ज्ञेय रूप हैं लेकिन आत्मतत्त्व को जानने के समय इन्हें भी छोड़ना अनिवार्य है। धर्मास्तिकाय के लिए तीन गाथा और अधर्मास्तिकाय के स्वरूप निरूपण की मुख्यता से एक गाथा और इन दोनों के अस्तित्व का अभाव मानने पर जो दूषण आता है उसके लिए तीन गाथा कहेंगे, इस प्रकार सात गाथाओं से तीन स्थल द्वारा वर्णन करेंगे।

उत्थानिका—जैसे दर्शनोपयोग का अर्थ सम्यग्दर्शन नहीं है वैसे ही धर्मास्तिकाय का अर्थ धर्म नहीं है। अतः अब धर्मास्तिकाय का सही स्वरूप कहते हैं–

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं।
लोगागाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं ॥९०॥

अन्वयार्थ—(धम्मत्थिकायं) धर्मास्तिकाय **(अरसं)** रस रहित **(अवण्णगंधं)** वर्ण और गंध रहित **(असद्दं)** शब्द रहित **(अप्फासं)** स्पर्श रहित **(लोगागाढं)** लोकाकाश में व्यापक **(पुट्ठं)** और स्पर्शित **(पिहुलं)** फैला हुआ है तथा **(असंखाादियपदेसं)** असंख्यात प्रदेशों को रखने वाला है।

अर्थ—धर्मास्तिकाय रस रहित, वर्ण रहित, गन्ध रहित, शब्द रहित, स्पर्श रहित है, लोकाकाश में व्यापक है, अखण्ड है, विशाल है और असंख्यातप्रदेशी है।

धर्मद्रव्य जो अस्तिकाय है, पाँच रसों से मुक्त रहा।
पाँच वर्ण दो गंध रहित औ, शब्दों से ना युक्त कहा॥
आठ स्पर्श गुण से विरहित यह, लोक व्याप्त औ अखण्ड भी।
विशाल और असंख्य प्रदेशी, धर्मद्रव्य है ऐसा ही ॥९०॥

व्याख्यान—पृथुल अर्थात् बड़ा है। जीव द्रव्य के समान असंख्यात प्रदेश वाला है। जीव छोटे से स्थान में भी संकुचित होकर रह सकता है। लेकिन धर्मास्तिकाय संकुचित न रहकर लोक के बराबर विस्तृत रहता है। धर्मद्रव्य स्पर्श, रस, गन्धादि से रहित है। रूप-रसादि पुद्‌गल का परिणमन है और धर्मास्तिकाय पुद्‌गल से विपरीत धर्म वाला है। जितना लोकाकाश का विस्तार है उतना ही धर्मास्तिकाय का है या यह भी कह सकते हैं कि धर्मास्तिकाय का जितना विस्तार है उतना ही लोक का विस्तार है। यदि धर्मास्तिकाय और बढ़ा होता तो लोक भी उतना ही बढ़ जाता। आगे धर्मद्रव्य का अभाव होने से अलोकाकाश तो है लेकिन लोकाकाश नहीं है। लोकपूरण समुद्‌घात में जीव अपने आत्मप्रदेशों को फैला देते हैं तभी लोकपूरण कहलाता है। लोक के आगे नहीं फैला सकते क्योंकि उनके पास प्रदेश भी नहीं हैं और धर्मास्तिकाय का सहयोग भी चाहिए, तभी तो वह फैल पायेंगे। यदि धोती को सुखाना है तो कुछ न कुछ तो चाहिए। आसमान में तो सुखा नहीं सकते। व्यंग में कहा जाता है कि आसमान में धोती सुखा रहा है अर्थात् "न भूतो न भविष्यति" जीव यहीं पर बैठे-बैठे बुद्धि को दौड़ाये जैसे-शब्दानुपात, पुद्‌गलानुपात करते हैं वैसे ही लोकाकाश के इस छोर पर बैठकर समुद्‌घात करे और अलोकाकाश चला जाए, ऐसा नहीं हो सकता। जब कोई छत पर धोती फैलाकर सुखाता है तो लटकती हुई नीचे तक आ जाती है। इस तरह आत्मप्रदेशों को समुद्‌घात के माध्यम से अलोकाकाश में फैलाना चाहें तो भी धर्मास्तिकाय के अभाव में गति नहीं हो सकती। कोई अतिक्रमण भी नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट है कि जीव के प्रदेश लोकाकाश के बराबर हैं तथा इससे बाहर नहीं जा सकते।

धर्मास्तिकाय के अभाव में लोकाकाश के आगे गमन नहीं—ऐसा कथन मिलता है कि जहाँ औदारिक शरीर नहीं जा सकता वहाँ आहारक शरीर द्वारा साधु पहुँच जाते हैं। कोई कहे कि ऊर्ध्वगमन स्वभाव तो है ही और यदि ऐसा कोई शरीर प्राप्त हो जाए तो अलोकाकाश में पहुँच जाते, तो भी धर्मास्तिकाय की पटरी न होने के कारण जा नहीं सकते। कलकत्ता के पास हाबड़ा स्टेशन है इसके बाद कोई स्टेशन नहीं है इसलिए वहाँ से लौटना पड़ता है। उसी प्रकार लोक के अन्त तक जा सकते हैं इसके बाद जाने का स्वभाव तो है किन्तु जा नहीं सकते, पटरी बिछी हो तभी रेल जा सकती है। मारणान्तिक समुद्‌घात करते समय जो मनुष्य एकेन्द्रिय बनने वाला है वह लोक के अन्त तक जा सकता है उसी प्रकार आहारक शरीर वालों को भी औदारिक शरीर को यहीं छोड़कर अपने गन्तव्य तक जाने में कोई बाधा नहीं है।

तिल में तेल की तरह लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में धर्मास्तिकाय—जैसे जल से भरे हुए

घट में एक स्थान भी नहीं बचता, पूरे तिल में तेल भरा रहता है वैसे ही लोकाकाश में धर्मास्तिकाय भरा हुआ है। आत्मानुभव करने वाले मुनियों के समूह से भरे वन के समान या जन समूह से भरे नगर के समान धर्मास्तिकाय लोकाकाश में व्याप्त नहीं है, क्योंकि वन या नगर इनसे अन्तर सहित ही रहता है पूर्ण व्याप्त होकर नहीं। इसी तरह अभव्य जीवों के आत्मप्रदेशों में मिथ्यात्व रागादि पूरी तरह भरे हुए हैं ऊपर-ऊपर नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि द्रव्य और गुण तो शुद्ध ही रहते हैं केवल पर्याय में अशुद्धि रहती है, उन्हें भी स्पष्ट हो जायेगा कि जैसे जीव द्रव्य में मिथ्यात्वादि भरे हुए हैं वैसे ही धर्मास्तिकाय पूरे लोकाकाश में भरा हुआ है। जिस प्रकार आकाश अनादि-अनन्त है उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी है। ऐसा नहीं कि किसी अवस्था में फैल जाए या किसी एक कोने में रह जाए जैसे केवली भगवान् के आत्मप्रदेश देह प्रमाण रहते हैं किन्तु समुद्घात के समय फैल जाते हैं उसी प्रकार किसी को पटरी की आवश्यकता पड़ जाए तो बिछा दें, नहीं तो संकुचित कर दें, ऐसा नहीं है। लोकाकाश में असंख्यात प्रदेश सदा बिछे हुए हैं। लोकाकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं जिसमें धर्मास्तिकाय न रहता हो, अखण्ड है फिर भी नापने की अपेक्षा असंख्यप्रदेशी है। जैसे-छह फीट की हाईट है तो वह कहीं से टूटी हुई नहीं है, पूरे अंग-प्रत्यंग में आत्मा है। दाँतों में भले ही थोड़ा अन्तर रह सकता है किन्तु लोकाकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं, जहाँ धर्मास्तिकाय न हो।

उत्थानिका—धर्मद्रव्य का स्वरूप कुछ विशेषता से बताते हैं-

अगुरुगलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ॥९१॥

अन्वयार्थ—[यह धर्मद्रव्य] **(तेहिं)** उन **(अणंतेहिं)** अनंत **(अगुरुलघुगेहिं)** अगुरुलघु गुणों के द्वारा **(सया)** सदा **(परिणदं)** परिणमन करने वाला, **(णिच्चं)** अविनाशी, **(गदिकिरिया-जुत्ताणं)** गमन क्रिया से संयुक्त [जीव पुद्गलों के लिये] **(कारणभूदं)** निमित्तकारण है **(सयं)** स्वयम् **(अकज्जं)** किसी का कार्य नहीं होता है।

अर्थ—यह धर्मद्रव्य उन अनन्त अगुरुलघु गुणों के द्वारा सदा परिणमन करने वाला है, अविनाशी है, गमन क्रिया संयुक्त जीव पुद्गलों के लिए निमित्त कारण है एवं स्वयं किसी का कार्य नहीं है।

नन्त अगुरुलघु गुण के द्वारा, सदैव परिणत होता है।
फिर भी स्वरूप से च्युत ना हो, नित्य स्वरूपी रहता है॥
गति क्रिया युत द्रव्यों को जो, कारणभूत कहाता है।
तदपि नहीं है कार्य किसी का, ऐसा आगम कहता है ॥९१॥

व्याख्यान—अगुरुलघुगुण के कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में समाविष्ट नहीं हो सकता। प्रत्येक द्रव्य की अर्थ क्रिया इसी पर आधारित है। यह गुण कभी अशुद्ध नहीं होता। जो सूक्ष्म, वचन अगोचर,

क्षणिक व केवलीगम्य अर्थपर्याय है, उसकी उत्पत्ति में भी यही गुण कारण है। अगुरुलघु-गुण से जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह कर्माश्रित नहीं है। कर्म से प्रभावित पर्यायें दूषित मानी जाती हैं। यह अगुरुलघुगुण प्रत्येक द्रव्य में होता है, इसीलिए इसे सामान्य गुण कहते हैं। षट्गुण हानि-वृद्धि रूप परिणमन इसी गुण के द्वारा होता है। इससे द्रव्य अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता अर्थात् स्वप्रतिष्ठित होने में यह कारणभूत है। जीव और पुद्गल जो गति की शक्ति से सम्पन्न हैं, उनमें धर्मद्रव्य सहकारी है। सिद्धपरमेष्ठी को संसार से कोई प्रयोजन नहीं किन्तु भव्य जीव उनके प्रति अनुराग रखते हैं और सिद्धत्व की प्राप्ति में सिद्धप्रभु कारण हो जाते हैं। सिद्धपरमेष्ठी तो राग से रहित हो गए, वह किसी प्रकार का प्रतिकार नहीं करते। जिस प्रकार सिद्धप्रभु स्वयं कारण नहीं बनते वह तो उदासीन हैं उसी प्रकार धर्मास्तिकाय जहाँ है वहीं रहेगा, क्रियाशील नहीं है फिर भी जीव और पुद्गल की गति में बाह्य निमित्त बन जाता है, इसे उदासीन कारण कहा है। धर्मास्तिकाय के समान सिद्धपरमेष्ठी उदासीन हैं यह कह सकते हैं किन्तु अरहंतपरमेष्ठी उदासीन नहीं हैं, कथञ्चित् प्रेरक हैं। सिद्धों का ध्यान करने से किसी को क्षायिकसम्यग्दर्शन नहीं हुआ लेकिन अरहंतकेवली के सान्निध्य में प्राप्त कर लेते हैं। जबकि अरहंत प्रभु भी कुछ करते नहीं है। गुरु तो समझाते हैं, पास बुलाते हैं अतः प्रेरक निमित्त हैं। प्रेरकनिमित्त और उदासीन निमित्त में भी भेद भिन्नता है। धर्मद्रव्य स्वयं कार्य नहीं करता किन्तु गतिशील द्रव्यों को सहयोगी है। यह किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है अतः स्वयं किसी का कार्य नहीं है।

उत्थानिका— अब गति में हेतु जो धर्मास्तिकाय है उसका दृष्टान्त बताते हैं—

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणीहि ॥९२॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे **(लोए)** इस लोक में **(उदयं)** जल **(मच्छाणं)** मछलियों के लिए **(गमणाणुग्गहयरं)** गमन में उपकारक **(हवदि)** होता है **(तह)** वैसे ही **(धम्म दव्वं)** धर्मद्रव्य **(जीवपुग्गलाणं)** जीव और पुद्गलों के [गमन में उपकारक] **(वियाणीहि)** जानो।

अर्थ—जैसे इस लोक में पानी मछलियों को गमन में अनुग्रह करता है, वैसे ही धर्मद्रव्य जीव पुद्गलों को गमन में अनुग्रह करता है, सहायक होता है। ऐसा जानो।

चलती हुई मछलियों को ही, जैसे जल उपकारक है।
चलते हुए जीव पुद्गल को, धर्मद्रव्य गतिकारक है॥
स्वयं न चलता धर्मद्रव्य यह, उदासीन ही कारण है।
नहीं प्रेरणा दे चलने की, धर्मद्रव्य का लक्षण है ॥९२॥

व्याख्यान—मछली को तैरने में जल उदासीन रूप से सहायक है, प्रेरक नहीं। हठात् नहीं चलाता अन्यथा मछली को दिन-रात तैरना ही पड़ेगा, विश्राम ही नहीं कर सकेगी। इसीलिए जब स्वयं

तैरना चाहे तभी जल सहयोग करता है, उदासीन निमित्त का यही अर्थ है। रेल को चलने में पटरी उदासीन कारण है। यदि पटरी उदासीन कारण नहीं होती तो फिर रेल में कोयले या बिजली की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, मात्र पटरी बिछाते ही चल पड़ती। लेकिन पटरी उदासीन कारण है। डीजल पटरी जैसा उदासीन नहीं है। यद्यपि डीजल से भी गाड़ी चलती है और पटरी द्वारा भी चलती है किन्तु पटरी धर्मास्तिकाय की भाँति है इसी प्रकार जीव और पुद्गलों के गमन में अनुग्रह करने वाला धर्मद्रव्य है। मछली के लिए जल प्रेरणा नहीं देता और 'चलो-चलो' ऐसा धक्का भी नहीं देता। यहाँ जो लोग आये हैं तो क्या उन्हें क्षेत्र खींच रहा था? जो कोई आना चाहें तो क्षेत्र पर आ सकते हैं। यदि प्रेरक बनता तो यहाँ से जाने ही नहीं देता लेकिन जाना चाहें तो जा सकते हैं। गाड़ी लेकर आये थे और गाड़ी लेकर जा रहे हो, क्षेत्र प्रेरक नहीं है। ऐसे ही धर्मद्रव्य स्वयं न चलता हुआ अन्य के लिए प्रेरक नहीं होता हुआ, स्वयं गति परिणत जीव पुद्गलों के लिए सहकारी कारण है। सिद्धभगवान् उदासीन कारण होने पर भी सिद्धों के गुणों का अनुराग भव्यजीवों के लिए सिद्धत्व का कारण बन जाता है। यद्यपि रागादि रहित शुद्धात्मानुभूति ही सिद्धगति का उपादान कारण है तथा निदान रहित विशुद्ध परिणाम से उपार्जित तीर्थंकर प्रकृति, उत्तम संहनन आदि विशिष्ट पुण्य रूप धर्म भी सिद्धगति के लिए सहकारी कारण हैं। शुक्लध्यान में भी अन्तिम शुक्लध्यान मुक्ति का कारण है और शुक्लध्यान के लिए उत्तम संहनन आवश्यक है। यह बात अलग है कि उत्तम संहनन पाकर भी लड़ने-भिड़ने लग जाए तो शक्ति का दुरुपयोग है। पुण्य क्रियाओं के द्वारा उत्तम संहनन तथा तीर्थंकर प्रकृति जैसी पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है। इस प्रकार पुण्य कर्म को सिद्धगति का कारण कहा जाता है। १४वें गुणस्थान के अन्तिम समय तक तीर्थंकर प्रकृति का उदय रहता है, स्वोदय प्रकृति है, उदीरणा नहीं, उदय है। इस प्रकार **श्री जयसेन महाराज ने कहा है कि पुण्य भी सिद्धगति में सहकारी कारण है, उपादान कारण नहीं। इसलिए पुण्य को मिटाने की बात ही नहीं आती।** जितनी भी नामकर्म की पुण्य प्रकृतियाँ हैं वे उपान्त्य समय में संक्रमण द्वारा चली जाती हैं, उसका घात नहीं किया जाता। योगनिग्रह में भी प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का हनन नहीं करते क्योंकि वह बाधक हैं ही नहीं।

जीव और पुद्गल के गमन में धर्मास्तिकाय उदासीन कारण—संसारी जीवों के अभ्यन्तर कारण शुभाशुभ भाव हैं वही उपादान कारण है फिर भी यह भाव, दान पूजादिक बहिरंग अनुष्ठान रूप द्रव्य क्रिया के बिना नहीं हो सकते, अत: पूजादिक अनुष्ठान भी सहकारी कारण हैं। जीव व पुद्गलों में स्वयं गतिरूप उपादान क्षमता है पर व्यवहार से धर्मास्तिकाय गति का कारण बन जाता है।

संस्मरण—बड़े बाबा के यहाँ से जब नीचे उतरकर आ रहे थे तब तेज वर्षा के कारण कई झरने फूट पड़े थे। तालाब का पानी अपनी सीमा से बाहर हो रहा था। उस समय मछलियाँ तालाब में से वापस आ करके झरनों के ऊपर चढ़ रही थीं, मानो वह अश्वारोहण या पर्वतारोहण कर रही हों। मात्र तैरने के लिए नहीं, ऊपर चढ़ने के लिए भी जल कारण है इसलिए "**जह मच्छाणं उदकं**" कहा। उसी

प्रकार उत्तम संहनन मिलने से ध्यान रूपी पर्वत पर चढ़ने की भी क्षमता आ जाती है। यद्यपि जल से बाहर निकल जाए तो मीन का मरण निश्चित है, थोड़े से पानी में ही मीन श्वास लेती हुई अपने अंगों की सुरक्षा कर लेती है, यह व्यापक उदाहरण बड़े बाबा के पास से मिला। जो आँखों से देखा, वह बता दिया।

उत्थानिका—अब अधर्मद्रव्य का स्वरूप दिखाया जाता है–

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदि किरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥९३॥

अन्वयार्थ—**(तु)** तथा **(जह)** जैसे **(धम्मदव्वं)** धर्मद्रव्य जीव पुद्‌गलों के चलने में सहायक **(हवदि)** होता है **(तह)** वैसे ही **(तं)** उस **(अधमक्खं)** अधर्म नाम के **(दव्वं)** द्रव्य को **(पुढवीव)** पृथ्वी के समान **(ठिदिकिरियाजुत्ताणं)** स्थिति क्रिया युक्त जीव पुद्‌गलों के ठहरने में **(कारणभूदं)** निमित्त कारण **(जाणेह)** जानो।

अर्थ—जिस प्रकार धर्मद्रव्य है उसी प्रकार अधर्म नाम का द्रव्य भी जानो, परन्तु वह पृथ्वी के समान स्थिति क्रिया युक्त जीव पुद्‌गलों के ठहरने में निमित्त कारण है।

जिस प्रकार से धर्मद्रव्य का, जैनागम में वर्णन है।
उसी प्रकार अधर्मद्रव्य का, कहा गुरु ने लक्षण है॥
परन्तु यह पृथ्वी की भाँति, स्थिति क्रिया में कारण है।
ठहरे हुए जीव पुद्‌गल को, उदासीन उपकारक है॥९३॥

व्याख्यान—जिस प्रकार धर्मद्रव्य का स्वरूप कहा उसी प्रकार स्थित क्रिया से युक्त जीव और पुद्‌गलों को स्थिति में सहायक पृथ्वी के समान अधर्मद्रव्य है। अधर्मद्रव्य का क्षेत्र लोकप्रमाण ही है। धर्म, अधर्मद्रव्य के कार्य में अन्तर है। धर्मद्रव्य गति में, तो अधर्मद्रव्य स्थिति में सहयोगी है, वह भी जीव और पुद्‌गल के लिए ही है, शेष द्रव्यों के लिए नहीं क्योंकि शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं अर्थात् कोई हलन-चलन न करके स्वभाव में ही रहेंगे और वहीं रहेंगे। इनके नाप-तौल में कुछ परिवर्तन नहीं होता इसलिए इन चारों को आचार्यों ने शुद्धद्रव्य घोषित किया है। सिद्धपरमेष्ठी बाद में शुद्ध बने किन्तु ये तो अनादि से ही शुद्ध हैं और अनन्तकाल तक शुद्ध ही रहेंगे। अनन्त जीव और पुद्‌गल गति कर रहे हैं। इसी तरह अनन्त ही जीव और पुद्‌गल स्थित हैं। इन सबकी गति-स्थिति की व्यवस्था के लिए तीनलोक का मंच बना हुआ है, किसी भी प्रकार की अव्यवस्था नहीं है। चाहे दिन के १२ बजे हों या रात के, बिजली हो या न हो इनकी व्यवस्था कभी अव्यवस्थित नहीं हुई, न आगे होगी। **द्रव्यसंग्रह** में पथिक के लिए छाया के समान और यहाँ अधर्मद्रव्य को धरती का उदाहरण दिया है। राहगीर छाया को देखकर बैठ जाते हैं किन्तु जिसे जल्दी है वह नहीं बैठता। छाया कभी पथिक को आईये-आईये

या जाईये-जाईये नहीं कहती As you like जैसा आप चाहो, जबर्दस्ती नहीं करती। उसी प्रकार पृथ्वी पर बैठना चाहो तो बैठ सकते हैं, सर्वत्र धरती फैली हुई है। उस पर कोई पत्थर वगैरह मिल जाए तो पाटे का काम कर जाता है, थोड़ा और ऊँचा मिल जाए तो कुर्सी का काम कर जाता है। विहार के समय यह सारी व्यवस्था मिलती रहती है।

जीव और पुद्‌गल की स्थिति में अधर्मद्रव्य उदासीन कारण—जैसे धर्मद्रव्य रूप-रसादि से रहित है वैसे ही अधर्मद्रव्य भी पञ्चेन्द्रिय के विषय नहीं बनता। पृथ्वी अपने स्वभाव से पहले से ही स्थिर है किन्तु घोड़े आदिक को बलात् नहीं ठहराती, यदि स्वयं ठहरना चाहे तो उदासीन रूप से सहायक होती है। जब साधक निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है तो निश्चय से अपने आप में स्थिति पा लेता है और व्यवहार से पञ्चपरमेष्ठी का गुणानुवाद करने से उनमें स्थिति पा लेता हैं किन्तु बाह्य स्थिति में अधर्मद्रव्य कारण है और निश्चय से अपने ही शुद्ध परिणाम स्व में स्थिरता पाने में कारण है।

संस्मरण—एक बार किसी ने पूछा—महाराज! आप पुरुषार्थ को मानते हैं क्या? हाँ, मानते हैं। हम तो कथञ्चित् वादी हैं। अनेकान्त को समझने वाले हैं। 'नि' अर्थात् निश्चय से निज में यति अर्थात् ठहरना। निश्चय से निजात्मा में ठहरना ही नियति है। इसके बिना मुक्ति नहीं और पुरुषार्थ शब्द में पुरुष का अर्थ है 'आत्मतत्त्व'। आत्मतत्त्व के लिए जो करते हैं वह पुरुषार्थ है। उसी आत्मतत्त्व के लिए साधक दिन-रात पुरुषार्थ करता है। निमित्त के लिए नहीं, उपादान को पुरुषार्थ से जाग्रत करता है। काल के भरोसे नहीं बैठना, वह तो उदासीन है '**कालस्तु हेयः**'। अन्त में यही कहकर उसे सन्तुष्ट किया, वह सन्तुष्ट हुआ या नहीं यह उसकी भगवान् आत्मा जाने, जितना कहना था वह हमने कह दिया। विशेष **मूकमाटी** में नियति और पुरुषार्थ शब्द की व्याख्या सहित लिखा है उसमें पढ़ लेना।

जैन दर्शन के अध्ययन बिना आधुनिक विज्ञान असक्षम—अभी तक जितने भी वैज्ञानिक या विज्ञान के छात्र हो चुके हैं और वर्तमान में विज्ञान के विद्यार्थी या वैज्ञानिक हैं, उन्होंने वर्तमान पदार्थ विज्ञान में कहीं धर्म, अधर्म, आकाश और काल की यथोचित परिभाषा ही नहीं दी। धर्मद्रव्य को ईथर कह दिया जो कोश इत्यादि में देखने से पुद्‌गल की ही परिणति सिद्ध होती है। आकाश को भी प्लेस या स्काई कह दिया, पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं का बोध भी आकाश तत्त्व के अन्तर्गत होता है। इन्होंने कोश के शब्द तो ग्रहण किए किन्तु परिभाषित करने में सक्षम नहीं हो पाए, सक्षम तभी हो पायेंगे जब जैनदर्शन को जानेंगे। जैनदर्शन परिभाषाएँ अवश्य देता है इसी का अर्थ पदार्थ विज्ञान है **पदेन अर्यते गम्यते इति पदार्थः** 'पद' अर्थात् शब्द और अर्थ का मतलब ज्ञान का विषय। जो वर्तमान में है उस पर्याय सहित पदार्थ को जानता है इसीलिए उसका नाम अर्थ है। वह अर्थ मूर्तिक भी हो सकता और अमूर्तिक भी, दृश्य भी हो सकता है अदृश्य भी।

जैनदर्शन में पदार्थ विज्ञान को महत्त्व—जैनदर्शन में पदार्थ विज्ञान अपने आप में अनूठा है। यहाँ परिभाषा बनती है लक्षण निर्धारित किए जाते हैं क्योंकि लक्षण बिना लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। लक्षण साधन नहीं वह ज्ञापक साधन है। कोई भी पदार्थ हो उसका लक्षण अवश्य होता है चाहे जीवद्रव्य हो या कोई जड़ पदार्थ हो। जैनदर्शन में जो विलक्षण परिभाषा है वह अन्यत्र नहीं मिलती। आकाश के बारे में विज्ञान ने तीन शब्द दिये हैं लेकिन एक भी अमूर्त आकाश की सिद्धि नहीं करते, ऐसे शब्द, कोश में नहीं रखना चाहिए। पदार्थ का अर्थ क्या होता है? कम से कम परिभाषा तो देना चाहिए। प्लेस, स्पेस, स्काई या नीलगगन यह सब बोलते हैं; लेकिन पदार्थ के परिचय के लिए सही लक्षण आवश्यक है। जिसे पढ़कर चर्चा कर सकते हैं, कुछ ज्ञान ले सकते हैं, कुछ दे सकते हैं। लक्षण के माध्यम से ही लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। वह कक्ष तुम्हारे लिए है, यहाँ 'कक्ष' का अर्थ जगह है। आज के जो वैज्ञानिक छात्र-छात्राएँ हैं वे बहुत दिन तक भी अध्ययन करें तो भी उससे उन्हें कोई पदार्थ का ठोस ज्ञान नहीं मिलेगा। पुद्‌गल का भी सही लक्षण उन्होंने नहीं दिया चूँकि विज्ञान स्कन्ध तक ही पहुँच पाया है परमाणु तक नहीं।

जैनदर्शन की विशेषता—ऊर्जा (एनर्जी) और करंट दोनों पुद्‌गल की ही अवस्थायें हैं। "**स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्‌गलाः**" यह पुद्‌गल की परिभाषा है चाहे अमेरिका जाओ, इंग्लैण्ड जाओ, स्वर्ग जाओ या नरक जाओ, पुद्‌गल की परिभाषा तो वही रहेगी। "**उपयोगो लक्षणम्**" जीव का यह त्रैकालिक लक्षण है। जैनदर्शन की यही विशेषता है कि वह लक्षण के बिना चलता नहीं। द्रव्य, गुण, पर्याय सबके अपने-अपने अलग-अलग लक्षण हैं। शब्द से बहुत कुछ व्यक्त हो जाता है। विज्ञान जीव को सोल तो कहता है लेकिन पुद्‌गल के साथ जोड़कर कहता है। जैसा बोते हैं, वैसा ही काटते हैं। अब क्या बोते हैं? और क्या काटते हैं? यह पूछने पर विज्ञान का कोई उत्तर नहीं है। **अब्दुलकलाम** ने एक पुस्तक में लिखा कि-मनुष्यों में इतनी स्पर्धा क्यों है? जबकि भगवान् ने जो दिया, सब व्यवस्थित है। इस बात पर हमने सोचा कि वैज्ञानिक होकर भी भगवान् को तो मान रहे हैं। उनका कहना है कि स्पर्धा में ईर्ष्या आदि होती है इसकी अपेक्षा भगवान् की शरण में रहे, यह अर्थ निकलता है।

संस्मरण—अधर्मद्रव्य में धरती का जो उदाहरण दिया, वह व्यापक है। राजस्थान में जब गए थे, तब देखा था दूर-दूर तक वृक्ष नहीं थे, टीले के अलावा कुछ नहीं मिलता। मिल भी जाए तो झुरमुट वाला बबूल का पेड़ या कहीं-कहीं नीम के पेड़, जो ऊँट के लिए खाने के काम आते हैं जिस ऊँट को रेगिस्तान का जहाज कहते हैं। उसकी छाया वहाँ अवश्य मिल जायेगी। न जल मिलेगा, न पेड़ मिलेगा, दीवार के समान ऊँट की छाया मिलेगी। लेकिन धरती सब जगह मिलेगी राजस्थान में भी मिलेगी। मखमल की गादी के समान मिट्टी है जहाँ चने की दाल के बराबर भी कंकर नहीं है, रवा जैसा या मेंदा जैसा पाउडर एक जैसा बिछा हुआ रहता है, वहाँ स्वागत है बैठिए। ऐसी पृथ्वी तो मिल

जाएगी पर छाया हर जगह नहीं मिलेगी इसलिए धरती का उदाहरण व्यापक है।

यहाँ शुद्ध पदार्थ का विषय चल रहा है। जीवादि छह द्रव्यों में पाँच द्रव्य अमूर्त हैं। इसमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य हैं या नहीं, इसके लिए हेतु दिया कि यह अमूर्त हैं, मूर्त नहीं हैं। जिसे हम इन्द्रियों का विषय बना सकें और संवेदन कर सकें, ऐसा नहीं। इसके लिए आगमिक हेतु दिया कि लोक-अलोक के विभाजन में धर्म-अधर्म द्रव्य कारण हैं। यही आगे कहते हैं।

उत्थानिका—धर्म, अधर्मद्रव्य हैं ही नहीं, ऐसा कोई कहता है तो उसका समाधान करते हैं –

जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥९४॥

अन्वयार्थ—(जेसिं) जिसके **(सब्भावदो)** सद्भाव से **(अलोगलोगो)** अलोक और लोक का विभाग **(जादो)** हुआ है **(य)** और **(गमणठिदी)** जीव पुद्गलों की गमन और स्थिति होती है **(दो वि य)** वे दोनों ही धर्म अधर्म स्वभाव की अपेक्षा **(विभत्ता)** परस्पर भिन्न व **(अविभत्ता)** एक जगह रहने से अभिन्न **(य लोयमेत्ता)** और लोकाकाश प्रमाण **(मया)** माने गए हैं।

अर्थ—जिन धर्म, अधर्म द्रव्यों की सत्ता होने से अलोक और लोक का विभाग हुआ है और जीव पुद्गलों की गमन और स्थिति होती है वे दोनों ही धर्म-अधर्मद्रव्य परस्पर भिन्न व एक जगह रहने से अभिन्न और लोकाकाश प्रमाण माने गए हैं।

धर्म-अधर्मद्रव्य की सत्ता, सिद्ध इसी से होती है।
गमन स्थिति पुद्गल जीवों की, क्योंकि इनसे होती है॥
लोक-अलोक विभाग इसी से, धर्म अधर्म रहे दो भिन्न।
लोक प्रमाणी एक जगह पर, रहने से यह कहे अभिन्न ॥९४॥

व्याख्यान—अलोकाकाश का भी अपना स्वभाव है, लोकाकाश का भी अपना स्वभाव है। यह घटाकाश है, यह पटाकाश है ऐसा कहने में आता है। वास्तव में आकाश में वस्तु को रखा है, वस्तु स्वयं आकाश नहीं है। आकाश में तख्त रखा है, तख्त पर चौकी है, उस पर अछार बिछा है, अछार पर किताब के ऊपर पेन्सिल रखी है, उस पेन्सिल को ले आओ। यह स्थान का परिचय दे दिया। आकाश का परिचय नहीं दे सकते लेकिन सबको अवकाश देने की प्रक्रिया तो आकाश की है। आकाश में तो कहीं भी जगह मिल जाएगी लेकिन वहाँ रहना चाहते हैं तो स्थान नहीं मिलेगा। जगह खरीदनी होगी वास्तव में जगह खरीदी नहीं जाती उसमें मिट्टी के अलावा कुछ नहीं खरीद पाते इसलिए कथञ्चित् जगह खरीदी जा सकती है पर आकाश नहीं। चाहे बेचें या खरीदें इन दोनों में क्रय-विक्रय पुद्गल का होता है आकाश का नहीं।

विदेश में धरती के नाप के साथ आकाश का भी नाप होता है। आकाश के नाप का तात्पर्य

यह है कि ५० बाई ५० और ऊपर ५० फीट तक का संरक्षण कर दिया, यह दिमाग की बात है। वास्तव में आकाश को खरीदा नहीं जा सकता, मात्र मिट्टी को खरीदा है। उसमें भी नीचे की मिट्टी को नहीं खरीद सकते, क्योंकि यदि नीचे से कोई खजाना निकले तो उसका नहीं माना जायेगा। कुछ ट्रक मिट्टी तक जमीन उसकी है, आगे नहीं। आजकल तो नयी-नयी जमीन भी बना रहे हैं, जापान में समुद्र पर इस तरह से मिट्टी बिछाते हैं कि सब्जी वगैरह लग जाती हैं। ४-५ इंच जमीन पर भी बेल वगैरह के माध्यम से सब्जी लगा देते हैं। गमले रखकर आम उगा देते हैं। छोटे से स्थान पर ही टमाटर, मिर्च, धनिया आदि उग जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मिट्टी के अलावा कुछ भी खरीद नहीं सकते। आकाश तो एक अखण्ड द्रव्य है इसकी कोई सीमा नहीं बाँध सकता कि जहाँ तक पानी है वहाँ तक लोकाकाश है क्योंकि लोक-अलोक का विभाजन कराने वाले धर्म व अधर्मद्रव्य हैं। यदि यह नहीं होते तो कहाँ तक लोक और कहाँ से अलोक का प्रारम्भ है यह कह नहीं सकते। यहाँ गाथा में '**मया**' की जगह '**अमया**' अर्थात् आकाश, धर्म, अधर्मद्रव्य अकृत्रिम हैं, यह अर्थ भी निकलता है। लोकाकाश के बराबर होने से यह अभिन्न हैं। जहाँ धर्मद्रव्य है वहाँ अधर्मद्रव्य भी है इसलिए अभिन्न हैं। जैसे- मुनिराज में जो रत्नत्रय है, क्या तीनों को अलग-अलग निकालकर बता सकते हैं? नहीं, क्योंकि जितना आत्मद्रव्य का फैलाव है उतना ही इन तीनों का भी है। वैसे ही जहाँ धर्मद्रव्य है वहीं अधर्मद्रव्य भी है इन्हें भिन्न-भिन्न नहीं कर सकते। अनुमान और आगम से लोक-अलोक का विभाजन इन्हीं के कारण है, ऐसा साध्य सिद्ध कर दिया।

अकृत्रिम पदार्थों का चिन्तन—छहों द्रव्यों का जो समूह है वह लोक है। इसके बाहर एकमात्र शुद्ध आकाश है, जिसे अलोकाकाश कहते हैं। नगरों की सीमा को लाँघकर बाहर जाकर देखें तो वहाँ केवल अकृत्रिम वस्तुएँ दिखेंगी, कृत्रिम की कोई गन्ध ही नहीं आयेगी। हमारा मकान कितना बढ़िया है, इनका घटिया है इत्यादि बातें नगरों में ही चलती हैं, नगर के बाहर जंगलों में नहीं। वहाँ पक्षी वगैरह भी रहते हैं, उनके नीड़ आदि बने रहते हैं लेकिन मकान में जो सामग्री लगती है उससे नहीं बनते। दीवार के एक कोने में छोटा-सा कीड़ा अपने रहने का स्थान बनाकर उसी में जाकर बैठ जाता है (उसी में बन्द हो जाता है)। आगाल-प्रत्यागाल का उदाहरण इसी के माध्यम से घटित करते हैं। ऊपर की मिट्टी को नीचे फेंकता है और नीचे की मिट्टी को ऊपर लाता है। स्थिति को बढ़ाना हो तो ऊपर और घटाना हो तो नीचे फेंकता है। कीड़े-मकोड़े के माध्यम से भी कर्मसिद्धान्त सिद्ध कर सकते हैं। चींटी जो बाँमी बनाती है, उसमें सर्प रहने लग जाते हैं। इसकी मुलायम मिट्टी से वैद्य लोग लेप बनाकर फोड़े-फुँसी ठीक कर देते हैं लेकिन ध्यान रखो यह भी किसी का घर है, उसे मत तोड़ो। इससे स्पष्ट है कि अकृत्रिम चीजें बहुत क्षमता से युक्त हैं। छोटी-छोटी बातों में यहाँ राग-द्वेष करते रहते हैं, यदि अकृत्रिम वातावरण में रहें तो बहुत शान्ति अनुभव होगी।

रूस में एक वैज्ञानिक चिकित्सक था उसका एक आर्टिकल पढ़ा था कि-बिना जूते चप्पल

पहने अर्थात् दिगम्बर या नग्न पैरों से मिट्टी पर पैदल चलने में चिकित्सा होती है उसके तत्त्व पैरों से प्राप्त हो जाते हैं। कृत्रिम वस्तुओं को न देखकर अकृत्रिम वस्तुओं को देखें। जब आँखों का ऑपरेशन हो जाता है तब हरे रंग की पट्टी बाँधते हैं, लाल क्यों नहीं बाँधते? क्योंकि वह गर्मी पैदा करती है। यद्यपि आँख बन्द है फिर भी हरी पट्टी ज्योति के लिए उद्योत नामकर्म जैसा कार्य करती है, कश्मीर जैसी हरियाली महसूस होती है। प्राकृतिक वस्तुएँ चिकित्सा में सहायक होती हैं इसलिए राग-द्वेष को कम करना चाहते हो तो अकृत्रिम पदार्थ का चिन्तन करो। प्रायः किसान कृत्रिम नहीं अकृत्रिम वस्तुओं का प्रयोग करता है। अब तो हवा-पानी भी कृत्रिम मिलने लगा है। **कृषि और ऋषि दोनों प्रकृति की गोद में पलते हैं। शेष बोध में जीते हैं, गोद में नहीं।** स्वतः बनी चीज लेना और बनाकर के लेने में अन्तर है। पेड़ पर स्वतः फल लगा, पका और गिर गया; यह निर्दोष फल है जो शुक्ललेश्या का प्रतीक है। शुक्लध्यान के लिए शुक्ललेश्या अनिवार्य है। "**पाल विषै माली**" माली जो पकाता है वह गड़बड़ है किन्तु स्वतः पका फल उठाने से पेड़ को भी कुछ पीड़ा नहीं होती, खाने वाले को भी लाभकारी रहता है और धरती तो कभी मना करती ही नहीं, यह अकृत्रिम है।

जब जबर्दस्ती पकाते हैं तो उसमें वह गन्ध नहीं आती, साइनस की बीमारी है ऐसी बात नहीं है। खाने में वह मिठास नहीं है इसका मतलब जिह्वा में कोई बीमारी नहीं है। इन कृत्रिम फलों को आँतें भी पचा नहीं पातीं, ऐसे फल खाने वाले, न आँतें बचा पाते हैं, न बातें पचा पाते हैं। अर्थात् सही गन्ध, रस आदि पकड़ में नहीं आ पाते हैं। यदि दिमाग आदि शरीर का कोई अंग या इन्द्रियाँ कार्य न करें तो अब अवकाश ले लो अर्थात् खाने योग्य पदार्थ अकृत्रिम हैं या नहीं यह पहले निरीक्षण करें, फिर उपयोग करें। जितना मिले, जब मिले, पर कृत्रिम नहीं, अकृत्रिम मिले, संग्रह (स्टोर) किया हुआ नहीं। अब तो जब तक नहीं बिकता है तब तक आटे से लगाकर सारी वस्तुएँ गोदाम में पड़ी रहती हैं। जबकि सर्दी, गर्मी, वर्षा सबकी अलग-अलग मर्यादा है। आटा या मेंदा है वह कहता है-मैं यानि मुझको, दा यानि दे दो, रवा को रवाना कर दो। मर्यादा के बाहर रखोगे तो जीव पड़ जायेंगे। अकृत्रिम चैत्यालय भी हैं, अनादि से हैं अनन्तकाल तक रहेंगे परन्तु यहाँ जो चैत्यालय बन रहे हैं उनकी एक स्थिति है। नन्दीश्वर इत्यादि अकृत्रिम चैत्यालय की **श्री वीरसेन आचार्य** ने महिमा गायी है। वहाँ ५००-५०० धनुष की एक-एक प्रतिमा विद्यमान है तो मन्दिर कितना ऊँचा, लम्बा, चौड़ा होगा? इनका नाप-तौल भी बताया है "**शिल्पिविकल्पित कल्पन संकल्पातीत कल्पनैः समुपेतैः**" इस पंक्ति को पढ़ने से लगता है कि **आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी** ने कैसी कल्पना की है। इस काव्य कला से ऋद्धि-सिद्धि की परिकल्पना की जा सकती है कि आत्मा का वैभव अपरम्पार है। द्रव्य तो अकृत्रिम है ही लेकिन मन्दिर भी बनाये नहीं गए किन्तु बने हुए हैं। यहाँ आकर इन्द्र भी कल्पना से परे हो जाता है। समवसरण रचने वाला कुबेर, जिस इन्द्र की आज्ञा से रचता है उसका भी अभिमान चूर हो जाता है, जब वह अकृत्रिम चैत्यालय का दर्शन करता है, यदि धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य को नहीं

मानते तो लोक के बाहर भी जीव और पुद्‌गलों की गति होती अर्थात् सिद्धप्रभु भी १४ राजू से आगे चले जाते और आगे जाने से उन्हें कोई रोक भी नहीं पाता। लेकिन लोकालोक विभाग होने से स्पष्ट है कि धर्म, अधर्मद्रव्य हैं और लोक तक ही हैं। जिस प्रकार एक जीव में ज्ञानोपयोग भी है, दर्शनोपयोग भी है उसी प्रकार एक ही लोक में धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य दोनों हैं। दोनों एक ही लोक में रहकर भी पृथक् हैं, कार्य भी दोनों के अलग-अलग हैं और एक ही क्षेत्र में रहने के कारण असद्‌भूत व्यवहारनय की अपेक्षा सिद्धराशि के समान अभिन्न भी हैं। क्रिया से रहित होकर सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं अतः लोक के बराबर हैं।

उत्थानिका—धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य प्रेरक होकर गति-स्थिति में कारण नहीं हैं अत्यन्त उदासीन हैं यह बताते हैं—

ण य गच्छदि धम्मत्थी गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स।
हवदि [1]गदिस्स य पसरो जीवाणं पुग्गलाणं च॥९५॥

अन्वयार्थ—(धम्मत्थी) धर्मास्तिकाय **(ण य गच्छदि)** न तो स्वयं गमन करता है **(ण अण्ण-दवियस्स गमणं करेदि)** न दूसरे द्रव्यों को प्रेरक होकर गमन कराता है तो भी **(जीवाणं पुग्गलाणं च)** जीव और पुद्‌गलों की **(गदिस्सय)** और गति में **(पसरो हवदि)** उदासीन रहकर प्रवर्तक या निमित्त होता है।

अर्थ—धर्मास्तिकाय न तो स्वयं गमन करता है, न दूसरे द्रव्यों को गमन कराता है तो भी यह जीवों की और पुद्‌गलों की गति में उदासीन निमित्त होता है।

यह धर्मास्तिकाय द्रव्य जो, स्वयं गमन ना करता है।
अन्य और द्रव्यों को भी जो, ना यह गमन कराता है॥
फिर भी जीव और पुद्‌गल को, गति प्रसारक होता है।
और अधर्मद्रव्य भी स्थिति में, निमित्त मात्र कहाता है॥९५॥

व्याख्यान—धर्मद्रव्य स्वयं गमन नहीं करता किन्तु गमनशील जीव और पुद्‌गलों को गमन करने में हेतुभूत है। न स्वयं गमन कर रहा है, न अन्य को गमन करा रहा है ये दोनों ही बातें धर्मद्रव्य में हैं। अर्थात् धर्मद्रव्य स्वयं भी गमन नहीं कर सकता और अन्य को करा भी नहीं सकता बल्कि जो गमन करने में सक्षम हैं, उन्हें हेतुभूत है। गति का दर्शन हम जीव और पुद्‌गल के माध्यम से करते हैं, धर्म-अधर्म द्रव्यों के माध्यम से नहीं। गति का सम्बन्ध जीव और पुद्‌गलों के साथ है न कि धर्मद्रव्य के साथ है। जैसे-घोड़ा स्वयं दौड़ रहा है और अपनी पीठ पर बैठे व्यक्ति को भी दौड़ाता हुआ ले जा रहा है। अर्थात् वह स्वयं की और उस व्यक्ति की दोनों की गति में कारण है। धर्मास्तिकाय ऐसा नहीं है कि अपनी पीठ पर बैठा ले और भाग जाए या स्वयं एक ही स्थान पर रहकर हाथी के

१. गदी सप्पसरो

समान सूँड उठाकर जहाँ गमन कराना हो वहाँ तक करा दे, रुकना हो तो रोक दे, ऐसा भी नहीं है। वह एकमात्र रेल के लिए पटरी या मछली के लिए जल के समान काम करता है। जैसे स्वयं ठहरा हुआ होकर भी मछली आदि के लिए उदासीन रूप से निमित्त हो जाता है, उन्हें प्रेरित नहीं करता। बैठना चाहो तो बैठ जाओ, उठना चाहो तो उठ जाओ इसके लिए धरती और जल कुछ कहते नहीं। यद्यपि धर्मास्तिकाय उदासीन है एक जगह पर आसीन है और गमनशील जीव और पुद्गल हैं। गमन और शील दो शब्द हैं जिनमें शील का अर्थ स्वभाव है। गमन स्वभाव वाले जीव और पुद्गल हैं, न कि धर्मास्तिकाय। शील प्रत्यय स्वभाव के अर्थ में है। जैसे–यह वैभवशाली है, पुण्य के कारण जो वैभव है उस वैभव को वैभवशाली नहीं कहा, उस आत्मा को कहा है। धन को धनी नहीं कहा, ज्ञान को ज्ञानी नहीं कहा। उसी प्रकार धर्मद्रव्य स्वयं गमनशील न होकर भी, गमनशील जीव व पुद्गल के गमन में, उदासीन रूप से सहयोगी है। अधर्मद्रव्य भी इसी तरह स्थिति में कारण बन जाता है। यही श्री कुन्दकुन्दस्वामी का अभिप्राय है। यह सब श्री जयसेन महाराज जी की कृपा से ज्ञात हो रहा है, अन्यथा श्री कुन्दकुन्दस्वामी तो उदासीन बैठे थे मालूम ही नहीं पड़ता कि यह महान् ग्रन्थ उनके द्वारा रचित है क्योंकि ग्रन्थ के अन्त में भी उन्होंने अपना नामोल्लेख नहीं किया। श्री जयसेन महाराज ने यह महान् कार्य किया, यदि टीका में इनका नामोल्लेख नहीं करते तो पता ही नहीं चलता। ''**बिन जाने तैं दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये**'' वस्तु के बारे में जानकारी होने पर ही हेय क्या? उपादेय क्या? यह ज्ञात होता है। शरीर के गुण-धर्म जानकर ही भेद रूप ज्ञान होता है।

शंका—धर्म-अधर्म द्रव्यों को जानने से क्या लाभ है ?

समाधान—कोई न कोई ऐसी चीज है जो गमन और स्थिर होने रूप दोनों क्रियाओं में मदद कर रही है, जो गति व स्थिति करने वाले द्रव्यों से भिन्न है, वह कोई ईश्वरीय शक्ति तो है नहीं। ईश्वर के प्रति सभी आस्तिकों की वैज्ञानिक अब्दुलकलाम साहब की भाँति आस्था विद्यमान है। काल को भी मानो या ना मानो वह दिख नहीं रहा, पर वह है। टाईम-टाईम सब लोग कहते हैं इसके लिए घड़ी देखते हैं। घड़ी अर्थात् संकेत देने वाली, जो संकेत दे रही है कि आज का समय हो गया है।

उत्थानिका—अब उपादान की मुख्यता से धर्म-अधर्मद्रव्य गति-स्थिति हेतुत्व नहीं हैं, उदासीन हेतु हैं यह बताते हैं–

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥९६॥

अन्वयार्थ—(जेसिं) जिनका **(गमणं)** गमन **(पुण)** तथा **(ठाणं)** ठहरना **(विज्जदि)** होता है **(तेसिमेव)** उन्हीं का [गमन व ठहराव] **(संभवदि)** सम्भव है **(ते)** वे [जीव और पुद्गल] **(सगपरिणामेहिं दु)** अपनी ही गमन और स्थिति के परिणमन की शक्ति से **(गमणं ठाणं च)** गमन और ठहराव **(कुव्वंति)** करते हैं।

अर्थ—जिन जीव और पुद्‍गलों की गति होती है उन्हीं के फिर स्थिति होती है। (और जिन्हें स्थिति होती है उन्हीं को फिर गति होती है।) वे (गति-स्थितिमान पदार्थ) तो अपने परिणामों से गति और स्थिति करते हैं।

जिन द्रव्यों की गति होती है, उनकी ही फिर स्थिति होती।
जिन द्रव्यों की स्थिति होती है, उनकी ही फिर गति होती॥
गति-स्थितिमान पदार्थ रहे दो, जाना यह जिनवाणी से।
स्वयं गमन और स्थिर होते हैं, उपादान की दृष्टि से॥९६॥

व्याख्यान—जिसके पास गति करने की क्षमता है उसके पास रुकने की भी क्षमता है। जो गाड़ी चलाता है उसे ब्रेक लगाना भी आता है अन्यथा जोखिम हो सकता है। कोई कहे कि हम बैठ नहीं सकते, चल सकते हैं या चल नहीं सकते, बैठे रह सकते हैं; यह तो फिर भी सम्भव है लेकिन जो गमन कर रहा है वह रुक नहीं सकता, यह समझ में नहीं आता। धर्म-अधर्मद्रव्य गति व स्थिति में प्रेरक कारण नहीं हैं, केवल उदासीन निमित्त हैं, यही तात्पर्य है। जिसके पास ज्ञान है उसके पास जानने की क्षमता है और पदार्थों के पास प्रमेयत्व गुण होने से ज्ञान का विषय होने की क्षमता है किन्तु नियम से बन ही जाए, ऐसा नहीं। अब देखो (पेन्सिल उठाकर) इसे देखने से ही यह पेन्सिल है, ऐसा मन में विचार उत्पन्न होता है। कोई दुख की बात सुनते ही रोने लगता है, सुख की बात सुनते ही फूल जाते हैं और कोई रोने या हँसने की बात नहीं सुनने पर भी वेदी में भगवान् के समान वैसे ही शान्त बैठे रहते हैं जैसे साक्षात् तीर्थंकर भगवान् समवसरण में बैठे मिलते हैं। पर अब इतना ही भाग्य में है कि स्थापना के रूप में भगवान् मिल रहे हैं। कोई भी वस्तु हठात् न हँसाती है, न रुलाती है, वस्तु इन दोनों कार्यों में उदासीन है। यदि वस्तु हँसाती-रुलाती तो भगवान् को भी हँसा देती, रुला देती लेकिन ऐसा नहीं होता। तीन लोक के सारे पदार्थ वे देख रहे हैं और जान रहे हैं किन्तु वीतरागी होने से प्रभु हँसते नहीं और रोते भी नहीं। देखना-जानना पदार्थों पर आधारित नहीं है यह स्वभाव है, वैसे ही जीव व पुद्‍गल स्वयं ही गति-स्थिति करते हैं यह इस गाथा का तात्पर्य है।

पदार्थों में उपयोग जाने पर ही संकल्प-विकल्प होते हैं—कुछ देखने-सुनने में आ गया हो अथवा पञ्चेन्द्रिय के विषय का निमित्त मिला हो तभी कोई विकल्प मन में आ जाता है। जैसे-टेपरिकार्डर में कैसिट फिट कर दी लेकिन बटन नहीं दबाया तो क्या सुनाई देगा? एक सज्जन कल आकर कह रहे थे कि हमारे पास हजारों प्रवचनों का संकलन है। महाराज! रखना चाहो तो रख लो, जब चाहो तब प्रवचन कर लेना। तो हमने कहा-हम क्या करेंगे? इसके साथ तो टेपरिकार्डर भी रखना पड़ेगा, फिर लाइट, सेल सब चाहिए और चलाने वाला भी चाहिए। ऐसा थोड़े ही है कि यहाँ टेप रखते ही स्वतः सुनाने लग जायेगा। इसमें बहुत सारी चीजें भरी हैं आमोद-प्रमोद की भी हैं, दिशाबोध की भी हैं। यदि बजा भी दे तो जब हमारा उपयोग उस ओर जायेगा तभी सुन पायेंगे। मानलो ४-५

व्यक्तियों को प्रशिक्षित करके भेज दिया कि वहाँ-वहाँ बजाना। अब कहाँ-कहाँ से बचेंगे? कहने लगते हैं महाराज! आप सुनो या मत सुनो, भले सामायिक करते रहो हम तो अपनी बात सुनायेंगे क्योंकि सुनाने से हम हल्के हो जाते हैं। तो हमने कहा-दीवार को सुना दो। तो कहते हैं-दीवार के सामने नहीं हम तो आप ही को सुनायेंगे। नहीं सुनने का, आपका कोई व्रत नहीं है, हम तो सुनायेंगे। ऐसी स्थिति में क्या करेंगे? ऐसी स्थिति में पर की उपेक्षा करके सामायिक में बैठ जायेंगे तो कर्म निर्जरा कर लेंगे। अब कोई सामायिक में बिल्कुल सामने देखता हुआ मात्र एक फीट के अन्तर में बैठ जाए और कहे कि मैं भी सामायिक कर रहा हूँ। ऐसी स्थिति में क्या करेंगे? आँखें बन्द कर लेंगे। यदि सहज बैठे रहेंगे तो कोई बाधा नहीं आयेगी। पदार्थों में उपयोग को ले जाते हैं अर्थात् बटन दबाते हैं तो संकल्प-विकल्प हो जाते हैं। इनसे बचना है तो बटन मत दबाओ, यही आन्तरिक साधना है।

मानलो सामने सुगन्धित पदार्थ रख दिया तो क्या करेंगे? एक ही बार भोजन करने का नियम है वह भी श्रावक देगा, तभी करेंगे। लेकिन उसने अच्छे-अच्छे पकवान बनाकर तखत पर रख दिए और कहता है कि आपको देवता मानकर चढ़ाने लाया हूँ, आपके बिना और मैं किसे चढ़ाऊँ? दक्षिण में कुछ लोग धूप आरती करते हैं अर्थात् उठते हुए धूप के धुएँ को हाथ से भगवान् की तरफ करते हैं ताकि भगवान् तक पहुँच जाए। जैसे- प्राण प्रतिष्ठा में सूरीमन्त्र देते समय फूँकने की क्रिया आ गई लेकिन हम तो नहीं फूँकेंगे क्योंकि फूँकते समय मुख में जो थूँक आदि के कण हैं वह उन्हें छू सकते हैं। वह स्थापना से शुद्धद्रव्य है केवलज्ञान होने वाला है इसीलिए फूँकने का कोई मतलब नहीं है, यह मात्र धारणा है। फूँकने का अर्थ भावों के द्वारा मन्त्र उच्चारण करना है, इतना ही पर्याप्त है। जहाँ पञ्चेन्द्रिय के विषय आते हैं उसमें बिल्कुल रुक जाइये, उसे स्वीकार नहीं करेंगे तो कुछ भी नहीं होगा। यदि सामने वाला व्यक्ति नहीं मानता है तो उसे विकल्प न हो इसलिए उस स्थान से हट जाएँ, इतना कर सकते हैं। चाहें तो स्वयं इन्द्रिय विषयों से बच सकते हैं। अपने उपादान के माध्यम से ही जीव और पुद्गल स्थिति व गमन रूप कार्य करते हैं। वस्तुगत क्रिया है, परिणाम है यह महत्त्वपूर्ण रहस्य है। इन परिणामों से अवगत होकर पुरुषार्थ बढ़ाना है। अन्यथा निमित्तों से कब तक लड़ते रहेंगे? निमित्तों की तो भरमार है, बेशुमार हैं, अनन्त हैं। यह रहस्य समझ में आते ही आन्तरिक पुरुषार्थ या साधना प्रारम्भ हो जाती है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कैसे और कब—शुभोपयोग में इष्टानिष्ट कल्पना उठे बिना रह ही नहीं सकती और इष्टानिष्ट कल्पना से ऊपर उठे बिना शुद्धोपयोग की झलक आ ही नहीं सकती। देशना आदि जो लब्धियाँ हैं, उनमें अपना उपादान यदि जाग्रत है तभी सम्यग्दर्शन होगा, Admission के बिना Permission नहीं हो सकता। भगवान् की दिव्यध्वनि के द्वारा भी सम्यग्दर्शन हो ही जाए यह नियम नहीं है। यदि प्रभु की दिव्यध्वनि का स्मरण भी हो तो कालान्तर में भी सम्यग्दर्शन का कारण बन सकती है। यदि ध्वनि भी नहीं सुनी और स्मरण भी नहीं किया अर्थात् बटन नहीं दबाया तो कुछ

नहीं होगा, बटन दबाने के लिए स्वतंत्र हैं। यदि कोई सुनना नहीं चाहे तो जबर्दस्ती घुट्टी नहीं पिलाई जाती। जैसे–छोटे बच्चों को कर्त्तव्य समझकर पिला देते हैं। वह किसी प्रकार का प्रश्न भी नहीं करता है, दर्द होने पर भी हँस जाता है, पेट भरते ही सो जाता है, लेकिन अब समझदार हो गया तो सोता नहीं है। बच्चों का मन जल्दी मान जाता है लेकिन आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के पहले उन्हें सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता। अब तो ८० वर्ष वाले को भी बहुत याद रहता है लेकिन जो भी अच्छी बातें हैं, वह याद नहीं रहतीं।

पुण्य-पाप की विशेष परिभाषा–जो पुण्य से बचाए उसी का नाम '**पाप**' है और जिसके द्वारा आत्मा पवित्र हो उसका नाम '**पुण्य**' है। पाप रक्षा करता है तो जो रक्षा करता है वह क्या अच्छा माना जायेगा? नहीं। पुण्य से या धर्म से जो रक्षा करे अर्थात् वहाँ जाने न दे वह अच्छा नहीं हो सकता। यह सब परिणामों का ही रहस्य है।

धर्म और अधर्मद्रव्य मुख्य हेतु नहीं उदासीन हेतु हैं–धर्म व अधर्मद्रव्य गति और स्थिति में जो हेतु हैं वह कहीं पर भी कभी भी नहीं छूटता। लेकिन यह मुख्य हेतु नहीं है और यदि सहायक कारण या हेतु भी हो जाए तो धर्मद्रव्य कहेगा हम तो गति देंगे। जहाँ तक हम हैं वहाँ तक चलो हम इसी के लिए नियुक्त हैं। तब अधर्मद्रव्य कहेगा हम क्या कमजोर हैं? हम ठहरायेंगे क्योंकि हम रोकने के लिए ही बैठे हैं, ऐसी स्थिति में उदासीनता समाप्त हो जायेगी। इसलिए गति व स्थिति के लिए यह मुख्य हेतु नहीं है। इससे स्पष्ट है निश्चय से अपने उपादान से, अपने परिणामों के द्वारा ही स्वयं जीव और पुद्गल गति व स्थिति करते हैं। इसलिए इससे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य भिन्न होने से हेय हैं। निर्विकार एक चिदानन्द स्वभाव रूप शुद्ध आत्मतत्त्व ही उपादेय भूत है। तत्त्वज्ञान की अपेक्षा ज्ञेय भी है। निर्विकल्प समाधि में स्वात्म तत्त्व को छोड़कर अन्य द्रव्य का आलम्बन नहीं लेते हैं। इस प्रकार धर्म व अधर्मद्रव्य की उभय व्यवस्था बताने के लिए तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं। और इन सात गाथाओं तक तीन स्थल द्वारा पञ्चास्तिकाय और छह द्रव्य का प्रतिपादक प्रथम महाधिकार में धर्म, अधर्मद्रव्य के व्याख्यान को लेकर छट्ठा अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

अब आकाशद्रव्य का सात गाथा तक वर्णन करेंगे जो शुद्ध आत्मतत्त्व से बिल्कुल भिन्न है। उसी आकाश में सभी बैठे हैं लेकिन अपने आत्मतत्त्व के बारे में जानने का लक्ष्य होना चाहिए। इन सात गाथाओं में से प्रथम दो गाथा में लोकाकाश-अलोकाकाश के स्वरूप कथन की मुख्यता हैं।

शंका–आकाश द्रव्य ही गति-स्थिति करा देगा, धर्म-अधर्मद्रव्य की क्या आवश्यकता है?

समाधान–आकाश तो केवल अवकाश प्रदान करता है यह कथन करते हुए चार गाथाएँ हैं। उसके उपरान्त धर्म, अधर्म और लोकाकाश इनका एक क्षेत्रावगाह और समान प्रमाण होने से असद्भूत व्यवहारनय से एकत्व है किन्तु निश्चयनय से पृथक्त्व है, इस प्रतिपादन की मुख्यता से एक गाथा है। इस प्रकार सात गाथाओं के द्वारा तीन स्थल में आकाश अस्तिकाय के व्याख्यान की

समुदाय रूप उत्थानिका हुई।

स्वरूप के बिना पदार्थ की पहचान नहीं होती—प्रत्येक पदार्थ के अपने-अपने स्वरूप होते हैं क्योंकि स्वरूप के बिना ज्ञान नहीं हो सकता है, पदार्थ विज्ञान इसी को बोलते हैं। सबका अपना-अपना पता होता है। अपना पता क्या है? मान लीजिए विदेश से पत्र लिख रहे हैं तो पहले भारत लिखेंगे, फिर मध्यप्रदेश या उत्तरप्रदेश लिखेंगे, फिर नगर, गली के नाम के बाद अपना नाम लिख देते हैं। यदि अपने नाम के ३-४ लोग और हों तो घर और मोबाइल का नम्बर लिख देते हैं। नाम अर्थात् निर्देश आदि से स्वरूप का कथन करते हैं। स्वरूप जानने के लिए सभी बातें जानना आवश्यक है। ज्ञान के द्वारा धर्म, अधर्म, आकाश, काल के बारे में कह तो सकते हैं किन्तु स्वरूप के बिना पहचान नहीं कर सकते और बिना पहचान किए कैसे स्वीकार करेंगे? एक दीपक में ऊपर तक तेल भर दें तो वह जल नहीं सकता उसमें हवा भी चाहिए। उसी प्रकार आकाश के समान धर्म-अधर्म आदि सभी द्रव्य अपना-अपना कार्य करते हैं।

चार्वाकमती जब जीव को ही स्वीकार करने को तैयार नहीं तो आकाश को कहाँ मानेगा? वह कहता है कि-सब केवल भौतिकी पुद्‌गल (मेटर) है और कुछ नहीं है इसलिए जब तक जीओ सुख से जीओ, उधार करके भी मजे से खाओ क्योंकि मरने के बाद कुछ है ही नहीं। इसलिए क्या कर्ज? और क्या फर्ज? कुछ भी नहीं है। जब चार्वाकमती परलोक को मानते ही नहीं तो नरकादि को क्यों मानेंगे? उसी तरह अन्य द्रव्यों को भी नहीं मानते। वे कहते हैं कि अपनी ओर से लोगों ने अपनी परिभाषा बना ली कि हम उदार हैं इसलिए कर्ज चुका रहे हैं जो आज की चिन्ता न करके कल की चिन्ता करते हैं वे उधार नहीं दे रहे हैं। ऐसा भी कहते हैं कि परलोक का डर दिखाकर सब काम करा रहे हैं कि-नरक में कुँए हैं, घोर अंधकार है, मार-काट है और स्वर्ग में सुख है प्रकाश है इत्यादि लेकिन यहाँ और वहाँ कुछ है ही नहीं। यही सही है, एक बार हमारी बात मान लो, ऐसा वह कहते हैं जो कई लोगों को ठीक लगने लगता है कि अब पाँच द्रव्यों को मानना नहीं चाहिए। जब परलोक है ही नहीं तो परलोक जाने के कारण हो ही नहीं सकते हैं, ऐसी उनकी मान्यता है।

उत्थानिका—अब आकाश द्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान करते हैं-

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥९७॥

अन्वयार्थ—(सव्वेसिं) सभी **(जीवाणं)** जीवों को **(तह य)** तथा **(पुग्गलाणं)** पुद्‌गलों को **(च)** और **(सेसाणं)** शेष [धर्म, अधर्म व काल] को **(जं)** जो **(विवरं)** अवकाश **(देदि)** देता है **(लोए)** इस लोक में **(तं)** वह **(अखिलं)** संपूर्ण **(आयासं)** लोकाकाश **(हवदि)** होता है।

अर्थ—जो सर्व जीवों, पुद्‌गलों और शेष धर्म, अधर्म व काल को अवकाश देता है, वह आकाश लोकाकाश है।

षड् द्रव्यात्मक सर्व लोक में, जीव और सब पुद्गल को।
जो देता है स्थान काल को, और शेष सब द्रव्यों को॥
अवगाहन देने वाले को, जिनवर ने आकाश कहा।
अमूर्त और अचेतन है यह, विशुद्ध क्षेत्र स्वरूप रहा॥९७॥

व्याख्यान—जो जीव, पुद्गलादि सभी द्रव्यों को अवकाश देता है वह आकाश द्रव्य है। श्रीशिवकुमार महाराज ने श्री कुन्दकुन्दाचार्य से पूछा—हे भगवन्! लोक असंख्यात प्रदेशी है, इसमें नित्य निरञ्जन ज्ञानमय परमानन्द एक लक्षण वाले अनन्त जीव विद्यमान हैं, उससे भी अनन्तगुणे पुद्गल हैं और एकप्रदेशी असंख्यात कालाणु व असंख्यातप्रदेशी धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य भी वहीं कैसे अवकाश प्राप्त करेंगे? आचार्य भगवन् कहते हैं कि—एक घर में जैसे अनेक दीपकों का प्रकाश समा जाता है। जैसे एक घट में ऊँटनी का दूध भरा हुआ है उस ऊँटनी के दूध में राख, सुई इत्यादि और समा जाती हैं। घण्टी से आवाज निकलती जाती है और समाहित होती जाती है, घण्टी भले ही टूट जाए पर आवाज समाहित होती रहती है। उसी प्रकार असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में सब समा जाते हैं। छोटे से मस्तिष्क में दुनिया भर की स्मृति भरती जाती है, स्मारिका के समान भरता जाता है। आइन्स्टीन का १७ प्रतिशत दिमाग काम करता था।८३ प्रतिशत तो उपयोग में आया ही नहीं। मोक्षमार्ग में वैसे मन की आवश्यकता है ही नहीं, यदि १ प्रतिशत भी मन में विकल्प का कार्य चलेगा तो शुद्धोपयोग नहीं होगा, '**मा चिंतह**' कहा है। आज के पढ़े लिखे व्यक्तियों को चिन्ता ज्यादा रहती है लेकिन जब चिन्ता नहीं होगी तभी ध्यान होगा, '**इणमेव परं हवे झाणं**' कहा है। इन्द्रिय द्वार को तो बन्द कर दिया लेकिन मन से सोच रहे हैं। सोचने की क्या आवश्यकता है? सोचने से बहुत दूर तक पहुँच जाओगे, इससे तो देखना अच्छा है उतने ही स्थान में रहोगे। मन की स्थिरता के लिए जिनबिम्ब देखने से वहीं तक मन सोचेगा, अन्यथा बहुत दूर की गहराई से सोचेगा। मन एक सेकेण्ड में सर्वार्थसिद्धि पहुँच जाता है, अलोकाकाश में पहुँच जाता है। एक सेकेण्ड भी नहीं लगता कहाँ से कहाँ पहुँच जाता है। एक सेकेण्ड में भी असंख्यात समय हो जाते हैं। मन को आशु गति अर्थात् सबसे ज्यादा वेग वाला कहा है इसलिए **समयसार** में कहा है—

विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा।
सो जिणणाण पहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२५१॥

विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर जो मन के वेग को मारता है वह प्रभावना अंग का धारक होता है, ऐसा निर्जराधिकार के उपसंहार में कहा है। मनोवेगरूपी विद्यारथ पर आरूढ़ होकर मन के वेग को रोककर शिवपुर जाना है। वहाँ से लौटकर नहीं आना ही प्रभावना अंग है।

उत्थानिका—भगवान् कहते हैं लोक छहों द्रव्यों का समुदाय है और आकाश के पास अनन्त प्रदेश हैं। अब लोक के बाहर अलोकाकाश है उसका स्वरूप कहते हैं—

जीवापुग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदोणण्णा।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अंतवदिरित्तं॥९८॥

अन्वयार्थ—(जीवा) जीव, **(पुग्गलकाया)** पुद्‌गल काय **(धम्माधम्मा)** धर्म, अधर्म द्रव्य **(य)** और असंख्यात कालद्रव्य **(लोगदो)** इस लोक से **(अणण्णा)** बाहर नहीं है। **(तत्तो)** इस लोकाकाश से **(अणण्णं)** जो जुदा नहीं है ऐसा **(अण्णं आयासं)** अन्य आकाश **(अंतवदिरित्तं)** अंत रहित [अनंत] अर्थात् लोक अलोक दोनों जगह व्याप्त है।

अर्थ—अनन्त जीव, अनन्त पुद्‌गल स्कन्ध व अणु, धर्म व अधर्मद्रव्य तथा असंख्यात काल द्रव्य इस लोक से बाहर नहीं हैं। लोकाकाश से अनन्य ऐसा शेष आकाश अन्तरहित अनन्त है।

अनन्तजीव व अनन्त पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, काल ये द्रव्य।
नहीं लोक से बाहर हैं ये, अतः लोक से कहे अनन्य॥
किन्तु अलोकाकाश नन्त है, पाँच द्रव्य से रहित रहा।
मात्र एक आकाश द्रव्य वहँ, अतः ग्रन्थ में अन्य कहा॥९८॥

व्याख्यान—लोक के बाहर कहीं भी जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म और कालद्रव्य नहीं हैं। गाथा में 'य' से कालद्रव्य का ग्रहण करना है। एक अखण्ड आकाशद्रव्य लोक से जुदा न होने की अपेक्षा से अनन्य है और पाँचों द्रव्यों से अन्यत्व भी है। अलोकाकाश अन्त रहित है। लोकाकाश में एक भी स्थान ऐसा नहीं, जहाँ पर जीवादिक न रहते हों। ये द्रव्य लोकाकाश के बाहर नहीं जा सकते, इसलिए भी अनन्य हैं। इससे अन्य केवल अलोकाकाश है। यहाँ यद्यपि सामान्य से सभी पदार्थों से बने लोक से अनन्यपना है फिर भी निश्चय से अमूर्तिक केवलज्ञानयुक्त सहज परमानन्द नित्य निरञ्जन आदि लक्षण वाले जीवों का शेष द्रव्यों से अस्तित्व भिन्न है और अपने-अपने लक्षण की अपेक्षा शेष द्रव्यों का भी जीव से भिन्नत्व है। जैसे अन्य लोगों से अपने अस्तित्व को भिन्न रखने के लिए अपना नाम, पता आदि अपनी पहचान पृथक् रूप से रखते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में आज तक मिला नहीं। कितनी ही मिलाने की कोशिश करो पर वह मिल भी नहीं सकता क्योंकि उसका अस्तित्व भिन्न है, अपना अस्तित्व भिन्न है। यदि एक अस्तित्व दूसरे अस्तित्व में मिल जाता तो अब तक सब भगवान् में मिल जाते। कितना अच्छा होता कि बिना पुरुषार्थ के ही काम हो जाता लेकिन आज तक ऐसा नहीं हुआ इसलिए ऐसी भावना भी मत करो क्योंकि भावना भी वही करो जो हो सकता है।

शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध हैं—"सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" शुद्धनय से सभी जीवों को शुद्ध कह सकते हैं लेकिन एकान्त से नहीं। भव्य-अभव्य दोनों का एक लक्षण नहीं है। हाँ, जीव एक जैसे हैं। दूरान्दूर भव्य को अभव्य जैसा कह सकते हैं इसमें कोई बाधा नहीं क्योंकि वह कभी मुक्त नहीं होगा। **षट्‌खण्डागम ग्रन्थ** में सूत्र आया था कि-**"भव्यापेक्षा अनाद्यनिधनं"** यह भव्य

अभव्य के समान ही है। इनकी राशि भी अलग से वहाँ कही है। व्याकरण की अपेक्षा देखें तो अभव्य नहीं कह सकते क्योंकि भव्य का अर्थ है "**भवितुं योग्यं भव्यः**" होने की योग्यता वाला भव्य है और "**न भवितुं योग्यम् इति अभव्यः**" पहले शब्द को व्याकरण से सिद्ध करो फिर अर्थ की ओर जाओ। देखो, यह अर्थ बताते ही सब जाग गए कि सभी द्रव्यों में होने की योग्यता है या नहीं? व्याकरण से सिद्ध है जिसमें होने की योग्यता है, वह भव्य है। अब सिद्धान्त में जिसके पास सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के माध्यम से मुक्त होने की योग्यता है उन्हें अनादि-सान्त कहा और जिनके संसार का अन्त नहीं होता, उन अभव्य जीवों के लिए अनादि-अनन्त कहा। भव्य-अभव्य इन दोनों मार्गणाओं का अलग-अलग ढंग से चित्रण किया है। आचार्यों ने एक ऐसी भी महासत्ता की व्यवस्था की जहाँ छहों द्रव्यों को मात्र सत् कह दिया। द्रव्यों के भेद विकल्प के कारण हैं, सत् में शान्ति है। भव्य-अभव्य आदि कोई विशेषण नहीं लगाना। विशेषण लगाने से माथा गरम हो जाता है। **सिर ठण्डा रखना है तो ठण्डे पानी की पट्टी लगाने की कोई आवश्यकता नहीं, महासत्ता की पट्टी लगा दो जो कभी फटती भी नहीं।** शान्त होकर बैठ जाओ। 'ना' भी मत कहो, 'हओ' भी मत कहो क्योंकि थोड़ा-सा बोलते ही बोलने की बीमारी लग जाती है। इसलिए पहले देखो यह जीव है, यह पुद्गल है, ऐसा भेद मत करो। यह भव्य है, यह अभव्य है ऐसा भेद न करके "**सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया**" इस शुद्धनय से देखो तो सब शुद्ध हैं।

उत्थानिका—जिस प्रकार आकाश जीवादि पदार्थों को अवकाश देता है उसी प्रकार गति व स्थिति का कारण क्यों नहीं कह सकते? इसके दूषण बताते हैं –

आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि।
उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठंति किध तत्थ ॥९९॥

अन्वयार्थ—**(जदि)** यदि **(आगासं)** आकाश द्रव्य **(गमणट्ठिदि-कारणेहिं)** गमन और स्थिति में सहायता के साथ **(अवगासं)** अवकाश **(देदि)** भी देता है, तो **(किध)** किस तरह **(सिद्धा)** सिद्ध भगवान् **(उड्ढं गदिप्पधाणा)** ऊर्ध्वगति प्रधान **(तत्थ)** वहाँ [लोक के अग्रभाग में] **(चिट्ठंति)** ठहर सकते हैं?

अर्थ—यदि आकाश द्रव्य गमन और स्थिति का हेतु होता हुआ अवकाश देता हो (अर्थात् यदि आकाश अवकाश हेतु भी हो और गति स्थिति हेतु भी हो) तो ऊर्ध्वगति प्रधान सिद्ध लोकाग्र में क्यों स्थिर हों ? (आगे गमन क्यों न करें?)

धर्म-अधर्मद्रव्य को गति औ, स्थिति का कारण क्यों कहते।
अवगाहन दाता को गति औ, स्थिति हेतु क्यों ना कहते॥
कोई यदि ऐसा पूछे तो, सिद्ध; लोक तक क्यों रहते।
जबकि है आकाश नन्त तो, अलोक में क्यों ना जाते ॥९९॥

व्याख्यान—यदि गमन व स्थिति में आकाशद्रव्य को कारण मानेंगे तो जो कोई भी साधना के बल पर सिद्ध हुए हैं वे अनन्त अलोकाकाश तक गमन करते रहेंगे। सिद्ध कहाँ ठहरेंगे? यह समस्या आ जायेगी। फिर लोक के अन्त भाग पर ठहरते हैं, ऐसा जो आगम का कथन है, वह नहीं बन पायेगा, ऐसा यदि स्वीकार है तो मान लो। विकार रहित चैतन्य प्रकाश से युक्त, कारण समयसार के द्वारा नरकादि चारों गतियों से मुक्त होकर स्वाभाविक ऊर्ध्वगति को जिन्होंने प्राप्त किया उन्हें सिद्ध कहते हैं। जिन्हें स्वभाव की उपलब्धि प्राप्त हो गई, वे सिद्ध हैं। वे यदि लोक के अग्रभाग पर ठहर जाते हैं तो उसके बाद भी आकाश है और आकाश को गति व स्थिति का भी कारण मानते हैं तो सिद्धभगवान् गति नहीं करेंगे तो भी दोष आयेगा और स्थित नहीं रहेंगे तो भी दोष आयेगा। सिद्ध परमेष्ठी में शक्ति की कमी नहीं है, अनंतवीर्य है। परन्तु पथ का अभाव होने से वह आगे जाने में असमर्थ हैं। जैसे–गाड़ी है, पेट्रोल भी है परन्तु पथ आगे नहीं है तो गाड़ी आगे नहीं बढ़ती।

कुछ लोग इस बात को भी मानते हैं कि जहाँ तक आकाश है वहाँ तक गमन होता रहता है। जैसे–कोई उपग्रह छोड़ते हैं जो ईंधन वगैरह के माध्यम से या ऑटोमेटिक चलने वाले रहते हैं, वे उपग्रह वर्षों तक अपने कक्ष में घूमते रहते हैं, उसी प्रकार ऊर्ध्वगमन स्वभावी सिद्ध भी चलते ही रहते हैं ऐसा भी मण्डली मत है। इसी तरह एक मत वाले प्रदीप निर्वाण अर्थात् दीपक बुझने के समान जीवत्व का ही समापन मानते हैं इस तरह भिन्न-भिन्न मान्यता वाले जीव हैं।

उत्थानिका—अब लोकाग्र में सिद्धों की स्थिरता है इसलिए आकाशद्रव्य गति व स्थिति का कारण नहीं हो सकता यह बताते हैं–

जह्मा उवरिट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
तह्मा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थित्ति ॥१००॥

अन्वयार्थ—**(जम्हा)** क्योंकि **(जिणवरेहिं)** श्री जिनेन्द्रों के द्वारा **(सिद्धाणं)** सिद्धों का **(उवरिट्ठाणं)** उपरिस्थान [लोक के अग्रभाग में ठहरना] **(पण्णत्तं)** कहा गया है **(तम्हा)** इसलिए **(आयासे)** आकाश में **(गमणट्ठाणं)** गमन और स्थिति में सहकारीपना **(णत्थि त्ति)** नहीं है- ऐसा **(जाण)** जानो।

अर्थ—सिद्धों का निवास स्थान लोक के अग्रभाग पर है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है इसलिए आकाशद्रव्य में गति-स्थिति निमित्त गुण नहीं है ऐसा जानना चाहिए।

जिस कारण से केवलिजिन ने, सिद्धवास लोकाग्र कहा।
इसीलिए आकाश द्रव्य में, गति थिति हित गुण नहीं रहा॥
सिद्धों का यदि गमन अलोकाकाश द्रव्य में हो जाता।
तो आकाशद्रव्य में गति औ, स्थिति निमित्त गुण हो जाता ॥१००॥

व्याख्यान—मुक्त वही होते हैं जो कर्मों को नष्ट करते हैं। कर्मों को जो अपनाता है उन्हीं को मुक्ति में बाधा आती है। आचार्यों ने कहीं पर भी धर्म, अधर्म, आकाश और काल को प्रयोजनभूत तत्त्व नहीं लिखा किन्तु कर्म या शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध होने पर अज्ञानी उस शरीर को ही अपना मानता है इसलिए प्रयोजनभूत मूल में दो ही तत्त्व हैं। यदि सही ज्ञान हो जाए तो सभी समस्या हल हो जाए। जैसे–परीक्षा में मुख्य या अनिवार्य प्रश्न को हल करने पर ही पास होता है, यदि वह नहीं किया और शेष प्रश्नों का उत्तर अच्छे ढंग से भी लिखा हो तो उसे उत्तीर्ण नहीं करेंगे। अनिवार्य प्रश्न को हल करने के बाद ही सब नम्बर मिलते हैं। राग–द्वेष छोड़कर आत्मानुभूति करने के लिए जो तत्पर हो जाते हैं वे शरीर से पृथक् एकमात्र आत्मतत्त्व का ही विश्वास करते हैं, उन्हें मात्र वीतरागता दिखती है।

आकाश द्रव्य गति व स्थिति में कारण नहीं—सिद्धप्रभु लोकाकाश के अग्रभाग पर विराजमान हैं ऐसा भगवान् ने कहा है। इससे स्पष्ट है कि गति व स्थिति में आकाशद्रव्य कारण नहीं है। अञ्जनसिद्ध लौकिक सिद्ध हैं अर्थात् जो अञ्जन लगाकर अदृश्य हो जाते हैं। पादुकासिद्ध मन्त्र–तन्त्र आदि के माध्यम से आकाश में चले जाते हैं। इसी तरह गुटिकासिद्ध, दिग्विजयसिद्ध, खड्गसिद्ध आदि यह सब लौकिक सिद्ध हैं। यहाँ सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त, नाम–गोत्रकर्म रहित, अमूर्त अनन्तगुणयुक्त सिद्ध भगवान् को स्वीकारना चाहिए, जो लोकाग्र पर विराजमान हैं। आचार्य भगवन् ने यह भी बताया कि–जिसकी श्रद्धा जाग्रत उसकी दृष्टि में जितनी विशालता है, जितनी पात्रता है उतना ही बताना चाहिए। आज यह सबसे बड़ी कमी देखने में आ रही है कि क्षमता से ज्यादा बता दिया जाता है इससे वह अपनी दृष्टि को विशाल नहीं बना पाता है। वैसे यह अध्यात्म तो सब जगह मिल रहा है लेकिन इसका सही उपयोग कौन कर रहा है? अनुभव करना ही इसका सही उपयोग है, मात्र ऊपरी क्रिया नहीं। भौतिक चकाचौंध में लक्ष्य भूल जाते हैं। बाह्य ज्ञेयभूत वस्तुएँ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, मुख्य तो वीतरागता है ''**वीतरागो भवेत् योगी यत् किञ्चित् विचिंतयेत्**'' वीतरागी होना चाहिए और सांसारिकता से दूर होना चाहिए अन्यथा २८ मूलगुणों को धारण करते हुए भी दृष्टि लौकिकता की ओर चली जाए तो उसका गलत प्रभाव पड़ने लगता है। प्रवचनसारादि ग्रन्थों में यह विषय अच्छे से स्पष्ट किया है। जिससे राग की वृद्धि हो, वैराग्य की कमी हो ऐसे कारणों से बचकर जो अपनी दृष्टि वीतरागता की ओर ले जाता है, वही वीतरागमार्ग में सफलता पा सकता है अन्यथा नहीं।

उत्थानिका—अब आकाशद्रव्य गति–स्थिति में निमित्त क्यों नहीं है सो दिखाते हैं –

जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अंतपरिवड्ढी ॥१०१॥

अन्वयार्थ—(जदि) यदि **(तेसिं)** उनका [जीव और पुद्गलों का] **(आगासं)** आकाश द्रव्य **(गमण-हेदू)** गमन का हेतु **(ठाणकारणं)** और स्थिति का कारण **(हवदि)** होता है, तो **(अलोगहाणी)** अलोकाकाश की हानि **(पसजदि)** होती है **(य)** और **(लोगस्स)** लोकाकाश के **(अंतपरिवड्ढी)** अन्त की परिवृद्धि होगी। अर्थात् अलोक का व्यवहार मिट जायेगा और लोक की सीमा टूट जायेगी।

अर्थ—यदि आकाश द्रव्य जीव पुद्गलों के गमन व स्थिति का कारण हो तो अलोकाकाश की हानि का और लोकाकाश के अन्त की वृद्धि का प्रसंग आ जायेगा।

यदि आकाश जीव-पुद्गल के, गति में कारण हो जाता।
और जीव-पुद्गल की स्थिति में भी सहकारी हो जाता॥
तो फिर अलोक के विनाश का, प्रसंग निश्चित आ जाता।
और लोक की अनन्त परिवृद्धि का प्रसंग आ जाता॥१०१॥

व्याख्यान—यदि आकाशद्रव्य गति और स्थिति में कारण होता तो अलोकाकाश के नाश का प्रसंग आयेगा और लोकाकाश अनन्त हो जायेगा अर्थात् एकमात्र आकाश द्रव्य ही रहेगा। किसी ने पूछा-आप कहाँ रहते हैं? तो कहा-नगर में रहता हूँ। तो क्या नगर की जितनी सीमा है उस सबमें आप रहते हो। वहाँ एक लाख व्यक्ति और भी रहते हैं, वह भी कहते हैं हम भी नगर में रहते हैं। जब आप ही पूरे नगर में रह गए तो दूसरे कहाँ रहेंगे? एक का ही व्यापकपना हो जायेगा। इसी प्रकार लोकाकाश में जीवादिक रहते हैं और आकाश गमन और स्थिति का कारण हो जाए तो जितने भी जीवादिक द्रव्य हैं वे जहाँ तक गमन करेंगे वह सारा लोकाकाश होगा और अलोकाकाश का पूर्णतः अभाव हो जायेगा। आगम में १४ राजू के बाद अलोकाकाश कहा है। १४ राजू प्रमाण ही लोक की सीमा बताई है। ऐसी स्थिति में नीचे-ऊपर, आजू-बाजू सब जगह जीवादि द्रव्य फैल जायेंगे। जैसे-धुआँ सब जगह फैल जाता है। थोड़ा हल्का होता है तो ऊपर की ओर चला जाता है। गैस भी अनेक तरह की रहती हैं, कुछ गैस तो जमीन की तरफ रहती हैं ऊपर नहीं रहती। जब भोपाल में गैस काण्ड हुआ था तब ऊपर की मंजिल में रहने वालों का मरण नहीं हुआ। जो झुग्गी-झोपड़ी वाले गरीब थे, जिनके पास २-३ मंजिले मकान नहीं थे, उनका जल्दी अवसान हो गया। उसी प्रकार यहाँ पर भी ऐसी स्थिति आ जायेगी कि ऊपर-नीचे कहीं पर भी फैलते जाओ, सारी सीमाएँ समाप्त हो जायेंगी। मध्यलोक एक राजू प्रमाण, फिर तीन वातवलय सब समाप्त हो जायेगा। इससे ज्ञात हो जाता है कि आकाशद्रव्य गति व स्थिति में कारण नहीं है।

उत्थानिका—अब आगे आकाशद्रव्य गति-स्थिति का कारण नहीं है उसी का उपसंहार करते हैं-

तह्मा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णागासं।
इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(तम्हा) इस कारण से **(धम्माधम्मा)** धर्म, अधर्म **(गमणट्ठिदि-कारणाणि)** गमन और स्थिति में सहकारी कारण हैं, **(आगासं ण)** आकाश नहीं **(इदि)** ऐसा **(जिणवरेहिं)** जिनेन्द्र देवों के द्वारा **(लोग-सहावं)** लोक स्वभाव को **(सुणंताणं)** सुनने वालों के लिए **(भणिदं)** कहा गया है।

अर्थ—इस कारण से धर्म व अधर्मद्रव्य ही गमन और स्थिति में सहकारी कारण हैं, आकाश कारण नहीं है ऐसा समवसरण में लोक का स्वभाव सुनने वाले भव्यों को जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

धर्म-अधर्मद्रव्य दो गति औ, स्थिति में निमित्त कारण हैं।
गमन-स्थिति में किञ्चित् भी आकाश द्रव्य ना कारण है॥
लोकस्वभाव श्रवण कर्त्ता को, कुन्दकुन्द यति कहते हैं।
गति-स्थिति में आकाश हेतु है, इसका खण्डन करते हैं ॥१०२॥

व्याख्यान—लोक के स्वभाव को सुनने वाले जो श्रोता हैं, उन्हें जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि धर्म और अधर्मद्रव्य ही गमन और स्थिति में निमित्त कारण हैं, आकाश द्रव्य नहीं। जो भव्य जीव हैं वही भगवान् की बात को स्वीकार करेंगे। भव्यों में भी जो सम्यग्दृष्टि होंगे, वही मानेंगे। अमूर्तद्रव्य के विषय में अध्यात्म के गूढ़ रहस्य सभी को नहीं कहे जा सकते। जिस प्रकार घर में कई बच्चे रहते हैं, सभी आज्ञा में रहते हैं फिर भी चाबी वगैरह का ठिकाना जो गम्भीर व योग्य हैं, उन्हें ही बताते हैं। उन्हें खाने-पीने के लिए छूट देते हैं लेकिन हर बात नहीं बताते क्योंकि वह दुरुपयोग कर सकता है। कहीं उसका भविष्य बिगड़ न जाए इसीलिए अभिभावक धीरे-धीरे से सम्भालकर लेन-देन की सब बातें बताते हैं। उसी प्रकार समवसरण में लोक के स्वभाव को सुनने में लगे हुए जो भव्य जीव हैं, उन्हीं के लिए यह बात कही है।

लोकाकाश में ही द्रव्यों का अवकाश है—जैसे एक कपाट में ऊपर-नीचे अनेक खण्ड बना देते हैं वैसे ही लोकाकाश एक कपाट जैसा हो और उसमें धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि के खण्ड बना दिए हों, ऐसा नहीं है। जहाँ तक लोकाकाश है वहाँ तक सर्वत्र धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय का फैलाव है। स्वयं लोकाकाश असंख्यातप्रदेशी है ही, उसी में असंख्यात कालाणु हैं, साथ ही अनन्तानन्त पुद्‌गल भी उसी में भरे हुए हैं कैसा अद्‌भुत मिलन है! कभी भी अस्त-व्यस्त नहीं हो सकता। लोग कल्पना करते हैं कि भूकम्प आदि आने पर जैसे परिवर्तन हो जाता है, जैसे-दुनिया में प्रलय आने पर विलय हो जाता है, ऐसा वहाँ कुछ नहीं होता। जैसे-किसान पूरी फसल काटने के उपरान्त यदि कुछ विशेष गन्ना आदि लगाना हो तो जलाकर पुनः व्यवस्थित हल चलाकर बीज आदि बो देता है। उसी प्रकार यहाँ भी सर्व द्रव्य समाप्त करके पुनः नये रूप से तैयार करते हों ऐसा कभी

नहीं होता। जैनाचार्यों का कहना है कि–भरतादिक क्षेत्र में जहाँ अशाश्वत भोगभूमि की व्यवस्था होती है वहाँ प्रलय के बाद परिवर्तन की स्थिति आती है लेकिन इस तरह नहीं कि पूरे द्रव्य ही उखड़ जाएँ। प्रलय होगा तो स्थान से स्थानान्तर जाने का भी साधन नहीं मिलेगा। प्रलय का विषय दिव्यज्ञान का है। उसकी सही जानकारी न होने से कई तरह की धारणा लोग बना लेते हैं। प्रलय के समय कर्मभूमि के ही ७२ जोड़ों को विजयार्द्ध की गुफाओं में सुरक्षित कर दिया जाता है। ४९ दिन की अशुभ वर्षा जब समाप्त हो जाती है और शुभ वर्षा जब प्रारम्भ होती है तब वह बाहर निकलते हैं तभी उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ हो जाता है। उस समय विजयार्द्ध की गुफा में जाकर कौन–किसको देखेगा? प्रलयकाल में किसी का कुछ पता नहीं चलता। जैसे–अचानक बम विस्फोट के समय कौन कहाँ है? कुछ पता नहीं चलता। ऐसे ही यहाँ सबका जीवन नारकीवत् हो जाता है। जैसे नारकियों में रिश्ता–नाता नहीं रहता वैसे ही औदारिक शरीर के साथ रहते हुए भी सारे रिश्ते मिट्टी में मिल जाते हैं। न पैसा, न घर, न जमीन–जायदाद, न कृषि आदि कुछ भी नहीं रहता केवल एक दूसरे को देखकर चीर–फाड़ करके पशु की भाँति मनुष्य की दशा हो जाती है।

उत्थानिका–धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक क्षेत्रावगाह की अपेक्षा एक हैं परन्तु अपने–अपने स्वरूप से तीनों पृथक्–पृथक् हैं, ऐसा कहते हैं–

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा।
पुधगुवलद्धविसेसा करेंति एगत्तमण्णत्तं ॥१०३॥

अन्वयार्थ–(धम्माधम्मागासा) धर्म, अधर्म और आकाश **(समाणपरिमाणा)** समान परिमाण वाले हैं **(अपुधब्भूदा)** अपृथक् नहीं हैं, परन्तु **(पुधगुवलद्धि-विसेसा)** अलग–अलग अपने–अपने द्रव्यपने को रखते हैं इसलिये **(एगत्तं)** एकपने **(अण्णत्तं)** व अनेकपने को **(करेंति)** करते हैं।

अर्थ–धर्म, अधर्म और लोकाकाश समान परिमाण को रखने वाले हैं, अतएव अलग नहीं हैं परन्तु पृथक्–पृथक् अपने–अपने द्रव्यपने को रखते हैं अर्थात् अलग–अलग हैं इस प्रकार द्रव्यों के एकपने व अनेकपने को कहते हैं।

धर्माधर्माकाश द्रव्य त्रय, एकक्षेत्र अवगाही हैं।
लोकाकाश, अधर्म, धर्म ये, तीन असंख्यप्रदेशी हैं॥
इक समान होने के कारण, आगम में एकत्व कहा।
भिन्न सत्त्व होने से इनमें, निश्चय से अन्यत्व रहा ॥१०३॥

व्याख्यान–धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य पृथक्–पृथक् हैं। लोकाकाश की अपेक्षा सबका समान प्रमाण होने से एकत्व भी है किन्तु स्वभाव की अपेक्षा धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य से विपरीत स्वभाव

वाला है और इन दोनों से आकाशद्रव्य भिन्न स्वभाव वाला है। विशेषगुण की अपेक्षा पुद्‌गल आदिक सभी द्रव्य एक दूसरे से भिन्न स्वभाव वाले हैं, इसीलिए अन्यत्व समझना। मनुष्य के मन में स्वामित्व को लेकर बहुत विकल्प उत्पन्न होते हैं। तिर्यञ्चों में बहुत कम होते हैं और देवों में भी कषाय की मन्दता के कारण विकल्प कम हो जाते हैं। मनुष्यों में स्वामित्व व अधिकार का विकल्प मान की अधिकता के कारण होता है। संसारी प्राणी को कितना भी समझाओ, अनन्तकाल से स्वरूप से वंचित होने के कारण उसे बात समझ में आती ही नहीं और जब समझ में आती है तो छोटा-सा निमित्त मिलने से भी आ जाती है, इसलिए समझाने की बात अटपटी-सी लगती है। समझाने वाला रस लेकर भिन्न-भिन्न तरीके से समझाता है लेकिन बात तो वही समझानी है भले ही वह अलग-अलग अंग्रेजी, हिन्दी, कन्नड़ आदि भाषा में समझाए, पर सामने वालों को बात समझ में नहीं आती, तब उसे लगता है कि वह पागल तो है नहीं, बहुत जानकार है। समझाने वाले को भी यह बात समझ में आ रही है तभी तो वह घुमा-घुमा करके समझाने का प्रयास कर रहा है। सोचता है कि मैं समझा कर ही रहूँगा, लेकिन सामने वाले को समय पर ही अनुभव होगा और पहले से ही उसे समझाना चाह रहे हैं तो वह कैसे समझेगा? "**विद्या कालेन पच्यते**" मानलो कोई व्यक्ति १६-१८ साल तक पढ़ाई करके वैज्ञानिक बन गया और ४-५ वर्ष से शोध कर रहा है। यदि ८-९ वर्ष का बालक साइंस पढ़ना चाहता है और जल्दी से अनुभव की बात सुनना चाहता है। यदि उसे अपने अनुभव की बातें बताने लग जाएँ तो उसका सिर भारी हो जायेगा क्योंकि कई साल पढ़कर यह वैज्ञानिक बन पाया है। पढ़ते-पढ़ते दाँत गिर गए। यदि न समझाएँ तो वह कहता है कि आपके पास अनुभव नहीं है लेकिन वर्षों के अभ्यास की बात एक सेकेण्ड में कैसे कही जा सकती है? पहले वह वर्षों तक अध्ययन करके शोध कर ले फिर तो उसे भी कुछ समझाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। केवली सब जानते हैं अतः उन्हें किसी में रस नहीं आता।

रस्सी में गाँठ पड़ने पर सामने के दाँतों से नहीं खोली जाती, ऊपर नीचे के सूल के दाँत फँसाने के बाद खुलती है। जैसे लोग यह जानते हैं कि कौन से दाँत के द्वारा कौन सा काम किया जा सकता है वैसे ही कौन सी उम्र में कौन सा काम किया जा सकता है यह जानना भी आवश्यक है। इसीलिए अमूर्तद्रव्य के बारे में जो कुछ भी जानकारी मिल रही है वह सर्वज्ञ कथित होने से आस्था का विषय अवश्य है। युक्ति के साथ कहा भी गया है लेकिन अनुभव करने के लिए वीतरागता चाहिए। इसे ८ वर्ष का हो या ८० वर्ष का हो, कोई भी प्राप्त कर सकता है। अपनी आत्मा की तुलना अन्य के साथ नहीं की जा सकती इसलिए श्रद्धान या संवेदन की मुख्यता से ही आत्मतत्त्व का विश्लेषण होता है। प्रत्येक आत्मा का अपना-अपना, अलग-अलग अनुभव है। शेष चीजों में तुलना होती है, युक्ति भी लगाई जाती है लेकिन संवेदन के लिए न तुलना की आवश्यकता है, न युक्ति लगाने की आवश्यकता है। चाहे अनपढ़ हो या पढ़ा-लिखा, अपना संवेदन स्वयं करता है। बहिर्मुखी रहेगा तो कभी भी

संवेदन नहीं कर पायेगा, अन्तर्मुखी होगा तो आँख बन्द करते ही एक सेकेण्ड भी नहीं लगेगा और चिन्तन की धारा प्रारम्भ हो जायेगी। दुनिया गायब हो जायेगी। जो अन्धा व्यक्ति है, वह अच्छा चिन्तक हो सकता है क्योंकि दूसरों की पहचान से वंचित रहता है, पर के परिचय में बहुत खतरा है। इसीलिए **''अति परिचया अवज्ञा:''** कहा है। छद्मस्थ अवस्था में ज्यादा परिचय बढ़ाने से आत्मा की अवज्ञा होती है। **जितना पर से परिचय कम होगा उतना ही संवेदन गाढ़ा होता चला जायेगा।** जैसे–बारह भावना का चिन्तन करने से तनाव वगैरह सब समाप्त हो जाते हैं तब चिन्तन से अलग ही रसास्वादन होता है। संसार में रहकर भी संसार से भिन्न प्रतिभासित होता है।

धर्म, अधर्म और लोकाकाश में एकत्व और अन्यत्व की सिद्धि–धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश यह तीन द्रव्य समान परिमाण और समान आकार वाले हैं और एक ही स्थान में हैं अत: व्यवहार से एकत्व है लेकिन निश्चय से अपनी–अपनी भिन्न सत्ता होने के कारण अन्यत्व है। जहाँ हम रहते हैं वहीं अन्य जीव–पुद्‌गलादिक भी रहते हैं। असंख्यात प्रदेशी एक जीव में अनन्तानन्त निगोदिया जीव भी रह रहे हैं लेकिन संवेदन सबका पृथक्–पृथक् है। उन्हें एकान्त से भिन्न भी नहीं मान रहे हैं और अभिन्न भी नहीं मान रहे हैं। आत्मा की जितनी अवगाहना है वहाँ पेट आदि में कृमि आदि दो इन्द्रिय भी रह रहे हैं वहीं खून, मल, कफ, मांस, हड्डियाँ आदि सब हैं। आहार के समय यही सब जब हाथ में आ जाता है तो अन्तराय करके बैठ जाते हैं किन्तु वही सब अन्दर भरा हुआ है, यह अशक्यानुष्ठान है। फिर भी निश्चय और व्यवहार क्या है? इसे सूक्ष्मता से जान लेना चाहिए। जहाँ शंकादि किए जाते हैं वहाँ पर सिद्धान्त ग्रन्थों का वाचन नहीं होना चाहिए, यह निश्चय की बात है व्यवहार की नहीं। किन्तु पेट में संग्रहीत **''पल रुधिर राध मल थैली''** है। ५० हाथ क्या एक हाथ भी दूर नहीं है। क्या करें व्यवहार की सीमा होती है, निश्चय की एक और अलग सीमा होती है। जैसे–जैसे निश्चय की दृष्टि बनती चली जाती है वैसे–वैसे व्यवहार के कार्य गौण होते चले जाते हैं। विराटता बढ़ती चली जाती है। तब चेतनपिण्ड, केवलज्ञान युक्त जो अखण्ड ज्ञानधारा वहाँ विद्यमान रहती है उसी का वह शुद्धात्मतत्त्व के आधार पर चिन्तन करता रहता है और व्यवहार को गौण करता जाता है, इसके बिना स्वात्मोपलब्धि नहीं होती। पेपर हाथ में आते ही पाँच मिनट में पढ़ लिया और अनिवार्य प्रश्न कितने हैं? यह भी पढ़ लिया। उपयोग एक प्रश्न पर केन्द्रित हो गया, शेष को गौण जब किया जायेगा, तब ही पेपर हल हो पायेगा। ड्राइवर गाड़ी चलाने के पहले मशीनों को देख लेता है, आगे–पीछे, ऊपर–नीचे टायर वगैरह सब देखकर बैठ जाता है फिर मात्र सड़क देखता है। किलोमीटर के पत्थर को भी नहीं, गेयर बदलकर कब टॉप में ले जाना है? कैसी सड़क पर कैसे चलाना है? सब एकाग्रता से काम करता रहता है। इधर–उधर ध्यान जाते ही एक्सीडेंट हो सकता है। इसी प्रकार आत्मा के विषय में भी गौण–मुख्यता नहीं अपनायेंगे तो आत्मतत्त्व झलकने वाला नहीं है। उपचरित असद्‌भूत नयापेक्षा एकत्व होकर भी गतित्व, स्थितित्व, अवगाहनत्व इत्यादि अपने–

अपने भिन्न-भिन्न लक्षणों से अन्यत्व है। एक ही रंग के मान लो, चावल या दाल खरीदे, उसमें उसी चावल के रंग के कंकर मिले हुए हैं वह ज्ञात होते ही, जो कम है, उसे बीन लेते हैं, जो ज्यादा है, वह वहीं रह जाता है। इसी तरह छहों द्रव्यों में स्वद्रव्य को अलग करना है, अपने आत्मतत्त्व को गौण नहीं करना है। उसे देखना है तो शेष को गौण करना अनिवार्य होगा, अन्यथा एक को मुख्यता नहीं दे पायेंगे। इस प्रकार धर्मादि द्रव्यों में एकत्व व अन्यत्व का कथन करने वाला तृतीय स्थल भी पूर्ण होकर सातवाँ अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

अब पञ्चास्तिकाय और छह द्रव्य की चूलिका का व्याख्यान करते हैं। वहाँ आठ गाथाओं में से प्रथम एक गाथा में चेतनत्व-अचेतनत्व, मूर्तत्व-अमूर्तत्व की मुख्यता से वर्णन है। फिर एक गाथा में सक्रिय-निष्क्रिय की मुख्यता से जीव और पुद्गल का वर्णन है। पुनः प्रकारान्तर से मूर्त-अमूर्त के कथन की मुख्यता से एक गाथा में व्याख्यान है। आगे व्यवहार-निश्चय काल अपेक्षा दो गाथा हैं। कालाणु एक प्रदेशी है इस प्रतिपादन की मुख्यता से एक गाथा है और निश्चय मोक्षमार्ग की भावना और उसके फल का प्रतिपादन करने वाली दो गाथाएँ हैं। इस प्रकार छह स्थल में आठ गाथाओं की समुदाय रूप उत्थानिका हुई।

उत्थानिका—अब छहों द्रव्यों में मूर्तत्व-अमूर्तत्व, चेतनत्व और अचेतनत्व इन चार भावों का विश्लेषण करते हैं –

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा।
मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु ॥१०४॥

अन्वयार्थ—**(आगास-काल-जीवा)** आकाश, काल, जीव **(धम्माधम्मा य)** धर्म और अधर्म **(मुत्तिपरिहीणा)** मूर्ति रहित [अमूर्तिक] हैं, **(पुग्गलदव्वं)** पुद्गलद्रव्य **(मुत्तं)** मूर्तिक है। **(तेसु)** इनमें **(खलु)** निश्चय से **(जीवो)** जीव द्रव्य **(चेदणो)** चेतन है।

अर्थ—आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्मद्रव्य अमूर्त हैं। पुद्गलद्रव्य मूर्त है। इन छहों द्रव्यों में निश्चय से जीवद्रव्य चेतन है।

जीवद्रव्य, आकाश, काल औ, धर्म, अधर्म अमूर्त कहे।
रूप-गन्ध-रस-वर्णयुक्त इक, पुद्गल केवल मूर्त रहे॥
छहद्रव्यों में एक द्रव्य ही, जीव मात्र जो चेतन है।
शेष पाँच हैं द्रव्य अचेतन, ग्रन्थों में यह वर्णन है ॥१०४॥

व्याख्यान—आकाश, काल, जीव, धर्म और अधर्मद्रव्य मूर्तत्व से रहित हैं। जीवद्रव्य स्वयं देखता है किन्तु देखने में नहीं आता। जो देखता है, वह दिख जाए ऐसा कोई नियम नहीं है। हाँ, ज्ञान का विषय अवश्य हो सकता है। यहाँ प्रसंग में मूर्तिक कहने से रूप, रस, गन्ध की मुख्यता दी गई

है, इसलिए जो आँखों के द्वारा देखने में नहीं आते ऐसे आकाश, काल, धर्म, अधर्म और जीव को अमूर्त कहा किन्तु पुद्गल देखने में भी आता है और पाँचों इन्द्रियों की पकड़ में भी आता है। हवा भले ही आँखों से नहीं दिखती पर पकड़ में आती है, महसूस होती है। रस का दर्शन आँखों से भले ही ना हो पर जिह्वा से रस का अनुभव होता है इसी प्रकार अन्य पदार्थ भी किसी न किसी इन्द्रिय के विषय बन ही जाते हैं। पुद्गल का साम्राज्य चारों ओर दिखाई देता है। संसारी जीव मोह से गाफिल होकर इन पुद्गलों के पीछे पड़ा है। पुद्गल आत्मा के पीछे नहीं पड़ता इसलिए पागल भी नहीं होता किन्तु पुद्गल के पीछे पड़ने वाले पागल अवश्य हो जाते हैं।

छहों द्रव्यों में मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन का कथन—छहों द्रव्यों में चेतना लक्षण वाला मात्र जीवद्रव्य है, जो अमूर्त है। द्रव्यों में चेतन कौन है?, अचेतन कौन है?, मूर्त कौन है? और अमूर्त कौन हैं? इसका प्रतिपादन किया जा रहा है। स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवान को मूर्त और इनसे जो रहित है वह अमूर्त है। निश्चय से अर्थात् स्वभाव से जीव अमूर्त है देखने में नहीं आता लेकिन अनादि से कर्मबन्ध से सहित होने के कारण कथञ्चित् इन्द्रियों का विषय बन जाता है, अवधिज्ञान का भी विषय बनता है। **आचार्य श्री विद्यानन्दिजी महाराज ने श्लोकवार्तिक** में एक स्थान पर कहा है कि जीव को यदि एकान्त से अमूर्त मान लें तो वह अवधिज्ञान का विषय नहीं बन सकेगा क्योंकि "**रूपिष्ववधेः**" अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है। जिस प्रकार सिद्धपरमेष्ठी अवधिज्ञान का विषय नहीं बनते उसी प्रकार यह संसारी प्राणी भी अवधिज्ञान का विषय नहीं बन सकेगा। किन्तु अवधिज्ञान, जीव के इतने भवों को जानते हैं इत्यादि वर्णन आगम में आता है। इसीलिए बन्ध की अपेक्षा जीव एकान्त से अमूर्त नहीं है ऐसा उत्तर देकर समाधान किया है। राग-द्वेष, मोह, मात्सर्य आदि जो शुद्धात्म तत्त्व के विपरीत स्वभाव वाले विभाव परिणाम हैं, संसारी जीव इन्हीं विभाव भावों से कर्मों का उपार्जन करता है इसलिए उसे मूर्त कहा है जो पाँच भावों या गुणों से युक्त है जबकि पुद्गल चार गुण युक्त है। स्व-पर को जानने में समर्थ है, संशयादि रहित, अन्तरहित चैतन्य परिणति से सहित है। अपने स्वभाव को भूलकर जो लोगों ने उसे नाम दिया, वही अपना नाम समझता, आतमराम कोई नहीं कहता क्योंकि आत्मा का कोई नाम ही नहीं होता। संसार में हर काम में नाम पहले आता है। जैसे-किसी ने एक लाख रुपये का कर्ज दिया तो पहले उसका नाम लिखकर हस्ताक्षर करवाते हैं, यदि समय पर न दे तो हस्तक्षेप करेंगे। आत्मा का कुछ पता न होने से संसार में मात्र नाम से काम चलता है, जैसे-मार्गणाओं के द्वारा जीव और उसके गुणस्थानों का बोध हो जाता है वैसे ही संसार में एड्रेस लिखवा देते हैं फिर कहीं भी जाए, छान-बीन करके उसे ढूँढ़ लेते हैं। कोई अपराध करता है तो भी एड्रेस लिखकर जेल में रख देते हैं, दुबारा यदि गलती करेगा तो पुनः जेल में बन्द कर दिया जायेगा। बार-बार करे तो जेल का ही हो जाता है, आदत पड़ गई है। वह सोचता है कि सरकार की सुरक्षा में हूँ यही सबसे सुरक्षित स्थान है। संसारी जीव पुद्गल के चक्कर में संशयादि के कारण कर्म

का अर्जन करता है और विभावरूप परिणमन करता है, शेष पाँच द्रव्य चैतन्यभाव से रहित हैं। जीव को दो बड़ी बीमारी हैं-एक तो चेतन होने से दूसरों को जानता रहता है, स्वयं को नहीं। स्वयं के अर्थात् आत्मा के परिचय से अपना काम करता ही नहीं क्योंकि स्वयं का परिचय इसे है ही नहीं। दूसरी बीमारी है-क्रियाशील होना। इससे यह विभाव में सक्रिय रहता है लोग इसे एक्टिव कहते हैं। एक्ट से एक्टर बनता है अर्थात् सक्रिय नेता ही अभिनेता है। एक इन्द्रिय से लेकर पाँचों इन्द्रियाँ सक्रिय हैं। वैसे कोई जीव क्रियाहीन है ही नहीं। क्रियावती शक्ति जीव का स्वभाव है। **जो एक्टिव होता है वही नेता बनता है। स्वयं के उपयोग से स्वयं का उपकार नहीं करता पर में लगा रहता है, इससे स्वभाव को देख नहीं पाता। जिन्होंने स्वभाव को पहचान लिया उन्हें इन सब कार्यों में रस आ ही नहीं सकता। वे एक्टिव तो रहते हैं किन्तु स्वभाव की ओर रहते हैं।**

उत्थानिका—अब सक्रिय और निष्क्रिय अवस्था दिखाते हैं-

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा।
पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(जीवा) जीव, **(पुग्गल-काया)** पुद्गलकाय **(सह)** के साथ में **(सक्किरिया)** क्रिया सहित **(हवंति)** होते हैं **(सेसा)** शेष [चार द्रव्य] **(ण य)** क्रियावान नहीं है। **(खलु)** वास्तव में **(जीवा)** जीव **(पुग्गलकरणा)** पुद्गलों की सहायता से और **(खंधा)** पुद्गलों के स्कंध **(कालकरणा दु)** काल द्रव्य के कारण [क्रियावान होते हैं]।

अर्थ—जीव और पुद्गलकाय ये दो द्रव्य बाहरी कारणों के होने पर क्रिया सहित होते हैं, शेष चार द्रव्य क्रियावान नहीं हैं। जीव, पुद्गलों की सहायता से और पुद्गलों के स्कन्ध वास्तव में कालद्रव्य के कारण से क्रियावान होते हैं।

जीवद्रव्य और पुद्गल पर की सहायता से सक्रिय हैं।
शेष रहे जो चार द्रव्य वह, क्रियावन्त ना निष्क्रिय हैं ॥
पुद्गल का निमित्त पाकर ही, जीवद्रव्य सक्रिय रहे।
कालद्रव्य का निमित्त पाकर, पुद्गल सक्रिय रूप धरे॥ १०५॥

व्याख्यान—जीव और पुद्गल द्रव्य ही मात्र सक्रिय द्रव्य हैं, शेष निष्क्रिय हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया का नाम ही यहाँ पर सक्रियता है। पुद्गल के कारण ही सक्रियता आती है। जैसे-घड़ी में घूमता-घूमता मिनट का काँटा ३ बजने में १० मिनट कम बता रहा है। यह जो परिणाम है, वह घड़ी से उत्पन्न नहीं हुआ, काल द्रव्य से उत्पन्न हुआ है। घड़ी तो मात्र ज्ञापक कारण है। उपकरण का महत्त्व करण के साथ है। उपनयन-चश्मा। नयन-देखने की क्षमता वाली वस्तु। जीवन में नयन बार-बार नहीं मिलते, उपनयन ढेर सारे मिल जाते हैं। भीतरी क्षमता नहीं है तो निमित्त

भी सहकारी रूप में नहीं आते।

समय, मिनट, घण्टा आदि ये सब क्षणभंगुर हैं। नियत काल सदा बना रहता है। व्यंजन पर्याय इत्यादि की अपेक्षा एक समय आदि का दिमाग से भले ही संग्रह कर लो किन्तु काल की जो परिणति है उसका संग्रह नहीं हो सकता। एक-एक समय उसमें से निकलता चला जाता है। जैसे-हवा के झोंके से एक तरंग उठती है आगे बढ़ती है और पीछे से एक और तरंग उठ जाती है वैसे ही यही क्रम कालाणु में से एक-एक समय के रूप में होता रहता है। काल क्या है? तो समय, निमेष, सेकेण्ड आदि को भी काल कह सकते हैं। निमेष अर्थात् आँखों की टिमकार जो देवों में नहीं होती, पलकें तो रहती हैं जैसे-मूर्ति में पलकें तो रहती हैं पर वह झपकती नहीं हैं क्योंकि झपकना भी एक व्यवधान है। आँखों में झपकी आने से दुर्घटना होने की सम्भावना रहती है। देवों को अनिमेष कहा और देवाधिदेव आदिप्रभु को भक्तामर में अनिमेष निहारने योग्य कहा है।

घटिका आदि जितने भी व्यवहार काल हैं उन्हें पहले जलभाजन से या रेतघटिका से ज्ञात करते थे। रेत के कण छोटे से छिद्र के माध्यम से निकलते-निकलते खाली होने पर काल का सही ज्ञान कर लेते थे और जल से भरा पात्र छोटे से छिद्र से एक-एक बूँद टपकने से खाली होने पर काल को जान लेते थे। यह हस्त जलभाजन हो गया। हस्तविज्ञान का यही अर्थ है। **मूलाचार** में भी एक स्थान पर आया है कि सर्दी के दिनों में और गर्मी के दिनों में उत्तरायण और दक्षिणायन की अपेक्षा समय जानने का अलग-अलग हिसाब चलता है। किसी मैदान में एक झण्डा गाढ़ देते थे फिर उसकी छाया के माध्यम से समय का ज्ञान करते थे। जब अरत्नि प्रमाण छाया पड़ती है तो इतना समय हो गया, ऐसा जानकार मध्याह्न स्वाध्याय का काल जान लेते थे। सुबह में भी देववन्दना, शौच आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर एक घण्टा स्वाध्याय करके आहारचर्या के लिए निकल जाते हैं। तब १२ बजे तक छाया अपने पैरों में आ जाती है। ऐसा लगता है जैसे काया अपनी छाया से रहित होकर स्वयं चरणों में लीन हो गई है। तब खड़े होकर सामायिक करना चाहिए, बैठ कर नहीं। बैठने से छाया का पता नहीं चलेगा। यह सब सूर्य बिम्ब के माध्यम से देखा जाता है। इस तरह सूर्य आता है और चला जाता है, दिन ढल जाता है। रात में तो धूप रहती नहीं और चाँदनी को नापने के लिए कुछ भी नहीं है अतः जो दिन में खाया है उसी की जुगाली कर लो अर्थात् अनुप्रेक्षा आदि स्वाध्याय कर लो।

उत्थानिका—आगे मूर्त और अमूर्त के लक्षण का कथन करते हैं-

जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहिं होंति ते मुत्ता।
सेसं हवदि अमुत्तं चित्तं उभयं समादियदि ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(खलु) निश्चय से **(जीवेहिं)** जीवों के द्वारा **(जे विसया)** जो विषय **(इंदियगेज्झा)** इन्द्रियाँ की सहायता से ग्रहण योग्य **(होंति)** होते हैं। **(ते मुत्ता)** वे मूर्तिक हैं। **(सेसं)**

शेष सर्व जीवादि पाँच द्रव्य **(अमुत्तं)** अमूर्तिक **(हवदि)** होते हैं। **(चित्तं)** मन **(उभयं)** मूर्तिक, अमूर्तिक दोनों को **(समादियदि)** ग्रहण करता है।

अर्थ—जीवों के द्वारा जो पदार्थ इन्द्रियों की सहायता से ग्रहण योग्य होते हैं वे मूर्तिक हैं। शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक होते हैं। मन मूर्तिक-अमूर्तिक दोनों को ग्रहण करता है।

जो पाँचों इन्द्रिय के द्वारा, पदार्थ जीव ग्रहण करता।
मूर्त रहे वह शेष द्रव्य पन, अमूर्त हैं आगम कहता॥
मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों, पदार्थ को मन ग्रहण करे।
इस प्रकार इन्द्रिय औ मन के, विषयभूत यह द्रव्य रहे ॥१०६॥

व्याख्यान—जो जीव विषयानन्दी है वह निर्विकल्प आनन्दमय सुखामृत के आस्वादन से रहित है। वह जिन इन्द्रिय विषयों को ग्रहण करता है, वे मूर्तिक हैं। जो स्वाभाविक सुख गुणधारी आत्मतत्त्व से विपरीत हैं ऐसे अन्य द्रव्यों में कुछ ऐसे भी सूक्ष्म द्रव्य होते हैं जो वर्तमान में भले ही इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने में नहीं आते, पर कालान्तर में इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य हो जायेंगे। पुद्‍गल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं क्योंकि पाँच द्रव्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने में नहीं आते। इसमें संसारी जीव को कथञ्चित् मूर्तिक कहा है। चित्त अर्थात् मन। मूर्तिक-अमूर्तिक दोनों प्रकार के पदार्थों को ग्रहण करता है क्योंकि मन अपने विचार से मूर्त-अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थों को जानता है। आप अपनी आत्म शक्ति का उपयोग इन्द्रियों के माध्यम से विषयों के ग्रहण करने में लगाते हैं। जबकि मुनिराज विचार करते हैं कि देखो मन के गुलाम हुए अज्ञानी जीव इन्द्रियों से प्रेरित होकर भ्रमण कर रहे हैं। आत्मज्ञान से रहित, विषयों की ओर उन्मुख ये प्राणी आत्मिक रसास्वाद से च्युत होते हुए चारों संज्ञाओं की दुनिया में बैठे हैं। किन्तु मुनिराज तो आत्मिक आनन्द में सदा लीन रहते हैं। आत्मा की रक्षा तो ज्ञानामृत के माध्यम से होती है। इसी आनन्द में विभोर होकर श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने ग्रन्थों की रचना कर दी। भले ही वे सन्त इतिहास की गोद में चले गये लेकिन उनकी यह कृति बता रही है कि जो विषयों को लात मारकर ऊपर उठ गये वे तो आनन्द सरोवर में डुबकी लगाते रहते हैं, लेकिन जो उस सरोवर की ओर अपना मुख भी कर लेता है, उसके तट पर खड़ा भी हो जाता है तो उसे भी शीतल ज्ञान सरोवर की मन्द-मन्द हवा आने लगती है, निजानुभूति मकरन्द की सुवास आने लगती है। धन्य हैं वे जो स्व-पर दोनों के कल्याण में लगे हैं। इस प्रकार चूलिका रूप संक्षिप्त व्याख्यान पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे व्यवहारकाल और निश्चयकाल का स्वरूप दिखाते हैं—

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो॥१०७॥

अन्वयार्थ—(कालो) व्यवहारकाल **(परिणाम-भवो)** जीव पुद्‍गलों के परिणमन से उत्पन्न

होता है **(परिणामो)** जीव पुद्‌गलों का परिणमन **(दव्व-काल-संभूदो)** निश्चय काल से उत्पन्न होता है **(दोण्हं)** दोनों का **(एस)** ऐसा **(सहावो)** स्वभाव है। **(कालो खणभंगुरो णियदो)** व्यवहारकाल पर्याय प्रधान होने से क्षणभंगुर है और कालद्रव्य प्रधान होने से नित्य है।

अर्थ—व्यवहारकाल पुद्‌गलों के परिणमन से उत्पन्न होता है और पुद्‌गलादि का परिणमन द्रव्यकाल के द्वारा होता है, इन दोनों का ऐसा स्वभाव है। यह जो व्यवहारकाल है वह क्षणभंगुर है परन्तु निश्चयकाल अविनाशी है।

जो व्यवहार काल है वह भी, पुद्‌गल के परिणमन से हो।
पुद्‌गलादि का परिणमन भी, निश्चित द्रव्यकाल से हो॥
निश्चय और व्यवहार काल इन, दोनों का यह कहा स्वभाव।
निश्चयकाल रहा अविनाशी, औ व्यवहार विनाश स्वभाव॥१०७॥

व्याख्यान—पुद्‌गलद्रव्य की पर्याय का यह क्रिया रूप परिणाम है कि घड़ी द्वारा काल की पहचान होती है। इसीलिए '**परिणामभवो**' यह कहा है किन्तु परमार्थ से कालाणु रूप द्रव्य को निश्चयकाल कहा है। परिणाम भी उसी की पर्याय है जो कि एक क्षणवर्ती है। जीवद्रव्य की क्रिया में बहिरंग निमित्त पुद्‌गल है। इसकी संगति से जीव विकार रूप परिणमता है और जब काल पाकर पुद्‌गल कर्म का अभाव होता है तब सहज निष्क्रिय स्वाभाविक सिद्ध अवस्था को धारण करता है। इस प्रकार पुद्‌गल का निमित्त पाकर जीव क्रियावान होता है। काल तो निष्क्रिय है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता ही नहीं। जैसे–शीतकाल में पाठक के लिए अग्नि अध्ययन में सहयोगी है, उसी प्रकार यहाँ जानना।

कुम्भकार का चाक कील के आधार से घूम रहा है किन्तु कील घूमती नहीं। एक ही जगह स्थिर रहती है यह मात्र कहने में आता है कि कालचक्र घूम रहा है, वास्तव में काल चक्र नहीं है। काल रूपी कील घूमती नहीं है उसके ऊपर चक्र घूमता है। जैसे व्यवहार में कहा जाता है कि आटा पीस रहा है। पिसे हुए को क्या पीसना? आटा नहीं, गेहूँ पीस रहे हैं। काल को मात्र सहकारी कारण बताया। काल का अर्थ मृत्यु भी है। दक्षिणदिशा को यम दिशा या काल की दिशा कहा। जो व्यवहार काल है वह पुद्‌गल परिणाम द्वारा देखने–जानने में आ जाता है, पहचान में आ जाता है इसीलिए इसे पुद्‌गल परिणाम जन्य कहा। लेकिन जो एकसमयवर्ती क्षणभंगुर व्यवहारकाल है उसका उत्पादक नियत काल है जो कि अपने गुण और पर्याय के रूप में अविनाशी स्वभाव वाला है। अर्थात् द्रव्यकाल जो एक कालाणु रूप में है, वह नित्य होता है। यद्यपि काल लब्धि के कारण भेदाभेद रत्नत्रय लक्षण रूप मोक्षमार्ग प्राप्त करके यह जीव रागादि रहित नित्य आनन्द स्वभाव रूप उपादेय भूत परमार्थ सुख को प्राप्त करता है। तथापि इसमें उसका उपादान कारण काल नहीं है यह ध्यान रखना। सिद्धभक्ति में **श्री पूज्यपाद स्वामी** ने कहा है कि आत्मा ही उपादानभूत है। इससे स्पष्ट है कि काल के द्वारा सिद्ध नहीं

होते, यह अभिप्राय जानना।

उत्थानिका—काल द्रव्य का स्वरूप नित्यानित्य भेद करके दिखाते हैं –

कालोत्ति य ववदेसो सब्भाव परूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥१०८॥

अन्वयार्थ— **(कालो त्ति य)** ऐसा जो काल **(ववदेसो)** कहा गया है, वह **(सब्भाव-परूवगो)** सत्ता प्ररूपक [निश्चय काल का बताने वाला है, वह काल द्रव्य] **(णिच्चो)** अविनाशी **(हवदि)** होता है। **(अवरो)** दूसरा [व्यवहारकाल] **(उप्पण्णप्पद्धंसी)** उपजता और विनशता रहता है **(दीहंतर-ट्ठाई)** तथा समयों की परम्परा की अपेक्षा दीर्घकाल स्थिति वाला भी है।

अर्थ—काल ऐसा जो नाम है वह सत्ता रूप निश्चय काल को बताने वाला है। वह निश्चय कालद्रव्य अविनाशी है। दूसरा व्यवहारकाल उपजता और विनशता रहता है तथा यह समूह रूप से दीर्घ काल तक रहने वाला कहा जाता है।

कालद्रव्य सद्भाव प्ररूपक, अतः नित्य यह रहता है।
समय रूप व्यवहारकाल यह, होता और विनशता है॥
किन्तु समय का जो समूह है, बहुत काल तक स्थायी है।
काल द्रव्य की ऐसी व्याख्या, जिनवाणी में आई है ॥१०८॥

व्याख्यान—कई लोग काल की विवक्षा में मौन हो जाते हैं क्योंकि उनका कहना है कि कालद्रव्य है ही नहीं। **आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी** कह रहे हैं कि व्यपदेश का अर्थ नाम कथन होता है और नाम कथन उसी का होता है, जिसका अस्तित्व रहता है। घर में जो है ही नहीं, क्या उसका नाम रखते हैं? नहीं, क्योंकि जो है उसके एक, दो और प्यार के कई नाम रख लेते हैं। स्कूल का, घर का, नाना के घर का अलग रख लेते हैं। भगवान् को १००८ नामों से पुकारते हैं। काल भी है जो नित्य है अर्थात् आज तक मिटा नहीं, यदि मिटता है तो उत्पन्न भी होता है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है। जो व्यवहार काल है, वह मिनट, घड़ी, दिवस, मास और सागरोपम आदि रूप से दीर्घान्तर स्थायी भी घटित होता है। जो द्रव्य वर्तमान पर्याय को उत्पन्न करने की अपेक्षा से अपने पुत्र को उत्पन्न करने वाले पिता के समान समझता है। उसकी ये पर्यायें पहले भी थीं, अभी भी हैं और आगे भी होंगी। यदि पर्यायें पहले भी थीं तो उनको उत्पन्न करने वाला द्रव्य भी पूर्व में अवश्य था और उसके परिणमन के लिए काल भी सहयोगी अवश्य था। द्रव्य यदि परिणमनशील है तो उसको परिणमाने वाला निमित्त भी अवश्य है यदि द्रव्य में वर्तन की क्षमता है तो वह काल के बिना नहीं। वह निमित्तभूत काल कभी मिटता नहीं। उसे नित्य और निश्चयकाल कहा है। व्यवहारकाल पर्याय की अपेक्षा होता रहता है। निश्चयकाल की अपेक्षा कोई भी मिट नहीं सकता। पहले थे, अभी हैं और आगे भी रहेंगे लेकिन

भोपाल में ही रहो, ऐसा नहीं। भोपाल तो नीचे रहेगा और यह ऊपर चला जायेगा। बात समझ में आ गई। भोपाल या पर्याय के प्रति मोह मुक्ति में बाधक है। हाँ, जो भोपाल में रह रहे हैं, उनके प्रति भी मोह रहता है। यदि गुरु के प्रति राग हो जाए तो मुक्ति जल्दी मिल सकती है लेकिन उन्हीं को अपना स्वामी मान लें तो नहीं होगी। जब तक मोह छोड़ोगे नहीं, तब तक मुक्ति मिलने वाली नहीं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने काल की व्याख्या में क्षणिक भी कहा और नित्य भी। काल दो अक्षर वाला शब्द है। जो किसी के बारे में कुछ कहने वाला है, वह वाचक कहलाता है और जिसके बारे में कहते हैं, वह वाच्य है। यदि कोई शब्द नियुक्त किया है तो पदार्थ अवश्य होना चाहिए। जैसे–सिंह शब्द है तो कोई न कोई पदार्थ अवश्य होना चाहिए। सिंह सर्कस या जंगल में रहते हैं। मनुष्यों के नाम के पीछे भी सिंह लगाते हैं नरसिंह, दिग्विजयसिंह इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि पदार्थ के बिना शब्द का रुढ़ होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार ''**सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः**'' जो सबको जानता है, वह सर्वज्ञ है। यह सार्थक गुणनाम है, गुणवत्ता रखता है। यथानाम तथागुण है। स्वरूप की अपेक्षा नित्य है, अक्षर या शब्द की अपेक्षा भले ही मिट जाए क्योंकि पञ्चमकाल के अन्त में असि, मसि आदि षट् कर्म समाप्त हो जायेंगे तो 'काल' यह शब्द समाप्त हो जायेगा। इसका नाम 'मनुष्य' है ऐसा कोई भी नहीं कहेगा क्योंकि कोई रहेगा ही नहीं। शिल्प, विद्या, सब समाप्त हो जायेंगी। मकान–दुकान सब समाप्त हो जायेंगे, बिलों में रहेंगे। बिल बनाकर रहना पड़े इससे पहले अपना अच्छा स्थान बना लो; नहीं तो बिल में ही रहना पड़ेगा। जैसे–चूहा, साँप इत्यादि रहते हैं। मिट्टी खानी पड़ेगी, वह भी खाली होती जायेगी। मीठा जल भी नहीं मिलेगा। भोपाल के सारे तालाब सूख जायेंगे। समुद्र ही जब सूख जायेंगे तो यहाँ के तालाब का क्या होगा? इसीलिए यह जो मनुष्य जीवन मिला है, इसके एक-एक पल का सदुपयोग कर लो, जिससे कर्म कट जायेंगे, अन्यथा लाइट चली जायेगी तो अंधेरा घिर जायेगा। न लाइट रहेगी, न लालटेन सब समाप्त हो जायेगा। अग्नि का भी अन्त हो जायेगा, जानवरों की भाँति बिना उबाले जो कुछ मिलेगा वही खाना पड़ेगा, ऐसी स्थिति होगी। काल तो नित्य रहता है किन्तु व्यवहारकाल समय, सेकेण्ड, मिनट आदि का बुद्धि के द्वारा संकलन करके आज रविवार है, सोमवार है इत्यादि ध्यान रखते हैं। यदि ध्यान नहीं रहेगा तो वार, पक्ष, मास, वर्ष, पल्य, सागर कुछ भी समझ नहीं पायेगा। व्यवहारकाल भी अनन्तात्मक है। मनुष्य जीवन में भी ५-६ काल आ जाते हैं-गर्भकाल, बचपनकाल, कुमारकाल, जवानी का काल, प्रौढ़काल आदि। मनुष्य का जन्म हुआ, यह सिद्धान्त कहता है लेकिन लोकव्यवहार में बालक या बालिका का जन्म हुआ, ऐसा कहा जाता है। सिद्धान्त दीर्घ पर्याय की अपेक्षा मनुष्य जन्मा यह कहता है क्योंकि मनुष्य पर्याय में ही बचपन, किशोर, जवान, प्रौढ़ आदि सारी पर्यायें होती हैं, इसे व्यवहारकाल कहते हैं। बचपन आता है चला जाता है इसी तरह किशोर, प्रौढ़ आदि अवस्थाएँ आती हैं और चली जाती हैं लेकिन वृद्धावस्था आती है और ले जाती है इसलिए वह ले जाए, इसके पूर्व कुछ कमा लो।

उत्थानिका—काल की द्रव्य संज्ञा तो है पर काय संज्ञा नहीं, ऐसा कहते हैं –

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा।
लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥१०९॥

अन्वयार्थ—**(एदे)** ये पूर्व में कहे हुए **(कालागासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा)** काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्‌गल और जीव **(दव्वसण्णं)** द्रव्य संज्ञा को **(लब्भंति)** प्राप्त करते हैं **(दु)** परन्तु **(कालस्स)** काल द्रव्य के **(कायत्तं)** कायपना **(णत्थि)** नहीं है।

अर्थ—पूर्व में कहे हुए काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्‌गल और जीव ये सभी द्रव्य नाम को प्राप्त करते हैं परन्तु कालद्रव्य के कायपना नहीं है।

कालद्रव्य आकाशद्रव्य औ, धर्म-अधर्मद्रव्य भी हैं।
अनन्त पुद्‌गल और जीव ने, द्रव्य सु-संज्ञा पायी है॥
किन्तु मात्र इक कालद्रव्य ही, बहुप्रदेशी नहीं रहा।
इसीलिए तो अस्तिकाय इस, कालद्रव्य को नहीं कहा॥१०९॥

व्याख्यान—जिस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्‌गल और जीव इन पाँचों द्रव्यों में गुण और पर्याय हैं तथा जैसा इनका सद्द्रव्य लक्षण है, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य लक्षण है वैसे ही गुण, पर्याय आदि द्रव्य के लक्षण काल में भी हैं, इस कारण काल का नाम भी द्रव्य है। काल की और अन्य पाँचों द्रव्य की, द्रव्य संज्ञा तो समान है परन्तु धर्मादि पाँच द्रव्यों की काय संज्ञा है। जिनमें बहुप्रदेश होते हैं उसको काय कहते हैं। धर्म, अधर्म, जीव और लोकाकाश असंख्यातप्रदेशी हैं। पुद्‌गल परमाणु यद्यपि एकप्रदेशी है फिर भी पुद्‌गल में मिलन बिछुड़न शक्ति है इस कारण पुद्‌गल संख्यात, असंख्यात तथा अनन्तप्रदेशी भी है। परन्तु कालद्रव्य एकप्रदेशी है। बहुप्रदेश रूप काय भाव नहीं है। लोकाकाश के बराबर असंख्यात ही कालाणु हैं। अतः लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु रहता है। इसी कारण इस पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ में कालद्रव्य कायरहित होने के कारण, काल का मुख्यता से कथन नहीं किया। जीव-पुद्‌गल के परिणमन से समयादि व्यवहार काल जाना जाता है। जीव-पुद्‌गलों के नव-जीर्ण परिणामों के बिना व्यवहारकाल नहीं जाना जाता। यदि व्यवहारकाल प्रकट जाना जाए तो निश्चयकाल का अनुमान होता है। इस पञ्चास्तिकाय में जीव-पुद्‌गलों के परिणमन द्वारा कालद्रव्य जाना ही जाता है इसलिए काल की काय संज्ञा न होकर भी द्रव्य संज्ञा है।

उत्थानिका—अब पञ्चास्तिकाय के व्याख्यान से जो ज्ञानफल होता है वही दिखाते हैं –

एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं ॥११०॥

अन्वयार्थ—**(एवं)** इस तरह **(पंचत्थिय-संगहं)** पञ्चास्तिकाय का संग्रहरूप **(पवयणसारं)**

इस परमागम को **(वियाणित्ता)** जान करके **(जो)** जो **(रागदोसे)** राग और द्वेष को **(मुयदि)** छोड़ता है **(सो)** वह **(दुक्खपरिमोक्खं)** दुःखों से मुक्ति को **(गाहदि)** प्राप्त करता है।

अर्थ—इस तरह पञ्चास्तिकाय का संग्रह रूप इस परमागम को जान करके जो कोई राग और द्वेष को छोड़ देता है वह दुखों से मुक्ति पाता है।

यह पञ्चास्तिकाय संग्रह जो, प्रभु प्रवचन का सार रहा।
इसे जानकर पदार्थ से जो, राग-द्वेष को छोड़ रहा॥
वही आतमा भव दुःखों से, निश्चित मुक्ती पाता है।
यह परमागम ग्रन्थराज भी, उनकी महिमा गाता है ॥११०॥

व्याख्यान—यह पञ्चास्तिकाय नामक ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् दिव्यध्वनि का सार है, ऐसा श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने कहा है। इस पञ्चास्तिकाय संग्रह को अर्थात् द्वादशांग वाणी के रहस्य को अच्छे से जानकर जो राग-द्वेष को छोड़ता है, वह दुखों से मुक्ति पा जाता है। दुखों से मुक्ति पाने के लिए बहुत जानने की नहीं, राग-द्वेष को छोड़ने की आवश्यकता है। भले ही धीरे-धीरे कम करके छोड़े, पर एक दिन निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। कल्पना करें कि किसी ने अपने जीवनकाल में बगीचे में पेड़ लगाया। वह उसकी रखवाली करता है, खाद-पानी देता है, परिश्रम करता है जिससे वह बड़ा होता जाता है। अब जैसे ही एक फीट का हो गया, उस पर कोंपलें फूटने लग जाती हैं। जैसे-जैसे पेड़ बड़ा होता जाता है वैसे-वैसे नीचे के पत्ते अपने आप झड़ते जाते हैं। ऐसा ही संसार का स्वरूप है, जब तक हरा है तब तक तो ठीक है लेकिन जब वह पकने लगते हैं तो बागवान होशियारी के साथ पकने के पूर्व ही वह पत्ते निकालता चला जाता है, इससे उसकी ऊँचाई जल्दी बढ़ती है। इस दृष्टान्त से यही कहना है कि लड़का बड़ा हो गया है तो उसके हाथ में चाबी दे दो। पके पात की भाँति हो चुके हैं फिर भी आजकल दादा-बाबा अपने नाम से इकट्ठा करके बैठे हैं। दूसरों को मत दो अपने बच्चों को दे दो। एक बार **आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज** ने कहा था कि-जिसकी १०० वर्ष की उम्र हो गई वह पुण्यवान माना जाता है। वह कहता है-महाराज! यह लड़का हमारी बात नहीं मानता है, वह लड़का ८० वर्ष का है। उसका पुत्र जो ६० वर्ष का है वह नाती-पोता कहलायेगा। उसका ४० वर्ष का बेटा प्रपौत्र कहलाता है। उसका भी २० वर्ष का पुत्र है। पाँच पीढ़ी हो गईं अभी भी दद्दा कहते हैं कि बच्चे मानते नहीं। समझते नहीं, चाबी माँग रहे हैं पर मैं कैसे दे दूँ? बहुत बड़ा घर है। यह मोह की दशा सोचनीय है इसलिए पात पकने से पूर्व ही निकाल देना चाहिए, अपने नाम से कुछ नहीं रखना।

रागद्वेष कम करने की प्रेरणा—यह प्रवचन के सार या पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ जो छह द्रव्यों का संक्षिप्त वर्णन करने वाला है, इसे मुख्य रूप से परमसमाधि में रत जो मोक्षमार्गी हैं उन्हें सारभूत नवनीत की भाँति शुद्ध जीवास्तिकाय का चिन्तन करते रहना चाहिए। दूध में जामन डालते समय सोचते हैं कि अब घी तैयार करना है पर घी तैयार करने के लिए २४ घण्टे लग ही जाते हैं। उसी प्रकार

शुद्ध जीवास्तिकाय जो घी के रूप में है, उसे पाने के लिए पूर्व से ही तपस्या की जाती है। तप करते समय दुख भासित नहीं होता क्योंकि सारभूत शुद्ध जीवास्तिकाय मिलेगा। द्वादशांग का सारभूत तत्त्व शुद्ध जीवास्तिकाय है। जो अनन्तज्ञान का इच्छुक कर्मफल में राग-द्वेष को छोड़ता है तो उसे पुनः बन्ध नहीं होता। राग-द्वेष करने से कर्म बन्ध होते हैं फिर उदय में आते हैं और परम्परा बनी रहती है। राग-द्वेष बन्द करते ही परम्परा समाप्त हो जायेगी। राग-द्वेष मूलक ही संसार है इसलिए मूलभूत सिद्धान्त यह हो गया कि हर्ष-विषाद कम करना प्रारम्भ कर दो। कम करते-करते एक दिन पूर्ण समाप्त हो जायेगा। कम करने की यही विधि है।

ध्यान करने वाले प्रथम अपना लक्ष्य निर्धारित करके क्रमशः राग-द्वेष कम करते हुए मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। विकार रहित आत्मोपलब्धि की भावना से उत्पन्न परम सुखामृत से विपरीत जो चतुर्गति के शारीरिक व मानसिक दुख हैं, उसे छोड़ना चाहते हो तो राग-द्वेष का विनाश करो क्योंकि राग-द्वेष का नाश होते ही कर्म नहीं रहेंगे और कर्म नहीं रहेंगे तो सुख-दुख का सम्पादन भी नहीं होगा, यह युक्ति है। आत्मज्ञान की प्रसिद्धि के लिए मन में एकाग्रता लाना चाहते हो तो इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष मत करो। पहले के लोगों की अपेक्षा आजकल के लोग ज्यादा समझदार हैं लेकिन छोड़ने के विषय में नहीं, जोड़ने के विषय में ज्यादा होशियार हैं। छोटा-सा नाती, दादा को समझाता है आप नहीं जानते कि कम्प्यूटर क्या होता है? आपको तो बहुत परिश्रम करना पड़ता था, हम तो बैठे-बैठे सब कर लेते हैं लेकिन उससे आत्मज्ञान की बात पूछो तो कुछ बता नहीं पाता है। ऐसी स्थिति में बच्चों के बीच दादा कैसे रहते होंगे? हमें समझ में नहीं आता। सिर दर्द होता होगा, बोलो होता है या नहीं? इसलिए पर द्रव्यों से दृष्टि हटाओ क्योंकि इससे उनके मिटने का भय रहता है। अखण्ड आत्मतत्त्व का चिन्तन करेंगे तो भय नहीं रहेगा। भय संज्ञा-परिग्रह संज्ञा दोनों छोटी-बड़ी बहनों के समान हैं। परिग्रह है तो भय लगेगा। राग-द्वेष-मूर्च्छा परिग्रह के कारण होते हैं। किसी वस्तु के प्रति मूर्च्छा हो गयी वह छूटने लगी तो आर्त्त-रौद्र ध्यान होगा। परिग्रहानन्द, संरक्षणानन्द मूर्च्छा का आधार बाहरी वस्तु है। हम व्यवहार को प्रौढ़ता देते हैं, निश्चय को बौना बना देते हैं। जबकि निश्चय के माध्यम से ही आनन्द का प्रासाद खड़ा होता है।

उत्थानिका—अब दुखों को नष्ट करने का क्रम दिखाते हैं—

मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो ॥१११॥

अन्वयार्थ—(एतदट्ठं) इस [ग्रन्थ के सारभूत आत्म] पदार्थ को **(मुणिऊण)** जानकर **(तदणुगमणुज्झदो)** उसका अनुभव करने का उद्यमी **(णिहद-मोहो जीवो)** मोह से रहित जीव **(पसमिय राग-द्दोसो)** रागद्वेष को शांत करता हुआ **(हद-परावरो)** संसार से पार **(हवदि)** होता है।

अर्थ—इस ग्रन्थ के सारभूत आत्मपदार्थ को जान करके उसका अनुभव करने का उद्यमी जीव

मिथ्यादर्शन का नाश करके राग-द्वेष को शान्त करता हुआ संसार से पार हो जाता है।

जो नर ग्रन्थ रहस्य जानकर, शुद्धातम को पहचाने।
स्वात्म तत्त्व पाने का उद्यम, करके मिथ्यातम नाशे॥
राग-द्वेष से निवृत्त होकर, कर्म बन्ध का नाश करें।
दु:ख नष्ट करने का क्रम यों, श्री जिनराज स्वयं उचरें ॥१११॥

व्याख्यान—जो ग्रन्थ के रहस्यभूत शुद्धात्म पदार्थ को जानकर उसका अनुगमन करना प्रारम्भ कर देता है, वह मुनि होकर ध्यान के द्वारा सर्वप्रथम मोह का विनाश करता है, मोह से प्रभावित नहीं होता। जिस प्रकार युवा पदार्थों से प्रभावित होते हैं वैसे वृद्ध नहीं होते, उसी प्रकार ८ वर्ष का ही ज्ञानी क्यों न हो वह मोह से प्रभावित नहीं होता। ८० वर्ष के रागी-द्वेषी उन्हें देखते रह जाते हैं। होनहार भगवान् जब घर में रहते थे तब माँ मरुदेवी और परिवार के लोग सोचते थे कि आदिकुमार इतने गम्भीर क्यों रहते हैं? क्योंकि उन्होंने वैराग्यमय जीवन अपनाया है भले ही घर में काल व्यतीत कर रहे हैं लेकिन बहुत गम्भीरता के साथ रहते हैं। नाभिराजा स्वयं आदिकुमार के पास भेज देते थे कि जाओ वे ही सारी व्यवस्था समझायेंगे। ज्ञानी होने के उपरान्त राग-द्वेष छोड़ो यह कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वैराग्य का आधार एकमात्र तत्त्वज्ञान ही है। यदि वैराग्य नहीं है तो मात्र कहने का तत्त्वज्ञान है। कुछ भी छूट ही नहीं रहा है और ज्ञान बहुत रखते हैं तो किसके लिए ज्ञान है? मात्र दूसरों को समझाने के लिए है, स्वयं के लिए नहीं है। इसीलिए जो राग-द्वेष का प्रशमन करें, शान्त करें, वही संसार से पार होते हैं। संसार से पार होने के लिए नाव की भाँति एकमात्र स्वसंवेदन ज्ञान ही कारण है, जो मात्र शब्द के ज्ञान से नहीं होता। जो स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा जानने योग्य है, नित्य है, आनन्द से परिपूर्ण है ऐसा शुद्ध जीवास्तिकाय है। उसी का लक्ष्य बनाकर तब तक ध्यान करता है जब तक उसकी उपलब्धि नहीं हो जाती। शुद्धात्मा ही एकमात्र उपादेय है, उसी की रुचि रूप जो निश्चय सम्यग्दर्शन है उसका प्रतिबन्धक दर्शनमोह का क्षय करता हुआ चारित्रमोहनीय का भी क्षय कर लेता है, यह क्रम है। वैसे पहले दर्शनमोह का फिर चारित्रमोह का क्षय होता है लेकिन दर्शनमोहनीय के पहले चारित्रमोहनीय की प्रकृति, जो सम्यग्दर्शन को भी समाप्त करती है ऐसी अनन्तानुबन्धी चतुष्क का पहले क्षय करना आवश्यक होता है। इसीलिए यह निश्चित है कि चाहे सम्यक्त्व प्राप्त करें या निश्चयचारित्र प्राप्त करें पहले क्रोधादि कषाय जो राग-द्वेषात्मक हैं, उनका क्षय करना अनिवार्य है। क्षायिकसम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के अभाव में होता है और एक बार अभाव होने पर पुनः यह प्रकृति उत्पन्न नहीं होगी तथा वीतरागचारित्र के साथ जो सम्यग्दर्शन है वह भी निश्चयसम्यग्दर्शन है जो मोक्ष के लिए नियत है।

निश्चल आत्मा की परिणति रूप निश्चयचारित्र के प्रतिकूल जो चारित्र मोहनीय है उसके उदय का अभाव होने पर प्रशमित राग-द्वेष कहलाता है। इस प्रकार स्व-पर का भेद-विज्ञान होने से शुद्धात्मा

में रुचि रूप सम्यग्दर्शन होने पर शुद्धात्म स्थिति रूप चारित्र होता है तब संसार को दूर कर अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख आदि अनन्त गुणों का आधारभूत मोक्ष होता है। 'पर' शब्द का अर्थ मोक्ष माना है और उससे भिन्न 'परापर' अर्थात् संसार है। भव्य जीव उसका नाश करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष आत्मा के लिए हानिकारक हैं। इन्हें आज छोड़ें या कल, छोड़ना तो है ही, तो फिर कल छोड़ने की अपेक्षा आज से ही धीरे-धीरे छोड़ना प्रारम्भ कर दो। पहले के लोग गाड़ी से जाते थे। गाड़ियाँ भी बहुत कम चलती थीं तो बसस्टेण्ड पर आकर खड़े रहते थे, कई घण्टे की देरी होने पर भी वहीं प्रतीक्षा में बैठे रहते थे। पैदल चलने के आदी होने के कारण चलकर आगे निकल जाते, जहाँ गाड़ी आती वहीं हाथ खड़ा कर देते तो रुक जाती लेकिन मोक्षमार्ग में कोई गाड़ी आने वाली नहीं है इसीलिए प्रयोजनभूत तत्त्व को समझ लो।

द्वितीय महाधिकार
नवपदार्थ मोक्षमार्ग वर्णन

उत्थानिका—सर्वप्रथम आप्त की स्तुति करने की प्रतिज्ञा करते हैं–

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं।
तेसिं पयत्थभंगं मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि ॥११२॥

अन्वयार्थ—(अपुणब्भवकारणं) अपुनर्भव के [मोक्ष के] कारणभूत **(महावीरं)** श्री महावीर स्वामी को **(सिरसा अभिवंदिऊण)** सिर से नमस्कार करके **(तेसिं पयत्थभंगं)** उन षड्द्रव्यों के [नव] नव पदार्थरूप भेद तथा **(मोक्खस्स मग्गं)** मोक्ष का मार्ग **(वोच्छामि)** कहूँगा।

अर्थ—जिस पद के पाने से फिर जन्म न लेना पड़े ऐसे मोक्ष पद की प्राप्ति में जो निमित्त कारण हैं ऐसे श्रीमहावीर भगवान् को सिर झुकाकर नमस्कार करके, मोक्ष के मार्ग अर्थात् कारण स्वरूप छह द्रव्यों के नव पदार्थरूप भेद को कहूँगा।

अपुनर्भव अर्थात् मोक्ष के, निमित्त कारण वीर प्रभो।
तीन योग से शीश झुकाकर, हो वन्दन स्वीकार विभो॥
छह द्रव्यों के भेद रूप जो, नव पदार्थ हो जाते हैं।
शिवपथ के कारण हैं इनकी, गुरुवर गाथा गाते हैं॥११२॥

व्याख्यान—अभी तक छह द्रव्य का प्ररूपण किया गया। सात तत्त्वों में पुण्य-पाप मिलाने से नव पदार्थ हो जाते हैं। यहाँ पर दस अन्तराधिकार हैं। प्रथम अन्तराधिकार में नमस्कार गाथा को आदि में लेकर चार गाथाओं तक व्यवहार मोक्षमार्ग की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं। यह प्रथम अन्तराधिकार की समुदाय पातनिका है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी को नमस्कार करके मोक्षमार्ग को दिखाने वाले पञ्चास्तिकाय, छहद्रव्य और नवपदार्थ रूप भेद को कहने की प्रतिज्ञा के साथ शुद्धोपयोग की लहर लेने वाले हमारे गुरुदेव श्री कुन्दकुन्दस्वामी द्वारा मंगलाचरण किया जा रहा है।

तीर्थंकर अपुनर्भव के लिए कारणभूत—महावीर भगवान् अपुनर्भव के लिए कारणभूत हैं। वह स्वयं तो निर्वाण प्राप्त कर ही चुके हैं और जो भी इनके नाम का स्मरण करेंगे उनके लिए भी निर्वाण के कारण बन जाते हैं। उनके नाम लेने से भी असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा हो जाती है। आदिनाथ प्रभु को हुए बहुत काल बीत गये फिर भी आज आदिनाथ भगवान् की जय बोलते हैं। भक्तामर का पाठ करते-करते लीन हो जाते हैं। भक्ति में लीन होकर कर्म की निर्जरा कर लेते हैं जिससे दुखों का अभाव

हो जाता है इसीलिए "**अपुनर्भव कारणं महावीरं**" कहा है। उन्हें हाथ जोड़कर सिर झुकाकर प्रणाम करके मोक्ष के कारण स्वरूप पाँच अस्तिकाय, छह द्रव्य और नव पदार्थ रूप भेदों को कहते हैं। मोक्ष जाना है तो इसका रास्ता कौन सा है? इसे जानना आवश्यक है। बिना मार्ग जाने कदम बढ़ाना मुश्किल है। बीनाबारहा आना है तो कहाँ से आओगे? तारादेही से या गौरझामर से भी आ सकते हैं। कई महाराज शॉर्टकट से निकल जाएँ तो उनके पीछे-पीछे और भी चले जाते हैं, यह सोचकर कि उनका जो होगा वही हमारा भी होगा। पहले बीना क्षेत्र नहीं आयेगा, बारहा आयेगा। भटकते-भटकते १२ बजे तक आ जाते हैं क्योंकि शॉर्टकट में बहुत सारी पगडंडियाँ होती हैं, इसलिए भटक जाते हैं अतः एक रास्ता होना चाहिए। जब मोबाइल पर बात होती है तब साथ चलने वाले लोग कहते हैं कि भटक गए हैं। कहाँ तक आए? अब क्या बतायें? ऐसी स्थिति हो जाती है। इसीलिए यहाँ महावीर भगवान् को याद किया जो मोक्षधाम पहुँच गए और हमें मार्ग दिखाकर सुविधा कर दी। अब उनकी अनुपस्थिति में भी, परोक्ष में भी आज रत्नत्रय की आराधना कर रहे हैं। रत्नत्रय की टिकिट लेकर चलेंगे तो पहुँचेंगे, अन्यथा भटक जायेंगे।

मन को जीतना ही वीरत्व—मोक्षसुख के आनन्दामृत का पान करने की जिनकी प्यास जाग चुकी है, ऐसे भव्य जीवों के लिए परम्परा से अनन्तज्ञानादि गुण के फल रूप जो मोक्ष है उसका कारण भगवान् महावीर का नाम लेने से साक्षात् मुक्ति तो नहीं मिलती अर्थात् शुक्लध्यान तो नहीं होता लेकिन इन्द्रिय और मन को वश में रखकर महान् वीर अवश्य बन जाता है। जो कर्मों को काटता है, उसका नाम महावीर है। दूसरों को जीतने का नाम महावीर नहीं है। दुनिया के प्राणी अन्य जीवों को मारकर या दूसरों को जीतकर स्वयं महावीर बनना चाहते हैं। शान्ति से बैठकर सोचो! अपने मन में दूसरों के प्रति कैसे-कैसे भाव उत्पन्न होते हैं? मन, वचन, काय की क्या-क्या चेष्टाएँ करते हैं? अपने बारे में अभिमान पूर्वक सोचता है या औरों के प्रति ईर्ष्या पूर्वक सोचता है। यदि लिखने बैठें तो कई पृष्ठ भर जायेंगे, इतना सोचता है। अपने मन को जीतना ही वीरत्व है। भगवान् महावीर का नाम लेकर स्वयं को जीतने का संकल्प करो। मोह को जीतने के लिए रत्नत्रय की आराधना जहाँ होती है, उस महाधर्मतीर्थ के प्रतिपादक होने से प्रभु प्रमाणभूत हैं अर्थात् विश्वास के योग्य हैं क्योंकि वे अपने आप को जीतने वाले थे। इस प्रकार इस गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा मंगल के लिए ग्रन्थकार इष्टदेवता को नमस्कार करते हैं। २४ तीर्थंकर, पञ्चपरमेष्ठी आदि इष्ट होने से सब अपने-अपने इष्टदेवता का स्मरण करते हैं।

शंका—मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

समाधान—शुद्धात्मा के प्रति रुचि रूप प्रतीति अर्थात् सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान और निश्चल अनुभूतिरूप सम्यक्चारित्र ऐसा अभेद रत्नत्रयात्मक निश्चयमोक्षमार्ग है। जो परम्परा से कारणभूत है वह व्यवहारमोक्षमार्ग है। उस व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के विषयभूत छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय

और नवपदार्थ हैं, जिसका प्रतिपादन करने की प्रतिज्ञा करते हैं। आगे चूलिका में मोक्षमार्ग का विशेष व्याख्यान है। यहाँ नवपदार्थ का संक्षिप्त से प्रस्तुतिकरण है। व्यवहारमोक्षमार्ग में जो नवपदार्थ को नहीं मानते, उनका मोक्षमार्ग नहीं बन सकता। कुछ लोग पाप-पुण्य को एक मानते हैं तो आठ ही पदार्थ होंगे। एक पदार्थ की कमी होने से उन्हें सम्यग्दर्शन तो मिल ही नहीं सकता क्योंकि नवपदार्थ का यथार्थ श्रद्धान करना कहा है। जिसे निश्चय से आठ पदार्थों पर विश्वास है और व्यवहार से नवपदार्थ पर श्रद्धान है उसे भी सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता, यह निश्चित बात है इसलिए नवपदार्थ ही मानना, किसी के बहकावे में नहीं आना। पदार्थ निश्चयसम्यक्त्व तो नहीं हैं परन्तु उसके होने में कारणभूत हैं जो परम्परा से मोक्ष पहुँचायेंगे। निश्चयसम्यग्दर्शन जो वीतरागचारित्र के साथ अविनाभाव रखता है, उस निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण व्यवहारसम्यग्दर्शन है। व्यवहारसम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र ये व्यवहारमोक्षमार्ग के तीन अंग हैं। निश्चयमोक्षमार्ग में निश्चयसम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र रहता है। यहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग की बात कही है इसलिए नवपदार्थ पर विश्वास रखना चाहिए।

अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रमोहनीय का भेद होते हुए भी वह दर्शन व चारित्र दोनों का घात करती है। क्षायिकसम्यक्त्व की प्राप्ति में सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी का क्षय अथवा विसंयोजना की जाती है तभी दर्शनमोह का क्षय होता है। इसी प्रकार क्षायिकचारित्र की प्राप्ति के लिए भी दर्शनमोह के साथ-साथ चारित्रमोहनीय का क्षय करना अनिवार्य होता है, यह आगम है क्योंकि वह इसका प्रतिपक्षी है। **प्रतिपक्षी के साथ आतम पक्षी उड़ नहीं सकता**। संक्षेप से यह वर्णन किया।

उत्थानिका—मोक्षमार्ग का संक्षेप कथन करते हैं—

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥११३॥

अन्वयार्थ—(लद्धबुद्धीणं) लब्धबुद्धि-भेदविज्ञानी **(भव्वाणं)** भव्य जीवों को **(सम्मत्त-णाण-जुत्तं)** सम्यक्त्व और ज्ञान से संयुक्त **(रागदोसपरिहीणं)** रागद्वेष रहित **(चारित्तं)** चारित्र **(मोक्खस्स मग्गो)** मोक्ष का मार्ग **(हवदि)** होता है।

अर्थ—सम्यक्त्व और ज्ञान से संयुक्त, राग-द्वेष से रहित जो चारित्र है वह मोक्ष का मार्ग है। जो भेदविज्ञानी भव्यजीव हैं उन्हें ही मोक्ष का मार्ग प्राप्त होता है।

जब सम्यक् श्रद्धान युक्त औ, सम्यक्ज्ञान सहित रहता।
राग-द्वेष बिन चरित्र हो तब, मुक्ती का मारग बनता॥
स्व-पर विवेक, ज्ञान, बुद्धि या, लब्ध बुद्धि कहलाता है।
वही भव्य आतम आगम से, मोक्षमार्ग पा जाता है ॥११३॥

व्याख्यान—मोक्षमार्ग के तीन अंग हैं जिनके बिना मोक्षमार्ग नहीं बनेगा। जिनके पास अभी

चारित्र नहीं है ऐसे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को जो मोक्षमार्गी मान बैठे हैं, वे इस गाथा से भिन्न मान्यता वाले हैं। **आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव** कहते हैं कि–निश्चयमोक्षमार्ग भी तीन रूप है और व्यवहार मोक्षमार्ग भी तीनों के मिलने से होता है। तीनों के मिलने से मोक्षमार्ग बनता है, एक से नहीं। कभी उपमा देते हुए सम्यग्दर्शन का महत्त्व बताने के लिए कह देते हैं कि **''मोक्षमहल की परथम सीढ़ी या बिन ज्ञान चरित्रा''** तीन सीढ़ियाँ कर दी अर्थात् तीन अंगुलियाँ देख लो, अंगूठा और छोटी अंगुली को दबा दो वास्तव में प्रथम, द्वितीय और तृतीय सीढ़ी रूप ऐसा मोक्षमार्ग नहीं है, तीनों मय होता है। यही बात यहाँ कही गई है, इसे याद रखना। दो या एक में नहीं होगा, जब रस्सी बनाते हैं तो उसमें तीन लड़ रहती हैं। वह आपस में एक दूसरे में गुथ जाती हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र रूपी तीन लड़ें एकतारूप से गुथ जाएँ तभी मोक्षमार्ग रूपी रस्सी बनती है। इससे स्पष्ट है कि तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग होता है। चारित्र क्या है? यह पूछने पर कहा कि–राग-द्वेष से रहित होना चारित्र है। राग-द्वेष धीरे-धीरे छूटते हैं। मानलो कोई हायर सेकेण्डरी के बाद आर्ट्स लेना चाहता है तो बी० ए० का छात्र माना जाता है। यदि कॉमर्स लेता है तो बी० कॉम० और मैथ्स साइंस लेता है तो बी० एस० सी० का विद्यार्थी कहलाता है। अब एक साल पढ़कर उसे छोड़ना चाहता है अथवा दो साल या फाइनल में आकर भी परीक्षा नहीं देता है तो उसे बी० ए०, बी० कॉम० और बी० एस० सी०पास नहीं कहेंगे, न ही उसका प्रमाणपत्र मिलेगा। उसी प्रकार मात्र सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से मोक्षमार्गी नहीं कहलाता है। आजकल तो अपने आप प्रमाणपत्र बाँटने की दुकान खुल गई है। जब योग्यता का ही अभाव रहता है तो उस समय इधर-उधर देखने लग जाता है। इसलिए ३ वर्ष के नम्बर पूरे मिलाकर बाद में डिवीजन या प्रतिशत बताते हैं और बी० ए०, बी० कॉम०, या बी० एस० सी० की डिग्री मिल जाती है। इसी प्रकार किसी को अकेला सम्यग्दर्शन होता है तो किसी को चारित्र भी एकसाथ हो जाता है। मात्र फर्स्टईयर करने से डिग्री नहीं मिलेगी, प्राइमरी जैसे नहीं चलेगा। बेचलर का अर्थ–अपरिपक्व है और निश्चय मोक्षमार्ग पोस्ट ग्रेज्युएशन कहलाते हैं। उसके भी दो साल होते हैं। इसलिए कम से कम बेचलर तो हो जाओ। **सांसारिक विषयों में नहीं रमना ही राग-द्वेष से रहित होना माना है।** कई लोग कहते हैं कि हम चुटकी बजाते ही तेरा-मेरा छोड़ देंगे, लेकिन कहना आसान है, छोड़ना कठिन है। राग-द्वेष छोड़ने के पहले तेरा-मेरा छोड़ा जाता है। जो घर बसाया है पहले उसे कह दो कि यह मेरा नहीं है तब बाद में हम सोचेंगे। परीक्षा भी करनी पड़ेगी क्योंकि ऊपर-ऊपर छोड़ने से कुछ नहीं होगा। शर्त के साथ दीक्षा थोड़े ही होती है। शुद्धात्मानुभूति को प्रच्छादन करने वाले बन्ध के साथ मोक्ष नहीं हो सकता। जो अनन्तज्ञानादि मौलिक रत्नों से पूरित मोक्षनगर है वह मार्ग पर चलने से ही मिलता है, अमार्ग से नहीं मिल सकता।

गृह त्याग से ही राग का अभाव–जो भगवान् होने वाले हैं वे भी जब तक घर में रहते हैं तब तक मुक्ति नहीं पाते हैं। राम जब तक भवन में थे तब तक भगवान् नहीं बने। जब वे वन गए तो

सीता भी मन से बाहर चली गई। इससे स्पष्ट है कि जब तक घर में हैं तब तक घर के प्रति राग अवश्य बना रहता है। कम होना अलग बात है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का घर के प्रति राग समान नहीं होता, लेकिन घर में रहकर राग ही नहीं रखें, ऐसा नहीं हो सकता। डर के कारण भले ही न कहो पर भीतर में तो राग है। कुछ लोग आकर कहते हैं–महाराज! हमें तो घर से कुछ मतलब नहीं है और यह भी कहते हैं कि हम अपने लिए कुछ नहीं करते हैं। (अपने लाने कछु नई करत) तो किसके लिए करते हो? सब बच्चों के लाने करत हैं। बच्चे भी कहेंगे–हम भी अपने बच्चों के लिए करते हैं अर्थात् कोई भी घर में अपने लिए कुछ नहीं करते। दाल-रोटी खाते हैं और भजन करते हैं बाकी बच्चों के लिए सब कर रहे हैं, ऐसी बातें बनाते हैं। बहुत कठिन है राग छोड़ना। काजल की कोठरी कहते हैं यह तो फिर भी ठीक है, वास्तव में तो डामर की कोठरी है क्योंकि काजल को आँखों में लगा लेते हैं तो आँखें सुन्दर दिखती हैं, पर डामर लगा लें तो बर्बाद ही हो जायेंगी। नजर न लगे इसीलिए काजल का डठूला लगा देते हैं लेकिन किसी माँ ने डामर का डठूला आज तक नहीं लगाया। **''जलतैं भिन्न कमल है''** यह जो उपमा सम्यग्दृष्टि के लिए दी है, वह हम नहीं देंगे क्योंकि कमल ने पूरी तरह पानी पी रखा है, अब उसमें जल की एक बूँद भी नहीं आ पाती है क्योंकि नाल सहित पानी उसमें भर चुका है। अब एक बूँद के लिए भी कमल में स्थान है ही नहीं। यदि उसमें जल भरा न होता तो सूख गया होता। तब **''जलतैं भिन्न कमल है''** यह कहना उचित था।

घर में नाती-पोते हो जाएँ तो सबसे ज्यादा पसीना दादा को आता है क्योंकि उन्हीं के साथ दिन निकालते हैं। सबसे ज्यादा उन्हीं को मोह रहता है भले ही व्यक्त नहीं कर पाते, यह बात अलग है। शुद्धात्मा की अभिव्यक्ति रूप जो भव्यत्व है, उन्हीं को यह मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। मोक्ष या शुद्धात्मा के प्रति जिन्हें अनुराग नहीं है, ऐसे अभव्य मोक्षमार्गी नहीं हो सकते। सम्यग्दर्शन प्राप्त होते ही भव-भोगों से उदासीनता आ जाती है। वे घर से स्टेशन की ओर चले गए हैं। जब तक गाड़ी नहीं आयेगी तब तक वहीं बैठे रहेंगे, घर नहीं जायेंगे। वहीं बैठकर चर्चा करते रहेंगे पर भूलकर भी घर जाने की बात नहीं करते।

मोक्षमार्ग में कार्य-कारण का कथन–निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान युक्त जो जीव हैं उन्हें ही मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। मिथ्यात्व, रागादि भाव से जो सहित हैं ऐसे विषय लोलुपी जीवों को प्राप्त नहीं होता। कषाय रहित होने पर ही शुद्धात्मा की उपलब्धि रूप मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार साधक कारण सहित और बाधक कारण रहित होने पर ही यह विधान सिद्ध होता है। जिसके रहने पर कार्य की सिद्धि हो वह अन्वय कहलाता है और जिसके न रहने पर कार्य नहीं होता उसे व्यतिरेक कहते हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र मुक्ति के लिए अन्वय कारण हैं और रत्नत्रय के अभाव होने पर मुक्ति भी नहीं होती यह व्यतिरेक कारण है। निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग यह दो मोक्ष के कारण हैं। मोक्षरूप कार्य इसी से होता है, यह विधि रूप अन्वय कहलाता है और इन कारणों के अभाव में

मोक्षमार्ग नहीं होता, यह निषेध रूप व्यतिरेक माना जाता है। जैसे–जहाँ धुँआ होगा वहाँ अग्नि अवश्य होगी क्योंकि अग्नि सुलगाने से ही धुँआ पैदा होता है। धूम को पैदा करने वाला कोई न कोई कारण विद्यमान है और वह कारण अग्नि है। धूम से अग्नि की सत्ता ज्ञात हो जाती है। यदि अग्नि नहीं है तो धूम नहीं है यह सिद्ध हो जाता है। अग्नि के बिना धुँआ नहीं लेकिन जहाँ–जहाँ अग्नि है वहाँ–वहाँ धुँआ हो ही, यह नियम नहीं है किन्तु यह अग्नि का ही कार्य है, यह सिद्ध होता है। इस प्रकार कार्य–कारण का अभिप्राय ध्यान में रखना चाहिए।

उत्थानिका–अब सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का स्वरूप कहते हैं–

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ॥११४॥

अन्वयार्थ–(भावाणं) पदार्थों का **(सद्दहणं)** श्रद्धान करना **(सम्मत्तं)** सम्यक्त्व है। **(तेसिं)** उनका **(अधिगमो)** जानना **(णाणं)** सम्यग्ज्ञान है **(विरूढमग्गाणं)** मोक्षमार्ग में आरूढ़ जीवों का **(विसयेसु)** इन्द्रियों के विषयों में **(समभावो)** समताभाव रखना **(चारित्तं)** सम्यक्चारित्र है।

अर्थ–पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, उनका अवबोध (जानपना) सम्यग्ज्ञान है, मोक्षमार्ग में आरूढ़ जीवों का इन्द्रियों के विषयों में समता भाव रखना सम्यक्चारित्र है।

नवपदार्थ की प्रतीति पूर्वक, दृढ़ता सम्यग्दर्शन है।
सम्यग्ज्ञान कहा पदार्थ का, जो यथार्थ अवबोधन है॥
पञ्चेन्द्रिय के विषयों में जो, नहीं प्रवर्तन करते हैं।
वे समभावी राग-द्वेष बिन, सम्यक् चारित धरते हैं ॥११४॥

व्याख्यान–पदार्थों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है और आत्मानुभूति रूप निश्चय सम्यग्दर्शन मुक्ति या केवलज्ञान के लिए कारणभूत है। इसकी निश्चय ज्ञान व चारित्र के साथ व्याप्ति होती है, इसे शुद्धात्मानुभूति भी कहते हैं। जो इसे चतुर्थ गुणस्थान में लगा देते हैं, वह उचित नहीं है। वहाँ नवपदार्थ, छह द्रव्य, सात तत्त्व और पञ्चास्तिकाय का श्रद्धान रूप सम्यक्त्व है। समभाव का अर्थ–शुद्धात्मानुभूति नहीं है, बल्कि विषय–कषायादि के प्रसंग मिलने पर भी उनमें राग–द्वेष नहीं करना यह समभाव है। जो पञ्चेन्द्रिय विषयों से ऊपर उठ चुके हैं ऐसे समभाव का नाम चारित्र है। समभाव अर्थात् पञ्चेन्द्रिय विषयों का त्याग करने पर किसी के प्रति आकर्षण नहीं और विकर्षण भी नहीं। आकर्षण और विकर्षण राग–द्वेष से सम्बन्धित हैं अतः समभाव का नाम ही चारित्र है। **समयसार** के पुण्य–पाप अधिकार में भी ऐसी एक गाथा आयी है–

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रागादि परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१६२॥

रागादि का परिहार बुद्धिपूर्वक होता है, वही यहाँ पर समभाव कहा है। इन दोनों गाथाओं में विशेष अन्तर नहीं है।

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग का कथन—मिथ्यात्व के उदय से जो विपरीत अभिनिवेश होता है वही मिथ्यात्व है, इससे रहित होने को सम्यक्त्व कहते हैं। यहाँ दृष्टि की नहीं, श्रद्धा की बात कही जा रही है। जिन पदार्थों को सम्यग्दृष्टि देखता है उसकी श्रद्धा ऐसी बन गई है कि इसके उपयोग से बन्ध होता है और इनका उपयोग न करने से बद्ध कर्मों से मुक्त होता है या कर्म झड़ जाते हैं, यह आस्था का विषय है। इस आस्था के कारण ही विषयों को छोड़कर मोक्षमार्ग में आरूढ़ हो सकता है। छह द्रव्य, सात तत्त्व आदि का श्रद्धान करना, जानना और समभाव रखना यही मोक्षमार्ग का स्वरूप है। भले ही आत्मध्यान करने में कमजोर है लेकिन इस प्रकार का श्रद्धान, ज्ञान और समभाव की वृत्ति तो रखी जा सकती है, यह भी कम नहीं है। यद्यपि यह शुभोपयोग की भूमिका में होती है फिर भी विषयों से बचने में कारण है। इस धर्मसभा में कोई पंखा नहीं चल रहा और भी कोई विशेष प्रबन्ध नहीं है फिर भी यहाँ शान्ति से क्यों बैठे हुए हैं? क्योंकि उधर उपयोग नहीं है। विषयों की ओर या धन की ओर ध्यान जाता है तो धर्म छूट जाता है। जिसकी जितनी सामर्थ्य है उतना-उतना कर रहे हैं। इस तरह आलम्बन लेकर जो मोक्षमार्ग पर चलता है। उसका नाम व्यवहारमोक्षमार्ग है। निश्चयमोक्षमार्ग में आत्मध्यान की मुख्यता रहती है। मुनिराज ही निश्चयमोक्षमार्गी माने जाते हैं। यद्यपि मुनिराज की भी प्रवृत्ति रहती है किन्तु बहुत कम होती है। एक किराने की दुकान होती है जहाँ बहुत सारी वस्तुएँ रहती हैं। दुकानदार को बहुत उठक-बैठक करनी पड़ती है इससे उसकी घर में दाल-रोटी चलती रहती है, लेकिन जो जौहरी की दुकान रहती है वह स्वयं उठक-बैठक नहीं करते, इसके लिए अन्य व्यक्ति रहते हैं और उनका काम चलता रहता है। माल ग्राहकों को दिखाने की कोई आवश्यकता नहीं, ग्राहक यदि देखना चाहते हैं तो कह देते हैं बड़े भैया बाहर गए हैं। उन्होंने कहा है कि मैं जब तक न आऊँ तब तक बेचना नहीं। फिर भी आप कहते हो तो फोन लगाकर पूछ लेते हैं। ग्राहक चाहता है कि वह नग हमें मिल जाए और इस प्रकार आप बिना उठक-बैठक किए करोड़ों रुपये कमा लेते हैं। ऐसे ही शुद्धोपयोग की आराधना करने वाले मुनिराज होते हैं। दूसरे शुभोपयोगी जीव हैं। ये दोनों ही व्यापारी के समान हैं लेकिन जो लोग व्यापार करते ही नहीं, उनका क्या होगा? विषय-कषाय में ही लगे रहते हैं। उन्हें यह भी ज्ञान नहीं है कि इससे आत्मा की कितनी हानि है। नवपदार्थ को विषय बनाने वाला व्यवहारसम्यग्दर्शन माना जाता है। शुद्धात्मानुभूति वाला निश्चय सम्यग्दृष्टि है। उसे छद्मस्थ अवस्था में स्वसंवेदन ज्ञान है, जो परम्परा से केवलज्ञान का बीज है। व्यवहारसम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, निश्चयसम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र और क्षायिकसम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन हो गए। व्यवहाररत्नत्रय शुभोपयोग की भूमिका में होता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि यदि नवपदार्थ को विषय बनाता है तो दर्शन मोहनीय का क्षय होते हुए भी वह

व्यवहारसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। व्यवहार निश्चय का बीजभूत है, जब निश्चय रूप समाधि में लीन होगा तब व्यवहार बीजभूत कहलायेगा। निश्चयसम्यग्दर्शन, निश्चयचारित्र के साथ अविनाभाव रखता है।

शंका—परम्परा से कारण होने से व्यवहार को ही निश्चयसम्यग्दर्शन कह दें तो क्या बाधा है?

समाधान—पहले आगमार्थ, नयार्थ, मतार्थ, भावार्थ आदि का ज्ञान रखो, अन्यथा कुछ समझ में नहीं आयेगा। निश्चयसम्यग्ज्ञान केवलज्ञान का बीज है और व्यवहारसम्यग्ज्ञान निश्चयसम्यग्ज्ञान का कारण है। इन्द्रिय और मन के विषय शुभभावों से सुखरूप और अशुभभावों से दुखरूप होते हैं। सम्यग्ज्ञान के बल से जीव कुमार्ग से बचकर सन्मार्ग में लगे रहते हैं। जिन्हें सच्चा मोक्षमार्ग प्राप्त हो गया है उनकी व्यवहारचारित्र रूप जो बाह्य साधना है वह वीतरागचारित्र की भावना से उत्पन्न आत्मतृप्ति रूप निश्चयसुख का बीज है और निश्चयसुख, अक्षय-अनन्तसुख का बीज है। यहाँ साध्य-साधक भाव का ज्ञान कराने के लिए निश्चय और व्यवहारमोक्षमार्ग की मुख्यता है अर्थात् निश्चयमोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्ग का साधन है। उसी की मुख्यता से यहाँ कथन किया।

अपायविचय धर्म्यध्यान करने की प्रेरणा—समता भाव वही रखता है जो पञ्चेन्द्रिय है। जो यह सोचता है कि मैं इन मिथ्यादृष्टि जीवों को कैसे और कौन सा सहयोग दूँ? जिससे इनकी दृष्टि बदल जाए और आस्रव-बन्ध से बच जाएँ, स्वात्मतत्त्व से जुड़ जाएँ और मुक्ति मिल जाए, ऐसी भावना करना भी धर्म्यध्यान है। व्यर्थ की जो बातें करते हैं, वह कम हो सकती हैं। ऐसा करना कठिन तो है लेकिन इधर-उधर की बातों में या विषयों में घण्टों समय बर्बाद करने से अच्छा है दूसरों को सम्यग्दृष्टि बनाने में, उसकी बुद्धि पलटाने में, उसे समझाने में बुद्धि और समय को लगाया जाए। आर्त-रौद्र ध्यान में रात-दिन पूरे हो जाते हैं। हेयतत्त्व में ज्यादा एकाग्रता आती है, उपादेय में नहीं। समय फालतू रहता है तो ताश के पत्तों में पूरी रात निकल जाती है, पैसा भी पूरा हो जाता है। अतीत का अनन्तकाल भी इसी तरह बीता है। यही इतिहास रहा है इसकी कोई आदि नहीं है। अब थोड़ा-बहुत जो समय बचा है उसमें सभी के कल्याण की भावना करो, यही अपायविचय धर्म्यध्यान है। **अपने बारे में नहीं रोना, दूसरों को दुखी देखकर रोना आ जाए यह धर्म्यध्यान है।** कई लोग आकर कहते हैं-महाराज! धर्म्यध्यान का कोई सस्ता उपाय बता दीजिए, तो हमने कहा-बिल्कुल सस्ता रास्ता बता देते हैं। माल भी बहुत मिलेगा, बस एक काम करना कि **अपने दुख में नहीं रोना, दूसरों के दुख में रोना। दूसरों का दुख दूर कैसे हो? यह विचार करना। अपना दुख कहने से तो आर्तध्यान हो जायेगा। अपना दुख शान्ति से सहना यही वास्तविक धर्म्यध्यान है, जो सस्ता भी है, सुन्दर भी है और टिकाऊ भी है।** इसमें कोई पूँजी लगाने की भी आवश्यकता नहीं है। कोई लूटना चाहे तो लूट ले, अपनी आँखों में पानी नहीं लाना और दूसरों के आँसू पोंछने चले जाना। यह

अपायविचय धर्म्यध्यान का वर्णन **तत्त्वार्थसूत्र** ग्रन्थ के नौवें अध्याय में आया है। अपना ही संकट दूर हो जाए ऐसा नहीं, सबका संकट दूर हो, मेरा भले ही बाद में हो, ऐसी भावना रखनी चाहिए। इसमें भी ध्यान रखना, मायाचारी नहीं करना क्योंकि सबमें हम भी आ जाते हैं, हमारा भी इसी में भला है। यह धर्म्यध्यान अनपढ़ भी कर सकता है बल्कि और अच्छे से कर लेता है क्योंकि वह सावधान रहता है कि हम पढ़े-लिखे तो हैं नहीं, इसलिए विवेकपूर्वक सावधानी से करता है। जब पशुओं को भी धर्म्यध्यान हो सकता है तो फिर मनुष्यों को क्यों नहीं? लेकिन आजकल मनुष्य की धारणा अलग ही बनती जा रही है कि पशु क्या धर्म्यध्यान करेंगे? पर वास्तव में पशुओं में भाव से धर्म्यध्यान होता है, वे द्रव्यलिंगी नहीं होते। आगम में कहीं पर भी नहीं आया कि जैसे मिथ्यात्व के साथ द्रव्यलिंगी मुनि नौवें ग्रैवेयक तक जा सकते हैं वैसे तिर्यञ्च कभी भी द्रव्यलिंग के माध्यम से सोलहवें स्वर्ग चले गए हों। वे पवित्र भाव धारण करके ही वहाँ तक चले जाते हैं इसलिए तिर्यञ्च भी धर्म्यध्यान के स्वामी हैं।

दूसरे घर वालों को डाँट नहीं सकते क्योंकि आत्मीयता नहीं है। अपने व्यक्ति को डाँट सकते हैं, गुरु अपना मानकर शिष्यों को डाँटते हैं। "**छड़ी पड़े धम-धम, विद्या आवे छम-छम**" माता-पिता भी ऐसे गुरु को बच्चा सौंप देते थे ताकि बच्चा डर के कारण अच्छे से पढ़ ले, लेकिन आज तो बच्चों को कुछ कह नहीं सकते। वैसे माँ प्रथम गुरु मानी जाती है पर आज तो स्वयं माता-पिता के ही संस्कार समाप्त हो गए हैं। इसलिए अपायविचय धर्म्यध्यान करने का पुरुषार्थ करें इसके लिए कुछ पैसा भी नहीं लगता, यह केवल भावों से होता है।

उत्थानिका—आगे व्यवहार सम्यग्दर्शन को कहते हैं—

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावदो भावे।
पुरिसस्साभिणिबोधे दंसणसद्दो हवदि जुत्तो ॥११५॥

अन्वयार्थ—**(एवं)** जैसा पहले कहा है **(जिणपण्णत्ते)** वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए **(भावे)** पदार्थों को **(भावदो)** रुचिपूर्वक **(सद्दहमाणस्स)** श्रद्धान करने वाले **(पुरिसस्स)** भव्य जीव के **(अभिणिबोधे)** ज्ञान में **(दंसणसद्दो)** सम्यग्दर्शन का शब्द **(जुत्तो)** उचित **(हवदि)** होता है।

अर्थ—जैसा पहले कहा है वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए पदार्थों को रुचिपूर्वक श्रद्धान करने वाले भव्य जीव के ज्ञान में सम्यग्दर्शन का शब्द उचित होता है।

जैसा पहले किया गया, व्यवहार मोक्षपथ का वर्णन।
वीतराग सर्वज्ञ जिनेश्वर, द्वारा ही यह हुआ कथन॥
प्रभु प्रणीत तत्त्व का रुचि से, भव्य जीव श्रद्धान करे।
तो वह व्यवहारी सम्यक्त्वी, कहलाता यह बोध धरें॥११५॥

व्याख्यान—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् द्वारा बताये हुए पदार्थों का रुचिपूर्वक श्रद्धान करने वाले भव्य जीवों को ज्ञान और श्रद्धान दोनों के लिए सम्यग्दर्शन शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रद्धान भव्य जीव को ही होता है यह निश्चित है क्योंकि जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहता है वही विश्वास करेगा, अनेकों से पूछताछ करेगा फिर निश्चय करेगा कि हाँ, यही सही मार्ग है। यह सब बिना रुचि के सम्भव नहीं है। बाहर में जो दिखता है वह भीतर हो ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। पर के बारे में न सोचकर अपने बारे में सोचें तो ज्ञान हो जायेगा कि हम कितनी रुचिपूर्वक स्वीकार कर रहे हैं। भगवान् द्वारा बताये हुए मार्ग पर विश्वास रखकर ही चलने से मोक्ष मिलेगा क्योंकि मोक्ष परोक्ष है, वह दिख नहीं रहा है इसलिए जिनवाणी पर विश्वास करना ही होगा। अस्वस्थ होने पर स्वस्थ होने की सम्भावना मानकर ही इलाज कराते हैं। भीतर में सम्यग्दर्शन आदि न होने से या मोहादिक के उदय से जीव स्वस्थ नहीं हो पाता है। यह स्वस्थ दशा न होने पर भी कुछ न कुछ कार्य अवश्य होता रहता है। सभी देव सम्यग्दृष्टि हों ऐसा नियम नहीं है जबकि सम्यग्दर्शन में कारणभूत उन्हें समवसरण में विराजमान भावनिक्षेप से साक्षात् तीर्थंकर भगवान् का दर्शन प्राप्त होता है, दिव्यध्वनि खिर रही है, गणधर परमेष्ठी विराजमान हैं। सभी तीर्थंकरों के अलग-अलग गणधर होते हैं। ऋषभनाथ भगवान् के ८४ गणधर और महावीर भगवान् के ११ गणधर हुए। यह सारा समवसरण का वैभव देखना, गणधर परमेष्ठी की व्याख्या सुनना, जन्मजात वैर-भाव छोड़कर वीतराग भगवान् के निकट में बैठना, इतना सब कुछ होने पर भी सभी देवों को सम्यग्दर्शन हो जाए यह नियम नहीं क्योंकि बाजार में कुछ खरीदने के लिए जाकर देख-दाख कर लौट आने जैसा देवों को अभ्यास हो गया है। जब देवों के साथ ऐसा हो सकता है तो यहाँ पर न देव हैं और न ही तीर्थंकर का साक्षात् दर्शन है फिर भी धर्मानुरागवश सब कुछ छोड़कर जो यहाँ आ गये हैं तो कुछ न कुछ भीतर में लगन तो है। दूसरे की लगन ऊपर-ऊपर है ऐसा न सोचकर अपने बारे में सोचना चाहिए।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद छूट भी सकता है—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव होकर भी दूसरे मिनट में सम्यग्दर्शन छूट भी सकता है। सब भावों का खेल है। हमेशा सम्यग्दर्शन बना ही रहे, ऐसा नहीं है। कई बार श्रावक संयमासंयम से प्रथम गुणस्थान में चला जाता है पुनः फिर संयमासंयम उत्पन्न हो जाता है और मिट जाता है, यह होता रहता है। जैसे- किसी छात्र को स्कूल जाना अच्छा नहीं लगता तो दूसरे के समझाने पर कभी-कभी जाने लगता है, फिर रुचि लग जाती है, पास हो जाता है तब वह कहता है-तुमने अच्छा कर दिया, जो मेरी पढ़ने में रुचि लगा दी। तब दूसरा कहता है-तुम तो मुझसे भी आगे बढ़ गए। कई बार ऐसा भी होता है भोजन के लिए अनमना बैठा रहता है तब कुछ बदल-बदल कर परोस देते हैं तो अच्छे से खा लेता है। नहीं चाहिए, नहीं चाहिए, कहते-कहते सब खाली कर देता है। ऐसा ही प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य के बारे में कहा है कि जैसा केवलज्ञान के द्वारा आत्मद्रव्य इत्यादि का कथन किया है वैसा ही रुचि व उत्साह

के अनुसार अपने ज्ञान व दर्शन का विषय बनाता है। दो गाय बँधी हैं। एक दुधारु है, उसे हरी-हरी घास खिलाते हैं लेकिन जो दूध नहीं देती उसके सामने कभी-कभी हरी घास डालते हैं। वह गाय सोचती है कि मैं दुधारु तो हूँ नहीं, फिर भी जितना मिल रहा है उतना खा लो। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सब मिल रहा है इसलिए महत्त्व नहीं रहता। जब भूख लग जाए तो पूरा साफ कर देते हैं। कुछ लोग आकर कहते हैं-महाराज! क्या करें? जहाँ रहते हैं वहाँ प्रभु-दर्शन नहीं मिलते, २० किलोमीटर दूर जाना पड़ता है और साधु तो वहाँ आते ही नहीं, हम क्या करें? रोने लग जाते हैं। उनकी प्यास और विशुद्धि को देखकर लगता है कि मुक्ति तो बिल्कुल पास है। ध्यान रखो, जिन्हें ज्यादा मिलता रहता है जैसे-बड़े शहरों में साधु बने ही रहते हैं तो उन्हें दर्शन की प्यास कम रहती है किन्तु आसाम नागालैण्ड आदि में साधु नहीं जाते तो वे इधर आकर कहते हैं-महाराज! ब्रह्मचारीजी को ही भेज दो, कोई तो हमारे लिए मिल जाएँ क्योंकि अभाव के बिना भूख खुलती नहीं है। थाली भरी रहेगी तो यह अच्छा नहीं, वह अच्छा नहीं, यह नहीं चाहिए, वह नहीं चाहिए इत्यादि मीमांसा होने लग जाती है लेकिन पेट बिल्कुल खाली रहे या देर से मिले तो उसकी महत्ता समझ में आ जाती है। जिनप्रणीत पदार्थों का रुचिपूर्वक श्रद्धान करने वाले जीव को सम्यग्दर्शन हो जाता है।

शंका—लेकिन निश्चय सम्यक्त्व कब होता है ?

समाधान—निर्विकल्पसमाधि के काल में विकार रहित स्वशुद्धात्मा की रुचि रूप निश्चय-सम्यग्दर्शन होता है। कुछ लोग सम्यग्दर्शन हुआ नहीं कि उसे निर्विकल्पसमाधि मानते हैं तो सप्तम पृथ्वी में भी मान लो क्योंकि वहाँ पर भी सम्यग्दर्शन होता है किन्तु वहाँ निर्विकल्पसमाधि होने का सवाल ही नहीं उठता। बाह्य नवपदार्थों का श्रद्धान करने से व्यवहारसम्यग्दर्शन होता है क्योंकि यहाँ इसी की मुख्यता है। यहाँ जो प्रसंग चल रहा है वह व्यवहारमोक्षमार्ग की मुख्यता से चल रहा है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

उत्थानिका—आगे जीव आदि नवपदार्थों की मुख्यता से नाम तथा गौणता से उनका स्वरूप कहते हैं—

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥११६॥

अन्वयार्थ—(जीवाजीवा भावा) जीव और अजीव पदार्थ **(पुण्णं पावं च)** पुण्य और पाप **(य)** और **(तेसिं)** उनका **(आसवं)** आस्रव **(य)** तथा **(संवरणिज्जरबंधो मोक्खो)** संवर, निर्जरा, बंध व मोक्ष **(ते अट्ठा)** ये पदार्थ **(हवंति)** होते हैं।

अर्थ—जीव और अजीव दो भाव तथा पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव पदार्थ होते हैं।

जीवाजीव पदार्थ मूल दो, इनसे पुण्य-पाप भी हैं।
आस्रव संवर और निर्जरा, तथा पदार्थ बन्ध भी है॥
नवमाँ मोक्ष पदार्थ अन्त में, नव भावों के नाम यही।
तीर्थंकर की वाणी का भी, निश्चय से है सार वही ॥११६॥

व्याख्यान—अब ज्ञान-दर्शन स्वभावी जो जीव पदार्थ है वह अन्य पदार्थों से अपना अलग ही स्वभाव रखता है। जीव को छोड़कर अन्य किसी के पास जानने-देखने और संवेदन करने की क्षमता नहीं है। यह मात्र जीव पदार्थ की विशेषता है और वह हम हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच द्रव्य तो अजीव द्रव्य हैं।

धर्म रुचि की दुर्लभता—जो श्रावक छह आवश्यकों का पालन करता है उसका वह शुभ परिणाम 'पुण्य' कहलाता है। इससे जो साता वेदनीय आदि कर्म आस्रवित होते हैं वह 'द्रव्यपुण्य' है। द्रव्यपुण्य कर्म के उदय से ही फल प्राप्त होता है। जो द्रव्यपुण्य बँधा है वह भावों के बिना नहीं होता, इसलिए भाव के साथ ही द्रव्य जुड़ता है, अकेला द्रव्य नहीं रह सकता है। जो मिथ्यात्व, विषय-कषायादिक अशुभ परिणाम हैं वह 'पाप' है। इससे द्रव्यपाप बँधता है। इसका फल नरक-निगोद आदि है। यह अवश्य ज्ञातव्य है कि शुभ भावों द्वारा जो पुण्य बँधा है उसके उदय में सम्यग्दर्शन आदि हो ही जाएँ, यह नियम नहीं है किन्तु इससे मोक्षमार्ग की सामग्री विशेष रूप से मिलेगी। कई लोग धर्म क्षेत्रों से बहुत दूर रहते हैं जहाँ साधु का आवागमन ही नहीं होता। इसी तरह कई स्थान ऐसे हैं जहाँ भगवान् के दर्शन ही नहीं मिलते फिर भी वहाँ रहना पड़ता है क्योंकि कर्मों का उदय ही ऐसा है जिससे सम्यग्दर्शन की भूमिका नहीं बन पाती। यदि अच्छे देश, कुल इत्यादि मिले तो सम्यक्त्व की सामग्री शीघ्र एकत्रित हो जाती है। आज यदि विशेष पुण्य होता तो समवसरण में साक्षात् प्रभु का दर्शन हो जाता और गणधर परमेष्ठी की व्याख्या सुनने को मिल जाती। वहाँ पूर्वकोटि की आयु पलक झपकते ही बीत जाती है लेकिन सभी को ऐसे भाव नहीं होते। वहाँ भी अनेक जीव विषय-कषाय में पड़े रहते हैं। धर्म की रुचि होना अति दुर्लभ है। जब इसका अभाव होता है तब महिमा समझ में आती है इसलिए जितना मिला है, उसका सदुपयोग करो। इससे जो मोक्षमार्ग में आवश्यक है किन्तु अभी अभाव है वह भी आगे निश्चित रूप से मिलेगा। सब भावों पर आधारित है। जो सही चीज अभी मिली है उसका दुरुपयोग नहीं करना, वरना दुबारा मिलना कठिन होगा। आस्रव से रहित जो शुद्धात्मतत्त्व है उससे विपरीत राग, द्वेष, मोह यह भावास्रव है। पञ्चेन्द्रिय के व्यापार से पापास्रव हो रहा है तथा कषाय, संज्ञा व अशुभ लेश्या से भी पापास्रव हो रहा है। यदि प्रमाद में सो करके समय व्यतीत कर रहे हैं तो उस वक्त न पाप कर रहे हैं, न कषाय और न इन्द्रिय का व्यापार कर रहे हैं, न ही किसी के साथ कलह कर रहे हैं तो इस प्रमाद में ऐसा मत समझना कि ८ घण्टे में तो हमारे शुभभाव ही हैं, इससे पुण्यबन्ध हो जायेगा। ध्यान रखो, उस समय पुण्य भी चला गया और समय का दुरुपयोग भी किया।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ज्ञान का दुरुपयोग किया। इतने समय में ज्ञान का सदुपयोग करते तो वीर्यान्तराय कर्म का और चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम होता जिससे अच्छा वीर्य और श्रेष्ठ चारित्र धारण करने की क्षमता उपलब्ध हो जाती और अगले जीवन में मोक्ष भी प्राप्त हो जाता क्योंकि बीज का वपन करने से ही फसल आती है।

संवर-निर्जरा से ही मुक्ति की प्राप्ति—विकल्प से रहित आत्मोपलब्धि रूप परिणाम 'भाव संवर' है। इससे कर्म के आने का मार्ग अपने आप ही रुक जाता है और कर्मों का रुक जाना ही 'द्रव्य संवर' है। जिन भावों के द्वारा द्रव्यास्रव होता है वह रुक जाता है। जैसे–झाड़ू लगाते समय कमरे की खिड़कियाँ जल्दी-जल्दी में खुली रह जाती हैं और हवा तेज है तो कचरा पुनः आ जाता है खिड़की-दरवाजे बन्द करने से हवा नहीं आएगी, इससे कचरा भी बहुत आसानी से बाहर निकल जाएगा और कमरा भी साफ हो जाएगा, यही तो संवर और निर्जरा है फिर मुक्ति निश्चित है। ज्यादा पढ़ना-लिखना कठिन काम तो है परन्तु उसी में सारा समय निकाल दोगे तो फिर झाड़ू कब लगाओगे? अभी तो झाड़ू सजाने में लगे हैं, उसकी कीमत आँकने में लगे हैं पर झाड़ू नहीं लगा रहे हैं।

द्वादश तप में कर्मक्षय की सामर्थ्य—कर्म की शक्ति को दूर करने की सामर्थ्य बारह तपों में है। तप का अर्थ उष्णता है। उसमें भी जब रसोई बनाते हैं तो भिन्न-भिन्न अनुपात से अग्नि की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार सिमैयाँ या बिया बनाने में ज्यादा ताप नहीं चाहिए उसी प्रकार तप भी बहुत प्रकार के होते हैं। गेहूँ की खीर बनाने के लिए पहले उसे कूँटते हैं ताकि वह नरम हो जाए फिर भी उसको पकाने में घण्टों लग जाते हैं। उसमें भी तेज जलने वाला ईंधन चाहिए। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की अग्नि हुआ करती है। लोहे को जलाने की अग्नि अलग होती है, ताँबे को जलाने के लिए अलग और हीरा भस्म इत्यादि बनाते हैं तो उसके लिए और तीव्र उष्णता की आवश्यकता होती है तब कहीं भस्म तैयार होती है लेकिन कर्म को जलाने के लिए संसार में ऐसी कोई अग्नि नहीं है। दुनिया की सारी बारूद खर्च हो जाए तो भी कर्म का एक अंश भी जल नहीं पायेगा, यह क्षमता मात्र बारह प्रकार के तपों में है। तप रूपी ईंधन के लिए पैसों की जरूरत नहीं है बल्कि जब तक पैसा अपने पास रखेंगे तब तक तप नहीं होगा और तप के बिना शुद्धोपयोग नहीं होगा। कुछ लोग कहते हैं कि–तप तो मात्र व्यवहार है लेकिन तप के द्वारा ही शुद्धोपयोग को प्राप्त कर सकते हैं। **प्रवचनसार** में कहा है–

सुविदिद पयत्थसुद्धो संजम-तव संजदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥१४॥

जो श्रमण सुख-दुख में समता रखता है तथा संयम व तप से सहित और राग से रहित होता है उसका उपयोग शुद्ध कहा है। चाहे कितना ही पुरुषार्थ कर ले, श्रमण हुए बिना शुद्धोपयोग का दर्शन नहीं हो सकता। श्रमण के गुणों के प्रति अनुराग भी कषायों को कृश करने का साधन है। वैय्यावृत्ति

के माध्यम से भी भूत और भविष्य सम्बन्धी कषाय सब भूल जाते हैं। कषाय को भूले बिना वैय्यावृत्ति नहीं की जा सकती, वह भी पात्र के अनुसार ही होती है। **हाइकू—''पर की पीड़ा /अपनी करुणा की/परीक्षा लेती''**। दूसरों की पीड़ा के माध्यम से स्वयं के करुणा की परीक्षा हो जाती है। इसमें भी पर तो मात्र निमित्त है जिससे स्वयं के परिणामों का निरीक्षण हो जाता है। रोग होने पर औषध का प्रयोग करने से ही ज्ञात होता है कि यह दवाई सही है या नहीं। फिर तो अनुभूत दवाई है यह सुनकर अनेक रोगी आ जाते हैं। पर के निमित्त से अपने रत्नत्रय की परख कर सकते हैं। इस शुद्धोपयोग के द्वारा कार्मण वर्गणाएँ जो कर्म रूप परिणत होकर आत्मा से बँधन को प्राप्त हुई हैं, उनका एकदेश रूप से गलन होना ही द्रव्य निर्जरा है। प्रकृति आदि बन्ध से परमात्मा रहित हैं लेकिन संसारी प्राणी में चार प्रकार के बन्ध विद्यमान हैं क्योंकि इसके पास स्निग्ध-रुक्षत्व रूप राग-द्वेष भाव हैं।

जीव में कर्मबन्ध किस प्रकार—समयसार के बन्धाधिकार में कहा है कि-संसारी प्राणी बन्ध से कैसे बचे? तो कोई कहता है-बन्ध से बच ही नहीं सकता क्योंकि योग सहित है और कार्मण वर्गणाएँ लोक में ठसाठस भरी हुई हैं इसलिए बन्ध से बच ही नहीं सकते किन्तु यह सही कारण नहीं है। वास्तव में जीव के पास स्निग्ध और रुक्ष रूप राग-द्वेष भाव हैं, इसी से कर्म रूपी धूल आकर चिपक रही है और बन्ध हो रहा है। खेलने के कारण धूल नहीं चिपकती, तेल की मालिश करके घूम रहे हैं और हवा भी चल रही है इसी से धूल चिपक रही है। रागादिक का तेल नहीं लगाने से बन्ध नहीं होगा, यह कार्य आसान भी है क्योंकि स्वाश्रित है। जब बन्ध के कारणों की ओर देखेंगे ही नहीं तो बन्ध भी नहीं होगा।

उत्थानिका—अब जीव पदार्थ का व्याख्यान करते हैं-

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ॥११७॥

अन्वयार्थ—(चेदणप्पगा) चैतन्यमयी **(जीवा)** जीव **(संसारत्था)** संसार में स्थित संसारी और **(णिव्वादा)** मुक्ति को प्राप्त सिद्ध **(दुविहा)** दो प्रकार का है। **(उवओगलक्खणा)** उपयोगरूप लक्षण वाला **(य)** और **(देहादेहप्पवीचारा)** संसारी जीव देह में वर्तन वाले अर्थात् देहसहित हैं और सिद्ध जीव देह में न वर्तने वाले अर्थात् देहरहित हैं।

अर्थ—जीव दो प्रकार के हैं-संसार में रहने वाले संसारी और मुक्ति को प्राप्त सिद्ध हैं। ये जीव चैतन्यमयी हैं, उपयोग रूप लक्षण के धारी भी हैं। जो संसारी हैं वे शरीर सहित हैं तथा जो सिद्ध हैं वे शरीर रहित हैं।

संसारी और सिद्ध भेद से, दो प्रकार के जीव कहे।
है लक्षण उपयोग जीव का, दोनों चेतन सहित रहे॥

नाशवान तन में जो रहते, वह संसारी कहलाते।
देह रहित जो शुद्ध हुए हैं, सिद्धप्रभु वह कहलाते ॥११७॥

व्याख्यान—जीव दो प्रकार के होते हैं-एक संसारी दूसरे सिद्ध। समीचीन रूप से सरकते रहना अर्थात् एक ठिकाने पर नहीं रहने का नाम संसार है। मिथ्यात्व के कारण संसारी जीवों को संसार में ही सार लगता है, ऐसी धारणा बन जाती है। जिससे दुख के स्थान में भी सुख-सा मानने लगता है। एक क्षण के सुख के लिए सारे कष्ट को भूल जाता है। बहुत-सा समय सुख-सुविधा के अभाव में रहा, कुछ समय सुख मिल जाए तो उसी में मस्त हो जाता है। अच्छे-अच्छे इस सम्मोहन में आ जाते हैं यह भ्रम टूटता नहीं। भगवान् आदिनाथ सर्वार्थसिद्धि से अवधिज्ञान लेकर आए थे, क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, जिन्हें तीर्थंकर भी बनना है। ऐसा जीव भी जहाँ ३३ सागर की आयु तक तत्त्व चिन्तन के माध्यम से जीवन व्यतीत किया था फिर भी यहाँ आकर ८३ लाख वर्ष पूर्व तक घर में रह गए। यहाँ की ऐसी हवा लगी कि सब भूल गए। मुक्ति की नियति साथ लेकर आए थे फिर भी सारा ज्ञान कहाँ चला गया? तभी एक इन्द्र ने सोचा कि इन्हें घर से निकालने के लिए कुछ उपदेश देना चाहिए। तब उसने एक और नीलांजना का नृत्य रचा और घर से बाहर निकाल दिया। यहाँ घर से बाहर निकालने का अर्थ हाथ पकड़ करके निकालना नहीं है लेकिन 'समझदार को इशारा काफी है' अपने आप ही समझ में आ गया और संसार से निकल गए अर्थात् मुक्ति को पा लिया।

देह बिना जीव का अस्तित्व—संसारी प्राणी देह सहित होता है और मुक्त देह रहित होते हैं। देह के बिना भी रहा जा सकता है, यह विचार अज्ञानी को कभी स्वप्न में भी नहीं आता है। वह सोचता है देह का मिटना अर्थात् मृत्यु है। एक, दो या तीन समय तक अनाहारक रहकर चौथे समय में तो आहारक हो ही जाता है। शरीर के बिना रहने का कोई अवसर ही प्राप्त नहीं होता, चिन्तन के माध्यम से भले ही सोच लें कि देह भिन्न है, आत्मा भिन्न है लेकिन देह के बिना कैसे रहा जाता है? यह जिसके पास मन है वही विचार कर सकते हैं किन्तु जिसके पास मन है वे कुछ न कुछ व्यर्थ का ही सोचते रहते हैं। मुनिराज के मन होते हुए भी निर्विचार होकर सामायिक आदि करते हैं किन्तु अन्य लोगों के मन में यह विचार आता है कि केवलज्ञान या क्षायिकज्ञान यह सब कल्पना मात्र है। अगर मात्र चेतना को देखें तो उस समय अनुभव हो जाता है कि देह के बिना भी रह सकते हैं। ऑपरेशन के समय रोगी को बेहोश कर दिया जाता है या उस स्थान को बेहोश कर देते हैं। रोगी स्वयं शरीर को काटते हुए ऐसे देखता है जैसे दूसरे के शरीर को काट रहे हों, दर्द ही महसूस नहीं होता। तब यह निश्चित किया जा सकता है कि देह के बिना भी रहा जा सकता है लेकिन होश में आते ही दर्द महसूस होता है। बाहर का स्थूल शरीर जो नोकर्म है, वह तो दिख रहा है पर कार्माण शरीर तो मात्र आस्था का विषय बनता है, वह महसूस नहीं होता। आत्मा के साथ एकमेक होकर रहता है पर दिखने में नहीं आता। श्रद्धान करना अलग बात है और महसूस करना अलग है। जड़ के साथ रहकर बुद्धि जड़-सी हो गई है इसीलिए अनुभव में यह बात नहीं आती है।

जीव-अजीवादि नवपदार्थों के सूचना की मुख्यता से एक सूत्र गाथा हो गई। इसके उपरान्त १५ गाथा पर्यन्त जीवपदार्थ की मुख्यता से 'जीवासंसारत्था' इत्यादि १ गाथा है, फिर पृथ्वी-कायिकादि पाँच स्थावर की मुख्यता से ४ गाथाएँ हैं, विकलेन्द्रिय के व्याख्यान की अपेक्षा से ३ गाथाएँ हैं, चार गति और पञ्चेन्द्रिय के कथन से ४ गाथाएँ हैं, पुनः भेद भावना की मुख्यता से हित-अहित का कर्त्ता और भोक्ता के प्रतिपादन की मुख्यता से २ गाथाएँ हैं। अन्त में जीव पदार्थ के उपसंहार में १ गाथा है। इस तरह १५ गाथाओं में छह स्थल द्वारा द्वितीय अन्तराधिकार की समुदाय रूप उत्थानिका है।

कर्म और कर्मफल चेतना जब तक संसार अवस्था है तब तक बनी रहती है जबकि शुद्ध ज्ञानचेतना मुक्त अवस्था में होती है। चेतना सामान्य में ज्ञान-दर्शन भी आ जाते हैं। आत्मा का जो चैतन्य के साथ अन्वयरूप परिणाम है, वही उपयोग है। केवलज्ञान और केवल-दर्शन से युक्त जीव मुक्त कहलाता है और क्षयोपशम परिणाम वाले संसारी हैं जो १२ वें गुणस्थान तक चलता है। वैसे सभी क्षयोपशम भाव १२ वें गुणस्थान तक नहीं रहते कुछ रहते हैं किन्तु १३ वें गुणस्थानवर्ती क्षयोपशम से रहित ही रहते हैं। प्रवीचार का अर्थ यहाँ पर चेष्टा है जो कि देहात्मक ही होती है इसलिए यह श्रद्धान गाढ़ बना लेना चाहिए कि देह के बिना भी रहा जा सकता है। यदि मोह कम करके देह को पड़ोसी समझकर चिन्तन करें तो इसकी अनुभूति होने लगती है। भले ही कम समय के लिए ही हो।

जब टॉप गेयर में गाड़ी चलाते हैं तो ऐसा लगता है जैसे-पानी में चले जा रहे हों, श्वास नाक से आती जाती रहती है और अनेक कार्यों में लगे रहते हैं। यह क्रिया ऐसे चलती है जैसे दूसरे द्रव्य में चल रही हो। ब्रह्मरन्ध्र से श्वास का अनुभव करने वाले बहुत पहुँचे हुए योगी होते हैं। सब द्वारों को बन्द करके मुख्य रूप से ब्रह्मरन्ध्र से श्वास लेते हैं। सामान्य लोग यदि लेने लगें तो नींद आने लगेगी किन्तु वे निद्रा से ऊपर उठकर महसूस करते हैं। ऐसी स्थिति में भूमिगत साधना करने में कोई बाधा नहीं होती है। जैसे-सर्प, मेंढ़क आदि जीवों की भूमि के अन्दर रहकर भी श्वासोच्छ्वास चलती रहती है। उसी प्रकार योगी भी रह सकते हैं। इससे यह भी फलितार्थ निकलता है कि जो अधोलोक सिद्ध होते हैं वे साधना के माध्यम से नीचे जाकर सिद्ध बन सकते हैं। ऊपर-ऊपर जाने के उपरान्त प्राणवायु की कमी होती जाती है। इसलिए यहाँ से प्राणवायु को ले जाकर वहाँ पर उसका उपयोग किया जाता है अन्यथा हार्ट के ऊपर प्रभाव पड़ने लग जाता है। जैसे-पर्वत के ऊपर आरोहण करने से प्राणवायु की विरलता होने के कारण श्वास लेने में परेशानी आती है। जो व्यक्ति स्थूल प्राणवायु के माध्यम से जीता है उसके लिए परेशानी होती है लेकिन नाक, मुँह, कान भी बन्द हैं, श्वास लेने की कोई गुंजाइश भी नहीं है फिर भी मिट्टी में जो हवा रहती है उसके माध्यम से काम चला लेते हैं। मिट्टी और पानी के भीतर मेंढक रहते हैं। इससे ज्ञात हो जाता है कि पृथ्वीकायिक आदि पाँच स्थावर जीव हैं।

उत्थानिका— अब स्थावर जीवों के पाँच भेदों को कहते हैं-

पुढवी य उदगमगणी वाउ वणप्फदि जीवसंसिदा काया।
देंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं ॥११८॥

अन्वयार्थ—(पुढवी य उदग-मगणी-वाउ-वणप्फदि जीव-संसिदा) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीवों से सहित **(काया)** शरीर **(बहुगा वि)** बहुत प्रकार के हैं, तो भी **(ते)** वे शरीर **(तेसिं)** उन जीवों को **(खलु)** वास्तव में **(मोहबहुलं)** अत्यन्त मोह से संयुक्त **(फासं)** स्पर्श इन्द्रिय के विषय को **(देंति)** देते हैं।

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति जीवों से आश्रय किए हुए शरीर बहुत प्रकार के हैं तो भी वे शरीर उन जीवों को वास्तव में मोह गर्भित स्पर्श इन्द्रिय के विषय को ही देते हैं।

पृथ्वी, जल, अग्निकायिक औ, वायु-वनस्पति कायिक हैं।
इन सबको सर्वज्ञप्रभु ने, जाना स्थावर कायिक हैं॥
जीव सहित हैं यह सब कायिक, बहुत जातियाँ इनकी हैं।
मोह बहुल इन जीवों की बस, इक स्पर्शन इन्द्रिय ही है ॥११८॥

व्याख्यान—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक यह पाँचों क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति को काया बनाकर इनके आश्रित रहते हैं और मात्र स्पर्शन इन्द्रिय के माध्यम से अपना निर्वाह करते हैं, इनके पास और कोई साधन नहीं है। इनके कर्मचेतना गौण है, कर्मफल चेतना मुख्य है। ये रोते हैं, संवेदन करते हैं। लेकिन वो प्रकट देखने में नहीं आता। यदि हमारे मन में इनके प्रति संवेदना है तो उन्हें सम्प्रेषण होता ही है। यह हमको दिखता नहीं है। **''सुखी रहें सब जीव जगत् के''** इस भावना से सब जीवों को शान्ति हो जाती है।

दृष्टान्त—एक जंगल में मुनि महाराज बैठे हैं। दावानल सुलग रहा है तब मुनिराज सोचते हैं- यहाँ शान्ति छा जाए, तो बारह-बारह योजन तक वहाँ शान्ति हो जाती है। पेड़-पौधे नहीं जले तो उनको भी सुख होता है। जंगल सूखता है तब पेड़-पौधों को दुख तो होता होगा। ये कहाँ भागेंगे? आप तो कमरे में चले जायेंगे। यदि वनस्पति की सौ वर्ष की उम्र है तो सौ वर्ष तक गर्मी, वर्षा, शीत का अनुभव करते हैं। कुछ लोग कश्मीर देखने जाते हैं। वास्तव में वे दूसरे जीवों की पीड़ा देखने जाते हैं, देखकर खुश होते हैं और पाप बंध करते हैं। जलकायिक जीव पर्वत की चोटी से गिर रहे हैं, सोचो कितनी बार उसमें जलकायिक जीव मरते होंगे। संसार में कहीं भी जाओ पाँचों स्थावरों की यही स्थिति है। शरीर का केवल निर्वाह करके अपने निर्वाण की बात सोच लेना चाहिए। इन जीवों का कैसे कल्याण हो भगवन्! ऐसा सोचिए! आप भोजन के लिए बैठे हैं और यदि कोई माँगने वाला आ जाए तो आप क्या करेंगे? यदि वहाँ कोई मुनिराज का आहार चल रहा है तो ऐसी दयनीयता के वचन सुनकर महाराज नीचे बैठ जायेंगे। अन्तराय मानेंगे। दान चार होते हुए भी एक करुणादान अलग से कहा है।

जिसके पास कुछ नहीं है, उसे विवेकपूर्वक संवेदनशील होकर करुणादान देते हैं।

पहले जंगल में रहने वालों के पास बिजली तो क्या दीपक भी नहीं होता था। वे आग, सूर्य अथवा चन्द्रमा रूपी दीपक से काम चलाते थे। सूर्य डूबने से पूर्व ही अपने निवास स्थान में जाकर हिंसक पशुओं से रक्षा कर लेते थे या मचान आदि बनाकर उस पर रात गुजार लेते थे क्योंकि वन्य प्राणी दिन भर कहाँ-कहाँ रहते हैं, यह पता नहीं चलता किन्तु रात होते ही बाहर घूमने लगते हैं अतः उनसे रक्षा कर लेते थे। पुनः सूर्य उदित होते ही नीचे उतरकर अपने काम में लग जाते थे। इस तरह वन में रहने वाले दो प्रकार के जीव हो गए-एक मनुष्य, जो कि दिन में काम करके रात में एक स्थान पर रह जाते हैं। दूसरे सर्प-सिंहादि रात में निकलकर दिन में स्थिर हो जाते हैं। जो स्पर्श की बहुलता से ही अपना गुजारा करते हैं। जैसे-कुछ ऐसे सर्प हैं जो बिल के भीतर वायु को ग्रहण करके जीते रहते हैं इसलिए उन्हें पवनभुक् भी कहते हैं। कभी-कभी बाहर निकलकर आ जाते हैं और फिर अन्दर चले जाते हैं। ऐसे ही उनका गुजारा चलता रहता है। वायु के माध्यम से ही वे भोजन की पूर्ति कर लेते हैं। गाथा में ''**मोह बहुलं**'' ऐसा कहा है अर्थात् मोह के कारण पञ्चेन्द्रिय के विषय न मिलने पर भी एक मात्र स्पर्शन इन्द्रिय से ही काम कर लेते हैं।

पृथ्वीकायिक के २६ प्रकार के भेद बताये हैं। इसी तरह जलकायिक आदि के भी बहुत भेद हो जाते हैं। इनकी मात्र स्पर्शन इन्द्रिय होती है, जिससे अखण्ड आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता। आत्म स्वरूप को न जानते हुए स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में लम्पटता रखकर कर्म का अर्जन करते हैं। उनका एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि क्रम से ही विकास होता हो, ऐसा नहीं है और पञ्चेन्द्रिय से चार इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय में ही विनाश का क्रम हो ऐसा भी नहीं है, एक साथ पञ्चेन्द्रिय से एकेन्द्रिय में और एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय में भी जा सकते हैं। गाथा में 'पुढवी य' यहाँ ''य'' शब्द से निगोद को भी लिया जा सकता है। ''**निगोद वासं न मुच्चंति**'' ऐसी गाथा आती है। जो मुनि तिल-तुष मात्र भी परिग्रह रखता है वह निगोदिया हो जाता है। यहाँ स्थावर में नहीं ले गए, निगोद की बात की है''**काल अनन्त निगोद मँझार**'' अनन्तकाल निगोद में बिताता है। वहाँ अन्य एकेन्द्रिय की बात नहीं कही क्योंकि मोह बहुल स्पर्श निगोद में होता है। उनका औदारिक शरीर तो रहता है पर लोथड़े-लोथड़े जैसा रहता है।

उत्थानिका-व्यवहारनय से अग्नि और वायुकायिक जीवों को त्रसत्वपना किन्तु निश्चयनय से पृथ्वीकायिक आदि पाँचों एकेन्द्रिय ही होते हैं ऐसा दिखाते हैं-

तित्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥११९॥
एदे जीवणिकाया पंचविधा पुढविकाइयादीया।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ॥१२०॥

अन्वयार्थ—(तेसु) उनमें **(तित्थावर-तणु-जोगा)** तीन कायिक अर्थात् पृथ्वी, जल, वनस्पतिकाय स्थिर शरीर होने के कारण से स्थावर हैं **(य)** तथा **(अणिला-णल-काइया)** वायुकाय और अग्निकायधारी जीव **(तसा)** त्रस हैं। **(मणपरिणाम-विरहिदा)** मन के परिणमन से रहित हैं इसलिए इन सभी को **(एइंदिया जीवा)** एकेन्द्रिय जीव **(णेया)** जानना चाहिए। **(एदे)** ये **(पुढविकाइयादीया)** पृथ्वीकायिक आदि **(पंचविहा)** पाँच प्रकार के **(जीवणिकाया)** जीवों का समूह **(मणपरिणाम विरहिदा)** मन के भावों से रहित **(एगेंदिया जीवा)** एकेन्द्रिय जीव **(भणिया)** कहे गए हैं।

अर्थ —उन पाँच स्थावर में से पृथ्वी, जल, वनस्पतिकाय स्थिर शरीर होने के कारण स्थावर हैं तथा वायुकाय और अग्निकायधारी जीव त्रस कहलाते हैं। ये एकेन्द्रिय जीव मन के परिणमन से रहित असैनी हैं। ये पृथ्वीकायिक आदि पाँच प्रकार के जीवों के समूह मन के भावों से शून्य एकेन्द्रिय जीव कहे गए हैं।

स्थावरनामकर्म उदयाश्रित, पृथ्वीकायिक जलकायिक।
हैं एकेन्द्रिय जीव सभी यह, तीजी वनस्पतिकायिक॥
पंच स्थावरों में अग्नि और, वायु यद्यपि चलते हैं।
मनोयोग से रहित किन्तु यह, एकेन्द्रिय ही रहते हैं ॥११९॥
पृथ्वीकायिक आदिक पाँचों, जीवों के जो भेद कहे।
मनोयोग के विकल्प से ही, पाँचों कायिक रहित रहे॥
अतः इन्हें सिद्धान्त ग्रन्थ में, एकेन्द्रिय ही कहा गया।
मात्र स्पर्श इन्द्रियावरण का, क्षयोपशम ही इन्हें रहा ॥१२०॥

व्याख्यान—यह बहुत अच्छी गाथा है। इसमें कुछ लोगों का भ्रम है कि यह प्रक्षिप्त गाथा है। इन पाँच स्थावरों में अग्निकायिक, वायुकायिक को त्रस कहा जो कि त्रस होते हुए भी मन से रहित एकेन्द्रिय हैं। इससे यह कहना पड़ेगा कि एकेन्द्रिय के पाँच भेदों में दो त्रस हैं और तीन स्थावर हैं। त्रस कहने से उनके पास मन होता है, ऐसी कोई व्याप्ति न बना ले अथवा ऐसा कोई मान न ले इस अपेक्षा से यह कह दिया कि मन परिणाम से रहित हैं। वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण मतिज्ञान के क्षयोपशम के लाभ से तथा अन्य इन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय से तथा नोइन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय से ये जीव स्पर्शन इन्द्रिय मात्र के धारी एकेन्द्रिय होते हैं। व्यवहारिकता की अपेक्षा अग्निकायिक, वायुकायिक को त्रस कह दिया क्योंकि ये चलते हैं। अर्थात् स्थान से स्थानान्तर होते हैं इसलिए इन्हें त्रस ऐसा व्यवहार से कहा। चूँकि इन जीवों के त्रस नामकर्म का उदय नहीं रहता इसलिए त्रसत्व से रहित हैं। मात्र स्थावर नामकर्म का उदय रहता है।

पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय, संबुक आदि दो इन्द्रिय, चींटी आदि तीन इन्द्रिय, भौंरा आदि चार इन्द्रिय जीव हैं। वैसे दो, तीन, चार इन्द्रिय जीवों को विकलत्रय कहा है। एकेन्द्रिय को भी विकलेन्द्रिय कहने में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय दो ही भेद होते हैं। एकेन्द्रिय भी विकल है। विकल का अर्थ अधूरा, इसलिए एकेन्द्रिय को भी विकलेन्द्रिय कहने में कोई बाधा नहीं है। उसकी एकेन्द्रिय तो है पर आगे विकास नहीं हो पाया। **श्री धवल** में **श्री वीरसेन महाराज** ने कहा है कि एकेन्द्रिय को भी विकलेन्द्रिय मानना चाहिए। यह विषय अभी-अभी पढ़ा था और पञ्चास्तिकाय में भी इसका समर्थन हो गया।

विशेष चिंतन—वायुकायिक स्वयं हवा है। हवा के टिकाव के लिए हवा चाहिए। कितनी अद्‌भुत व्यवस्था है। सूक्ष्म वायुकायिक के श्वासोच्छ्‌वास की सोचो वह औदारिक वर्गणाओं को ग्रहण करता है, छोड़ता है। उसकी काया में अनंत परमाणु चिपक रहे हैं, निकल रहे हैं, उसमें भी उदयावली है। बिजली के तार में अग्नि है, अग्निकायिक जीव हैं। वो भी एक नहीं बहुत से हैं। उनमें भी श्वासोच्छ्‌वास है। कर्म वर्गणाएँ भी हैं, वह अव्यक्त रूप में हैं। इसलिए आचार्य कहते हैं-ऐसा कोई काम न करो, जिससे इनको व्यवधान हो, घात हो।

उत्थानिका—आगे पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीवों में चेतना गुण है, इसे बताने के लिए दृष्टान्त कहते हैं –

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥१२१॥

अन्वयार्थ—**(जारिसया)** जिस प्रकार **(अंडेसु)** अंडों में **(पवड्ढंता)** बढ़ते हुए **(गब्भत्था)** गर्भ में तिष्ठते हुए **(य)** और **(मुच्छगया)** मूर्च्छा को प्राप्त हुए **(माणुसा)** मनुष्य हैं **(तारिसया)** उसी प्रकार **(एगेंदिया जीवा)** एकेन्द्रिय जीव **(णेया)** जानने योग्य हैं।

अर्थ—जिस प्रकार अंडे में वृद्धि पाने वाले प्राणी, गर्भ में रहे हुए प्राणी और मूर्च्छा प्राप्त मनुष्य जीते हैं उसी तरह से एकेन्द्रिय जीव जानने योग्य हैं।

जैसे पक्षी के अंडे में, बढ़ता हुआ जीव दिखता।
गर्भावस्था में जीवात्मा, भीतर ही भीतर बढ़ता॥
मूर्च्छा को जो प्राप्त हुए वह, मनुष्य भी जीते रहते।
उसी भाँति बिन चेष्टा के भी, एकेन्द्रिय जीवित रहते ॥१२१॥

व्याख्यान—जैसे-अंडों के भीतर के तिर्यञ्च, गर्भस्थ पशु या मनुष्य तथा मूर्च्छागत मानव इच्छापूर्वक व्यवहार करते हुए नहीं दिखते हैं वैसे ही एकेन्द्रियों को जानना चाहिए। अर्थात् अंडों में जन्म लेने वाले प्राणियों के शरीर की पुष्टि को देखकर बाहरी व्यापार करते हुए नहीं दिखने पर भी

भीतर चैतन्य है, ऐसा जाना जाता है। यही बात गर्भ में आए हुए पशु और मानव की भी है, गर्भ बढ़ता जाता है इसी से चेतना की सत्ता मालूम होती है। मूर्च्छा को प्राप्त मनुष्य उपचार मिलने पर तुरन्त मूर्च्छा रहित होकर सचेत हो जाता है। जब गर्भस्थ शरीर, अण्डे और मूर्च्छा प्राप्त प्राणी म्लानित हो जाते हैं अर्थात् उनके शरीर की चेष्टा बिगड़ जाती है, तब यह अनुमान होता है कि उसमें जीव नहीं रहा उसी तरह एकेन्द्रिय जीव जब मर्दित हो जाते हैं तब वे जीव रहित हो जाते हैं। जितना-जितना इन्द्रियों का विकास होता है, उतना-उतना सुख-दुख के साधनों का भी विकास होता है। निगोदिया जीव में सुख-दुख का अनुभव करने के लिए मात्र एक ही इन्द्रिय है।

उत्थानिका—आगे द्वीन्द्रिय जीवों के भेदों को कहते हैं–

संबुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा ॥१२२॥

अन्वयार्थ—**(संबुक्क)** संबूक एक जाति का क्षुद्र शंख, **(मादुवाहा)** मातृवाह **(संखा)** संख **(सिप्पी)** सीप **(य)** और **(अपादगा)** पाँव रहित **(किमी)** कृमि जैसे गिंडोला कृमि, लट आदिक **(जे)** जो **(रसं)** रस को एवं **(फासं)** स्पर्श को **(जाणंति)** जानते हैं **(ते)** वे **(जीवा)** जीव **(बेइंदिया)** द्वीन्द्रिय हैं।

अर्थ—संबुक अर्थात् घोघा (एक जाति का क्षुद्र जीव) मातृवाह, शंख, सीप और पाँव रहित कृमि जैसे गिंडोला, लट आदिक जो कि रस या स्वाद को व स्पर्श को जानते हैं, वे जीव द्वीन्द्रिय हैं।

जो सम्बुक व मातृवाह औ, शंख-सीप आदिक हैं जीव।
पैर रहित कृमि लट आदिक को, कहा गया दो इन्द्रिय जीव॥
स्पर्श और रस इन्द्रिय विषयक, विषयों को यह जान रहे।
इसीलिए पञ्चास्तिकाय में, दो इन्द्रिय ही मान रहे ॥१२२॥

व्याख्यान—जिन जीवों को स्पर्शन और रसनेन्द्रिय के आवरण का क्षयोपशम हो तथा शेष तीन इन्द्रिय व नोइन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय हो, वे द्वीन्द्रिय के ज्ञान से सुख-दुख का अनुभव करते हैं। शुद्ध निश्चयनय से यह जीव द्वीन्द्रिय के स्वरूप से पृथक् है तथा केवलज्ञान-केवलदर्शन से अपृथक् शुद्ध जीवास्तिकाय है। ऐसे शुद्धात्मा की भावना द्वारा जो आनन्दमय सुखरस का आस्वादन होता है उसे न पाकर स्पर्शन, रसना इन्द्रिय के विषय सुख के रसास्वादन में मग्न जीवों ने जो द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म का बन्ध किया था, उसी के उदय से द्वीन्द्रिय हो जाते हैं।

उत्थानिका—आगे त्रीन्द्रिय के भेदों को कहते हैं–

जूगागुंभीमक्कुण पिपीलिया विच्छादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइन्दिया जीवा ॥१२३॥

अन्वयार्थ–(जूगा) जूँ **(गुंभी)** एक विषैला कीट, **(मक्कुण)** खटमल **(पिपीलिका)** चींटी **(विच्छियादिया)** बिच्छू आदि **(कीडा)** कीड़े **(रसं)** स्वाद को **(फासं)** स्पर्श को **(गंधं)** गंध को **(जाणंति)** जानते हैं, इसलिए ये **(तेइंदिया जीवा)** तीन इन्द्रिय जीव हैं।

अर्थ –जूँ, 'कुंभी' एक विषैला कीट, खटमल, चींटी और बिच्छू आदि जन्तु स्पर्श, रस और गन्ध को जानते हैं; इसलिए ये तीन इन्द्रियधारी जीव हैं।

जूँ, कुंभी, खटमल,चींटी औ , बिच्छू आदिक जीव कहे।
त्रय इन्द्रिय-आवरण कर्म के, क्षयोपशम से सहित रहे॥
स्पर्शन, रसना, घ्राणेन्द्रिय के, विषयों को ही यह जाने।
अतः इन्हें सिद्धान्त ग्रन्थ भी, त्रय इन्द्रिय प्राणी माने ॥१२३॥

व्याख्यान–पंख वाले जीव के चार इन्द्रियाँ होती हैं। ऐसी पंख की व्याप्ति चार इन्द्रिय के साथ नहीं बिठाना चाहिए क्योंकि किसी-किसी तीन इन्द्रिय चींटी के भी पंख होते हैं। विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभावमयी आत्मा के अनुभव से उत्पन्न जो वीतराग परमानंदमयी सुखामृत के रसास्वाद से रहित होकर तथा स्पर्शन, रसना व घ्राण इन्द्रिय के विषयों के सुख में मूर्च्छित होकर जिन जीवों ने त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म बाँध लिया है उसके उदय से तथा वीर्यान्तराय कर्म और तीन इन्द्रिय सम्बन्धी मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के लाभ होने से तथा शेष इन्द्रियों के तथा नोइन्द्रियावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय होने से त्रीन्द्रिय जीव होते हैं।

उत्थानिका–आगे चार इन्द्रियधारी जीवों के भेद बताते हैं –

उद्दंसमसयमक्खिय मधुकरिभमरा पतंगमादीया।
रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते विजाणंति ॥१२४॥

अन्वयार्थ–(उद्दंस) डांस **(मसय)** मच्छर **(मक्खिय)** मक्खी **(मधुकर)** मधुमक्खी **(भमरा)** भौंरा **(पतंग-मादीया)** पतंग आदिक जो **(रूवं)** वर्ण को **(रसं)** स्वाद को **(च)** और **(गंधं)** गंध को, **(पुण)** तथा **(फासं)** स्पर्श को **(विजाणंति)** जानते हैं **(ते)** वे ही चौइन्द्रिय जीव हैं।

अर्थ–जो डाँस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भौंरा, पतंग आदि जीव रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को जानते हैं। वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं।

डाँस, मधुमक्खी, मच्छर औ, मक्खी, भँवरा जीवों को।
उड़ने वाले जीव पतंगें, आदिक नाना जीवों को॥
मन औ कर्ण रहित चतुरिन्द्रिय, ऋषि मुनिगण सब यह मानें।
स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु के, विषयों को ही यह जाने ॥१२४॥

व्याख्यान—'च' से इनके मन नहीं होता। विकार अर्थात् विष और निर्विकार अर्थात् पीयूष दोनों परिणतियाँ हैं। एक तरफ देखते हैं तो दुख है। दूसरी तरफ देखते हैं तो सुख है। अमृतसम स्वसंवेदन ज्ञान की भावना से उत्पन्न सुखामृत के पान से विमुख मिथ्यादृष्टि जीव हैं। वे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इन्द्रिय के विषयसुख के अनुभव में लीन हैं तथा चौइन्द्रिय जाति नामकर्म बाँधते हैं। इन्द्रिय सुख पुण्य के उदय से मिलता है लेकिन वह पाप का बीज बो देता है। इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति मुश्किल से छूटती है, इसलिए इन्द्रिय विषयों को जोंक की उपमा दी गई है। इसको ज्ञानी व्यक्ति ही जान सकता है। जैसे–प्रतिभा सम्पन्न विद्यार्थी को ही किसी के बात करने का अभिप्राय समझ में आ सकता है, हर किसी को नहीं। एक स्थान पर आई० ए० एस० का इन्टरव्यू लिया जा रहा था, एक विद्यार्थी का जब नम्बर आया तो उसकी परीक्षा के लिए उससे कहा–इधर आओ, वह अन्दर आ गया। फिर उससे कहा जाओ, तो वह चला गया पर कुछ समझ नहीं पाया। तब उसने बाद में पूछा–आपने मेरा इन्टरव्यू तो लिया नहीं, बुलाया और भेज दिया, इसका क्या मतलब? मैं समझ नहीं पाया, क्या मैं पास हो गया? तब उन्होंने कहा–बाहर लाल लाइट जल रही थी अर्थात् खतरे की सूचक थी और आप अन्दर आ गए इसलिए आप इन्टरव्यू में फेल हो गए।

दृष्टान्त—एक बार सुभाषचन्द्र बोस से कहा–आप अपनी अंगूठी में से निकलकर बताओ तो सुभाषचन्द्र बोस ने अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया, उन्होंने अपना नाम एक चिट्ठी पर लिखा और उसे मोड़कर अंगूठी के उस पार कर दिया और कहा–लो मैं निकल गया। शिक्षक उसकी प्रतिभा को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। इसी प्रकार ज्ञानी अपनी ज्ञान प्रतिभा से इन्द्रिय विषयों की आसक्ति का दुष्फल जानते हैं और उससे विरत हो जाते हैं।

उत्थानिका—अब पञ्चेन्द्रिय जीवों के भेद कहते हैं–

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंध सद्दण्हु।
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेन्दिया जीवा॥१२५॥

अन्वयार्थ—**(सुरणरणारयतिरिया)** देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च **(जलचर-थलचर-खचरा)** जो जलचर, भूमिचर तथा आकाशगामी हैं **(बलिया)** ऐसे बलवान **(जीवा)** जीव **(वण्णरसप्फास-गंधसद्दण्हू)** वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द को समझने वाले **(पंचेंदिया)** पञ्चेन्द्रिय होते हैं।

अर्थ—देव, मनुष्य, नारकी और तिर्यञ्च जो जलचर, भूमिचर तथा आकाशगामी हैं। ऐसे बलवान जीव वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द को समझने वाले पञ्चेन्द्रिय होते हैं।

देव-मनुज-तिर्यञ्च-नारकी, यह सब पञ्चेन्द्रिय मानो।
पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के जलचर-थलचर-नभचर जानो॥

अपनी क्षयोपशम शक्ति से, यह बलवान कहे जाते।
जीव स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण औ, शब्दों के ज्ञाता रहते ॥१२५॥

व्याख्यान—मन, वचन और काय ये तीन बल होने से यह बलशाली माने जाते हैं। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी यह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दों को जानते हैं इसीलिए पञ्चेन्द्रिय कहलाते हैं। तिर्यञ्चों में जलचर, थलचर और नभचर भेद होते हैं। अजीव से पृथक् जो जीव द्रव्य है उसमें जो तारतम्य है वह सब कर्म का प्रतिफल है अर्थात् संसारी जीव जैसा करता है वैसा ही कर्म का तीव्र-मन्द फल मिलता है। जैसे-लालटेन जलाते हैं तब कभी दाँये तो कभी बाँये घुमाकर बत्ती को तेज और मन्द कर देते हैं उसी प्रकार कर्मों के उदय में मन्दता और तीव्रता होती रहती है। हमें पता नहीं चलता, पर होती रहती है। पञ्चेन्द्रिय के विषय सेवन से और कषायों से कर्म बँध जाते हैं, फिर ज्यों ही उदय में आते हैं तब उदयानुरूप परिणाम मिलते चले जाते हैं।

कर्म दृश्य नहीं विश्वास योग्य—अब एकेन्द्रिय से असैनी पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों को पता ही नहीं कि कर्म क्या होता है? और जिन्हें कर्म के ऊपर विश्वास नहीं, उनका भी यही हाल है क्योंकि कर्म दिखते नहीं हैं। यह तो विश्वास की बात है और ऐसे विश्वास करने वालों की संख्या अंगुली पर गिनती करने जितनी है अर्थात् बहुत कम है। सब अपने आपमें मस्त हैं। विदेहक्षेत्र में जहाँ साक्षात् भगवान् हैं वहाँ पर भी सब लोग भगवान् के पास जाते हों ऐसा नहीं, क्योंकि वहाँ तीर्थंकर सदा बने रहते हैं। जिस प्रकार प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री, सांसद आदि जिसके गाँव के हों और वहाँ आते-जाते रहते हों तब हमेशा उन्हें नहीं बुलवाते। उनकी इतनी महत्ता भी नहीं रहती, उसी प्रकार वहाँ सदा समवसरण लगा ही रहता है, अन्तराल पड़ता ही नहीं है। ऋद्धिधारी मुनि आदि अनेक प्रकार के साधु वहाँ बने ही रहते हैं। इसलिए हर किसी को उनकी महिमा नहीं आती। बहुत कम लोग ही संवेग आदि भावों से अभिभूत होकर अपना मार्ग चुन पाते हैं। अनन्तकाल से जो भटक रहे हैं अभी तक सही मार्ग पर चलने की शुरुआत ही नहीं हुई। अपनी सुध ही नहीं आई जबकि अनन्त तीर्थंकर हो गए, केवली हो गए, ऋद्धिधारी भी हो गए और अभी भी हो रहे हैं फिर भी हम अभी तक बचे रहे, यह समझ में नहीं आता। अनन्तकाल के बाद भी जब यही प्रश्न उठेगा तो वहाँ पर भी यही बात-यही गाथा आयेगी, यही पञ्चेन्द्रिय का वर्णन आयेगा, यही सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की बात आयेगी, चार गतियाँ, १४८ कर्म प्रकृतियाँ आयेंगी किन्तु सम्यग्ज्ञान न होने से तब भी पुनरावृत्ति का बोध नहीं होगा। "**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं जननी जठरे पुनरपि शयनं**" अर्थात् बार-बार जन्म-मरण करता हुआ माँ के गर्भ में फिर सोता है फिर जन्मता है। कोई व्यक्ति बूढ़ा हो गया फिर भी "डुकृञ् करणे" आदि व्याकरण की धातुएँ रट रहा था। तब किसी ने उस पर कुछ पंक्तियाँ लिख दी-"भज गोविन्दं भज गोविन्दं डुकृञ् करणे किम् करणीयं" अर्थात् वृद्ध हो गए हो अब तो प्रभु को भजो, 'डुकृञ् करणे' से क्या सिद्ध होने वाला है? यदि इन ग्रन्थों का मर्म समझ में आ जाता है तो उसके लिए ग्रन्थ

प्रभावक हो जाते हैं। उसी ग्रन्थ को बार-बार पढ़ने पर भी उन्हें ऊब नहीं आती क्योंकि वे तत्त्व के इच्छुक हैं। जहाँ भी जाओ वही पञ्चास्तिकाय, द्रव्यसंग्रह, समयसार आदि ग्रन्थ उलट-पलट कर चलते रहते हैं। ग्रन्थ समझने के उपरान्त चिन्तन करने से नई-नई बातें ज्ञान में आती हैं। स्वर्गों के इन्द्र अपने सागरोपम आयु के काल में कभी भी चर्चा की पुनरावृत्ति नहीं करते, सोचो! कितना ज्ञान होगा। एक ही जीव कभी विकलेन्द्रिय होता है तो कभी सकलेन्द्रिय हो जाता है तब उसमें स्पर्शादि पाँचों विषयों को जानने की क्षमता आ जाती है। जीव वही है किन्तु तारतम्य होता रहता है।

तिर्यञ्चों के भेद—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों में जल में रहने वाले, थल में रहने वाले और नभ में रहने वालों की अपेक्षा तीन प्रकार के चर हैं। '**खचर**' शब्द में विभक्ति का लोप है। विभक्ति लगाने पर खेचर होता है। दोनों प्रकार के शब्द रहते हैं जैसे-'**पंकेरुह**' अर्थात् पंकज में विभक्ति का लोप नहीं हुआ है। मेंढ़क जलचर भी है थलचर भी है तभी तो समवसरण में कूदता हुआ जा रहा था। यदि बतख जैसे पंख होते तो उड़ के चला जाता और श्रेणिक राजा के हाथी के पैर के नीचे नहीं दबता। बतख जो पंखों से उड़ता भी है, पानी में नाव जैसा तैरता भी है और जमीन पर चलता भी है, वह तीनों चर है। जो आकाश में गमन करने वाले मुनिराज हैं उन्हें '**णमो आगासगामीणं**' कहकर यहीं से नमोऽस्तु करो, उनकी महिमा गाओ। साक्षात् दर्शन मिलने पर भी हमेशा विशुद्धि बढ़ती रहे, ऐसा भी नहीं है। जितने विशुद्धि स्थान हैं; उतने में भी घटते-बढ़ते रहते हैं।

लोकपूरण समुद्घात के समय केवली भगवान् द्वारा स्पर्शित तीन लोक—केवली भगवान् जब लोकपूरण समुद्घात करते हैं तब लोक का एक प्रदेश भी नहीं बचता। यदि उनके चरण-स्पर्श करना चाहते हो तो अनुभव करो। हमारे आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों को वे छू रहे हैं लेकिन इन अपूर्व क्षणों में भी हम सोते रहे। एक दिन में कम से कम तीन बार केवली भगवान् को छूने का सौभाग्य प्राप्त होता है। वह स्वयं आकर स्पर्श कर रहे हैं फिर भी हम नहीं छू पाते, मात्र मूर्ति का चरण-स्पर्श करके रह जाते हैं। जिनके नाम स्मरण मात्र से ही कर्मों का क्षय हो जाता है वह स्वयं आकर हमें छू रहे हैं। सौभाग्य तो देखो! (सुन रहे हो या नहीं? आवाज आ रही है? माइक के निमित्ताधीन रहने से ऐसा ही होता है)।

जिस प्रकार जलचर जीवों में एक राक्षस जैसा बलशाली जीव रहता है। उसी प्रकार थलचरों में अष्टापद माना जाता है। उसके चार पैर नीचे और चार पैर पीठ में ऊपर होते हैं। यदि उसे कोई गिरा भी दे तो उसके दोनों तरफ के पैर स्टेण्ड जैसे होने के कारण सिर टकराता नहीं है, पैर के बल ही गिरता है। जैसे-क्रेन वगैरह जो मशीनें होती हैं, उनमें आगे सूँड जैसी रहती है। उसी से सब काम होता रहता है। जे० सी० बी० मशीन में ऐसी भी सुविधा रहती है कि पीछे के बल पर खड़ा हो जाता है जैसे पूँछ के बल पर खड़ा हो। उसमें ट्राला वगैरह जो होते हैं उसमें स्टेपलाइजर लगे रहते हैं जिससे बीच में कोई गड्ढा आदि आ जाए तो उसे भी पार कर लेते हैं, गिरते नहीं है।

बहिरात्मा और अन्तरात्मा का लक्षण—दोष रहित परमात्मा के ध्यान से उत्पन्न विकार रहित परमानन्द लक्षण वाला जो सुख है उससे विपरीत इन्द्रिय सुख में आसक्त होकर बहिर्मुखी जिसका उपयोग है, वह **बहिरात्मा** है। आत्मा को जो विषय बनाते हैं वह **अन्तरात्मा** हैं। जो विषयासक्त बहिरात्मा हैं वे इन्द्रिय विषयों में लीन होने के कारण एकेन्द्रिय आदि जातिनामकर्म को बाँधते हैं। वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर चक्षुइन्द्रिय से रूप, श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द आदि अनेक नाम वाले विषयों को प्राप्त करते हैं। यदि नोइन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम हो जाता है तो शिक्षा, आलाप, सम्बोधन, उपदेश ग्रहण आदि की शक्ति से युक्त होता है। यदि मन नहीं है तो असैनी कहलाता है। नारकी, मनुष्य, देव सैनी ही होते हैं। तिर्यञ्चों में सैनी-असैनी दोनों ही होते हैं। असैनी के लिए मनुष्य के समान वैर-प्रतिशोध के भाव नहीं आते। **अपना ही क्षयोपशम भाव अपने ही लिए अभिशाप बन जाता है।** अपनी ऊर्जा समाप्त करके दूसरे के साथ द्वेष या वैर करने से उसे देखते ही कषाय का पारा चढ़ जाता है इससे पुनः बन्ध होता है। ऐसे ही मन के माध्यम से वैर बाँधते चले जाते हैं। जो राग करते हैं वे इन्द्रियों के विषयों में लीन होते चले जाते हैं। राग-द्वेष और विषय-कषायों से ऊपर उठकर तत्त्वज्ञान में उपयोग को लगाना बहुत कठिन है। पैसा भरपूर है और बाजार में देश-विदेश के अच्छे-अच्छे सामान देखकर परिवार वाले प्रेरित करते हैं कि यह खरीदो, वह खरीदो, लेकिन सम्यग्ज्ञानी कहता है-खरीदना तो है लेकिन तुम्हारे कहने से नहीं खरीदूँगा, घर में हम सबका हिस्सा है, जिसका सही उपयोग हो वही खरीदेंगे। मानलो बारात बुलायी है तो कह देते हैं-छह बजे के बाद खाने को कुछ नहीं मिलेगा। बारात वाले भी तरह-तरह के रहते हैं। वह कहते हैं-हम लड़की को नहीं ले जायेंगे, धमकी देते हैं। तब वह कहते हैं कि-हमारे बुलाने से आए हो और हमने पहले ही पत्रिका में छपवा दिया है। यदि लड़की नहीं ले जाते तो कोई बात नहीं, हमारी लड़की बहुत होशियार है। कुछ सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे ही नियम कानून के पक्के रहते हैं। यही सही तत्त्वज्ञान है। प्रायः पैसे वाले लोग ही समाज की व्यवस्था या नियमावली तोड़ देते हैं। उन्हें देखकर फिर एक, दो अन्य व्यक्ति भी नियम तोड़ते हैं। इसी तरह दूसरे भी तोड़ते चले जाते हैं। इसलिए बहुत दुर्लभ है कि ज्ञान का विकास हो और मन इन्द्रिय विषयों की ओर न जाए।

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय इन जीवों को भी कुछ न कुछ विकल्प हो जाते हैं। जैसे-चींटी को गन्ध आदि के विषय में स्वभाव से ही आहार आदि संज्ञा का ज्ञान हो जाता है। पूज्य गुरुदेव (ज्ञानसागरजी महाराज) ने एक चर्चा में ऐसा भी सुनाया था कि कोई व्यक्ति नेत्र वाला होकर बाद में अन्धा हो गया और अन्धा होते ही उसकी कर्णेन्द्रिय आदि बहुत तेज हो गई। तेज का अर्थ यह है जिस इन्द्रिय की शक्ति समाप्त हो गई या रुक गई है इससे अन्य इन्द्रिय में एकाग्रता ज्यादा आ जाती है। अन्धे को थोड़ा-सा कान से सुनने में आ जाए तो वह मग्न हो जाता है फिर विकल्प होने में उसे देर नहीं लगती। कान और आँख दोनों बन्द कर दो तो निर्विकल्प समाधि बहुत

जल्दी हो जाती है। सामायिक में बैठने के पश्चात् थोड़ी-सी भी आवाज आती है तो विकल्प हो जाता है पर आँख बन्द करने पर मन के विकल्प चालू हो जाते हैं अर्थात् जैसे-जैसे इन्द्रियों को अपने विषयों से छुडवायेंगे, वैसे-वैसे अन्य इन्द्रिय या मन की गति तेज हो जाती है। मन को तो कहीं न कहीं लगाना पड़ेगा। पञ्चेन्द्रिय विषयों को छोड़ देना आसान नहीं है और छोड़कर याद भी नहीं करना बहुत कठिन है इससे भी ज्यादा निज ज्ञानधारा में बहना कठिन है। संयम लेने से क्षयोपशम भी एक प्रकार से बढ़ जाता है। गृहस्थाश्रम में जिसे कुछ भी ज्ञान नहीं था किन्तु दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांग का पाठी हो गया।

शंका—जिसे कुछ नहीं आता था वह एक अन्तर्मुहूर्त में इतना ज्ञानी कैसे हो गया?

समाधान—इसका कारण यह है कि पञ्चेन्द्रिय के विषयों के प्रति कर्तृत्व, भोक्तृत्व व स्वामित्वपना छूट जाने से ज्ञान तीव्र हो जाता है। चींटी आदि को अपने आप ही क्षयोपशम हो जाता है। ऐसा लगता है जैसे उनके पास मन है। जैसे आजकल का विज्ञान कहता है कि-उनके पास भी मन जैसी क्षमता रहती है। एक पुंकेसर और स्त्रीकेसर अर्थात् स्त्री बेल और पुरुषबेल होती हैं, ऐसा हमें दक्षिण में पढ़ाया गया था। वह फूल भी बताया गया था जिसमें दो-दो मूँछ रहती हैं, जिसे पुंकेसर मानते हैं। आजकल विज्ञान तो एकेन्द्रिय में मन एवं स्त्रीवेद-पुरुषवेद को भी मानता है। किन्तु सिद्धान्त कहता है कि-चार इन्द्रिय तक तो सम्मूर्च्छन ही होते हैं और असैनी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च सम्मूर्च्छन और गर्भज दोनों भी होते हैं। मनुष्य चाहे सम्मूर्च्छन भी हो लेकिन वह सैनी ही होता है, असैनी नहीं। मधुमक्खियों को छेड़ने पर वे व्यक्ति के पीछे काटने को दौड़ती हैं। उनमें इस जाति के क्षयोपशम की ही ऐसी विशेषता होती है। ऐसा नहीं कि उस व्यक्ति को पहचानती हैं; लेकिन गन्ध विशेष के माध्यम से जानने की क्षमता होती है। कुछ सर्प वगैरह के बारे में सुनते हैं कि उनकी आँखों में फोटोग्राफी (छायाचित्र) खींचने जैसे क्षमता होती है। वे जैसा देखते हैं वैसा ही स्मरण में रखते हैं, फिर उसे देखते ही द्वेष आदि के भाव उभरकर आ जाते हैं। इसे वासनाकाल कहते हैं जिससे वे बदला ले लेते हैं। मन के द्वारा ही यह काम होता है, ऐसा एकान्त नहीं है। इसमें श्रुतज्ञान का भी क्षयोपशम रहता है। कार्य-कारण की व्याप्ति के विषय में कोई अपने मन के माध्यम से अनुमान वगैरह लगाकर कार्य करे तो ऐसा नहीं है। जिन्होंने प्रत्यक्ष केवलज्ञान से जाना है उनसे जो प्रवचन सुना है इस व्याप्तिज्ञान के द्वारा अनुमानज्ञान से तत्त्ववेत्ता परोक्ष में भी तत्त्व को स्वीकार कर लेता है। केवलज्ञान के समान यह भी जानकार होता है किन्तु परोक्ष होता है, ऐसा समझ लेना चाहिए। जिस तरह यहाँ परोक्षज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान में भेद है उसी तरह मन के बिना एकेन्द्रिय आदि में भी जो ज्ञान होता है वहाँ उनकी पटुता के कारण होता है। इस प्रकार चार गति सम्बन्धी एकेन्द्रिय आदि के माध्यम से जीवों के भेद कहे हैं।

उत्थानिका—अब इन्हीं पाँच जाति के जीवों का चार गति से जिसका सम्बन्ध है उसका उपसंहार करते हैं–

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा ॥१२६॥
खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे च ते वि खलु।
पापुण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ॥१२७॥

अन्वयार्थ—**(देवा)** देवगति वाले जीव **(चउण्णिकाया)** चार प्रकार के हैं। **(पुण)** और **(मणुया)** मनुष्य **(कम्मभोगभूमीया)** कर्मभूमि और भोगभूमि की अपेक्षा दो भेद वाले हैं। **(तिरिया)** तिर्यञ्चगति वाले जीव **(बहुप्पयारा)** बहुत तरह के हैं **(णेरइया)** नारकी **(पुढविभेयगदा)** पृथ्वी के भेद के प्रमाण अर्थात् सात प्रकार के हैं। **(पुव्वणिबद्धे)** पूर्व में बाँधे हुए **(गदिणामे)** गति नामकर्म के **(च)** और **(आउसे)** आयु कर्म के **(खीणे)** क्षय हो जाने पर **(तेवि)** वे ही जीव **(खलु)** वास्तव में **(सलेस्सवसा)** अपनी लेश्या के वश **(अण्णं)** अन्य **(गदिं)** गति को **(य)** और **(आउस्सं)** आयु को **(पापुण्णंति)** पाते हैं।

अर्थ—देवों के चार निकाय हैं, मनुष्य कर्मभूमि व भोगभूमि वाले हैं, तिर्यञ्च गति वाले बहुत प्रकार के हैं, और पृथ्वियों के भेद जितने नारकी हैं। पूर्व में बाँधे हुए गति नामकर्म के और आयुकर्म के क्षय हो जाने पर वे ही जीव वास्तव में अपनी-अपनी लेश्या के वश से अन्य गति को और आयु को प्राप्त करते हैं।

वैमानिक-व्यंतर-ज्योतिष सुर, भवनवासी ये चार कहे।
कर्मभूमि और भोगभूमियाँ, मनुष्य के दो भेद रहे ॥
तिर्यञ्चों के भेद अनेकों, आर्ष ग्रन्थ में गाये हैं।
सात नरकपृथ्वी के कारण, नारक सात कहाये हैं ॥१२६॥
पूर्वकाल में गतिनाम और, आयुकर्म जो भी बाँधा।
अपना-अपना रस देकर के, कर्म वहीं पर खिर जाता॥
तभी कषाय गर्भित योगों की, प्रवृत्ति रूप लेश्यावश हो।
स्वयं जीव को अन्यगति और, अन्य आयु का बन्धन हो ॥१२७॥

व्याख्यान—देव चार प्रकार के होते हैं। पञ्चास्तिकाय में आचार्यप्रवर श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने "**देवा चउण्णिकाया:**" लिखा है, इसी की संस्कृत छाया "**देवाश्चतुर्णिकाया:**" को आचार्य श्री उमास्वामी जी महाराज ने **तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ** में लिखा है। उन्होंने बहुत सारे सूत्रों का आधार अष्टपाहुड आदि ग्रन्थों को बनाया है। मनुष्य कर्मभूमि और भोगभूमि के भेद से दो प्रकार के हैं।

''**आर्या म्लेच्छाश्च**'' यह भी दो भेद हैं। तिर्यञ्च बहुत प्रकार के हैं। सबसे ज्यादा तिर्यञ्च ही भोग भूमिज हैं। ढाई द्वीप के बाद असंख्यात द्वीपों में पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च पशु हैं। वहाँ पर भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि रहते हैं। गाथा में 'तिरिया' का अर्थ स्त्री नहीं है। '**तिरिया चरित्र**' बोलते हैं ना, यहाँ पर '**तिरिया**' से तिर्यञ्च गति लिया है। तिर्यञ्च के एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक भेद होते हैं। सात पृथ्वी की अपेक्षा से नारकी के सात भेद हैं। एक के नीचे एक **अधोऽधः** ऐसी सात पृथ्वियाँ हैं। उन सभी के नीचे एक और पृथ्वी है **आचार्य श्री अकलंकदेव** ने उसे '**कलंकला**' कहा है किन्तु वहाँ पर नारकी नहीं हैं। भवनवासी, व्यन्तरवासी, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से देव चार प्रकार के होते हैं। तिर्यञ्चों में दो पाये, चौपाये होते हैं। बन्दर के चार नहीं दो ही पैर होते हैं आगे दो हाथ होते हैं। सन्तुलन बनाने के लिए हाथ को पैर के समान टिका कर चलता है। दूसरी कक्षा में कंगारू के बारे में पढ़ा था उसके भी आगे दो छोटे-छोटे हाथ रहते हैं। नभ में उड़ने वाले तिर्यञ्च नभचर कहलाते हैं। पेड़ पर रहने मात्र से नभचर हो गये हों, ऐसा नहीं है। ये भी दो पैर वाले होते हैं और मनुष्य भी दो पैर वाले होते हैं। वनमानव गोरिल्ला के हाथ-पैर बन्दर जैसे रहते हैं। कहा जाता है कि बन्दर से ही वह धीरे-धीरे विकसित होकर मनुष्य जैसा हो जाता है। बहुत शक्तिशाली रहता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बन्दर के चार पैर नहीं, मनुष्य के समान दो ही पैर होते हैं हाथ-पैर की साइज में भी अन्तर होता है। पैर के बल पर बैठ जाता है और हाथ से काम करता रहता है। हाथ से खाता है, पैर से नहीं खाता। पैर हाथ का काम नहीं करते, जीवविज्ञान का अध्ययन करके यह ज्ञात हो जायेगा। भालू के चार पैर हैं और चारों पैर एक से रहते हैं इसलिए उसके दो हाथ नहीं कहे जायेंगे। बन्दर के हाथ का पंजा और पैर का पंजा अलग रहता है। उसे द्विपद ही कहेंगे और भालू चतुष्पद माना जायेगा। चतुष्पद में भी वह पशु नहीं कहलाता है। मृग की श्रेणी में आता है। पशु और मृग में अन्तर है। मृग रोथन क्रिया या जुगाली से रहित होता है और पशु रोथन क्रिया से युक्त होता है। हिरण वगैरह जितने भी हैं वह मृग हैं, पशु नहीं। गाय, भैंस पशु हैं, मृग नहीं। चार गति से विलक्षण आत्मोपलब्धि रूप सिद्धगति होती है। जो सिद्धगति से रहित हैं वे चार गति में रहते हैं। आत्मभावना से रहित होने के कारण कर्म को बाँधकर देवादि गतियों में उत्पन्न होते हैं। गतिनामकर्म और आयुकर्म से बँधे हुए जो जीव हैं वह अनात्म स्वभावी हैं, आत्मस्वभावी नहीं अर्थात् सिद्ध अवस्था में कोई भी पर्याय उपलब्ध नहीं होती, सिद्धगति में चार गति से विलक्षण रूप रहता है।

जीवों के गति और आयु जो बँधती है सो कषाय और योगों की परिणति से बँधती है। यह श्रृंखलावत् नियम सदैव चला आता है अर्थात् एक गति और आयुकर्म खिरता है और दूसरा गति और आयुकर्म बँधता है। इसी कारण संसार मार्ग कम नहीं होता। कर्तृत्व बुद्धि ने जग को ऐसे चपेट में ले लिया है कि वह अपने आपको भूल जाता है। अज्ञानी जीव इसी प्रकार अनादिकाल से भ्रमण करते रहते हैं।

उत्थानिका—जीव की विशेषता बताकर उपसंहार करते हैं–

एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य ॥१२८॥

अन्वयार्थ—**(एदे)** ये **(जीव-णिकाया)** जीवों के समूह **(देहप्पविचारं)** शरीर में वर्तना को **(अस्सिदा)** आश्रय करने वाले अर्थात् शरीर के द्वारा व्यापार करने वाले **(भणिदा)** कहे गए हैं **(देह-विहूणा)** शरीर से रहित **(सिद्धा)** सिद्ध हैं। **(संसारिणो)** संसारी जीव **(भव्वा)** भव्य **(य)** और **(अभव्वा)** अभव्य के भेद से दो प्रकार के हैं।

अर्थ—ये जीवों के समूह शरीर में वर्तने वाले अर्थात् शरीर के द्वारा व्यापार करने वाले कहे गए हैं। जो शरीर से रहित हैं, वे सिद्ध हैं। संसारी जीव भव्य और अभव्य ऐसे दो प्रकार के हैं।

अब तक कहे गए निकाय सब, देह सहित वाले ही हैं।
देह रहित वैदेही स्वामी, केवल सिद्धप्रभु जी हैं॥
संसारी भी जैनागम में, दो प्रकार के कहे गए।
अनन्त संसारी अभव्य हैं, भव्यजीव शिव योग्य रहे ॥१२८॥

व्याख्यान—पूर्व की गाथाओं में देह सहित जीव का वर्णन किया है इसलिए वे सब जीव निकाय कहलाते हैं। देह सहित ही जीव होते हैं, ऐसा नहीं है। देह से रहित भी जीव होते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं। संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं–भव्य और अभव्य। जिस तरह ''**गन्तुं योग्यः गम्यः**'' ''**कर्तुं योग्यः कार्यः**'' उसी तरह ''**भवितुं योग्यः भव्यः**'' होता है अर्थात् जो होनहार है उसे भव्य कहते हैं। जो होनहार ही नहीं है वह अभव्य है। अभव्य मुक्ति पाने की योग्यता नहीं रखते और जो योग्यता रखते हैं वह भव्य हैं। यह भव्य-अभव्य का वर्गीकरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए अच्छे-अच्छे सम्पादक लोगों का कहना है कि यह सिद्धान्त अस्पष्ट है। इसके लिए इन्होंने अनियमित शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् यह कोई नियमित नहीं है। जैसे–व्याकरण में एक निपात शब्द आया है अर्थात् बिना नियम के ही निपात से अभव्य शब्द कहा है, ऐसा उनका मानना है। अन्य भावकर्म के माध्यम से सिद्ध कर रहे हैं और अभव्य को प्राकृतिक स्वभाव कह रहे हैं। वे प्राकृतिक स्वभाव को किसी के माध्यम से स्पष्ट नहीं कर सकते। स्वभाव तो स्वभाव है। कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता ''**स्वभावोतर्कऽगोचरः**'' मूँग के उदाहरण से बहुत जल्दी समझ में आ जायेगा। मानलो किसी ने बीज बो दिया। एकाध बोरी में १००-२०० ठर्रा मूँग निकल आए। अब बीज तो ठर्रा नहीं था फिर भी उसमें ठर्रा मूँग कहाँ से आया? ऐसा क्यों? यदि यह प्रश्न पूछा जाए तो सिद्धान्त से उत्तर मिलेगा कि यह पारिणामिक भाव है अर्थात् ऐसा ही स्वभाव है। परिणाम ही है कार्य जिसका या परिणाम ही है प्रयोजन जिसका उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। क्षयोपशम ही प्रयोजन है जिसका वह

क्षायोपशमिक भाव है। औदयिक ही जिसका प्रयोजन है वह औदयिक भाव है। क्षायिक ही जिसका प्रयोजन है, वह क्षायिक भाव है। इसी तरह मात्र आत्मलाभ रूप परिणाम को परम पारिणामिक भाव कहते हैं। इसमें 'मैं हूँ' बस इतना ही भाव है। क्यों हूँ? कैसे हूँ? यह सब नहीं होता क्योंकि यह स्वाभाविक परिणाम है। जैसे–आत्मा जानता है लेकिन किसी के कारण से नहीं जान रहा है। दूसरों को भले जान रहा है लेकिन दूसरों के कारण से नहीं जान रहा है। जानने में आत्मा स्वाश्रित है। वैसे ही अभव्य को किसी ने बनाया नहीं है। जब तक भव्याभव्यपना है, तब तक संसारी है क्योंकि देह से सहित है।

यहाँ जिस प्रकार एक हॉल में सैकड़ों लोग बैठे हैं उसी प्रकार एक साधारण शरीर में अनन्त जीव रहते हैं। साधारण जीवों की बात विशेष सुविधाओं में रहने वाले नहीं समझ पाते हैं। गरीबों की हालत अमीरी में पलने वाले व्यक्ति नहीं समझ सकते, क्योंकि उनके अलग-अलग विशेष V.I.P. रूम रहने के लिए होते हैं जिससे सामूहिक में रहने की आदत छूट जाती है। जो संयुक्त परिवार में रहना नहीं चाहते उन्हें साधारण शरीर में रहना पड़ सकता है।

शुद्ध निश्चयनय से शुद्धात्मा का ही आश्रय लेते हैं, व्यवहार से देहाश्रित रहते हैं। ज्ञान को ही अपना शरीर बनाकर रहते हैं। विश्व को जिसने अपना चक्षु बना लिया अर्थात् ज्ञान चक्षु को ही विश्वचक्षु कहा जाता है। विश्वकर्मा का अर्थ विश्व को बनाने वाला नहीं है, 'विश्व' अर्थात् 'पूर्ण', अपने जीवन को पूर्ण करने वाला विश्वकर्मा है। जो अपना कार्य है वह दूसरों के द्वारा थोड़े ही होगा। सभी अपना-अपना कार्य करने में स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार केवलज्ञानादि गुणरूप परिणत होने की शक्ति भव्यत्व है और इससे विपरीत अभव्यत्व है। इसके लिए मूँग या मोंठ का उदाहरण दिया ही है। मूँग की अपेक्षा मोंठ लम्बे रहते हैं। चाहे मूँग हो या मोंठ हो अधिकांश पक जाते हैं लेकिन कुछ जो ठर्रा होते हैं वह नहीं पक पाते हैं। पानी में भिगो देने पर भी बिल्कुल नहीं सीझते। अग्नि पर भी चाहे कितना ही उबालें, पूरा पानी समाप्त हो जाए, वाष्प बनकर ऊर्ध्वगमन कर जाए फिर भी पक नहीं सकते। जो पक जाते हैं वह आवाज नहीं करते और जो नहीं पकने वाले ठर्रा मूँग हैं वह आवाज करके कहते हैं कि हम पके नहीं हैं। चाहे जितना भी पकाओ फिर भी हम पकने वाले नहीं हैं। अब सोचना यह है कि हीरे की तो भस्म बन जाती है लेकिन इसमें पानी भी डाल दिया फिर भी टस से मस नहीं हुआ, यह स्वभाव है। पानी इतना गर्म हो गया कि फोले पड़ जाएँ लेकिन उस ठर्रा मूँग को पका नहीं सका। उसे पीस कर रोटी बना लो तो बात अलग है। जब वह नहीं पकता तो उसे पिसवा देते हैं। जो जीव नहीं सीझेंगे अर्थात् सिद्ध नहीं होंगे वह संसार में भटकेंगे और कर्मों से पिसते रहेंगे।

ऐसे भी कई भव्य हैं जो मुक्त नहीं होते—अनेक बार मौका मिलने के उपरान्त भी संसार में ही रह गए। शक्ति तो विद्यमान रहती है, किन्तु सम्यग्दर्शन उत्पत्ति के समय पर जिस जीव के व्यक्त हो जाती है उसको भव्य कहा जाता है लेकिन ऐसे भी कई भव्य है जो मुक्त नहीं होते। गाथा में 'य'

शब्द के द्वारा आचार्य महाराज यही कह रहे हैं ऐसे भी भव्य रहते हैं जो अभव्य का हमेशा साथ देते रहते हैं। उनकी ऐसी मित्रता है कि वह छोड़ना नहीं चाहते। वैसे अभव्यों की संख्या सबसे कम है, अभव्यों के समान भव्यों की संख्या ज्यादा है और मुक्त होने वाले भव्य इससे भी ज्यादा हैं, यह क्रम है। धवला में आया है कि अभव्य कम हैं, भव्य उससे ज्यादा हैं। अभव्यों के समान जो भव्य हैं उनके पास शक्ति तो है पर व्यक्ति नहीं, लेकिन अभव्यों के पास शक्ति ही नहीं होती, ऐसा कहा है। यहाँ पञ्चेन्द्रिय के वर्णन की बात जो कही गई है वह उपलक्षण मात्र है इसलिए एकेन्द्रिय आदि से लेकर तिर्यञ्चों के बहुत भेद होते हैं। यहाँ उपलक्षण का अर्थ यह समझना कि किसी ने कहा कौए से घी का संरक्षण कर लेना तो वह कौए को देखता रहा और इतने में बिल्ली आ गई तो उससे रक्षण नहीं किया। वह कहता है कि आपने तो कहा था कौए से बचाओ, बिल्ली आदि का नाम ही नहीं लिया था। यहाँ कौआ उपलक्षण था, सबसे बचाओ यही अर्थ लगाना था। उसी प्रकार गाथा की बात है।

उत्थानिका—अब पाँच इन्द्रियाँ और पृथ्वीकायिक आदिक जो जीव हैं वह सभी जीव के स्वरूप नहीं हैं यह कहा जा रहा है–

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवंति ॥१२९॥

अन्वयार्थ—(इंदियाणि) इन्द्रियाँ **(पुण)** तथा **(छप्पयार)** छह प्रकार के **(काया)** काय **(हि)** निश्चयनय से **(जीवा)** जीव **(ण)** नहीं **(पण्णत्ता)** कहे गए हैं। **(तेसु)** किन्तु जिसमें **(जं णाणं)** जो ज्ञान **(हवदि)** होता है **(तं)** उसको **(जीवो त्ति य)** जीव ऐसा **(परूवंति)** कहते हैं।

अर्थ—पाँच इन्द्रियाँ तथा छह प्रकार के काय निश्चयनय से जीव नहीं हैं। उन इन्द्रियों तथा कायों में जो ज्ञान है उसको 'जीव' ऐसा कहते हैं।

निश्चयनय से पञ्चेन्द्रिय को, जीवद्रव्य नहीं कह सकते।
छह प्रकार की काया को भी, जीवात्मा ना कह सकते॥
लेकिन इन्द्रिय औ शरीर में, जो चैतन्य भाव रहता।
पूर्व ज्ञानधर कहते हैं कि, जीवद्रव्य वह कहलाता ॥१२९॥

व्याख्यान—निश्चयनय से इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं और न ही छह प्रकार के काय जीव हैं। यह चैतन्य लक्षण वाले जीव से भिन्न हैं किन्तु इन शरीरों में रहने वाला ज्ञान स्वरूपी जो जीव है वह अपने ज्ञानगुण से यद्यपि गुण-गुणी भेद संयुक्त है तथापि कथञ्चित् अभेद है। जीवपदार्थ अविनाशी, अचल, निर्मल, चैतन्य स्वरूप है। अनादि अविद्या से देह धारणकर पञ्चेन्द्रिय विषयों का भोक्ता है। मोही होकर मत्त व्यक्ति की भाँति पर द्रव्यों में आसक्त होता है और मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं कर पाता है। यह संसारी जीव भी स्वभाव दृष्टि से निर्मल चैतन्य विलासी है। यहाँ जो स्थावर नामकर्म के उदय

से पाँच स्थावर कहे हैं; उसमें निगोदजीव भी आ जाते हैं। अल्प-बहुत्व में वनस्पतिकायिक और निगोदिया में अन्तर बताने वाला एक सूत्र भी आता है जिसमें कहा है कि सूक्ष्म वनस्पतिकाय से निगोदिया अधिक हैं।

उत्थानिका—अन्य अचेतन द्रव्यों में न पाए जाने वाले कार्य का कथन करते हैं–

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ॥१३०॥

अन्वयार्थ—(जीवो) जीव **(सव्वं जाणदि पस्सदि)** सब जानता है और देखता है **(सुक्खं इच्छदि)** सुख को चाहता है **(दुक्खादो विभेदि))** दुःख से डरता है **(हिदं अहिदं)** हित, अहित **(कुव्वदि)** करता है **(वा)** और **(तेसिं फलं भुंजदि)** उनके [शुभ अशुभ भाव के] फल को भोगता है।

अर्थ—यह संसारी जीव सर्व पदार्थों को जानता-देखता है। सुख को चाहता है और दुखों से डरता है। हितरूप अच्छा कार्य, अहितरूप बुरा कार्य करता है और उन भले-बुरे कार्यों का फल भोगता है।

जीव सर्व का जाननहारा, तथा देखने वाला है।
सुख की इच्छा करता है औ, दुख से डरने वाला है ॥
भाव शुभाशुभ करने वाला, उसका फल भोगनहारा।
नहीं अचेतन में यह होता, जीव सभी से है न्यारा ॥१३०॥

व्याख्यान—जीव सबको जानता-देखता है, सुख चाहता है और दुख से डरता है, हिताहित का कार्य करता है और उन शुभाशुभ क्रिया के फल को भोक्ता भी है अर्थात् पाप-पुण्य के फल का भोक्ता भी है। '**सुख चाहें दुखतें भयवंत**' इच्छा सुख की करता है, पर कार्य दुख के करता है और दुख से डरता है पर सुख के कार्य करता नहीं, यही जीव की उल्टी चाल है। **छहढाला** में आया है –

पुद्गल नभ-धर्म-अधर्म-काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताको न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान॥

पदार्थ को देखने-जानने आदि की क्रिया मात्र जीव में ही होती है, भले ही अन्य निमित्त से जानना-देखना हो किन्तु जानने की क्रिया जीव में ही होती है। जैसे–दर्शन और ज्ञान का भेद समझ में नहीं आता वैसे ही इन्द्रिय और ज्ञान का भेद समझ में नहीं आता। जिस प्रकार 'आँखों से देखा' इसे हम देखने का कार्य समझ लेते हैं किन्तु आँखों को खोलने से पहले ज्ञान नहीं होता, दर्शन होता है। वस्तुओं का दर्शन या देखना वस्तुतः चक्षुदर्शन का काम नहीं है; चाक्षुष ज्ञान है। चक्षुदर्शन तो निराकार होता है और यह रूप विशेष का जो ज्ञान है वह आँख का काम है, इसलिए आँख खोलो और इसे समझ लो। मैंने आँखों से देखा यह जो कहा जाता है; वह वास्तव में देखा नहीं, जाना है। 'देखो'

शब्द वस्तुतः दर्शन का द्योतक है और दर्शन में आँखों से देखा नहीं जाता, पलकें खुल जाना चक्षुदर्शन है। इसमें मन की नहीं आत्मा की आज्ञा होते ही पलकें खुल जाती हैं। क्योंकि चार इन्द्रिय के पास मन न होते हुए भी आँख खुलने की अनुमति आत्मा की ओर से मिल जाती है। चतुरिन्द्रिय जीव अचक्षुदर्शन के साथ चक्षुदर्शन वाला भी होता है। यदि आँख मन की आज्ञा से खोलते हैं तो उसके पास मन तो रहता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा श्रुतज्ञान के माध्यम से आज्ञा देता है तब आँखें खुल जाती हैं। मनुष्य के पास मन होने के कारण सोचता रहता है कि मैं सबका कर्त्ता हूँ जबकि ऐसा नहीं है। सभी जीवों के पास ज्ञान रहता है और ज्ञान, दर्शन के बाद होता है। विषय-विषयी सन्निपात होने के अनन्तर जो ज्ञान होता है वह 'अवग्रह' है। इस प्रकार जानना, देखना, सुख की इच्छा करना इत्यादि क्रियाओं का कर्त्ता जीव ही है। पुद्गल इन क्रियाओं का कर्त्ता नहीं हो सकता क्योंकि उसके पास ज्ञान नहीं है। जैसा कि **समयसार** में कहा है-

सद्दोणाणं ण हवदि जह्मा सद्दो ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥४१५॥

शब्द ज्ञान नहीं है, ज्ञान शब्द नहीं है क्योंकि शब्द कुछ नहीं जानता ऐसा केवली भगवान् ने कहा है, यह समयसार का रहस्य है। शास्त्र बगल में लेकर चल रहे हैं तो क्या शास्त्री बन गए? जबकि ''**शास्त्रं यद् विद्यते इति शास्त्री**'' ''**मुखे सरस्वती निहितः, सरस्वती पुत्रोऽयम्**'' लोक में कहते हैं कि उसे सरस्वती पुत्र होने का वरदान मिल गया, जिसके होंठ पर तिल है। **पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज** के नीचे के होंठ पर तिल था, जब मुस्कान होती थी तब दिख जाता था। जीव के ज्ञान का विषय चल रहा था और अजीव की चर्चा में आ गए। जीव पुद्गल के साथ भले ही रहता है किन्तु जानना, देखना, भोगना आदि जीव के असाधारण कार्य हैं। अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से उपयोग तीन प्रकार का माना जाता है। एक साथ यह तीनों उपयोग नहीं हो सकते लेकिन कुछ लोग ऐसा मानते हैं। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा द्रव्यकर्म और नोकर्मों का जीव कर्त्ता होता है। अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावकर्मों का एवं शुद्ध निश्चयनय से केवल-ज्ञानादि शुद्ध भावों का कर्त्ता है। इसी तरह इन तीनों नयों की अपेक्षा भोक्ता भी हो सकता है।

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥ (द्रव्यसंग्रह)

यह गाथा श्री जयसेन महाराज के सामने थी यह सिद्ध हो जाता है। फिर द्रव्यसंग्रह में संग्रहित होकर आ सकती है। इसका अर्थ है जीव पुद्गल कर्मादिकों का कर्त्ता व्यवहार से है, निश्चयनय से चेतन भावों का कर्त्ता है और शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध भावों का कर्त्ता है।

नयों के भेद एवं विशेष विवक्षा—नय विवक्षा से जीव कर्त्ता, भोक्ता और स्वामी है ऐसा प्ररूपित किया गया था। अध्यात्मग्रन्थों में प्रायः शुद्ध-अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय इस प्रकार

तीन नयों का उल्लेख आता है किन्तु आलाप पद्धति में शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय, उपचरित सद्भूतव्यवहारनय और अनुपचरित सद्भूतव्यवहारनय तथा उपचरित असद्भूत-व्यवहारनय और अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय का भी वर्णन आया है। उपचरित सद्भूत व्यवहार नयापेक्षा केवली भगवान् सबको जानते हैं। सर्वज्ञत्व की सिद्धि निश्चयनय से नहीं होती। अभेद में भी भेद करने की विवक्षा व्यवहारनय में होती है और भेद में भी अभेद की विवक्षा निश्चयनय रखता है। इसमें भी शुद्धत्व का कथन शुद्ध निश्चयनय का है। देह, कर्म आदि पर द्रव्यों के साथ असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय का विषय बनता है। जीव पञ्चेन्द्रिय विषयों का उपचार से भोक्ता है। नय को विषय करने वाला आत्मतत्त्व है जो सर्व द्रव्यों से बिल्कुल पृथक् है, जिसका क्षेत्र भी अलग है। यह नगर मेरा है, शरीर मेरा है इत्यादि उपचार नय का विषय है, इसी से जीव स्वयं को पर द्रव्यों का भोक्ता मान लेता है।

एक बार किसी ने कहा कि–हम कर्म सिद्धान्त को जानते हैं। हमने कहा–जानते तो हो पर मानते नहीं हो, अगर मानते तो किसी को अपना नहीं कहते और न ही इतनी दौड़-धूप में लगे रहते। जब व्यंजन खाते हैं तब जो स्वाद आता है उस समय यह समझते हैं कि हम इस व्यंजन के भोक्ता हैं लेकिन यह सब उपचारनय की विवक्षा से है। ''मैं इस घर का मालिक हूँ'' यह भी उपचारनय की विवक्षा से है क्योंकि वास्तव में जीव व्यंजन का भोक्ता नहीं है। कर्म फल का भोक्ता है और वह कर्म, नोकर्म के माध्यम से भीतर में फलते हैं। नोकर्म का भी जीव भोक्ता नहीं, कर्म का जो फल रहेगा वह भी ज्यादा से ज्यादा शरीर के साथ तक रहेगा अर्थात् जब तक शरीर है तभी तक फल दे पायेगा। इसीलिए भवप्रत्यय आदि के रूप में इसकी फलश्रुति होती है और इस तरह जीव कर्मफल का भोक्ता होता है।

दृष्टान्त–थाली में रसगुल्ला रखा, थाली से हाथ में लिया और मुँह में रखा ही था कि इतने में फोन आ गया, मुनीम जी बोल रहे हैं। सेठ ने कहा–मुनीम जी क्या हो गया? वहाँ से आवाज आई पार्टी फेल हो गई, सड़क पर आ गए। ऐसा सुनते ही रसगुल्ला नीम जैसा बेस्वाद हो गया, उल्टी हो गई, गला खिचने लगा। इसका अर्थ यह है कि रसगुल्ला से रस नहीं आ रहा है, कर्म फल से रस आ रहा है। उस समय ऐसा कर्म उदय में आया कि कटुत्व का संवेदन कराने लगा। ''मैं रसगुल्ला खाऊँ'' यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनय का विषय है क्योंकि उसमें राग-द्वेष रूप भाव अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से हैं। इसमें जरूरी नहीं कि सभी राग-द्वेष करें ही। जैसे–कोई मुनिराज हैं वह सभी तरह के व्यापार को छोड़ करके भवसमुद्र पार करने के लिए संयमी हो गए। अब उन्हें पार्टी से कोई प्रयोजन नहीं, सब कुछ छोड़कर आ गए। ऐसा भी उदाहरण आता है कि किसी ने परीक्षा लेने की अपेक्षा साधु से कहा कि–आपकी पार्टी फेल हो गई है, तो मुनिराज ने कहा–हमारी तो चेतन पार्टी है। वह सुनकर दंग रह गया। वह कर्म के कर्त्ता नहीं थे इसलिए उस कर्म के उदय से हर्ष-विषाद भी नहीं हुआ। इस प्रकार अशुद्ध निश्चयनय से रागद्वेष के कर्त्ता नहीं हुए, शुद्ध निश्चयनय से स्वभाव के ही कर्त्ता भोक्ता

रहे। माथे पर सलबटें नहीं आईं, न किसी से कहा कि भैया हम तो किसी को फोन कर नहीं सकते, क्या हो गया? तुम जा करके पूछ लो, इस प्रकार का भाव तक नहीं आया। **मैं पर का हो नहीं सकता और पर मेरा हो नहीं सकता। मेरे उनके बीच में द्रव्यत्व ही रहता है।**

इस प्रकार भेद भावना की मुख्यता से प्रथम गाथा जीव के विशेष कार्य की अपेक्षा और द्वितीय गाथा स्वतंत्र है। इस प्रकार दो गाथाओं के साथ पञ्चम स्थल पूर्ण हुआ। अब गाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा जीव द्रव्य का उपसंहार करके उत्तरार्द्ध में अजीव अधिकार प्रारम्भ किया जाता है।

उत्थानिका—अब जीव-अजीव का संक्षेप से व्याख्यान करते हैं –

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं बहुगेहिं।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं ॥१३१॥

अन्वयार्थ—(एवं) इसी प्रकार **(अण्णेहिं वि)** दूसरी भी **(बहुगेहिं)** बहुत-सी **(पज्जएहिं)** पर्यायों के द्वारा **(जीवं)** जीव को **(अभिगम्म)** समझ कर **(णाणं तरिदेहिं)** ज्ञान से भिन्न जड़पना आदि **(लिंगेहिं)** चिह्नों से **(अज्जीवं)** अजीव तत्त्व को **(अभिगच्छदु)** जानो।

अर्थ—इस प्रकार अन्य भी बहुत-सी पर्यायों द्वारा जीव को जानकर ज्ञान के अतिरिक्त ऐसे अन्य लिंगों या चिह्नों द्वारा अजीव को जानो।

इस प्रकार से और अन्य भी, अनेक विध पर्यायों से।
जीवतत्त्व को जान-मानकर, ज्ञानादिक गुण चिह्नों से॥
किन्तु ज्ञान से भिन्न रसादिक, लिंगों से पहचान करो।
हैं वह सर्व अजीव तत्त्व ही, इस विध भविजन ज्ञान करो ॥१३१॥

व्याख्यान—इस प्रकार अनेक पर्यायों से जीव द्रव्य को जानकर और जिसमें ज्ञान नहीं है ऐसे रूप, गन्ध, स्पर्शादि पर्यायों के माध्यम से अजीव तत्त्व को जान लें या पहचान लें। जब इन चिह्नों से पहचान हो जाती है तब ज्यादा तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए। इस अध्यात्म ग्रन्थ में बहुत सरल भाषा में व्याख्यान कर रहे हैं। इसमें एक प्रकार से जीव का भी व्याख्यान हो रहा है। क्योंकि रूप, रस, गन्ध आदि से जीव की पहचान नहीं है और जीव इसी से राग कर रहा है। इस प्रकार जीव की पहचान हो गई तो अजीव की ओर दौड़-धूप क्यों? जीव की पहचान में जो कारण है वह समझ में आ गया और निषेध रूप से रूप, रस, गन्ध आदि जीव नहीं है तो इसके अलावा अर्थान्तर अर्थात् ज्ञान-दर्शन आदि से जीव की पहचान कर लो। एक विधिमुख से कथन किया जाता है, दूसरा निषेधमुख से। इसमें विधिमुख से कथन जल्दी समझ में नहीं आता क्योंकि देखने में कुछ नहीं आ रहा, उसकी विधि हम कैसे कहें? लेकिन पुद्‌गल पकड़ने में आता है; पर उसके द्वारा जीव की पहचान नहीं कर सकते। यही कहा जायेगा कि यह जीव नहीं है। जब यह जीव नहीं है तब उपादेय भूत जीवद्रव्य की ओर दृष्टि चली

जाती है और विषयों से विमुक्तता अपने आप ही आ जाती है। पर विषयों की पकड़ अभी छूट नहीं रही है क्योंकि केवल श्रद्धान हुआ है किन्तु मुँह विषयों की ओर है। रात-दिन उसी का स्मरण और श्रवण होता है। पाँच द्रव्यों का जो विषय है वही मन का विषय है क्योंकि मन ने योजना बनायी और इन्द्रियों को सौंप दिया फिर वह उपयोग करती हैं। वही दिमाग में रहता है, पर उसके द्वारा आत्मा की पहचान नहीं होती इसीलिए अजीव की पहचान होती है ऐसा सिद्ध होता है।

भोगों से विमुख मोक्ष के सम्मुख—जब तक संसार एवं भोगों से विमुख मोक्ष के सम्मुख नहीं होगा तब तक मोक्ष की ओर जा रहे हैं ऐसा नहीं कह सकते। गाड़ी चलाते समय पीछे देखते रहे तो दुर्घटना हो जायेगी। पर पीछे भी देखना पड़ता है; इसलिए कि कोई पीछे न लग जाए, इसके लिए दर्पण रहता है जिसमें पीछे का दिखाई देता है। हार्न देते रहो और आगे बढ़ते रहो इससे कौन किस ओर से कितनी वेग से आ रहा है, उससे बच सकते हैं। इसी प्रकार अपने ज्ञान रूपी दर्पण में अतीत झलक जाता है। अनागत की तो प्लानिंग है वह झलकती नहीं। **भोग भागते नहीं, भोक्ता भाग रहा है। भोग स्मरण नहीं करते, भोक्ता स्मरण करता है।** यदि स्वयं का भोक्ता ही (निजात्मा) स्मरण में आ जाए तो उद्धार हो जाए। उसी का स्मरण ही हमेशा करते रहो, **"शुद्धोऽसि, बुद्धोऽसि, निरञ्जनोऽसि, इदं शरीरं तु अञ्जनम् अस्ति"** यह शरीर अंजन है और आत्मा निरंजन है। इस प्रकार निश्चय से जीव पदार्थ को जानकर व्यवहार की अपेक्षा एक से लेकर चौदह गुणस्थान तक तथा गति आदि मार्गणा से जीव की पहचान करते हैं या जीव की पहचान में यह निमित्त बन जाते हैं।

गुणस्थान व मार्गणा स्थान द्वारा जीव की पहचान—कौन से गुणस्थान तक कौन सी मार्गणा होती है? और मार्गणा के योग्य तो जीव ही रहता है। व्यवहारनय से नामकर्म के उदय से शरीर, संस्थान, संहनन आदि बहिरंग और अशुद्ध निश्चयनय से अभ्यन्तर में राग-द्वेष कषायादिक तथा शुद्ध निश्चयनय से वीतराग-निर्विकल्प-चिदानन्द-एकस्वभावी आत्मपदार्थ के संवेदन से उत्पन्न सुखामृत रस के अनुभवन से जीव पदार्थ जाना जाता है। एकेन्द्रिय में पृथ्वीकायिक, जलकायिक आदि काय मार्गणा में आ जाते हैं और ये सभी नामकर्म पर आधारित हैं। बहिरंग की पहचान के लिए नामकर्म का विस्तार है और भीतर के परिणाम की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय से अनन्तानुबन्धी आदि कषायें हैं। कौन से गुणस्थान में कितनी कषायें रहेंगीं? कषाय मार्गणा में १६ कषाय, सम्यक्त्व मार्गणा में दर्शनमोहनीय का भेद मिथ्यात्व आदि-आदि जो आत्मा की अन्तरंग प्रवृत्तियाँ हैं वह अशुद्ध निश्चयनय का विषय बनती हैं। वह चर्चा भी मार्गणा में गर्भित हो जाती है जिसके द्वारा यह जीव इस गुणस्थान में है, ऐसा ज्ञात हो जाता है। जैसे- यदि अनन्तानुबन्धी चली गई तो निश्चित ही दो गुणस्थान से आगे के गुणस्थानवर्ती जीव हैं। तृतीय गुणस्थान से अनन्तानुबंधी का क्षेत्र समाप्त हो गया। संयमासंयम गुणस्थान में आते ही अप्रत्याख्यान भी चली गयी। इस प्रकार व्यवहारनय और अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा १४ वें गुणस्थान तक जीवत्व को ढूँढ़ना है।

शुद्ध और अशुद्ध समयसार का कथन—शुद्ध निश्चयनय में मार्गणा, गुणस्थान, पर्याप्ति यह कुछ भी नहीं हैं। शुद्धोपयोग भी व्यवहार से घटित होता है। यह भी व्यवहार या अशुद्ध निश्चयनय का विषय बनता है। निश्चयनय का विषय शुद्ध समयसार है। अशुद्ध समयसार का अर्थ कारण समयसार है। वैसे अशुद्ध समयसार होता नहीं है। कारण समयसार १४ वें गुणस्थान तक चलता है जो कि एकदेश शुद्ध निश्चयनय का विषय बनता ही नहीं, किन्तु आज जो व्याख्यायें कर रहे हैं वह बहुत जटिल सी होती जा रही हैं। वैसे भी शब्द आते ही अनुभव से दूर हो जाते हैं। विज्ञापन का अर्थ लोग यह समझते हैं कि हम पदार्थ के पास पहुँच गए लेकिन विज्ञापन से वस्तु का प्रचार तो किया जा सकता है, अनुभव नहीं। विज्ञापन शब्द से कर दिया, अब उसका अनुभव करना है तो अपने दिमाग से उन शब्दों को हटाकर जिस वस्तु के बारे में सुना था उसका वैसा ही अनुभव करना पड़ेगा, परन्तु अनुभव करते समय विज्ञापन गायब हो जाता है। निश्चयनय में सब विज्ञापन प्रचार-प्रसार समाप्त हो जाते हैं। जैसे—चुनाव के एक महीने पहले प्रचार करते हैं, इससे लोगों को वोट डालने को आकर्षित कर देते हैं। चुनाव के दो दिन (४८ घण्टे) पहले सब प्रचार-प्रसार बन्द हो जाते हैं। यह ध्यान रखना, चुनाव होते ही माहौल शान्त हो जाता है। ऐसे ही शुद्ध निश्चयनय में पर का प्रवेश ही नहीं, शुद्ध जीवपदार्थ ही मिलता है। इसमें सर्वज्ञत्व की सिद्धि भी नहीं कर सकते। **नियमसार** में कहा है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥१५९॥

निश्चयनय से तो केवलज्ञानी भी आत्मा को ही जानते हैं और सर्व को जानते हैं, यह व्यवहारनय का विषय है। इसलिए जो आत्मतत्त्व को जानते हैं वे निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करते हैं। इस कथन से निश्चय सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने वालों की जो होड़ लगी है उनसे यह कहना है कि—श्री कुन्दकुन्द भगवान् की जो यह गाथा है कम से कम उसका शब्दार्थ तो निकालें, बाद में भावार्थ देखें। यदि शब्दार्थ नहीं निकला तो भावार्थ भी सही नहीं निकल पायेंगे। जो राग-द्वेष हो रहे हैं उसे यदि नहीं पकड़ पाते हो, तो रागद्वेषातीत आत्मतत्त्व को कैसे पकड़ोगे? **राग-द्वेष के होते हुए भी अपने आपको वीतरागी मानना ऐसा श्री कुन्दकुन्द आचार्य और अन्य कोई भी आचार्य स्वीकार नहीं करते।** वीतराग-निर्विकल्प-चिदानन्द-एकस्वभाव रूप जो पदार्थ है उसके संवेदन से उत्पन्न परमानन्द रसास्वादन रूप जो समरसी भाव है उससे शुद्धात्म की पहचान होती है और आगे कहे जाने वाले चिह्नों से अजीव तत्त्व की पहचान होगी।

दृश्यमान संसार अजीव है—इस संसार में जो दिख रहा है वह पूरा अजीव का विस्तार है। यह स्थूल विषय है इस पर इतना श्रद्धान कर लें कि रात के १२ बजे भी पूछे तो यह बता दें कि यह अजीवतत्त्व है। भीतर का संवेदन होना सूक्ष्म विषय है, यह जीवतत्त्व के बिना हो नहीं सकता। पहले भी यह कहा था कि जब तक मृत्यु नहीं होती तब तक शरीर की उष्मा बनी रहती है, रक्त संचार होता

रहता है लेकिन ज्यों ही श्वास पूर्ण होती है त्यों ही शव रूप में परिवर्तित हो जाता है। शव अर्थात् अब इसमें शिव यानि भगवान् आत्मा नहीं रहा, जो भावी या होनहार भगवान् है, अब शान्त हो गया। यह बात अलग है कि उसमें रसायन आदि के कारण सड़न-गलन नहीं हो पाती। असंख्यात पुद्गल परावर्तन काल तक काय की स्थिति रह सकती है। मात्र अर्द्धपुद्गल परावर्तन में ही असंख्य चौबीसी निकल जाती हैं तो असंख्यात पुद्गल परावर्तन में कितनी चौबीसी हो जायेंगीं? इतने काल तक छोड़ा गया शरीर ज्यों का त्यों बना रह सकता है, लेकिन वह जीव नहीं है मात्र काय है।

काय और कायिक में भेद—'कायिक' में 'इकण्' प्रत्यय लगा है। काय में जब तक जीव रहता है तब तक कायिक कहते हैं, और जो जीव द्वारा छोड़ा गया शव है वह काय है। शरीर को धारण करने के लिए जो जा रहा है वह जीव कहलाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार धातु हैं और पाँचवीं वनस्पति को नहीं, आकाश को धातु कहा है क्योंकि वनस्पति में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु भी विद्यमान है मात्र जल या पृथ्वी से वनस्पति नहीं बनती। वनस्पतिकायिक से यदि जीव निकल गया तो वह वनस्पतिकाय है और वनस्पति को जो काया बनाने के लिए जा रहा है ऐसा विग्रहगति वाला जीव **वनस्पतिजीव** है तथा जिस वनस्पति में जीव विद्यमान है वह **वनस्पति-कायिक** है। इन तीनों के अलावा शुद्ध वनस्पति अलग से कहीं नहीं मिलती। चार भूत तत्त्व तो समझ में आ जाते हैं, परन्तु पाँचवाँ आकाश तत्त्व तो उत्पत्ति के लिए आश्रयभूत है, क्योंकि जन्म तो वहीं लेगा जहाँ आकाश के प्रदेश हैं। पञ्च महाभूत तत्त्व शरीर के लिए कारण हैं ये शरीर नहीं हैं ये शुद्ध तत्त्व हैं। चन्द्रकान्त मणि से चाँदनी के योग द्वारा जो जल निकलता है वह शुद्ध जल है, अन्तर्मुहूर्त के बाद उसमें जलकायिक आदि जीव उत्पन्न होंगे। इसी प्रकार सूर्यकान्त मणि से सूर्य किरण के योग द्वारा जो अग्नि निकलेगी उसमें अन्तर्मुहूर्त के बाद अग्निकायिक जीव उत्पन्न होंगे। इसी प्रकार गैस रूप में वायु रहेगी। चार भूत की तो काया होती है लेकिन आकाश को कोई काया नहीं बना सकता, क्योंकि सॉलिड (ठोस) हो जायेगा, इससे शरीर काम नहीं कर सकेगा फिर भी वह शरीर के लिए आवश्यक है। एकदम पोल रखेंगे तो भी काम नहीं चलेगा और एकदम ठोस होगा तो भी काम नहीं बनेगा। जैसे-रुई का फोहा ठूसकर कान में लगाने पर कुछ भी शब्द समझ में नहीं आता, थोड़ी-सी पोल रखने पर सुनाई देता है। अपनी श्वासोच्छ्वास चलती है यह सुनाई देती है लेकिन बाहर की नहीं। इस प्रकार पाँचवें आकाश तत्त्व की काय नहीं है। **मूलाचार** में भी लिखा है ऊन भोजन कर २५ प्रतिशत जल से भर लीजिए और चार आना अर्थात् २५ प्रतिशत ही आकाश के लिए रिक्त स्थान छोड़ दीजिए ताकि श्वास ले सकें। इस नियम का उल्लंघन करेंगे तो गड़बड़ होगी। असंयमी की तो चौबीसों घण्टे चक्की चलती रहती है। दक्षिण में महीने में एक दिन अमावस्या को चक्की बन्द रखते थे, कुछ लोग हर रविवार या मंगलवार आदि को बन्द रखते हैं और उस दिन सफाई करते हैं। बीच में यदि मशीन खराब हो जाये तो बन्द कर देते हैं, उसी प्रकार यहाँ समझना। अनेक बाह्य द्रव्यों को नहीं भरो। जैसे आकाश शुद्ध

द्रव्य है **''आयासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगुत्तो''** लोकाकाश के बाहर बिल्कुल शुद्ध आकाश तत्त्व है। जहाँ पृथ्वी आदि चारों तत्त्व नहीं रहते हैं।

इस प्रकार जीव पदार्थ के व्याख्यान का उपसंहार हुआ और अजीव तत्त्व का व्याख्यान प्रारम्भ हुआ। इस तरह एक सूत्र गाथा में छट्ठा स्थल पूर्ण हुआ। अजीव तत्त्व में जीवत्व का अभाव है, जीव के गुण इसमें नहीं हैं। ज्ञान से अर्थान्तर जो लिंग है वही अजीव की पहचान है। यह भी एक उत्थानिका की पद्धति है जिसमें अजीव को हाईलाइट नहीं किया।

उत्थानिका—अब आकाश आदि द्रव्य, अजीव क्यों हैं? जीव क्यों नहीं हैं? इसका व्याख्यान करते हैं–

आगासकालपुग्गल धम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥१३२॥

अन्वयार्थ—(आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु) आकाश, काल, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म इन पाँच प्रकार के अजीव द्रव्यों में **(जीवगुणा)** जीव के गुण **(णत्थि)** नहीं हैं **(तेसिं)** इनमें **(अचेदणत्तं)** अचेतनपना **(भणिदं)** कहा है **(जीवस्स)** जीव के **(चेदणदा)** चेतना कही है।

अर्थ—आकाश, काल, पुद्‌गल, धर्म और अधर्म में जीव के गुण नहीं हैं क्योंकि उनके अचेतनपना कहा है और जीव को चेतन कहा है।

धर्माधर्माकाश काल अरु, पुद्‌गल को अजीव जानो।
जीवों के सुख-बोधादिक गुण, इनमें ना हैं यह मानो॥
यह पाँचों हैं द्रव्य अचेतन, वीतराग भगवन् कहते।
छह द्रव्यों में जीव मात्र को, चेतन गुण युत बतलाते ॥१३२॥

व्याख्यान—चेतनता जीव का गुण है और आकाश, काल, पुद्‌गल, धर्म, अधर्मद्रव्य में चेतना का अभाव है इसलिए वे अचेतन हैं। जहाँ चेतनता का नामोनिशान नहीं है उसके पीछे पड़ने वाला जीव अपनी चेतना को भूल गया। चेतन-अचेतन को ढूँढ़ने में लग गया। अपने घर के दीपक को ऐसे भूतों के घर में ले गया, जहाँ दीपक का कोई प्रयोग है ही नहीं। भूतों के बीच में जाकर स्वयं ही भूतों के साथ नाचने लग गया। लोग कहते हैं देखो, भूत नाच रहे हैं, वास्तव में भूत नहीं नाचते, बल्कि जो भूतों के प्रभाव में आ जाता है वह नाचता है। 'भूत नाचते हैं' यह जो कहा जाता है वह लोगों को डराने के लिए कहा जाता है। फिर उसकी कनिष्ठा पकड़ते हैं, अंगूठे को नहीं। जीव और पुद्‌गल नाच रहे हैं यह कहना व्यवहार है। वस्तुतः जीव ही नाचता है लेकिन पुद्‌गल के बिना नहीं नाच सकता है। शराब के कारण जीव ही नशे में आकर नाचता है जबकि शराब की बोतल नहीं नाचती।

चेतन के अभाव से आकाशादि अन्य द्रव्य अचेतन—आकाशादि में चेतन का अभाव होने

से वह अचेतन द्रव्य है। चूँकि त्रिलोक व त्रिकाल सम्बन्धी पदार्थों के परिवर्तन या पर्यायों को जानने की क्षमता मात्र जीव के पास ही होती है इसलिए केवल वही चेतन है, शेष सभी अचेतन हैं ऐसा इस गाथा का अभिप्राय है। जिधर भी दृष्टि डालो उधर अजीव का विस्तार दिखेगा। **समाधिशतक** में **श्री पूज्यपादस्वामी** ने लिखा है कि–ज्ञानी बाहर देखता है फिर भी अन्तर की ओर सूक्ष्मदृष्टि रहती है, किन्तु अज्ञानी चारों संज्ञाओं के कारण इधर–उधर भटकता रहता है। वास्तव में वह अज्ञान नहीं, जड़ का विस्तार है अर्थात् ज्ञान का कोई अंश दिखता ही नहीं, सारा शरीर का विस्तार दिख रहा है। मरणासन्न और मृतक दोनों की अस्पताल में डॉक्टर के द्वारा जो व्याख्या की जाती है वह इस प्रकार है–जो मरा नहीं है, पर मरण अनिवार्य है, कहते हैं उसे अब घर ले जाओ, वह अघोषित मृतक कहा जाता है। घर के लोग कहते हैं कि हम और ऑक्सीजन देना चाहते हैं तो डॉक्टर कहते हैं १० हजार खर्च होगा और वह भी अब किसी काम का नहीं, इसे तो जाना ही है इसे घर ले जाकर भगवान् का नाम सुनाओ। जैनागम कहता है **''मरते न बचावे कोई''** उसे समझाओ कि अब प्राण टिकेंगे नहीं। यह प्राण तुम्हारे नहीं हैं, आयु कर्म के निषेक के माध्यम से सब चल रहे हैं। ऐसा जब बताया जाता है तो आत्मा में जागृति आ सकती है। उसी समय जागृति आ जाए ऐसा कोई नियम नहीं है, जब कटु अनुभव होता है उस समय भी हो सकता है कि शरीर से आत्मतत्त्व पृथक् है। इन पाँचों तत्त्वों में चेतनत्व की किञ्चित् भी निशानी नहीं है फिर भी इनके पीछे पड़े हुए हैं, कहते हैं कि देखो आकाश कितना सुन्दर दिख रहा है। यहाँ आकाश को इन्द्रिय का विषय बनाया जा रहा है कि आकाश कितना विस्तृत, शान्त नीला–नीला और सुहाना दिखता है। मिथ्यादृष्टि को विषयातीत वस्तु में भी पञ्चेन्द्रिय के विषय दिखते हैं। कैसी दृष्टि विकृत हो गई है, बस आँखों से अच्छा दिखना चाहिए। आकाश अच्छा लगा और विषय बना लिया जबकि आकाश कहता है कि ऊपर ही क्यों देखते हो? इधर–उधर भी देखो! पञ्चास्तिकाय में देखो! आकाश सर्वत्र है। ऊपर का आकाश, नीचे का आकाश, ऐसा भी आकाश में भेद नहीं है। जैसे–नक्शे में ऊपर को उत्तर, नीचे दक्षिण, दायें पूर्व और बायें पश्चिम कहा जाता है। चार दिशाएँ निर्धारित कर देते हैं। वास्तव में अनन्त आकाश है इसे 'ख' अर्थात् शून्य भी कहा है। अब शून्य के चार भेद कैसे हो सकते हैं? यह समझाने की अपेक्षा कहा गया है। जैसे–आकाश में कोई दिशा नहीं है वैसे ही आत्मा की कोई दिशा नहीं है। दिशाओं का निर्धारण गगनमणि अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा के गमन से होता है।

उत्थानिका–अब आकाश आदि में निश्चयनय से चैतन्य है ही नहीं, ऐसा अनुमान दिखाते हैं –

सुहदुक्खजाणणा वा हिद परियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं ॥१३३॥

अन्वयार्थ–(जस्स) जिसके **(सुहदुक्खजाणणा)** सुख तथा दुख का जानपना **(वा)** या **(हिदपरियम्मं)** अपनी भलाई की प्रवृत्ति **(च)** और **(अहिदभीरुत्तं)** अपने अहित से भयपना

(णिच्चं) सदैव **(ण विज्जदि)** नहीं पाया जाता है **(तं)** उसको **(समणा)** श्रमण या मुनिगण **(अज्जीवं)** अजीव **(विंति)** कहते हैं।

अर्थ—जिस द्रव्य में सुख तथा दुख का अनुभव, हित का उद्यम और अहित से भय कभी भी नहीं पाया जाता है उसको निश्चयनय से श्रमण अजीव कहते हैं।

जिन द्रव्यों में सुख औ दुख का, ज्ञान नहीं हो पाता है।
उत्तम कार्य प्रवृत्ति रूप जो, हितोद्यमी ना होता है ॥
जिसे अहित का भय ना होता, वह अजीव कहलाता है।
गणधर आदिक महाश्रमण का, ज्ञान यही बतलाता है ॥१३३॥

व्याख्यान—सुख-दुख का ज्ञान नहीं होना, हित कार्यों में प्रवृत्ति नहीं करना और अहित कार्यों से बचने का प्रयास नहीं करना यह सभी अजीव के लक्षण हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जो अपने हित के बारे में न सोचे और अहित से न बचे तो उसे अजीव कह सकते हैं। "**कश्चिद् भव्यः प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सु र्विविक्ते परमरम्ये भव्यसत्त्व विश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषन्मध्ये संनिषण्णं मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छतिस्म।**" कोई भव्य पूछता है कि-आत्मा का हित किसमें है? आचार्य देव समाधान करते हैं कि-आत्मा का हित मोक्ष में है। फिर पूछा कि मोक्ष क्या है? तभी तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या प्रारम्भ हो जाती है। कुछ लोगों का कहना है कि-

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुण लब्धये॥

यह श्लोक सर्वार्थसिद्धिकार आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी का है क्योंकि वहीं पर भव्य की पहचान बताते हुए कहा-जो स्वहित का इच्छुक हो, अहित से भयभीत हो अर्थात् पञ्चेन्द्रिय के विषयों से और पाप से भयभीत रहता है। स्वहित के बारे में विचार करता है आखिर मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? इत्यादि। इसी तरह का श्लोक भी प्राप्त होता है-

कोऽहं कीदृग्गुणः क्वत्यः किंप्राप्यः किंनिमित्तकः।
इत्यूहः प्रत्यहं नो चेदस्थाने हि मति र्भवेत्॥

यह क्षत्रचूड़ामणि का श्लोक है। मैं कौन हूँ? कौन से गुण हैं? कहाँ से आया हूँ? पाने योग्य क्या है? मेरा यहाँ प्रयोजनभूत क्या है? इत्यादि विचार नहीं करता है तो जहाँ नहीं जाना चाहिए वहाँ अस्थान में मन चला जाता है अर्थात् अयोग्य कार्य (आऊट ऑफ कोर्स) में ही मति चली जाती है। उद्देश्य को ही भूल जाता है। करने योग्य कार्य क्या है? मैं यहाँ किस प्रयोजन से आया हूँ? इसे भी भूल जाता है। वास्तव में समझदार वही है जो मँझधार में होते हुए भी लक्ष्य की ओर ही देखता है, इधर-उधर

नहीं। क्योंकि पञ्चेन्द्रिय विषयों का बहाव तेज है इसलिए पहले विषयों के विकल्प से दिमाग खाली करो, सबसे ज्यादा कठिन यही कार्य है। कोई आकर कहे कि कमरा खाली कर दो तो वह कहता है कि महाराज का विहार होते ही खाली मिलेगा, इसके पहले नहीं। ज्ञान को तो विकल्प से खाली करना बहुत कठिन है। जो आजतक नहीं किया। हाथ में जो है उसे खाली करना आसान है। पर ज्ञान को विकल्पों से खाली करना बहुत कठिन है, हाथ का छूट भी जाये लेकिन दिमाग में वही रहता है।

आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण को छोड़कर शेष गुण अचेतन हैं—वैसे सुख-दुख का संवेदन तो छोटे बच्चे भी करते हैं इसलिए वह भी अजीव नहीं हैं क्योंकि उन्हें जब भूख लगती है तो रोते हैं। खाने को मिल जाए तो रोना बंद हो जाता है। निद्रा आने पर कहीं भी सो जाता है। उसे कुर्सी-पलंग कुछ नहीं चाहिए, धूल में भी बैठ जाता है। जिसमें सुख लगने लगता है, वही करता है। अभी तक हित नहीं हुआ फिर भी जिसे चिन्ता नहीं कि ८० वर्ष के हो गए। महावीरस्वामी तो ७२ वर्ष के ही थे उनसे भी ८ वर्ष ज्यादा हो गए। वीरप्रभु को निर्वाण गये ढाई हजार वर्ष हो गए फिर भी उनसे अधिक आयु मिली, यह पुण्य का प्रतीक है, लेकिन सारी आयु को यूँ ही बिता दिया, आत्महित में नहीं लगाया। अतः श्रमणों ने उसे अजीव कह दिया। यद्यपि सुख-दुख अजीव के नहीं होते किन्तु आत्मा के भी ज्ञान-दर्शन इन दो गुणों को छोड़कर शेष गुण और अस्तित्व आदि सामान्य गुण जो सर्व द्रव्यों में समान रूप से पाये जाते हैं वह सब अचेतन हैं। आत्मा में अनन्त गुण हैं यह मानने से ही अनन्त विशेषण लगाना सार्थक हो जाता है। सुख भी अचेतन गुण है।

दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण में अन्तर—दर्शन, ज्ञान और चारित्र में दर्शन श्रद्धा गुण की परिणति है। ज्ञानगुण से तत्त्वों का अधिगम होता है और राग-द्वेष के अभाव रूप चारित्र गुण है, यह तीनों में अन्तर है सभी ज्ञान की परिणति नहीं हैं। जिस प्रकार वीर्य और ज्ञानगुण में अन्तर देखने में नहीं आता लेकिन दोनों अलग-अलग हैं, उसी प्रकार दर्शन-ज्ञानादि तीनों अलग-अलग हैं। जैसे-करंट ज्ञान रूप है तो उसकी क्षमता वीर्य रूप है। शक्ति अलग है, ज्ञान की वृत्ति अलग है। सुख-दुख की अनुभूति ज्ञान के माध्यम से जीव को होती है लेकिन ज्ञान से सुख है ऐसा नहीं। ज्ञान से ही सुख होता तो अव्याबाध सुख और केवलज्ञान क्या है? यह प्रश्न ''**चैतन्य चन्द्रोदय**'' में उठाया है।

सुख का अन्तर्भाव ज्ञान में, होता सो उपचार रहा।
चूँकि अचेतन सुख गुण न्यारा, पूर्णज्ञान से सार रहा।
यूँ ना मानो चेतन गुण तो, तीन बने सो दोष रहा।
ज्ञान मार्गणा में क्या कारण, सुख का क्यों ना घोष रहा? ॥१३॥

यदि दोनों में ऐक्य है तो १३वें गुणस्थान में केवलज्ञान होते ही अव्याबाध सुख होना चाहिए या केवलज्ञान में और विकास होकर अव्याबाध सुख होना चाहिए लेकिन ऐसा नहीं होता। अनन्तचतुष्टय में भी सुख अलग, वीर्य अलग और क्षायिक ज्ञान अलग कहा है। दो मिलाकर गटपट

कर दो ऐसा नहीं, सही भेद तो केवलज्ञान होने पर ही खुलेगा, अभी तो परीक्षा दे दी है। परीक्षा के नियमानुसार सभी प्रश्न हल कर लिए, अनुमान से यह भी तय कर लिया कि नेट इतने नम्बर तो मिलेंगे ही, यह धारणा बना लेने पर भी रिजल्ट खुलने की जिज्ञासा क्यों? जबकि आत्मविश्वास है कि इससे कम मिल ही नहीं सकते यह ज्ञान हुआ, पर ज्ञान का फल इससे भिन्न है।

''**णाणस्स फलं उवेक्खा**'' अर्थात् ज्ञान का फल उपेक्षा है, अज्ञान से निवृत्ति है ''**अज्ञान निवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च तत् फलं**'' परीक्षामुख में यह सूत्र आया है और अन्यत्र भी प्राकृत में आता है। 'हानं' अर्थात् पाँच पापों का त्याग और 'आदान' का अर्थ व्रतों का ग्रहण इसके उपरान्त 'उपेक्षा' है अर्थात् राग-द्वेष में नहीं अटकना, जिसे वीतरागता कहते हैं, जहाँ 'तीनों अभिन्न-अखिन्न-शुद्ध उपयोग की निश्चलदशा' होती है। जैसे-घी, आटा, शक्कर और अनुपात से पानी मिलाकर अग्नि के माध्यम से हलुआ बना दिया, इसमें थोड़ी-सी कमी हो जाए तो गड़बड़ हो जायेगा। जब तक यह अलग-अलग रहेंगे तब तक हलुआ नहीं कहलायेगा। जब तीनों भिन्न होते हुए भी अभिन्न हो जाएँ, आत्मसात् हो जाएँ यही कहने का अर्थ है। फिर भी दर्शन-दर्शन में ही रहेगा, ज्ञान को भी दर्शनवत् निर्विकल्प करो तभी समयसार मिलेगा, किन्तु ज्ञान, दर्शन नहीं बन जायेगा। दर्शन निराकार है और ज्ञान साकार है। यह दोनों भिन्न-भिन्न ही रहेंगे और चारित्र भी भिन्न ही रहेगा किन्तु उपयोग में हलुए की भाँति अभिन्न रूप से ग्रहण करना है। हलुआ बनने के बाद तीनों चीजें अलग-अलग आँखों से नहीं दिखतीं। एक चम्मच हिला दो तो पूरा हिल जाता है, हिला-हिलाकर ही इसे बनाया जाता है। जो हिलता है उसका नाम हलुआ है।

आत्मा के अनुभव करने में कारण हैं ज्ञान-दर्शन गुण—मूल बात यह है कि तीनों एक जैसे लगते हैं लेकिन एक नहीं हैं। सभी आत्माएँ एक-सी हैं पर एक नहीं हैं। समानान्तर दो रेखाएँ कहीं न कहीं जाकर मिल जायेंगी ऐसा लगता है। आसमान दूर से टिका हुआ-सा लगता है, उसके पास जाओ तो पुनः उतना ही जमीन और आसमान में अन्तर दिखता है। दूर से देखने पर आसमान जमीन से हाथ मिलाता हुआ दिखता है वस्तुतः ऐसा नहीं है। जैसे-जमीन और आसमान भिन्न-भिन्न हैं ऐसे ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र भिन्न होते हुए भी विकल्पातीत दशा होने के कारण एकमात्र आत्मद्रव्य ही अनुभव में आता है। उस अवस्था में द्रव्य से अलग गुण अनुभव में नहीं आता। जितना क्षेत्र द्रव्य का होता है उतना ही क्षेत्र गुण का होता है लेकिन एक ही गुण सारे द्रव्य में फैल जाए और दूसरे गुण के लिए स्थान न मिले ऐसा नहीं होता क्योंकि ''**द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः**'' यह सूत्र है। गुण जितने भी हैं वे सब पृथक्-पृथक् हैं और ज्ञान, दर्शन इन दो गुणों को छोड़कर शेष सब अचेतन हैं। आत्मा इन्हीं गुणों के द्वारा जानती व देखती है। ऐसी स्थिति में कोई द्रव्य को ही नकार दे और गुण ही सब कुछ हैं, गुण के माध्यम से ही द्रव्य का विधान होता है, क्योंकि विशेष गुणों के बिना लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा कोई कहे तो ध्यान रखें, ज्ञान-दर्शन गुण को पाना लक्ष्य नहीं है, प्रयोजनभूत तत्त्व

तो मोक्ष है। हाँ, ज्ञान-दर्शन के द्वारा आत्मा अनुभव करती है।

आकुलता उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ अहित का कारण हैं—जैसे-प्रकाश के माध्यम से सारी चीजें दिख रही हैं लेकिन चीजें प्रकाश नहीं हैं। जैसे स्वाद और जिह्वा एक नहीं है। आलापपद्धति में कहा है-सुखादि विशेष गुण जिसमें नहीं हैं वह अजीव है और सुख-दुख जहाँ पर हैं उसका नाम जीव है। मानलो मीठा पदार्थ है लेकिन कड़वाहट का अनुभव हो रहा है क्योंकि पित्त भड़क रहा है, मलेरिया बुखार है, जिह्वा पर पर्त जमने के कारण मीठी चीज भी कड़वी लग रही है। इसमें कर्मफल चेतना कारण है। **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में एक श्लोक आया है-

उच्चैर्गोत्रं प्रणते, र्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपो निधिषु ॥११५॥

अज्ञानी जीव सुख-सुविधाओं के लिए दान, पूजा इत्यादि करता है। वह समझता है कि दान करने से धन बढ़ेगा, उपासना से यशकीर्ति बढ़ेगी। किन्तु ज्ञानी जिन वस्तुओं से आकुलता पैदा हो उसे अहित मानते हैं, वह सोना किस काम का, जिससे कान टूट जाए। महाराज से आशीर्वाद लेने आ गए कि हमारे बेटे के कान में सोने के कुंडल आ जाएँ तो किसी व्यक्ति ने उदार भावना से एक किलो के कुण्डल पहना दिए, बच्चा है चार माह का। अब उसकी क्या दशा होगी? उसी प्रकार किसी ने देवता से मकान माँग लिया और २० मंजिल का मिल भी गया किन्तु घर में मात्र तीन सदस्य हैं, एक कमरे में सोने लगे तो यह तीव्र विकल्प आ गया कि भवन तो इतना बड़ा है कि नगर में किसी के पास नहीं है। हमने चाहा भी यही था किन्तु खाली भवन में कहीं भूत न आ जाए इस डर से सो नहीं पाते हैं, किराये से दे दें और कहीं अधिकार जमाकर हमें ही निकाल दें तो इसका भी एक डर है। तब भगवान् से प्रार्थना करता है —

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति, शाकिनी भूत पन्नगाः।
विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे॥

पहले बड़ा भवन माँगा, फिर भवन में भूत का डर लगा तो फिर माँगने लगा। हमारी उम्र बढ़ जाए, उम्र बढ़ गयी तो वह कहता है-हे भगवन्! उठा लो, लेकिन उठाने के लिए बटन तो दबाना पड़ेगा ना। भगवान् तो यहाँ हैं नहीं, चले गए तो अब रिमोट कंट्रोल रख लो। कोई कहता है जब तक हाथ पैर काम करें तब तक रहें। ऐसा आशीर्वाद दे दो ताकि किसी से सेवा न करवाना पड़े। कोई दद्दा कहते हैं कि-हमारी सेवा करने वाले तो बहुत बच्चे हैं, बहुएँ हैं, नाती-पोते तो हमें सोने ही नहीं देते, बहुत सेवा होती है लेकिन यह सब पुण्य का फल है। यह पुण्य का फल आकुलता का कारण न बने।

आकुलता का कारण परिग्रह—मिथ्यात्व-रागादि से परिणत जो आत्मा है वही आकुल-व्याकुल होता है। मिथ्यात्व राग-द्वेष से युक्त चक्रवर्ती भी क्यों न हो, सुखी नहीं रह सकता। जब रत्नत्रय स्वरूप चारित्र को धरते हैं तभी सुखी होते हैं।

परिग्रह पोट उतार सब लीनो चारित पंथ।
निज स्वभाव में थिर भये वज्रनाभि निर्ग्रन्थ॥

परिग्रह का भारी भरकम कोट उतार कर एक छोटा-सा मलमल का कपड़ा लपेट लो अर्थात् परिग्रह को हल्का या कम करने को कहा जा रहा है, फिर भी परिग्रह से भारी होता जा रहा है और जहाँ तिजोरी है, वहीं पर सोता है। जरा-सी आवाज भी आ जाये तो पहले चाबी को सँभालता है। मोह के कारण मरकर वहीं कुण्डली बनाकर बैठ जाता है। धन का अतिलोभ होने से रक्षा करने स्वयं आ जाता है। कोई हाथ नहीं लगा सकता (फुँसकारता) है। इस प्रकार हिताहित की परीक्षा करना चेतन का विशेष गुण है। जिसमें इसका अभाव है वे आकाश आदि सभी पदार्थ अचेतन हैं। लेकिन चेतन होकर भी जड़ पदार्थों को बाँध करके बैठा है, यह कितना विस्मय है? एक-दो दिन नहीं, अनन्तकाल इसमें व्यतीत हो गया है। अभी भी सोच में पड़ा है इसे कैसे छोड़ूँ? जब तक इसके राग में रहते हैं तब तक श्रमण-श्रमणी नहीं बन सकते। श्रावक-श्राविका सभी होनहार श्रमण-श्रमणी हैं, सबमें यह योग्यता है बस, परिग्रह पोट उतारने की आवश्यकता है।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि संस्थान आदि पुद्गल की पर्यायें जीव के साथ दूध-पानी की तरह मिली हुई हैं तो भी वे पर्यायें निश्चय से जीव का स्वरूप नहीं हैं, ऐसे भेदज्ञान को दर्शाते हैं—

संठाणा संघादा वण्णरसप्फासगंधसद्दा य।
पोग्गलदव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहु ॥१३४॥
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१३५॥

अन्वयार्थ—(संठाणा) समचतुरस्र आदि छह संस्थान **(संघादा)** औदारिक आदि पाँच शरीरों के मिलाप रूप स्कंध **(वण्ण-रसप्फास-गंध-सद्दा य)** पाँच वर्ण, पाँच रस, आठ स्पर्श, दो गंध तथा सात शब्द **(पोग्गल-दव्वप्पभवा)** पुद्गल द्रव्य से उत्पन्न **(बहू)** बहुत से **(गुणा)** गुण **(य)** तथा **(पज्जया)** पर्यायें **(होंति)** होती हैं। **(जीवं)** इस जीव को **(अरसं)** रसगुण रहित, **(अरूवं)** वर्ण गुण रहित, **(अगंधं)** गंध गुण रहित **(अव्वत्तं)** अव्यक्त, **(असद्दं)** शब्द पर्याय रहित **(चेदणागुणं)** चेतनागुण सहित **(अलिंगग्गहणं)** इन्द्रियादि चिह्नों से नहीं ग्रहण योग्य तथा **(अणिद्दिट्ठसंठाणं)** किसी विशेष आकार से रहित **(जाण)** जानो।

अर्थ—समचतुरस्र आदि छह संस्थान, औदारिक आदि पाँच शरीरों के मिलाप रूप स्कन्ध, पाँच वर्ण, पाँच रस, आठ स्पर्श, दो गन्ध तथा सात शब्द ऐसे बहुत से गुण तथा पर्यायें हैं, जो पुद्गल द्रव्य से उत्पन्न होती हैं। इसके विपरीत जो अरस, अरूप तथा अगन्ध है, अव्यक्त है, अशब्द है, अनिर्दिष्ट संस्थान है अर्थात् जिसका कोई संस्थान या आकार नहीं कहा ऐसा है, चेतनागुण वाला है और इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है, उसे जीव जानो।

छह संस्थान पाँच संघात व, वर्ण-गन्ध-रस स्पर्श सभी।
शब्दादिक पुद्गल से ही हों, कहते हैं श्री जिनवर जी॥
ऐसे और बहुत गुण हैं औ, पर्यायें भी बहुत रहीं।
इन सबको सिद्धान्त ग्रन्थ में, पुद्गल से उत्पन्न कहीं ॥१३४॥
रूप रहित, रस रहित, गन्ध बिन, व्यक्त नहीं जो होता है।
शब्द रहित, आकार न कोई, चेतन गुण को धरता है॥
इन्द्रिय आदिक चिह्नों से जो, ग्रहण न करने में आता।
कहें जिनेश्वर केवलज्ञानी, वह जीवात्मा कहलाता ॥१३५॥

व्याख्यान—जीव पुद्गल के संयोग से छह संस्थान होते हैं, सातवाँ कोई संस्थान नहीं है। हाँ, दुनिया में संस्थाएँ खोलकर कई संस्थान बना लेते हैं किन्तु वह अलग हैं। समचतुरस्रादि छह संस्थान और वज्रवृषभनाराच आदि छह संहनन, पाँच शरीर, पाँच संघात रूप अनेक पर्यायें एवं वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दादि पुद्गल द्रव्य से उत्पन्न अनेक गुण होते हैं। जीव का लक्षण बताने वाली दूसरी जो गाथा है वह आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी की प्रिय गाथा रही होगी, ऐसा लगता है क्योंकि इस गाथा के भाव को वह अन्य शब्दों में गूँथकर दूसरी गाथा भी बना सकते थे, लेकिन पञ्चास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार, अष्टपाहुड, नियमसार में उन्होंने यही की यही गाथा उद्धृत की है। इससे लगता है कि उन्हें यह गाथा प्रिय थी एवं मूलाचार में भी यही गाथा आती है, इससे ऐसा लगता है कि मूलाचार की कृति भी श्री कुन्दकुन्दस्वामी की ही हो सकती है फिर यदि गाथा संग्रहीत की हो तो बात अलग है। मूलाचार में एक समयसार अधिकार भी दिया है जो कि समयसार के संक्षिप्त रूप में है।

जीव तत्त्व का लक्षण—रस, रूप, गन्ध आदि से रहित, किसी भी पदार्थों या शब्दों के द्वारा जिसको प्रकट नहीं किया जा सकता, ऐसा अव्यक्त शब्द से सहित और चेतना गुण से युक्त है एवं किसी भी साधन या अनुमानादि चिह्नों से जिसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह जीव तत्त्व है। पुद्गल के तो आयत, चौकोर आदि भिन्न-भिन्न अनेक आकार-प्रकार होते हैं किन्तु आत्मा का कोई आकार नहीं होता। सिद्ध होने के उपरान्त आत्मा का पूर्व शरीर से कुछ कम रूप आकार तो बना ही रहता है। लेकिन कई लोग ऐसा भी मानते हैं कि जो मुनिराज खड्गासन से मोक्ष गए, वे ऐसे ही खड्गासन में और जो पद्मासन में गए वे पद्मासन में ही विराजमान हैं जबकि यह आसन शरीर आश्रित थे और शरीर का आकार भी संस्थान माना जाता है। यही आसन वहाँ पर भी रहे इसका कोई औचित्य नहीं है। उनके प्रदेशों की जो अवगाहना या उत्सेध है वह उत्सेध बैठकर नहीं खड़े होकर ही नापा जाता है। दोनों में से कोई भी आसन से मोक्ष गए हों, लेकिन सिद्धालय में आदिनाथ, वासुपूज्य, नेमिनाथ को बैठे हुए जो दिखा रहे हैं उसमें क्या हेतु है? साढ़े तीन हाथ का उत्सेध जो कहा है वह खड्गासन की अपेक्षा

है। शरीरातीत होते ही उनकी अवगाहना पूर्व शरीर से कुछ कम कही है, सिद्धासन के बराबर है ऐसा नहीं कहा। मानलो ५०० धनुष की अवगाहना वाले पद्मासन में हैं तो २५० धनुष ही रहेगी और चित्र में पद्मासन वालों की अवगाहना ५०० धनुष दिखा रहे हैं वह गलत हो जायेगा, क्योंकि पद्मासन से उत्सेध नहीं गिना जाता। आसन के कारण ५०० धनुष की अवगाहना के नाप-तौल में जो आकार है वह मुड़ेगा नहीं और पद्मासन से जाने वालों की अवगाहना क्या कम नहीं हो जायेगी? जबकि वह तो पहले से ही जितनी है उतनी रहेगी। हाँ, उत्सेध में बाल वगैरह नाप में नहीं आते, एवं किञ्चित् न्यून में पोल का स्थान कम हो जायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्सेध आदि किसी भी साधन से जीव जानने में नहीं आता। इस प्रकार जीव का स्वरूप अजीव से भिन्न है। अजीवगत जो गुण हैं वह जीव में नहीं आ सकते और जीव के गुण अजीव में नहीं जा सकते। सर्व द्रव्य एक ही क्षेत्र में, एकसाथ मिलकर रहते हैं फिर भी प्रत्येक द्रव्य के गुण पर्यायों की व्यवस्था अपने-अपने में रहती है।

इन्द्रिय विषय पौद्गलिक हैं आत्मा के लिए सहायक नहीं—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द यह पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं। इसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण यह चार पुद्गल के गुण रूप हैं किन्तु श्रोतृ इन्द्रिय का विषय जो शब्द है वह गुण रूप न होकर पर्यायात्मक है। वह अनेक पुद्गल परमाणुओं की वर्गणा की स्कन्ध रूप परिणति है। इस प्रकार पाँच इन्द्रिय के विषय पूरे पौद्गलिक हैं। इसमें संसारी प्राणी मस्त हो जाता है और इसी में सुख की गवेषणा करने लग जाता है क्योंकि इन्द्रियों के विषय कथञ्चित् इन्द्रियों को तृप्त करते हैं जिससे कुछ क्षण के लिए तृप्ति का आभास होता है। यदि कुछ न मिले तो उन विषयों से विरक्ति ही हो जाए, लेकिन ऐसा होता नहीं है। उनसे कुछ मिलने की आशा में जीव लगा रहता है, आज नहीं तो कल, सुख की मात्रा बढ़ जायेगी ऐसा विचार करता रहता है।

अघातिया कर्मों में पूर्ण रूप से गुणों का घात न हो करके कुछ न कुछ मिलता रहता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि सभी घातिया कर्म अप्रशस्त ही घोषित किए गए हैं। अघातिया कर्मों में पाप और पुण्य दोनों प्रकृतियाँ हैं। कभी प्रशस्त तो कभी अप्रशस्त का उदय चलता रहता है। जैसे-खान में खोदते-खोदते कभी कदाचित् हीरे जवाहरात निकल आते हैं अधिकांश तो कंकर, पत्थर, मिट्टी निकली रहती है। उसी प्रकार असाता आदि अप्रशस्त कर्म उदय के बाद थोड़ी-सी साता आ जाती है तो वह कुछ पल की साता, सारी असाता को भुला देती है। इसीलिए प्रशस्त की ओर दुनिया आकृष्ट रहती है। सभी इन्द्रिय विषय पुद्गल के ही वैभव हैं। आत्मा के लिए कोई सहायक नहीं हैं।

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम् ॥१९॥ (इष्टोपदेश)

बहुत अच्छा श्लोक है प्रथम कक्षा वाला भी मुखाग्र कर ले लेकिन इसमें पास तो बड़े-बड़े भी नहीं हो पाते। जो जीव का अपकारक है वह शरीर का उपकारक है, जो शरीर का अपकारक है वह जीव का उपकारक है, यह अर्थ तो समझ में आ जाता है लेकिन अपकारक को आजतक छोड़ नहीं

पाया। वह पढ़ना किस काम का, जिसमें छोड़ने योग्य हेय को छोड़ ही न पायें। वृद्ध हो गये हैं, जाने की तैयारी में लगे हैं फिर भी घर की बात सुनते ही फूल जाते हैं। जब तक संयोग सम्बन्ध है तब तक ऐसी दशा रहती है। इसलिए निश्चय से संस्थान आदि सभी पुद्गल विकारों से रहित और केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय सहित परमार्थ पदार्थ को देखा जाए तो सर्व पर पदार्थ भिन्न दिखते हैं। जैसे–स्वर्ण के साथ जो मिश्रण है वह सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में नहीं आता, लेकिन स्वर्णकार उसे बिना तोले, बिना कसे ही एक दृष्टि में पकड़ लेता है। उसी प्रकार ज्ञानी अनन्तचतुष्टय रूप स्वभाव से भिन्न शेष सर्व पर पदार्थ पृथक् हैं, इस अवधारणा के बल पर ही कर्मोदय में हर्ष–विषाद नहीं करता। जैसा छहढाला में कहा–''**पुण्य-पाप फलमाहिं हरख बिलखौ मत भाई**'' फिर भी अज्ञानी बिलखते रहते हैं। बिलखौ अर्थात् रोना होता है। कभी हँसना, कभी रोना। साता के उदय में हँसता है और असाता के उदय में रोता रहता है। कोई मन से रोते हैं, कोई वचन से, कोई काय से रोते हैं और कोई किसी को रुला करके रोते हैं यह सब दुनिया में चलता रहता है। लेकिन निजात्म तत्त्व की अवधारणा रखने वाले साधु मन में थोड़ी–सी तरंग उठते ही दृढ़ श्रद्धा के साथ ग्रन्थों का अवलोकन करते रहते हैं और विचार करते हैं कि सब पुद्गल द्रव्य से ही उत्पन्न हुए हैं। इसमें कौन से गुण और कौन–सी पर्यायें है? वर्ण, रसादि गुण हैं और संस्थान आदि पर्यायें हैं। गन्ध गुण है और सुगन्ध–दुर्गन्ध उसकी पर्याय हैं। नासिका के विषय गुण नहीं, पर्यायें बनती हैं।

सम्यक् चिन्तन से असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा–यदि इन्द्रिय विषयों को चिन्तन का विषय बनाया जाए कि गुलाब के फूल से जो महक आ रही है यह तो पुद्गल का स्वभाव है, एकेन्द्रिय है। ऐसे चिन्तन के समय नाक फूलेगी नहीं, इन्द्रियाँ उन्हें अपना विषय नहीं बनायेगी। तटस्थ होकर गुणों का चिन्तन करने से पर्यायों से बचा जा सकता है अथवा यह हानिकारक है ऐसा ज्ञात होते ही उसके प्रति आदर भाव नहीं रहता। दुर्गन्ध का ज्ञान तो हो लेकिन घृणा नहीं, यदि घृणा हो जाए तो छोटे–छोटे बच्चों का पालन–पोषण कैसे करेंगे? उसे हाथ ही नहीं लगायेंगे तो उस बच्चे की क्या दशा होगी? इसलिए घृणा या द्वेष से भी पाप का बन्ध होता है और राग में फूलने से भी पाप का बन्ध होता है, किन्तु पुद्गल द्रव्य के परिणमन में तटस्थ होकर सम्यक् चिन्तन से असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। इन परिणामों के साथ चाहे मन्दिर में रहे या जंगल में, यह दृढ़ निश्चय है कि राग–द्वेष नहीं करेंगे तो बहुत बड़ा संयम होगा। रसोईघर में जाते ही सभी इन्द्रिय के विषय दिख जाते हैं। गृहस्थ वहाँ भी असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा कर सकता है।

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२५॥
अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२२६॥
(समयसार)

यदि रसोईघर में अशन के समय अशन की और पान के समय पान की गाथा याद आ जाए तो उसी समय कर्म निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है, ऐसा नहीं कि वहाँ से आने के बाद गाथा रटते रहें, रटने मात्र से कुछ नहीं होगा। **जिस समय संयोग है उसी समय स्वभाव में उसका वियोग अनुभव करें यही साधना है।** घर में एक नाती का जन्म हो जाए, एक और सदस्य बढ़ जाए तो सबसे ज्यादा दादा को खुशी होती है। संयोग में लहर आती है, यह सब पुद्गल का वैभव है।

विषयों के मिलने पर भी न करें हर्ष-विषाद—पुद्गल का जो रस गुण है उस रस गुण की एक समय में पाँच रस रूप पर्यायें उत्पन्न न होकर एक ही रस की पर्याय निकलती है। एकेन्द्रिय को आठ प्रकार का स्पर्शज्ञान होता है। जो मन वाले हैं वह ''यह हेय है'' ऐसा समझते हैं फिर भी उसे छोड़ नहीं पाते हैं। स्पर्शादि पुद्गल का स्वभाव है, ऐसा समझना ही बुद्धि का सही उपयोग माना जाता है। यह तो पुद्गल का परिणमन है, इससे आत्मा को न हानि है, न लाभ है। गन्ध गुण के सुगन्ध-दुर्गन्ध रूप परिणमन से सुगन्धी-दुर्गन्धी फूट रही है इससे मुझे कोई लाभ या हानि नहीं है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले वीतरागी संत को वर्तमान में भले ही शुद्धोपयोग नहीं है तो भी शुद्धोपयोगी से कम नहीं है क्योंकि विषय मिलने पर भी हर्ष-विषाद नहीं कर रहे हैं यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। राजाओं का भी जीवन कुछ ऐसा ही होता है, उनके राज्य में अनेक विचार वाले लोग रहते हैं, उन सबको साथ लेकर चलना होता है। वे किसी को दुष्ट कहकर रुष्ट नहीं करते। कई लोग धर्म को मानते हैं, कुछ नहीं भी मानते हैं सभी प्रकार के लोग रहते हैं जो उन सबको संचालित करते हुए आगे बढ़ाते रहते हैं वह राजा महाराजा कहे जाते हैं। इन्हें सामान्य लोगों जैसा सूतक नहीं लगता। जिस समय भवन में भरत चक्रवर्ती को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, उसी समय पिता को केवलज्ञान रत्न की प्राप्ति हो गई। यह समाचार बढ़ा-चढ़ाकर सुना देते हैं तब पुरस्कार में गले का हार निकालकर दे देते हैं। इसे दान नहीं कह सकते। दान और पुरस्कार दोनों की विधि अलग है। लौकिक और धार्मिक कार्य में अन्तर है। वृषभनाथ ने भी कुलरत्न का काम किया ''**शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः**'' इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि जो बड़े होते हैं उनके लिए बहुत सारे विषय होते हैं, वे सबमें विभाजन करके काम निकाल लेते हैं। स्कूल में छोटे अध्यापकों के समान हेडमास्टर को जब चाहे तब छुट्टी नहीं मिलती, भले ही छुट्टियों में स्कूल बन्द हो जाए लेकिन उन्हें जाना पड़ता है। विशेष आत्माओं के कार्य भी विशेष होते हैं।

इन्द्रिय विषयों का ज्ञान आत्मा को होता है इन्द्रियों को नहीं—रस को ग्रहण करने वाली पौद्गलिक जिह्वा इन्द्रिय है। वह किसी भी प्रकार से जीव का स्वरूप नहीं हो सकती, पुद्गल का ही परिणमन है। अकेली द्रव्येन्द्रिय से रस का ग्रहण नहीं होता, किन्तु ज्ञान का साधन जो भावेन्द्रिय है, वह आवश्यक है। रस को जानना तो ज्ञान का ही विषय है। इन्द्रियाँ रस को ग्रहण नहीं कर सकतीं क्योंकि वह जड़ पौद्गलिक हैं। इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान से जानता है कि यह रस है। जैसे- थर्मामीटर

के द्वारा व्यक्ति के बुखार को जाना जाता है, किन्तु थर्मामीटर नहीं जानता कि इस व्यक्ति को १०५ डिग्री बुखार है। वैसे ही इन्द्रियों के माध्यम से रस का ज्ञान आत्मा को होता है, न कि रसनेन्द्रिय को ज्ञान होता है। निश्चय से इन्द्रियाँ ग्राहक नहीं, ज्ञान ही ग्रहण करने वाला है। चाहे भावेन्द्रिय हो या द्रव्येन्द्रिय हो, जान नहीं सकतीं, साधन बन सकती हैं। थोड़ी-सी सूक्ष्मता से जान लें कि खाना-पीना, उठना-बैठना, सूँघना आदि सभी बाह्य क्रियाएँ अलग-अलग दिखती हैं, किन्तु भीतर से सब ज्ञानात्मक ही हैं। ज्ञान के अलावा कुछ है ही नहीं। नासिका से गन्ध ली, रसना से रस चखा लेकिन इन विषयों को जानना ज्ञान के द्वारा ही होगा। मन के द्वारा भी जो कुछ ग्रहण होता है वह भी ज्ञानात्मक ही होता है। यह सब देखकर ज्ञानी अपने को मात्र ज्ञान रूप जानकर मध्यस्थ रहते हैं। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध ही रखते हैं, विषय-विषयी नहीं। इसके लिए कुछ परिश्रम या साधना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

आत्मा की श्रेष्ठ साधना क्या है?—जैसे-एक पार्टी में अनेकों सदस्य रहते हैं। समय-समय पर अध्यक्ष उन्हें संकेत देता रहता है कि तुम्हें वहाँ पर अमुक कार्य करना है। वह चाहे मध्यप्रदेश का व्यक्ति हो, पंजाब का हो या केरल का हो, कहीं का भी हो सभी अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। वैसे ही रस, रूप, गन्धादि के माध्यम से जानने वाला तो आत्मा ही है। जब आत्मा को जानकारी हो ही रही है तो इसमें हर्ष-विषाद क्यों? पार्टी में जैसे हार-जीत चलती रहती है वैसे ही प्रशस्त, अप्रशस्त कर्मोदय से कभी पुण्य रूप तो कभी पाप रूप उदय चलता रहता है। इसमें हर्ष-विषाद नहीं करने रूप जो संयमित ज्ञान है वही आत्मा की मुख्य साधना है, इसे दृष्टि में रखना है।

जैसे-रील से फिल्म अपनी गति से निकलती जाती है। यदि कोई मन में सोचे कि रील को जल्दी-जल्दी चलाकर पूरी करके निकाल दें लेकिन ऐसा नहीं होता। यदि डबिंग करें तो जल्दी-जल्दी चल जाती है तब उसमें अलग ही गुड़-गुड़ आवाज आती है लेकिन जब सुनाते हैं तो धीरे-धीरे सुनने में आता है। तेजी से चालू कर दें तो सारे कर्म एकदम निकल जाएँ लेकिन इसकी भी एक पद्धति है जिसे संक्रमण कहते हैं। अन्तर्मुहूर्त में ही केसिट की डबिंग करने के समान सब कर्मों को निकाल सकते हैं लेकिन उदय आयेगा तो दिखाने की प्रक्रिया के समान क्रम-क्रम से आयेगा। उसमें प्रत्येक चित्र दिखेंगे तो इससे हर्ष-विषाद होगा परन्तु ज्ञानी के लिए तो हमेशा ही डबिंग जैसा ही चलता है। शुभ-अशुभ कुछ भी मेरा स्वभाव नहीं, यह विचारता है। वरना एक पल शुभ की प्रतीक्षा में ५० पल अशुभ के निकल जायेंगे इसलिए ज्ञानी शुभाशुभ विकल्प रहित आन्तरिक साधना करते हैं। कर्मफल की ओर दृष्टि या उपयोग जाता ही नहीं, यही श्रेष्ठ साधना मानी जाती है।

ज्ञानी की दशा—कर्म से क्या डरना? फिल्म है, दृश्य आ रहे हैं, जा रहे हैं। कर्म भी फिल्म की भाँति आ रहे हैं, जा रहे हैं। जिस प्रकार जंगलों में ऐसे भी कुछ फलदार वृक्ष होते हैं जहाँ फलों को तोड़ने कोई जाता ही नहीं। मौसम के अनुसार फूल आ जाते हैं फल लग जाते हैं, और डाल से पककर

गिर भी जाते हैं परन्तु उनको कोई खाने वाला ही नहीं। पुनः ऋतुमान बदलने से पतझड़ आता है फिर पत्ते, कोंपलें, फूल, फल आ जाते हैं इसी प्रकार वृक्ष भी अपनी आयु काल तक इसी तरह चलता रहता है। बियावान जंगल में वृक्ष के अस्तित्व का किसी को पता ही नहीं चल पाता और वह जवान व प्रौढ़ होकर बूढ़ा हो जाता है फिर नीचे गिर जाता है। वंश परम्परा से वहीं पर एक आम की गुठली से वृक्ष, फूल, फल उग जाते हैं लेकिन फल को भोगने वाला कोई नहीं। ऐसी ही ज्ञानी की स्थिति है उपयोग को भीतर ले जाते हैं और प्रतिसमय स्वाध्याय में लीन रहते हैं।

बद्धकर्म जब उदय में आते हैं तब हर्ष-विषाद नहीं करते, अपने ज्ञायक स्वभाव को जानते रहते हैं। कर्मविपाक को औदयिक भाव जानकर कर्मनिर्जरा करते चले जाते हैं, यही कार्यक्रम दिन-रात चलता रहता है। अपने पूरे जीवन को ऐसी साधना में ही ढाल देते हैं। आप तो थोड़े से समय में ही थक जाते हैं लेकिन वे साधक कोटिपूर्व वर्ष तक भी नहीं थकते, यह सोचने की बात है। सबको दीर्घ संहनन ही प्राप्त हो, ऐसा भी नहीं फिर भी जंगल में रहते थे। उस समय श्रावक भी अच्छे ढंग से व्यवस्था करते थे।

सुकुमाल स्वामी जो दीर्घ संहनन वाले थे फिर भी सरसों का दाना चुभता था, मखमल के तन्तु भी चुभते थे, सूर्य के प्रकाश में भी आँखों से पानी आ जाता था लेकिन दीक्षा लेने पर दिन में आहार कैसे करायेंगे? चन्द्रमा की ज्योति में कैसे रखेंगे? यद्यपि दीर्घ संहनन था पर इतनी कोमलता राजसी ठाठ के कारण हो गई लेकिन अभ्यास से सब ठीक हो जाता है। थोड़ा-सा स्वाभिमान जागृत होते ही मजबूत हो जाता है, भीतर से गर्मी आ जाती है। मन भी बहुत होशियार है अभी तक तो कपकपी आ रही थी लेकिन परिणामों का प्रसाद या प्रभाव है। भले ही वर्तमान में खण्डरूप ज्ञान है फिर भी रस को रस रूप ही जानता है। इसी प्रकार स्पर्श, गन्ध, रूप और शब्द के विषय में भी ऐसा ही जानना।

आत्मा अव्यक्त अरस अरूपी है—क्रोधादि कषाय और मिथ्यात्व, रागादि परिणत जो जीव है वह निर्मल स्वरूप की उपलब्धि से रहित है। इनकी प्रवृत्ति जैसे व्यक्त होती है ऐसा आत्मतत्त्व व्यक्त नहीं होता है, इसलिए अव्यक्त कहा। व्यक्त को देखकर लोग कई तरह की धारणा बनाते हैं लेकिन अव्यक्त विषय में जानकारी न होने से धारणा नहीं बना सकते। जितनी जानकारी हो जाती है उसके माध्यम से अवधारणा बना लेते हैं लेकिन आत्मतत्त्व का और भी विराट स्वरूप है और किसी भी इन्द्रिय से आत्मा को जान भी नहीं सकते इसलिए अव्यक्त कहा है। गोल, चौकोर आदि आत्मा का कोई आकार-प्रकार नहीं होता। आत्मा को जानना चाहते हैं तो उसे किसकी उपमा दें, जितने भी उदाहरण देंगे वह सब पौद्‌गलिक रहेंगे। अरूपी के लिए रूपी की उपमा देना गड़बड़ है। जैसे-आकाश है वह भी आत्मा के समान देखने में नहीं आता। थोड़ा-थोड़ा अंश बढ़ते-बढ़ते वही मीठापन अमृत तुल्य हो जाता है। सिद्धपरमेष्ठी में अमृत तुल्य अव्याबाध सुख है। इस सुख की उपमा भी किसी भी पौद्‌गलिक परिणति से नहीं दे सकते, उसका तो वहाँ पर जाने से ही स्वाद आयेगा। अज्ञानी सोचता

है कि वहाँ इन्द्रियाँ तो रहती नहीं, जीभ है नहीं तो स्वाद कैसे आयेगा? एक बार श्वान की भेंट पुराने मित्र देव से हो गई। श्वान बोला–मित्र मैं तुम्हें कहाँ–कहाँ ढूँढ़ता रहा? तुम कहाँ चले गये थे? देव बोला–मैं स्वर्ग में हूँ, बड़ा अच्छा स्थान है। स्वर्ग का सारा वर्णन किया। फिर बोला–तुम भी मेरे साथ चलो। तब श्वान बोला–वहाँ गटर और नालियाँ हैं या नहीं? यदि नहीं हैं तो वहाँ जाकर क्या करूँगा? ऐसे ही अज्ञ प्राणी विषयों की नाली में मस्त हो जाता है। जो गरीबी में पला है उसे रईसी की उपमा दोगे तो क्या हाल होगा? इसलिए किसी मित्र के चक्कर में मत रहना, जिसे समझ में आ जाता है वह सबको छोड़कर लक्ष्य तक पहले ही पहुँच जाता है। जिसे समझ में नहीं आता है वह तो मित्र को भी रोक सकता है। अत: साथी–संगाती से कोई प्रयोजन मत रखो, अकेले ही रहना है, अकेले ही चलना है कोई साथ नहीं, कोई मित्रता नहीं। उन्हें समझाने में मत लगो यह लौकिक नहीं अलौकिक बात है।

वर्तमान में अनुमान और गुरु उपदेशादि से ही आत्मज्ञान सम्भव—अनुमान भी प्रमाण के अनुसार है। एक बार अग्नि को आँखों से देख लिया तो आँखें प्रत्यक्ष प्रमाण हो गईं और उस प्रमाण का विषय अग्नि बनी। अग्नि जब जल रही है तो उसमें धुँआ भी निकल रहा है, यहाँ अग्नि के साथ धूम्र की व्याप्ति है। यह उसी समय उसे ज्ञान हो गया फिर इसके उपरान्त अग्नि न दिखने पर भी दूर से धुँआ उठता देखकर कहता है कि वहाँ पर धुँआ है तो निश्चित ही वहाँ अग्नि होना चाहिए। यहाँ धुँआ साधन या लिंग हो गया और अग्नि का ज्ञान परोक्ष अनुमान से हुआ। ''**साधनात् साध्य-विज्ञानमनुमानं**'' साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान कहलाता है। उसी प्रकार व्यवहारनय से धूम्र से अग्नि के ज्ञान की भाँति अशुद्ध आत्मा का ज्ञान होता है। संवेदन के माध्यम से आत्मतत्त्व का जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष तो नहीं किन्तु परोक्ष होता है। हाँ, इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह सकते हैं। इस संवेदन को हेतु बनाकर आत्मतत्त्व तक पहुँच सकते हैं। वर्तमान में इतना ही मार्ग खुला हुआ है इससे ज्यादा नहीं है। करंट को साक्षात् देख नहीं सकते किन्तु बल्ब, पंखा, हीटर आदि के माध्यम से करंट की उपस्थिति का ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा साक्षात् देखने में नहीं आती, लेकिन अनुमान से, इन्द्रिय ज्ञान के माध्यम से और जिनवाणी व गुरु उपदेश से जान सकते हैं। अभी तो इतना ही साधन प्राप्त है। एक भगोनी खिचड़ी से भरी है जिस प्रकार उसका एक दाना मात्र देखने से ज्ञात हो जाता है कि सारी खिचड़ी पकी है या नहीं, उसी प्रकार अनुमान ज्ञान भी आज पर्याप्त है। इसके माध्यम से आत्मतत्त्व का स्वसंवेदन कर सकते हैं। भले ही वह स्वसंवेदन आंशिक रूप में है किन्तु किसी अन्य पदार्थ का नहीं है। एकमात्र आत्मतत्त्व का ही है, ऐसा दृढ़ श्रद्धान हो जाता है। फिर वीतराग स्वसंवेदन युक्त परमानन्द निराकुल सुखामृत पूरित पूर्णकलश के समान सर्वात्मप्रदेशों में योगीजन को आस्वादन होता है। इसके लिए **श्री पूज्यपाद आचार्य** बहुत अच्छा सूत्र कहते हैं– ''**बहिर्दु:खेष्वचेतन:**'' बाहरी दुखों में अचेतनवत् हो जाना अर्थात् शरीर से भिन्न होकर आत्मा जागृत रहे तभी इस दशा का अनुभव हो सकता है। शरीर शून्य न हो और आत्मा जड़वत् हो जाए तो ठीक

नहीं। शरीर रूपी यन्त्र को सर्व ओर से बन्द करना है ताकि बहिर्तत्त्व अन्दर प्रवेश न कर पाए और आत्मा जागृत रहे ताकि स्वसंवेदन होता रहे। यह कार्य योगियों को होता है जब शुद्धात्मतत्त्व का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है।

जीव के स्वभाव में विकृति क्यों?—यद्यपि जीव का स्वभाव अजीव से बिल्कुल पृथक् है लेकिन जीव स्वस्थ नहीं है यह विकृति क्यों आयी? अन्य पदार्थों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखने से ही विकृति आती है। घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण एक ही अंगी या पदार्थ जैसा लगता है। अंगी है तो फिर अंग भी होंगे। जैसे–मनुष्य के शरीर में आठ अंग होते हैं। ये आठों अंग शरीर से अभिन्न होते हुए भी सभी अंग घनिष्ठता रख लें अर्थात् एक हो जाएँ तो सारा शरीर गोल मटोल हो जायेगा। ३४३ घन राजू प्रमाण लोक का घनफल लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई को परस्पर में गुणित करने से आता है। एक क्षेत्रावगाही कहना और तन्मय या तादात्म्य कहने में बहुत अन्तर है। वस्तु स्वरूप के प्रकाश में शब्द एक माध्यम है लेकिन एकान्त से उस शब्द को ही वस्तु मान लें तो वस्तु बहुत जल्दी छिन्न-भिन्न हो जायेगी। सर्वथा तन्मय मानने से जीव और पुद्‌गल का संयोग रूप परिणमन होगा ही नहीं, तब न विकास होगा, न अन्त होगा ऐसी स्थिति में क्या होगा? देव असंयत रहते हैं उनके यहाँ वैभव सम्पदा भरी पड़ी है। उनके पास सब कुछ होते हुए भी गिरि, गुफा, कन्दरा, नदी आदि में निवास करने क्यों जाते हैं? सोलहवें स्वर्ग से ऊपर वाले स्वस्थ हैं, अड़ौस-पड़ौस में क्या हो रहा है? उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। यद्यपि पहले स्वर्ग की अपेक्षा ऊपर वाले कम घूमते हैं। मध्यलोक में मनुष्यों में भी मुनिराज घूमने नहीं निकलते, विहार करते हैं। कहीं मोह न हो जाए इसलिए क्षेत्र परिवर्तन करते हैं। "**भत्ते वा खमणे वा आवसदे वा पुणो विहारे वा**" असंयम से संयम की ओर जाने वाले बहुत कम हैं। कश्मीर जाने वाले बहुत लोग रहते हैं जबकि कश्मीर के लोग जहाँ हरियाली नहीं है ऐसी मरुभूमि में आना चाहते हैं। वहाँ भी एक प्रकार का सौंदर्य है, मरुभूमि में 'सहारा' प्रसिद्ध है। जहाँ पर एक भी पेड़ नहीं, तो सहारा क्या? दक्षिण में सहारा मरुभूमि बोलते थे। जहाँ पर रेत ही रेत के टीले रहते हैं। वहाँ आँधी और हवाओं से एक टीला सुबह तक दूसरे टीले तक पहुँच जाता है। इतनी तेज हवाएँ चलती हैं कि टीला ही साफ हो जाता है। ऐसे सौंदर्य को देखने के लिए हरियाली वाले, मरुभूमि की ओर आते हैं और मरुभूमि वाले हरियाली की ओर जाते हैं। मन स्वस्थ न रहने के कारण, जिसे बोरियत भी कहते हैं, उसे दूर करने के लिए थोड़ा-सा इधर-उधर घूम आते हैं। शिक्षक भी बच्चों को अध्ययन कराते-कराते ग्रीष्म अवकाश दे देते हैं। अन्य देशों में मई आदि महीनों में भी अध्ययन कराते हैं, जो जैसे प्रदेश हैं उनके लिए अलग नियम भी बनाये जाते हैं। किसी भी प्रकार से भौतिक विकास हो जाए इसके लिए ऐसा परिवर्तन करते हैं। महाव्रत के लिए अणुव्रत लेते हैं, इसके उपरान्त नियम और ले लेते हैं। अणुव्रत और महाव्रत यम में आते हैं, आजीवन चलते हैं। नियम का कोई नियम नहीं रहता कि ऐसा होना ही चाहिए। आईटम बदलते रहना चाहिए इससे मन प्रशस्त होता है।

जो पहलवान होते हैं वे नाप-तौलकर उतनी ही वस्तु खाने में लेते हैं लेकिन अन्य लोग बदलते रहते हैं। स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए एक सा भोजन नहीं लेते। यदि बदलाहट न हो तो कूटस्थ हो जायेगा, इससे विकास और विनाश दोनों से रहित हो जायेगा। शुद्ध जीव और शुद्धपुद्गल दोनों ही रह जायेंगे। पाप-पुण्य, पतन-उत्थान कुछ नहीं होगा और "**बंधमोक्षाभावः**" बन्ध और मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा। इन दूषणों से दूर होने के लिए एकान्त से परिणामी और अपरिणामी होने का निषेध किया है। अतः द्रव्य कथञ्चित् परिणामी और अपरिणामी है। पर्यायापेक्षा परिणामी और द्रव्यापेक्षा अपरिणामी है। ऐसा ही मानेगें तभी नौ पदार्थ सम्भव हैं।

हेय और उपादेय क्या?—जीव को कथञ्चित् परिणामी मानने से ही पाप-पुण्य आदि नौ पदार्थ घटित होते हैं। मुख्य रूप से जीव और पुद्गल का ही प्रयोजन रहता है। अब भव्यों को हेय-उपादेय क्या है? इसका बोध कराने के लिए सात तत्त्वों का कथन किया जाता है। दुख हेय है उसका कारण संसार है तथा संसार का कारण आस्रव और बन्ध पदार्थ हैं और इनका कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है। **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** में कहा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

रत्नत्रय का 'प्रत्यनीक' अर्थात् विपरीत मिथ्यात्रय है जो संसार को बनाये रखने में कारण है। जो जीव सांसारिक सुख की कामना करते हैं वे मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र ही चाहते हैं। उन्हें लगता है कि इसी से सुख वैभव मिल रहा है, उन्हें वही प्रिय है। एक को जो वस्तु प्रिय है वही दूसरे को भी प्रिय हो ऐसा नियम नहीं। जिस चीज से एक को वमन होता है दूसरे को उसी से वमन रुक जाता है। हर किसी की वैय्यावृत्ति एक जैसी नहीं की जाती। घर के बच्चों को जब अभिभावक समझाते हैं तो बच्चे कहते हैं कि हमसे जो कुछ भी काम या परिश्रम करवाना चाहते हो तो करवा लो किन्तु हमारे खान-पान, रहन-सहन के बारे में कुछ मत कहो। पहले पेंट में कोई पैबन्द या थिगड़ा लगा देते थे तो पहनते नहीं थे। अब तो जैसे सड़क पर थिगड़ा लगाते हैं वैसे ही पैबन्द लगाकर फैशन समझकर पहनते हैं। जेब में कुछ रखते नहीं लेकिन दोनों तरफ बड़े-बड़े जेब लगवाते हैं, जैसे थैले लटक रहें हों। आगे-पीछे, आजू-बाजू जेब ही जेब लटकते हैं। यदि कपड़ा कम पड़ जाए तो पट्टी लगा देते हैं, एक ही कलर का होना चाहिए ऐसा कुछ नहीं रहा। कॉलर अलग कलर के हैं शोल्डर अलग रंग के, और आस्तीन अलग रंग की हैं। बड़े-बड़े होकर भी बच्चों जैसा पहनावा करते हैं। जैसे-भवनवासियों में प्रत्येक के साथ 'कुमार' शब्द लगाते हैं क्योंकि उनका रहन-सहन और क्रीड़ाएँ कुमार जैसी रहती हैं। अब तो वृद्धों को भी कलरलेस पसन्द नहीं आता, कलर फुल चाहिए जबकि आत्मा का कोई कलर है ही नहीं। बच्चे कहते हैं "दादाजी आप बैठ जाओ", उछलकूद अर्थात् आने-जाने का काम हम करेंगे लेकिन हमें कुछ समझाना नहीं। मुक्ति की बात भी ऐसी ही है। किसी के सामने

रखने से पूर्व सोच लें कि यह पात्र है या नहीं। होशियारी के साथ व्यापार करना होता है ताकि माल बिक जाए। तरह-तरह से बातें करके ग्राहक को पटाया जाता है, तैयार किया जाता है।

सुख उपादेय है जो कि मोक्ष में है और मोक्ष का कारण संवर-निर्जरा है और इन दोनों के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र हैं और दुख हेय है जो संसार में है और संसार का कारण आस्रव बन्ध है। इस प्रकार जीव और अजीव से मिलकर सात तत्त्व हैं और उनमें पुण्य-पाप मिलाने से नवपदार्थ हो जाते हैं। यहाँ सर्व प्रकार उपादेय शुद्धजीव के कथनरूप से एक सूत्र गाथा द्वारा द्वितीय स्थल पूर्ण हुआ। इस प्रकार ४ गाथा तक दो स्थल से नवपदार्थ का प्रतिपादक द्वितीय महाधिकार में तृतीय अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

उत्थानिका—अब चतुर्थ अन्तराधिकार में इन्हीं जीव-अजीव के संयोग से उत्पन्न जो सात पदार्थ हैं, उनके कथन के लिए परिभ्रमण रूप कर्मचक्र का स्वरूप कहते हैं—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१३६॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१३७॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसार चक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥१३८॥

अन्वयार्थ—(खलु) वास्तव में **(जो जीवो)** जो जीव **(संसारत्थो)** संसार में स्थित है **(तत्तो)** उससे **(दु)** ही **(परिणामो)** अशुद्ध भाव **(होदि)** होता है **(परिणामादो)** अशुद्ध भाव से **(कम्मं)** कर्मों का बंध, **(कम्मादो)** उन कर्मों से **(गदिसु गदी)** चार गतियों में से कोई गति **(होदि)** होती है। **(गदिं)** गति को **(अधिगदस्स)** प्राप्त होने वाले जीव के **(देहो)** स्थूल शरीर, **(देहादो)** देह से **(इंदियाणि)** इन्द्रियाँ **(जायंते)** पैदा होती हैं। **(तेहिं दु)** उन्हीं इन्द्रियों से ही **(विसयग्गहणं)** विषयों का ग्रहण **(तत्तो)** उस विषय के ग्रहण से **(रागो व दोसो वा)** राग तथा द्वेष भाव होता है। **(एवं)** इस प्रकार **(संसारचक्कवालम्मि)** इस संसाररूपी चक्र के भ्रमण में **(जीवस्स)** जीव के **(भावो)** अशुद्ध भाव **(जायदि)** उत्पन्न होते हैं **(इदि)** ऐसा **(जिणवरेहिं)** जिनेन्द्रदेवों के द्वारा **(भणिदो)** कहा है। इस प्रकार के अशुद्धभाव **(अणादिणिधणो)** [अभव्यों की अपेक्षा] अनादि अनिधन **(सणिधणो वा)** तथा [भव्यों की अपेक्षा] अनादि सनिधन है।

अर्थ—जो वास्तव में संसारस्थित जीव हैं उससे रागादिरूप परिणाम होता है और उन परिणामों से आठ प्रकार के कर्म होते हैं। उन कर्मों से गतियों में गमन होता है। गति को प्राप्त होने वाले जीव के देह होती है, देह से इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियों से विषय ग्रहण और विषय ग्रहण से राग-द्वेष होता है।

इस प्रकार संसारचक्र में जीव को अनादि-अनन्त अथवा अनादि-सान्तभाव होते रहते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

जो संसार अवस्था में है, वह अशुद्ध जीवात्मा है।
उससे हो रागादि भाव फिर, आठों कर्म बाँधता है॥
उन पुद्गल मय कर्मों से फिर, नरकादिक में जाता है।
चउ गतियों में भटक-भटक कर, अनेक दुख को पाता है॥१२८॥
जब कर्मानुसार गति पाता, तब शरीर भी पाता है।
शरीर से हो प्राप्त इन्द्रियाँ, विषय ग्रहण तब करता है॥
इष्ट पदार्थ प्राप्त करके वह, राग भाव उत्पन्न करे।
अनिष्ट रूप पदार्थ प्राप्त कर, द्वेष बुद्धि से दुःख धरे॥१२९॥
जब संसारचक्र में भ्रमकर, जीव मलिनता लाता है।
राग-द्वेष से कर्म बन्ध फिर, अशुद्ध भाव उपजता है॥
अशुद्ध भाव अभव्य अपेक्षा, अनादि और अनन्त कहा।
जिनवर कहते भव्य जीव को, भाव अनादि सान्त रहा॥१३०॥

व्याख्यान—वस्तुतः जीव सर्वप्रथम संसार में था बाद में मुक्त होता है, यह नियम स्वीकार कर लेना चाहिए। किसी ने कहा—हम तो छूट गए। इसका तात्पर्य है कि पहले वह बँधन में थे, हम हल्के हो गए, इसका मतलब पहले भारी थे। कई लोग अपनी वेदना सुनाकर बोझ उतार लेते हैं। यदि कहने से बोझ उतर जाता है तो कह दो, लेकिन भगवान् के सामने कहो। वह कभी मना नहीं करेंगे। कहते चले जाओ, कहते चले जाओ, हल्के हो जाओगे, पूरी सुना दो, एक दिन भगवान् ही बन जाओगे लेकिन ध्यान रखना दूसरों की बात नहीं सुनाना, यह शर्त है। अपनी व्यथा-कथा तो सुनाते नहीं, दूसरों की कथा सुनाने लग जाएँ, दूसरों की गलती बताएँ और स्वयं को साहूकार बना दें यह ठीक नहीं है। पढ़ते हैं ना ''**दुर्जन देय निकार साधुन को रख लीजे**'' तीन लोक के नाथ को समझाने आ जाते हैं, जो उचित नहीं।

यदि धारणा अच्छी है तो कहीं कुछ भी लिखा हो तो सही भाव ही निकालते हैं और यदि नहीं समझना है तो तीन काल में समझ में आ नहीं सकता। आचार्यों ने तो उपदेश दिया था इसे पहले स्वीकार करो। यदि स्वीकार कर लिया तो उसे देखकर सामने वाले कई लोग अपने दोषों का परिमार्जन कर लेते हैं, बिना कहे ही देखकर सीख जाते हैं। बोलो मत करते चले जाओ। माँ यदि नमोऽस्तु करती है तो साथ में जो बच्चा आया है वह भी देखकर नमोऽस्तु करता है, माँ उठ गई तो वह भी उठ जाता है, माँ पुंज चढ़ाती है तो बेटा भी बिना कहे ही पुंज चढ़ा देता है। अनुकरण जो करता है उस पर बड़ों

का वरदहस्त रहता है।

दृष्टान्त—एक बार की बात है मुनियों के पास एक ब्रह्मचारी भी बैठे थे, ऊपर से कुछ ओढ़ नहीं रखा था, सवेरे के समय थोड़ा धुँधलापन भी था, पिता जी सबको नमोऽस्तु करते हुए जा रहे थे तभी छोटा बच्चा बोला–इनको नमोऽस्तु नहीं करो इनके पास पिच्छिका कहाँ है? बेटे को भी यह बात समझ में आ गई कि जिसके पास पिच्छिका है, उसे ही नमोऽस्तु किया जाता है। बिना उपदेश के भी यह ज्ञान हो जाता है। कर्तृत्व भाव लेकर बैठने से कुछ भी होने वाला नहीं है। यदि संस्कार, शिक्षण आदि दूसरों के उपकार के लिए करते हैं तो सही है वरना ऐसे भी तेज दिमाग के लोग रहते हैं जो सिखाने वालों को ही पीछे कर देते हैं, इसीलिए जैनागम में देशना देने के अधिकारी वास्तव में केवलज्ञान होने के उपरान्त ही कहे गए हैं। बुला-बुलाकर देशना नहीं देते। समवसरण में कुछ प्रचारमन्त्री जैसे होते हैं, किसी ने उन्हें मन्त्री बनाया नहीं, अपने आप ही भक्ति से यह कार्य करते हैं। भगवान् ने इन्द्र, कुबेर या मागधदेव किसी से नहीं कहा कि यह व्यवस्था कर दो। मागधदेव एक प्रकार से माइक जैसी व्यवस्था करते हैं जिससे बारह योजन तक दिव्यध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है। कितनी सुविधाएँ हैं! भगवान् चतुर्मुखी नहीं हैं फिर भी चारों दिशा में मुख दिखते हैं। सभी लोग यही कहते हैं कि भगवान् हमारी ओर ही देख रहे हैं।

अशुद्ध परिणामों से ही नवीन कर्मों का बन्ध—कम सुनकर भी सही अर्थ समझ में आ जाये यह कठिन होता है। फिर भी कुछ लोग समझते तो हैं पर मतलब का ही समझते हैं। दिव्यध्वनि के माध्यम से भी संशय उत्पन्न कर लेते हैं, उल्टा ही अर्थ निकाल लेते हैं। संशयहरणी वाणी सुनकर भी संदेह में पड़ जाएँ तो क्या कर सकते हैं? इसीलिए श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा कि "**चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं**" अर्थात् विषय की प्रस्तुति के समय चूक हो जाए तो छल धारण नहीं करना। इस प्रकार संसारी अशुद्ध आत्मा, अशुद्ध परिणामों से नया कर्म बाँधता है। उस कर्म से एक गति से दूसरी गति में जाना होता है और नयी गति में नयी देह प्राप्त होती है। देह में इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं फिर इष्टानिष्ट विषयों को ग्रहण करता हुआ राग-द्वेष भाव उत्पन्न करता है।

सच्चे गुरु के अभाव में ही संसार में यह जीव भटकता है — इस प्रकार अनन्त संसारचक्र में जीव घूमता रहता है। वर्तुल में घूमने से छोर का पता नहीं चलता क्योंकि घूमकर वह वहीं आ जाता है। यदि ९० डिग्री का कोण बना दें तो देखने में आ जायेगा। जिसे भूल-भुलैया कहते हैं, अच्छे-अच्छे भी चक्कर खा जाते हैं। लखनऊ में कुछ ऐसा ही स्थान है जहाँ जाकर अच्छे-अच्छे भूल जाते हैं। इसलिए निर्देशक की आवश्यकता होती है लेकिन निर्देशक को ही निर्देशन देने लग जाए तो भटके बिना नहीं रहेंगे। निर्देशक पीछे-पीछे चले और दर्शक भटक जाए तो भगवान् कुछ बोलने वाले नहीं हैं। इसलिए संसारचक्र में कहीं भटक न जाएँ अतः गुरु रूपी निर्देशक बनाना ही पड़ेगा, जेब से पैसा निकालना ही पड़ेगा अर्थात् समर्पण करके संयम धारण करना ही होगा। विशेष यह ध्यान रखना कि

जो निर्देशक बनाया है यदि वह भी वहीं-वहीं पर ही घुमाने लग जाए और कहे कि हम तो खुद भटक गए हैं तो तुम्हें मार्ग कैसे दिखाएँ? ऐसा निर्देशक नहीं बनाना। इस तरह समझदार भी बीच मँझधार में रह जाते हैं। ऐसा नहीं कि वृद्ध हैं तो बहुत समझदार हैं क्योंकि वृद्ध जहाँ रहते हैं वहाँ की जानकारी उन्हें रहती है। विस्तार से पूछो तो कथा की भाँति चलती रहेगी, उसके बाद फिर उसके बाद यह हुआ ऐसा समझाते रहेंगे। लेकिन इससे कुछ होने वाला नहीं है, संसारचक्र से पार नहीं पा सकते। अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनिधन, भव्य की अपेक्षा अनादि-सान्त है क्योंकि भव्य संसार का पार पा लेता है।

संसार की विचित्रता—शुद्ध निश्चयनय से जीव ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला होकर भी अनादिकाल से व्यवहारापेक्षा कर्म बंधन के कारण अशुद्ध परिणाम ही करता है। जैसे—छोटे बच्चे को स्नान कराके अच्छे वस्त्राभूषण पहना दिए लेकिन विवेक के अभाव में वह सब गन्दा कर देता है। आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के बाद ही उसमें संयम धारण करने की योग्यता आती है, ऐसा आगम का उल्लेख है। विषयों की ओर भी तभी जाता है, चला ही जाए यह नियम नहीं है। इसके पहले तत्सम्बन्धी बोध नहीं रहता किन्तु पञ्चमकाल में सब बदलता जा रहा है। आठ वर्ष से पहले भी विषय-भोगों की, खाने-पीने की और रहन-सहन की बातें आने लगी हैं। हठ पकड़ लेता है तो बड़ों को मानना ही पड़ता है, अन्यथा कहता है हम कहीं न कहीं भाग जायेंगे। रास्ता तो जानता नहीं है फिर भी आगे-आगे भागता है और पीछे-पीछे घर के लोग भागते हैं, बड़ा वैचित्र्य है। आप लोग अपनी अनुभूति बताओ ऐसा है कि नहीं? (सभी सिर हिलाते हुए हाँ आचार्यश्री जी ऐसा ही है) इसीलिए तो उन्हें किसी भी प्रकार से समझा करके रखते हैं। बहू घर में आ गई तो उससे भी डर लगता है कहीं तलाक न दे दे। लोग रोते हुए आ जाते हैं और कहते हैं महाराज! आशीर्वाद दे दो। संसार की यह विचित्रता देखकर लगता है कि कितनी दुर्लभता से यह मार्ग हमें मिला है। यद्यपि गृहस्थ भी एक मार्ग है परन्तु इन घटनाओं में राग-द्वेष न करके यदि शांति से सहन कर लें तो कर्मनिर्जरा भी कर सकते हैं। मेरा अतीत का जीवन राग-द्वेष में व्यतीत हो गया। पश्चाताप की लहर आनी चाहिए। मन-वचन-काय से कितनी विपरीत दिशा में कदम बढ़ गये हैं। अब भीतर से लड़ाई करेंगे। मेरा वैरी कौन? कर्म। हमारे वैरी हमारे भीतर बैठे हैं। अपने किये हुए कर्मों को आप पहचानो और अपने ही परिणामों को देखो।

आगे द्वितीय महाधिकार में जीव और पुद्गल के संयोग-वियोग रूप परिणामों से पाप-पुण्यादि सात पदार्थ बनते हैं इस तरह नौ पदार्थों के कथन की मुख्यता से ३ गाथाओं द्वारा चतुर्थ अन्तराधिकार पूर्ण होता है। अब पाप-पुण्य अधिकार में ४ गाथाओं का प्रकरण दिया जा रहा है—उसमें प्रथम तो परमानन्द एक स्वभाव रूप शुद्धात्मा से भिन्न भाव पुण्य-पाप के योग्य जो परिणाम हैं इस कथन की मुख्यता से एक सूत्र गाथा है फिर शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी शुद्धात्मा से भिन्न हेय रूप जो द्रव्य और भाव रूप पुण्य-पाप हैं उनके व्याख्यान की मुख्यता से एक गाथा है। फिर नैयायिक मत का निराकरण करने के लिए पुण्य और पाप दोनों मूर्त हैं, इसके समर्थन में एक सूत्र गाथा है। फिर चिरन्तन अर्थात्

पुराना और आगन्तुक अर्थात् आगामी काल में बँधने वाले मूर्तकर्म से जीव बद्ध स्पृष्ट है। शुद्ध निश्चयनय से अमूर्त होकर भी जीव अनादि बन्ध परम्परा की अपेक्षा व्यवहारनय से मूर्तजीव के साथ मूर्तकर्म के बन्ध का प्रतिपादन करने वाली एक गाथा है। इस प्रकार ४ गाथाओं से युक्त पञ्चम अन्तराधिकार की समुदाय रूप उत्थानिका हुई।

उत्थानिका—आगे पुण्य-पाप पदार्थ के योग्य परिणामों का स्वरूप दिखाते हैं—

मोहो-रागो-दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥१३९॥

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसके **(भावम्मि)** भाव में **(मोहो)** मिथ्यात्वरूप भाव **(रागो)** रागभाव **(दोसो)** द्वेषरूप भाव **(य)** और **(चित्तपसादो)** चित्त का आह्लादरूप भाव **(विज्जदि)** पाया जाता है **(तस्स)** उसके **(सुहो)** शुभ **(वा)** तथा **(असुहो)** अशुभ **(वा)** ऐसा **(परिणामो)** भाव **(होदि)** होता है। अर्थात् जिसके हृदय में प्रशस्त राग और चित्त की प्रसन्नता होगी उसके शुभ परिणाम होंगे और जिसके हृदय में मोह, द्वेष, अप्रशस्त राग तथा चित्त का अनुत्साह होगा उसके अशुभ परिणाम होंगे।

अर्थ—जिसके भाव में मोह, राग, द्वेष अथवा चित्त प्रसन्नता पाई जाती है उसके शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं।

दर्शनमोहनीय के कारण, मोह भाव हो जाता है।
चरितमोह से जीव राग औ, द्वेष भाव कर लेता है॥
चरितमोह के मंदोदय से, चित्त प्रसन्न रूप रहता।
इस प्रकार शुभ-अशुभ रूप परिणमन जीव में ही होता ॥१३९॥

व्याख्यान—गहल रूप अज्ञान परिणाम से राग-द्वेष और चित्त की प्रसन्नता रूप भाव उत्पन्न होते हैं। जो अपने लिए अच्छा लगता है उसके प्रति राग और जो अपने लिए प्रतिकूल लगता है उसके प्रति द्वेष भाव उत्पन्न होता है। ऐसे भी पदार्थ हैं जिनसे राग, द्वेष, मोह से अलग हटकर चित्त की प्रसन्नता होती है जिसे प्रशस्त या धर्मानुराग कह सकते हैं। आगम पद्धति के अनुसार शुभ और अशुभ दो ही भाव होते हैं। अध्यात्म ग्रन्थों में शुभ-अशुभ भाव को अशुद्ध भाव और शुद्धोपयोग के साथ होने वाला शुद्ध भाव ऐसे दो भेद किए जाते हैं। आगम में योग की विवक्षा है परन्तु अध्यात्म ग्रन्थों में उपयोग की विवक्षा या प्रधानता से व्याख्यान किया जाता है। दो प्रकार के भाव हैं—पुण्य और पाप। द्रव्य पुण्य, भाव पुण्य। द्रव्य पाप, भाव पाप। राग-द्वेष-मोह से बचना चाहते हो, तो अपने आप पर दृष्टिपात करना प्रारम्भ कर दो। कर्म के फल भोगते समय पोस्टमेन बन जाओ, तो राग-द्वेष नहीं होंगे। आपने पत्र लिखा था उसका कर्म फल के रूप में प्रतिपत्र आयेगा। आप समता रखेंगे तो आपकी पोस्ट बढ़ जायेगी। पोस्टमेन की वृत्ति अनुकरणीय है।

किसी भी पदार्थ या वस्तु को देखें, जानें और सोचें नहीं, तब उस समय सहज रूप से ज्ञात होगा कि कुछ भी होने की क्रिया में सहजता ही रहती है, वह हमारे कारण नहीं हो रही किन्तु कर्म के उदय में भी साक्षी भाव से शान्त बैठने से हो रही है, उसे उपेक्षा संयम भी कहा जाता है। अशुभ भाव को हटाने के भाव कर सकते हैं लेकिन इससे वह हटते नहीं और अच्छे भाव लाने का प्रयास करने से वह आते नहीं। फिर भी मन में यह भाव रहता है कि कुछ अच्छा कर लें। संकल्प पूर्वक कुछ कर भी नहीं सकते। इसका मतलब संकल्प छोड़ने के लिए नहीं कह रहे हैं लेकिन संकल्प लेकर उतावली करके आकुलता बढ़ाना ठीक नहीं। अतः साक्षीपूर्वक इसे देखते रहिए। एक अच्छा हाइकू है–**''कहो न सहो/सही परीक्षा यही/आपे में रहो''**। ''कहो न सहो, आपे में रहो'' यही एकमात्र मोक्षमार्ग है। इसका स्वरूप पहले भी यही था और आगे भी यही रहेगा इसीलिए कहीं भी रहें, यह पुरुषार्थ करने का प्रयास करना चाहिए। आगे बढ़ने के भाव तो कर सकते हैं लेकिन कर्म के उदय में जो हो रहा है उसे कोई भी परिवर्तित कर ही नहीं सकता। पाप को मन्द और पुण्य को तीव्र करने का भाव आ जाए ऐसा वह परिणाम भी अपने ऊपर आधारित नहीं है।

बीज भी बहुत पुराना है और वृक्ष भी बहुत वर्षों से है। बीज है तो उसे पैदा करने वाला वृक्ष भी है। इसका इतिहास देखने पर पता चलता है कि १००० वर्ष पुराना भी बीज हो सकता है। अफ्रीका के घने जंगलों में १००० फीट के भी वृक्ष हैं, ऐसी जाति-प्रजाति रहती है। इसी प्रकार कर्मबन्ध भी अनादि से है और जीव भी अनादि से बद्ध है। यह क्रिया संतान प्रवाह रूप से आ रही है अतः व्यवहार नय से जीव अमूर्त नहीं है।

शंका—अमूर्त जीव के साथ मूर्त कर्म का बन्ध कैसे हो सकता है?

समाधान—जीव का स्वभाव एकान्त से अमूर्त नहीं है, बन्ध की विवक्षा में जीव मूर्त भी है। अभव्य जीव आजतक मूर्त रहे हैं और आगे भी मूर्त ही रहेंगे, उनके बन्ध का अवसान कभी नहीं होगा किन्तु स्वभाव की अपेक्षा अभव्य भी अमूर्त है।

जीव में एक सूक्ष्मत्वगुण है जो सिद्धदशा में ही अभिव्यक्त होता है, उससे पूर्व कितनी ही कोशिश की जाए पर प्रकट नहीं हो सकता। १४ वें गुणस्थान तक अर्हत्परमेष्ठी मूर्त ही कहलायेंगे, अमूर्त नहीं हो सकते। उन्हें देख सकते हैं, उनमें मूर्तत्व के योग्य क्रियाएँ देखने में आ सकती हैं क्योंकि उनमें सूक्ष्मत्व गुण अभी प्रकट नहीं हुआ। जब तक शेष चार अघातिया कर्मों का अभाव नहीं होगा तब तक ये मूर्त बने रहेंगे और मूर्त जीव के साथ ही मूर्त कर्मों का बन्ध होता है, अमूर्त के साथ मूर्त कर्मों का बन्ध तीन काल में नहीं होता लेकिन १४ वें गुणस्थान में मूर्त होकर भी बन्ध नहीं होता। क्योंकि **''न जघन्य गुणानाम्''** राग, द्वेष, मोह पहले ही चले गए, फिर योग की प्रक्रिया भी रुक गई। १४ वें गुणस्थान में आने के पहले कितना ही पुरुषार्थ कर लो योग रुक नहीं सकते। ऐसा नहीं कि जल्दी से केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध हो जाएँ। जब तक गाड़ी नहीं आयेगी तब तक स्टेशन पर बैठना

ही पड़ेगा। गाड़ी आ भी जाती है पर बुकिंग दूसरों की होने के कारण दूसरों को लेकर चली जाती है। वे अभी नहीं जा सकते क्योंकि कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक रहना है, आयु पूरी करने के बाद फिर नम्बर आयेगा। जब तक नम्बर नहीं आयेगा तब तक क्या करें? एक व्यक्ति ने प्रश्न पूछा कि– तीर्थंकरों के लिए तो ठीक है किन्तु अन्य महाराज क्या करते होंगे? अरे! समवसरण में बैठने के लिए जगह मिल गई यही बहुत अच्छा है। कुछ लोगों को यह विकल्प रहता है कि कौन प्रवचन करे? प्रचार-प्रसार क्यों करें? जगत् उद्धार की भावना करेंगे और समवसरण के किसी कोने में बैठकर अच्छे से ध्यान करेंगे। ध्यान रखो अभी तो ऐसा लगता है, परन्तु वहाँ जाने के बाद देखेंगे कि सामने ही सामने यह मुक्त हो रहे हैं और हम यहीं हैं तो क्या कुछ और करने का सोचेंगे?

समवसरण की महिमा—बाहुबली भगवान् ने विहार भी किया और गन्धकुटी की रचना भी हुई। दिव्य पुष्पों की अतिशय सुगन्ध जिसमें आती है, वह गन्धकुटी कहलाती है। विधानादिक के मण्डल में गन्धकुटी पर भगवान् विराजमान करते हैं। भगवान् की जब दिव्यध्वनि खिरती है तब माइक, स्पीकर आदि की कोई व्यवस्था नहीं की जाती, इसके बिना ही सभी को सुनाई देता है। संगीत जैसी ध्वनि प्रारम्भ हो जाती है, इसी का नाम दिव्यध्वनि है। आजकल तो बहुत बाहरी सजावट तथा अन्य व्यवस्थाएँ रहती हैं इको ध्वनि चाहिए। पञ्चम आवाज में कोई भी सुनना नहीं चाहता, कोयल-सी सुरीली आवाज अच्छी लगती है। समवसरण में भी ऐसे सेल्समेन लगे हुए हैं जो ग्राहकों को बुलाते रहते हैं। दुन्दुभि आदि के द्वारा आईये-आईये इस प्रकार कहते हैं। प्रचार-प्रसार के लिए विज्ञापन आज ही है ऐसा नहीं, पहले भी था। जैसे पत्रिका आदि में लिखा जाता है कि परिवार सहित आईये, यहाँ सब प्रबन्ध है, सहर्ष निमंत्रण है, हम आपकी आतिथ्य या सेवा करके स्वयं को उपकृत करेंगे। इन्द्र भी देवों को विज्ञापन में लगाए रखता है। '**श्री पूज्यपादस्वामी**' की '**नन्दीश्वर भक्ति**' में ऐसा वर्णन है देवतागण हाथ जोड़े खड़े हैं और कहते हैं स्वागतम्-स्वागतम् सुस्वागतम्, आईये-आईये। यही तो समवसरण का चमत्कार है कि बारह सभाएँ खचाखच भरी रहती हैं। आजतक का रिकार्ड है कि चाहे भरतक्षेत्र के तीर्थंकर हों या ऐरावत के हों या विदेहक्षेत्र के हों समवसरण में कोई भी सीट खाली रह गई हो, ऐसा नहीं होता। सारा स्थान खचाखच भरा ही रहता है। उसमें भी भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव तथा इनकी देवियाँ, चक्रवर्ती, मनुष्य और तिर्यञ्च सब शान्त भाव से अनुशासित होकर बैठ जाते हैं। कितना अच्छा प्रचार-प्रसार तन्त्र है, बड़े-बड़े लोग लगे हुए हैं। व्याख्या करने वाले गणधर परमेष्ठी हैं। उनसे बार-बार भी पूछ सकते हैं, जिज्ञासा रख सकते हैं। इसमें कुछ ऐसे भी लोग रहते हैं जो कहते हैं सुनना क्या? हम तो देखेंगे और समवसरण में जाकर सब भूल जाते हैं कि हमें क्या करना है, बिल्कुल शान्त होकर देखते रहते हैं। भगवान् को देखने की पूरी सुविधा रहती है। वहाँ यदि चक्रवर्ती जैसी बड़ी-बड़ी हस्तियाँ रहती हैं तो चूहे-बिल्ली आदि छोटे-छोटे प्राणियों को भी बैठकर सुनने का प्रबन्ध रहता है। चूहा-बिल्ली दोनों एक साथ वैरभाव भूलकर

मित्रवत् बैठे रहते हैं, यही समवसरण का चमत्कार है। साढ़े बारह करोड़ जाति के वाद्य बजते हैं इतने तरह के बाजों की तेज आवाज होती होगी या एक की आवाज दूसरे से टकराती होगी, ऐसा नहीं होता। वंसमोर वाली बात होती है, इतना अच्छा लगता है।

पुण्य-पाप का बन्ध कब?—पुण्य-पाप के योग्य भाव अथवा पुण्य-पाप का बन्ध किन भावों से होता है वह इस गाथा में बताया है। वहाँ टीका में जो **'शुभोऽशुभो'** शब्द आया है इसमें **उमकारयोर्मध्ये** इस सूत्र से 'शुभः अशुभो वा' का 'शुभोऽशुभो वा' हो जाता है। दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होने से निश्चय शुद्धात्म रुचि से रहित होता है अथवा व्यवहार रत्नत्रय रूप तत्त्वार्थ रुचि से भी रहित होता है। जो विपरीत अभिनिवेश रूप परिणाम है वह दर्शनमोह के उदय से होता है।

आवली प्रत्यावली में अन्तर—आवली और प्रत्यावली में यदि आवलि समझ में आ गई तो प्रत्यावली भी समझ में आ जायेगी। प्रति+आवलि=प्रत्यावली। जो उम्मीदवार के रूप में उसके सामने रहती है। आवली अर्थात् पंक्ति होती है। टिकट लेकर किसी दरवाजे में प्रवेश करते हैं तो लाइन लगी रहती है और उस दरवाजे के दोनों ओर बेरियर लगे रहते हैं उसमें एक-एक व्यक्ति ही निकल सकता है। ऐसा एक कटघरा-सा बना रहता है जिसमें बिना पंक्ति बनाये ही अपने आप पंक्ति बन जाती है। यह आवली का उदाहरण हो गया। अब उसके पीछे उम्मीदवार के रूप में जो लाइन लगी हुई रहती है वह प्रत्यावली के समान है। जब मूल बात समझ में नहीं आती है तब दृष्टान्त से समझाया जाता है। स्वयंभूस्तोत्र में **श्रेयांसनाथ भगवान्** की स्तुति में कहा है–

दृष्टान्त सिद्धा वुभयोर्विवादे, साध्यं प्रषिध्येन्न तु तादृगस्ति।
यत्सर्वथैकान्त नियामि दृष्टं, त्वदीय दृष्टिर्विभवत्यशेषे ॥५४॥

दृष्टान्त के माध्यम से दार्ष्टान्त तक एकदम गति नहीं होती, जैसे भीड़ के कारण प्रत्यावली एकदम नहीं दिखती। इसलिए जल्दी मत करो, ऐसा द्वारपाल के माध्यम से भी आश्वासन मिलता है। यद्यपि द्वारपाल मालिक नहीं है, पर इसी के माध्यम से वहाँ तक पहुँचने का रास्ता प्रशस्त होता है। एक-एक द्वार को क्रमशः पार करते जाओ, पीछे मुड़कर नहीं देखो तो लक्ष्य तक पहुँच जाओगे। दार्ष्टान्त याद रहे इसलिए दृष्टान्त दिया जाता है। जिसे भाषा का ज्ञान नहीं है वह भी चित्र के माध्यम से सम्पूर्ण भावार्थ को समझ लेता है। पहले मूक सिनेमा रहते थे, भाषा का सम्बन्ध चित्र के साथ नहीं रहता था, केवल हाव-भाव से समझ लेते थे। साउण्ड सिस्टम का अविष्कार बाद में हुआ। भावों के माध्यम से सब काम हो जाता है। समवसरण में जितने जीव बैठे हैं, उन सभी को सर्वज्ञ की वाणी समझ में आ जाती है। शंका करने वाले गणधर जैसे परमेष्ठी और समाधान करने वाले स्वयं भगवान् हैं। इसलिए प्रभु वाणी को श्रवण कर **''मा मुज्झह मा रज्झह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठ अत्थेसु''** इष्टानिष्ट पदार्थों में मोह, राग-द्वेष मत करो, एक क्षण भी प्रमाद के साथ व्यतीत मत करो। यह उपदेश यदि समझ में आ गया तो सर्वज्ञ बनने में देर नहीं लगेगी। सम्यक् श्रद्धान के माध्यम से ही कल्याण होगा।

शब्द अलग है और भाव अलग है। जो बेटा अभी बोलता नहीं है, भाषा और शब्द क्या हैं? यह भी जानता नहीं है तो भी माँ के बोलने पर उसके हाव-भाव-भंगिमा को देखकर पूरा समझ जाता है। स्वयं को ज्यादा समझदार मानकर तीर्थंकरों के पास जायेंगे तो लक्ष्य दूर रह जायेगा इसलिए प्रयोजनभूत समझकर काम निकाल लेना है। दर्शनमोह के कारण विपरीत अभिनिवेश हो जाता है और चारित्र मोहोदय के कारण इष्टानिष्ट विषयों में राग-द्वेष करता है। जब चित्त में कुछ विशुद्धि आ जाती है तब उन शुभ परिणामों को चित्तप्रसाद बोलते हैं, मन्द कषाय में चित्तप्रसाद है। सम्यग्दृष्टि न होकर भी यदि देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति में लगा है तो वह भी चित्तप्रसाद में आता है। इसे धर्मानुराग या प्रशस्त राग भी कहते हैं। विषयों का जो अप्रशस्त राग है वह अशुभ रूप होता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के भी दान, पूजा, व्रत-शीलादि रूप शुभ परिणाम होते हैं जिसे चित्तप्रसाद माना है।

उत्थानिका—पुनः पुण्य-पाप का स्वरूप कहते हैं—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ॥१४०॥

अन्वयार्थ—(जीवस्स) जीव के **(सुहपरिणामो)** शुभ परिणाम **(पुण्णं)** पुण्य है और **(असुहो)** अशुभ परिणाम **(पावं ति हवदि)** पाप है। **(दोण्हं)** उन दोनों के द्वारा [शुभ तथा अशुभ परिणामों के निमित्त से] **(पोग्गलमेत्तो भावो)** कर्म वर्गणा रूप पुद्‌गल **(कम्मत्तणं पत्तो)** कर्मपने को प्राप्त होते हैं।

अर्थ—जीव के शुभ परिणाम पुण्य भाव हैं और अशुभ परिणाम पाप भाव हैं। इन दोनों शुभ तथा अशुभ परिणामों के निमित्त से कर्मवर्गणा योग्य पुद्‌गल, ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मपने को प्राप्त होते हैं।

जीवों के शुभ भावों को प्रभु, पुण्य भाव संज्ञा देते।
और अशुभ भावों को भगवन्, पाप पदार्थ नाम देते॥
द्रव्यकर्म के निमित्त से ही, भाव शुभाशुभ करता है।
पाप पुण्य प्रकृति का पुद्‌गल, निश्चयनय से कर्त्ता है ॥१४०॥

व्याख्यान—"शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" इस सूत्र में कहा है कि शुभ परिणामों से पुण्य और अशुभ परिणामों से पाप का आस्रव होता है। शुभाशुभ भाव कर्मोदय से उत्पन्न होते हैं। जिन भावों के द्वारा नूतन कर्म बन्ध को प्राप्त होते हैं उन भावों को भी मूर्त कहा है। भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म के उदय के कारण आत्मा में भाव उत्पन्न होते हैं। यह परम्परा मूर्त जीव और मूर्त कर्म के साथ ही जुड़ सकती है। इन दोनों में से कोई एक भी अमूर्त हो जाए तो बन्ध नहीं हो सकेगा। चक्षु आदि इन्द्रियों से कर्म पकड़ में नहीं आते इसलिए इसे अमूर्त मानें तो आत्मा में कर्म बन्ध नहीं हो

सकेगा और आत्मा को एकान्त से अमूर्त ही मानें तो भी नूतन कर्म बन्ध नहीं हो सकेगा और कर्म के उदय में आत्मा में भावकर्म भी नहीं हो सकेगा। इसलिए भावकर्म और द्रव्यकर्म का उदय और बन्ध यह दोनों मूर्तिक हैं।

कर्म बन्ध का कारण—शुभ-अशुभ जीव के भी परिणाम हैं और कर्म के पास भी भावकर्म है क्योंकि कर्म भी आत्मा में राग-द्वेष पैदा करने की क्षमता रखते हैं लेकिन कर्म की जो भावशक्ति है वह डायरेक्ट नूतन कर्मों का बन्ध नहीं करा सकती। यदि कर दे तो किसी को भी मुक्ति नहीं मिल पायेगी। इसीलिए द्रव्यकर्म के उदय में आत्मा में भाव होंगे, तभी वह नूतन कर्म का संपादन करेगा, यह एक व्यवस्था है। शुभाशुभ दोनों नैमित्तिक भाव हैं इन भावों से जो कर्म वर्गणा के योग्य पुद्‌गल पिंड है, वही कर्म पर्याय को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे-शरीर में बुखार आया तब औषधि जो नोकर्म है उससे बुखार का निष्कासन हो जाता है। इसमें भी कई पद्धतियाँ हैं, गन्ध विशेष सूँघने से, लेप लगाने से या पेट में औषधि जाने से भी ठीक होता है। आयुर्वेद में कल्याण-कारकादि ग्रन्थों में सूची प्रयोग (इंजेक्शन) का भी प्रयोग आता है। सूची प्रयोग की पद्धति प्राचीन पद्धति है जिससे नसों में दवाई जाकर सीधे खून में मिलकर असर करती है। इसी प्रकार कर्म और आत्मा के भावों का तारतम्य बना हुआ रहता है। कुछ ऐसे भाव रहते हैं जिससे निधत्ति-निकाचित कर्मों का भी क्षय देखा जाता है। किसी को आरती उतारते-उतारते वर्षों निकल जाते हैं फिर भी कुछ नहीं होता और कोई बिना आरती उतारे एक बार भगवान् को निहारता है और खटाखट कर्मों का क्षय हो जाता है। लोग कहते हैं महाराज! हमें भी ऐसा सीधा रास्ता दिखादो जिससे जल्दी काम हो जाए। यह सब परिणामों की महिमा है, जितनी विशुद्धि होगी उतनी ही शीघ्रता से कार्य होगा। इसीलिए **चित्तप्रसादो** कहा है। जैसे परिणाम होते हैं वैसे ही कर्मों का क्षय होता है, इसमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। औषधि पेट में जाते ही जहाँ खोट है, बीमारी है उसके निष्कासन में कारण बन जाती है। मानलो आँखों में पीड़ा हो रही है, किसी ने धुँआ छोड़कर कहा कि आँखें खोल दो इससे आँखों से पानी निकलेगा और आँखें ठीक हो जायेंगी। अब वह आँखें न खोलकर मुँह और नाक खोल दे तो इससे आँखें ठीक नहीं होंगी। जो खोलने के लिए कहा था, वह न खोलकर, दूसरे स्थान को खोल दिया तो काम नहीं होगा। जिसका जहाँ पर दर्द रहता है वहाँ वैसी पैथी अपनाने से दर्द ठीक होता है।

भिन्न-भिन्न शुभ परिणामों से कर्म निर्जरा—किसी को दर्शन करने से, किसी को प्रवचन सुनने से, किसी को दान देने से, किसी को भक्ति या वैय्यावृत्ति आदि करने से कर्मों की निर्जरा होती है। यद्यपि सबके भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं, इन्हीं भिन्न-भिन्न परिणामों से कर्मों की निर्जरा होती है। अनुपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय से मानलो कोई दूसरा व्यक्ति दवाई हाथ में लेकर बैठ गया, तो क्या बुखार वाले दूसरे व्यक्ति को पसीना आयेगा? नहीं। क्योंकि दवाई को जहाँ पहुँचाना चाहिए वहाँ नहीं पहुँची तो कोई असर नहीं होगा। कुछ लोग सोचते हैं कि केवल शब्द सुनने से ही काम नहीं होगा उसका

अर्थ भी समझ में आना चाहिए। इसके लिए वह दिन-रात मेहनत करता है। तो कुछ लोग सोचते हैं कि शब्द कानों में पड़ने से ही हमारा भला हो गया, हमारे कर्ण पवित्र हो गये। महाराज जो कह रहे हैं बिल्कुल ठीक कह रहे हैं, हमें तो शान्त रहना है और कुछ नहीं करना है, ऐसे भद्र परिणाम रखते हैं। कुछ समय बाद जब दोनों स्वर्ग में देव हो गए तब दूसरे नम्बर वाले देव को प्रश्न खड़ा हो गया कि तुम तो बिल्कुल नासमझ थे, कुछ भी समझ में आता नहीं था फिर भी पहले नम्बर पर कैसे आ गये? हमने तो रात-दिन पढ़ाई की, नोट्स तैयार किये, बहुत मेहनत की इसमें प्रथम नम्बर तो हमारा आना चाहिए था, यहाँ भी पक्षपात है। वास्तव में किञ्चित् भी पक्षपात नहीं है, न पढ़ने पर भी परिणामों की विशुद्धि के कारण लाइन में आगे बैठ गया। हिन्दी में 'बहुत' और बुन्देलखण्ड में 'बहोत' कहते हैं पर दोनों का अर्थ एक ही है। 'हमई' कहने वाला भी समझता है और 'हम' कहने वाला भी समझता है। भावभासना होना चाहिए। भक्ति के बिना सही पूजा-अर्चना नहीं होती। यदि तत्त्वज्ञानी पर श्रद्धा हो गयी तो भी सम्यग्दर्शन हो सकता है। यह भावभासना है जो बाहर नहीं दिखती। तिर्यञ्च भी अक्षर श्रुतज्ञान के क्षयोपशम बिना ही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं।

उत्थानिका—अब आगे बताते हैं कि मूर्त का मूर्त के साथ तो बन्ध होता है लेकिन अमूर्त का मूर्त के साथ नहीं, और अमूर्त का अमूर्त के साथ बन्ध नहीं ऐसी जो वैशेषिक आदि मत वालों की दृष्टि है उनके लिए कहते हैं "**जीवो संसारत्थो**" जीव अनादिकाल से संसार में स्थित है और संसार, परिभ्रमण से होता है उस परिभ्रमण का कारण कर्मबन्ध है। कर्मबन्ध से ही जीव गति से गत्यान्तर होता है; शरीर, इन्द्रिय आदि प्राप्त करता है। इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण होता है इससे पुनः नूतन कर्मों का बन्ध होता है। यह एक ऐसा चक्र है जो दूसरे से सम्बन्ध रखता है। यह न समझने के कारण जीव स्वभाव की अपेक्षा जैसा अमूर्त है, वैसा ही वर्तमान में भी अमूर्त मान लें तो क्या होता है? इसे बताने के लिए मूर्तिक कर्म का स्वरूप दिखाते हैं–

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ॥१४१॥

अन्वयार्थ—**(जम्हा)** क्योंकि **(जीवेण)** जीव के द्वारा **(कम्मस्स फलं)** कर्मों का फल **(सुहं दुक्खं)**, सुख और दुःख **(विसयं)** [जो पाँच इन्द्रियों के] विषय रूप है **(णियदं)** नियम से **(फासेहिं)** स्पर्शनादि इन्द्रियों के निमित्त से **(भुंजदे)** भोगा जाता है **(तम्हा)** इसलिये **(कम्माणि मुत्ताणि)** कर्म मूर्तिक हैं।

अर्थ —कर्मों का फल जो पाँच इन्द्रियों का विषय रूप है वह नियम से स्पर्शनादि इन्द्रियों से जीव द्वारा सुख रूप से अथवा दुखरूप से भोगा जाता है इसलिए द्रव्यकर्म मूर्तिक हैं।

कर्म मूर्त हैं ऐसा जिनवर, दिव्यध्वनि में कहते हैं।
क्योंकि कर्मों का सुख-दुखमय, फल जो जीव वेदते हैं ॥

वह मूर्तिक इन्द्रिय के द्वारा, जीवों से भोगे जाते।
अतः कर्म ज्ञानावरणादिक, मूर्तिक ही सब कहलाते ॥१४१॥

व्याख्यान—कर्म मूर्त हैं और इसका फल सभी संसारी प्राणियों को भोगना अनिवार्य है। जो सुख-दुख रूप या अच्छे-बुरे के रूप में सामने आ जाता है। साता का फल सुख रूप और असाता का फल दुख रूप है। इसका उपभोग स्पर्शन आदि इन्द्रियों के माध्यम से करता है। एक अमीर है, दूसरा गरीब है। गर्मी में एक को पुण्य से छाँव मिल रही है और एक को पाप से धूप मिल रही है, दोनों ही स्पर्शन इन्द्रिय से छाँव-धूप का सेवन कर रहे हैं। इसी तरह रसनेन्द्रिय के विषय में एक के पास थाली पौष्टिक भोजन से भरी हुई आई है, दूसरे के पास रूखे-सूखे भोजन वाली है और वह भी पूरी भरी नहीं है। अज्ञानी सोचता है कि भगवान् भी पक्षपात करते हैं, भगवान् को ऐसा नहीं करना चाहिए। कोई सामान्य व्यक्ति कर दे तो भी ठीक है लेकिन जो सबसे बड़े हैं, परम पिता महोदय हैं उन्हें ऐसा पक्षपात नहीं करना चाहिए। हमने ऐसा क्या बिगाड़ा है? ऐसा अज्ञानी सोचता है। ज्ञानी सोचता है कि भगवान् तो कुछ करते नहीं, जैसा मेरे द्वारा किया गया है वैसा ही फल मिला है। जिस तरह कर्म नहीं दिखते वैसे भगवान् भी नहीं दिखते। भगवान् तो और भी अमूर्तिक हैं फिर भी धारणा तो ऐसी बनी रहती है कि यह कोई न कोई एक ही शक्ति है जो भगवान् के अलावा दूसरी नहीं हो सकती। इस प्रकार की धारणा रखने वालों के लिए कहा जा रहा है कि कर्म मूर्त हैं और उन्हीं का सुख-दुख रूप फल मिल रहा है। जैसे कर्म हैं वैसे ही नोकर्म भी हैं लेकिन नोकर्म स्थूल हैं ऐसे कर्म स्थूल नहीं हैं। फल जो मिलता है वह मूर्त के माध्यम से ही मिलता है। चाहे वह नोकर्म का फल हो या कर्म का फल हो किन्तु दोनों मूर्त हैं, यह बात युक्ति से स्वीकार लें तो सब ठीक हो जाता है। फिर बीच में किसी तीसरे को लाने की आवश्यकता नहीं है, बस इतना ही जानने के लिए तत्त्व ज्ञान आवश्यक है। हमारे पास दो चीजें हैं कर्म और कर्मफल। कर्म के माध्यम से फल मिला और कर्म जिसने किया वह कर्त्ता हुआ। कर्त्ता ने जो किया है वह कर्म है और कर्म करने वाले को ही फल मिलता है, इसलिए तीसरे व्यक्ति को न लाएँ। यह ज्यादा लम्बा-चौड़ा रास्ता नहीं है। इसमें उलझन की बात नहीं है आस्था की बात है। जानने की बात भी नहीं है क्योंकि दोनों नहीं दिख रहे हैं। अब तीसरा व्यक्ति भगवान् के सिवा कौन हो सकता है?

जैसा बोओगे वैसा काटोगे—जब कल्पवृक्ष सूखने लगे, वास्तव में कल्पवृक्ष सूखे नहीं भोगभूमि समाप्त होने लगी, उजाड़ होने लगा, तब लोग सोचने लगे कि कल्पवृक्ष से भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मिलती थीं अब बन्द हो गईं। तब भूख-भूख चिल्लाने लगे। जैसा कि पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा में तपकल्याणक के दिन मनोरंजन की अपेक्षा दिखाते हैं ''त्राहि माम्-त्राहि माम्'' वही पत्ते खा रहे हैं; वही पत्ते पहन रहे हैं क्योंकि कपड़ा समाप्त हो गया है। तब भगवान् समझाते हैं कि-सुनो! अब भोगभूमि समाप्त होने जा रही है। तो लोग कहते हैं हमें भी समाप्त कर दो। तब भगवान् कहते हैं-

नहीं, तुम्हें अब यह षट्कर्म करने हैं। कर्मभूमि के प्रारम्भ होते ही जिनका अभाव था उन एक-एक चीज को समझाया, पहले ज्योतिरांग कल्पवृक्ष के कारण सूर्य-चन्द्रमा नहीं दिखते थे, अब दिखने लगे। जिस प्रकार बच्चे को माता-पिता समझाते हैं उसी प्रकार युग के आदि में भगवान् ने समझाया। ऐसा क्यों हो गया? ऐसा पूछने पर कहा कि-कर्म के उदय से ऐसा होता है। कर्म सूक्ष्म हैं अतः उनके बारे में ज्यादा नहीं बताया क्योंकि अभी भगवान् को केवलज्ञान नहीं हुआ। उन्होंने **''शशास कृष्यादिषु''** कृषि आदि का उपदेश दिया, बीज बोने पर वर्षा हुई और गन्ना उग आया। कर्मों के फल भी ऐसे ही मिलते हैं। गन्ना बोया है तो अच्छा मीठा स्वाद आयेगा। 'जैसा बोओगे वैसा काटोगे।

कर्म और कर्मफल; वैज्ञानिकों के सामने चुनौती—विज्ञान को यह मालूम नहीं है कि भावों के द्वारा कर्म बोया जाता है फिर वही कर्मफल के रूप में उग आता है। वैज्ञानिकों के सामने यह चुनौती है, उन्हें इसका उत्तर आजतक नहीं मिला और शायद मिलने वाला भी नहीं है। 'जैसा बोयेंगे वैसा काटेंगे' ऐसा कहना आसान है लेकिन इसका रहस्य कर्म और कर्मफल सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है। जो कर्म ही नहीं मानता वह कर्मफल कैसे स्वीकारेगा? अज्ञानी मानता है यह सब भगवान् ने दिया है। जब समाप्त हो जायेगा तो पुनः माँग लेंगे, भगवान् दे देंगे। भगवान् ऊपर होते हैं ऐसा उनका विश्वास है। नीचे होते हैं ऐसा आजतक किसी ने नहीं कहा। **''संयोगाभावात् पतनम्''** संयोग का अभाव हो जाने से पतन हो जाता है। ऐसा कोई भी सूत्र आगम में दृष्टिगोचर नहीं होता। चतुर्थ शुक्लध्यान से शरीर और शरीर को बनाने वाले सारे कर्म समाप्त हो गये। संयोग का अभाव होते ही ऊर्ध्वगमन स्वभाव प्रकट हो गया। संसार और मोक्ष, कर्म के संयोग और वियोग पर आधारित हैं। इस प्रकार कर्म भी सुख और दुख के रूप में फल देते हैं। ''जैसी करनी वैसी भरनी'' यह सिद्धान्त सभी लोग मानते हैं। अपना-अपना नसीब है ऐसा लोग बोलते हैं। अपना-अपना नसीब भी अपने द्वारा ही बनाया हुआ है। कोई गरीब है, कोई अमीर है इसके अलावा कोई हमारा इतिहास नहीं है। ज्यादा जानकारी की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना ही सीख लो, तीसरे को बीच में मत लाओ, मोक्षमार्ग में इतना ही काम करना है। कर्म सिद्धान्त पर दृढ़ श्रद्धान करना है, इसके आगे कुछ है ही नहीं। किसी के पास घने कर्म हैं तो किसी के पास हल्के हैं। इसमें अन्य कोई आकर कर्मों को न तो घना बना सकता है न हल्का **''न ददाति कश्चित् कर्म न कर्म फल संयोगः स्वभावस्तु प्रवर्तते''** यह गीता के वाक्य हैं। कोई आकर कर्म का फल देता हो ऐसा नहीं है। ऐसा कुछ भी लेन-देन यहाँ नहीं होता है 'न लेना, न देना, मगन रहना' (हँसी) हाँ! हँसने की बात नहीं है। ज्यादा से ज्यादा गुरु चरणों में हमको लिपटे रहना है यह बात भजन में कही गई है।

कर्म मूर्तिक हैं और कर्मों का भोक्ता भी मूर्तिक है—क्षायिकज्ञानी सर्वज्ञप्रभु तेरहवें गुणस्थान वाले हैं और नीचे के जो क्षयोपशम ज्ञान वाले श्रद्धालु हैं वह श्रुतज्ञान के ऊपर विश्वास करके कहते हैं कि बिल्कुल ठीक है, मेरा किया हुआ ही मुझको मिलेगा। जिन्हें यह श्रुतज्ञान का

क्षयोपशम हुआ है वह क्षायिकज्ञान नहीं है। यह क्षयोपशम चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक चलता है। सबका विश्वास एक-सा रहता है कि जैसा किया है वैसा ही उदय में आ रहा है। कर्म मूर्तिक हैं तो कर्मोदय से प्राप्त सुख-दुख जो भोग रहा है, वह भी मूर्तिक है। मूर्तिक के माध्यम से मूर्तिक का निर्माण होता चला जाता है। जैसा बोते हैं वैसा ही काटना पड़ता है। वट का बीज राई से भी छोटा होता है और वृक्ष विशाल हो जाता है। चार-चार वर्ग किलोमीटर तक फैला रहता है। कलकत्ता के पास विशाल वटवृक्ष है जिसमें अनेक जटाएँ पृथ्वी में घुस करके उगने लगी हैं जैसे मूल ही हों, लेकिन कौन मूल है यह पता नहीं चलता। मूल और जटा सब एक-सी लगती हैं। उस बीज से उसकी कितनी ही जटाएँ या शाखाएँ निकलें, सब खसखस के दाने के बराबर बीज की ही सत्ता है।

भाव रूपी बीज के द्वारा कर्मों की खेती—आत्मा भी ऐसा ही है भाव रूपी बीजों के द्वारा कर्मों की खेती करता रहता है और कर्म का फल पाँच इन्द्रिय के विषय के रूप में ही प्राप्त होता है। मन का विषय नहीं बनाया वस्तुतः पञ्चेन्द्रिय के तो विषय हैं, मन का विषय कोई है ही नहीं। अच्छा-बुरा ये केवल विकल्प हैं जो श्रुतज्ञान के द्वारा उत्पन्न होते हैं। पञ्चेन्द्रिय के विषयों में कोई अच्छा-बुरा है ही नहीं, क्योंकि किसी के लिए जो हानिकारक है वही दूसरे के लिए लाभप्रद भी होता है। जैसे-किसी के लिए धूप शक्ति प्रदान करने वाली है तो किसी को बुखार बढ़ाने के लिए कारण होती है जबकि धूप वही है, इसलिए मन का कोई विषय नहीं है।

जीव इन्द्रियों के द्वारा कर्म फल का भोक्ता है। इसमें भी विषयों से रहित परमात्मा की भावना से उत्पन्न सुखामृत रसास्वादन को छोड़कर जो बाहर आया है उसी जीव को प्रसंग में लिया गया है। जब निजानन्द रसपान छूटता है तभी पञ्चेन्द्रिय के विषयों की ओर दृष्टि जाती है। स्पर्शन इन्द्रिय से रहित जो अमूर्त शुद्धात्म तत्त्व है उससे विपरीत पञ्चेन्द्रिय के विषय हैं। इस प्रकार स्वभाव-विभाव दोनों का कथन करते हैं अथवा पञ्चेन्द्रिय विषय रूप कर्मफल हैं।

पञ्चेन्द्रिय के विषय हर्ष-विषाद के कारण हैं—यद्यपि शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा पारमार्थिक सुख अमूर्त है, परम आह्लाद रूप है। उसकी अपेक्षा कर्मफल भिन्न हैं, हर्ष-विषाद जन्य हैं। यदि हमारा ज्ञान इसमें राग-द्वेष न करे तो हर्ष-विषाद उत्पन्न नहीं हो सकते। कोई अंधा व्यक्ति है उसके हाथ में किसी ने पारसमणि दे दी और कहा-कि लो यह बहुत अच्छी वस्तु है। तब उसे जिसके प्रति आत्मीयता थी उसके पास जाकर दिखाता है और कहता है कि-मुझे एक व्यक्ति के माध्यम से यह पारसमणि मिली है, जिसको देखते ही वह हँसने लगता है, मनोरंजन कर लेता है क्योंकि एक खप्पर को उसने पारसमणि मान लिया है। इसी प्रकार जिसे ज्ञान नहीं है वही पञ्चेन्द्रिय विषयों में अंधे की भाँति हर्ष-विषाद करता है एवं उसका श्रुतज्ञान भी विपरीत कार्य करता है। लेकिन ज्ञानीजन '**बहिर्दुःखेष्वचेतनः**' केवल दुख में ही अचेतन जैसे हो जाते हैं ऐसा नहीं, '**बहिर्सुखेष्वचेतनः**'

बाहरी सुख में भी अचेतन रहते हैं। इससे सुख में प्रशंसा के रूप में और दुख में निन्दा के रूप में लोगों के शब्द सुनकर भी बाह्यवृत्ति समझकर भीतर चले जाते हैं और ऊपर उठ जाते हैं। जिसके पास भीतर जाने की क्षमता नहीं है उसे ठण्ड में शीत लहर और गर्मी में लू लगेगी क्योंकि गुप्तियाँ हैं ही नहीं। पहले ज्ञान होता है ज्ञानचेतना बाद में होती है।

कर्म और कर्मफल चेतना बाह्य कर्म की ओर ले जाती है, इसमें हर्ष-विषाद होते रहते हैं। संयमी जब हर्ष-विषाद नहीं करता तब गुप्ति में आ जाता है। सम्यग्दृष्टि भी आंशिक रूप से अर्थात् श्रद्धापेक्षा स्वरूप गुप्त हो जाता है। पञ्चेन्द्रिय विषयों में हर्ष रूप परिणति सुख और विषाद रूप परिणति दुख है, भावात्मक होने से यह अमूर्त है। आम्रफल को देखकर सुख और धतूरे का फल देखकर दुख होता है। वास्तव में सुख-दुख मान्यता के ऊपर आधारित हैं। जो विदेशी साहित्य है उसमें लिखा है कि स्वर्गों में सुख के अलावा कुछ नहीं और नरक दुखों से भरा हुआ है। उस साहित्य में आत्मा की कोई बात नहीं है। कितना भी छान लें उसमें विषय सुख और दुख के अलावा कुछ नहीं मिलेगा। ये पञ्चेन्द्रिय के विषय ही हर्ष-विषाद के कारण हैं। लेकिन हर्ष-विषाद बाहरी विषय नहीं है। किसी ने स्वादिष्ट पदार्थ खाया था, निबौली नहीं खाई फिर भी मुँह कड़वा हो गया क्योंकि पाचन तन्त्र खराब होने से अपच हो गया, इसलिए मुँह में कड़वाहट आ गई। अब दूसरे व्यक्ति को मीठा नहीं मिला उसने मात्र सब्जी खाई लेकिन उसे पच गई और मुख में मीठे का अनुभव होने लगा, जबकि उसने मीठा गुड़ नहीं खाया था इसलिए पाचनतन्त्र को अच्छा रखो। सुख-दुख की भाँति यह भी अमूर्त है क्योंकि पाचनशक्ति की कोई फोटोग्राफी नहीं होती, सोनोग्राफी करने पर पेट खाली आ जाए तो अनुमान लगा लेते हैं कि यहाँ कुछ नहीं है अर्थात् स्वस्थ है। कुछ आता है तो दोष स्वरूप अस्वस्थ दशा है यह समझ लेते हैं। जब कभी तन्त्र में गड़बड़ी हो जाए, अतिमात्रा में पानी पीने में आ जाए तो कमण्डलु के पानी जैसा गुड़-गुड़ आवाज करता है। पेट में पानी जैसे गुड़-गुड़ करता है वैसे ही भीतर की हवा (वात) भी गुड़-गुड़ करती है। तब वैद्य लोग पूछते हैं-पेट कैसा बोलता है? पेट के बोलने में जो ध्वनि है उसकी घण्टी अलग है उससे पहचान जाते हैं कि पाचनशक्ति गड़बड़ है। यह एक क्षमता का नाम है जो किसी ग्राफी में नहीं आ सकती।

इसीलिए आचार्यों का कहना है कि जो अच्छे या बुरे भावों की तरंगें हैं वह अशुद्ध निश्चयनय से जीव के विचार हैं। अच्छे या बुरे का जो संवेदन है उसकी अनुभूति स्वयं को ही महसूस होती है, जिसको मान्यता कहते हैं। मानलो किसी का बिगाड़ हो गया और हजारों व्यक्ति कह रहे हैं, बहुत बुरा हुआ, लेकिन एक व्यक्ति कहता है कि अच्छा हुआ, यह उसकी मान्यता है क्योंकि उसकी उससे बनती नहीं है उसकी पार्टी अलग है। यह उसकी जो मान्यता है उसी पर लेश्याएँ आधारित हैं। **स्फटिकमणि की माला फेरते हुए भी कृष्ण लेश्या हो सकती है। बाहर में स्फटिक की माला और भीतर में डामर की गोलियाँ अर्थात् कृष्ण लेश्या रूप भाव हैं।** पर वह दिखते नहीं हैं, कथञ्चित् क्रिया

देखने में आती है। आठ दिन के उपवास का संकल्प करके, हाथ में स्फटिक की माला लेकर, शान्तिनाथ भगवान् के सामने चटाई बिछाकर, पद्मासन से बैठकर अगरबत्ती आदि से सुगन्धित वातावरण करके, प्रभु की ओर दृष्टि रखकर जाप दे रहा है, यहाँ बाहर की क्रिया दिख रही है किन्तु अन्दर में ''**रामस्य हणं भूयात्**'' इस तरंग को कोई सुन नहीं पाता। ऐसी स्थिति में भी वह मन्त्र सिद्ध हो जाता है क्योंकि यहाँ मिथ्यादर्शन या सम्यग्दर्शन से कोई मतलब नहीं, बल्कि मिथ्यादृष्टि तो समय से पहले भी सिद्ध कर सकता है क्योंकि यह रसायन शास्त्र विधि-विधान पर आधारित है। रावण को बहुरूपिणी विद्या सिद्ध हो गई। उस समय राम को नहीं हो पाती क्योंकि राम का चित्त स्थिर नहीं है, सीता का विकल्प है। यह मोह नहीं है। ध्यान रखना, क्योंकि उन्होंने अग्नि की साक्षी में संकल्प लिया था कि जब तक घर में रहेंगे एक दूसरे के पूरक बनकर रहेंगे। जब घर छोड़ेंगे तो ''हम न किसी के कोई न हमारा'' मतलब विवाह एक बन्धन होता है।

आपस में सहयोगी बनने की प्रेरणा—एक हाइकू है-''**पूरक बनो/सिंह से वन सिंह/वन से बचा**'' जंगल यदि नहीं कटता है तो अन्य प्राणियों का संरक्षण अपने आप हो जाता है और वन्य पशु जब तक वहाँ पर रहते हैं तब तक काटने के लिए कोई जा कैसे सकता है? साहस करके यदि कोई चला भी जाए तो सिंह की एक दहाड़ सुनकर भाग जाता है। बात स्पष्ट है कि सिंह के कारण जंगल नहीं कटता और जंगल के कारण सिंह नहीं कटता, जंगल में वह अपने आप ही रक्षा कर लेता है। इसलिए जंगल की रक्षा जंगल के राजा के द्वारा और जंगल के राजा की रक्षा जंगल के द्वारा होती है, इसलिए पूरक बनो यह कहा। आपस में एक दूसरे के सहयोगी बनें। जंगल में रहना है तो जंगली जानवरों से मित्रता रखनी चाहिए। लेकिन जंगल में रहने से जंगली हो जाएँ ऐसा नहीं। मुनिराज जंगल में रहते तो हैं, पर जंगली नहीं होते। एक दूसरे के आश्रय लेकर के चलेंगे तो दोनों का ही संरक्षण होगा अन्यथा नहीं, यह वस्तु का स्वरूप है।

सुख दुख के अनुभव के समय भी कर्म निर्जरा सम्भव—स्पर्शन आदि पञ्चेन्द्रिय का जो सुख है वह मूर्त इन्द्रियों के द्वारा ही भोगा जाता है इसलिए सुख-दुख आदि मूर्त हैं जो कि कर्म का कार्य है। कर्मोदय से जो सुख-दुख जीव में उत्पन्न हुए उसमें भी निर्जरा हो सकती है, ऐसा **समयसार** में कहा है-

दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च।
तं सुहदुक्ख मुदिण्णं वेददि अथ णिज्जरं जादि ॥२०३॥

द्रव्यकर्म का उदय होगा तो निश्चित रूप से विषयों का उपभोग होगा और उपभोग होगा तो सुख-दुख रूप फल मिलेगा। लेकिन सुख-दुख का संवेदन करना राग-द्वेष नहीं है, सुख में अच्छा मानना राग और दुख में बुरा मानना द्वेष है, इससे पुनः कर्म बँधते हैं। मात्र कर्म के उदय के कारण कर्म नहीं बँधते। कर्मोदय से सुख-दुख का अनुभव होता है इसमें कोई बाधा नहीं है। क्योंकि जैसी

चीज है वैसा ही तो स्वाद लेंगे, कड़वी है तो कड़वा और मीठी है तो मीठा ही तो स्वाद लेंगे। किन्तु कड़वे को नहीं, मीठे को लाओ और लाओ, कितना अच्छा स्वाद है यह गड़बड़ है। जीवन में कर्म का उदय तो प्रतिसमय चल रहा है, अन्तर के बिना निरन्तर चल रहा है, एक समय का भी अन्तर नहीं है। कर्मोदय में भी भाव परक जो अन्दर का ग्रन्थ है वह सबसे उत्तम माना है उसे पढ़ना चाहिए। इसे कभी भी पढ़ सकते हैं।

एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणग सहावं।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥२०९॥ (समयसार)

निश्चय सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा को ज्ञायक स्वभाव वाला मानता है और तत्त्व को जानता हुआ कर्म के विपाक को छोड़ देता है। वास्तव में वह छोड़ता नहीं, छूट रहा है क्योंकि इसमें वह हर्ष-विषाद नहीं करता है। जिससे प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्म की निर्जरा करता है। द्रव्य का उपभोग करने से कर्मोदय होगा और निश्चित रूप से सुख-दुख का अनुभव होगा, किन्तु हर्ष-विषाद न करने के कारण सुख-दुख का अनुभव करते हुए भी वे कर्म की निर्जरा करते हैं यह ज्ञान की बात है। इस प्रकार नैयायिक मत के जो शिष्य हैं उन्हें सम्बोधित करते हुए नय विभाग के द्वारा पुण्य और पाप दोनों मूर्त हैं इसके समर्थन में एक गाथा के द्वारा तृतीय स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—आगे मूर्तिक कर्म का और अमूर्तिक जीव का बन्ध किस प्रकार है यह कथन करते हैं–

मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि ते तेहिं उग्गहदि ॥१४२॥

अन्वयार्थ—(मुत्तो मुत्तं फासदि) मूर्तिक मूर्तिक को स्पर्श करता है। **(मुत्तो मुत्तेण)** मूर्तिक कर्मपुद्गल मूर्तिक कर्म के द्वारा **(बंधं)** बंध को **(अणुहवदि)** प्राप्त होता है। **(मुत्तिविरहिदो जीवो)** अमूर्तिक जीव **(ते गाहदि)** उनको ग्रहण करता है और **(तेहिं उग्गहदि)** मूर्तिक कर्म जीव को अवगाह देते हैं (अर्थात् दोनों एक-दूसरे में प्रवेशानुप्रवेश को प्राप्त करते हैं)।

अर्थ—मूर्त, मूर्त को स्पर्श करता है। मूर्त, मूर्त के साथ बन्ध को प्राप्त होता है; मूर्तत्व रहित जीव मूर्त कर्मों को अवगाह देता है और मूर्त कर्म जीव को अवगाह देते हैं अर्थात् दोनों एक दूसरे में प्रवेशानुप्रवेश को प्राप्त करते हैं।

संसारी मूर्तिक जीवात्मा, मूर्त कर्म का स्पर्श करे।
मूर्त-मूर्त के साथ बन्ध हो, ऐसा श्री जिनदेव कहें॥
निश्चय से है जीव अमूर्तिक, किन्तु कर्म को अवगाहे।
मूर्त कर्म भी जीव तत्त्व को, एक क्षेत्र में अवगाहे ॥१४२॥

व्याख्यान—मूर्त पदार्थ से ही मूर्त पदार्थ स्पर्शित या सम्बन्ध को प्राप्त होता है अथवा बन्ध

को प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न दो पदार्थों के अस्तित्व को एक क्षेत्रावगाह रूप करके एक रूप में परिवर्तित करना बन्ध है तथा बन्ध होने से पूर्व सम्बन्ध को प्राप्त करना स्पर्श है। यद्यपि जीव निश्चयनय से मूर्तिक नहीं है, पर संसारी प्राणी कर्मबन्ध की अपेक्षा मूर्तिक है। जैसे-हल्दी और चूने का मिश्रण करने से लाल रंग का निर्माण हो जाता है। उसमें हल्दी २५० ग्राम और चूना भी २५० ग्राम है दोनों मिलाने पर ५०० ग्राम ही है लेकिन उसमें न चूने का दर्शन हो रहा है, न ही हल्दी का, पूरा लाल हो गया। वैसे ही जीव एकान्त से अमूर्त है और कर्म एकान्त से जड़ ही है ऐसा मानने से सब समाप्त हो जायेगा। चेतना में विकृति पैदा करने की क्षमता जड़ कर्मों में है और किसी में नहीं है। जिस प्रकार हल्दी और चूना दोनों ही मिलने पर विकृत हो जाते हैं तथा किसी रसायन के द्वारा इन्हें पृथक्-पृथक् किया जा सकता है उसी प्रकार जीव और कर्म में भी एक दूसरे के संयोग से जो विकृति आई है, वह शुद्ध हो सकती है यही तात्पर्य है।

अमूर्त जीव का मूर्त कर्मों से बन्ध किस प्रकार?—अनादि से जीव कर्म बद्ध है इसीलिए अमूर्त स्वभावी होने पर भी कर्म का प्रभाव जीव के ऊपर पड़ जाता है और जीव कर्मों को ग्रहण करने लग जाता है। बिना जंग लगा जो शुद्ध लोहा होता है उसे भी आजकल कई कंपनियाँ बना रही हैं लेकिन कितनी अवधि तक जंग नहीं लगेगा इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते। लोहे का परिवर्तित रूप जो स्टील है वह अनेक धातुओं के मिश्रण से बनता है, पर मुख्य उसमें लोहा ही रहता है। ताँबा जंग नहीं खाता है इसलिए ताँबे का अंश भी मिलाते हैं। प्राचीन काल में बाँध का निर्माण करने में ताँबे का प्रयोग भी किया जाता था। वास्तु के हिसाब से जिनमन्दिरों में ईंट, पत्थर और गारे से काम करते थे, लोहा नहीं लगाते थे क्योंकि लोहे के कारण कुछ विकृतियाँ आ जाती हैं, वैसे ही जीव और पुद्गल के सम्पर्क से विकृति आ जाती है। जो लोग इस धारणा से युक्त हैं कि अनन्तकाल से राग-द्वेष परिणति चल रही है तो अब वह छूटना मुश्किल है। अब तो वह आदत, अभ्यास या व्यसन के रूप में हो गई है उसे छोड़ना बहुत कठिन है। यदि उसे कहें कि नहीं छोड़ोगे तो मर जाओगे तो उसी समय छोड़ने को तैयार हो जायेगा, हमारे कहने से तैयार नहीं होगा, लेकिन जीवन-मृत्यु की बात आ जायेगी तो वह तैयार हो जायेगा लेकिन ऊपरी तौर पर छोड़ेगा, अन्तरंग से राग-द्वेष छूटना मुश्किल है। मूर्तिक के साथ रहकर जीव की दशा भी मूर्तिक हो गयी है।

सम्यग्दृष्टि जीव अन्तर्मुहूर्त में सर्व कर्म क्षय करने में समर्थ—राग के माध्यम से कर्म बँधते हैं, तो वैराग्य के माध्यम से झड़ते हैं। विकार रहित शुद्धात्म भावना से उपार्जित अनादिकालीन सन्तान क्रम से जीव में कर्म पहले से ही बँधा है। पहले का अर्थ एक समय पूर्व भी पहले कहलायेगा और अनागत जितना भी है वह भी पूर्व होने वाला है। वर्तमान का मात्र एक समय है। रविवार कब तक रहता है? जब तक सोमवार नहीं आता है और शनिवार जब तक है तब तक रविवार नहीं आता, बीच में कोई अन्तर नहीं रहता है। पूर्व जीवन का अर्थ एक समय पहले भी होता है। बँधा हुआ कर्म

अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय में आ सकता है। बैंक में खाता खोला और २० लाख रुपये जमा कर दिये। यदि उसे निकालना है तो उसकी एक अवधि रहती है। अवधि के बाद बैंक से रुपये निकालने के लिए ज्यादा प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसी तरह सम्यग्दृष्टि होने के उपरान्त अन्तर्मुहूर्त में अशुभ कर्मों को निर्जरित करके निकाल सकते हैं। सम्यग्दृष्टि की अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति से अधिक स्थिति नहीं पड़ती। वह अन्तर्मुहूर्त में अशुभ कर्मों की निर्जरा भी कर सकता है तो पुण्य बन्ध करके अन्तर्मुहूर्त में ही काम में भी ले सकता है क्योंकि अन्तर्मुहूर्त की आबाधा पूरी करके ही उसमें फल देने की क्षमता आ जाती है। यदि किसी ने ७० कोड़ाकोड़ी सागर का भी बन्ध कर लिया है तो भी क्षयोपशम आदि लब्धियाँ प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त में उसका क्षय कर सकता है। इसी तरह शुभ कर्मों का भी क्षय कर सकता है। इस प्रकार विकार से रहित शुद्धात्म तत्त्व के ज्ञान के अभाव से उपार्जित अनादिकाल से संतान क्रम से जो कर्म आया है इसके कारण संसारी प्राणी मूर्त कहलाता है। आजकल बैंक में भी लोन वगैरह की व्यवस्था होती है उसमें भी कुछ नियम होते हैं। जैसे– दिवालिया हो तो नहीं मिलेगा अर्थात् उसकी प्रतिष्ठा होना चाहिए। कूबत के अनुसार मिलता है, ऐसा नहीं कि हर कोई १० लाख रखे और २० लाख निकाल ले, यह उसकी प्रतिष्ठा पर आधारित है। अनादि से मिथ्यादृष्टि था, सम्यग्दृष्टि होते ही उसका व्यक्तित्व बढ़ जाता है तो अन्तर्मुहूर्त में सर्व कर्म का क्षय कर सकता है इसीलिए यह उदाहरण दिया।

कर्म बन्ध किस प्रकार होता है? संसारी जीव स्पर्श, रस आदि से युक्त होने के कारण नूतन कर्म के सम्पर्क में आ जाता है। ऐसी स्थिति में अमूर्त, अतीन्द्रिय, निर्मल आत्मानुभूति से रहित होने से जीव मिथ्यात्व रागादि परिणाम से परिणमन कर लेता है। फिर पूर्व में किए हुए मूर्त कर्म के उदय के निमित्त को लेकर मिथ्यात्वादि परिणामों के कारण नूतन कर्म बँध जाते हैं। क्योंकि उपादान कारण के अनुसार ही संश्लेषरूप से कर्म बन्ध होता है और पूर्व का जो बँधा हुआ कर्म है वह ज्यों का त्यों बना रहता है। जैसे १०–१० रुपये के नोट का एक बंडल बना दिया, दूसरा १००–१०० रुपये के नोट का बंडल बना दिया, तीसरा १०००–१००० रुपये के नोट का बंडल बनाकर उसके नीचे रख दिया सबका स्पर्श हो रहा है। चवन्नी, अठन्नी लगाकर अलग रख दीं। इसके उपरान्त सेठ साहूकार फर्राटे से गिनते हैं, इधर–उधर देखते भी रहते हैं और अभ्यास होने के कारण गिनती भी चलती रहती है। यहाँ आकर कहते हैं कि महाराज! हमारी स्मृति भंग हो रही है, अरे! जब उधर इकट्ठी होती जा रही है तो इधर तो भंग होगी ही। बूढ़े लोग बच्चों से कहते हैं कि तुम अपना काम करो, इधर हम अपना काम कर लेंगे और बैठे–बैठे रुपये गिनने का काम करते रहते हैं। इसी तरह कर्म बन्ध का काम भी चलता रहता है। पहले समय में बँधे कर्म की स्थिति और अनुभाग अलग होगा और दूसरे समय वाले का भिन्न रहेगा। यह सारे विभाजन उसमें रहते हैं। जैसे कौन से सन् के कितने नोट हैं पहले विभाजन करके रखते थे फिर जो कोई सन् के माँगते थे वही निकालकर दे देते थे। इसी प्रकार भिन्न–भिन्न समयवर्ती

कर्म भी संसारी प्राणी के पास अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न स्थिति-प्रदेश को लेकर बँधे रहते हैं। वहीं पर दूसरे जीव भी हैं उनका अलग-अलग खाता रहता है। एक ही बैंक में लाखों लोगों के खाते हो सकते हैं लेकिन सबकी भिन्न-भिन्न व्यवस्था रहती है। किसी ने जनवरी में १० लाख रुपये रखे और मार्च में ५ लाख रखे लेकिन ब्याज सबका अलग-अलग आता है। भले ही १५ लाख रखे हैं किन्तु १० लाख की अलग तारीख है, ५ लाख की अलग है अतः सबका ब्याज एक सा नहीं होगा, कंडीशन भिन्न-भिन्न रहती हैं। पहले ५ साल में डबल हो जाता था, अब ८ साल में भी नहीं होता। अब तो जमा करने वाले को उल्टा ब्याज देना पड़ता है। एक तो धन की रक्षा करें और ऊपर से ब्याज दें, ऐसा कैसे हो सकता है? U.S.A., स्विटजरलैण्ड में जो बैंक हैं, सुनते हैं उसमें एक बैंक में तो कम से कम ५० करोड़ से ही खाता खुलता है, ऐसा नहीं कि एक लाख रुपया रख लो। उसमें नाम गुप्त रहता है केवल नम्बर दिये जाते हैं जैसे-कॉलेज में रोल नम्बर देते हैं। वैसे ही काला धन जमा करने वाली बैंकों में भी होता है, ऊपर से ब्याज लेते हैं। अब जमाना बदल गया है।

आत्मा में संश्लेष रूप से कर्मों का बन्ध होता है इसके लिए कहीं आना-जाना नहीं है। संसारी जीव भी मूर्त हैं और कर्म भी मूर्त हैं अतः इन दोनों का बन्ध होता है जबकि शुद्ध निश्चयनय से जीव मूर्तिकपने से रहित है। जैसे विज्ञान कहता है कि-प्राणवायु ऑक्सीजन और हाइड्रोजन से मिलकर जल बनता है। ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दोनों को अनुपात से रख करके उसे बन्द करके तपाया जाता है तो दोनों आकर मिल जाते हैं और वहाँ पर एक-एक बूँद आने लग जाती है। पहले जिन दोनों वायु को देख नहीं पा रहे थे किन्तु अब इनका मिश्रण होने से जल का निर्माण हो जाता है तो दिखने लगता है। इसी प्रकार अमूर्त भी मूर्त होकर सामने आ जाता है। जीव की दशा ऐसी ही दोनों वायु जैसी है, जैसे दो वायु के मिलने से जल बन जाने पर न ऑक्सीजन का दर्शन कर सकेंगे, न ही अंगारान्यवायु को देख सकेंगे एवं ज्यों ही पानी तप करके वाष्प बनकर उड़ जाता है तो पानी गायब हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तन होता रहता है।

ऐसी ही रसायन पद्धति के अनुसार जीव के परिणामों के निमित्त से कार्माण वर्गणाएँ कर्म रूप में आ जाती हैं जो पानी का रूप धारण कर बरस पड़ती हैं अर्थात् अनेक आपत्तियाँ आ जाती हैं। उदाहरण में दोनों हवाओं का सम्मिश्रण अनुपात से होने पर ही जल का निर्माण होता है। जिस प्रकार ऑक्सीजन तो पहले से ही जार में रहता है कहीं से लाना नहीं पड़ता, उसी तरह जीव को कहीं आना जाना नहीं पड़ता, बन्ध योग्य परिणाम होते ही कार्माण वर्गणाएँ कर्म रूप परिणत हो जाती हैं। प्रत्येक जीव के स्वयं के परिणामानुसार ही कार्माण वर्गणाएँ चिपकती हैं क्योंकि वहीं पर अन्य जीव भी हैं परन्तु उनसे नहीं चिपकेंगी। जैसे-कोई सोलहकारण भावना द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर रहा है उसके आत्मा के प्रदेशों पर कई निगोदिया जीव भी बैठे हैं किन्तु उन्हें तीर्थंकर प्रकृति नहीं बँधेगी। कर्म सिद्धान्त कितना सूक्ष्म है, कोई एक भावना भावे और फल दूसरे को मिले, ऐसा नहीं हो सकता।

इसमें से चोरी भी नहीं हो सकती और बाँटना भी चाहें तो कर्म बाँट नहीं सकते। ऐसा हो सकता तो निगोदिया जीवों को भी तीर्थंकर बना देते, किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। मानलो परिवार के किसी एक सदस्य ने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कर लिया तो वह दूसरे को दे नहीं सकता। जैसे–बैंक में खाता खोल दिया तो दूसरे के नाम से वह काम नहीं चला सकता। जिसके नाम से खाता खुला है हस्ताक्षर भी उसी के होंगे तभी रुपया मिलेगा, भले ही एक परिवार में रहते हैं। बैंक में हिसाब–किताब तो अपने–अपने नाम का ही रहता है उसी तरह कर्म सिद्धान्त में भी अपना–अपना हिसाब–किताब रहेगा। जिसने जैसा कर्म बाँधा उसको वैसा ही फल मिलेगा, अन्य को नहीं और जितनी स्थिति बँधी है उसकी आबाधा के पूर्व नहीं मिलेगा। कोई कृपा या अनुग्रह करके पहले ही फल दे दे ऐसा नहीं होता।

वीतराग परिणामों से ही कर्म नष्ट सम्भव—अमूर्त, अतीन्द्रिय, निर्विकार, सदानन्द लक्षण वाला जो सुखामृत रसास्वाद है उससे विपरीत रागादि परिणामों के कारण यह जीव कर्म वर्गणा के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। **तत्त्वार्थ सूत्र** में **''मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय-योगा बन्धहेतवः''''सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुदगलानादत्ते स बन्धः''** यह जीव कषाय के कारण कर्म का बन्ध करता है और कर्म के कारण कषाय वाला होता है। कर्म योग्य जो पुद्गल वर्गणाएँ हैं उसे ग्रहण करता है। **'आदत्ते'** का अर्थ ग्रहण करना है। दो पृष्ठों के बीच में गोंद लगाकर चिपका दिया जाता है ऐसा बन्ध नहीं होता है। बन्ध तो दूध और पानी के मिश्रण के समान होता है। जिस प्रकार दूध और पानी मिलकर एकमेक हो जाते हैं तब किसी भी मशीन द्वारा उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। केवल एक ही उपाय है जिन रागादि भावों से बन्ध हुआ है उससे विपरीत जो वीतराग परिणाम हैं उसी से यह नष्ट हो सकते हैं। एक मास्टर चाबी होती है जिससे तिजोरी भी खुल जाती है। होशियार व्यक्ति उस मास्टर चाबी से चाबी बना लेते हैं और उससे खोलकर सब माल निकाल लेते हैं। लेकिन ऐसी कोई चाबी नहीं बनी जिससे दूसरे के खाते को खोल दे अथवा समय से पहले ही स्वयं के कर्म के खाते को समाप्त कर दे। जब तक वह उदय में नहीं आयेगा तब तक खाता वैसा ही रहेगा, पुण्य और पाप को बाँधा है तो फल भोगना ही पड़ेगा।

एक स्थान पर श्रीराम ने प्रार्थना की है कि हे भगवन्! मैंने जो पुण्य बाँधा है उसके उदय में कभी ऐसी गलती न हो जाए कि अभिमान आ जाए, भावों में क्रूरता आ जाए, अपना बड़प्पन दिखाने लग जाऊँ, दूसरों पर अधिकार करने लग जाऊँ। हे भगवन्! मैंने जो पूर्व में पुण्य किया है उस पुण्य के फल में मुझे मद न आये। यह कितनी अच्छी प्रार्थना है जो कि बलदेव राम ने की थी। क्योंकि महापुरुषों के पास ऐसा अटूट पुण्योदय रहता है जिसके फल को भोगते–भोगते भी वह समाप्त नहीं हो पाता। यहाँ से भोगभूमि में भोगा फिर स्वर्ग में सागरोपम आयु तक भोगकर नीचे आये तो चक्रवर्ती आदि होकर भोगते रहे। इस तरह अपने आपको पुण्यफल भोग से बचाना बहुत कठिन होता है। पुण्य के उदय में मन न पिघले यह बहुत कठिन होता है। पाप का उदय आ जाए तो थोड़े–बहुत आँसू

बहाकर बैठ जाए तो चल जाता है लेकिन पुण्योदय में आँसू तो बहा नहीं सकते। आँसू बहाकर हल्का होने का तरीका पापोदय में सम्भव है किन्तु पुण्योदय में कुछ बहा नहीं सकते, इसीलिए पुण्य को भोगना बहुत कठिन है। जीव उसमें अति आसक्त हो जाता है। राम जंगल में गए तो वहाँ भी भीड़, भवन में थे तब भी भीड़, मित्र तो पैर छूते ही थे लेकिन शत्रु भी छूते थे। इस पुण्य फल में सन्तुलन बनाना बहुत कठिन है। इस प्रकार भूल से कर्म बँध जाते हैं, अन्दर में बन्ध की प्रक्रिया बुद्धिपूर्वक नहीं है। हाँ, बुद्धिपूर्वक कुछ समझ सकते हैं। बन्ध के समय कुछ पता नहीं चलता, जब उदय में आता है तब पता चलता है कि हे भगवन्! कैसे भोगूँ? लेकिन बाँधा है तो भोगना ही पड़ेगा।

कर्म वर्गणाएँ आत्मा के प्रदेशों पर ही स्थित हैं कहीं से आती नहीं—आत्मानुभूति से विपरीत रागादि परिणाम से जो कार्मण वर्गणाएँ हैं वह आकर आत्मप्रदेश से चिपक जाती हैं। यहाँ 'आकर' शब्द कहने में आता है वास्तव में वर्गणाएँ कहीं बाहर से नहीं आतीं, वहीं की वहीं चिपक जाती हैं। जैसे—रोटी या गीले पापड़ को एक के ऊपर एक रखो तो चिपक जाते हैं। डिब्बे से निकालने पर एक साथ ७-८ आ जाते हैं। थोड़ी-सी गलती के कारण ऐसा हो जाता है। कभी-कभी नोट भी चिपक जाते हैं। कभी एक के स्थान पर दो चले जाएँ और एक के स्थान पर दो आ भी सकते हैं। आने के बाद तो देने की बात ही नहीं सोचते, देने में आ जाएँ तो माँग लेंगे कि डबल नोट आ गए हैं अन्यथा सामने वाला भी नहीं देगा। इस प्रकार कार्मण वर्गणाएँ चिपक जाती हैं लेकिन जब जीव व्यवहार से मूर्तत्व को प्राप्त करता है तभी बन्ध व्यवस्था होती है अन्यथा नहीं। बन्धापेक्षा यह एकान्त नहीं कि जो बँध रहा वह मूर्तिक और जो न बँधे वह अमूर्तिक ही है, किन्तु लक्षणापेक्षा कर्म और जीव दोनों भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि जीव "**उपयोगो लक्षणं**" उपयोगमयी है और कर्म स्पर्शादि सहित है किन्तु व्यवहार से नानापन भी एकपना होकर बन्ध को प्राप्त है इसलिए एकान्त से जीव को अमूर्तिक नहीं समझना।

इस प्रकार सूत्र का चतुर्थ स्थल हुआ ऐसा कहा, पर वास्तव में सूत्र में स्थल नहीं, पाद होते हैं। यहाँ इस सूत्र गाथा द्वारा चतुर्थ स्थल पूर्ण हुआ ऐसा अर्थ निकालना। इस तरह नौ पदार्थ का प्रतिपादन करने वाले द्वितीय महाधिकार में पुण्य व पाप की मुख्यता को लेकर चार गाथाओं द्वारा पञ्चम अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

अब भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म तथा मतिज्ञानादि वैभाविक गुण व नर-नारकादि विभाव पर्यायों से जीव रहित है तथा शुद्धात्म श्रद्धान, ज्ञान व अनुष्ठान रूप अभेद रत्नत्रयमयी निर्विकल्प-समाधि से उत्पन्न परमानन्द समरसी भाव से पूर्णकलश की भाँति भरा हुआ है। पूर्ण भरा होने से आवाज नहीं आती, कम भरा होने से छलकता है। ऐसे पूर्णकलश की भाँति आत्मा से भिन्न शुभाशुभ आस्रव का व्याख्यान करने वाला अन्तराधिकार है उसमें ६ गाथाएँ हैं। पहले पुण्यास्रव को कहने के लिए ४ गाथाएँ हैं फिर पापास्रव को कहते हुए २ गाथाएँ हैं। इस प्रकार पुण्य-पापास्रव के व्याख्यान

में समुदाय रूप उत्थानिका हुई।

उत्थानिका—जब वीतराग निश्चय रत्नत्रय प्राप्त हो जाता है अथवा शुद्धोपयोग होता है उस समय न अशुभ आस्रव होता है और न शुभ का आस्रव होता है। यही बताने के लिए आगे आस्रव रहित शुद्धात्म पदार्थ से भिन्न जो शुभास्रव है उसका वर्णन करते हैं–

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥१४३॥

अन्वयार्थ—(जस्स) जिस जीव के **(पसत्थो)** प्रशस्त **(रागो)** राग है **(य)** और **(अणुकंपासंसिदो)** दया से भीगा हुआ **(परिणामो)** भाव है तथा **(चित्तम्हि)** चित्त में **(कलुस्सं)** कालुषपना य मैलापन **(णत्थि)** नहीं है **(जीवस्स)** उस जीव के **(पुण्णं)** पुण्य कर्म **(आसवदि)** आता है।

अर्थ—जिस जीव को प्रशस्त राग है, अनुकम्पायुक्त परिणाम है और चित्त में कलुषता का अभाव है उस जीव को पुण्य का आस्रव होता है।

जब हो राग प्रशस्त जीव का, अनुकम्पा युत भाव रहे।
उसके मन में कालुषता या, मलीनता ना भाव रहे॥
ऐसे ही जीवों को कहते, पुण्य कर्म का आस्रव हो।
पुण्यास्रव का वर्णन करने, वाला यह व्याख्यान अहो॥१४३॥

व्याख्यान—राग प्रशस्त और अप्रशस्त दो रूप माना है। आगमानुसार चार घातिया कर्म अप्रशस्त (पाप) रूप ही हैं किन्तु अध्यात्म ग्रन्थ में मोह की प्रकृतियों के राग-द्वेषादि भेद हो जाते हैं उसमें कुछ ऐसी प्रकृतियाँ रहती हैं जिसे हम प्रशस्त कह सकते हैं। जैसे-लौकिक दृष्टि में मुस्काना, प्रसन्नचित्त रहना इत्यादि राग के प्रतीक हैं। हास्य कर्म के उदय से हँसी आती है तो लोक में उसे बुरा नहीं मानते, लेकिन द्वेष, ग्लानि (जुगुप्सा) इत्यादि करते हैं तो लोग दूर से ही किनारा कर देते हैं। लौकिक दृष्टि से यह अच्छा नहीं माना जाता, यह दोनों मोह की ही प्रकृतियाँ हैं, मोह की ही परिणतियाँ हैं। जिस मार्ग को देखा ही नहीं, उस मार्ग से चलते जाते हैं, वह मार्ग बनाना नहीं पड़ता, मार्ग तो बना हुआ है उस पर चलना है। पेपर के प्रश्नों को हल करके नम्बर पाना है। भावों के अनुसार नम्बर मिलते हैं अर्थात् निर्जरा होती है। भक्ति के माध्यम से कर्म निर्जरा विशेष होती है। अनुकम्पा युक्त परिणाम अर्थात् दूसरों के दुख को देखकर भीतर करुणा भाव जागृत हो जाए ऐसी चेष्टा का नाम अनुकम्पा है। **''सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्''** कृपा युक्त भाव प्रशस्त राग के अन्तर्गत आता है। कालुष्य, कषाय की परिणति है। यद्यपि अनुकम्पा रूप परिणति भी कषाय के साथ रहती है किन्तु कालुष्य और अनुकम्पा में बहुत अन्तर है। अनुकम्पा से चित्त में कलुषता या क्षोभ नहीं

रहता इससे पुण्य का आस्रव होता है। पाप न चाहते हुए भी पापास्रव हुए बिना रहता नहीं है। इसीलिए पापास्रव के कारणों से बचकर ज्ञानीजन इस प्रशस्त राग का आश्रय लेते हैं। यह राग वीतराग परमार्थ द्रव्य से विलक्षण है। वीतराग सम्यग्दृष्टि को इस प्रकार की राग प्रवृत्ति भी नहीं होती है। आचार्य श्री अकलंकदेव ने क्षायिक सम्यग्दृष्टि को वीतराग सम्यग्दृष्टि कहा है। इन्हें अनन्तानुबन्धी और दर्शनमोहनीय का अभाव हो जाने की अपेक्षा वीतराग कहा है। कई लोगों की यह धारणा है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि होने के कारण वह शुद्धोपयोगी होते हैं। यदि ऐसा है तो क्षायिक सम्यग्दर्शन तो सागरों की आयुपर्यन्त दीर्घकाल तक बना रहेगा तो हमेशा शुद्धोपयोग बना रहना चाहिए? जबकि शुद्धोपयोग तो अन्तर्मुहूर्तवर्ती पर्याय है। प्रसंग में वीतराग चारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाले वीतराग सम्यग्दर्शन को स्वीकारा है।

प्रशस्त राग से ही पञ्च परमेष्ठी की आराधना सम्भव—पञ्चपरमेष्ठी के प्रति अत्यन्त अनुराग होने पर उनके चरण को ही एकमात्र शरण मान करके चलता है, तब गुणीजन को देखकर प्रमोदभाव उत्पन्न होना यह प्रशस्तराग के अन्तर्गत आ जाता है। गुणीजन या संयमी को देखकर या अपने से श्रेष्ठजनों को देखकर ललाट पर झुर्रियाँ लाना, वैसे वृद्धावस्था में भी झुर्रियाँ आ जाती हैं लेकिन जिसमें प्रशस्तराग नहीं है उनके प्रति चित्त में प्रतिकूलता आ जाती है, नसें तन जाती हैं, भृकुटियाँ टेढ़ी हो जाती हैं, नाक मुड़ जाती है लेकिन स्वयं को नहीं दिखती दूसरों को दिखेंगी। दूसरा कोई फोटो खींचकर दिखा दे तो पता चलेगा। ठीक इससे विपरीत स्थिति होती है जब पञ्चपरमेष्ठी के प्रति अनुराग रहता है। जैसे कमल खिल रहा हो, धन्य है ऐसा धर्मानुराग। आजकल तो लोग इसकी भी आलोचना कर रहे हैं कि राग तो बन्ध ही करायेगा, प्रशस्त ही क्यों न हो लेकिन ध्यान रहे प्रशस्तराग के बिना तो पञ्चपरमेष्ठी की आराधना भी नहीं कर सकेंगे, न ही मुनि बनने की बात होगी, क्योंकि पहले से ही मुनियों के प्रति भक्ति होनी चाहिए तभी तो वह उस पथ को अपनायेगा। क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर भी सौधर्म इन्द्रादि अनेकों देव अविरत अवस्था में ताण्डवनृत्य करते हैं और जन्म कल्याणक के समय बालप्रभु के पाण्डुक शिला पर विराजने के समय नमन के रूप में आदरभाव प्रकट करते हुए गुणानुवाद करते हैं, यह तीन लोक के लिए हितोपदेश देने वाले होनहार भगवान् हैं। यह कार्यक्रम वात्सल्य और प्रमोद भाव के साथ करते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर भी नृत्य कर रहा है, करवा भी रहा है, ऐसे उस नृत्य को देखकर लोग समवसरण में झूम जाते हैं। यह अप्सराओं के द्वारा ताण्डव नृत्य नहीं किया जाता, देवों द्वारा ताण्डवनृत्य किया जाता है इसे ही निर्भरभक्ति बोलते हैं।

अनुकम्पा क्या है? दया करुणायुक्त अनुकम्पा भाव होता है और दया मन, वचन, काय से होना चाहिए। जब पड़गाहन करते हैं तब सीधे तनकर खड़े रहें, गर्दन भी न झुके ऐसा नहीं, हाथ से भी बुलाते हैं और गर्दन से भी, मन, वचन, काया तीनों से आदरभाव प्रकट करते हैं तब साधु आते हैं। छोटे बच्चे को दूध पिलाना चाहते हैं तब शब्दों में थोड़ा-सा टेढ़ापन आ जाए तो वह समझ जाता

है, अलग ही शब्द है, फिर तो वह दूध पीता ही नहीं तो पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति में तनाव सहित तन, मन, वचन कुछ भी कैसे चल सकता है? शब्द भले ही उल्टे हो जाएँ, पर शरीर के हाव-भाव से भक्ति का पता चल जाता है। जो दुखी है उनके प्रति अनुकम्पा का भाव होना चाहिए, इसका अर्थ यह नहीं कि वह रो रहा है तो हम भी रोयें। यह अनुकम्पा की मीमांसा नहीं है कि दुखी को देखकर आँखों में पानी आये तभी अनुकम्पा है। यदि ऐसा है तो देवों को कभी अनुकम्पा नहीं होगी क्योंकि उनकी आँखों से पानी कभी नहीं आता और आँखों से पानी बहाने वालों को करुणा के अवतार मान लो, ऐसा भी नहीं है। भीतर से भीगे हुए परिणाम को अनुकम्पा कहते हैं। डॉक्टर जब मरीज की चीरा-फाड़ी करता है तब उसकी आँखों में पानी नहीं आता तो क्या वह अनुकम्पा से रहित है ऐसा मान लिया जाए? नहीं, बल्कि ऑपरेशन करते समय यदि पानी आ जाए तो गड़बड़ हो जायेगा। डॉक्टर रोता रहेगा तो मरीज का क्या होगा? इसलिए आँखों में पानी आना ही अनुकम्पा है, ऐसी धारणा नहीं बनाना चाहिए। सहजता से आ जाए तो कोई बाधा नहीं है, किन्तु अपनों की पीड़ा में जल्दी आँसू आ जाते हैं और जिससे मनमुटाव है उसकी पीड़ा देखकर खुश होता है, पानी नहीं आता। जबकि यह भी व्यक्ति है वह भी व्यक्ति है, लेकिन भीतर में **'दिग्गिट्ठी'** अर्थात् दीर्घकालीन गाँठ लगी है तब वह कृष्ण लेश्या के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ऊपर से प्रशस्त बैठे रहें और भीतर से दीर्घ गाँठ है तो कृष्णलेश्या पलती रहती है। दीर्घ वैर रखना कृष्ण लेश्या का प्रतीक है। हमेशा कलहप्रिय होना, तीव्र क्रोधी, दुष्टता करना और वैरभाव रखना अशुभ लेश्या के लक्षण हैं। किसी के वश में न होकर देव, शास्त्र, गुरु के वश में हो जाओ तब मन, वचन, काय से जो भाव भीगेंगे उन्हीं भावों को यहाँ अनुकम्पा सिद्ध किया है।

मन में जब क्रोधादि नहीं रहता तभी एकाग्रता से ७-८ घण्टे तक डॉक्टर लोग ऑपरेशन करते रहते हैं उनके चित्त में भी कलुषता नहीं आती। भीतर कोई आ नहीं सकता, घण्टों खड़े रहते हैं, चाय, नाश्ता, पानी कुछ नहीं लेते, बोलते भी नहीं। एक डॉक्टर से सुना था पहले से भोजन भी ऐसा करते हैं जिससे प्रमाद न आये क्योंकि औजार चलाते समय एक बाल का १०वाँ हिस्सा भी इधर का उधर कट जाए तो जिंदगी बर्बाद हो सकती है। अनुकम्पा भाव से जो सेवा करते हैं उसकी प्रशंसा के लिए शब्द ही नहीं हैं। सेवा के बीच में लोभ या पक्षपात नहीं आना चाहिए, ऐसी अनुकम्पा को प्रशस्तराग कहा है। इसे यदि अधर्म या मात्र बन्ध का कारण मानने वालों को या इससे संवर-निर्जरा होती ही नहीं ऐसा कहने वाले को आगम का ज्ञान नहीं है। ऐसे व्यक्तियों की चर्चा सुनना भी उनका समर्थन करना है। इसीलिए ऐसे लोगों को न वोट दें, न ही समर्थन करें क्योंकि वह व्यक्ति ही गलत है। आगे कहेंगे कि ऐसा प्रशस्तराग रूप उपयोग ज्ञानी को होता है और वह भी ऊपर-ऊपर से नहीं, भीतर सहज रूप से होता है। इस प्रकार जो तीन शुभ परिणाम बताये हैं वे जिस जीव के होते हैं उसे द्रव्य पुण्यास्त्रव का कारणभूत भावपुण्य होता है, वह भाव होने का नाम ही आस्त्रव है। यह न चाहते हुए भी होता है। जैसे-किसान धान्य के लिए खेती करता है लेकिन सर्वप्रथम घास-फूस का ही पौधा खड़ा हो जाता

है जो किसान के काम में कुछ भी नहीं आने वाला है। धान्य के लिए बीज बोया जाता है। जब बालें पक जाती हैं तो दाने-दाने को ले लेता है और घास-फूस जानवरों के लिए डाल देता है। उसी प्रकार कोई प्रशस्त कर्म करता है तो निश्चित रूप से उसे शुभास्रव होता है और जब शुभास्रव होता है तो अशुभ का संवर और निर्जरा भी होती है किन्तु वह पुण्य का फल नहीं चाहता, क्योंकि वह फल पञ्चेन्द्रिय के विषय के रूप में मिलेगा। फिर भी न चाहते हुए भी घास-फूस की भाँति पुण्य मिलता ही रहता है, किन्तु कृषक की दृष्टि धान्य की ओर ही रहती है। उसी प्रकार ज्ञानी प्रशस्त भावों से कर्म निर्जरा ही चाहता है। इस सूत्र का यही अभिप्राय है।

उत्थानिका—आगे प्रशस्तराग का स्वरूप दिखाते हैं-

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥१४४॥

अन्वयार्थ—**(अरहंत-सिद्ध-साहुसु)** अरहंत, सिद्ध व साधुओं में **(भत्ती)** भक्ति **(य)** और **(धम्मम्मि जा खलु चेट्ठा)** धर्म में यथार्थतया चेष्टा **(पि गुरूणं अणुगमणं)** और गुरुओं का अनुगमन **(पसत्थरागो त्ति)** वह 'प्रशस्तराग' **(वुच्चंति)** कहलाता है।

अर्थ—अरहंत, सिद्ध व साधुओं के प्रति भक्ति, धर्म में यथार्थतया चेष्टा और गुरुओं का अनुगमन अर्थात् गुरुओं के अनुकूल चलना यह प्रशस्तराग है ऐसा आचार्य कहते हैं।

अर्हत्-सिद्ध-साधुजन के प्रति, भक्ति भावना का होना।
अर्हत्देव प्रणीत धर्म में, पवित्र चेष्टा का करना॥
गुरुओं की आज्ञानुसार ही, चरणों का अनुगमन करे।
ऐसी चर्या को आगम में, मुनिजन प्रशस्त राग कहें ॥१४४॥

व्याख्यान—अरहंत और सिद्धपरमेष्ठी में भक्ति, 'साहू' शब्द से यहाँ आचार्य, उपाध्याय और साधु को ही लेना है। जैसे-चत्तारिसरणं पाठ में 'साहू सरणं पव्वज्जामि' जो कहा है वहाँ साहू से आचार्य, उपाध्याय, साधु तीनों परमेष्ठी लिये जाते हैं। पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति और दयामयधर्म या रत्नत्रयमय धर्म की चेष्टा प्रशस्तराग है। धर्ममय वातावरण बनाने के लिए अपने तीन योग को हमेशा सचेष्ट रखता है। अर्थात् धार्मिक अनुष्ठान सम्बन्धी गतिविधियाँ हमेशा करता रहता है। जैसे-कोई जिस वस्तु की दुकान खोलता है उस वस्तु सम्बन्धी भाव, फोन व अखबार आदि के माध्यम से ज्ञात करता रहता है, ताकि अच्छे ढंग से व्यापार कर सके। उसी प्रकार धार्मिक कार्यों में हमेशा सक्रिय रहता है, लड़ाई-झगड़े आदि वाद-विवाद में रुचि नहीं रखता। जैसे अपनी दुकान के सामने लड़ाई-झगड़ा होने लग जाए तो मजा नहीं लेते, उसे जल्दी-जल्दी हटा देते हैं अन्यथा कोई ग्राहक ही नहीं आयेगा। उसी प्रकार जो व्यक्ति धर्मात्मा होता है वह इधर-उधर की बातों में रस नहीं लेता किन्तु गृहस्थ है तो

गृहस्थ के योग्य और साधु है तो साधु के योग्य धार्मिक कार्यों में सचेष्ट होता है और गुरु के अनुसार अनुगमन करता है। अनुगमन का अर्थ पीछे-पीछे चलना अर्थात् उनके मन्तव्य या आज्ञा के अनुसार चलता है। पीछे चलने का अर्थ साधु के पीछे-पीछे चलना यह लगायेंगे तो आहार के समय घर में प्रवेश कैसे करेंगे? क्योंकि श्रावक आगे-आगे चलता है और पीछे मुड़-मुड़कर बुलाता रहता है आईये महाराज! आईये महाराज! अगर बोलने में निर्देशन देने लग जाए तो यह ही पता नहीं चलता कि कौन किसका शिष्य है? इसलिए बच्चों को भी प्रशिक्षण दिया जाता है कि जहाँ बड़े लोग बोलते हैं वहाँ उनके बीच में नहीं बोलते, सुनते जाओ। तब बच्चे कहते हैं कि कितने दिन तक हम सुनेंगे? जब बोलेंगे तभी तो काम होगा। ध्यान रखो बोलने से नहीं सुनने से भी काम हो जाता है। डॉक्टर जब सर्जरी करता है तो उसके साथ कम्पाउण्डर भी रहता है। यदि वह कहने लग जाए कि आप थोड़ा बैठ जाओ हमने सब काम देखा है, सुनने में भी आया है आप तो बैठे-बैठे बस बताते जाओ हम करते जायेंगे, इस तरह से काम तो हो जायेगा लेकिन काम तमाम ही हो जायेगा। इसीलिए यूँ कहना चाहिए कि आप ही करिये, उनके असिस्टेंट डॉक्टर भी कहते हैं कि आपके बिना यह नहीं होगा, आप ही करिये, हम सब आपसे सीखेंगे और अनुभव लेंगे। जब छोटे ही बड़ों को अनुभव देने लग जायेंगे, तो क्या होगा? यह भी एक सामान्य विज्ञान है जिसे व्यवहार विज्ञान भी बोलते हैं, यह व्यवहारिक ज्ञान भी होना चाहिए। आजकल इसमें बहुत कमी देखने में आती है।

पहले परिपक्वता आने पर पद दिया जाता था। अब तो प्रशासनिक परीक्षा में भी अपरिपक्व होने पर भी तीक्ष्ण बुद्धि के कारण आगे बढ़ा देते हैं। अनुभव कुछ भी नहीं है लेकिन सीधा कलेक्टर बना दिया, इससे अनेकों दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं। इसी तरह सांसद, केबिनेट मन्त्री या राष्ट्रपति बनने के लिए कुछ उम्र निर्धारित है। वोटे देने के लिए २१ साल की उम्र में योग्यता आ जाती है लेकिन राष्ट्रपति बनने के लिए ३५ वर्ष की उम्र चाहिए। कुछ योग्यताएँ समय पर ही आती हैं। २५ वर्ष तक तो गधा पच्चीसी होती है अर्थात् वह किसी की बात नहीं सुनता फिर ३० वर्ष में अक्ल आती है। अक्ल अर्थात् ३२ दाँतों में से ४ दाँत ऐसे होते हैं जो बिल्कुल पीछे होते हैं। जब वह आने लगते हैं तब बहुत पीड़ा होती है। दूध के दाँत अलग होते हैं और अक्ल के दाँत अलग होते हैं। भले ही M.sc. कर ले पर ३० वर्ष के पहले अक्ल के दाँत नहीं आते, संभवतः इसीलिए तीर्थंकर ३० वर्ष तक दीक्षित नहीं होते ऐसा अनुमान है। अक्ल आने के उपरान्त विवेक आता है और विवेक के साथ भेदविज्ञान होता है। राष्ट्रपति बनने के लिए अक्ल ही नहीं, विवेक भी जागृत होना चाहिए और वह किसी पार्टी विशेष से सम्बन्ध नहीं रखता। राज्यसभा, लोकसभा आदि सब मिलकर के राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। जब राष्ट्रपति के चुनाव में अनेक योग्यताएँ चाहिए फिर यहाँ पर तो तीन लोक के नाथ बनने की बात है। केवलज्ञान अलग वस्तु है और लोक को चलाना अलग वस्तु है, दोनों में बहुत अन्तर है। अनेक प्रकार के विचार वाले लोग रहते हैं उन सबको बिना क्षोभ किए निष्पक्ष रूप से सबको जो एक

समान देखता है ऐसे राष्ट्रपति के लिए Once More(वन्समोर) होता है। महान् व्यक्तित्व को सब चाहते हैं। भगवान् को ''**नमोनमितविद्विषे**'' बंधुगण तो सभी नमोऽस्तु करते ही हैं पर वैरी भी उनके चरणों में आकर नत मस्तक हो जाते हैं, महान् व्यक्तित्व के बिना यह नहीं हो सकता। धार्मिक क्षेत्र में ऐसा ही निष्पक्ष व्यवहार होना चाहिए। संविधान में यह कुछ नहीं लिखा रहता है लेकिन बिना अनुभव के उच्चपद पर बिठाना ठीक नहीं है। राजकुमार है यह ठीक है पर अभी रणांगन में जाने योग्य नहीं है, जाता भी है तो सेनापति, मन्त्री इत्यादि को कहा जाता है कि इसे बीच में रखना अर्थात् चारों ओर से सुरक्षा कवच में रखना। टीम में जब कबड्डी खेलते हैं तो उसमें भी अनुभव की आवश्यकता होती है वरना टीम से बाहर हो जायेंगे। आज बिना अनुभव के काम करने के दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं। यहाँ प्रशस्तराग क्या है यही बताया जा रहा है। शुभ राग रूप जो चारित्र है वह धर्म है। **द्रव्यसंग्रह** की गाथा में ''**असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं**'' कहा है। जिसमें प्रवृत्ति की मुख्यता रहती है उसे धर्मानुष्ठान कहते हैं। जैसे–प्रतिदिन पूजन करते हैं वह विधान नहीं है किन्तु अष्टाह्निका आदि विशेष पर्वों में या विशेष स्थितियों में घंटों तक लगातार पूजन करना विधान है। इसी तरह पञ्चपरमेष्ठी की आराधना, दया धर्म का पालन, सत्य बोलना, वैय्यावृत्ति, दान, उपदेश आदि शुभानुष्ठान हैं। सप्तम गुणस्थान में जो बोल रहे हैं उनकी भी समिति पूर्वक प्रशस्तभूत चर्या शुभानुष्ठान कही जाती है। सप्तम गुणस्थान में होते हुए भी वे गुप्तिरूप नहीं हैं किन्तु उस वक्त समिति है, जहाँ निर्दोष समिति पलती है। जब पन्द्रह प्रमाद से रहित होते हैं तब सप्तम गुणस्थान के योग्य चेष्टा होती है। इसे यदि एकान्त रूप से बन्ध का कारण मानें तो रत्नत्रय क्या काम कर रहा है? यह प्रश्न उठेगा। वे लोग कहते हैं कि जब प्रवृत्ति में आ जाते हैं तो मात्र बन्ध ही होता है किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे–कोई नौकरी करता है तो छुट्टी के दिनों में भी उसका वेतन चलता रहता है। यदि बीमार पड़ जाए, छुट्टी नहीं भी ली है लेकिन वह बहुत अच्छा कार्य करता है तो उसका वेतन नहीं काटते, बल्कि विशेष रूप से उसके उपचार के लिए ऊपर से रुपया और देते हैं। इसी प्रकार शुभ चेष्टा को एकान्त से बन्ध का कार्य नहीं मानना चाहिए। यदि यहाँ उपदेश नहीं होता तो हजारों व्यक्ति शुभानुष्ठान से कैसे अवगत होते? इसमें तो आप लोगों को ही वेतन मिल रहा है।

शुद्धोपयोग की वेला में निर्जरा विशेष रूप से होती है और उस समय जो शुभ बन्ध होता है वह अलग ही क्वालिटी का होता है। शुद्ध से शुभ उपयोग में आने पर अरहंत भक्ति, गुरु भक्ति इत्यादि करते हैं। जैसे–माँ बिना बोले ही मौन से ही बालक को समझा देती है। बालक समझ जाता है। वैसे ही गुरु के हाव–भाव के माध्यम से भाव समझ में आ जाता है। जैसा गुरु कहते हैं उनके अनुसार चलो क्योंकि गुरु के अनुरूप चलना इत्यादि शुभ परिणाम प्रशस्तराग रूप हैं। इसका दर्शन भी बहुत कम होता है। दोष रहित जो परमात्मा है उसके प्रतिपक्ष रूप जो आर्तध्यान–रौद्रध्यान हैं उनके द्वारा ज्ञानावरणादि मूल और उत्तर प्रकृतियाँ बन्ध को प्राप्त होती हैं तथा राग–द्वेष आदि विकल्पों से रहित

धर्म्य और शुक्लध्यान के द्वारा कर्म का विनाश होता है। जब हमारे भगवान् क्षुधा-तृषा आदि दोषों से रहित हैं तो एकाशन करने में स्वयं को दस बार क्यों सोचना पड़ता है? जरा सोचो! और जो क्षुधा आदि दोषों से रहित हो गये हैं ऐसे प्रभु के बारे में कहते हैं कि भक्ति मत करो। यदि इनके गुणों का चिन्तन करोगे तो गर्दन अपने आप ही झुक जायेगी। अभी जिसने मार्ग में कदम तक नहीं रखा, वह रफ्तार की बात करता है। अरहंत परमेष्ठी की भक्ति के बारे में व्यंग्य मत करो। ऐसा सुनते हैं कि उनके अनुसार अरहंत परमेष्ठी को याद करना, यम देवता को याद करने जैसा है। जैसे मृत्यु को याद नहीं करते वैसे ही अरहंत परमेष्ठी को याद नहीं करना चाहिए, यही तो सब गड़बड़ है। जिस साधना के बल पर अठारह दोषों से रहित हुए हैं उस परमात्मा के बारे में सोचो तो सही, रोंगटे खड़े हो जायेंगे। ऐसी साधना करने वालों की भक्ति करना बन्ध का कारण है यह मानना, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्व का विपरीत श्रद्धान है। इस प्रकार बोलकर साहित्य का बँटवारा करते हैं तो उनका भविष्य क्या होगा?

प्रतिफल की इच्छा न रखना ही सच्ची भक्ति—निर्भर या निर्दोष भक्ति का अर्थ यही है कि प्रतिफल के रूप में कुछ नहीं चाहना। आज तो दो, तीन शब्द प्रशंसा के सुना दो तो साधना ही टूट जाती है इसीलिए हम प्रशंसा क्यों करें? सबकी साधना अटूट रखना चाहते हैं। साधना में किसी प्रकार से कमी न हो इसीलिए उसकी प्रशंसा मत करिए। पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति दुनिया की भीति से नहीं करना, केवल अशुभोपयोग से बचने के लिए करना। भक्ति करके प्रतिफल की वाञ्छा रखना, साधना की बहुत बड़ी कमजोरी है। निष्कामवृत्ति, ज्ञानवृत्ति, ज्ञानयोग और कर्मयोग इसे ही कहते हैं जहाँ मात्र कर्त्तव्य करते हैं और वह भी किसी को दिखाने के लिए ड्यूटी नहीं करते। बॉस यह कहकर चला जाता है कि यहाँ पर कोई और नहीं आयेगा, अपना कार्य तुम्हें ही पूरा करना है। उसी प्रकार यहाँ भी सबको अपनी ड्यूटी स्वयं ही करना है। कोई और करने नहीं आयेगा। किसी से प्रशंसा का प्रमाण पत्र, Gold Madel या Award मिलने वाला नहीं है। अपने को अपने गुण ही अपने आपमें पुरस्कार है। दुनिया उपाधि की बीमारी से ग्रसित होती जा रही है, उपाधियों के पीछे भाग रही है तभी तो समाधि नहीं हो रही है। आधि, व्याधि और उपाधि से ऊपर उठे तभी समाधि होती है। १८ दोषों से रहित जो व्यक्तित्व प्राप्त हुआ है वह कठिन तपस्या के बल पर और समाधि के फलस्वरूप ही प्राप्त हुआ है। आत्मा शुद्ध-बुद्ध है यह कहना आसान है पर थोड़ी-सी प्रतिकूलता आ जाए तो क्रोध आ जाता है। थोड़ा-सा नमक कम या ज्यादा हो जाए तो चिल्लाता है। इसलिए निश्चय और व्यवहार की चर्चा करना आसान है किन्तु निश्चयनय के आधारभूत साधना को प्राप्त करना बहुत कठिन है। अध्यात्म में बोध मुख्य रहता है, क्षोभ नहीं। क्षोभ शारीरिक दुर्बलता के कारण होता है। ऐसा नहीं है यह भीतरी साधना के अभाव का प्रतीक है। कुछ लोग जल्दी क्रोधित हो जाते हैं, किन्तु जो साधक होते हैं उनके ऊपर कितनी भी भयंकर विपत्ति क्यों न आ जाए, पहाड़ जैसा टूट पड़े तो भी वे विचलित नहीं होते, उस

ओर ध्यान ही नहीं देते।

इस भूमिका में यह कर्त्तव्य है कि प्रभु का गुणानुवाद करें **''न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्त वैरे''** आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि–हे भगवन्! आपको पूजन से कोई प्रयोजन नहीं फिर भी मैं आपकी पूजन इसलिए कर रहा हूँ कि इससे पाप रूपी अञ्जन से मेरा चित्त दूर हो जाता है। आपकी स्तुति में इतना बल और शक्ति है कि आप कुछ नहीं करते हैं फिर भी स्तुति करने से मेरे चित्त का पाप धुल जाता है। इस प्रकार की जो भक्ति नहीं करता, वह समन्तभद्र महाराज को जानता ही नहीं है। अतः अरहंत-सिद्धपरमेष्ठी की भक्ति करना है। यहाँ सिद्ध से तात्पर्य लौकिकसिद्ध, अञ्जनसिद्ध, पादुकासिद्ध नहीं, अपितु जो आठ कर्मों से रहित लोकाग्र पर विराजमान हैं, उनकी भक्ति करना है।

उत्थानिका—आगे अनुकम्पा का स्वरूप कहते हैं–

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा॥१४५॥

अन्वयार्थ—**(जो दु)** जो कोई **(तिसिदं)** प्यासे, **(बुभुक्खिदं)** भूखे **(वा)** तथा **(दुहिदं)** दुखी को **(दट्ठूण)** देखकर **(दुहिद-मणो)** अपने मन में दुखी होता हुआ **(तं किवया पडिवज्जदि)** उसके प्रति करुणा से वर्तता है अर्थात् उसका दुख दूर करने का प्रयत्न करता है **(तस्सेसा अणुकंपा होदि)** उसकी वह 'अनुकम्पा' है।

अर्थ—तृषातुर, क्षुधातुर अथवा दुखी को देखकर जो जीव अपने मन में दुखी होता हुआ उसके प्रति करुणा से उसका दुख दूर करता है यह उसकी अनुकम्पा है।

क्षुधा-तुषा से व्याकुल जन को, देख दुखी हो जाता है।
रोगादिक से पीड़ित जन लख, मन पीड़ित हो जाता है॥
दया भाव से पर के दुख को, दूर करूँ यह भाव रहे।
करुणा से पूरित प्राणी के, भावों को प्रभु दया कहें॥१४५॥

व्याख्यान—जो दूसरे व्यक्ति को भूखा, प्यासा और दुखी देखकर स्वयं दुखितमना हो जाता है। यद्यपि वह कुछ कर नहीं सकता, यह बात अलग है। लेकिन उसे देखते ही प्रथम दुखितमन हो जाता है फिर बाद में अपनी शक्ति अनुसार सेवा करता है। भावना व्यक्त करने से उसे सान्त्वना मिलती है जिससे निश्चित रूप से उसे राहत मिलती है। कुछ दें या न दें, आश्वासन तो दे ही सकते हैं। हमारे पास आकर लोग कहते हैं कि महाराज! आप हाँ भी नहीं कहते, ना भी नहीं कहते तो हम क्या समझें? कुछ तो आश्वासन दे दीजिए। हम कहना चाहते हैं कि साक्षात् समवसरण में भी जाओ तो क्या भगवान् आश्वासन देगें? नहीं देगें। जबकि तीन लोक के नाथ हैं फिर भी बोलते नहीं हैं। यदि बुलवाना

है तो गणधर जैसे बुलवाने वाला चाहिए। समवसरण में जो विराजमान हैं वह समस्या से रहित हैं लेकिन जो भक्तगण इतनी बड़ी हस्ती से मिलने जा रहे हैं वह कुछ न कुछ तो समस्या लेकर जाते होंगे। पर प्रभु के माहात्म्य से वहाँ जाते ही कोई समस्या नहीं रहती। इसी प्रकार किसी के लिए कुछ करो या ना करो लेकिन दुखितमना होना, सहानुभूति देना यह तो हो ही सकता है।

कई लोग कहते हैं महाराज! कम से कम सुन तो लो, तो कम से कम क्यों, ज्यादा से ज्यादा सुनाओ। बहुत कठिन है कभी कोई छहढाला का प्रश्न कर दे, कोई समयसार का, कोई न्याय का तो कोई चरणानुयोग का। तब सबको एकसाथ कैसे उत्तर दें? भले ही उत्तर न दें, सुनने से ही वह हल्के हो जाते हैं। दुख को दूर करना और दुख को सुनना, इसमें सुनना भी छोटा नहीं माना जाता। दुखित होना भी विपाकविचय धर्म्यध्यान है **''दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च''** कर्मोदय में व्यक्ति कितना हारा हुआ है। कर्म के उदय में जो जीव हारा हुआ है उसके ऊपर कृपा करने पर **''क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्''** दूसरों की पीड़ा में अपनी आँखों में पानी आए बिना रह नहीं सकता। वह पानी तीन प्रकार से आता है। एक शब्दों से गला भर जाता है, दूसरा जो खाया है वह उल्टा हो जाता है अर्थात् वमन हो जाता है, तीसरे में गला रुँध जाता है जैसे बाँध दिया हो। जिस व्यक्ति के प्रति आत्मीयता रहती है वहीं ऐसा होता है। आचार्यों ने कहा है–**''वाणीं गद्‌गद्‌यन वपुः पुलकयन् नेत्रद्वयं स्त्रावयन्''** यह प्रायोगिक रूप है इसका प्रयोग करिये।

दूसरे के दुख को देखकर दुखित होना सम्यग्दृष्टि का लक्षण–जो कहते हैं कि भक्ति में कुछ नहीं रखा, वास्तव में सब कुछ उसी में है। अपने स्वार्थ से तो लोग रोते ही हैं किन्तु दूसरे के दुख को देखकर दुखित होना यह सम्यग्दृष्टि का एक स्वरूप है। सुख वह दे नहीं सकता, असाता की उदीरणा के स्थान पर साता की उदीरणा कर नहीं सकता, यह सिद्धान्त है लेकिन इसका दुख दूर हो यह परिणाम होना विपाकविचय धर्म्यध्यान माना जाता है। इसमें स्व का भी हित होता है इसीलिए त्यागी तपस्वी सोचते हैं कि मैं दूसरों का दुख दूर करने के लिए नहीं बल्कि अपने ही पाप कर्मों को दूर करने के लिए विपाकविचय धर्म्यध्यान करता हूँ। यदि ऐसा नहीं है तो स्वार्थ निश्चित ही आ जायेगा। बड़े-बड़े आचार्य, श्रमण और ऋद्धिधारी मुनियों के मन में इस प्रकार का विपाकविचय धर्म्यध्यान होता है। वो यह भी जानते हैं कि यह दुख इन्हीं के साता कर्म से ही दूर होगा। यदि दुख असाता कर्म के उदय से हो रहा है तो दूर भी साता कर्म के उदय में होगा। ऐसा विपाकविचय धर्म्यध्यान का पेपर कब दोगे? जब तक धर्म्यध्यान का पेपर पूरा नहीं दोगे तब तक शुक्लध्यान भी नहीं होने वाला है। फाइनल में जाने से पहले सेमी-फाइनल को जीतना होगा अर्थात् धर्म्यध्यान के बिना शुक्लध्यान नहीं होगा। एकदम से पहले निश्चय में मत बैठो, पहले धर्म्यध्यान का पेपर दो।

''सीदंति इति सत्त्वाः'' जो अपने कर्मोदय से दुखी हो रहे हैं वे सत्त्व अर्थात् जीव हैं ऐसा **सर्वार्थसिद्धि** ग्रन्थ में आया है। सम्यग्दृष्टि होने का यही प्रमाण है कि पर को दुखी देखकर स्वयं

दुखितमना होना। कृपा के साथ पहले उसको आश्वासन दिया जाता है फिर सहयोग देना प्रारम्भ किया जाता है। जब पक्ष और विपक्ष में घमासान युद्ध होता है तब कई सैनिक घायल हो जाते हैं, हाथ-पैर अलग हो जाते हैं उन्हें देखकर विपक्ष दल वाले सैनिक भी, जिनकी ड्रेस भी अलग है उसे उठाकर छाँवनी तक ले जाते हैं और उसका उपचार करते हैं। उसके ऊपर बम विस्फोट आदि नहीं करते हैं। और भी कोई अंग भंग हो जाए तो सफेद ध्वजा दिखाई जाती है। ऐसा सुना है सफेद ध्वजा दिखाते ही उसके ऊपर वार नहीं करते, चाहे रात के १२ ही क्यों न बजे हों, यह कानून अभी भी चल रहा है। चाहे वह मुसलमान हो, ईसाई हो या हिन्दू हो यह कानून सबके लिए लागू है। भले ही युद्ध में हजारों मर रहे हैं लेकिन जो हाथ उठाकर सफेद ध्वजा दिखा रहा है उसको बचाना कर्त्तव्य है। इसमें कमी होने के कारण क्या हुआ? इतिहास खोलो, द्रोणाचार्य भी इसकी चपेट में थे, कृष्ण जी के ऊपर भी कुछ आक्षेप हुए, अभिमन्यु का जो वध हुआ, वह इसी का परिणाम था। छल के साथ चक्रव्यूह की रचना की, उसके साथ धूर्तता की। १०-२० व्यक्तियों ने मिलकर एक के ऊपर हमला कर दिया फिर भी उसे वीर अभिमन्यु की उपाधि मिल गई। और उसको मारने वालों को कौन सी उपाधि मिली? ''**क्रौतीति कौरवः रौतीति रावणः कौ पृथिव्याम्**'' तो यह निश्चित है कि दुखी को देखकर दुखितमना हो जाना यह स्वाभाविक है। शुद्धोपयोग में रहे तो कोई बाधा नहीं और शुद्धोपयोग में नहीं हैं फिर भी मन में दुख या करुणाभाव नहीं है तो वात्सल्य, स्थितिकरण, उपगूहन अंग कैसे आयेंगे?

दूसरों के दुख दूर करने की भावना भाने की प्रेरणा—मोक्षमार्गी हो या संसार मार्ग पर भी क्यों न हो, अज्ञान के कारण कर्मोदय से वह दुख पा रहा है तो उसका दुख दूर कैसे हो? इस प्रकार की सद्भावना करने के लिए कोई भी परहेज नहीं करना चाहिए। यह मत सोचो कि यह भाव कब तक करेंगे? जब तक मंजिल न मिले तब तक करना है, यह अनिवार्य है। ऐसे भाव कम से कम नहीं, ज्यादा से ज्यादा करना चाहिए। भोजन तो ज्यादा से ज्यादा करो और काम कम से कम करना पड़े, यह विचार ठीक नहीं है। भोजन कम से कम करना पड़े और काम ज्यादा से ज्यादा करें, ऐसा होना चाहिए। आज के युग में ऐसे वाहनों की माँग है जो पेट्रोल या डीजल तो कम खाएँ और काम ज्यादा दें। दूसरी बात यह है कि कुछ लोग जो दिखने में ही कमजोर हैं तो वे दूसरों की सेवा कैसे करेंगे? किसी की यदि सल्लेखना कराते हैं तो कराने वाला निर्यापकाचार्य उपवास नहीं करते क्योंकि वह क्षपक उसी के भरोसे पर बैठा है। पहले अच्छे ढंग से भोजन कर आओ, फिर उसे अच्छे से सुनाओ, वैय्यावृत्ति करो, करवट बदलवा दो, बिठाओ, सान्त्वना दो यह भी कठिन तपस्या है। ऐसे शब्दों को सुनाना जिससे उसके परिणाम शान्त हो जाएँ। उस समय णमोकार मन्त्र भी याद नहीं आता है। अच्छे-अच्छे कार्य करने वाले, हजारों व्यक्तियों को दीक्षित-शिक्षित करने वाले के भी अन्त समय में णमोकार मन्त्र भी निकल जाये तो वे बड़भागी कहलाते हैं। यह भक्त प्रत्याख्यान का काल है, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन तो आज हैं ही नहीं। एक ग्रास भी नहीं लिया जा रहा है, शक्ति भी नहीं है, इच्छा भी नहीं

है, उस वक्त सान्त्वना ही तो दे सकते हैं कि हम लोग हैं तुम घबराओ नहीं। इस प्रकार उसे आश्वासन देने से भीतर में जागृति आती है यह आवश्यक है।

आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने पञ्चास्तिकाय में १८१ सूत्र दिए, समयसार में ४५० सूत्र दिए। जिन्हें कम समय मिलता है यदि वे एक-एक गाथा ही पढ़ें तो एक वर्ष से भी ज्यादा समय तक स्वाध्याय चल सकता है। आस्रव, संवर, निर्जरा, पाप-पुण्यादि अधिकार में १४, १७, १९ आदि गाथाओं के एक-एक अधिकार हैं। इनके स्वाध्याय से दुखी मन भी १० मिनट में आनन्द से भर जाता है। जो अज्ञानी दुखी हैं उनके ऊपर ज्ञानी की यह अनुकम्पा मानी जाती है। मुनि महाराज से जो नीचे हैं उन्हें अज्ञानी कहा है।

शंका—जो ज्ञानी होता है उसका मन दुखित कैसे होता है?

समाधान–जब मुनि गुप्ति में नहीं रह पाते तब वे असाता के बन्ध के योग्य परिणाम तो नहीं करते, किन्तु मन में खेद-खिन्नता व्यक्त करते हैं तथा संवेग और वैराग्य भावना को छोड़ते नहीं हैं। जैसे मुनिराज श्रावकों के लिए उपदेश दे रहे हैं तो वह गुप्तिदशा में नहीं हैं। चारणऋद्धिधारी मुनिराज भी भोगभूमि में गए, वहाँ पर उपदेश दिया। वृषभनाथ भगवान् का जीव तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने के पूर्व उत्तम भोगभूमि में गया और दुखित मन से सोचने लगा कि इनके योग्य मैं क्या कर सकता हूँ? जैसा कि पूर्व में कहा था कि डॉक्टर मरीज को देखकर रोता नहीं है बल्कि पूरी बुद्धि लगाता है कि किस ढंग से इसकी चिकित्सा करना है? किस वार्ड में रखना है? किस व्यक्ति को बुलाना है? सब व्यवस्थित करने के बाद ही उसे चैन मिलता है। ऋद्धिधारी मुनिराज भी भोगभूमि में चले गए, वहाँ उन्हें कौन से भाव थे "**क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्**" जब गुप्ति में नहीं रह पाते तो प्राथमिक दशा में यह अनिवार्य होता है। कुछ लोग हम तो शुद्धोपयोगी हैं ऐसा भले ही मान लें, लेकिन कौन सा उपयोग शुद्ध है यह उन्हें मालूम ही नहीं है।

सत्यधर्म और भाषा समिति में अन्तर—सत्यधर्म और भाषासमिति में कितना अन्तर है यह सर्वार्थसिद्धि पढ़ने से ज्ञात होगा। असाधु से नहीं बोलना सत्यधर्म है किन्तु प्रवचन में हित-मित-प्रिय वचन द्वारा भाषा समिति के माध्यम से समझाया जाता है इसमें भी सीमा में ही बोलना, असंयमी हजार बार बोल सकता है लेकिन संयमी कहता है एक बार बता दिया, अब हम अपना काम करेंगे। संयमी के वचन मिलना दुर्लभ हैं, असंयमी के सुलभ हैं। **आत्मानुशासन में गुणभद्र महाराज** ने तथा **अनगारधर्मामृत** की टीका में भी आया है–"**जना घनाश्च वाचाला**" गरजने वाले मेघ की भाँति बोलने वाले बहुत व्यक्ति हैं किन्तु "**दुर्लभाः अरहंतास्ते**" बरसने वाले मेघ की भाँति अर्हत् वचन दुर्लभ हैं।

साधु को अपनी सीमा में बोलकर भी अफसोस होता है, दुख अभिव्यक्त करते हैं क्योंकि

अन्तर्मुहूर्त तक परिणाम विपाकविचय धर्म्यध्यानमय हुए हैं। लेकिन वह कर भी क्या सकते हैं? ऐसे प्रशस्तराग रूप परिणाम तो होते हैं और होना भी चाहिए क्योंकि औरों के प्रति कठोरता नहीं रहती। इसी प्रकार स्वयं को सिरदर्द आदि हो जाए तो वहाँ से उपयोग हटाकर सामायिक में अच्छे से बैठ जाते हैं। भले ही लेटकर सामायिक कर लें। लेकिन हाँ-हूँ न करके शान्त भाव से संक्लेश परिणाम छोड़कर कोई भी आसन लगा लेते हैं। उस समय शरीर से भिन्न **''मैं एक आत्मतत्त्व हूँ''** यही भासित हो अन्यथा सामायिक करने वालों को भी उठा दें कि हमें तो कितनी पीड़ा हो रही है और तुम्हें किञ्चित् भी चिन्ता नहीं हो रही। तब सामने वाला भी उत्तर देता है ऐसे समय पर विशेष वैराग्य भावना का चिन्तन करो, सावधान होकर बैठ जाओ, परिणाम कलुषित मत करो।

उत्थानिका—अब चित्त की कलुषता का स्वरूप बताते हैं—

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज।
जीवस्स कुणदि खोहं, कलुसोत्ति य तं बुधा वेंति ॥१४६॥

अन्वयार्थ—(जदा) जब **(कोधो व)** क्रोध और **(माणो)** मान **(माया)** माया **(व)** तथा **(लोभो)** लोभ **(चित्तं आसेज्ज)** चित्त को प्राप्तकर **(जीवस्स)** जीव को **(खोहं कुणदि)** क्षोभ करते हैं। **(तं)** उसे **(बुधा)** ज्ञानी **(कलुसोत्ति य वेंति)** 'कलुषता' कहते हैं।

अर्थ—जीव का चित्त जब क्रोध, मान, माया अथवा लोभ का आश्रय पाकर क्षोभ करता है तब उसे ज्ञानी कलुषता कहते हैं।

हो जिस समय क्रोध परिणति तब, चित्त क्षोभ से भर जाता।
मान भाव औ मायाचारी, लोभी आकुलता करता॥
क्षोभ रूप इन परिणामों को, ज्ञानी कलुषित भाव कहें।
कषाय के तीव्रोदय से ही, अशुभ रूप दुर्भाव रहे ॥१४६॥

व्याख्यान—जिस समय क्रोध, मान, माया कषाय आती है या लोभ जागृत होता है तब वह जीव को क्षुब्ध या कलुषित कर देता है। 'कलुस' का अर्थ कल्मष भी होता है, किल्विष भी कह सकते हैं। कलमल, कलिल और कलिकाल के अर्थ में 'कलि' शब्द आता है। कलिकाल में तो जीवों के मन में प्रायः कलुषता ही रहती है। उत्तम क्षमादि धर्म रूप आत्मतत्त्व की संवित्ति से प्रतिपक्ष रूप क्रोधादि परिणाम हैं। अहंकार से रहित आत्मा का स्वभाव है। क्रोधी, मानी यह दो अपमान के शब्द, चित्त को कलुषित कर देते हैं।

क्रोध से उबलने में देर नहीं लगती तथा कई दिनों तक चित्त में कलुषता बनी रहती है। बहुत परेशान करने के बाद भी यदि प्रशंसा के दो शब्द उन्हीं के मुख से सुन लें तो मान खड़ा हो जाता है। यह सब मन के कारण ही हो रहा है क्योंकि असैनी पञ्चेन्द्रिय को यह ज्ञान नहीं होता कि मुझे गाली

दे रहा है या मेरी प्रशंसा कर रहा है। जब मानसिक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब वह याद रखता है कि उसने मुझे ऐसा बोला था। गोली का घाव तो मिट जाता है लेकिन बोली का घाव नहीं मिटता। कहते हैं कि कलेजा फाड़ दिया, हृदय छलनी कर दिया, सब कुछ चला गया। यह सब मानसिक ज्ञान के कारण स्मृति में रहता है और वासनाकाल से पुनः जागृत हो जाता है।

चार कषायों का विशेष विवेचन—क्रोध, मान आदि चार कषायों के अलावा संसार में कुछ नहीं भरा है। चेतना के कोने में ये चारों ही बैठे हैं, जो दूसरे दरवाजे से आते रहते हैं। इनके द्वारा ही कलुषित भाव उत्पन्न होते रहते हैं। वे आत्मायें वीर हैं जो इन चारों को अपने नियन्त्रण में रखती हैं। इन चारों का आपस में समझौता है कि चारों एकसाथ उदय में नहीं आयेंगी। इनके साथ सपोर्ट (support) के लिए कषाय नहीं, नोकषाय आती हैं। जो सबका सपोर्टर रहता है, वह दुर्बल माना जाता है। जिसको गुस्सा आता है उसको हँसी नहीं आ सकती। महीनों तक मलेरिया बुखार वाले को भी मुस्कान ला सकते हैं लेकिन जिसको क्रोध आता है तो वह और अधिक क्रोधित होकर कहेगा, ''तुम्हें हँसी सूझ रही है'' क्रोध ऐसी विस्फोटक सामग्री है जिसके आवेग से सब कुछ नष्ट हो जाता है। सवा पाँच सौ धनुष की अवगाहना वाले बाहुबली को भी क्रोध आ गया। जिसने चक्ररत्न के लिए बहुत तपस्या की है उसे कुम्भकार का चक्र कह दिया, और कह दिया अब तो हम मैदान में ही मिलेंगे। ऐसे शब्द सुनकर भी कलुषित भाव उत्पन्न न हों यही आत्मसाधना मानी जाती है। वर्षों तक पढ़ते रहे और यह साधना यदि नहीं की तो सब व्यर्थ है। घड़े भर छाँछ के आगे एक कटोरी भर घी पर्याप्त हो जाता है। जब सुनते हैं तो ऐसा लगता है कि हम बिल्कुल वीतरागी हैं लेकिन निमित्त मिलते ही आँखें लाल हो जाती हैं अर्थात् वह क्रोध से प्रभावित हो जाता है और इसका नोकर्म के ऊपर प्रभाव पड़ जाता है।

आज उपसर्ग नहीं है, तृण स्पर्श नहीं है। डामर रोड है। १००० कि॰ मी॰ की यात्रा कर लो। अब तो भटकने-अटकने का डर नहीं है। स्कूल मिल जाते हैं। उनमें टेबल मिल जाती है, केवल भावनाकृत कष्ट है। प्रत्येक समय मान का प्रसंग आ रहा है तो मान तोड़ने का प्रयास करना है। माया ऐ माया! मुझे समझ में आ गया तू आ रही है, मैं तुझे आने नहीं दूँगा। क्रोध आ रहा है तो क्षमा भाव रूपी ठण्डा पानी पी लो। क्रोध करने के बाद क्षमा भाव लाते हैं उसके पहले जानो क्रोध आता कहाँ से है? क्रोध को जानने का प्रयास करो। माया को एक बार फँसा दो तो लड़ी की लड़ी माया की प्रकृतियाँ आकर नष्ट हो जायेंगी। लोभ को हटाने का व अपने को कषायों से जीतने का प्रयास करना चाहिए। आप क्रोध, मान, माया, लोभ से हार जाते हैं। चाहे आप उपवास करो, दान करो, लेकिन कषाय को पकड़ने की विधि नहीं आयी तो कोई फायदा नहीं, क्रोध को निकाल कर बाहर फेंको। कितना गम्भीर होगा वह साधक जो दूसरे को न पकड़कर क्रोध को पकड़ रहा है।

ऋद्धि के माध्यम से योजनों तक भस्मसात् हो जाता है। क्रोधाग्नि की ज्वाला में ऐसी सामग्री

भरी हुई है कि जीव सँभल नहीं पाता। कोई अग्निबाण छोड़ता है तो कोई गरुड़पाश छोड़ देता है, कोई नागपाश छोड़ देता है, तो कोई गदा फेंकता है, कोई त्रिशूल छोड़ता है तो कोई पञ्चास्त्र छोड़ देता है, कोई शारीरिक बल से काम करता है तो कोई शक्ति छोड़ देता है। इस तरह पक्ष-विपक्ष में चलता रहता है किन्तु ऋद्धिधारी मुनिराज शान्त बैठे रहते हैं। स्वयं को नियन्त्रण में रखते हैं क्योंकि उनकी कषाय मन्द हो गई है, यह कितनी बड़ी साधना है लेकिन अज्ञानी इसे साधना नहीं समझते, वह मानते हैं कि ये तो निर्बल और शक्तिहीन हैं इसीलिए तो चुप बैठे हैं। जबकि वे श्रमण तो आत्मसाधना में रत रहते हुए शुद्धात्म भावना से तृप्त हो रहे हैं, इसलिए तो सांसारिक पदार्थों की कोई चाह नहीं रहती, एक मोक्ष की ही इच्छा थी वह भी समाप्त हो गई क्योंकि मोक्ष चाहने से नहीं मिलता। जब तक यह सोचते रहेंगे कि मोक्ष कब मिलेगा-कब मिलेगा? तब तक नहीं मिलेगा। नींद कब आयेगी? ऐसा बोलने से नींद नहीं आयेगी। जब तक नींद की प्रतीक्षा करोगे तब तक नींद नहीं आयेगी। मुक्ति चाहिए यह विकल्प भी जब निकल जाता है तब निर्विकल्पदशा से मुक्ति मिलती है।

जीव में शुद्धात्मानुभूति से विपरीत जो क्षोभ है उसे जो पैदा करता है उसका नाम कलुषता है। क्रोध से ही कलुषता उत्पन्न होती है ऐसा नहीं, मान, माया और लोभ से भी कलुषता होती है। विज्ञजन चित्त की विकल्पदशा को कालुष्य कहते हैं। इसके विपरीत अकालुष्य है।

अकालुष्य और कालुष्य में अन्तर—अकालुष्य का अर्थ क्रोधादि रूप परिणमन नहीं करना। क्रोधादि कषायों का उदय तो रहता ही है लेकिन उस रूप परिणमन नहीं करना। लाइट है या नहीं? इसके देखने के लिए कोई बल्ब जलाता है तो कोई पंखा चालू करता है इससे ज्ञात हो जाता है। यह सब कुछ नहीं करते फिर भी करंट तो वहाँ पर रहता ही है। जैसे कषाय का उदय तो रहता ही है लेकिन क्रोध के उदय का नाम कालुष्य नहीं, किन्तु क्रोध करने का नाम कालुष्य है। संयत भाव, अकालुष्य भाव रूप पुण्यास्रव का कारण होता है। कोई भी अच्छी भोग सामग्री लौकिक दृष्टि से भी यदि चाहते हैं तो पुण्य से ही मिलती है और पुण्य का बन्ध अकालुष्य भाव के द्वारा होता है तथा बँधा हुआ जो पाप है वह भी पुण्य के रूप में परिवर्तित होने लग जाता है यह इसका नियम है। तब वे अप्रमत्तदशा का अनुभव करने लग जाते हैं। कषाय के उदय के कारण अप्रमत्त होने में कोई बाधा नहीं है। हाँ, कषाय करेंगे तो अप्रमत्त गुणस्थान में नहीं जा सकते, यह नियम है।

लोग कहते हैं कि बरैया के बिल में क्यों हाथ डालें? उसके छत्ते में बिल रहते हैं छेद नहीं, क्योंकि छेद आर-पार रहता है किन्तु बिल आर-पार नहीं रहता है। जिसमें छोटे-छोटे ८४ लाख योनि जैसे बिल रहते हैं उसे छत्ता कहते हैं। उसमें कोई अंगुली डाल दे तो बरैया तो काटेगी ही और यदि उसके पास में ही शान्त भावों से बैठे रहें तो कुछ नहीं करेगी। इतना तो वो भी समझ जाती है कि कौन कालुष्य भाव वाला है और कौन अकालुष्य भाव वाला है? कभी-कभी अनन्तानुबन्धी कषाय के मन्दोदय होने पर भी अज्ञानी को अकालुष्य भाव हो जाता है। अज्ञानी अनेक तरह के होते हैं, द्वितीय

गुणस्थान वाला भी अज्ञानी है और १२वें गुणस्थान में भी अज्ञानी है किन्तु दोनों में अन्तर है।

उत्थानिका—आगे पापास्रव का स्वरूप कहते हैं–

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥१४७॥

अन्वयार्थ—(पमाद बहुला) प्रमाद से भरी हुई **(चरिया)** क्रिया **(कालुस्सं)** चित्त का मलीनपना **(य)** और **(विसयेसु)** इन्द्रियों के विषयों में **(लोलदा)** लोलुपता **(य)** तथा **(परपरिताव-पवादो)** दूसरों को दुखी करना व उनकी निन्दा करने वाले **(पावस्स य)** पापकर्म का **(आसवं)** आस्रव **(कुणदि)** करते हैं।

अर्थ—बहुत प्रमाद वाली चर्या, चित्त का मलीनपना और इन्द्रिय विषयों के प्रति लोलुपता तथा दूसरों को दुखी व निन्दा करने वाला पाप का आस्रव करता है।

बहुत प्रमाद सहित हो चर्या, और चित्त का मलीनपना।
पञ्चेन्द्रिय के विषयों में हो, राग भाव से लोभपना॥
अन्य जीव को दुख देना औ, पर को अपवादित करना।
इन भावों से पापास्त्रव हो, तीर्थंकर प्रभु का कहना ॥१४७॥

व्याख्यान—प्रमाद की बहुलता होने से शास्त्र की विनय नहीं रख पाते और चित्त की कलुषता से विवेक खो जाता है। जबकि विवेक के बिना कोई कार्य समीचीन नहीं होता। शास्त्र गिर जाए तो अविनय होने से प्रायश्चित लेना होता है। श्री जी को उठाने के उपरान्त अभिषेक करके जब तक वेदी में विराजमान नहीं करें तब तक इधर-उधर के कार्य नहीं करना, यह विवेक और विनय माना जाता है। उसी प्रकार शास्त्र जहाँ से लाये हैं वहाँ अच्छे से विराजमान करें, किन्तु आज लोगों में विवेक खोता चला जा रहा है। दर्शन करते समय चावल ऐसे चढ़ाते हैं जैसे वर्षा कर रहे हों, यह अविनय है। इससे चींटी वगैरह आ जाती हैं और बच्चों के हाथ में तो चावल देना ही नहीं चाहिए। चढ़ाने का निषेध नहीं है लेकिन जो व्यवस्था है उसे भंग कर देते हैं। चावल फेंकते हैं तो उसका कोई मूल्य नहीं रहता, इसलिए विवेक से कार्य करो। धर्म हमेशा विवेक सिखाता है और विवेक के बिना भेदविज्ञान नहीं हो सकता। विवेक रहित होने से कर्म कटते नहीं और बँधते हैं। इस प्रकार प्रमाद आदि से पाप का आस्रव होता है।

उत्थानिका—पापास्रव के कारणभूत भाव को अब विस्तार से कहते हैं–

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पापप्पदा होंति॥१४८॥

अन्वयार्थ—(सण्णाओ) चार संज्ञाएँ **(य)** तथा **(तिलेस्सा)** तीन लेश्या **(इंदियवसदा)**

इन्द्रियों के अधीन हो जाना **(य)** और **(अत्त-रुद्दाणि)** आर्त्त-रौद्रध्यान **(दुप्पउत्तं णाणं)** खोटे कार्यों में लगाया हुआ ज्ञान **(च)** और **(मोहो)** मोहभाव ये सब **(पावप्पदा)** पाप के देने वाले **(होंति)** होते हैं।

अर्थ—चार संज्ञाएँ, तीन अशुभ लेश्याएँ, इन्द्रियों के आधीन हो जाना, आर्त-रौद्रध्यान, खोटे कार्यों में लगाया हुआ ज्ञान और मोहभाव ये सब पापप्रद हैं।

आहार, भय, मैथुन औ परिग्रह, चारों संज्ञा का होना।
तीन अशुभ लेश्या औ इन्द्रिय, विषयों के वश में होना॥
दुरुपयोग ज्ञान का करता, आर्त-रौद्र दो ध्यान करे।
मोहजनित भावों को यतिवर, पाप प्रदाता मान रहे॥१४०॥

व्याख्यान—संज्ञा के अनेक अर्थ होते हैं पर यहाँ प्रसंग में संज्ञा का अर्थ इच्छा है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञाएँ हैं जो कर्मोदय से होती हैं। इससे सम्बन्धित कषाय का उदय जहाँ तक है वहीं तक संज्ञाएँ हैं। दर्शनमोहनीय के कारण संज्ञाएँ नहीं होतीं किन्तु चारित्रमोहनीय के कारण होती हैं। चारित्रमोहनीय की १६ कषाय व ९ नोकषाय इस प्रकार २५ प्रकृतियाँ हैं, उनमें अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये सभी कषाय संज्ञा को उत्पन्न करती हैं। जब तक लोभ रहता है तब तक ये संज्ञाएँ जागृत रहती हैं। जब तक आत्मस्थ नहीं होते, तब तक आहार संज्ञा से भी नहीं बच सकते। ज्यों ही बाहर आयेंगे तो आहार की इच्छा हो सकती है, हो ही जाए यह नियम नहीं है। तीर्थंकर जब तक घर में रहते हैं और दीक्षा भी ले लेते हैं तो उन्हें भी आहार के लिए उठना पड़ता है। एक-इन्द्रिय विषयों की अपेक्षा आहार की इच्छा और दूसरी-वेदनीय कर्म को शान्त करने अर्थात् क्षुधा वेदना को शान्त करने के लिए, तपादिक अनुष्ठान करने की भावना से आहार की इच्छा करना इन दोनों में अन्तर है। पंडित दौलतराम जी ने लिखा है–**''लैं तप बढ़ावन हेतु, नहिं तन पोषते, तजि रसन को''** मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, ऐलक एकमात्र तप-संयम की साधना और शरीर की स्थिरता के लिए आहार लेते हैं। आहार की इच्छा का नाम आहार संज्ञा है। कुछ लोगों का कहना है कि तीर्थंकर मुनि जब आहार को उठते हैं तो दिखाने के लिए उठते हैं, वो भक्ति के अतिरेक में ऐसा कहते हैं। उनकी भक्ति कहती है कि भगवान्! भूखे थोड़े ही हैं वो तो दिखा रहे हैं कि इस प्रकार चर्या की जाती है लेकिन ऐसा नहीं है। स्वयं क्षुधा की शान्ति के लिए श्रावकों के यहाँ जाकर प्रासुक आहार लेकर आ जाते हैं।

परिग्रह संज्ञा का विशेष विवेचन—जिसके पास तिल-तुष मात्र भी परिग्रह है वे भय संज्ञा से बच नहीं सकते। जिसके पास जितना परिग्रह होगा वह उतना ही भयभीत होगा। सेठ ने ताला तो बन्द कर दिया लेकिन चाबी गायब हो जाए तो सर्दी के दिनों में भी पसीना आ जाता है। परिग्रह जहाँ है वहाँ मरण का भी भय रहता है, उससे उद्वेग आता है कि कोई मुझे मार न दे, इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प करता है। दस प्रकार के बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह इस प्रकार २४

परिग्रह हैं। बाह्य परिग्रह को छोड़ना हमारे हाथ में है, इसे छोड़ सकते हैं लेकिन भीतरी परिग्रह को एकदम नहीं छोड़ सकते क्योंकि वह कर्म के उदय से है, जो हमारे वश की बात नहीं है। हाँ, यदि बाह्य पदार्थों को बुद्धिपूर्वक न चाहें तो बाह्य परिग्रह का त्याग कर सकते हैं लेकिन भीतरी परिग्रह जो कर्म के उदय से है उस कर्म का उदय व उदीरणा कथञ्चित् हमारे परिणामों पर आधारित है क्योंकि उनकी सत्ता भिन्न है। उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न है। इसलिए परिणामों के कारण कभी भी उदीरणा हो सकती है।

शुभाशुभ भावों द्वारा रत्नत्रय में उतार चढ़ाव सम्भव—जैसे कोई आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त उपरान्त रत्नत्रय को धारण कर लेता है लेकिन अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त ही पुनः मिथ्यादर्शन आदि में आ सकता है। ऐसा नहीं कि उसने द्वार बन्द कर दिया हो कि मिथ्यात्व का उदय अब आये ही नहीं और वह मिथ्यात्व गुणस्थान में आकर देव हो गया। जीवनपर्यन्त मिथ्यात्व में रहा, ३१ सागर की आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। इसलिए एक बार मुनि हो गए तो फिर कर्म का उदय ही नहीं आए ऐसा नहीं है। बाहर में दिगम्बरत्व बना हुआ है लेकिन भीतर से संयमलब्धि समाप्त हो गई। जैसे—श्रावकों के यहाँ बिजली चली गई लेकिन वायरफिटिंग तो ज्यों की त्यों रहती है। यहाँ वायरफिटिंग का अर्थ दिगम्बरत्व है और बिजली अर्थात् संयमलब्धि है। जिसके जाने के बाद भी वह आवश्यक तो करते ही रहते हैं। उन आवश्यकों के माध्यम से पुनः वह प्राप्त भी हो सकती है किन्तु उन्हें पता नहीं चलता। कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ लेश्या रूप परिणाम और इन्द्रिय के वशीभूत होना ये पापास्रव के कारण हैं। इन्द्रिय रूपी नौकरों के वशीभूत होना ठीक नहीं है। बड़ी दुकान या लम्बी-चौड़ी खेती-बाड़ी है उसके लिए यदि नौकर रख लिए तो नौकर के वशीभूत होना ही पड़ेगा, ऐसा कोई अनिवार्य नहीं। उसी प्रकार इन्द्रियाँ हैं तो उसके वशीभूत होना ही पड़ेगा ऐसा आवश्यक नहीं है। लेकिन इन्द्रिय के वशीभूत होने से पाप का आस्रव अवश्य होता है। यह मत कहो कि वो नहीं बच रहे तो हम कैसे बच सकते हैं? वो नरक जायेंगे तो क्या हम भी उनका अनुसरण करेंगे? नहीं। तो इन्द्रियवश्यता छोड़ दो, तीन लेश्या और संज्ञाओं को छोड़ दो तभी संयमलब्धि आयेगी और गुणस्थान बदलेगा।

यदि संयमासंयम लब्धि आती है तो पञ्चम गुणस्थान में आ जायेंगे। हाथ में पिच्छिका-कमण्डलु है, मुनि महाराज हैं लेकिन पञ्चम गुणस्थान में आने से कोई रोक नहीं सकता, इसलिए होशियार रहो। गोदाम में हजारों गुड़ की भेलियाँ रखी हुई हैं और बाजार मन्दा हो जाए, भाव और नीचे ही जा रहे हैं तो वह दुखी हो जाता है और यदि उसका भाव बढ़ता ही जा रहा है तो वह फूल जाता है इसे इन्द्रियवश्यता कहते हैं। भेलियाँ ज्यों की त्यों रखी हैं केवल भावों में उत्थान-पतन हो रहा है। ऐसे ही दिगम्बरत्व ज्यों का त्यों है मात्र गुणस्थान बदलकर पञ्चम गुणस्थान हो गया है जिससे पूर्व में जो असंख्यातगुणी कर्म की निर्जरा हो रही थी, वह अब नहीं हो रही है। धर्म्यध्यान चाहते हैं लेकिन

धर्म्यध्यान की पहचान ही नहीं है तो आर्त-रौद्र ध्यान को ही पहचान लो। आर्त-रौद्र ध्यान जब नहीं होगा तभी धर्म्यध्यान होगा। परिग्रह की रक्षा करने के भाव में रौद्रध्यान बना रहता है ''**हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः**'' यह **तत्त्वार्थसूत्र** में आया है। मानलो कोई धर्मशाला में आकर रुक गया, उसने अपना सामान रखकर ताला लगा दिया और चाबी लेकर चला गया। दूसरा श्रावक सोचता है एक दिन हो गया, दो दिन हो गये, खुल क्यों नहीं रहा है? तो उसने अपने नाम से कमरा ले लिया और उसके ऊपर एक ताला और लगा दिया। ऐसा जो होता है, यह रौद्रध्यान है। इस रौद्रध्यान से कैसे बचें? क्योंकि परिग्रह की रक्षा करना भी आवश्यक है, जो रौद्रध्यान के बिना सम्भव ही नहीं। पैसा आता है तो दुख दर्द देता है। पैसा जाता है तो दुख दर्द देता है और नहीं आता है तो भी दुख दर्द देता है। रौद्रध्यान का मूल कारण क्या है यह जब जान लिया तो इससे जो बचे हैं उन्हें नमन करें। जिन्होंने परिग्रह पोट उतार लिया है ऐसे ''**णमो लोए सव्वसाहूणं**'' तीन कम नौ करोड़ मुनिराजों को नमन करो, यह एक महामन्त्र है।

ज्ञान का दुरुपयोग करना भी पापास्रव का कारण है जबकि स्वाध्याय पुण्यास्रव का कारण है। जो ज्ञान पञ्चेन्द्रिय विषय, ख्याति, पूजा, लाभ की ओर चला जाता है वह ज्ञान का दुरुपयोग है, वह पापास्रव का ही कारण होगा। ''**स्वाध्यायः परमं तपः**'' कहा है लेकिन यदि व्यवसाय में कारण है तो परम तप नहीं है। पहले ग्रन्थ का मूल्य 'सदुपयोग' रखा जाता था इससे स्वाध्याय या ज्ञानार्जन होता था, 'सर्वाधिकार सुरक्षित' नहीं लिखा जाता था। आजकल एक चिह्न बना देते हैं © जो कि ज्ञान के दुरुपयोग के अन्तर्गत ही आता है।

शंका—© क्या है ?

समाधान—© अर्थात् कॉपीराइट है। श्री कुन्दकुन्ददेव ने जो कुछ भी लिखा, कहीं © नहीं आया है। © (see) अर्थात् परमात्मा को देखो। इस आशय को तो उड़ा दिया और '**सर्वाधिकार सुरक्षित**' लिख दिया अर्थात् अब इसे कोई बिना पूछे नहीं छपवा सकता है। यह ज्ञान का दुरुपयोग है, मोह है, जो पापास्रव का कारण है। आहारादि संज्ञा से रहित शुद्ध चैतन्य परिणति होती है। जहाँ ये चार संज्ञाएँ होती हैं वहाँ शुद्धात्मानुभूति नहीं होती है, इसलिए सर्वप्रथम इन संज्ञाओं का नियन्त्रण आवश्यक है। गृहस्थदशा में चार प्रकार की संज्ञाएँ जा ही नहीं सकतीं। मुनि होने के उपरान्त भी कुछ संज्ञाएँ बच जाती हैं। चार कषाय और तीन योग का अभाव होने से शुद्ध चैतन्य का प्रकाश होता है। कषाय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति रूप जो छह लेश्याएँ हैं उसमें तीन तो अशुभ हैं जो पापास्त्रव में कारण हैं और अतीन्द्रिय सुख की परिणति को छुड़ाने वाली हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी क्यों न हो, गृहस्थदशा में छहों लेश्याएँ हो सकती हैं। गृहस्थ का अर्थ-अविरत सम्यग्दृष्टि से तात्पर्य है। ज्यों ही पञ्चेन्द्रिय विषयों की ओर झुकाव हुआ, त्यों ही आत्मा का आश्रय समाप्त हो जाता है और पापास्त्रव हो जाता है, भले ही वह विषयों को ग्रहण करे या न करे किन्तु भावों में आते ही पापास्त्रव हो जाता है, यह

नियम है। जैसे—फोटो निकालते समय बटन दबते ही जैसी भी अवस्था है वैसी ही फोटो आ जायेगी। उसी प्रकार मन में भाव आते ही पापास्रव हो जायेगा। चाहे वज्रकपाट लगाकर भी रहें तो उसमें भी कर्म का आस्रव हो जाता है। जल में जाओ, थल में जाओ, चाहे नभ में जाओ, कहीं भी जाओ, भावों के अनुरूप बन्ध होगा। इसीलिए सावधान हो जाओ, नहीं तो और दण्ड मिलेगा। किये गये पापों को सहजता से स्वीकार कर लो, यह मत कहो कि हमने कब किया? इतिहास देख लो, यह इतिहास एक घण्टे, एक मिनट या एक सेकेण्ड का भी हो सकता है जो अन्तर्मुहूर्त में भी उदय में आ सकता है। सम्यग्दृष्टि भी कर्म बाँधता है लेकिन उसकी आबाधा अन्तर्मुहूर्त बाद समाप्त होकर वह प्रकृति उदय में आ सकती है इसीलिए जो कुछ भी उदय में आ रहा है वह अपने भावों के निमित्त से बँधा हुआ कर्म ही आ रहा है। यह मत कहो कि यह खबर कैसे छप गई? ऐसा तो मैंने किया ही नहीं। यह इतिहास स्वयं का है किसी दूसरे का नहीं।

हिस्टेरिया रोग मनुष्य को ही होता है, पशुओं को नहीं। डॉक्टर से अभी तक सुना नहीं कि पशुओं को भी हिस्टेरिया रोग होता है। डीप में जब प्रेस हो जाता है तो डिप्रेसन में चला जाता है। ऐसा वर्तमान में बहुत हो रहा है। भले ही घड़ी का डायल गोल लगा लो या चौकोर लगा लो किन्तु काँटा जो घूमता है वह सर्कल में ही घूमता है। ४-५ खण्ड का मकान बना लेने पर लगने लगता है कि चक्रवर्ती का भवन भी कुछ नहीं है। लेकिन चक्रवर्ती को अपना रस अलग ही आता रहता है। बहुत पेट भरने के बाद ऐसा लगता है कि अब इच्छा नहीं है लेकिन अनथऊ की इच्छा तो रहती है, यह इच्छा नहीं जाती है। चक्रवर्ती की भी यह इच्छा नहीं जाती। एक आम के पीछे सात समन्दर पार चला जाता है। किसी भी व्यक्ति की इच्छा को टटोलना चाहें तो ऊपर से बहुत शान्त लगता है किन्तु जो इच्छाएँ भरी हैं वह तो केवलज्ञान होने पर ही ज्ञात होंगी। आज की दुनिया में व्यक्ति बहुत कुछ इकट्ठा करता जा रहा है, भूसा तक नहीं छूट रहा है। भूसे से भी तेल निकाल रहा है। भूसे के बिस्किट खा रहे हैं। पहले गायों को खली खिलाई जाती थी अब स्वयं को खिला रहे हैं, यह सब पञ्चेन्द्रिय और मन के विषय हैं।

आर्तध्यान के भेद व स्वरूप—इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, पीड़ाचिन्तन, निदानबन्ध ये चार आर्तध्यान हैं। इसमें निदानबन्ध को छोड़कर शेष तीन छठवें गुणस्थान तक होते हैं। इष्टवियोग का अर्थ इन्द्रिय विषय से सम्बन्धित है। कहीं-कहीं यह धर्म्यध्यान की अपेक्षा से भी लगाया जा सकता है। इष्ट का संयोग कब होगा? और अनिष्ट जो है वह कब जायेगा? इस प्रकार निरन्तर चिन्तन चलता रहता है अर्थात् जब तक स्वस्थदशा प्राप्त नहीं होती है तब तक चाहता है कि कब स्वस्थ हो जाऊँ और स्वस्थ होने पर चाहता है कि अस्वस्थ न हो जाऊँ। इस तरह आर्तध्यान हमेशा चलता रहता है। मैं तो हमेशा स्वस्थ रहता हूँ, पर तुम तो रोगी बने रहते हो क्योंकि तुमने औषधदान नहीं दिया होगा इसलिए ऐसा हो रहा है। इसमें भी मद आ गया, यह भी आर्तध्यान है। हे भगवन्! हमारा परिवार अच्छा बना रहे और कुछ नहीं चाहते, यह भी एक प्रकार का आर्तध्यान है। आर्तध्यान को समझना बड़ा

मुश्किल है। किसी के पास मन्त्र सिद्धि है और उस सिद्ध मन्त्र से सिरदर्द दूर करने का प्रयत्न कर रहा है, इससे निश्चित रूप से परीषहजय समाप्त हो जायेगा और आर्तध्यान हो जायेगा। यदि **''णमो अरहंताणं''** कर्मों को काटने के लिए बोला है तो कर्मक्षयार्थं होने से तप हो जायेगा, किन्तु रोग को ठीक करने के लिए बोला है तो कर्म निर्जरा नहीं होगी। इसलिए णमोकारमन्त्र का उपयोग कर्म निर्जरा के लिए करें। सिर में दर्द असाता का उदय है इसलिए हो रहा है। यह कर्म का स्वभाव है। यदि शान्ति से सहन करेंगे तो कर्म निर्जरा का कारण बनेगा क्योंकि परीषहजय करने से संवर भी होता है और निर्जरा भी होती है लेकिन शान्ति से सहन न करे तो नूतन कर्म बँध जाते हैं। **राजवार्तिक** में लिखा है–दुख को मिटाने के लिए जो भक्ति की जाती है उसे प्रशस्त राग माना गया है।

शंका–यहाँ दुख किसे कहा है?

समाधान–वस्तुतः कर्म ही दुखों का मूल कारण है। सिरदर्द को दुख नहीं माना; बल्कि जिस कर्म के उदय के कारण सिरदर्द हो रहा है वह कर्म ही दुख स्वरूप है। अब यदि सिरदर्द को दूर करने के लिए भक्ति करेंगे तो आर्तध्यान होगा परन्तु दुखों के कारण स्वरूप कर्म क्षय के लिए भक्ति करने में कोई बाधा नहीं है। श्री पूज्यपादस्वामी ने दस भक्तियाँ लिखी हैं लेकिन जो शुद्धोपयोग में लीन हैं वे यदि यह भक्ति नहीं करते तो इसमें कोई बाधा नहीं है। दुख का अर्थ यहाँ शारीरिक या मानसिक दुख नहीं है। ज्ञानीजन तो मन में जो खेद–खिन्नता आती है उसको भी दूर करने के लिए भक्ति नहीं करते बल्कि कर्मोदय के कारण जो विकल्प होते हैं, उसमें ज्ञाता–दृष्टा बने रहने का पुरुषार्थ करते हैं। वस्तुतः कष्ट कुछ है ही नहीं। भगवान् के स्वरूप को याद रखो, इससे स्वयं ही ज्ञाता–दृष्टा रहने लग जाओगे क्योंकि पड़ोसी को कष्ट होने से स्वयं को कष्ट नहीं होता है। उसी प्रकार ज्ञानी सब कष्टों को पड़ोसी के कष्ट के समान समझ लेते हैं।

रौद्रध्यान का स्वरूप–क्रोधादि आवेश से रहित जो शुद्धात्मानुभूति है उससे पृथक्भूत क्रूरचित्त का जो रौद्र परिणाम है उससे हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह संरक्षण में आनन्द मनाना, ये चार प्रकार के रौद्रध्यान माने गए हैं। हिंसा करके आनन्द मनाना, १० रुपये की वस्तु को झूठ बोलकर १०० रुपये में बेचकर आनन्द मनाना, १ लाख की वस्तु को १००० रुपये में ले लिया और आनन्द मनाना कि शान्तिनाथ भगवान् की सवेरे भक्ति करने का यह फल मिल गया। हे भगवन्! आज दुकान की बौनी बहुत अच्छी हुई या दिन भर दुकान बहुत अच्छी चली ऐसे ही आगे भी चलाना। जो शुद्धोपयोग व शुभोपयोग से रहित अशुभोपयोग में रहकर ज्ञान का दुरुपयोग करते हैं उनके भावों में दुष्ट प्रवृत्ति हो जाती है। मोहोदय से उत्पन्न जो ममत्व भाव है वह विकल्पजाल से रहित स्वसंवेदन का विनाशक है। मोह में दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय दोनों आ जाते हैं इससे विभाव परिणमन और पापास्रव होता है। इस प्रकार पाप परिणति का निमित्त पाकर द्रव्य पापास्रव के कारणभूत जो परिणाम हैं वो सभी भाव पापास्रव कहलाते हैं, यही जानना चाहिए। इस प्रकार नौ पदार्थ के प्रतिपादक रूप द्वितीय

महाधिकार में पुण्य और पापास्त्रव की मुख्यता से ६ गाथाओं द्वारा छठवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

उत्थानिका—शुभाशुभ विकल्पों से रहित, जिसे शुद्धात्म संवेदनरूप परम उपेक्षा संयम कहते हैं, जिसमें सर्व विकल्प थम जाते हैं, कर्मों का आस्त्रव रुक जाता है ऐसा परम उपेक्षा संयम साध्यरूप है और वही संवर है। ऐसे संवर के व्याख्यान में **इंदियकसाय** इत्यादि तीन गाथाओं की यह समुदाय उत्थानिका है। अब पूर्व सूत्र में जो पापास्त्रव का कथन किया था उसका संवर कैसे होता है? इसका व्याख्यान करते हैं—

इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गम्मि।
जावत्तावत्तेहिं पिहियं पावासवच्छिद्दं ॥१४९॥

अन्वयार्थ—(जेहिं) जिनके द्वारा **(सुट्ठुमग्गम्मि)** उत्तम रत्नत्रय मार्ग में ठहरकर **(जावत्)** जब तक **(इंदियकसायसण्णा)** इन्द्रिय, कषाय व चार आहारादिक संज्ञाएँ **(णिग्गहिदा)** रोक दिये जाते हैं **(तावत्)** तब तक **(तेहिं)** उन्हीं के द्वारा **(पावासवं छिद्दं)** पापास्त्रव के अनेक छेद **(पिहियं)** बन्द कर दिए जाते हैं अर्थात् उतनी देर तक संवर रहता है।

अर्थ—सम्यक् मार्ग में ठहरकर जब इन्द्रिय, कषाय व चार आहारादि संज्ञाओं का जो निग्रह करते हैं तब उनके द्वारा पापास्त्रव का छिद्र बन्द कर दिया जाता है।

जो आतम सम्यक् प्रकार से, संवर के पथ में रहते।
पञ्चेन्द्रिय के विषय-कषाय व, संज्ञा का निग्रह करते॥
जितनी पाप प्रकृतियाँ रुकतीं, उतनी शुभ परिणति होतीं।
पापास्त्रव के छिद्रों को तब, वह आतम निश्चित ढँकती ॥१४९॥

व्याख्यान—संवर के कारणभूत रत्नत्रय लक्षण रूप मोक्षमार्ग में स्थित होकर जिसने इन्द्रिय, कषाय और संज्ञा का निग्रह किया है उनके द्वारा जितने अंश में आस्त्रव का निरोध होता है उतना ही संवर होता है। यहाँ रत्नत्रय लक्षण रूप मोक्षमार्ग कहा है। कुछ लोगों का आग्रह रहता है कि रत्नत्रय में से यदि एक भी हो तो भी उसे मोक्षमार्ग मान लेना चाहिए किन्तु आचार्यों ने यहाँ मोक्षमार्ग रत्नत्रय रूप कहा है। उन लोगों का कहना है कि—जब सम्यग्दर्शन होता है तो सम्यग्ज्ञान भी हो जाता है और चारित्रमोहनीय की प्रकृति जो अनन्तानुबन्धी है उसके अनुदय हो जाने से सम्यक्चारित्र भी हो गया, लेकिन हम इसे रत्नत्रय नहीं कह सकते हैं क्योंकि जहाँ संयमलब्धि होती है उसे ही चारित्र संज्ञा दी जाती है। संयमासंयम को भी चारित्र नहीं कह सकते क्योंकि वहाँ पर भी रत्नत्रय नहीं है। घर में रत्नत्रय की मान्यता आगम से विपरीत है। ऐसा श्रद्धान करने वाले आस्त्रव, बंध, संवर व निर्जरा इन चारों ही तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान कर रहे हैं। उन्हें संसार व मोक्ष का न तो यथार्थ स्वरूप ज्ञात है और न ही उसका यथार्थ श्रद्धान है। वे अभी भूल-भुलैया में ही घूम रहे हैं। आगम के अनुसार जीव प्रथम

गुणस्थान में १६, द्वितीय गुणस्थान में २५, तृतीय गुणस्थान में ० और चतुर्थ गुणस्थान में १० प्रकृतियों की क्रम से बन्ध व्युच्छित्ति करता है। जिनका कि आगे-आगे के गुणस्थानों में स्थित जीवों में आस्रव नहीं होता है अर्थात् संवर हो जाता है। इस तरह से अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव ४१ प्रकृतियों का संवर करता है।

पापास्रव के कारणों को रोकने से संवर—इन्द्रिय, कषाय और संज्ञाओं को जितना नियन्त्रण में रखते हैं उतना ही उपयोग स्थिर रहता है, इसी का नाम संयम है। क्योंकि उपयोग को स्थिर व शुद्ध रखने के लिए ही संयम ग्रहण किया जाता है। यदि इन्द्रिय विषयों की पूर्ति में तथा कषाय और संज्ञाओं में ही लगे रहे तो उपयोग मलिन हुए बिना नहीं रहेगा। इसीलिए साधु के २८ मूलगुणों में ५ मूलगुण इन्द्रियविजय के रूप में हैं। इन्द्रिय विषयों में व्यापार होते ही यह गुण निश्चित रूप से मलिन हो जाते हैं। चूँकि इन्द्रियाँ मन के आधीन हैं अत: इन्द्रिय विजय के साथ-साथ जितमना होने के लिए मन का भी निग्रह आवश्यक है। मन चंचल है व ख्याति, पूजा के लिए जीवनपर्यन्त व्यर्थ के कामों में भी लग सकता है। मन यदि इन्द्रिय विषयों के प्रति रुचि जागृत कर सकता है तो मन में इन्द्रिय विषयों के प्रति उदासीनता भी आ सकती है, मन में ये दोनों ही संभावनाएँ हैं। संयमी मन के अधीन नहीं रहते, इन्द्रियों को इष्ट लगे या अनिष्ट वे सब कुछ सहन करते हुए आगम के अनुसार ही चर्या करते हैं। श्रावक और साधु में यही सबसे बड़ा अन्तर है कि **साधु मन को मना लेता है और श्रावक मन की मान लेता है।** असंयमी का मन नहीं लगता तो वह गाड़ी उठाकर घूमने चला जाता है इसमें पेट्रोल भी खर्च होता है और जीवों की विराधना भी होती है। वैसे ही ८४ लाख योनियों में घूम रहा है, किन्तु मुनिमहाराज चार माह तक एक ही स्थान पर रुकते हैं, हमेशा के लिए नहीं रुकते, चातुर्मास होते ही विहार कर जाते हैं क्योंकि रास्ता प्रासुक हो जाता है। असंयमी जीव घूमने-फिरने में ही अपना पैसा व पुण्य दोनों खर्चकर मात्र पाप का ही अर्जन करता है तथा कमाये हुए पाप से दुर्गतियों में जाता है, जबकि संयमी जीव यहाँ कमाये हुए पुण्य को सद्गतियों में जाकर खर्च करते हैं। खर्च का मतलब भोगकर आ जाते हैं। जो जितना इन्द्रिय विषय लोलुपी होता है वह उतना ही आवागमन ज्यादा करता है, देश-विदेश में घूमता है। इसीलिए जब तक इन्द्रियनिग्रह नहीं होता तब तक पाप का आस्रव होने से जीव संसार में भटकता ही रहता है। पापास्रव का जो द्वार है उसे बन्द करना ही संवर है।

किसी नाव में जल का प्रवेश कब होता है? जब कोई छेद होता है। उसी छेद को यहाँ आस्रव के रूप में लिया है और वह आस्रव पुण्य-पाप दोनों का होता है। यहाँ पुण्य-पाप की नहीं उसके आस्रव की चर्चा है। पुण्य-पाप के स्वरूप, उसकी स्थिति और अनुभाग बन्ध का विशेष वर्णन पूर्व में ही कर चुके हैं।

उत्थानिका—आगे सामान्य से पुण्य-पाप के संवर का स्वरूप कहते हैं—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१५०॥

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसके **(सव्वदव्वेसु)** सर्व द्रव्यों में **(रागो दोसो मोहो वा)** राग, द्वेष, मोह **(ण विज्जदि)** मौजूद नहीं है , उस **(समसुहदुक्खस्स)** सुख व दुख में समान भाव के धारी **(भिक्खुस्स)** साधु के **(सुहं असुहं)** शुभ या अशुभ कर्म **(णासवदि)** नहीं आते।

अर्थ—जिसके भीतर सर्व द्रव्यों के प्रति राग, द्वेष, मोह नहीं है, ऐसे सुख-दुख में समान भाव के धारी साधु के शुभ या अशुभ कर्म आस्रवित नहीं होते हैं।

जिनके समस्त परद्रव्यों में, राग-द्वेष ना होता है।
सात तत्त्व की अश्रद्धा मय, मोह भाव ना रहता है॥
सुख-दुख के प्रति समताधारी, जो मुनि साधक रहते हैं।
उन भिक्षुक के अशुभ और शुभ, कर्मास्रव ना होते हैं ॥१५०॥

व्याख्यान—पुण्य और पाप का फल जो सुख-दुख रूप है इनके बन्ध के समय पर नहीं अपितु भोगने के समय पर जिसके चित्त में समभाव है उन्हीं की साधुता सार्थक है क्योंकि समभावों के अभाव में बहिरंग भेषमात्र रह जायेगा, जिसका कि आत्मा के भावों के साथ कुछ लेन-देन नहीं है। यदि भेष के अनुसार भाव नहीं हैं तो भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव माने जायेंगे। जिस साधक को सर्व परद्रव्यों के प्रति राग-द्वेष और मोह नहीं है ऐसे अनूठे साधक को ही संवर होता है। समता भाव रखने वाले, सबसे बड़ी दुकान वाले हैं। समता नहीं है तो ठेले वाले से भी गये बीते हैं क्योंकि ठेले वाले को तो फिर भी कुछ न कुछ आमदनी हो जाती है लेकिन यदि समता नहीं है, राग-द्वेष नहीं छोड़ पा रहे हैं तो कोई आमदनी नहीं होगी, साधु जीवन व्यर्थ चला जायेगा।

राग-द्वेष-मोह नहीं करना परम धर्म है। जिसे ग्रन्थों में यथाख्यात कहा है। जैसा आत्मा का स्वभाव कहा है वैसा ही बना रहना यह यथाख्यात अथवा अथाख्यात है, इसमें शुभाशुभ कर्म आस्रवित नहीं होते। जो शुद्धोपयोग से युक्त हैं उन्हें ही एकान्त में इसका आनन्द आता है। कर्म के उदय में भी शान्त रहें, राग-द्वेष नहीं करें तो शुद्धोपयोग के परिणाम स्वरूप संवर हो जाता है। पदार्थ के स्वरूप को जिसने समीचीन रूप से जान लिया है, संयम और तप से जो युक्त हैं, जिसमें राग नहीं रहा, उस श्रमण का नाम शुद्धोपयोगी है। छह संहनन में से कोई भी संहनन हो तो भी रत्नत्रय का शुद्धरूप से वह पालन कर सकता है, आत्मा का अनुभव कर सकता है तथा आत्मध्यान के फलस्वरूप लौकान्तिकदेव या इन्द्रत्व को भी प्राप्त कर सकता है।

लौकान्तिक देव और इन्द्र कौन बन सकते हैं—पञ्चकल्याणक और विधान आदि में इन्द्र की स्थापना करने मात्र से इन्द्र नहीं बनते, अपितु पूर्व में आत्मानुभव जिसने किया है, वे ही इन्द्रत्व

को प्राप्त करते हैं। गृहस्थ या सवस्त्र इन्द्रत्व को प्राप्त नहीं कर सकते। ग्रन्थों में कहीं यह उल्लेख नहीं मिला कि कोई आर्यिका, ब्रह्मचारी, ऐलक, क्षुल्लक या क्षुल्लिका व्रत का निर्दोष पालन करके इन्द्र हो गये हों। कठिन तपस्या करने वाली सीता भी सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र बनी। जैसे–ग्रन्थों में शिष्य–प्रतिशिष्य, गणधर–प्रतिगणधर, नारायण–प्रतिनारायण आदि शब्द आते हैं वैसे ही इन्द्र और प्रतीन्द्र होते हैं। निरन्तर १२ अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने वाले मुनि ही सोलहवें स्वर्ग से ऊपर जाकर अहमिन्द्र और लौकान्तिक बन सकते हैं, अन्य कोई नहीं बन सकते। वे लौकान्तिकदेव बनकर भी निरन्तर १२ भावनाओं के चिन्तन में तत्पर रहते हैं, इससे कोई भी सांसारिक आकर्षण उन्हें आकर्षित नहीं कर पाता। इसलिए यह मत सोचो कि जब कभी भी १२ भावना भा लेंगे। बारह भावनाओं का चिन्तन बहुत दुर्लभ हैं। तिलोयपण्णत्ति और राजवार्तिक आदि ग्रन्थों में भी कहा है और द्रव्यसंग्रह की टीका में भी आता है–**सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मा मानमेव भावयति...विशिष्ट-पुण्यमास्त्रवति तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलौकान्तिकादि विभूति प्राप्य।** सम्यग्दृष्टि जीव भी निजशुद्धात्मा की ही भावना करता है परन्तु जब चारित्रमोह के उदय से निजशुद्धात्मा की भावना में असमर्थ होता है तब पञ्चपरमेष्ठी पद की प्राप्ति के निमित्त और विषय–कषायों से दूर रहने के लिए दान, पूजा आदि से अथवा गुणों की स्तुति आदि से वांछा बिना परमभक्ति करता है। उससे विशिष्ट पुण्य का आस्त्रव होता है और उस पुण्य से स्वर्ग में इन्द्र, लौकान्तिकदेव आदि की विभूति को प्राप्त होता है। अर्थात् जैसे किसान जब चावलों की खेती करता है तब उसका मुख्य उद्देश्य चावल उत्पन्न करने का रहता है। पलाल (घास) की वांछा नहीं रहती है तथापि उसको बहुत–सा पलाल मिल ही जाता है। इसी प्रकार मोक्ष चाहने वाले जीवों को निर्वाञ्छित भक्ति करने से पलाल के समान ये पद मिलते हैं। कुछ लोग इस संस्कृत टीका से ऐसा अर्थ निकालते हैं कि गृहस्थ भी लौकान्तिकदेव, इन्द्र बन सकते हैं लेकिन संस्कृत टीका में तो ऐसी ध्वनि नहीं निकलती। फिर भी हम मना क्यों करें। यदि गृहस्थ भी इन्द्र–लौकान्तिक देव हो जाए तो अच्छी बात है। लौकान्तिक–देव १२ भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं। यहाँ के संस्कार वहाँ पर भी बने रहते हैं। उनकी पोशाक और उनके आवास अलग ही रहते हैं, जो पञ्चम स्वर्ग ब्रह्मलोक के अन्त में हैं। **राजवार्तिककार** ने कहा है कि यह अगम्यस्थान है अर्थात् जाने योग्य भी नहीं और छद्मस्थ द्वारा जानने योग्य भी नहीं है। तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म कल्याणकों में वह नहीं आते, केवल दीक्षाकल्याणक में तप की प्रशंसा करने के लिए आते हैं। इनकी कुल संख्या ४ लाख ७ हजार ८२० है। लौकान्तिक बनने का अर्थ है कि अब यह एक ही भव धारण करेंगे। द्विचरम, अनुदिश और अनुत्तर वाले कहे जाते हैं। नीचे वाले देवों में किसी को भी द्विचरम की संज्ञा नहीं है लेकिन लौकान्तिक देव सर्वार्थसिद्धि के देवों के समान एक भवावतारी होते हैं। यह बहुत बड़ा पद माना जाता है। इनकी बहुत कम सीट होने से यह पद नहीं भी मिले तो घबराओ नहीं, भगवान् का समवसरण मिल जाए ऐसा पुरुषार्थ करें। वहाँ जाकर समता से अरहंत–

सिद्ध का नाम लें। वैसे बच्चों की अपेक्षा वृद्धों में ज्यादा समता देखने में आती है। खा-पीकर, ओढ़कर, एक कोने में बैठकर दिन निकाल लेते हैं। मेले में घूमने, पञ्चकल्याणक आदि देखने के लिए सभी लोग चले जाते हैं, पर बूढ़े लोग घर की रखवाली के लिए रह जाते हैं, वे कहते हैं कि हमने सब देख लिया है। उस वक्त ऐसा लगता है जैसे शुभाशुभ संकल्प-विकल्प रहित शुद्धात्मा से उत्पन्न परम सुखामृत से तृप्ति रूप एकमात्र समरसी भाव वाले हो गए हों। कुछ कष्ट भी हो तो व्यक्त नहीं करते, शान्त रहते हैं। ऐसे ही श्रमण शुभाशुभ के बारे में या सुख-दुख के बारे में कुछ नहीं कहते, तटस्थ रहते हैं अर्थात् हर्ष-विषाद नहीं करते। **''समणो समसुह दुक्खो''** ऐसे शुद्धोपयोगी श्रमण ही संवर करने में समर्थ रहते हैं। भावसंवर रूप परिणामों के माध्यम से कार्मण वर्गणाओं का जो कर्म रूप परिणमन हो रहा था वह रुक जाता है अर्थात् द्रव्यसंवर हो जाता है। १४ वें गुणस्थान में पूर्ण रूप से पुण्य का भी संवर हो जाता है।

उत्थानिका—अब विशेषरूप से संवर के स्वरूप का कथन करते हैं—

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥१५१॥

अन्वयार्थ—**(जदा)** जब **(जस्स विरदस्स)** जिस साधु के **(जोगे)** योगों में **(खलु)** निश्चय से **(पुण्णं च पावं)** पुण्य और पाप भाव **(णत्थि)** नहीं होते हैं **(तदा)** तब **(तस्स)** उस साधु के **(सुहासुहकदस्स)** शुभ या अशुभ कृत **(कम्मस्स)** कर्मबन्ध का **(संवरणं)** संवर हो जाता है।

अर्थ—जिस विरत मुनि के योग में पुण्य और पाप वास्तव में नहीं होते, तब उनके शुभाशुभ भावकृत कर्म का संवर होता है।

निश्चय से जब महाश्रमण के, मन वच काय त्रियोगों में।
अशुभ और शुभ भाव न होते, उन पावन शुभ घड़ियों में ॥
भाव शुभाशुभ कृत कर्मों का, आस्रव ही रुक जाता है।
महा मुनीश्वर को संवर हो, जैनागम यह कहता है ॥१५१॥

व्याख्यान—**तत्त्वार्थसूत्र** के छठवें अध्याय में कहा है **''कायवाङ्मनः कर्म योगः'' ''स आस्रवः'' ''शुभः पुण्यास्याशुभः पापस्य''** जिस योगी के योग में अशुभ परिणामों से पाप और शुभ परिणामों से पुण्य भी नहीं आ रहा है उस विरत के लिए संवर भाव होता है। अव्रती के लिए पुण्यास्रव का रुकना तीन काल में सम्भव नहीं है। २०वीं-२१वीं शताब्दी में कुछ लोग विशेष स्वाध्याय करके पुण्य का भी संवर कर रहे हैं। वह विरत तो है नहीं और अविरत का अर्थ ईषत् विरत (कथञ्चित् विरत) निकालते होंगे, लेकिन ऐसा किसी ग्रन्थ में नहीं लिखा है। पूर्ण संवर के लिए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति को भी छोड़ना पड़ता है इसलिए लोकपूरण समुद्घात के अन्त समय में भी पुण्य

का आस्रव होता रहता है और उसके बाद सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति का काल शेष रह जाता है। यह तृतीय शुक्लध्यान १४ वें गुणस्थान में पहुँचायेगा। अप्रतिपाति होने से यह लौटने वाला नहीं है। सूक्ष्म भले ही हो गया है फिर भी अनुपात में वेदनीय का आस्रव होता रहता है। सामान्य से १-२ डिग्री भी अधिक बुखार हो तो वो बुखार ही कहलाता है, जिसमें हरारत बनी रहती है। उसी प्रकार यहाँ भी भले ही कम आस्रव हो लेकिन आस्रव ही कहलायेगा। इससे स्पष्ट है कि चतुर्थ गुणस्थान में पुण्य का आस्रव रोकने के लिए किसी भी ग्रन्थ में नहीं लिखा। हाँ, यह बात अलग है जिसने देवायु का बन्ध कर लिया उसे मनुष्यायु आस्रवित नहीं होगी। इसे कोई संवर कह दे पर यह संवर नहीं, बन्ध व्युच्छित्ति है क्योंकि सम्यग्दर्शन के काल में मनुष्य को मनुष्यायु का बन्ध नहीं होता। सम्यग्दर्शन पुण्य प्रकृति का संवर नहीं करता।

शुभ और अशुभ विकल्प शान्ति भंग में कारण—यह बहुत अच्छा बिन्दु है कि चतुर्थ गुणस्थान में कौन से पुण्यकर्म की निर्जरा होती है? इसका समाधान आगम के अनुसार ही होना चाहिए। आगम घर का नहीं होना चाहिए, जिनागम होना चाहिए। गोम्मट्टसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि अनेक आगम में सार है। समयसार में यह विषय नहीं मिलेगा। सिद्धान्त ग्रन्थों का अवलोकन किए बिना ही संवर-निर्जरा व पुण्य-पाप का अपनी इच्छानुसार कथन करना, जिनवाणी के प्रति अश्रद्धान भाव को प्रदर्शित करता है। **आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी महाराज** ने कहा था कि- शुभ और अशुभ, अनुकूल और प्रतिकूल जिसकी दृष्टि में रहते हैं उसे शान्ति नहीं मिलती, ये विकल्प शान्ति भंग होने में कारण हैं इसलिए विकल्पों को पूरी तरह से निकाल देना चाहिए। चाहे वह दुख-सुख का विकल्प हो, चाहे ज्ञान का विकल्प हो या किसी और का विकल्प हो, ज्यों ही हम तुलना करते हैं त्यों ही विकल्प पहले आकर खड़ा हो जाता है। किसी को नापना है तो पहले मापदण्ड आ जाता है कि इतना गज है या मीटर है, इस तरह मन में मीटर या लीटर दोनों का विकल्प आ जाता है। जिसको नापना है वह तो बाद में आयेगा, पहले विकल्प आ जायेगा। उसी प्रकार किसी से तुलना करने पर विकल्प आते हैं जिससे शान्ति भंग निश्चितरूप से होगी। पहले किसी से तराजू तोलने के लिए लेते थे तो बदले में टैक्स के रूप में थोड़ी वस्तु दे देते थे। उसी प्रकार कोई भी शुभ या अशुभ विकल्प होगा तो उतना ही टैक्स देना होगा इसलिए वस्तुतः विकल्प के दण्ड से बचना चाहिए, इससे संवर हो जाता है। अनन्तगुण स्वभाव वाला, निर्विकार शुद्धात्मानुभूति स्वरूप आत्मा जब पाप-पुण्य के विकल्पों से रहित होता है तब उसके उन परिणामों को भावसंवर कहते हैं। इस समय विरत आत्मा के जो कार्मण वर्गणाएँ कर्मरूप होने वाली थीं, वह रुक जाती हैं यही द्रव्यसंवर कहलाता है। इस प्रकार नौपदार्थ का प्रतिपादक द्वितीय महाधिकार में संवर पदार्थ के व्याख्यान की मुख्यता से ३ गाथाओं से सप्तम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—अब निर्जरा का स्वरूप कहते हैं-

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥१५२॥

अन्वयार्थ–(जो) जो साधु **(संवरजोगेहिं जुदो)** भावसंवर और शुद्धोपयोग सहित है और **(बहुविहेहिं तवेहिं)** नाना प्रकार के तपों के द्वारा **(चिट्ठदे)** पुरुषार्थ करता है **(सो णियदं)** वह निश्चय से **(बहुगाणं कम्माणं)** बहुत से कर्मों की **(णिज्जरणं)** निर्जरा **(कुणदि)** कर देता है।

अर्थ–संवर सहित योगों की प्रवृत्ति से युक्त ऐसा जो जीव बहुविध तपों सहित वर्तता है अर्थात् नाना प्रकार के तपों द्वारा पुरुषार्थ करता है वह नियम से अनेक कर्मों की निर्जरा करता है।

संवर सहित तीन योगों से, जो भी संयम धरता है।
अंतरंग बहिरंग तपों से, युक्त प्रवर्तन करता है॥
बहुत कर्म की निश्चित ही वह, मुनि निर्जरा करते हैं।
अत: यहाँ निर्जरा तत्त्व का, यतिवर वर्णन करते हैं॥१५२॥

व्याख्यान–१२ तप एवं संवर रूप जो योग है, उससे जो युक्त हैं, उनकी **''तपसा निर्जरा च''** तप के द्वारा निर्जरा होती है। उसे सकामनिर्जरा या अविपाकनिर्जरा भी कहते हैं। ऐसे ज्ञानी शुभाशुभ आस्रव का निरोध रूप संवर करते हैं और शुद्धोपयोग से युक्त होते हैं। विकल्प रूप से ज्ञान रहित ध्यान शब्द का वाच्य शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोग कहो या योग कहो, योगसार कहो या ध्यान का सार कहो एकार्थवाचक है। तत्त्वार्थसूत्र में साता वेदनीय के आस्रव में 'योग' शब्द का अर्थ ध्यान के रूप में स्वीकार किया है। यहाँ पर ध्यान का वाच्य शुद्धोपयोग अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। ध्यान का प्रयोजन यहाँ निर्विकल्पसमाधि से है। कुछ लोग संवर को ही शुद्धोपयोग मानते हैं ऐसी स्थिति में द्वितीय गुणस्थान में १६ प्रकृतियों का संवर हो जाने से शुद्धोपयोग मान लेना चाहिए जबकि यहाँ शुद्धोपयोग तो दूर शुभोपयोग का भी कथन नहीं किया है। छह बाह्य तप शुद्धात्मानुभूति में सहकारी कारण हैं, शुद्धात्मानुभूति हो ही जाए ऐसा नियम नहीं है।

रत्नत्रय के बिना मोक्षमार्ग असम्भव–जैसे टायर के माध्यम से गाड़ी भागती है, टायर के बिना गाड़ी नहीं चलती। अब टायर चाहे MRF या CEAT कितनी भी अच्छी कम्पनी का क्यों न ले आओ, लेकिन भीतर यदि ट्यूब न हो तो गाड़ी नहीं चलेगी। यदि ट्यूब भी है लेकिन पंचर हो गया तो भी नहीं चलेगी। ध्यान रखना टायर कभी पंचर नहीं होता बर्स्ट होता है। टायर में यदि थोड़ा-सा कट लग जाए तो गेटर के माध्यम से काम चला लेते हैं अन्यथा ट्यूब फुग्गा जैसा फूलकर बाहर आ जायेगा और फूट जायेगा। इसी प्रकार भीतर में भावलिंग का ट्यूब है ही नहीं और ऊपर से दिगम्बरत्व का टायर लेकर के खड़ा हो गया, पर इससे तो हाथ ठेला भी नहीं चलेगा। यदि ट्यूब से हवा निकल गई तो रिम पर बोझ आने से टेढ़ी हो जायेगी। रिम को सही रखने के लिए हवा की आवश्यकता है।

इसलिए ट्यूब के साथ ही टायर खरीदना अन्यथा मात्र टायर के द्वारा मोक्षमार्ग की यात्रा नहीं कर सकते। जो मात्र टायर के समान दिगम्बरत्व को (द्रव्यलिंग) धारण करते हैं और भीतर ट्यूब (भावलिंग) नहीं है तो मोक्षमार्ग में मन नहीं लगता। ट्यूब में जब हवा भरी जाती है तो गिनकर पम्पिंग करते हैं तब उसकी आवाज अलग आती है। और जब हवा भीतर से बाहर आती है तब उस समय अलग आवाज आती है। इसलिए रत्नत्रय की हवा यदि ट्यूब में अच्छी तरह न भरी हो तो टायर का कोई महत्त्व नहीं है। फिर उस कीमती टायर को जिस तरह गले में हसली पहनते हैं ऐसे पहन लो। हसली एक आभरण होता है। हसली अर्थात् असली जो है उसे धारण करो। श्री कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं भीतर दिगम्बरत्व रूप ट्यूब हो और बाहर में किसी भी कम्पनी का नया हो या पुराना भी हो अर्थात् कोई भी संहनन हो चल जायेगा। थोड़ी स्पीड कम रखें और भारी वजन न रखें, अकेले ही लेकर चलें तो चल जायेगा, लेकिन रत्नत्रय के बिना कोई भी वाहन मोक्षमार्ग में नहीं चल सकता।

अभ्यन्तर तप के बिन बाह्य तप निरर्थक—यदि भीतरी तप नहीं है तो बाह्य तप से कुछ नहीं होगा,लंघन मात्र ही होगा। १२ तपों में स्वाध्याय भी एक तप है। स्वाध्याय को कुछ लोग बिना व्रत के ही करना प्रारम्भ कर देते हैं लेकिन उसका कोई महत्त्व नहीं है। **आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी** ने कहा है कि–खेत में बीज बोए बिना बाड़ लगाना व्यर्थ है। छह आवश्यक बाड़ के रूप में हैं और व्रत के बिना छह आवश्यक नहीं आ सकते। पाँच महाव्रतरूपी खेती की रक्षा के लिए छह आवश्यक की बाड़ लगा देते हैं, जिससे खेती की सुरक्षा हो जाती है। खेती हो तभी तो खेत नाम की सार्थकता है। उसी प्रकार जब तक व्रत नहीं लेते तब तक छह आवश्यकों में स्वाध्याय का कोई मूल्य नहीं है। तप से निर्जरा तभी होती है जब वह चारित्र को धारण करे, चारित्र के बिना तप नहीं आ सकता क्योंकि चारित्र का ही एक अंग तप है। उस तप से बहुत कर्मों की निर्जरा होती है। तप के द्वारा वृद्धिंगत वीतराग परमानन्द लक्षण वाला शुद्धोपयोग कर्म शक्ति को समाप्त करने की सामर्थ्य रखता है। कर्म वज्र के समान तीव्र ही क्यों न हों लेकिन शुद्धोपयोग के सामने सब पिघलने लग जाते हैं। पूर्वोपार्जित कर्मों की संवरपूर्वक निर्जरा अर्थात् एकदेश क्षय होने का नाम यहाँ पर निर्जरा है, पूर्ण कहने से मुक्ति हो जायेगी। इस प्रकार द्रव्यनिर्जरा-भावनिर्जरा मूलक कही गई है।

उत्थानिका—आगे निर्जरा का कारण विशेषता के साथ कहते हैं–

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठुपसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं ॥१५३॥

अन्वयार्थ–(जो) जो **(संवरेण जुत्तो)** संवर से युक्त **(अप्पट्ठ-पसाधगो)** आत्मा के स्वभाव को साधने वाला साधु **(हि)** निश्चय से **(अप्पाणं)** आत्मा को **(मुणिऊण)** जान करके **(णियदं)** निश्चल होकर **(णाणं)** ज्ञान को **(झादि)** ध्याता है **(सो)** वह **(कम्मरयं)** कर्मों की रज को **(संधुणोदि)** दूर करता है।

अर्थ—जो संवर से युक्त होकर आत्मा के स्वभाव का साधने वाला निश्चय से आत्मा को जान करके निश्चल होकर आत्मा के ज्ञान को ध्याता है वह कर्मों की रज को खिरा देता है।

जो मुनिवर संवर संयुत हो, आत्म साधना करते हैं।
निश्चित ही शुद्धोपयोगी वह, निज शुद्धातम लखते हैं॥
निश्चलता से स्वात्म ध्यान कर, कर्म धूल को उड़ा रहे।
कर्म निर्जरा के उपाय को, श्री आचारज बता रहे ॥१४५॥

व्याख्यान—वर्तमान के दोषों को धोने वाली आलोचना, अतीत के दोषों को मिटाने वाला प्रतिक्रमण और अनागत के दोषों को दूर करने वाला प्रत्याख्यान है। इनमें प्रत्याख्यान वर्तमान में करते हैं कि आगे ऐसा मैं नहीं करूँगा, भले ही पुनः असावधानी हो जाए यह बात अलग है लेकिन जब वह पश्चाताप करता है तब संवर युक्त होने का अभिप्राय होने से आत्मिक स्वभाव को साधने वाला होता है, इसे आत्मसाधक भी कह सकते हैं। हेय-उपादेय तत्त्व को जानकर हेय को छोड़ देता है। ''**तोरि सकल जग दन्द-फन्द निज-आतम ध्यावो**'' अर्थात् अन्य सांसारिक प्रयोजन से दूर होकर वह साधक कषायादिक से निवृत्त हो जाता है और राग-द्वेष से दूर होकर शुद्धात्मानुभूति रूप निज कार्य का प्रसाधक होता है। सर्वात्मप्रदेशों में निर्विकार स्वभाव निहित है। मस्तिष्क ही जानता है इसलिए उसी में आत्मप्रदेश रहते हैं ऐसा नहीं है। हाथ, पैर, नाक इत्यादि सर्वांग में आत्मप्रदेश रहते हैं। राग करते हुए भी वीतरागी मानना बहुत बड़ा भ्रम है। जिस समय राग करते हैं उस समय वीतरागता का श्रद्धान तो हो सकता है लेकिन वीतरागता की अनुभूति नहीं हो सकती। रागादि विभाव रहित स्वसंवेदन ज्ञान से जानकर उसी शुद्धात्मा का ध्यान करता है तब उस ध्यान से चंचलता मिटती है। एक सेकेण्ड के लिए भी यदि चंचलता मिटती है तो बहुत बड़ा काम हो जाता है, किन्तु चंचलता के साथ कितनी ही क्रियाएँ कर लें, वह फल नहीं मिलता जो निर्विकल्पसमाधि के द्वारा मिलता है। ऐसा ध्यान वही लगा सकता है जिसने पाँच पापों को पूर्णतः छोड़ दिया है।

शंका—कुशील को रौद्रध्यान में क्यों नहीं लिया क्योंकि रौद्रध्यान चार ही हैं और पाप पाँच हैं?

समाधान—क्योंकि कुशील पाप में भी विषयों का संरक्षण ही होता है। विषयसंरक्षण कारण है और कुशील पाप कार्य है। जब विषयसंरक्षण रूप कारण में रौद्रध्यान है तो कार्यरूप कुशील पाप में रौद्रध्यान क्यों नहीं होगा? अवश्य ही होगा। कुशील पाप अर्थात् विषय भोग में हिंसा भी अवश्य होगी। **सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ** में कहा है कि जो व्यक्ति कुशील सेवन करता है वह झूठ बोलेगा, परद्रव्य हरण करेगा, परिग्रह भी रखेगा, इस प्रकार पाँचों ही पाप उसमें गर्भित हो जाते हैं, इसलिए इससे दूर रहना ही ठीक है। जिस प्रकार आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने बन्धाधिकार में चार ही प्रत्यय लिए हैं, प्रमाद को कषाय में गर्भित कर लिया है। उसी प्रकार कुशील को शेष पापों में गर्भित कर सकते हैं। नोकषाय

में वेद, रति आदि को राग तथा भय, अरति आदि को द्वेष में लिया है। इससे स्पष्ट है कि पाँचों पाप रौद्रध्यान रूप हैं। इसलिए **तत्त्वार्थसूत्र** में कहा है–''**हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्य-दर्शनम्**'' पाँचों पापों से इहलोक-परलोक में सांसारिक और पारमार्थिक प्रयोजनों का बिगाड़ तथा निन्दा की प्राप्ति होती है। जब तक गृहस्थदशा में रहता है तब तक आर्त-रौद्र ध्यान से पिण्ड नहीं छूटता। गुणस्थान के अनुसार राग-द्वेष को भले ही कम कर ले किन्तु गृहस्थदशा में पूरी तरह से पाप छूट नहीं सकता। घर में जब शादी का वातावरण होता है तो दोनों परिवार, अड़ोस-पड़ोस तथा जिनसे रिश्ते-नाते हैं, सब आते हैं। यह सब मोह के रिश्ते हैं। सभी मिलकर मिठाई बाँटकर खाते हैं कि अच्छा हो गया, जीवनभर के लिए बँध गया। इसे लोग भले ही मांगलिक कार्य मानते हैं लेकिन है तो पाप का समर्थन, क्योंकि विवाह होने के बाद ही पाँच पाप अच्छे ढंग से किए जाते हैं। ब्रह्मचर्य अणुव्रतधारी दूसरों के घर, विवाह में नहीं जाता। जब तक गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करता तब तक ''ब्रह्मचारी सदा शुचिः'' कहा है।

शुचि भूमिगतं तोयं शुचि नारी पतिव्रता।
शुचिर्धर्म परो राजा ब्रह्मचारी सदा शुचिः ॥

यह कातन्त्ररूपमाला की कारिका है। लौकिकदृष्टि से कन्या को भी माङ्गलिक माना है। कन्या अर्थात् ब्रह्मचारिणी है, इसे शुचि माना है। माङ्गलिक विवाह के बन्धन को स्वीकारना ही गृहस्थाश्रम में आने का अर्थ है। पहले अकेला था, अब दो हो गये, चतुर्भुज हो गया फिर षट्पद होकर अष्टापद और बारहसिंगा ऐसा चलता रहता है। कहने का तात्पर्य यही है कि पाप रौद्रध्यान का मूल है।

ध्यान ही निर्जरा का मुख्य कारण–आत्मध्यानी मुनि घोर उपसर्ग व परीषहों से किञ्चित् भी चलायमान नहीं होते। जैसे–पार्श्वनाथ भगवान् ''**न चचाल योगतः**'' भयानक उपसर्ग में भी ध्यान में अचल रहे। निश्चलदशा में भेद-विज्ञान से ज्ञान और आत्मा को अभेद निरखकर जब ध्यान करते हैं तब परम अध्यात्म ध्यान के ध्याता होते हैं और कर्म रूपी रज को निर्जरित कर देते हैं। इसीलिए ध्यान को ही निर्जरा का मुख्य कारण माना है। अपभ्रंश भाषा का योगसार और परमात्म-प्रकाश ग्रन्थ आचार्य श्री योगीन्द्रदेव के माने जाते हैं। यद्यपि यह अर्वाचीनकाल में लिखे गए हैं लेकिन आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी के ग्रन्थों जैसी झलक इनमें है। आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी ने सर्वार्थसिद्धि, दसभक्ति आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। इसमें इष्टोपदेश और समाधिशतक की समयसार आदि ग्रन्थों से तुलना करने में कोई बाधा नहीं है। आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी की इन कृतियों में प्रयोगात्मक गाथाएँ हैं। यद्यपि ५० और १०० ही कारिकाएँ हैं, लेकिन आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी की छाप आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी के ऊपर है इसमें कोई संदेह नहीं। इनके ग्रन्थ संस्कृत भाषा में तथा सरल होने से अर्थाभिव्यक्ति भी आसानी से हो जाती है। आचार्य श्री **योगीन्द्रदेव ने परमात्मप्रकाश** के मंगलाचरण में लिखा है–

जे जाया झाणग्गियएँ कम्म कलंक डहेवि।
णिच्च णिरंजण णाणमउ ते परमप्प णवेवि॥१॥

जिन्होंने ध्यानाग्नि से कर्म कलंक को जला दिया है ऐसे नित्य निरंजन ज्ञानमयी परमात्मा को मैं नमन करता हूँ। यहाँ भी ध्यान ही कर्म निर्जरा का कारण कहा है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि १४ वें गुणस्थान में औपचारिक ध्यान होता है किन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि सही आस्रव रहित ध्यान १४ वें गुणस्थान में ही होता है। जब पूर्ण संवर होता है तभी पूर्ण निर्जरा कर सकते हैं। अन्य जितने भी ध्यान हैं वह आस्रव सहित होते हैं। १३ वें गुणस्थान में जो सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति तृतीय शुक्लध्यान है वहाँ भी आस्रव होता है भले ही अनुपात कम है।

चौदहवें गुणस्थान में ध्यान का स्वरूप–''बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः'' बन्ध के हेतुओं का अभाव अर्थात् योग का भी अभाव जहाँ हो जाता है उसी को आचार्य श्री उमास्वामी एवं आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी के अनुसार पूर्ण चारित्र प्राप्त हो जाता है, जिसे परम यथाख्यातचारित्र कह सकते हैं। यथाख्यातचारित्र ११ वें गुणस्थान से १३ वें गुणस्थान तक है। ११ वें गुणस्थान की अपेक्षा १२ वें गुणस्थान में यथाख्यातचारित्र अधिक पुष्ट होता है तथा १२ वें गुणस्थान की अपेक्षा १३ वें गुणस्थान में और अधिक पुष्ट हो जाता है लेकिन परम यथाख्यातचारित्र १३वें गुणस्थान में नहीं मिलता, १४ वें गुणस्थान में ही मिलता है जो कि पूर्णतः आस्रव से विमुख रहता है, इसलिए १४ वें गुणस्थान में औपचारिक ध्यान नहीं। आधे से ज्यादा कर्मों की निर्जरा अर्थात् १४८ में से ८५ कर्मों की निर्जरा तो १४ वें गुणस्थान में ही होती है। नीचे के गुणस्थान में निर्जरा करने के लिए बहुत समय लगता है जबकि १४ वें गुणस्थान में १२ वें गुणस्थान से आधा काल लगता है। १३वें गुणस्थान का काल यद्यपि अधिक है लेकिन ध्यान अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में ही लगता है। वहाँ बिना ध्यान के दीर्घकाल ही निकल जाता है। १४ वें गुणस्थान में आस्रव न होकर पूर्णतः संवर, निर्जरा एवं पूर्णतः बन्ध व्युच्छित्ति होती है इसलिए औपचारिक ध्यान मानेंगे तो औपचारिक ही मुक्ति होगी। तो बताओ परमार्थ से मुक्ति चाहते हो या उपचार से? यदि ध्यान है तो निर्जरा है और निर्जरा है तो उसी का नाम ध्यान है। निर्जरा को यदि औपचारिक मान लें तो १४ वें गुणस्थान में औपचारिक अनुभूति होगी ऐसा कहना होगा लेकिन ऐसा नहीं कह सकते। बन्ध व्युच्छित्ति का नाम ही तो संवर है और आस्रव–बन्ध का रुकना यही संवर हो गया तथा पूर्णतः संवर होते ही १४ वाँ गुणस्थान प्रारम्भ हुआ और अन्तर्मुहूर्त तक किसी भी प्रकृति की उदीरणा नहीं होती। १२ या १३ प्रकृतियों का उदय रहता है, शेष ७२ प्रकृतियों का सत्व मात्र रहता है उदय नहीं, जो स्तिबुक संक्रमण के माध्यम से निर्जरित हो जाती हैं। १४ वें गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में चतुर्थ शुक्लध्यान से सर्व कर्म का क्षय हो जाता है।

उत्थानिका–आगे निर्जरा का कारण विशेषता के साथ दिखाते हैं–

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१५४॥

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसके **(रागो)** राग **(दोसो)** द्वेष **(मोहो)** मोह **(व)** तथा **(जोग-परिकम्मो)** मन, वचन, काय रूप योगों का वर्तन **(ण)** नहीं **(विज्जदि)** है **(तस्स)** उसके **(सुहासुह-डहणो)** शुभ या अशुभ भावों को जलाने वाली **(झाणमओ)** ध्यानमय **(अगणी)** अग्नि **(जायए)** पैदा होती है।

अर्थ—जिस जीव के राग-द्वेष, मोह अथवा तीनों योगों का परिणमन नहीं है उस जीव के शुभ-अशुभ भावों को जलाने वाली ध्यानमय अग्नि उत्पन्न होती है।

जिससे चेतन मोहित होता, मोह भाव वह नहीं रहा।
चरित मोह के भेद कहे वह, राग-द्वेष भी नहीं रहा॥
योगों का वर्तन भी ना है, ऐसे श्री मुनिराजों को।
भाव शुभाशुभ दहने वाली, ध्यानाग्नि प्रगटे उनको ॥१५४॥

व्याख्यान—जिनके पास राग-द्वेष-मोह नहीं हैं एवं मन, वचन, काय की प्रवृत्ति भी नहीं है उन्हें शुभ-अशुभ भावों को जलाने वाली ध्यानाग्नि उत्पन्न हो जाती है। दर्शन और चारित्रमोहनीय के उदय में ही देहादि में ममत्व परिणाम आदि विकल्प होते हैं। उनसे रहित होकर निर्मोही शुद्धात्म संवेदन गुण सहित जो परमात्म तत्त्व है उससे विपरीत राग-द्वेष मोह परिणाम हैं। प्रत्येक समय राग-द्वेष की प्रवृत्ति चल रही है भले ही उसे महसूस नहीं करते हैं। जैसे-किया हुआ भोजन भीतर पच रहा है, आँतें काम कर रहीं हैं, रस बनता जाता है और पेट खाली होता जाता है। कुछ घण्टों में सब बचा हुआ बाहर निष्कासित हो जाता है, किसी को कुछ मालूम नहीं पड़ता। हृदय की धड़कन की आवाज भी किसी को सुनाई नहीं देती लेकिन वह धड़कता रहता है। दुनिया की हलचल जान लेते हैं लेकिन शरीर के भीतर जो श्वासोच्छ्वास की क्रिया चल रही है और धड़कनों की भी आवाज हो रही है उसे सभी नहीं सुन पाते हैं, न संवेदन कर पाते हैं। उसी प्रकार भीतर में राग-द्वेष कैसे होते हैं इसे आँख बन्द करके देखो, कितनी उथल-पुथल मचाते हैं। दुनिया में ऐसी भागा-दौड़ी कहीं नहीं है जैसी मन में है। शरीर की चेष्टाओं में फिर भी कुछ पल के लिए विराम हो जाता है लेकिन मन में विकल्पों का कोई विराम नहीं है। जब कभी पुरुष की दायीं आँख फड़कती है तब वह कहता है आज कुछ शुभ होने वाला है लेकिन महिला सोचती है आज कुछ गड़बड़ होने वाला है। इस प्रकार दोनों की एकसाथ दायीं आँख फड़कती है तो एक का अच्छा होगा यह निश्चित है। इसी तरह प्रत्येक समय नाड़ी बता रही है कि मैं जा रही हूँ। एक सूत्र आता है ''रडयोरभेदः'' 'र' और 'ड' को काव्यख्याति में अभेद माना है इसलिए नाड़ी का नारी हो जाता है। एक-एक फड़कन में आयु कर्म के निषेक समाप्त हो रहे हैं। अब

कौन-सा वहाँ शुभ शकुन है बताओ? मरण तो हो रहा है शुभ मुहूर्त कैसे बताएँ? जब मरण ही हो रहा है तो इससे बढ़कर कौन सा अपशकुन है? शकुन तो है ही नहीं। इस प्रतिसमय होने वाले मरण की बात कोई नहीं करना चाहता, जन्म होता है तो लाला आ गया, शोर मच गया, मिठाई बटने लगती है और मरण हो जाए तो सब बैठकर रोने लगते हैं यह जनपदसत्य देख रहे हैं लेकिन परमार्थ सत्य देखो, एक-एक समय में मृत्यु हो रही है। आयुकर्म के निषेक झर रहे हैं, यह अमंगल कार्य है। जब तक यह नाड़ी चल रही है तब तक कुछ कर लो। **''जब जागो तभी सवेरा''** अन्यथा जब यह जायेगी तब अंधेरा आने ही वाला है।

ध्यानाग्नि से ही कर्मों का नाश सम्भव—शुभाशुभ कर्मकाण्ड रूप क्रिया रहित, शुद्ध चैतन्य परिणतिमय रूप ज्ञानकाण्ड सहित, परमात्म पदार्थ के स्वभाव से विपरीत मन, वचन, काय की क्रिया रूप व्यापार से कर्मास्रव होता है। उस समय वीतरागदशा का अनुभव कैसे किया जा सकता है? निर्विकार, निष्क्रिय, चैतन्य-चमत्कार परिणतिरूप ध्यानाग्नि ही शुभाशुभ कर्मरूपी ईंधन को दहन करने में समर्थ है। **इष्टोपदेश** में कहा है-

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः॥४७॥

ध्यान की बेला में परमानन्द का आविर्भाव हो जाता है। अग्नि की एक कणिका भी ईंधन के ढेर को जलाने में समर्थ है। दियासलाई की एक तीली सब राख कर देती है। हल्की-हल्की अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए हवा देते हैं जिससे वह भभक जाती है, प्रारम्भ में सुलगाते समय हवा नहीं देते। निश्चल ध्यानाग्नि में ज्यों-ज्यों आनन्द बढ़ता है त्यों-त्यों अग्नि और प्रज्वलित होती है। श्री पूज्यपादस्वामी के अनुसार **''आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्''** उस ध्यानरूपी अग्नि से तब मूल और उत्तर भेद वाली कर्मराशि क्षणभर में दग्ध हो जाती है।

शंका—महाराज! आप ज्ञान की नहीं ध्यान की बात कर रहे हो जबकि हम ज्ञान की बात सुनने के लिए बैठे हैं और आप ध्यान की प्रशंसा कर रहे हैं। आज इस काल में ध्यान होता ही नहीं क्योंकि दस और चौदह पूर्व श्रुत के धारी का अभाव है और प्रथम संहनन का भी अभाव है इसलिए प्रचार-प्रसार ज्ञान का ही करें, ध्यान का नहीं।

समाधान—आचार्यदेव कहते हैं-ज्ञान के द्वारा कर्म निर्जरा हो सकती है पर नियम नहीं, किन्तु ध्यान से तो निर्जरा होती ही है। हाँ, आर्त-रौद्र ध्यान नहीं होना चाहिए। आर्त-रौद्रध्यान मिटाने के लिए अधिक प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है। **''परिग्रह पोट उतार सब लीनो चारित पंथ''** संकल्प लेते ही दुर्ध्यान समाप्त हो जाता है। विवाह के लिए मुहूर्त ढूँढ़ना, वर-वधू को मिलाना, पण्डित जी को बुलाना और वर्षों से अर्थव्यवस्था में जुटना पड़ता है, लेकिन तलाक देने में एक सेकेण्ड भी नहीं लगता, ''हम न तुम्हारे, तुम न हमारे'' एक क्षण में सब साफ हो जाता है। प्रश्नकर्त्ता कहता है कि

हीन संहनन होने से वर्तमान में ध्यान नहीं कर सकते, लेकिन हीन संहनन होने पर भी बैठे-बैठे लड़ाते रहते हैं। लड़ने का प्रशिक्षण देते रहते हैं। भले ही प्रथम संहनन का वर्तमान में अभाव होने से शुक्लध्यान नहीं है लेकिन श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने मोक्षप्राभृत में लिखा है–

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्प सहावठिदे ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी ॥७६॥

भरतक्षेत्र के पञ्चमकाल में धर्म्यध्यान होता है जिससे ज्ञानी निजात्म स्वभाव को जानते हैं, उसमें रमते हैं। यदि इस काल में धर्म्यध्यान को भी जो नहीं मानता है, वह अज्ञानी है। क्योंकि–

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहदि इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

आज भी तीन रत्नत्रय से युक्त होकर आत्मध्यान करके इन्द्रत्व और लौकान्तिक देवत्व को प्राप्त करते हैं लेकिन रत्नत्रय धारी श्रावक नहीं, मुनि ही ऐसे पदों को प्राप्त हो सकते हैं जो स्वर्ग से च्युत होकर मुनि होकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

यों श्रावकव्रत पाल स्वर्ग सोलह उपजावै।
तहँतैं चय नरजन्म पाय मुनि ह्वै शिव जावै॥

दौलतराम जी ने कविता जैसी बनाकर क्रमश: छह क्रियाएँ लगाई हैं व्रतपाल, स्वर्ग सोलह उपजावे, तहँतेचय, नरजन्मपाय, मुनि ह्वै, शिव जावे। बारह व्रतों का पालन करने वाला भी सोलहवें स्वर्ग तक जा सकता है। रत्नत्रय, चार आराधना और पञ्चाचार आज भी हैं भले ही यथाख्यात चारित्र नहीं है लेकिन सरागचारित्र नाम वाला जो अपहृत संयम है, वह होता है। उपेक्षा संयम एकान्त से नहीं होता, ऐसा नहीं है किन्तु अप्रमत्त गुणस्थान में इसका अनुभव कर सकते हैं। **तत्त्वानुशासन** में कहा है–

चरितारो न संत्यद्य यथाख्यातस्य संप्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्ति माचरंतु तपोधना:॥

यथाख्यातचारित्र वर्तमान में नहीं है किन्तु सरागचारित्र वाले तपस्वी यथाशक्ति आचरण करें, ऐसा कहा है। सकलश्रुत को धारण करने वालों को, जो ध्यान के माध्यम से केवलज्ञान प्राप्त होता है वह उत्सर्ग अर्थात् मुख्य है। लेकिन अपवाद व्याख्यान में पाँच समिति, तीन गुप्ति का प्रतिपादक श्रुत का अर्थात् अष्टप्रवचनमातृका का ज्ञान होने पर भी केवलज्ञान हो सकता है। ''**तुसमासं घोसंतो सिवभूदी केवलीजादो**'' आगम प्रमाण है कि ''तुषमाष भिन्नं'' को रटते हुए शिवभूति मुनि केवली हो जाते हैं। चारित्रसार आदि ग्रन्थों में भी कहा है कि–पुलाक, बकुश, कुशील, स्नातक और निर्ग्रन्थ ये पाँचों भावलिंगी मुनि होते हैं। पाँचों निर्ग्रन्थ हैं उसमें एक मुहूर्त के उपरान्त जिन्हें केवलज्ञान होना है, वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं, जो १२वें गुणस्थानवर्ती होते हैं एवं जिन्हें उत्कृष्ट से द्वादशांग का तथा जघन्य

से अष्टप्रवचनमातृका का ज्ञान होता है। अल्प श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है इसलिए संवर, निर्जरा का कारण जो ध्यान है, उसे करना चाहिए। इस प्रकार नौपदार्थ का प्रतिपादक द्वितीय महाधिकार में तीन गाथाओं द्वारा अष्टम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—अब बन्ध पदार्थ का व्याख्यान किया जाता है–

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बद्धो पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥१५५॥

अन्वयार्थ—(जदि) जब **(रत्तो)** यह कर्मबंध सहित रागी **(अप्पा)** आत्मा **(उदिण्णं)** कर्मों के उदय से प्राप्त **(जं)** जिस **(सुहं)** शुभ **(असुहं)** अशुभ **(भावं)** भाव को **(करेदि)** करता है **(सो)** तब वह आत्मा **(तेण)** उस भाव के निमित्त से **(विविहेण)** नाना प्रकार के **(पोग्गलकम्मेण)** पुद्गल कर्मों से **(बंधो हवदि)** बंध को प्राप्त हो जाता है।

अर्थ—यदि कर्मों के उदय में अज्ञान भाव से रागी होकर आत्मा शुभाशुभ रूप भावों को करता है तो वह भावों से अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मों से बँध जाता है।

जब भी रागी होकर आतम, विकार में परिणमता है।
तब शुभ या जो अशुभ रूप उन, उदय भाव में रमता है ॥
फिर उन भावों के द्वारा ही, विविध कर्म को बाँध रहे।
इसी भाँति वह भावकर्म औ, द्रव्यकर्म विस्तार करे ॥१५५॥

व्याख्यान—आत्मा यद्यपि निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव वाला है तथापि व्यवहारनय से अनादि कर्मबन्धन की उपाधिवश रागी होता हुआ, निर्मल ज्ञान तथा आनन्द आदि गुणों का स्थानरूप शुद्धात्ममय परिणति से भिन्न जो उदय में प्राप्त शुभ-अशुभ भाव हैं उसको करता हुआ रागादि परिणामों के द्वारा नाना प्रकार के पुद्गल कर्मों से बँध जाता है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि शुद्धात्मा की परिणति से विपरीत शुभाशुभ भाव हैं, वह भावबन्ध है। उस भावबन्ध का निमित्त पाकर जैसे तेल से लिप्त पुरुषों के धूल का बन्ध होता है वैसे ही अशुद्ध रागी जीव के साथ कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध हो जाना द्रव्यबन्ध है, यही इस गाथा का अभिप्राय है।

उत्थानिका—आगे बन्ध के बहिरंग व अन्तरंग कारणों का स्वरूप दिखाते हैं–

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो॥१५६॥

अन्वयार्थ—(जोगणिमित्तं गहणं) योग के निमित्त से कर्म-पुद्गलों का ग्रहण होता है **(जोगो)** योग **(मणवयणकायसंभूदो)** मन, वचन, काय की क्रिया से होता है **(बंधो)** बंध **(भाव-**

णिमित्तो) भावों के निमित्त से होता है। **(भावो)** भाव **(रदिरागदोसमोहजुदो)** रति, राग, द्वेष व मोह सहित आत्मा के परिणाम को भाव कहते हैं, कर्मों का बंध इन्हीं भावों के निमित्त से होता है।

अर्थ—योग के निमित्त से कर्म-पुद्गलों का ग्रहण होता है। योग मन, वचन, काय की क्रिया अर्थात् आत्मप्रदेश परिस्पंद रूप है। बन्ध का निमित्त भाव है, वह भाव रति, राग, द्वेष व मोह से युक्त आत्मपरिणाम है।

मन-वच-काया की परिणति को, योगी योग कहा करते।
योग निमित्त प्राप्त कर प्राणी, कर्मों का बन्धन करते॥
इष्टानिष्ट पदार्थों में रति, राग-द्वेष युत भाव कहा।
भावबन्ध का निमित्त होता, जिनशासन में यही कहा ॥१५६॥

व्याख्यान—जीव प्रदेशों में कर्मों का आगमन योग परिणति से होता है और पूर्व की बँधी हुई कार्मण वर्गणाओं का आलम्बन पाकर आत्मप्रदेशों में प्रकम्पन होने का नाम योग है, जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से कर्म ग्रहण का हेतु है। रागादि दोषों से रहित चैतन्य के प्रकाश की परिणति से भिन्न दर्शन व चारित्रमोह से उत्पन्न हुआ जो रति, राग-द्वेष और मोह युक्त भाव है उससे स्थिति व अनुभाग बन्ध होते हैं। बन्ध का बाहरी कारण योग है जिससे प्रकृति व प्रदेश बन्ध होते हैं। यहाँ 'रति' शब्द से उसके अविनाभावी हास्य तथा स्त्री, पुरुष व नपुंसक वेद रूप नोकषाय लेना है। 'राग' शब्द से माया व लोभरूप राग परिणाम लेना व 'द्वेष' शब्द से क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा लेना है और 'मोह' शब्द से दर्शनमोह को ग्रहण करना है। कषाय भाव अन्तरंग कारण है क्योंकि इसी से कर्मों में स्थिति व अनुभाग बन्ध होता है, जिससे बहुत काल तक कर्म, पुद्गल आत्मा के साथ ठहर जाते हैं।

उत्थानिका—अब द्रव्यमिथ्यात्वादिक प्रत्यय बन्ध के बहिरंग कारण हैं ऐसा कथन करते हैं—

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति॥१५७॥

अन्वयार्थ—(चदुव्वियप्पो) चार प्रकार [मिथ्यात्वादि] **(हेदू)** कारण **(अट्ठवियप्पस्स)** आठ प्रकार [कर्मों] के **(कारणं)** बंध के कारण **(भणिदं)** कहे गए हैं। **(तेसिं पि य)** तथा उन द्रव्यकर्म मिथ्यात्वादि के भी कारण **(रागादी)** रागादिभाव हैं **(तेसिं)** इन रागादि भावों के **(अभावे)** न होने पर **(ण बज्झंति)** जीव कर्मों से नहीं बँधते हैं।

अर्थ—द्रव्यमिथ्यात्वादि चार प्रकार के द्रव्य प्रत्ययों को आठ प्रकार के कर्मों का निमित्त कहा गया है और उन प्रत्ययों का कारण रागादि विभाव भाव हैं, रागादि विभाव भावों के अभाव होने पर कर्म नहीं बँधते हैं।

चार प्रकार द्रव्य प्रत्यय ये, अष्ट कर्म के कारण हैं।
योग कषाय असंयम प्रत्यय, मुख्य हेतु मिथ्यातम है॥
इन चारों प्रत्यय का कारण, रागादिक विभाव रहता।
रागादि विभाव नशते ही, विधि का बन्धन है नशता॥१५७॥

व्याख्यान—मिथ्यात्वादि द्रव्यप्रत्यय के उदय में भी जब राग-द्वेषादि होंगे तो बन्ध होगा, लेकिन सत्तागत जो द्रव्य है वह रागादि उत्पन्न करे ही, यह नियम नहीं है। अन्यथा एकान्त हो जायेगा कि द्रव्यप्रत्यय होते हुए भी रागादि होते ही नहीं अथवा द्रव्यप्रत्यय होने पर रागादि होते ही हैं, यह दोनों एकान्त नहीं हैं। द्रव्यप्रत्यय होते हुए भी उदय में न आवे ऐसा नहीं होता। उदय में तो आयेंगे ही परन्तु राग-द्वेषादि भाव जीव के गुणस्थान के अनुरूप उत्पन्न होंगे। ११वें गुणस्थान में उपशम का काल चल रहा है तो उदय में नहीं आयेगा। १० वें गुणस्थान तक उदय भी होगा। नीचे के गुणस्थान में तो बन्ध भी होगा चाहे कहीं भी छिप जाएँ, बाहुबली जैसे अडिग ही क्यों न रहें फिर भी ६-७ वाँ गुणस्थान है तो तत्सम्बन्धी बन्ध होगा। संज्वलन सम्बन्धी बन्ध तो छूटेगा नहीं। मानलो बिजली फिटिंग कराने के बाद यदि लाइट नहीं भी जलाते हैं तो भी एक माह का नियत मासिक किराया तो मीटर का देना ही होगा। उसी प्रकार भले ही अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान चली गई लेकिन संज्वलन का टैक्स तो देना ही पड़ेगा, कितना भी बचना चाहें बच नहीं सकते। समुद्र है तो लहरें उत्पन्न होंगी ही। नदी कथञ्चित् शान्त रह सकती है पर समुद्र नहीं। चाहे सर्दी हो, गर्मी हो या वर्षा हो उसमें नदियों का जल भरता रहता है लेकिन जल उफनकर बाहर नहीं आता। गर्मी में रात्रि के समय भरता रहता है और दिन में एकाध किलोमीटर खाली हो जाता है, यह नियम है। आय के अनुसार व्यय होता ही रहता है, यह स्वभाव है। इसी प्रकार संज्वलन के उदय में रागद्वेषादिक और प्रमाद आदिक भाव होंगे ही। वृषभनाथ भगवान् के भी हुए, इसे रोक नहीं सकते। यदि प्रमाद की भूमिका में है तो व्यक्ताव्यक्त दो प्रकार के प्रमाद के कारण मूल-उत्तरगुणों में जो दोष लगते हैं, वह दोष तो लगेंगे। प्रमाद के कारण शुद्धात्मानुभूति से विचलित होंगे। संसारी जीवों में कर्म का उदय तो हमेशा बना ही रहता है। ११वें गुणस्थान में द्रव्यप्रत्यय होते हुए भी बन्ध नहीं है क्योंकि वह रागादिक रूप परिणमन नहीं कर रहे हैं इसलिए द्रव्य प्रत्यय के द्वारा रागद्वेषादि उत्पन्न हों ही, यह एकान्त नहीं है। द्रव्यप्रत्यय का उदय होकर भी ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का अथवा चार द्रव्यप्रत्ययों का बन्ध तभी होगा जब रागद्वेष करेंगे अन्यथा नहीं।

चार द्रव्यप्रत्ययों के उदय में गुणस्थानानुसार रागादि भावों की उत्पत्ति—जैसे-सांख्यमत में उदय मात्र से बन्ध होता है ऐसा जिनागम में नहीं कहा क्योंकि कर्म उदय मात्र से नूतन बन्ध नहीं होता। वे लोग प्रकृति को कर्त्री मानते हैं, आत्मा को नहीं। वे आत्मा को नित्य शुद्ध-बुद्ध मानते हैं जबकि कर्म उदय होने से रागद्वेषादि परिणाम होंगे ही जिनशासन में ऐसा नहीं है। हाँ, रागादि रूप

परिणमन की क्षमता आत्मा में है, द्रव्य प्रत्यय हठात् नहीं कराता है। यदि ऐसा हो जाए तो पुरुषार्थ कोई वस्तु नहीं रहेगी। इससे ज्ञात होता है कि नूतन कर्म बन्ध के लिए उदयागत द्रव्यप्रत्यय हेतु हैं और उनके लिए जीवगत रागादिक हेतु हैं। बहिरंग में केवल योग ही नहीं, द्रव्यप्रत्यय भी कारण है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारों हेतुओं में प्रमाद को कषाय में ही गर्भित कर दिया है। जो कषाय करते हैं वे बिना प्रमाद के नहीं कर सकते, यह नियम है। हेतु अर्थात् कारण है। उदय में आये हुए मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार द्रव्यप्रत्यय हैं। जब तक अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान हैं तब तक अविरति रहेगी। वह अविरति तीन प्रकार की है-मिथ्यात्व गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी आदि तीनों अविरति हैं। तृतीय और चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी चली गई, अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान हैं। देशसंयम लेते ही अप्रत्याख्यान भी चली गई और संयम धारण करते ही प्रत्याख्यान भी चली जाती है। यदि तृतीय गुणस्थान में आ गया तो अनन्तानुबन्धी की उदीरणा नहीं होगी किन्तु उपशम सम्यक्त्व के काल में यदि द्वितीय गुणस्थान में आ गया तो अनन्तानुबन्धी की उदीरणा हो जायेगी लेकिन मिथ्यात्व का उपशमन बना रहता है अर्थात् अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी अविरति के साथ मिथ्यात्व रह भी सकता है और नहीं भी। अब प्रमत्त गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक मात्र संज्वलन कषाय ही रहेगी, ११वें से १३वें गुणस्थान तक केवल योग प्रत्यय रहेगा। इस प्रकार चार प्रत्ययों का अभाव होते ही १४वें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। रागादिक उपाधि से रहित, सम्यक्त्व आदि गुणों से सहित जो परमात्मा का स्वरूप है उसे आच्छादित करने वाले जो आठकर्म हैं उन आठ द्रव्यकर्मों के लिए यह प्रत्यय कारण हैं अर्थात् इन चार द्रव्य प्रत्यय का उदय होगा तो आत्मा में गुणस्थानानुसार रागादि उत्पन्न होंगे। टीकाकार ने **तेसिं** का अर्थ चार प्रत्यय के कारण रागद्वेषादि होते हैं। चार प्रत्यय में भी **तत्त्वार्थसूत्र** में बन्ध के हेतु में "**सकषायत्वाज्जीव:**" कहा है अर्थात् कषाय मूल हेतु है। द्रव्यप्रत्यय रहते हुए भी इष्टानिष्ट विषयगत ममत्व के अभाव रूप जिनकी परिणति है ऐसे ११वें गुणस्थानवर्ती जीव बन्ध को प्राप्त नहीं होते।

इस प्रकार नौपदार्थ का प्रतिपादक द्वितीय महाधिकार में बन्ध के व्याख्यान की मुख्यता से ३ गाथाओं द्वारा नवम अन्तराधिकार पूर्ण होता है।

अब इसके उपरान्त आगम भाषा में शुद्धात्मानुभूति लक्षण है जिसका, ऐसी निर्विकल्प-समाधिरूप रागादि विकल्प रहित शुक्लध्यान ही साध्यभूत है जिसका, वह चतुर्थ गुणस्थान में नहीं होता, तो ऐसी स्थिति में शुद्धात्मानुभूति भी चतुर्थ गुणस्थान में नहीं होती, ये इसका तात्पर्य है। भावमोक्ष, केवलज्ञान, जीवनमुक्त या अर्हत्पद कहो ये एकार्थवाची हैं। इन चार प्रकार के नाम वाला भावमोक्ष अर्थात् केवलज्ञान की उत्पत्ति यह एकदेश मोक्ष है, पूर्ण देश नहीं। इस व्याख्यान की मुख्यता से २ गाथाएँ हैं। इसके उपरान्त अयोगकेवली गुणस्थान के चरम समय में शेष जो अघाति द्रव्यकर्म हैं, उनके विनाश के प्रतिपादन के लिए २ गाथाएँ हैं। इस प्रकार ४ गाथाओं द्वारा दो स्थल में

मोक्षाधिकार के व्याख्यान की समुदाय उत्थानिका हुई।

उत्थानिका—अब मोक्ष पदार्थ के व्याख्यान में प्रथम द्रव्य मोक्ष का कारण परम संवररूप मोक्ष का स्वरूप कहते हैं–

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ॥१५८॥
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं ॥१५९॥

अन्वयार्थ—(हेदुमभावे) [मिथ्यात्व आदि द्रव्य कर्मों के उदय रूप] कारणों के न रहने पर **(णियमा)** नियम से **(णाणिस्स)** भेदविज्ञानी आत्मा के **(आसवणिरोधो)** आस्रव का निरोध होता है। **(आसवभावेण विणा)** [रागादि] आस्रव भावों के बिना **(कम्मस्स दु णिरोधो)** कर्म का भी निरोध **(जायदि)** होता है **(य)** तथा **(कम्मस्साभावेण)** [चार घातिया] कर्मों के अभाव से **(सव्वण्हू)** सर्वज्ञ **(य)** और **(सव्वलोगदरिसी)** सर्व लोक को देखने वाला **(इंदियरहिदं)** इन्द्रियों की पराधीनता से रहित **(अव्वावाहं)** बाधा या विघ्न रहित व **(अणंतं)** अन्त रहित **(सुहं)** सुख को **(पावदि)** प्राप्त करता है।

अर्थ—रागादि कारणों के अभाव से नियम से भेद-विज्ञानी के आस्रव का अभाव होता है और कर्म के आगमन न होने से कर्मबन्ध का अभाव होता है और कर्मों का विनाश करके सबका जानने वाला और सबका देखने वाला होता है तब वह इन्द्रियाधीन नहीं, अतीन्द्रिय, बाधारहित, अनन्त आत्मिक सुख को प्राप्त होता है।

राग-द्वेष, मोहादिक का जब, अभाव ज्ञानी करता है।
तब आस्रव भावों का निश्चित, ही निरोध हो जाता है ॥
आस्रव भाव निरोध हुआ तो, कर्मागम भी ना होगा।
ज्ञानावरणादिक कर्मों का, बन्धाभाव तभी होगा ॥१५८॥
ज्ञानावरणादिक कर्मों का, जब विनाश हो जाता है।
तभी सर्व का जाननहारा, सर्वदर्शी हो जाता है॥
जो इन्द्रिय आधीन नहीं है, निराबाध वह सुख पाते।
अनन्त आत्मिक सुख को निश्चित, वह शुद्धातम पा जाते ॥१५९॥

व्याख्यान—हेतुओं के अभाव में ज्ञानी को नियम से आस्रव का निरोध हो जाता है अर्थात् संवर होता है। अप्रत्याख्यान का उदय न होने से उससे जो १० कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता था, वह नहीं होगा। उसी प्रकार प्रत्याख्यान के उदय से क्रोधादि ४ प्रकृतियों का बन्ध होता था, अब इसका उदय

न होने से बन्ध भी नहीं होगा। अनन्तानुबन्धी के अनुदय से २५ प्रकृतियों का बन्ध भी नहीं होगा, इस तरह हेतु के अभाव होने से ज्ञानी को आस्त्रव का निरोध हो जाता है और आस्त्रव निरोध से संवर होता है अर्थात् द्रव्यबन्ध भी रुक जाता है। तब सर्वज्ञ, सर्वदर्शी पद प्रकट हो जाता है और अनन्त, अव्याबाध सुख का अनुभव होता है जिसे भावमोक्ष या जीवनमुक्त अवस्था कहते हैं। यहाँ अनन्त के साथ अव्याबाध शब्द का प्रयोग किया है। संसार में अव्याबाध सुख नहीं होता। जो स्वयं को आत्मतत्त्व स्वीकारते हुए रागादि रूप परिणमन नहीं करते वे ही इस दशा को पाते हैं।

पुरुषार्थ की आवश्यकता—राग-द्वेष रूप परिणमन की जो क्षमता जीव में है वह द्रव्यकर्मों से कथञ्चित् पृथक् है, पर इस योग्यता का मूल्यांकन भी करना चाहिए। कोई भी क्रिया हो रही है तो वह निमित्त के बल पर ही हो रही है परन्तु उसमें उपादान भी अपना योगदान रखता है। एकान्तरूप से यदि यह कहने लग जाएँ कि हम क्या करें? कर्म का उदय ही ऐसा है, इसलिए ऐसा कार्य करना पड़ता है, तो यह कहने से नहीं चलेगा। ऐसी ही बात चोर पुलिस को कह रहा है, पुलिस पूछती है–तुमने चोरी की है? चोर कहता है–हाँ, की है। पर मैं क्या करूँ, मेरा ऐसा ही कर्म का उदय है जो चोरी करने के भाव हो गए। तब पुलिस कहती है–मुझे भी कर्म के उदय में तुम्हें पीटने के भाव हो गए, मैं भी क्या कर सकता हूँ? और यदि चोर और पुलिस दोनों को कोई पीटना चाहता है तो उसका अलग कर्म का उदय है। मानलो किसी ने मात्र २०० रुपये की चोरी की तो पुलिस ने उसे इतना मारा कि उसकी हालत ही बिगड़ गई तो इसमें पुलिस को भी दण्ड मिलेगा। यदि पुलिस कहे कि मैं क्या कर सकता हूँ? मेरा ऐसा ही कर्म का उदय है तो ऐसा कहने से नहीं चलेगा। यदि कोई श्रावक कहता है कि १२ बजे निद्रादेवी आ जाती है कर्म का उदय है इसलिए शयन तो करना ही पड़ेगा। गनीमत है पाँचों निद्रा नहीं आयीं, नहीं तो निद्रा पे निद्रा आती तो तूफान आ जाता, अभी तो समुद्र में लहर ही आयी है। आसन लगा है पर झोंका भी आ रहा है, बीच-बीच में सँभाल भी रहे हैं पर मुद्रा में तो कमी आ ही जाती है। जब सामायिक में यह दशा है तो केवलज्ञान कैसे होगा? इसलिए जब तक पाँच माला नहीं फिरे तब तक नहीं उठें। ऐसा नहीं कि १२ बजे बैठे हैं और १२:४५ पर उठ जायें। पहले पाँच माला पूरी करें फिर स्वाध्याय आदि करें चाहे ढाई घण्टे लग जाएँ, चाहे ४ घण्टे लग जाएँ, पाँच माला तो फेरना ही है। ऐसा नियम हो जाए तो निद्रादेवी एक दिन में सीधी हो जायेगी। दण्ड जब तक घोषित नहीं होता तब तक अपवाद वाली बात चलती रहती है बाद में वह सहज हो जाता है।

दृष्टान्त—जैसे माता-पिता बच्चे को गुरुजी के पास सौंप देते हैं, कहते हैं–यह आपका है, आपको ही इसे तैयार करना है जो आप कहेंगे उसके अनुसार ही यह करेगा। इसी प्रकार बेटे को भी गुरुजी के सामने समझा देते हैं कि बेटा जो गुरुजी कहेंगे, वही करना है। वहाँ जब छड़ी पड़ती है, तो अपने आप सीधा हो जाता है। घर में लाड़-प्यार मिलता है, किसी का डर भी नहीं रहता। पहले गुरुजी के सामने बच्चे बहुत सीधे रहते थे, अब तो स्कूल में गुरुजी को समझाकर विद्यार्थी आ रहे

हैं। कहते हैं–गुरुजी निद्राकर्म का उदय है इसलिए अध्ययन नहीं कर पाता हूँ, जो दण्ड देना है, दे दो, लेकिन आगे क्या होगा? देख लेना। स्नातक कक्षा तक ऐसे ही पहुँच जाते हैं पर योग्यता नहीं आती इसलिए कर्मोदय के साथ पुरुषार्थ भी आवश्यक है। यदि दोनों को नहीं मानेंगे तो यह व्यवस्था भंग हो जायेगी। पहले पुलिस को देखकर जैसे लोग डरते थे वैसे ही गुरुजी को देखकर भी बच्चे ऐसे ही डरते थे लेकिन अब तो बाय-बाय, गुडमार्निंग करते हुए चले जाते हैं, क्योंकि दोनों ही एक सी उम्र वाले हैं।

रागद्वेष के अभाव से कर्मों का निरोध—द्रव्यप्रत्यय का अभाव होने पर ज्ञानी जीव के रागादि भाव का अभाव हो जाता है, इसे भावास्रव का निरोध कहते हैं। भावास्रव का निरोध हुए बिना द्रव्यास्रव का निरोध सम्भव नहीं है। यदि भीतरी योग्यता नहीं तो बाहरी द्रव्य व्यवस्था कुछ नहीं कर सकती, अर्थात् राग-द्वेष का अभाव होने से मोहनीय आदि कर्मों का निरोध अर्थात् अभाव हो जाता है। इस प्रकार पहली गाथा पूर्ण हुई।

चार घातिकर्म का अभाव होने से केवलज्ञान-केवलदर्शन द्वारा तीनलोक और तीनकाल को जानते-देखते हैं और इन्द्रिय रहित अव्याबाध सुख को प्राप्त करते हैं। यहाँ आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने ज्ञान-दर्शन में सुख को गर्भित नहीं किया है। इन्द्रिय रहित अव्याबाध सुख जहाँ होता है वहीं भावमोक्ष है या एकदेश मोक्ष है। इन्द्रिय सुख १२ वें गुणस्थान तक रहता है। इन्द्रिय ज्ञान जो बाधा रूप था वह १३ वें गुणस्थान में आते ही समाप्त हो गया, लेकिन अभी भी शरीर, योग आदि हैं। वह भी चतुर्थ शुक्लध्यान के माध्यम से नष्ट हो जायेगा तभी द्रव्यमोक्ष होगा।

कर्म बन्ध में बाह्य निमित्त का स्पष्ट कथन—जो भूख-प्यास लगती है वह शारीरिक परीषह है। जब तक इन्द्रिय जनित ज्ञान रहेगा तब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। केवलज्ञान होते ही अतीन्द्रिय सुख होगा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अब इन्हें किसी प्रकार की बाधा नहीं रही। हाँ, जो इन्द्रियजन्य बाधा थी वह समाप्त हो गई इसलिए अव्याबाध कह सकते हैं। केवल योग ही बन्ध का बहिरंग निमित्त नहीं है किन्तु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि जो बताये गये हैं वह भी पौद्गलिक हैं। और दूसरे द्रव्य पर आधारित होने से बहिरंग निमित्त माने जाते हैं फिर भी इन्हें कर्म के रूप में स्वीकार करते हैं। जो रागादि भावप्रत्यय हैं वे भी बहिरंग निमित्त होते हैं ऐसा यहाँ पर भाव है अर्थात् कर्म बन्ध के समय यह उपादान के रूप में परिणत नहीं होते इसलिए इन्हें बहिरंग निमित्त मानने में कोई बाधा नहीं। आत्मा के परिणाम द्रव्यकर्म के रूप में परिणत नहीं होते लेकिन फिर द्रव्यकर्म बँधते हैं, उसमें निमित्त तो ये होते ही हैं। जैसे-द्रव्यप्रत्यय आत्मा में उत्पन्न नहीं होते किन्तु आत्मा में रागादि भाव उत्पन्न करने में निमित्त होते हैं, इसलिए इनको बहिरंग निमित्त बोलते हैं। सूक्ष्म बुद्धि करके इस सिद्धान्त से स्वयं को अवगत कराना चाहिए। यह प्रक्रिया बाहर से दिखने में नहीं आती लेकिन प्रत्येक समय यह कार्य हो रहा है, यह त्रैकालिक सत्य है। किसी भी युग में किसी भी काल में इसमें किसी

भी प्रकार से समझौता स्वीकृत नहीं है। इस सिद्धान्त पर अटूट श्रद्धान होना चाहिए।

शंका—आत्मा में राग-द्वेष क्यों उत्पन्न होते हैं?

समाधान—जैसे सरोवर तरंगायित नहीं होना चाहे तो भी तूफान आने पर स्पंदित हुए बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार जब भी आत्मा में बहिर्भूत जो मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय हैं वह तूफान की भाँति उदय के रूप में आते हैं तो आत्मा के परिणाम रूप तालाब में तरंगों की भाँति राग-द्वेष आदि उत्पन्न हो जाते हैं। जब तक १०वें गुणस्थान तक नहीं पहुँचेंगे तब तक भगवान् से प्रार्थना करने पर भी कि राग-द्वेषादि रुक जाएँ तो भी रुक नहीं सकते। हाँ, तीव्रता से मन्द रूप परिवर्तन हो सकता है, लेकिन जड़ से मिटा नहीं सकते। इसलिए **आत्मानुशासन** में कहा है कि सामने वाला व्यक्ति ईर्ष्या, क्रोध या पाप कर रहा है तो उस पाप में एकान्त से उसका हाथ नहीं है क्योंकि कर्मोदय से प्रेरित होकर कर रहा है। जब तृतीय और चतु:स्थानीय कर्म का उदय रहता है उस समय कर्मों के तूफान में उसे कुछ नहीं दिखता। मानलो पैसा है तो उसका मद आ जाता है और मद में उसे अच्छे-अच्छे व्यक्ति भी नहीं दिखते, क्योंकि मदावेश में आकर ज्ञान, रूप, बल, ऐश्वर्य, सत्ता, जाति आदि के मद में मदोन्मत्त हो जाता है। उस समय वह करुणा का ही पात्र है, उसके लिए कुछ नहीं कर सकते। ठोकर खाने के बाद ही उसे अनुभव होगा लेकिन उस वक्त यदि उससे भी तीव्र अनुभाग वाला कर्म उदय में आ गया, तो क्या करेगा? जैसे-जल में जब सुनामी लहरें आयी थीं, अनेकों भौगोलिक स्थिति को समझने वाले बैठे थे लेकिन किसी को पूर्वाभास नहीं हुआ, इसी का नाम सुनामी है। "**सुष्ठुरूपेण**" अच्छे से अपना नाम करने वाली सुनामी है। आने के बाद पता चला कि कितना बड़ा झटका था। जल के नीचे से सुनामी आयी तो हिमालय समा जाए इतना बड़ा गड्ढा हो गया। ऐसे ही भूकम्प को रोकना किसके बस की बात है? भाग भी जाओ तो भागते-भागते ही चपेट में आ सकते है। कथञ्चित् देव इस भूकम्प को रोक सकते हैं किन्तु कर्म का भूकम्प नहीं रुक सकता। चाहे ब्रह्मा की गोद में बैठ जाओ, उनके चरणों में चले जाओ, तो भी बच नहीं सकते।

दृष्टान्त—जैसे द्वीपायन मुनि ने दो अंगुली से संकेत दिया था कि इस आग में बलराम और नारायण दो ही बचेंगे। तब पानी भी घासलेट का काम करने लगा, सारी द्वारिका धूँ-धूँ करके सामने जलती रही। कर्म के सामने कुछ नहीं चलता, यह अटूट श्रद्धान रखना है। जो आत्मा में राग-द्वेष उत्पन्न हो रहे हैं उसके लिए भी कर्मोदय बहिरंग कारण है लेकिन वह भी अनिवार्य है, इसमें संदेह नहीं। फिर अनुभाग में यदि कमी आ जाए तो श्रेणी चढ़ जाते हैं, उस समय साता-असाता दोनों की उदीरणा नहीं होती। साता होने से अप्रमत्त होने में बल मिलता है। उस समय द्विस्थानीय ही बन्ध और उदय चलता है। इसमें भी और अनुभाग घटता चला जाता है और वह आगे बढ़ता जाता है यह सिद्धान्त है। किसी व्यक्ति की चंचलता को देखकर कोई उपदेश दे कि इसे इतने वर्ष हो गये फिर भी विपाकविचय धर्म्यध्यान करना नहीं आया, ऐसा वह कह ही रहा था कि स्वयं के जीवन में कर्मों का तूफान आ गया

और उससे भी जघन्य कर्म स्वयं करने लग गया। इसलिए किसी के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। कर्मों की इस दशा में कार्य-कारण व्यवस्था को समझें कि भीतर कौन-कौन से साधन हैं जो अनिवार्य रूप से कार्य करते हैं?

दृष्टान्त—जब बलराम कहने लगे कि-मेरे बदले दूसरे व्यक्ति को बचा लो, लेकिन कोई भी बच नहीं पाया क्योंकि लोगों का ऐसा ही सामूहिक कर्मोदय आया कि सब भस्मसात् हो गये। बार-बार सुनने पर भी मन भटक जाता है। वर्षों की तैयारी वाले भी नरक चले जाते हैं। मान मिटाने का पुरुषार्थ करें और कामयाब हो जाएँ यह कोई नियम नहीं और ज्ञान कार्य करने लग जाए यह भी नियम नहीं। अभी जो शास्त्र ज्ञान है वह यदि अकाल पड़ जाए तो सब भूल जायेंगे। १२ वर्ष के अकाल में कई विद्वानों की स्मृति भंग हो गई, सब पूजन-पाठ समाप्त होने लगे, मौखिक जो रह गया उसमें अनेक पाठान्तर हो गए। इन बातों से ऐसा लगता है कि जो श्री कुन्दकुन्दस्वामी द्वारा ८४ पाहुड और कर्म सिद्धान्त लिखे गए वह अकाल के उपरान्त की बात है। जो सिद्धान्त का ज्ञान श्री धरसेन महाराज के उपयोग में स्मृति रूप था उसे आचार्य श्री पुष्पदन्त-भूतबली महाराज को पढ़ाना इसलिए अनिवार्य हो गया कि कहीं अकाल आदि की चपेट में आकर समाप्त न हो जाए। मुझे तो जाना ही है, फिर लुप्त न हो जाए इसलिए ''**जयतु श्रुतदेवता**'' यह कथा में आता है। किसी के पुण्य से एकादि कृति रह जाए तो फिर बाद में प्रकाशन हो जायेगा, अन्यथा मिटना तो है ही। कितनी बार किस रूप में तूफान आ जाए, कोई पता नहीं। इसलिए जब तक जितना उजाला है उसी में काम कर लें।

क्षायोपशमिक ज्ञान का अभाव ही भावमोक्ष है—कर्म द्वारा आवृत संसारी जीव का जो क्षायोपशमिक ज्ञान है वह विकल्प रूप है। क्षायोपशमिक ज्ञान का अभाव होना ही भावमोक्ष है। १२वें गुणस्थान के अन्तिम क्षण तक यह क्षयोपशम भाव चलता है। षट्खण्डागम में **संज्ञी-असंज्ञी भेदाभावात्** ऐसा कहा है अर्थात् सैनी, असैनीपन से जो ऊपर उठ जाते हैं वे सर्वज्ञ हैं। भाव का अर्थ क्षायोपशमिकभाव है उससे मुक्त होने का नाम भावमोक्ष है। क्षायोपशमिक ज्ञान राग, द्वेष और मोह के कारण अशुद्ध होता है। आगमभाषा से कालादि लब्धिरूप और अध्यात्मभाषा से शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम जो कि स्वसंवेदन ज्ञानात्मक हैं उनको जब यह जीव प्राप्त करता है तब सर्वप्रथम मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम और क्षयोपशम से सराग सम्यग्दृष्टि होता है। अनादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्व और चार अनन्तानुबन्धी ये पाँच ही प्रकृतियाँ रहती हैं। सर्वप्रथम सराग सम्यक्त्व ही होता है फिर सम्यग्दर्शन से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसे भले ही पूज्य आचार्य अकलंक देव वीतराग कह देते हैं लेकिन वस्तुतः पहले वह सराग सम्यग्दृष्टि ही होता है। वह सराग सम्यग्दृष्टि जीव पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति आदि करता है यह पराश्रित धर्म्यध्यान है किन्तु '**अनन्तज्ञानादि स्वरूपोऽहं**' इस भावना का आश्रय लेकर स्वाश्रित धर्म्यध्यान को प्राप्त होता है।

भावमोक्ष को प्राप्त करने की प्रक्रिया—आगम के कथनानुसार चौथे से सातवें गुणस्थान

तक सराग सम्यक्त्व की भूमिका चलती रहती है। इन चारों में से किसी भी गुणस्थान में दर्शनमोह का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करके अपूर्वकरण आदि गुणस्थान में प्रकृति और पुरुष के निर्मल विवेकज्योति रूप प्रथम शुक्लध्यान का अनुभव करता है। यहाँ प्रकृति का अर्थ शरीर और पुरुष का अर्थ आत्मा का पृथक् अनुभव कर लेता है। तदनन्तर राग-द्वेषरूप चारित्रमोह के उदय का अभाव होने से निर्विकार शुद्धात्मानुभूति रूप वीतराग चारित्र को प्राप्त कर मोह का क्षय करके क्षीणकषाय गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थिर होकर, द्वितीय शुक्लध्यान द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों कर्मों को एकसाथ १२वें गुण स्थान के अन्तसमय में निर्मूल नष्ट करता है। निर्मूल का अर्थ यहाँ पर पहले से ही वह कर्मों का क्षय करना प्रारम्भ कर चुका था लेकिन १२वें गुणस्थान के अन्तिम समय में चार घातिया कर्मों का निर्मूल क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, इसे ही भावमोक्ष कहते हैं। वर्तमान में भावमोक्ष का सकारात्मक अर्थ न लेकर नकारात्मक अर्थ ले रहे हैं अर्थात् जिन भावों से आत्मा के अनुजीवी आदि गुणों का घात होता था, उन भावों का छूट जाना भावमोक्ष है यह धारणा ठीक नहीं। घातिया कर्मों की शक्ति को पूर्णतः नष्ट करके अघातिया कर्मों में सर्वघाति रूप में जो घातकत्व था उसका भी नाश कर देता है इसको ही भावमोक्ष कहते हैं। भावमोक्ष का जीवनमुक्ति नाम भी ग्रन्थान्तरों में आता है।

इस प्रकार भावमोक्ष के स्वरूप का कथन करने वाला २ गाथाओं का प्रकरण पूर्ण हुआ। दो शुक्लध्यान के माध्यम से घातिया कर्मों का क्षय करके अब अघातिया कर्मों का क्षय करने के लिए शेष दो शुक्लध्यान का कथन आगे किया जाता है।

उत्थानिका—द्रव्यकर्म क्षय का कारण और परम निर्जरा का कारण जो ध्यान है उसका स्वरूप बताते हैं—

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स॥१६०॥

अन्वयार्थ—**(दंसणणाणसमग्गं)** दर्शन और ज्ञान से सहित तथा **(अण्णदव्वसंजुत्तं णो)** अन्य द्रव्यों के संयोग से रहित **(झाणं)** ध्यान **(सभावसहिदस्य)** शुद्ध स्वभाव से सहित **(साहुस्स)** साधु के **(णिज्जरहेदु)** निर्जरा का कारण **(जायदि)** होता है।

अर्थ—शुद्ध स्वभाव के धारी साधु अर्थात् केवली भगवान् के निर्जरा का कारण जो ध्यान होता है वह दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण भरा है तथा वह अन्य द्रव्य से मिला हुआ नहीं है।

शुद्ध स्वभाव सहित साधु के, परम ध्यान हो जाता है।
पूर्वबद्ध वह कर्म निर्जरा, का कारण बन जाता है॥
दर्श-ज्ञान से परिपूर्ण वह, अन्य द्रव्य से पृथक् कहा।
अघातिया का नाश हेतु यह, शुक्लध्यान का कथन रहा ॥१६०॥

व्याख्यान—वस्तु के यथार्थ दर्शन और ज्ञान से जो युक्त है उसको यहाँ ध्यान कहा है। प्रारम्भ के दो शुक्लध्यान के साथ अन्य द्रव्य का भी सहारा लिया जा सकता है किन्तु अन्तिम के दो शुक्लध्यान के समय मात्र आत्मद्रव्य का ही आधार लिया जाता है। अन्य द्रव्य का नहीं। क्योंकि प्रथम दो शुक्लध्यान दूसरे द्रव्य को भी अपना विषय बना सकते हैं। इसमें समयसार आदि ग्रन्थों से थोड़ा-सा भेद उत्पन्न होता है। अतः सामान्य रूप से यह कहा है कि समयसार आदि ग्रन्थ से इसमें कुछ अन्तर है। छद्मस्थ अवस्था में ध्यान का विषय और सर्वज्ञ दशा में जो ध्यान का विषय होता है उसमें सामान्य रूप से भेद है। समयसार आदि ग्रन्थ में जो उल्लेख किया है उसमें स्वभाव में स्थित जो साधु हैं उन्हीं को पूर्ण निर्जरा के हेतुभूत ध्यान का सौभाग्य प्राप्त होता है। ध्यान के बिना कर्मों की निर्जरा नहीं हो सकती और कर्मों की निर्जरा बिना संवर की सार्थकता नहीं मानी जा सकती। अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन जिन्होंने प्राप्त कर लिया है, वह अन्य द्रव्य से युक्त नहीं हैं अर्थात् अपने ज्ञान का विषय अन्य को नहीं बनाते। वैसे लोकालोक विषय बन रहे हैं यह अलग वस्तु है और विषय बनाना अलग वस्तु है। जैसे—अभी सबके कानों में मुख्य रूप से माइक की आवाज आ रही है जबकि चिड़ियाँ भी चीं-चीं कर रहीं हैं, ट्रैक्टर भी चल रहा है व अन्य लोग भी आवाज कर रहे हैं लेकिन बुद्धिपूर्वक सुनने का जो अभिप्राय है वह केवल प्रवचन है। वैसे ही लोकालोक जिनके ज्ञान और दर्शन में झलक रहा है फिर भी पूर्णज्ञानी निजात्मतत्त्व को ही विषय बनाकर उसी में लीन हैं। यहाँ बुद्धिपूर्वक शब्द भी नहीं लगाना क्योंकि बुद्धि मन के ऊपर आधारित थी और वह मन समाप्त हो गया इसी का नाम भावमोक्ष घोषित कर चुके हैं। भाव अर्थात् क्षयोपशमभाव का अभाव हो गया, यही ध्यान एकदेश निर्जरा और पूर्णनिर्जरा अर्थात् मोक्ष के लिए कारण है।

शंका—ऐसे ध्यान का कर्त्ता कौन हो सकता है?

समाधान—जो स्वभाव से युक्त है। विभाव अर्थात् क्षयोपशमिक भाव जो १२ वें गुणस्थान में था उससे मुक्त हो गए हैं। यद्यपि विहार करते हैं, बैठते हैं, प्रवचन करते हैं फिर भी छद्मस्थ के समान '**चिकीर्षया**' अर्थात् बोलने की इच्छा न होने के कारण **सभावसहिदस्स** ऐसा गाथा में कहा है। यह शुद्ध स्वभाव छद्मस्थ अवस्था के अभाव होने से प्राप्त होता है। विकार रहित परमानन्द लक्षण वाला शुद्धात्मतत्त्व है उससे उत्पन्न सुख में तृप्त हो जाने से हर्ष-विषाद रूप सांसारिक सुख-दुख से मुक्त हो जाते हैं। केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण का विनाश हो जाने से जिन्हें निरालम्ब केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हो गया है। ऐसी स्थिति में सहज शुद्धचैतन्य परिणति युक्त होने से इन्द्रिय व्यापार आदि बाह्य द्रव्य के आलम्बन का अभाव हो जाता है। छद्मस्थ का ज्ञान आत्मा की ओर न होकर बाह्य की ओर इसलिए जाता है कि उसके पास ज्ञान तो है किन्तु इन्द्रिय ज्ञान है जो पर को ही दिखाता है। क्या आजतक किसी ने देखा कि कोई व्यक्ति अपने हाथ में टॉर्च लेकर स्वयं को ही देख रहा हो? टॉर्च के द्वारा मैं 'हूँ' कि 'नहीं' क्या ऐसा कोई देखता है? इसका अर्थ यह है कि टॉर्च के द्वारा

केवल पर को ही देखा जाता है और वह भी सूर्य के अभाव में। स्पष्ट है छद्मस्थ का ज्ञान टॉर्च की भाँति है इसीलिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि–यदि तुम अपनी आत्मा का ध्यान करना चाहते हो तो पाँच इन्द्रियों के व्यापार को छोड़ो क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान बहिर्मुखी है। इन्द्रिय ज्ञान से पर ही दिखेगा और जब कभी राग-द्वेष होंगे तो पर को देखने से ही होंगे। स्व को जानने वाला ज्ञान कभी भी राग-द्वेष पैदा नहीं करा सकता।

ध्यान करने की प्रक्रिया–आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने कितनी अच्छी युक्ति दी है। इन्द्रिय ज्ञान रूपी टॉर्च के द्वारा दिन-रात पर को देखते रहते हैं और पर को देखने का उद्देश्य भी राग-द्वेष मूलक ही होता है। किसी को गौर से देखा, सुना, छुआ, सूँघा, याद किया, ये सारे कार्य बता रहे हैं कि इन्हें इच्छापूर्वक किया है, इनसे कुछ न कुछ चाहा है। यदि चाहत नहीं होती तो आज जीव की यह दशा नहीं होती। ध्यान के काल में पाँच इन्द्रियों की खिड़कियों को बन्द करो और मन रूपी बैटरी को चार्ज कर दो फिर उसे बाहर न दिखाकर आत्मा की ओर ले जाओ। बहिर्मुखी वृत्ति हटाकर अन्तर्मुखी वृत्ति बनाने का मात्र प्रयोजन हो और यदि नहीं हो पाता है तो आँख बन्द करने पर घुटन होती है, इसलिए कायोत्सर्ग करते समय आँख बन्द करें। धीरे-धीरे अभ्यास हो जाता है, क्योंकि उपयोग को भीतर ले जाकर ज्ञान को विषय बनाना अपने आप में खेल नहीं है। इन्द्रियों के माध्यम से या तो सुनता है या देखता है और इस कार्य में मन सपोर्ट करता है, अन्तर्मुखी होने ही नहीं देता। इसलिए तीनों संध्याओं में सामायिक का प्रावधान किया गया है, जिससे अन्तर्वृत्ति बन सकती है। जब सामायिक के काल में अन्तर्वृत्ति नहीं बनती तो अन्य समय में कैसे बनेगी? ओवर ड्यूटी कौन करेगा? जिसे सामायिक के काल में आनन्द आता है वही अन्य समय में भी ध्यान लगाने का पुरुषार्थ करेगा। प्रतिमायोग आदि धारण करने वाले जिनकल्पी या ऋद्धिधारी मुनिराज पर को विषय नहीं बनाकर हमेशा अपनी बुद्धि के द्वारा निजात्म स्वरूप का चिन्तन करते हैं, उस समय पाँचों इन्द्रिय का व्यापार नहीं करते। जब पैसे गिनते हैं उस समय आँख की भी आवश्यकता होती है और हाथ की भी आवश्यकता होती है। शोर-गुल हो तो उसमें और भी असुविधा होती है। मानलो घाटा लग गया और हिसाब देखने के उपरान्त भी समझ में नहीं आता तो आँख बन्द करके बैठ जाता है। सोचता है कि कहाँ पर गणित फेल हो रही है उस समय इन्द्रियों का नहीं मन का व्यापार होता है, इसलिए आत्मध्यान के लिए पाँच इन्द्रियों के द्वारा नहीं, मन के द्वारा ही काम लो। पाँच इन्द्रिय के व्यापार बन्द होते ही मन-वचन-काय का व्यापार रुक जायेगा फिर मन को भी स्थिर कर दो, हर्ष-विषाद किए बिना कायोत्सर्ग में लगा दो, शरीर के प्रति मोह न हो इसलिए शरीर को बिठा दो, जब तक आदेश नहीं हो तब तक उठ नहीं सकता। आत्मा होश में होगा तो बैठा रहेगा नहीं तो लुढ़क जायेगा। आत्मा है तो बिना दीवार के बैठ सकते हैं लेकिन जो शव होता है उसे दीवार से टिकाना पड़ता है अर्थात् जीवित अवस्था में दीवार की कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि भीतर जो आत्मतत्त्व है वह काम करता रहता है लुढ़कने नहीं देता,

वृद्धावस्था की बात अलग है।

ध्यान के काल में घटित क्रियायें—ध्यान के काल में विषयों की प्रवृत्ति रुक जाती है और इन्द्रियातीत आत्मस्वरूप को विषय बनाता है। यदि पञ्चेन्द्रिय विषयों की चाह ही न हो तो आँख खोलकर भी बैठे तो भी विषयी नहीं बनेगा। **राजवार्तिककार** कहते हैं कि—आँख खोलने मात्र से इन्द्रिय विषय प्रविष्ट नहीं हो जाते, किन्तु जब चाहेंगे तभी होंगे इसलिए उन्होंने यह कहा कि आँख खोल करके भी चक्षु दर्शनोपयोग के साथ भी ११वाँ गुणस्थान हो सकता है, ऐसा कहा। आँख खुलने मात्र से इच्छा का समर्थन नहीं होता, यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो ११वें गुणस्थान में उपशम कषाय वाला नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ अबुद्धिपूर्वक दिख रहा है, देख नहीं रहे हैं। इसी प्रकार किसी को देखते हुए भी उसमें हर्ष-विषाद न करें, ऐसा हो सकता है। एकटक स्थिर होकर बैठ गए, आँख खुली है, कौन आया? कौन गया? कुछ भी जानने की इच्छा नहीं है। इसे सहजदशा, अनुप्रेक्षा या कायोत्सर्ग भी कह सकते हैं। कायोत्सर्ग में ध्यान नियामक नहीं है किन्तु ध्यान में कायोत्सर्ग और मन की प्रवृत्ति को केन्द्रित करना आवश्यक होता है। ऐसी दशा में एक वर्ष तक बाहुबली मुनिराज खड़े रहे, यह ध्यान की नहीं कायोत्सर्ग की मुद्रा है। परद्रव्य के संयोग से रहित स्वरूप निश्चलता होने से अविचल चैतन्य वृत्ति रूप जो आत्मा का स्वरूप है वह पूर्व संचित कर्म की स्थिति और अनुभाग का विनाश कर देता है। इस प्रकार ध्यान के फल स्वरूप पूर्व संचित कर्मों की स्थिति के विनाश और स्थिति गलन को देखकर केवली भगवान् को 'उपचय' अर्थात् कार्य-कारण की अपेक्षा उपचार से ध्यान कहा गया है क्योंकि निर्जरा का कारण ध्यान है, ध्यान का कार्य कर्म की निर्जरा है और निर्जरा वहाँ पाई जाती है। निश्चय से देखें तो जो भाव हैं वही कारण हैं, वही कार्य है, क्योंकि निर्जरा भी वही भाव से है, संवर भी वही भाव से है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता। यहाँ एक में ही नहीं, कार्य और कारण दोनों में उपचार चलता है। जहाँ कार्य-कारण की व्यवस्था भिन्न बतानी होती है उस समय यह उपचार का कथन करके कह देते हैं। केवली भगवान् में ही यह कार्य-कारण व्यवस्था है ऐसा नहीं, १२ वें गुणस्थान में भी ध्यान कारण है और घाति कर्मों का क्षय उसका कार्य है। जब दो में विश्लेषण करेंगे तो निश्चित रूप से उपचार से कारण बनेगा। निश्चय में उपचार नहीं चलता।

शंका—केवली भगवान् को परद्रव्य के आलम्बन से रहित ध्यान होता है फिर भी उन्हें उपचार से ध्यान क्यों कहा? जबकि चारित्रसार, ध्यानसार आदि ग्रन्थों में कहा है कि छद्मस्थ तपस्वीजन द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु का ध्यान कर केवलज्ञान उत्पन्न करते हैं तो फिर केवली भगवान् को परद्रव्य के आलम्बन से रहित ध्यान कैसे घटित होता है?

समाधान—यहाँ द्रव्यपरमाणु से द्रव्य की सूक्ष्मता और भावपरमाणु से भाव की सूक्ष्मता को ग्रहण किया है। पुद्‌गल परमाणु को नहीं, क्योंकि ध्यान का विषय परद्रव्य या पर्याय नहीं हो सकती। **सर्वार्थसिद्धि** की टिप्पणी में कहा गया है कि 'द्रव्य' शब्द से आत्मद्रव्य लेना योग्य है तथा परमाणु

का अर्थ राग-द्वेषादिक की उपाधि से रहित सूक्ष्म अवस्था है। यह सूक्ष्म अवस्था निर्विकल्पसमाधि का विषय है। इस प्रकार द्रव्यपरमाणु का व्याख्यान जानना चाहिए। 'भाव' शब्द से आत्मद्रव्य का स्वसंवेदन ज्ञान रूप परिणमन लिया है। इसे सूक्ष्म यन्त्र द्वारा भी नहीं देख सकते अर्थात् रागादिक रहित सूक्ष्म परिणमन ही भावपरमाणु है। इन्द्रिय और मन के विकल्पों का विषय न होने से इसे सूक्ष्म कहा है। यह भावपरमाणु का व्याख्यान जानना चाहिए। भावपरमाणु ज्ञान की परिणति का प्रतीक है तथा द्रव्यपरमाणु आत्मद्रव्य का प्रतीक है। श्रीधवला आदि ग्रन्थों में यह विषय आता है कि द्वितीय शुक्लध्यान के समय एक योग रहेगा लेकिन नौपदार्थों में से कोई एक पदार्थ को ही विषय बना सकते हैं।

४२ भंगों में से वह छद्मस्थ कोई एक भंग बना सकता है। ऐसा नहीं कि वह आत्मद्रव्य ही हो किन्तु वहाँ संक्रमण नहीं होगा। अब अध्यात्म प्रणाली में जो शुक्लध्यान का विषय होता है वह निश्चित रूप से आत्मद्रव्य ही होता है। यहाँ परमाणु का अर्थ यही है जो इन्द्रिय का विषय न बनकर ज्ञान का विषय बनता है। इसमें भी मतिज्ञान, श्रुतज्ञान सबकी सूक्ष्मता अलग-अलग रहेगी। दर्शनोपयोग के समय सूक्ष्मता अलग रहेगी और अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के विषय अलग-अलग रहेंगे।

दृष्टान्त—जैसे कोई चित्रकार है और वह चित्र बना रहा है तो चित्र एक आकार का हो गया। पेंटिंग में कोई आकार नहीं रहता तो चित्र को हम द्रव्यपरमाणु मान लें। उस चित्र के आकार में कहीं टेढ़ापन आदि आ जाता है वह द्रव्यपरमाणु की सूक्ष्मता मान लें। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि में उसकी आकृति की सूक्ष्मता नहीं आ पाती, मुश्किल से ही किसी को पकड़ में आती है। तो वह कहता है कि—एक तरफ लाइन कम है एक तरफ ज्यादा है। रंग की अपेक्षा किसी में गाढ़ापन, किसी में पतलापन है। गाढ़े रंग से रूप अलग दिखता है, पतले रंग में अलग दिखता है। मोती का रूप या लहरों को दिखाना हो तो उसमें एकदम सफेद रंग भरने से जीवन्त मोती जैसे दिखने लगे इसको बोलते हैं भावपरमाणु की सूक्ष्मता।

भावपरमाणु की सूक्ष्मता में आकार की ओर नहीं किन्तु रंग की ओर दृष्टि चली जाती है और रेखाओं का आकार द्रव्य का प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार द्रव्य और भाव दोनों की सूक्ष्मता को लेकर जब चित्र के साथ ही एकाकार हो जाते हैं तो अन्य द्रव्य छूट जाते हैं। मात्र चित्र और उसका रंग ये ही विषयभूत रहते हैं। इनसे चित्त नहीं हट रहा है अर्थात् उसी में चित्त एकाग्र हो जाता है। इसे द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु दो शब्द द्वारा कहा गया अर्थात् पहले चित्त अन्य द्रव्य से हटेगा तभी सूक्ष्म विषय समझ में आयेगा।

शंका—यहाँ परमाणु का क्या अर्थ है ?

समाधान—परमाणु का अर्थ रागादिक विकल्प से रहित सूक्ष्म अवस्था है। वह इन्द्रिय और मन का विषय नहीं होने से सूक्ष्म है। छद्मस्थ अवस्था में ध्यान का विषय अर्थात् ध्येय और ध्याता भिन्न

रहते हैं। द्वैत होने से उपचार शब्द आता है किन्तु केवली अवस्था में जब कार्य–कारण व्यवस्था बनाते हैं तब ध्यान कारण निर्जरा कार्य होती है। बिना कारण के कोई कार्य छद्मस्थ को देखने में नहीं आता किन्तु सर्वज्ञ भगवान् अद्वैत ध्येय, ध्याता और ध्यान को जानते हैं।

दो प्रकार की व्यग्रता होती है इसमें उपयोग की व्यग्रता १२ वें गुणस्थान तक चलती है। दूसरी योग की व्यग्रता है उसे भी दूर करने के लिए एकाग्र होना आवश्यक है। टिनोपाल कब लगाया जाता है? जब तक कपड़ा स्वच्छ नहीं हो जाता है। उसी प्रकार पहले उपयोग की व्यग्रता मिटती है फिर योग की। द्रव्य और भाव की सूक्ष्मता इन्द्रिय और मन का विषय नहीं, चिन्तन का भी नहीं, ध्यान का विषय है। चित्र में टेड़ी रेखाएँ चिन्तन से नहीं, ध्यान से देखने पर ज्ञात होती हैं और ध्यान तब लगता है जब उपयोग में सूक्ष्मता आती है। मन जब एकाग्र हो जाता है तब वह ध्यान का विषय बन जाता है। महावीर भगवान् का एक चित्र अमरकंटक में आया था, उसमें बेल–बूटी, फूल–पत्ते के अलावा कुछ था ही नहीं, उसे गौर से देखने पर ४५ सेकेण्ड में भगवान् का चित्र उभरकर दिखने लगता है। दूसरी बार में ३० सेकेण्ड में, फिर तो ५ सेकेण्ड में ही दिखने लगता है। भीतर एक गुफा में पहुँचने पर न बेल है, न पत्ती है, एक सिंहासन पर भगवान् बैठे हैं। कुछ लोगों ने कई बार प्रयास किया लेकिन भगवान् नहीं दिखे क्योंकि उनकी दृष्टि में वह सूक्ष्मता नहीं बन पायी लेकिन जिसने उसे ध्यान से देखा उसे भीतर का दर्शन हो गया, बाहर का सब दृश्य समाप्त हो जाता है। ऐसा ही द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु की सूक्ष्मता बतायी जा रही है।

जहाँ इन्द्रियों का व्यापार है वहाँ विषयों के आधीन ही है ऐसा एकान्त से नहीं कह सकते। उस समय भी अन्तर्जगत् में प्रवेश कर सकते हैं। जैसे–त्राटक ध्यान करने वाले किसी एक वस्तु पर दृष्टि टिका देते हैं तो वह परावर्तित होकर आगे बढ़ जाते हैं उनके लिए कुछ भी बाधक नहीं होता। पञ्चेन्द्रिय के विषयों को जो जीतने वाले होते हैं उनके लिए कोई वस्तु बाधक नहीं होती, वे उसे पार कर जाते हैं यही इन्द्रिय दमन है। वस्तु राग पैदा ही करे यह नियम नहीं है इसका प्रयोग करें। ध्यान कैसे लगायें? यह कहने से ध्यान नहीं लगता, ध्यान लगाने से लगता है। भगवान् उन्हीं को दिखते हैं जिनमें चंचलता नहीं है। इन्द्रिय विजयी के लिए इन्द्रियाँ कभी बाधक नहीं बनतीं। मन के कारण बुद्धि बिगड़ जाती है। आँख तो ठीक है, पर चित्त बिगड़ जाता है तो ध्यान भी बिगड़ जाता है फिर तो ध्यान में भी पञ्चेन्द्रिय के विषय दिखते हैं। यदि इसे वश में करें तो असंख्यातगुणी कर्म की निर्जरा होती है। एकाग्रता से एक सेकेण्ड भी नहीं लगता कि भगवान् दिखने लग जाते हैं। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि बाह्य विषयों में चंचलता बहुत जल्दी आ जाती है, पर भीतर के विषय में बिना आँखों की टिमकार के बहुत देर तक बैठ सकते हैं। भीतर के भगवान् जब दिखने लग जाते हैं तब देखते–देखते इतना अभ्यास हो जाता है कि कुछ और दिखता ही नहीं, मात्र भगवान् ही दिखते हैं किन्तु पलक झपकते ही सब गायब हो जाता है तो पुनः अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा यह सब लगाना होता है। इसलिए

पलक न झपकाएँ तो ऐसे ही भगवान् दिखते रहेंगे, इसे ध्यान की पकड़ या धारणा कहते हैं। प्रतिक्रमण आदि आठ अमृतकुम्भ भी बन सकते हैं और यदि दृष्टि पञ्चेन्द्रिय विषयों की ओर चली जाती है तो विषकुम्भ हो जाते हैं। '**स्मृतिसमन्वाहारः**' रूप धारणा तो आर्तध्यान में भी होती है। यदि अपने भीतर शुद्धात्मतत्त्व को देखना है तो आँख, कान आदि सब खिड़कियों को बन्द करना होगा। पहुँचे हुए साधु उन्हें ही बोलते हैं जो बैठते ही निजात्म तक पहुँच जाते हैं। **आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी** कहते हैं कि–एक ही स्थान पर दो तत्त्व होते हुए भी जड़ शरीर नहीं, मात्र आत्मा ही दिखना चाहिए। मानलो माला के बीच में एक लालमणि लगा दी, अब निश्चलदृष्टि उसी की मानी जाती है, जिसे पूरी माला न दिखे, मात्र एक लालमणि ही दिखे। स्वसंवेदन का भी यही अर्थ है जहाँ सर्व विकल्प छूट जाएँ क्योंकि विकल्प छोड़े बिना स्व का संवेदन नहीं हो सकता। उन क्षणों में अन्य तत्त्व को विषय न बनाकर मात्र आत्मतत्त्व का संवेदन होता है।

कार्य–कारण की विवक्षा में जो औपचारिक ध्यान कहा था उसका यही आशय है कि ध्यान का लक्षण चिन्ता निरोध है अर्थात् उपयोग को एक पदार्थ पर मुख्य रूप से टिका देने का नाम चिन्ता निरोध है जो कि छद्मस्थ अवस्था में ही सम्भव है। सर्वज्ञदशा में चिन्ता ही नहीं तो निरोध भी नहीं है। उनका उपयोग स्व में ही स्थित होने से वे स्वस्थ हो चुके हैं इसलिए चिन्तानिरोध लक्षण वाला ध्यान न होने से उपचार कह दिया है किन्तु ध्यान का कार्य जो निर्जरा है वह हो रहा है। इस कार्य का पुरुषार्थ केवली को इच्छापूर्वक नहीं होता। छद्मस्थ अवस्था तक चिन्तानिरोध रूप पुरुषार्थ होता है क्योंकि यहाँ तक चित्त रहने से चंचलता रह सकती है। अतः १२वें गुणस्थान तक मुख्य ध्यान माना है। बाद में कथञ्चित् औपचारिक माना है। १३वें गुणस्थान में जब अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाता है उस समय ध्यान होता है। इसके पूर्व जिन्हें समुद्घात करना है वे आठ समय में दण्ड, कपाट आदि केवली समुद्घात करते हैं। फिर ध्यान में बादरकाय को सूक्ष्मकाय, बादर वचन को सूक्ष्म वचन और बादर श्वासोच्छ्वास को सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास कर लेते हैं। इस कार्य में अन्तर्मुहूर्त लगता है। वहाँ सूक्ष्मकाय योग में अन्तर्मुहूर्त रहकर संवर करते हैं और १४वें अयोगकेवली गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। इस प्रक्रिया सम्बन्धी विषय पश्चिमस्कन्ध, जयधवला और धवला की पाँचवीं–छठवीं पुस्तक में भी आया है कि जिनका उपयोग स्थिर हो चुका है उनको ध्यान नहीं माना है क्योंकि ध्यान की परिभाषा **तत्त्वार्थसूत्र** में कही है–"**उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्**" यह केवली भगवान् में नहीं पायी जाती। वहाँ स्थूल से सूक्ष्म योग करते हैं। जिस प्रकार ढलान में पैर धोते हैं तो पानी बह जाता है, लेकिन उसे छिन्न–भिन्न कर देते हैं तो इससे जल रुक जाता है, वह सूक्ष्मकरण हो गया। असंख्यात–असंख्यात आत्मा के प्रदेशों को वह अपूर्व स्पर्धकात्मक कर लेते हैं इससे योग की क्षमता कम होती जाती है। जिस प्रकार छिन्न–भिन्न करने से धीरे–धीरे वह धारा समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार योग भी १३वें गुणस्थान के अन्त में समाप्त हो जाते हैं।

प्राथमिक दशा में शुक्लध्यान नहीं होता किन्तु धर्म्यध्यान तो होता है। विषयाभिलाषा रूप जो आर्त-रौद्रध्यान है उस ओर दृष्टि का नहीं जाना ही धर्म्यध्यान है और जिसके द्वारा विषय पुष्ट होते हैं ऐसी प्रवृत्ति को छोड़ना भी धर्म्यध्यान है। मानलो कोई पञ्चम गुणस्थानवर्ती है, वह पूजन करते समय भी पञ्चम गुणस्थानवर्ती है और रोटी बनाते समय भी पञ्चम गुणस्थानवर्ती है और रोटी खाते समय भी पञ्चम गुणस्थानवर्ती है। यद्यपि भोजन करते समय विशुद्धि में भी कमी आती है तथापि दृष्टि शुद्ध भोजन की ओर रहती है। जब वह पूजन विधान करता है तो घण्टों तक विषय-वासना रुक जाती है इसलिए **''विषय अभिलाषा रूप वंचनापि ध्यानं च''** तथा पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति परम्परा से मुक्ति का कारण होने से ध्येय रूप है। फिर निरन्तर ध्यान के अभ्यास से शुद्धात्म स्वरूप ही एकमात्र ध्येय होता है। **''आत्मन्येवात्मनाऽसौ क्षण मुपजनयन् सत्स्वयंभू: प्रवृत्त:''** जो आत्मा, आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा में ही, एक अन्तर्मुहूर्त भी प्रत्यक्ष रूप से धारणा या अनुभव करता है, वह स्वयं सर्वज्ञ हो जाता है।

इस प्रकार परस्पर सापेक्ष निश्चय और व्यवहारनय से साध्य व साधक भाव को जानकर ध्येय के विषय में विवाद नहीं करना चाहिए अर्थात् व्यवहार साधक है तो निश्चय साध्य है। साधन पूर्व में होता है और साध्य बाद में, यह नियम है।

उत्थानिका—अब द्रव्यमोक्ष का स्वरूप कहते हैं—

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ॥१६१॥

अन्वयार्थ—(जो) जो **(संवरेण जुत्तो)** संवर से युक्त है **(अध)** और **(सव्वकम्माणि)** सर्व कर्मों की **(णिज्जरमाणो)** निर्जरा करता है **(ववगदवेदाउस्सो)** वेदनीयकर्म और आयुकर्म का क्षय करता है **(भवं)** तथा संसार को (नाम और गोत्र कर्म को) **(मुयदि)** छोड़ता है अर्थात् नष्ट करता है **(तेण)** इसलिए **(सो मोक्खो)** वह जीव मोक्ष प्राप्त करता है।

अर्थ—जो परम संवर युक्त है ऐसा केवलज्ञानी जीव सर्व कर्मों की निर्जरा करता हुआ वेदनीय और आयु रहित होकर नामकर्म और गोत्रकर्म को छोड़ता है इसलिए वही जीव मोक्ष स्वरूप हो जाता है।

संवर के उस परम भाव से, युक्त रहें केवलज्ञानी।
सब कर्मों की करें निर्जरा, ऐसे हैं उत्तम ज्ञानी॥
वेदनीय औ आयु रहित हो, नाम गोत्र का क्षरण करें।
इस प्रकार वे जीव अन्त में, मुक्ति श्री का वरण करें ॥१६१॥

व्याख्यान— अभी तक भावमोक्ष के साथ भी आस्रव हो रहा था, अब परम संवर से युक्त हो १३ वें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म काय को भी समाप्त करके १४ वें गुणस्थान में आ गये। वहाँ

चतुर्थ शुक्लध्यान प्रारम्भ हो जाता है जिससे ८५ प्रकृतियों का क्षय कर देते हैं। १२ प्रकृतियाँ जो उदय में थीं उनकी उदीरणा भी १३ वें गुणस्थान तक ही होती है, १४ वें गुणस्थान में उदय तो रहता है पर उदीरणा नहीं होती। जैसे–बाढ़ का प्रवाह रहता है ऐसी उदीरणा समझो और बाढ़ उतरने पर पानी का जो वेग रहता है वह उदय के समान है। जब बुखार नहीं रहता है तो धर्मसभा में धर्मश्रवण करा भी देते हैं और कर भी लेते हैं किन्तु ९८ डिग्री से ज्यादा तापमान बढ़ जाए तो नार्मल नहीं रहता। उसे बुखार घोषित करते हैं तब बैठने की भी इच्छा नहीं होती। अतः असाता वेदनीय की उदीरणा में ऐसा ही होता है। साता-असाता की उदीरणा प्रमत्त गुणस्थान तक ही होती है इसके आगे नहीं। जब गाड़ी टॉप में होती है उस समय ब्रेक वगैरह कुछ नहीं लगाते, जैसे पानी में जा रहे हों लेकिन कॉर्नर या मोड़ आ जाए तो अलग तरह से गाड़ी चलती है। हाथी की चाल प्रशस्त विहायोगति मानी जाती है जो सहज उदय के समान है किन्तु ऊँट की सवारी उदीरणा के समान है, इसकी सवारी करने के पूर्व सिखाया जाता है कि गर्दन यूँ-यूँ करते रहना। ऊँट पर बैठकर ऊबड़-खाबड़ जैसा लगता है। जब गाड़ियाँ नहीं मिलतीं तो राजस्थान में ऊँट से ही यात्रा कर लेते हैं। मारवाड़ में ऊँट को ही हाथी जैसा मानते हैं। इसलिए जुलूस वगैरह में भी ऊँट ले जाते हैं। उदीरणा में मन नहीं लगता जिस प्रकार बुखार में अच्छा नहीं लगता। बच्चों के पास ज्यादा पैसा हो जाए तो तब तक चैन नहीं रहती जब तक खर्च न हो जाएँ। खाली हो गया तो अपने आप शान्त होकर बैठ जाता है। उसी प्रकार साता-असाता की उदीरणा रुक जाए उदय मात्र रह जाए तो ध्यान लगने लगता है। १४ वें गुणस्थान में कर्म और नोकर्म की संघातन क्रिया नहीं होती। हाँ, नोकर्म सम्बन्धी परिशातन क्रिया होती है।

शंका—निर्जरा और परिशातन क्रिया में क्या अन्तर है ?

समाधान—निर्जरा में कर्म की बात कही गई है और परिशातन क्रिया में नोकर्म की क्रिया बताई गई है।

शंका—केवली समुद्घात क्यों किया जाता है ?

समाधान—वैसे आयुकर्म के बराबर वेदनीय, नाम और गोत्र की स्थिति करने के लिए समुद्घात करते हैं, यह कहा जाता है लेकिन **राजवार्तिक** में लिखा है कि वेदनीय कर्म को ही आयुकर्म के अनुरूप किया जाता है, यह बहुत अच्छी बात कही है क्योंकि अघातिया कर्मों में सबसे ज्यादा प्रदेश वेदनीय को मिलते हैं, उसमें भी असाता वेदनीय को अधिक और साता को कम मिलते हैं यह नियम है। प्रत्येक समय संसारी जीव सुख-दुख का ही तो अनुभव करता है इसीलिए वेदनीय कर्म को आयु के अनुरूप करते हैं तो नाम व गोत्र अपने आप ही समीकृत हो जाते हैं। अतः नाम व गोत्र के लिए कुछ नहीं कहा। मात्र अन्तर्मुहूर्त में वेदनीय के निषेकों को गुणश्रेणी द्वारा समान कर दिया जाता है इसीलिए अविपाक निर्जरा भी वहाँ इसी आधार से कही है। उदीरणा के समय असंख्यात-असंख्यातगुणी निर्जरा के साथ गुणश्रेणी निक्षेप होता है अतः १३ वें गुणस्थान तक तो गुणश्रेणीनिक्षेप

होता है चूँकि वहाँ उदीरणा चलती रहती है लेकिन १४ वें गुणस्थान में आते ही असंख्यात गुणश्रेणीनिक्षेप न होकर केवल निर्जरा होती है। उदय रहते हुए भी जो सत्तागत पुंज है उनका स्तिबुक संक्रमण हो रहा है। १४ वें गुणस्थान के स्तिबुक संक्रमण में और नीचे के गुणस्थान के स्तिबुक संक्रमण में बहुत अन्तर है। पञ्चम गुणस्थानवर्ती जब असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा करता है तब स्थिति और अनुभागकाण्डकघात करते-करते अन्त में पूरा-पूरा द्रव्य दे दिया जाता है। इसी प्रकार स्तिबुक संक्रमण द्वारा १४वें गुणस्थान में उदय रूप १२ या १३ प्रकृतियों के अलावा शेष ७२ प्रकृतियों को संक्रमित करते हैं। जो प्रकृतियाँ उदय में आ रही हैं इनमें एक समय पूर्व स्तिबुक संक्रमण के रूप में परिणत हो जाती हैं और वह अनन्तर समय में उदय में आ जाती हैं लेकिन यहाँ उदीरणा नहीं होगी। एक अन्तर्मुहूर्त में भी असंख्यात अन्तर्मुहूर्त होते हैं, इसी में गुणश्रेणीनिक्षेप युक्त अविपाक निर्जरा होती है। "**विपाकोऽनुभवः**" विपाक अर्थात् उदय है, यहाँ अविपाक का अर्थ स्तिबुक संक्रमण द्वारा प्रकृति को संक्रमित करना है, जो अनुभव में नहीं आयेगा। कुल ८५ प्रकृतियों में से ७२ प्रकृतियों का विपाक नहीं होगा, १३ प्रकृतियों का ही विपाक होगा, यह अविपाक निर्जरा, चतुर्थ शुक्लध्यान या परम यथाख्यातचारित्र रूप कारण के बिना नहीं होती। यह कारण सर्वश्रेष्ठ है, सभी छद्मस्थ और स्नातक मुनि इनसे पीछे हैं, १४ वें गुणस्थान वाले ही एकमात्र टॉप पर हैं। कर्मप्रवाद सिद्धान्त अतिगहन और विशाल है। वर्तमान में तो केवल लब्धिसार, गोम्मटसार आदि कुछ ही ग्रन्थ रह गए हैं। इन्हीं ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि शरीर नामकर्म के उदय से ही योग हो रहा था, शरीर नामकर्म का उदय समाप्त होते ही आत्मगत भाव से १४ वें गुणस्थान को प्राप्त कर मोक्ष चले जाते हैं।

भावमोक्ष होने के उपरान्त स्वसंवित्ति साध्यरूप सकल संवर करके पूर्व संचित कर्म की निर्जरा करते हुए जब अन्तर्मुहूर्त जीवन शेष रह जाता है तब आयुकर्म से अधिक वेदनीय, नाम व गोत्र की स्थिति होने से उनका नाश करने के लिए या संसार की स्थिति को नाश करने के लिए यह कार्य होता है। आयुकर्म की स्थिति का नाश नहीं कहा क्योंकि उसके अपवर्तना आदि कार्य होते हैं। समुद्घात के उपरान्त उपचार से सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान से सयोगकेवली गुणस्थान का त्याग कर सर्वात्म प्रदेशों को एकाकार करते हुए परम समरस लक्षण वाला जो सुखामृत है उसके आस्वादन से तृप्त होते हुए १४वें गुणस्थान में परम यथाख्यातचारित्र को प्राप्त होते हैं। **सर्वार्थसिद्धिकार** ने परम न कहकर सम्पूर्ण कहा है। परम और सम्पूर्ण में बहुत अन्तर है, जितना परमावधि और सर्वावधि में अन्तर है। सम्पूर्ण यथाख्यातचारित्र १४वें गुणस्थान में जाने के उपरान्त ही प्राप्त होता है। फिर द्रव्यमोक्ष के लिए चार हेतु दिए हैं-"**आविद्धकुलालचक्रवद् व्यपगत लेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च**" कुम्भकार के चाक के समान, निर्लेप तुम्बी के समान, एरण्ड बीज तथा अग्नि शिखा की भाँति ऊर्ध्वगमन करते हैं। आगे गति के लिए कारणभूत धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के अग्रभाग पर ही रह जाते हैं। वहाँ अविनाशी परम सुख को अनन्तकाल तक अनुभव करते हैं। जब तक देह

रहता है तब तक देह प्रमाण आत्मप्रदेश फैले रहते हैं किन्तु शरीर का अभाव होते ही पोल या खाली स्थान था वह घनीभूत होकर पूर्व शरीराकार रह जाता है। यहाँ आसन की बात नहीं है, क्योंकि आसन ध्यान का प्रतीक है, अब ध्यानातीत हो गए तो उत्सेध रूप अवगाहना होगी। अवगाहना का अर्थ चौड़ाई या मोटाई से नहीं, ऊँचाई से है।

मोक्ष में जीव का आकार व आसन—दृष्टान्त—गुब्बारे में जब तक हवा नहीं भरते तब तक चिपका हुआ नीचे गिरा हुआ रहता है। उसकी ऊँचाई कितनी है? अभी ज्ञात नहीं होगी। जब उसमें हवा को भरकर मुख को बन्द करके लिटा दिया जाता है तब वह सीधा होकर ही ऊपर उठता है। इस उदाहरण से सिद्ध परमेष्ठी का आसन समझना है। बैठकर भी सिद्ध होते हैं खड़े होकर भी होते हैं। जो बैठकर सिद्ध हो रहे हैं मानलो उनकी अवगाहना ५०० धनुष की है। उनका जो आसन था वह शरीर में था, आत्मप्रदेशों में नहीं। इसलिए आसन तब तक रहेगा जब तक पूर्ण शुक्लध्यान नहीं होगा। जैसे ही शरीर बिखरा त्यों ही मानलो वह पद्मासन में बैठे हैं तो उनकी अवगाहना आधी मान करके भी चले तो २५० धनुष की होगी। लेकिन आगम कहता है उनकी ५०० धनुष की काया है जो सीधी ऊर्ध्वगमन करेगी। जैसे कोट को हेंगर पर टाँगते हैं तो उसके सोल्डर्स बिल्कुल सीधे खड़े हो जाते हैं। उसी प्रकार ५२५ धनुष की काया हो या साढ़े तीन हाथ की, बिल्कुल सीधी रहेगी और निराकार वा तदाकार सिद्ध, सिद्धालय में सिर की अपेक्षा समान रहेंगे। जैसे–बैडमिंटन के खेल में बैड-शटल या कोक फूल की पेंदी को ही लगता है जो सुपारी के बराबर गाँठ जैसी रहती है तब उसका उत्तमांग ऊपर की ओर ही जाता है। अनेक प्रकार के आसन होते हैं उसमें 'कुक्कुट आसन' जो मुर्गा के समान रहता है और शीर्षासन भी होता है। जब यह आसन मोक्ष में छूट जाता है तो फिर आकार भी समाप्त होना चाहिए।

भगवतीआराधना में कहा है–प्रायोपगमन मरण में जब तक शरीर नहीं छूटता तब तक वे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं करते, ऐसा उनका संकल्प रहता है। इसी बीच कोई हाथी या सिंह उन्हें गड्ढे में फेंक दे और सिर के बल गिर कर यदि कीचड़ में भी फँस जाएँ, तो भी जिस रूप में हैं वैसे ही रहेंगे, परिवर्तन नहीं करेंगे किन्तु केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो जाएँ तो क्या शीर्षासन से मोक्ष जायेंगे? नहीं। आसन शरीराश्रित क्रिया है, बैडमिंटन के फूल की भाँति उत्तमांग ऊपर जायेगा। सिद्धालय में शरीर का जो आकार है वह वहाँ पर रहता है, आसन का आकार नहीं। आसन के आकार और शरीर के आकार में बहुत अन्तर है। शरीर का आकार भी मनुष्य का रहेगा, वह उल्टा नहीं रहेगा। साँचे में धातु पिघलाकर डाली जाती है उसमें पोल नहीं रहती, उसी प्रकार सिद्धदशा में शरीराश्रित आकार-प्रकार सब समाप्त हो जाते हैं, मात्र शुद्ध आत्मा के प्रदेश रहते हैं। जो शरीर की अवगाहना एड़ी से चोटी तक थी वही उत्सेध रहेगा। कोई भी व्यक्ति योग साधना में बैठ सकता है या खड़ा हो सकता है। योग में दो ही आसन मुख्य माने गए हैं लेकिन जो सिद्धपरमेष्ठी बनते हैं उनके लिए कोई आसन का निर्धारण अनिवार्य नहीं किया। शर्त नहीं कि यही होना चाहिए या नहीं होना चाहिए, क्योंकि

जहाँ आसन की चर्चा होगी वहाँ शरीर को मुख्यता देनी पड़ेगी और सिद्धभगवान् का शरीर ही नहीं है। बिम्बस्थापना की बात अलग है इसमें शरीर और उसकी अवगाहना की मुख्यता को लेकर करते हैं, वह अवगाहना भी लिटाकर नहीं, उत्सेध से मापी जाती है। घनांगुल, प्रतरांगुल, सूच्यंगुल आदि सब उत्सेध से ही गिनते हैं। इस प्रकार द्रव्यमोक्ष का व्याख्यान पूर्ण हुआ और मोक्षमार्ग के अंग सम्यग्दर्शन के निमित्तभूत नौपदार्थों का व्याख्यान करने वाला दूसरे महाधिकार में ४ गाथाओं द्वारा दसवाँ अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

तृतीय महाधिकार
मोक्षमार्ग विस्तार चूलिका

आगे निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का विशेष कथन जिस चूलिका में दिया जायेगा उस तृतीय महाधिकार में २० गाथाएँ हैं। उन २० गाथाओं में केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव रूप, शुद्ध जीव स्वरूप के कथन के साथ जीव स्वभाव में नियत रहना ही चारित्र या मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग कोई और वस्तु नहीं अपितु जीव का स्वभाव में रह जाना ही मोक्षमार्ग है। अर्थात् ज्ञान-दर्शन द्वारा जीव मात्र जाने देखे, अन्य कार्य न करे, यह उसका चारित्र है। यदि ऐसा चारित्र अन्तर्मुहूर्त काल भी हो जाए तो मुक्ति प्राप्त हो जायेगी। स्वभाव में स्थिर रूप चारित्र न होने से ही जीव भटक जाता है, ऐसा कथन करने वाली एक सूत्र गाथा है।

अनन्तर शुद्धात्माश्रित स्वसमय और मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणामों के आश्रित परसमय है। केवल मिथ्यात्व चला गया और रागादि हैं तो भी स्वसमय नहीं आयेगा। पर से प्रभावित होकर राग-द्वेषादि रूप परिणमन करना ही परसमय है। जीव स्वभाव में स्थित है अर्थात् कभी भी अपने जीवत्व को नहीं छोड़ता या रागादि रूप नहीं परिणमना जीव का स्वभाव है, ऐसी एक सूत्र गाथा है। आगे शुद्धात्म श्रद्धानादि रूप स्वसमय से विपरीत परसमय है इसकी मुख्यता से दो सूत्र गाथाएँ हैं। फिर रागादि विकल्पों से रहित स्वसंवेदन ज्ञान रूप हो जाना स्वसमय है इसके विवरण में दो गाथाएँ हैं, तदनन्तर वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत छह द्रव्य का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और पञ्च महाव्रतादि के अनुष्ठान रूप मोक्षमार्ग के निरूपण की मुख्यता से पञ्चम स्थल में एक सूत्र गाथा है। फिर व्यवहार रत्नत्रय द्वारा साध्यभूत अभेद रत्नत्रय स्वरूप जो निश्चय मोक्षमार्ग है उसके प्रतिपादन रूप दो गाथाएँ हैं।

आगे शुद्धात्म भावना से उत्पन्न जो अतीन्द्रिय सुख है वही जिसे एकमात्र उपादेय प्रतिभासित होता है, वह भाव सम्यग्दृष्टि है इसकी एक गाथा है। इससे स्पष्ट है कि पढ़ने, लिखने, चर्चा करने मात्र से सम्यग्दृष्टि नहीं हो जाते। कुछ लोगों की धारणा है कि स्वाध्याय करने वाले ही ज्ञानी हैं, उन्हें ही तत्त्वज्ञान की पकड़ होती है एवं जो मात्र पूजन-पाठ और अन्य आवश्यक कार्यों में लगे रहते हैं, उनमें भाव की पकड़ भी होना चाहिए। आचार्य कहते हैं यदि उन्हें तत्त्वज्ञान की पकड़ है तो स्वाद आये बिना नहीं रह सकता। मोक्षमार्ग उपादेयभूत है, यह ठान लेने पर स्वयं को स्थिर रखने के लिए क्रिया आदि अनुष्ठान में लगे रहना भी आगम के अनुसार वह व्यवहार रत्नत्रय माना जाता है। इसी साधन के माध्यम से निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति होती है और जब निश्चय रत्नत्रय होता है तब पुण्य-पाप का क्षय होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यदि व्यवहार रत्नत्रय रहता है तो उसे पुण्य बन्ध होता

है लेकिन साक्षात् मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। तो क्या व्यवहार रत्नत्रय छोड़ देना चाहिए? नहीं। ऐसा नहीं है क्योंकि मोक्ष यदि होगा तो इसी के माध्यम से होगा, इस प्रकार अष्टम स्थल में एक सूत्र गाथा है।

आगे निर्विकल्पसमाधि स्वरूप सामायिक संयम में रहने की क्षमता होते हुए भी इसे छोड़कर एकान्त से सराग चारित्र का अनुचरण ही मोक्ष का कारण मानता है तो वह स्थूल परसमय है, लेकिन जिस समय शुद्धोपयोग में ठहरने की योग्यता नहीं रहती, उस समय शुद्धोपयोग का कारण जो व्यवहार रत्नत्रय है उसके अनुष्ठान में लग जाए तो वह गलत नहीं है किन्तु हमारे पास सरागसंयम है उसी से मोक्ष मिल जायेगा, यह मान्यता स्थूल परसमय है। यदि वह शुद्धोपयोग या परमसमाधि में ठहरने की भावना रखता हुआ भी दीर्घ संहनन आदि सामग्री के अभाव में अशुभ से बचने के लिए शुभोपयोग में आ जाता है तो उसे सूक्ष्म परसमय कहा है, इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से पाँच गाथाएँ हैं।

अनन्तर तीर्थंकर आदि का चारित्र और जीवादि नौपदार्थ का प्रतिपादक जो आगम है उसके ज्ञान से सहित अथवा उन ग्रन्थों की भक्ति से युक्त होने के समय पर पुण्यास्रव रूप परिणाम से मोक्ष नहीं है। फिर भी उसके आधार से कालान्तर में निरास्रव शुद्धोपयोग रूप परिणाम की सामग्री की उपलब्धि होती है इस कथन की मुख्यता से दो सूत्र गाथाएँ हैं। अनन्तर साक्षात् मोक्ष का कारण वीतरागता ही है इस तात्पर्य के साथ व्याख्यान रूप से एक सूत्र गाथा है। अन्तिम में उपसंहार रूप से एक गाथा सूत्र है। इस प्रकार १२ अन्तस्थल के द्वारा मोक्ष और मोक्षमार्ग के विशिष्ट व्याख्यान रूप में तृतीय महाधिकार की सामूहिक उत्थानिका हुई।

उत्थानिका—मोक्षमार्ग के स्वरूप का कथन करते हैं—

जीवसहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं ॥१६२॥

अन्वयार्थ—**(जीवसहावं)** जीव का स्वभाव **(णाणं)** ज्ञान और **(अप्पडिहद दंसणं)** अखंडित दर्शन **(अणण्णमयं)** जीव से भिन्न नहीं हैं **(च)** और **(तेसु)** उनमें **(णियदं)** निश्चल रूप से जो **(अत्थित्तं)** अवस्थान हैं, उसे **(अणिंदियं)** रागादि दोषों से रहित वीतराग **(चरियं)** चारित्र **(भणियं)** कहा गया है। [यही चारित्र मोक्षमार्ग है।]

अर्थ—जीव का स्वभाव अप्रतिहत ज्ञान और दर्शन है जो कि अनन्यमय हैं। उन ज्ञान दर्शन में नियतरूप अस्तित्व जो कि अनिन्दित है उसे चारित्र कहा है।

अखण्ड ज्ञान और दर्शन दो, जीव स्वभाव कहाते हैं।
यह दोनों चेतन स्वभाव से, अनन्य माने जाते हैं॥
ज्ञान-दर्श में निश्चलता मय, जो भी दशा वर्तती है।
वह निर्मल चारित्र रूप है, माँ जिनवाणी कहती है॥१६२॥

व्याख्यान—जीव का स्वभाव अप्रतिहत ज्ञान और सामान्य अवलोकन रूप दर्शन है। यह दोनों जीव के अनन्यमय असाधारण लक्षण हैं। वह जीव ८४ लाख योनिभूत संसार में रहे या मोक्ष में रहे उसके ज्ञान-दर्शन का रहना मिट नहीं सकता, अस्तित्व बना ही रहता है इसीलिए अप्रतिहत कहा है। जीव इनके बिना रह नहीं सकता और ज्ञान-दर्शन भी जीव को छोड़कर अलग नहीं पाए जाते अतः अनन्यमय कहे हैं। गाथा में 'तेसु' शब्द प्राकृत में बहुवचन होता है और ज्ञान-दर्शन में नियत अर्थात् स्थिररूप अस्तिभाव चारित्र है। इसका अस्तित्व अनिन्दित अर्थात् निन्दा के योग्य नहीं है। प्रतिहत अर्थात् क्षतिग्रस्त हो जाना और अप्रतिहत का अर्थ सुरक्षित रहना है। षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों के अनुसार ज्ञान और दर्शनमार्गणा में केवलज्ञान और केवलदर्शन आ जाते हैं किन्तु मोहनीयकर्म के क्षय से क्षायिकसम्यक्त्व आदि को अलग मार्गणा में स्वीकारा है। ज्ञान-दर्शन रूप स्वभाव में जब स्थिर होंगे तब इन्द्रियों का व्यापार नहीं रहेगा और इन्द्रिय व्यापार का नहीं रहना ही निश्चय चारित्र रूप आत्मा का स्वभाव माना जाता है। ज्ञान-दर्शन में स्थित रागादि विभाव परिणामों के अभाव के कारण वह अनिन्दित कहलाता है। स्वयं को इतना ही पुरुषार्थ करना है जिससे राग-द्वेषादिक न हों और कर्म के उदय में होते हैं तो होने दो, करो नहीं। करने में कर्तृत्वभाव है और होने में नहीं चाहते हुए भी हो रहे हैं।

श्रावक स्वयमेव घर जाते हैं और महाराज को आहार के लिए श्रावक के घर जाना पड़ता है। कुछ ऐसे भी श्रावक हैं जिन्हें यहाँ से जाना पड़ता है और कुछ घर से यहाँ आना तो चाहते हैं लेकिन आ नहीं पाते, तो घर में ही बैठे-बैठे याद करते रहते हैं। सीमन्धर भगवान् के पास हम जाना तो चाहते हैं लेकिन जा नहीं पाते, वहाँ साक्षात् २० तीर्थंकर विद्यमान हैं, प्रवचन कर रहे हैं, गणधर परमेष्ठी व्याख्यान कर रहे हैं और अनेक मुनिराज श्रवण कर रहे हैं, उस समवसरण का वर्णन शब्दों में नहीं कर सकते। ऐसा अपूर्व वैभव होता है। वहाँ कोई ले जाने वाला मिल जाए तो क्या मना करेंगे? (सभी ने कहा-नहीं) ऐसा वैभव छोड़कर यहाँ रहना नहीं चाहते, पर रहना पड़ता है। कोई निदान करके वहाँ चला जाए तो भी ठीक है उसका निदान सार्थक हो जाए लेकिन ऐसा नहीं होता। यह एक प्रकार से निकाचित कर्म है जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार फल देकर ही जाता है, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं करता। यहाँ सभी का ऐसा निकाचित कर्म का उदय है जिससे तीर्थंकर का दर्शन नहीं मिलता।

आज सातवें गुणस्थान से आगे जीवों का विकास भी नहीं होता। यह सब जानकर ऐसा लगता है कि करना तो एक ही काम है जिससे स्वयं में पूर्ण रूप से स्थिर हो जाएँ। चाहते तो हैं पर वह कार्य अभी तक नहीं हो पाया। समवसरण में जाकर भी मन ने कहा-चलो बहुत हो गया, अब घर चलें और निकल कर घर आ गए। यहाँ बहुत विस्मय होता है और कर्मों पर विश्वास हो जाता है कि कर्म भी कैसे-कैसे उदय में आते हैं? हम यहाँ साक्षात् दर्शन को तरस रहे हैं, और उन्हें वहाँ प्रभु साक्षात् दिख रहे हैं फिर भी छोड़कर समवसरण से घर आ गए। पहली बार जाते हैं तो विशेष लगता है, बार-बार जाना सामान्य की कोटि में आ जाता है। जब तक रिजल्ट नहीं खुलता तब तक सोचता है क्या

खुलेगा? और जब रिजल्ट सामने आ जाता है कि कक्षा में प्रथम आ गया तो दूसरे ही अन्तर्मुहूर्त में आगे की कक्षा में जाने की तैयारी में लग जाता है। यदि पिछली कक्षा के उत्तीर्ण होने का आनन्द लेता रहेगा तो कहीं ऐसा न हो कि अगले साल पीछे ही रह जाए। संसारी जीव की दशा बहुत दयनीय है। अच्छे से अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावानुसार वस्तु मिल जाने पर भी अन्तर्मुहूर्त हुआ नहीं कि उसमें पुनः उदासीनता आ जाती है, इसलिए परमसमाधि के समय कोई भी पदार्थ आकर्षण का केन्द्र नहीं बनता, वह साधक स्वस्थ होता है।

स्वरूप में स्थिर होना ही चारित्र—वस्तुएँ अनन्त हैं, वस्तुगत धर्म भी अनन्त हैं, उन्हें एकसाथ विशेष रूप से जानना केवलज्ञान का काम है और तीनलोक में तीनकाल सम्बन्धी समस्त वस्तुगत जो सामान्य स्वरूप है उसे एकसाथ ग्रहण करने में केवलदर्शन समर्थ है। यह जीव का स्वभाव सहज शुद्ध सामान्य और विशेष चैतन्यात्मक जीवास्तिकाय है यद्यपि ज्ञान-दर्शन में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि से भेद हैं फिर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अभेद है ऐसे ही चारित्र, जीव स्वभाव से अभिन्न है जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है तथा इन्द्रिय व्यापार का अभाव होने से निर्विकार व निर्दोष है तथा जीव के स्वभाव में निश्चल स्थिति रूप है। "**स्वरूपे चरणं चारित्रं**" अर्थात् आत्मभाव में तन्मय होना चारित्र है। जब स्वभाव निष्ठ हो जाता है तो ऐसा अडिग हो जाता है कि कोई भी पर पदार्थ उसे क्षति नहीं पहुँचा सकता। जब मुमुक्षु को केवलज्ञान हो जाता है तब कोई भी उपसर्ग नहीं होता। संसार में रहकर भी क्षुधा, तृषा, निद्रादि दोष रहित हो जाते हैं और कुछ कम पूर्वकोटिवर्ष तक विहार करते हैं, उपदेश देते हैं।

दृष्टान्त—एक वह टॉर्च होती है जिसमें सेल डालने पर जलती है किन्तु एक ऐसी भी टॉर्च रहती है जिसे चार्ज करने की आवश्यकता भी नहीं, अपने आप चार्ज होती रहती है और प्रकाश देती रहती है। उसी प्रकार एक बार क्षपक श्रेणी चढ़ गए तो लौटते नहीं, केवलज्ञान प्राप्त कर ही लेते हैं। फिर केवलज्ञान होने पर बिना भोजन-पानी के ही कुछ कम पूर्वकोटिवर्ष तक विहारादि करते हैं, नासादृष्टि हो जाती है। अनेक मुनिराज प्रभु को देखते हैं पर अरहंत भगवान् उन्हें नहीं देखते। भक्त चाहते हैं कि प्रभो! एक बार हमें भी देख लें किन्तु वे देखते नहीं क्योंकि उन्हें अतीत, अनागत, वर्तमान सब दिख रहा है। अनहोनी कुछ है ही नहीं। सब जानते-देखते हुए भी कुछ नहीं करते। स्वरूप में स्थिर हैं, यही तो स्व चारित्र है। चारित्र, परचरित्र और स्वचरित्र की अपेक्षा दो प्रकार का है। स्वयं आचरण न करते हुए भी दूसरों के द्वारा अनुभव किए हुए मनोज्ञ काम भोगों का स्मरण करना परचरित्र रूप अपध्यान है, इससे विपरीत स्वरूप में आचरण करना स्वचरित्र है। यही वास्तविक या परमार्थभूत चारित्र मुक्ति का कारण है। इस मोक्षमार्ग को न जानकर मिथ्यात्व रागादि में लीन होकर अनन्तकाल बीत गया, यह जानकर स्वभाव में निश्चल स्थिति रूप चारित्र की ही भावना करना योग्य है।

ज्ञानीजन मोक्ष के कारणभूत निजस्वभाव में लीन रहते हैं। जिन्हें स्वात्मतत्त्व को छोड़कर

सर्वपदार्थ अन्य रूप भासित होते हैं वे न कुछ कहते हैं, न सुनते हैं, न देखते हैं, न ही पूछने पर उत्तर देते हैं जबकि अज्ञ प्राणी चौबीसों घंटे इन्द्रिय व्यापार में लगा रहता है। दुकान खोलने के उपरान्त अपने आपमें रहना चाहें तो लोग कहेंगे कि दुकान क्यों खोली? अतः दुकानदार को सम्भव ही नहीं है। ज्ञानी आँख खोलकर देखते तक नहीं, तब कहीं निश्चय में रह पाते हैं।

एमेवगओ कालो असारसंसार कारणरयाणं।
परमट्ठकारणाणं कारण ण हु जाणियं किंपि॥

इसी तरह मोक्षमार्ग के साधन को कुछ भी न जानते हुए असार संसार के कारणों में लीन होकर काल बिता दिया। देखने योग्य को देखता नहीं, जानने योग्य को जानता नहीं है।

उत्थानिका—स्वसमय के ग्रहण और परसमय के त्याग से ही कर्मबन्ध से छूटता है इसलिए जीव स्वभाव में स्थिरता रूप चारित्र ही मोक्षमार्ग है यह दिखाते हैं–

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओघ परसमओ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो ॥१६३॥

अन्वयार्थ—**(जीवो)** जीव [व्यवहारनय से] **(अणियदगुणपज्जओ)** अनियत गुण व पर्यायों में और **(परसमओ)** परसमय में रत रहता है। **(अध)** तथा **(सहावणियदो)** स्वभाव से नियत **(जदि)** यदि [वह जीव] **(सगं समयं)** अपने आत्मिक आचरण को अर्थात् परद्रव्य से हटकर स्व-स्वरूप से रति **(कुणदि)** करता है तो **(कम्मबंधादो)** कर्म बन्धन से **(पब्भस्सदि)** छूट जाता है।

अर्थ—जीव, द्रव्य अपेक्षा स्वभाव नियत होने पर भी यदि अनियत गुणपर्याय वाला हो तो परसमय या परपदार्थरत है। यदि वही जीव नियत गुणपर्याय से परिणमित होकर स्वसमय को करता है तो कर्मबन्ध से छूट जाता है।

अनियत गुण पर्यायों से यह, जीव कहाता परसमयी।
तथा नियत गुण पर्यायों से, कहलाता है स्वसमयी॥
यद्यपि नियत स्वभाव मयी है, पर अनियत हो जाता है।
किन्तु नियत हो जाता है तब, कर्म बन्ध रुक जाता है ॥१६३॥

व्याख्यान—इस गाथा में स्वसमय के ग्रहण और परसमय के त्यागपूर्वक कर्मक्षय द्वारा मोक्षमार्ग दर्शाया है। यद्यपि यह संसारी जीव शुद्ध निश्चयनय से विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाव का धारी है, परन्तु व्यवहारनय से अनादि मोहनीयकर्म के वशीभूत होने से अशुद्धोपयोगी होकर अनेक पर भावों को धारण करता है, अर्थात् मोहकर्म के उदय के वश से मतिज्ञान आदि विभावगुण तथा नर-नारकादि विभाव पर्यायों में परिणमन करता हुआ पर पदार्थों में रत हो परचरित्रवान हो रहा है। १४ वें गुणस्थान के अन्तिम समय तक परसमय कहलाता है। सिद्धत्व को प्राप्त होना स्वसमय है। १४ वें गुणस्थान तक स्वभाव की अनुभूति अर्थात् सिद्धत्व की अनुभूति नहीं हो रही है इसलिए आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव

ने क्षायिकभाव को भी अनियत कहा है। रोग तो निकल गया लेकिन अभी भी हॉस्पिटल से छुट्टी नहीं मिली है। अरहंत परमेष्ठी हॉस्पिटल में हैं और सिद्धपरमेष्ठी निज घर में हैं। यह तो मालूम है कि अब रोग नहीं आयेगा लेकिन जब तक मनुष्यायु शेष है तब तक छुट्टी मिल नहीं सकती। रोगी है इसलिए दवा लेनी पड़ती है लेकिन उसमें वह दवाई का स्वाद नहीं लेता है उसी प्रकार ज्ञानी को प्रवृत्ति करनी पड़ती है लेकिन उसमें स्वाद नहीं आता। साधक को प्रवृत्ति भार के रूप में लगना चाहिए।

हम अपनी छाया कब तक देख सकते हैं? जब तक वह छाया अपने पैरों तले नहीं आ जाती। जो कुछ भी हम महसूस कर रहे हैं वह कर्म के उदय में कर रहे हैं किन्तु ज्ञानी उसको भी छोड़कर आन्तरिक भावना का आनन्द लेता है।

जब यह जीव निर्मल विवेक ज्योति से उत्पन्न परमात्मा की अनुभूतिरूप आत्मा की भावना करता है तब स्वसमय रूप आत्मा के चारित्र में रत होता है। इस तरह स्वसमय का व परसमय का स्वरूप जानकर जो कोई जीव निर्विकार स्वसंवेदन रूप स्वसमय में लीन होता है तब वह केवलज्ञान आदि अनन्त गुणों की प्रकटता रूप मोक्ष से विपरीत जो बन्ध है उससे छूट जाता है। इससे स्पष्ट है कि जीव के स्वभाव में निश्चल चारित्र रूप ही मोक्षमार्ग है। इस तरह स्वसमय और परसमय के भेद को बताने वाली गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे परचारित्र रूप परसमय का स्वरूप कहते हैं—

जो परदव्वम्मि सुहं-असुहं रागेण कुणदि जदि भावं।
सो सगचरित्तभट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो ॥१६४॥

अन्वयार्थ—(जदि) यदि **(जो)** जो **(रागेण)** रागभाव से **(परदव्वम्मि)** परद्रव्यमें **(सुहं असुहं भावं)** शुभ या अशुभ भाव को **(कुणदि)** करता है **(सो)** वह **(जीवो)** जीव **(सगचरित्तभट्ठो)** आत्मिक चारित्र से भ्रष्ट होकर **(परचरियचरो)** पर चरित्र में चलने वाला अर्थात् परसमय **(हवदि)** हो जाता है।

अर्थ—जब राग से परद्रव्य में शुभ या अशुभ भाव करता है तब वह जीव आत्मिक चारित्र से भ्रष्ट होकर परचारित्र का आचरण करने वाला होता है।

राग भाव से परद्रव्यों में, भाव शुभाशुभ जो करता।
व्रत-भक्ति-संयमयुत शुभ औ, अशुभ कषायादिक करता॥
शुद्धाचरण विमुक्त जीव को, जिनवर ने परसमय कहा।
पर में राग सहित परिणति ही, दुखकर परचारित्र रहा॥१६४॥

व्याख्यान—जो रागभाव से परद्रव्यों में शुभाशुभ भाव करता है वह आत्मिक चारित्र से भ्रष्ट होता हुआ परचारित्र वाला कहलाता है। परचारित्र का अर्थ मिथ्यादृष्टि और स्वचारित्र का अर्थ सम्यग्दृष्टि है, ऐसा न समझें किन्तु शुभाशुभभाव की अपेक्षा से कहा जा रहा है। जैसे तीर्थंकर

प्रमाददशा में आते हैं तब आहार भी करते हैं और एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार भी करते हैं। ऐसा छद्मस्थ अवस्था में अपने आप नहीं होता जैसा केवली अवस्था में विहार होता है। छद्मस्थ अवस्था में मुनि जब कभी भी प्रवृत्ति में आते हैं उस समय छट्ठे गुणस्थान के बिना वह प्रवृत्ति प्रारम्भ ही नहीं होती। यद्यपि उसमें आत्मध्यान रूप अवस्था नहीं होती तो भी जीवों को बचाने का भाव रहता है, ईर्यापथ से चलते हैं, उस समय अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में पैर रखने का और उठाने का क्रम चलता है। प्रतिक्रमण में **डव-डव चर्या** आदि शब्द आते हैं यह दोष रूप माना जाता है। उनके मूलगुण व उत्तरगुण सम्बन्धी प्रमाद बाहर में भले ही न दिखे किन्तु प्रमत्तविरत नामक छट्ठे गुणस्थान में आते ही उपयोग में वीतरागता खण्डित हो जाती है क्योंकि जब कभी प्रवृत्ति करेंगे वह प्रमादमूलक ही होगी। यद्यपि उस समय भी वह क्रोधादि नहीं करते हुए दसलक्षण धर्म का पालन करते हैं और आहार आदि अन्य प्रवृत्ति भी करते हैं लेकिन आगमोक्त रीति से ही करते हैं। आहार संज्ञा छट्ठे गुणस्थान तक ही रहती है, बिना आहार संज्ञा के आहार नहीं करते। ऐसी स्थिति में निश्चित रूप से शुभ और अशुभ भाव हो जाते हैं क्योंकि आहार संज्ञा को दूर करना है तो वह रागपूर्वक ही दूर हो ऐसा नहीं, क्योंकि प्रतिकार का भाव राग से नहीं होता। वीतरागचारित्र से जो भ्रष्ट होता है वह अप्रमत्तदशा से नीचे आए बिना नहीं रह सकता। इसी स्थिति में कोई मुनि प्रायश्चित्त लेना, आशीर्वाद देना आदि कार्य मन, वचन और काया से करते हैं, इसमें असंख्यातलोक प्रमाण अध्यवसान भाव होते हैं जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार होते हैं। इन सबका अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि कोई भी साधक इन परिणामों की चपेट में आए बिना नहीं रह सकता।

आगे आचार्य देव यह कहेंगे कि जो स्वरूप में रहने की क्षमता नहीं रखता वह नीचे आता है तो बहिरात्मा हो जाता है तब बन्ध करता है और वह बन्ध शुभाशुभ भावों के बिना नहीं हो सकता है। यह अध्यवसान अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, बहिरात्मा और चारित्रभ्रष्ट होने का प्रतीक है अर्थात् वीतरागचारित्र के साथ अविनाभाव रखने वाला शुद्धोपयोग और निश्चय सम्यग्दर्शन छूट जाता है। इसी के फलस्वरूप नीचे की भूमिका में उसे चारित्र भ्रष्ट कहते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी इस चपेट में आ सकता है। छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान हजारों बार किए बिना कोई भी श्रेणी नहीं चढ़ सकता। मुनि होने के उपरान्त अन्तर्मुहूर्त में जिन्हें केवलज्ञान होना है वे भी संख्यात हजार बार छठवें-सातवें गुणस्थान में आते हैं। ऐसी स्थिति में वे स्वचारित्र से भ्रष्ट होते ही हैं। उस समय ''सभी जीवों का भला हो'' यह परिणाम हुए बिना नहीं रह सकते। पर जब आशीर्वाद देते हैं तब हाथ जो उठाते हैं तो किन भावों से उठाते हैं उन भावों का अध्ययन करना चाहिए। वात्सल्य भाव है, करुणा भाव है या माध्यस्थ भाव है। मानलो कोई तत्त्वज्ञान से विपरीत चलता है तो उसके प्रति माध्यस्थ भाव रखता है, न राग है, न द्वेष है। अपने परिणामों के अध्ययन से भीतर का सब स्पष्ट हो जाता है। अप्रमत्तदशा से नीचे आते ही परचरित्र है, स्वचरित्र में फेल है। कितने प्रतिशत है, यह नहीं सोचना है भले ही क्लास

में या युनिवर्सिटी में टॉप किया है लेकिन नम्बर की ओर देखते हैं तो जितने कम नम्बर आए हैं उतना तो फेल है ही। इसी तरह स्वचरित्रचर और परचरित्रचर का उपयोगपूर्वक अध्ययन करने से ज्ञान हो जाता है।

स्वचरित्र से भ्रष्ट होने पर परचरित्र दशा—शुद्धगुण और पर्यायों से परिणत शुद्धात्मद्रव्य से भ्रष्ट होता हुआ रागभाव रूप परिणमन करके, उपेक्षा लक्षण रूप जो शुद्धोपयोग है उससे नीचे गिरने से शुभ और अशुभ भाव करता है और ज्ञानानन्द स्वभावी आत्माचरण रूप स्वचरित्र से भ्रष्ट होकर परचरित्र वाला हो जाता है। चाहे तीर्थंकर मुनि भी क्यों न हों, उन्हें भी शुद्धात्मानुभूति या शुद्धोपयोग अन्तर्मुहूर्त के लिए ही होगा, फिर प्रमत्तदशा में अवश्य आयेंगे। अप्रमत्तदशा से प्रमत्तदशा का काल दुगुना है। भले ही उनकी मन, वचन, काय की स्थूल चेष्टा अभिव्यक्त नहीं हो पाती किन्तु अन्दर में प्रमाद अवश्य हुआ है। जैसे–अन्दर ही अन्दर खिचड़ी पकती रहती है। अग्नि लगाते ही प्रत्येक समय खिचड़ी पकना प्रारम्भ हो जाती है। यदि प्रतिसमय ऐसा न हो तो अन्त के एक समय में वह पक ही नहीं सकती। वह एक सेकेण्ड में नहीं पकी है इसी प्रकार मन की प्रणाली का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि भीतर प्रमत्त भावों की घुमड़न चलती रहती है जिससे स्वचरित्र से भ्रष्ट माना जाता है। एक वर्ष तक बाहुबली खड़े रहे, एक बाल मात्र भी नहीं हिले, पलकें नहीं झपकीं, गर्दन नहीं हिली, जैसे खड़े थे वैसे ही तीन चातुर्मास तक खड़े रहे। फलितार्थ यह निकला कि बाहर से बिल्कुल स्थिर दिख रहे, लेकिन भीतर में हलचल होती रही। जब परचरित्र होगा तो राग-द्वेष होने से बन्ध भी होगा और जब तक बन्ध होगा तब तक निर्वाण नहीं होगा।

उत्थानिका—परसमय में प्रवृत्ति बन्ध का हेतु है ऐसा कथन करते हैं–

आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण।
सो तेण परचरित्तो हवदित्ति जिणा परूवेंति ॥१६५॥

अन्वयार्थ—(अध) तथा **(जेण)** जिस **(अप्पणो भावेण)** आत्मा के भाव से **(पुण्णं)** पुण्य **(वा)** या **(पावं)** पाप **(आसवदि)** आता है **(तेण)** उस भाव से **(सो)** वह जीव **(परचरित्तो)** पर में आचरण करने वाला **(हवदि त्ति)** हो जाता है, ऐसा **(जिणा)** श्री जिनेन्द्र **(परूवेंति)** कहते हैं।

अर्थ—आत्मा के जिस भाव से पुण्य अथवा पाप आस्रवित होते हैं उस भाव के कारण यह जीव परचरित्र वाला हो जाता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव प्ररूपित करते हैं।

जिन भावों के द्वारा प्राणी, पुण्य उपार्जित करता है।
अथवा पाप कर्म के आस्रव, जिन भावों से करता है॥
उन भावों से निश्चित ही वह, पर चरित्र वाला होता।
श्री जिनेन्द्र ने किया प्ररूपण, स्वचरित्र से च्युत होता ॥१६५॥

व्याख्यान—आत्मा के जिन भावों से पुण्य और पाप का आस्रव होता है उन परिणामों के कारण

वह स्वचरित्र से भ्रष्ट होता हुआ परचरित्र वाला कहलाता है, इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। १३ वें गुणस्थान में भाव के बिना द्रव्यास्रव नहीं होता। यद्यपि वहाँ मोह नहीं है किन्तु योग से आस्रव है अत: कथञ्चित् परसमय है। यद्यपि परसमय के बहुत भेदोपभेद हैं। १० वें गुणस्थान में भी मोह का उदय है जिससे साता का आस्रव हो रहा है इसलिए मोक्ष का निषेधक है। ११ वें गुणस्थान से १३ वें गुणस्थान तक पुण्य का ही आस्रव होता है लेकिन उदय असाता का भी आ सकता है पर नूतन बन्ध साता का ही होगा यह नियम है। इस प्रकार सांपरायिक आस्रव और ईर्यापथ आस्रव यह दो भेद हुए। सांपरायिक आस्रव १० वें गुणस्थान तक तथा ईर्यापथ आस्रव ११ वें से १३ वें गुणस्थान तक होता है। आत्मा का स्वभाव आस्रव से रहित होने के कारण १३ वें गुणस्थान तक स्वसमय से दूर है। जब सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान हो रहा है उस समय भी भावास्रव हो रहा है, जिससे एक समय की स्थिति वाला साताकर्म बँध रहा है। इसीलिए वह जीव निरास्रव परमात्मतत्त्व से च्युत हुआ आस्रवभाव करता है और शुद्धात्मानुभूति आचरण वाला जो स्वचरित्र है उससे च्युत होता हुआ परचरित्र वाला हो जाता है। फलितार्थ निकलता है कि आस्रव के द्वारा मोक्ष नहीं होता, संवर-निर्जरा नहीं होती, यह नहीं कहा। यही बात **प्रवचनसार** में भी कही है—सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र जब तक भेद में ढले हैं तब तक मुक्ति के लिए अकिञ्चित्कर हैं। कुछ लोग कहते हैं कि जिस समय आस्रव भाव होता है उस समय संवर भाव नहीं होता और जिस समय बन्ध होता है, उस समय निर्जरा नहीं होती अर्थात् जिन भावों से आस्रव-बन्ध हो रहा है उन्हीं भावों से संवर-निर्जरा मानना मिथ्यात्व है लेकिन वे किस आधार से कह रहे हैं? इसका कोई प्रमाण नहीं है। गलती को गलती स्वीकारना यह सज्जन का लक्षण है लेकिन गलती पर गलती करना यह सज्जन का लक्षण नहीं है। मनुष्य के पास इतनी शक्ति है कि देव भी वशीभूत हो जाते हैं। माला फेरते-फेरते ७०० लघु और ५०० महाविद्या आकर हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती हैं। विशुद्ध भावों से फेरी गई माला की बहुत महत्ता है।

उत्थानिका—विशुद्धज्ञान-दर्शन और अनुभूति रूप जो निश्चय मोक्षमार्ग है उससे विलक्षण परसमय है। अब ऐसे स्वचरित्र में प्रवर्तन करने वाले का स्वरूप कहते हैं—

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ॥१६६॥

अन्वयार्थ—(जो) जो **(सव्वसंगमुक्को)** सर्व परिग्रह से रहित **(णण्णमणो)** एकाग्र मन **(अप्पणं)** आत्मा को **(सहावेण)** स्वभाव रूप से **(णियदं)** नियत **(जाणदि)** जानता है **(पस्सदि)** देखता है **(सो)** वह **(जीवो)** जीव **(सगचरियं)** स्वचरित का **(चरदि)** आचरण करता है।

अर्थ—जो सर्व परिग्रह से रहित होकर एकाग्र मन होता हुआ आत्मा को स्वभाव रूप से निश्चल होकर जानता है, देखता है वह जीव स्वचरित्र रूप आचरण करता है।

सर्व परिग्रह से विमुक्त जो, होते हैं ऐसे प्राणी।
होते हैं एकाग्रमना वे, कहलाते हैं सद्ज्ञानी॥
स्वातम को निश्चल होकर के, स्वभाव रूप निरखते हैं।
स्वचरित्र के धारी मुनिवर, यही आचरण करते हैं॥१६६॥

व्याख्यान—जो दस प्रकार के बाह्य परिग्रह का एक बार त्याग करने के उपरान्त पुनः उसे स्वीकारते ही नहीं, वो आभ्यन्तर चौदह परिग्रहों को कितनी बार छोड़ते हैं और स्वीकारते रहते हैं कह नहीं सकते। जब उन्हें भी स्वचरित्र नहीं होता, तो जो सर्व परिग्रह से युक्त हैं उन्हें स्वरूपाचरण युक्त स्वचरित्र कैसे प्राप्त होगा? जो जीवनपर्यन्त परिग्रह से घिरे हुए हैं, परिग्रह के लिए कोर्ट-कचहरी कर रहे हैं और परिग्रहानन्दी होकर स्वरूपाचरण चरित्र रूप होने की बात कह रहे हैं ऐसे परिग्रहानन्दी को परमानन्द का अनुभव कैसे होगा? धर्म्यध्यान तो बहुत दूर है अभी रौद्रध्यान भी नहीं छूटा है। पर का आकर्षण है इसका मतलब स्व गौण हो गया है। जड़ के आकर्षण से आत्मा जड़ सम हो जाती है। आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव द्वारा जानता-देखता है। आत्मा शाश्वत है, वह पहले था, अभी है और आगे भी रहेगा। इसका अखण्ड स्वभाव कभी खण्डित नहीं होता। शुद्धात्मा का संवित्तिमय वीतराग सामायिक रूप जो स्वचरित्र है वह सरागचारित्र के बाद होता है। पहले मुनि बनेगा फिर सरागसंयम के साथ रहने के उपरान्त जब निर्विकल्पदशा आयेगी तब वही निश्चय सामायिक रूप, आगम भाषा में वीतराग चारित्र और अध्यात्म भाषा में शुद्धोपयोग कहलायेगा। सर्वप्रथम १२ व्रतों में सामायिक व्रत आता है फिर तीसरी सामायिक प्रतिमा आती है तदनन्तर सामायिक चारित्र को ग्रहण कर मुनि बनते हैं और सामायिक आवश्यक भी कहा है इसके उपरान्त भी जब गुप्ति में लीन हो जाते हैं तब परम सामायिक संज्ञा हो जाती है। यह पाँच रूप हो गए। इनमें से पहला व्रत भी जिसने अंगीकार नहीं किया वह सामायिक में लीन कैसे हो सकेगा? कहने मात्र से आत्मा में लीन नहीं हो जाते। अब तो परम सामायिक आदि संज्ञाओं से स्वयं को विभूषित करते हैं और स्वयं को पञ्चपरमेष्ठी की श्रेणी में रखने का दुःसाहस भी कर रहे हैं। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की महिमा है कि सवस्त्र निर्विकल्पसमाधि मान रहे हैं। एक पुस्तक आयी थी, उसमें कुर्त्ता-पायजामा पहने हुए व्यक्ति में निर्विकल्पसमाधि की झलक दिखाते हुए चित्र दिया था। किसी भी ढंग से अपनी बात सिद्ध करने में लगे हुए हैं, जबकि निर्विकल्पसमाधि की पहली अनिवार्य शर्त है कि दस प्रकार के परिग्रह का त्यागी हो तभी भीतरी परिग्रह छूटेगा क्योंकि यदि बाहर में परिग्रह है तो अन्दर में राग अवश्य ही होगा और यदि छोड़ना पड़ेगा ऐसी मजबूरी लगे तो द्वेष हो जायेगा। इसलिए हेय को हेय समझकर छोड़ने का नाम ज्ञान का फल है। इससे पापों की हानि और व्रतों का ग्रहण करके राग-द्वेष के अभाव से अन्त में परम सामायिक या उपेक्षा संयम आ जाता है। इस प्रकार हेय का विमोचन और उपादेय के ग्रहण होने के उपरान्त विकल्प छोड़कर निर्विकल्पसमाधि होती है।

निर्विकल्पता कब?—जो मन, वचन, काय पूर्वक प्रत्यक्ष व परोक्ष में लगाव नहीं रखता, उसी को **सव्वसंग मुक्को** कहा है और तीन अशुभ लेश्याओं से रहित देखे-सुने और अनुभव में आये हुए भोगाकांक्षादि समस्त परभावों से उत्पन्न विकल्पजालों से जो रहित होता है, उसी को एकाग्रमना कहा है। परद्रव्य को जानते हुए भी भेद विज्ञान के माहात्म्य से विकल्प के बिना उसका अवलोकन करते हैं। तेरे-मेरे विकल्प के बिना यह रूप-रस-गन्ध स्पर्श से युक्त एक पदार्थ है, इसका परिणमन स्वतन्त्र है। यह मेरा कर्म नहीं हो सकता, मैं इसका कर्त्ता नहीं हो सकता और न ही मेरे द्वारा यह हो सकता अर्थात् मैं इसका साधन भी नहीं हूँ। इसे उत्पन्न करने में रूपादि गुण हैं जो मुझसे बिल्कुल पृथक् हैं। जिस प्रकार ये पदार्थ मेरे नहीं हो सकते उसी प्रकार संसार में किसी के भी नहीं हो सकते। इस प्रकार चिन्तन करने से निर्विकल्पता आती है।

उत्थानिका—अब शुद्ध स्वचारित्र का मार्ग दिखाते हैं—

चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा।
दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो॥१६७॥

अन्वयार्थ—(जो) जो **(परदव्वप्पभावरहिदप्पा)** परद्रव्यों में आत्मापने के भाव से रहित होकर **(दंसणणाणवियप्पं)** दर्शन और ज्ञान के भेद को **(अप्पादो)** आत्मा से **(अवियप्पं)** अभिन्न या एक रूप **(चरदि)** आचरण करता है **(सो)** वही **(सगं चरियं)** स्वचारित्र अर्थात् स्वसमय का **(चरदि)** आचरण करता है।

अर्थ—जो परद्रव्यों में आत्मपने के भाव से रहित होकर दर्शन और ज्ञान के भेद को अपने आत्मा से अभिन्न या एकरूप आचरण करता है वही स्वचारित्र का आचरण करता है।

जो आतम अपने चरित्र का, शुद्ध आचरण करता है।
भेद रूप वह ज्ञान-दर्श को, भेद रहित आचरता है॥
परद्रव्यों में अहं भाव से, रहित प्रवर्तन वह करते।
शुद्ध रूप चारित्र वृत्ति की, दशा यही मुनिवर कहते॥१६७॥

व्याख्यान—आत्मा मोक्षमार्गी होता हुआ दर्शन-ज्ञान रूप जो आत्मा का स्वभाव है उसका निर्विकल्प होकर आचरण करता है अर्थात् परद्रव्य से प्रभावित नहीं होता। पररूप से प्रभावित होने का अर्थ यही है कि जिसे वह चाहता है, उसके लिए पूरी शक्ति लगा देता है। सहजता आने पर अपनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं होता। अपने उपयोग की धारा का पल-पल अध्ययन कर सकते हैं। आत्मा को जानने-देखने के अलावा और कुछ चाह रखना ही विकल्प है। कोई कहता है, हम आत्मा को चाहते हैं तो चाहने की क्या आवश्यकता है? तुम स्वयं ही आत्मा हो। फिर वह कहता है—आत्मा के लिए हमें प्राणवायु की आवश्यकता है, तो प्राणवायु लेने के लिए नाक, मुख से ले लो, पर्याप्त है। लेकिन वह कहता है कि—हमें ए० सी० चाहिए तो उसके लिए कितना आरम्भ-परिग्रह होगा, यह देख लो। पशु-

पक्षी, वनस्पति आदि सभी जीव प्राणवायु का उपयोग कर रहे हैं। वे भी एयर (हवा) लेते हैं किन्तु कंडीशन में नहीं जीते। मनुष्य के ऊपर एयरकंडीशन का प्रभाव होने से अपने चारित्र का उपयोग नहीं कर पा रहा है। जो कोई भी कंडीशन या शर्त, विकल्प नहीं रखता, वह स्वस्थ होकर निर्विकल्पी निश्चय मोक्षमार्गी होता है। निरुपाधि वीतरागी सदानन्दमय एक लक्षण वाले जो निजात्मा में आचरण करता है वह जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख, निन्दा-प्रशंसा सभी में समता भाव रखते हैं। ऐसी समता वालों में ममता रखो। समता रखने वालों पर यदि बहुमान नहीं है तो क्या हमारा मोक्षमार्ग रहेगा?

आयुकर्म की उदीरणा भिन्न-भिन्न तरह से—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार आयु कर्म के निषेक अपने आपमें तारतम्यता को लेकर उदय में आते हैं अर्थात् जिन प्रदेशों में शीत अधिक है वहाँ के जीवों की आयुकर्म की उदीरणा अलग तरह से होती है अर्थात् आयु कम खर्च होती है इसलिए ज्यादा तो नहीं किन्तु पूरी लम्बी आयु जीता है जबकि गर्म इलाके में अलग तरह से होती है। आयुकर्म जितना है उतना ही है लेकिन खर्च होने का अनुपात ठण्डे देशों में कम है, यह भोजन पर भी आधारित होता है। नोकर्म के बारे में बताया है कि भिन्न-भिन्न कर्मों की उदीरणा भिन्न-भिन्न क्षेत्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि के माध्यम से हुआ करती है। जैसे-कुछ मशीनें चलती कम हैं और पेट्रोल ज्यादा खर्च करती हैं और कुछ मशीनें अधिक चलकर भी कम पेट्रोल खर्च करती हैं। उसी तरह उदीरणा भी भिन्न-भिन्न तरह की होती है। भावों के माध्यम से उदीरणा के अनुपात में कमी कर सकते हैं, टेंशन करेंगे तो आयुकर्म के निषेक ज्यादा खर्च होंगे। फर्स्ट गेयर में पेट्रोल अधिक खर्च होता है, टॉप में कम खर्च होता है। आयुकर्म भी ऐसे ही पेट्रोलियम का काम करता है। जो आयु बीत रही है वह पुनः नहीं मिलेगी। आज विज्ञान, शरीर के यन्त्रों को इधर से उधर कर रहा है, हृदय, किडनी, लीवर, तिल्ली, आँख आदि अंगों का प्रत्यारोपण कर रहा है लेकिन आयुकर्म का प्रत्यारोपण आजतक नहीं हुआ।

दृष्टान्त—वॉयर फिटिंग होने के बाद यदि १००० वॉट की हेलोजन लगाते हैं तो ज्यादा बिल आता है पर ६० वॉट का बल्ब लगायेंगे तो कम खर्च होता है उसी प्रकार आयुकर्म के निषेक भी भावों के वॉल्टेज पर आधारित हैं। ज्यादा दिमाग लगाने से भी खून ज्यादा खर्च होता है इसलिए मितव्ययी या लिमिटेड व्यय हो, इसके लिए परिणाम शान्त रखें। आयुकर्म की उदीरणा छठवें गुणस्थान तक होती है, उसमें भी सभी की उदीरणा का अनुपात एक सा नहीं होता। वेदना, कषाय, मारणान्तिक और विक्रिया समुद्घात इन सबमें आयुकर्म के निषेक भिन्न-भिन्न अनुपात में खर्च होते हैं। इसीलिए आचार्य कहते हैं कि-अप्रमत्त रहिए, प्रमाद की भूमिका में आयुकर्म ज्यादा खर्च होता है, विकल्प करने से और ज्यादा खर्च होता है। जितनी तामसिकता कम रहेगी, जीवनप्रवाह में उतनी ही सहजता रहेगी, तब आयुकर्म के निषेक ज्यादा नहीं खिरेंगे। बिजली की लाइन वही है लेकिन वॉल्टेज के माध्यम से खर्च कम-अधिक हो जाता है। इसलिए "**मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो**"

चेष्टा न करें, चिन्ता न करें, बोलें नहीं, सहज रहिए। आयु के निषेक बढ़ नहीं सकते किन्तु घटने का अनुपात कम हो सकता है। निर्विकल्पदशा में लाभ-अलाभ, सुख-दुख आदि में समता भाव होने पर प्रवाह शान्त हो जाता है। पढ़ा-लिखा न भी हो तो भी यह अनुभव कर सकता है और पढ़ा-लिखा होकर भी यदि समता नहीं रखता है तो सम्यक् चर्या नहीं कर पायेगा।

समता ही निश्चय मोक्षमार्ग है—समता ही स्वचरित्र या निश्चय मोक्षमार्ग है इसीलिए एक आवश्यक 'समता सम्हारे' कहा है। यदि कर्मोदय में प्रतिकूलता भासित होती है तो वह कमी है। कर्म तो उदय में आयेंगे लेकिन इसमें प्रतिकूलता और अनुकूलता मान्यता की बात है। यदि कर्म का उदय है तो मुँह में जाने के बाद भी चबाना बन्द हो सकता है। पेट में जाने के बाद भी चक्की बन्द हो सकती है, सब कर्म पर आधारित है। एक-एक दाना टैक्स लेकर ही पचता है अर्थात् आयुकर्म के उदय पर आधारित है यह कर्म सिद्धान्त है। इसलिए यही पुरुषार्थ करें कि सुख-दुख, अनुकूल-प्रतिकूल आदि सर्व अवस्था में समता भाव बना रहे, यही एक मूल उद्देश्य हो। पाँच इन्द्रिय और मन को नियन्त्रित रखना है। इन छह द्वारों को अच्छे से बन्द रखने पर परद्रव्य प्रभावित नहीं कर सकते। वैसे एकसाथ सभी विषय नहीं बनते, एक समय में एक ही विषय बनता है। ''**रस रूप गन्ध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने**'' पञ्चेन्द्रिय के विषयों को जीतने के लिए कोई ज्यादा ज्ञान चाहिए, ऐसा नहीं है। सभी परद्रव्यों में ममत्वभाव से रहित योगी, आत्मभाव में ही जब आत्मबुद्धि रखता है तो यह सब समताभाव के अन्तर्गत आ जाता है। समता से रहित होने पर ही परद्रव्यों से प्रभावित होता है। आत्मा का ज्ञान-दर्शन स्वभाव विकल्प से रहित और अभिन्न है ऐसा जब चिन्तन करते हैं तब प्रारम्भ में सविकल्पदशा रहती है उस समय में 'मैं ज्ञाता हूँ' 'दृष्टा हूँ' यह विकल्प चलते हैं किन्तु निर्विकल्पसमाधि में यह विकल्प भी नहीं रहते हैं, केवल साक्षीभाव से अनुभव करते हैं। जैसे-गाड़ी चालू करने के समय किक लगाते हैं, धक्का देते हैं पर ज्यों ही चालू हो जाती है फिर कुछ आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः ''**तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद्द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः**'' वही पूछने, वही देखने, वही सुनने और वही चिन्तन के योग्य है अन्य किसी का चिन्तन नहीं करते। इस प्रकार निर्विकल्प स्वसंवेदन रूप स्वसमय का ही पुनः विशेष व्याख्यान करते हुए दो गाथाएँ पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—अब निश्चय मोक्षमार्ग का साधन रूप व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप दिखाते हैं –

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६८॥

अन्वयार्थ—(धम्मादी सद्दहणं) धर्म आदि छह द्रव्यों का श्रद्धान **(सम्मत्तं)** सम्यक्त्व है। **(अंगपुव्वगदं)** ग्यारह अंग तथा चौदहपूर्व का जानना **(णाणं)** सम्यग्ज्ञान है। **(तवम्हि)** तप में **(चिट्ठा)** उद्योग करना **(चरिया)** चारित्र है **(ववहारो मोक्खमग्गोत्ति)** यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

अर्थ—धर्म आदि छह द्रव्यों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। ग्यारह अंग तथा चौदह पूर्व का

जानना सम्यग्ज्ञान है। तप में उद्यम करना चारित्र है यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

धर्मादिक द्रव्यों की श्रद्धा, यह सम्यक्त्व कहा व्यवहार।
ग्यारह अंग पूर्व चौदह का, प्रभु ने ज्ञान कहा व्यवहार॥
बारह तप तेरह चरित्र की, चर्या है व्यवहार चरित।
इस प्रकार व्यवहार मोक्षपथ, आगम में जिनदेव कथित॥१६८॥

व्याख्यान—साध्यरूप निश्चय मोक्षमार्ग का साधन व्यवहार मोक्षमार्ग है। साध्य और साधन दोनों में अन्तर है। साधक मुनि छहद्रव्य, साततत्त्व, नौपदार्थ और देव-शास्त्र-गुरु को सविकल्पदशा में ज्ञेय बनाता है और बारह प्रकार के तप करता है, यह सब व्यवहार मोक्षमार्ग माना जाता है। जीवादि छह द्रव्यों का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है। अंग और पूर्व में प्रवर्तने वाला जो ज्ञान है, वह सम्यग्ज्ञान है। इससे यह पाप है, यह पुण्य है, इससे संवर होता है, इससे आस्रव और बन्ध होता है इत्यादि ज्ञान हो जाने से संवर-निर्जरा के प्रति उपादेय बुद्धि और आस्रव-बन्ध के प्रति हेय बुद्धि जाग्रत हो जाती है, फिर इन्हें छोड़ने और ग्रहण करने का उपक्रम शुरू हो जाता है। यह भेदविज्ञान के साथ पूर्व भूमिका अनिवार्य होती है। यही साधना उस साध्य तक पहुँचाने में कारण है। भिन्न-भिन्न तप करने से मन में उल्लास और उत्साह उत्पन्न होता है। उत्साह बाहर से नहीं आता, मन कमजोर होने से परिवर्तन करने पर अन्तर आ जाता है। कभी मध्याह्न की सामायिक अच्छी हो जाती है, कभी प्रातःकाल की, तो कभी रात की, कभी किसी विशेष स्थान पर जाते ही विशेष विशुद्धि बढ़ती है। उसमें भी अभ्यस्त हो जाते हैं तो फिर मन उचटने लगता है। जैसे-देवों को नन्दनवन से भी मन ऊबने लगता है तो वे नदी, झाड़ी, पर्वत आदि स्थानों पर आ जाते हैं। कुछ लोग घर का भोजन पसन्द नहीं करते, होटल का खाते हैं, जिससे पैसा भी गया और आचरण भी गया। इसलिए व्यवहार को सँभालना है, जो साध्यरूप निश्चय का साधन है। वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत जीवादि पदार्थों का श्रद्धान और ज्ञान करने में गृहस्थ और तपस्वी, सागार और अनगार इन दोनों में समानता पायी जाती है। किन्तु चारित्र की अपेक्षा **मूलाचार** इत्यादि ग्रन्थों में प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थान के योग्य पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप अनगार का चारित्र कहा है। और गृहस्थों के लिए **रत्नकरण्डकश्रावकाचार** आदि में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और दान-पूजा-शील-उपवास, दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह प्रतिमा रूप आचरण बताया है। यहाँ पञ्चम गुणस्थान की बात नहीं कह रहे हैं सामान्य रूप से कह रहे हैं क्योंकि सभी पञ्चम गुणस्थान में ही होते हैं, ऐसा तो है नहीं। लेकिन द्वितीय प्रतिमा से लेकर ग्यारह प्रतिमा वाला पञ्चम गुणस्थानवर्ती कहलायेगा। कहीं-कहीं पहली दार्शनिक प्रतिमाधारी को भी पञ्चम गुणस्थानवर्ती माना है। पहली प्रतिमा में केवल दर्शन ही नहीं होता, सम्यग्दर्शन के साथ भोजन की मर्यादा भी होती है, पाँच उदम्बर फल और मद्य-मांस-मधु का त्याग होता है। ''**अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः**'' प्राचीन ग्रन्थों में भी यही कहा है। वही दर्शनप्रतिमा वाला दान

देता है तथा तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत रूप सात शीलव्रतों का पालन करता है। मूलगुणों में जो वृद्धि लाए, उनकी रक्षा करे वह शीलव्रत है। एक से ग्यारह प्रतिमा तक सभी श्रावक के दर्जे हैं। श्रावक के नैष्ठिक, पाक्षिक और साधक ये तीन भेद भी हैं। एक पाई से निन्यानवें तक पाई हैं, रुपया नहीं। गुरु के ऊपर यथार्थ श्रद्धान होना चाहिए "**अजाणमाणो गुरु नियोगात्**" मातंग ने गुरु से चौदस के दिन हिंसा का त्याग किया था। पात्र देखकर गुरु व्रत देते हैं, सबके लिए ऐसा व्रत नहीं देते। सब्सिडी (subsidy) सबको एक-सी नहीं मिलती, किसी को आरक्षण, किसी को परीक्षण, किसी को रक्षण करने के लिए निरीक्षण करके ही दी जाती है।

सोचो, बिना छना पानी पीने वाले राघवमत्स्य और तन्दुलमत्स्य भी १६वें स्वर्ग तक जा रहे हैं। पशुओं का आचरण अलग होने से अलग से आरक्षण है। उसी प्रकार स्व-पर प्रत्यय के आश्रित व्यवहार मोक्षमार्ग के भी भिन्न ही साधन होते हैं। जैसे-स्वर्ण पाषाण को स्वर्ण बनाने के लिए भिन्न साधन रूप अग्नि की आवश्यकता होती है। इसका अनुभव व्यवहारनय की भूमिका में ही होता है। किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा साध्य-साधक व फल की अपेक्षा अभिन्नता है, इसमें स्वशुद्धात्म तत्त्व का ही श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी का आचरण होता है। कुछ ऐसी भी घड़ी रहती है जिसमें बटन दबा दो तो घण्टा, मिनट, सेकेण्ड सब आ जाता है उसमें डॉयल वगैरह कुछ नहीं होता। एक घड़ी ऐसी भी है जिसमें घण्टा, मिनट और सेकेण्ड ये तीन काँटे होते हैं तथा वार, महिना सब बटन दबाने से आ जाते हैं। बच्चे जब रेस करते हैं तब कोई दो डग भी पीछे रह जाता है तो आधा सेकेण्ड, पाव सेकेण्ड तक भी बता देती है। व्यवहार भी इसी ढंग से चलता है। जैसे एक घड़ी में ही सब कुछ है वैसे ही निश्चय में ही सब कुछ होता है, इसमें कोई शास्त्र की आवश्यकता नहीं। उपाध्याय, आचार्य या अन्य कोई पर की व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है, अपने आपमें ही सब व्यवस्थित होता है। लेकिन यह निश्चयात्मक दशा मात्र अन्तर्मुहूर्त तक रहती है फिर व्यवहार में आना ही पड़ता है। पर का आलम्बन लेना व्यवहार है। श्रमण और श्रावक दोनों ही व्यवहार का आलम्बन लेते हैं लेकिन निश्चय के आराधक मुनि ही हैं। यदि एम० ए० या एम० एस० सी० का विद्यार्थी अंगुली से १-२-३-४-५ गिनती गिने तो हास्यास्पद है उसी प्रकार मुनि श्रावकों से जितना घुल-मिल जायेगा उतना ही परावलम्बी होता जायेगा। पहले प्रायमरी में स्कूल की छुट्टी होने से दस मिनट पहले से ही बस्ता बाँध कर रख देते थे और इन दस मिनट में बिना अंगुली हिलाए मुखाग्र गणित कराते थे, इससे दिमाग काम करने लग जाता था। आलम्बन लेने से दिमाग कम चलता है। मुनिराज भी पहले जंगलों में रहते थे तो वहाँ पर कहाँ ग्रन्थ रखते थे? लाल, नीली, पीली पेन्सिल कहाँ से लायेंगे? नोट्स बनाना यह इस युग की महिमा है। नोट्स लेना है तो दिमाग में ले लो। इसी प्रकार आत्मा का ही श्रद्धान-ज्ञान और अनुष्ठान ही निश्चय मोक्षमार्ग है। इस प्रकार निश्चय मोक्षमार्ग का साधक व्यवहार मोक्षमार्ग को कहते हुए पञ्चम स्थल में गाथा पूर्ण हुई।

उत्थानिका—आगे व्यवहार मोक्षमार्ग से साधित निश्चय मोक्षमार्ग का स्वरूप बताते हैं –

णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्ख मग्गोत्ति ॥१६९॥

अन्वयार्थ—**(जो अप्पा)** जो आत्मा **(हु)** वास्तव में **(तेहिं)** उन **(तिहि समाहिदो)** तीनों में एकता को प्राप्त करता हुआ **(किंचिवि अण्णं)** कुछ भी अन्य को **(ण कुणदि)** करता है **(ण मुयदि)** न छोड़ता है **(सो)** वह आत्मा **(मोक्ख-मग्गोत्ति)** मोक्षमार्ग है ऐसा **(णिच्छयणयेण)** निश्चयनय से **(भणिदो)** कहा गया है।

अर्थ—जो आत्मा वास्तव में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से एकाग्र होकर अपने आत्मीक भाव के सिवाय अन्य क्रोधादि भावों को नहीं करता है और न अनन्तज्ञान आदि गुण समूह को त्यागता है वही निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप है।

जो आतम सम्यग्दर्शन औ, सम्यग्ज्ञान चरित संयुक्त।
पर का किञ्चित् भी ना कर्त्ता, होकर समभावों से युक्त॥
आत्मिक स्वभाव को ना तजता, शिवमार्गी वह कहलाता।
निश्चय शिवपथ का वर्णन यह, दिव्यध्वनि में है आता ॥१६९॥

व्याख्यान— जिसमें न छोड़ा जाता है, न ग्रहण किया जाता है, वह निश्चय मोक्षमार्ग है। जो पाप छोड़ रहे हैं, व्रत ले रहे हैं यह सब व्यवहार के विकल्प हैं और विकल्पों से ही बन्ध होता है जो कि अज्ञान के बिना नहीं होता। साध्यरूप जो निश्चय मोक्षमार्ग है उसमें न राग-द्वेष है, न लेन-देन है क्योंकि लेन-देन के साथ विकल्प होते हैं। इसलिए निर्विकल्पदशा में मोक्षमार्ग होता है। मोक्षमार्ग के प्रारम्भ में पाँच पापों के प्रति हेय बुद्धि और महाव्रतों के प्रति अनुराग होता है। यह निश्चय मोक्षमार्ग का साधन होने से इसके प्रति बहुमान व भक्ति का भाव आता है, यह पूर्वदशा में आवश्यक है। जब स्वस्थ होता है तब यह दवाई ले लो, ऐसा नहीं कहा जाता। रोगी को ही कुपथ्य से बचने को कहा जाता है। यदि वो कुपथ्य से नहीं बचता है, तो दवाई कुछ नहीं कर सकती और अति मात्रा में पथ्य भी कुपथ्य होता है। इसलिए **अतिमात्रा में/पथ्य भी कुपथ्य हो/मात्रा हो माँ सी।** जो लेने को कहा है, उसकी भी सीमा है। अत्यधिक मात्रा में खाने से पथ्य भी कुपथ्य हो जायेगा। निश्चयदशा में भक्ति-भजन-स्तुति कुछ नहीं करते तथा किसी के प्रति राग नहीं तो द्वेष भी नहीं करते, अपने आप में ही लीन रहते हैं।

व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग में साध्य-साधक भाव—व्यवहार मोक्षमार्ग में बन्ध होने की अपेक्षा से उसे मिथ्यादृष्टि कह दिया, लेकिन मिथ्यादृष्टि का अर्थ यहाँ पर प्रथम गुणस्थानवर्ती नहीं है किन्तु सराग सम्यग्दृष्टि है। इसी विषय को लेकर आज संघर्ष चल रहा है और पंथवाद हो गया

है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहो या अपनी आत्मा कहो, निश्चयनय में कोई भेद नहीं है क्योंकि ये विशिष्ट गुण आत्मा में ही हैं। इसलिए निजशुद्धात्मा में रुचि, ज्ञान और अनुभूति यही निश्चय मोक्षमार्ग है। जब तक यह प्राप्त नहीं करता तब तक भेद रत्नत्रय होता है, जो कि निश्चय रत्नत्रय का कारण है। यह भेद रत्नत्रय पञ्चम गुणस्थान से ऊपर उठने पर महाव्रतधारी मुनि को ही होता है। मोक्षमार्ग महाव्रत से ही प्रारम्भ होगा। निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न नित्यानन्द सुखामृत रसास्वादन से तृप्त होते हुए शुद्धात्मा के आश्रित निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप अभेद को प्राप्त होता हुआ, आत्मा ही एकमात्र निश्चय मोक्षमार्ग होता है। इससे फलितार्थ निकलता है कि व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्ग में साधक और साध्यभाव है।

उत्थानिका—अब आत्मा के चारित्र-ज्ञान-दर्शनपने का प्रकाशन करते हैं–

जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि ॥१७०॥

अन्वयार्थ—(जो) जो **(अप्पणा)** आत्मा के द्वारा **(अणण्णमयं)** आत्मारूप ही **(अप्पाणं)** आत्मा को **(पेच्छदि)** श्रद्धान करता है, **(णादि)** जानता है, **(चरदि)** आचरता है **(सो)** वह **(णिच्छिदो)** निश्चय से **(दंसणं णाणं चारित्तं इदि होदि)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप हो जाता है इस प्रकार अब तक के कथन से निश्चित होता है।

अर्थ—जो आत्मा को आत्मा से अनन्यमय आचरता है, जानता है, देखता है वह चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है ऐसा निश्चित है।

जो आत्मा को आत्मा से ही, अनन्यमय आचरता है।
स्वात्म ज्ञान से आत्म जानता, निज की श्रद्धा करता है॥
इसीलिए वह आतम चारित-श्रद्धा-ज्ञान स्वरूप स्वयं।
निश्चयनय से वह अभेद ही, रत्नत्रयमय रूप परम्॥१७०॥

व्याख्यान—जो अपनी आत्मा के द्वारा अपनी ही आत्मा को अनन्यमय देखता, जानता और अनुभव करता है वही प्रकारान्तर से निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। जैसे-कोई स्वर्ण का आभरण सामने रखा है उसे जानने से स्वर्ण पदार्थ का ज्ञान हो गया और उसके पीले गुण को भी जान लिया तथा उसके साथ सोने का आभरण रूप जो पर्याय है वह भी जान ली अर्थात् सोने को जाना तो उसके गुण-पर्याय सब जान ली। उसी प्रकार आत्मा का संवेदन करने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का ही संवेदन हो जाता है। जब समष्टी-समूह का ज्ञान हो जाता है तो उसमें रहने वाली इकाइयों का ज्ञान अपने आप हो जाता है, यही बात इस गाथा में कही है। द्रव्यसंग्रह और समयसार में भी यही कहा है कि अभेद की अपेक्षा से दर्शन-ज्ञान और अनुभव रूप चारित्र आत्मा में ही है। सम्यग्दर्शन

आत्म विषयक और पर विषयक दो प्रकार का होता है। जब छहद्रव्य, साततत्त्व, नौपदार्थ और पञ्चास्तिकाय को विषय बनाता है तो परात्मक कहलाता है। इन्हें जानता है तो ज्ञान भी परात्मक कहलाता है किन्तु चारित्र पर विषयक नहीं, आत्म विषयक है क्योंकि इसमें संवेदन होता है। निश्चय सम्यग्दर्शन अनुभूति के बिना नहीं होता है उसके साथ ज्ञान-चारित्र भी होते हैं अर्थात् निश्चय में तीनों आ जाते हैं। चारित्र को आत्म विषयक कहा है क्योंकि आत्मा को विषय बनाने से ही चारित्र कहा है।

मोक्षमार्ग क्या है?—तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में सातत‌त्त्व आदि को विषय करने वाला सराग सम्यग्दर्शन कहा है **''तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्''** इस सूत्र में सातों तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है लेकिन चारित्र के विषय में आत्मा का ही संवेदन होता है तब विकार से रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा रागादि से पृथक् अपने आत्मतत्त्व का अवलोकन करता है और जानता है। विपरीत अभिनिवेश से रहित शुद्धात्मा की रुचि रूप परिणमन के द्वारा श्रद्धान करता है ऐसे लक्षण वाले वीतरागी को ही अध्यात्म ग्रन्थों में अन्तरात्मा कहा है, सरागदशा में नहीं। छहढाला आदि को पढ़कर चतुर्थ गुणस्थान में भी अन्तरात्मा मान लेते हैं, लेकिन अध्यात्म ग्रन्थों में वीतराग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र युक्त जीव को ही अन्तरात्मा कहा है। राग, आत्मा का स्वभाव न होने से आत्मा में जो राग रहित अनुभूति होती है उसी को वीतराग चारित्र कहा है। अतः अभेद विवक्षा से आत्मा में ही रत्नत्रय है। द्राक्ष अर्थात् अंगूर सूखने पर मुनक्का बन जाता है और उसका पीने योग्य रस तैयार कर दिया जाता है तो भी लोग कहते हैं महाराज! पानी है ले लो, पानी कहकर दोगे तो कोई लेना भी चाहे तो नहीं लेगा।

संस्मरण—आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज ने एक बार ब्रह्मचारी अवस्था में पूछा–क्या नीम की शर्बत मिली? गर्मी के दिन थे डॉक्टर ने बताया था। जब उन्होंने पूछा तो मुझे मुस्कान आ गई कि साहित्यकार जो होते हैं वो कड़वे को भी रसदार बना देते हैं और श्रावक लोग द्राक्ष को भी पानी बता देते हैं। एक स्थान पर तो उन्होंने यह कहा था कि–**''इतने मीठे वचन बोलो कि मिश्री भी शरमा जाए।''** यदि सामने व्यक्ति को कड़वाहट से वमन हो रहा हो तो वचन ऐसे बोलो कि उसका वमन रुक जाए, उपचार बाद में कर लो। किसी को ऐ! इधर आओ। यह कहने की अपेक्षा-इधर आइये, पधारिये ऐसे शब्दों का प्रयोग करने से जो नहीं आना चाहता है, वह भी आ जायेगा। जिस प्रकार पाँच-छह चीजें डालकर एक पेय पदार्थ तैयार कर देते हैं उसी प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र से रत्नत्रयरूपी पानक बना है, यही अभेद रत्नत्रय निश्चय मोक्षमार्ग है।

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥

अन्य ग्रन्थों में भी आत्माधीन निश्चय रत्नत्रय का लक्षण कहा है कि–आत्मा में रुचि सम्यग्दर्शन है उसी के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और उसी में स्थिरता पाना चारित्र है तथा इन तीनों का योग

ही मोक्ष का मार्ग है। इस प्रकार मोक्षमार्ग के वर्णन की मुख्यता से दो गाथाएँ पूर्ण हुईं।

मोक्षमार्ग की चर्चा और संवेदन में आनन्द—जब मोक्षमार्ग की चर्चा इतनी अच्छी लग रही है तो उसका संवेदन कितना आनन्दमय होगा, सोचो। कुछ लोग सुन-सुनकर कान भर रहे हैं लेकिन ध्यान रखना, कानों में केवल शब्द जाते हैं, उसका रसास्वादन नहीं होता। लोग कहते हैं शब्दों में भी रस आता है। वास्तव में बाहर की आँख बन्दकर और अन्तस् की आँख खोलकर ज्ञान से रस लेंगे तो उसका अलग ही आनन्द आयेगा।

दृष्टान्त—सुना था एक लड़का मिठाई की दुकान के पास खड़ा होकर उसकी सुगन्ध लेने लगा, नाक के द्वारा सूँघने की स्पष्ट आवाज आ रही थी। दुकानदार उसे देख रहा था, जब सारे ग्राहक चले गये तब उसने लड़के से कहा—ऐ! मिठाई खरीदना है तो २०० रुपये किलो कीमत है और मात्र सूँघना ही है तो उसकी कीमत ५० रुपये है। पहले तो लड़का घबरा गया फिर सँभलकर जेब में हाथ डालकर पैसे बजाकर दुकानदार से कहने लगा, सुनो! यह ५० रुपये की चिल्लर की आवाज सुन लो, तुम्हारा-हमारा हिसाब बराबर हो गया। इसी प्रकार आवाज सुनते जाओ और मुँह से बोलते जाओ, दोनों का काम हो जायेगा लेकिन रसास्वादन नहीं होगा। पुस्तक में अक्षर हैं ज्ञान नहीं है, अक्षर से ज्ञानानुभूति नहीं होती, भले ही बार-बार कहकर ऐसी धारणा बनाई जाए लेकिन इससे तृप्ति नहीं हो सकती।

उत्थानिका—आगे स्वाभाविक सुख का श्रद्धान करने वाला ही सम्यग्दृष्टि है यह बताते हुए समस्त संसारी जीवों को मोक्षमार्ग की योग्यता नहीं है यह कहते हैं—

जेण विजाणदि सव्वं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि।
इदि तं जाणदि भविओ अभव्यसत्तो ण सद्दहदि ॥१७१॥

अन्वयार्थ—(सो) यह आत्मा **(जेण)** केवलज्ञान से **(सव्वं)** सबको **(विजाणदि)** विशेषरूप से जानता है **(पेच्छदि)** देखता है **(तेण)** इसलिए **(सोक्खं)** अनंत सुख को **(अणुहवदि)** भोगता है **(भविओ)** भव्य जीव **(तं)** उस सुख को **(इदि)** उसी प्रकार **(जाणदि)** जान लेता है अर्थात् श्रद्धान करता है **(अभव्यसत्तो)** अभव्य जीव **(सद्दहदि)** यथावत श्रद्धान **(ण)** नहीं करता है।

अर्थ—जिस केवलज्ञान से यह आत्मा सर्व को जानता है और देखता है उससे ही वह सुख का निरन्तर अनुभव करता है। भव्यजीव उस सुख को उसी प्रकार जान लेता है, किन्तु अभव्य जीव श्रद्धा नहीं करता है।

आत्मा जिससे सब पदार्थ का, ज्ञाता दृष्टा होता है।
और ज्ञान से ही निर्व्याकुल, आत्मिक सौख्य भोगता है॥
भव्य जीव उस आतम सुख को, जैसा है वैसा जाने।
किन्तु अभव्य धरे ना श्रद्धा, सच्चा सुख ना पहचाने॥१७१॥

व्याख्यान— जो सर्व ज्ञेय पदार्थ को जानता है और देखता है वह भव्य ही अनाकुल, अनन्त मोक्षसुख का अनुभव करता है। अभव्य जीव इस प्रकार का श्रद्धान नहीं कर पाता। भव्य जीव को तो जिनवचन श्रवण की महिमा आती है। उसके भीतर से स्वयमेव बहुमान जाग्रत होता है और आत्मा के प्रति आदर व आस्था उत्पन्न होती है किन्तु अभव्य को सुनने के उपरान्त भी आह्लाद और आस्था उत्पन्न नहीं होती। भव्य जीव जब अभव्य का लक्षण सुनता है तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं कि इसका अनन्तकाल से उद्धार हुआ नहीं और आगे कभी होगा ही नहीं, तो करुणा और दया से आर्द्र हो जाता है। आखिर इसने ऐसा क्या किया? जिसका इसे दण्ड मिल रहा है। लेकिन वास्तव में यह दण्ड नहीं, स्वभाव है। किसी गलती के कारण अभव्य बना हो ऐसा नहीं है। मोह करने की गलती तो सभी ने की है और इसी मोह ने अनन्तकाल से भटकाया है। फिर भी भव्य की भटकन तो आगे रुक जायेगी लेकिन अभव्य के लिए ट्रेड मार्क ही लगा है, घोषित है कि वह सुलझ नहीं सकता। आत्मप्रदेश उतने ही हैं जितने भव्यजीव की आत्मा में है। इसी तरह आठ कर्म भव्य के भी पास हैं और अभव्य के भी पास हैं फिर भी वह कभी कर्म से मुक्त नहीं होगा। कितना कठिन स्वभाव हो गया कि वह कभी आत्म श्रद्धान नहीं कर पायेगा।

विश्व में जितने पदार्थ हैं उनकी अतीत-अनागत की अनन्त पर्याय और गुणों को जो एकसाथ केवलज्ञान के द्वारा जानते हैं और केवलदर्शन के द्वारा देखते हैं उन्हें ही मुक्ति सुख मिलता है। जो सबको एकसाथ नहीं जानते-देखते उन्हें मोक्षसुख का अनुभव नहीं होता। ज्ञान-दर्शन के द्वारा सुख को अनुभवते हैं। यहाँ सुख ऑब्जेक्टिव अर्थात् कर्म हो गया और ज्ञान-दर्शन सब्जेक्ट (कर्त्ता) हो गए जो कि आत्मा से अभिन्न हैं। यद्यपि सभी गुण आत्मा से अभिन्न हैं फिर भी अभिन्न मानना अलग है और एक ही मानना अलग है। दर्शन और ज्ञान को उपयोग की सत्ता मानकर अभेद कहा जा सकता है फिर भी दर्शन और ज्ञान तो पृथक् हैं ही, यह निश्चित है। ज्ञान-दर्शन के द्वारा सुख का अनुभव होता है। उपादेय रूप से अपने-अपने गुणस्थान के अनुरूप अनुभव करता है। अभव्य जीव ऐसा श्रद्धान नहीं करता। जैसे-श्रद्धान का विषय ज्ञान और दर्शन से पृथक् हो जाता है। उसी प्रकार **चैतन्य चन्द्रोदय** में ज्ञान और दर्शन से सुख को पृथक् मान करके उसकी फलानुभूति करायी है। सम्यग्दर्शन को श्रद्धा गुण की पर्याय माना है। इसलिए दर्शनमार्गणा, ज्ञानमार्गणा, सम्यक्त्वमार्गणा तीनों मार्गणाएँ भिन्न-भिन्न हैं।

शंका—सुख मार्गणा क्यों नहीं रखी?

समाधान—सुख ढूँढ़ने में नहीं, संवेदन में आता है। इसलिए सुख को आत्मा से अभिन्न कहा है।

शंका—ज्ञान भी ढूँढ़ने में नहीं आता तो ज्ञानमार्गणा भी नहीं होना चाहिए?

समाधान—यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो जानने योग्य कोई वस्तु ही नहीं रहेगी क्योंकि ज्ञानमार्गणा ही नहीं है फिर तो आँखों को बन्द कर लो क्योंकि देखने-जानने वाला कोई है ही नहीं।

विषयों का सेवन हेयबुद्धि से किन्तु भगवत्भक्ति अतिउत्साह से करने योग्य—सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से गुणस्थान के अनुसार सुख का अनुभव हेयबुद्धि से करता है। यहाँ विषय सुख के साथ तो हेयबुद्धि लगाई किन्तु भगवान् की भक्ति के लिए '**परमनिर्भर भक्त्या**' शब्द कहा है। उसमें हेयबुद्धि नहीं लगाई। निर्भरभक्त्या का अर्थ उत्कृष्ट आह्लाद, उत्साह से भरकर भक्ति करना। विषय सेवन के लिए हेयबुद्धि शब्द कहा है लेकिन शुष्क अध्यात्म वाले परमभक्ति के लिए हेयबुद्धि लिख रहे हैं जो कि किसी भी आगम में नहीं लिखा है। ''**विषयकषाय वंचनार्थं**'' कहा है अर्थात् विषय-कषाय से छूटने के लिए अपने-अपने गुणस्थान के अनुसार मुनि और श्रावक पुरुषार्थ करते हैं। मिथ्यादृष्टि इन्द्रिय विषयों को उपादेय मानकर सेवन करता है किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव एकमात्र आत्मिक अतीन्द्रिय सुख को उपादेय मानकर इन्द्रिय विषय सुख का अनुभव करता है। जैसे-किसी चोर को, चोरी करते हुए कोतवाल ने पकड़ लिया व उसे खींचकर जेल की ओर ले जा रहा है। इसमें चोर जेल जाना नहीं चाहता, परन्तु उसे जाना पड़ रहा है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को विषय अच्छे नहीं लगते लेकिन विषयों का भोग करना पड़ता है। इस उदाहरण में विषयों के लिए कहा है भगवान् की भक्ति के लिए नहीं।

जो शुद्धोपयोग में आनन्द का अनुभव होता है वह भक्ति के काल में नहीं होता, फिर भी वंदना और स्तुति को मूलगुणों में रखा है। मूलगुणों में एक मूलगुण को तो हेयबुद्धि से करो और सामायिक उपादेय बुद्धि से करो, ऐसा तो नहीं कहा। यदि भक्ति के काल में खाली-खाली सा लगता है तो चौबीसों घण्टा प्रतिमायोग धारण कर लो, कोई मना नहीं करेगा। बाहुबली के समान एक वर्ष तक खड़े रह सकते हो लेकिन प्रतिमायोग छह महिने से ज्यादा नहीं कहा क्योंकि वृषभनाथ भगवान् ने छह माह तक ही किया था। तीर्थंकरों की चर्या को ही एक मापदण्ड बनाया जाता है। बाहुबली स्वामी ने छहमाह की जगह एक वर्ष रखा यह अपवाद है। कुछ भी हो इस प्रकार प्रतिमायोग धारण कर सकते हैं। कुछ आवश्यक प्रवृत्ति परक तो कुछ निवृत्ति परक होते हैं। २८ मूलगुणों में से कोई भी मूलगुण हो यदि आदर या भक्तिपूर्वक अनुष्ठान न करे तो आसादना का दोष लगता है। ३३ आसादना में एक चारित्र गुण भी है। चारित्र गुण में १३ प्रकार का चारित्र है जो २८ मूलगुण में आ जायेगा। इसमें किसी भी एक गुण के प्रति अनादर भाव रखना अथवा हतोत्साहित होकर हेयबुद्धि से करना आसादना है। अभव्य को दर्शन-चारित्रमोह सम्बन्धी उपशम, क्षयोपशम व क्षय कभी भी सम्भव नहीं है इसलिए अभव्य को सामायिक के प्रति उत्साह भी नहीं रहता। सांसारिक कार्यों को अनन्त बार कर चुके फिर भी उसके लिए बहुत उत्साह रहता है और मोक्षमार्ग तो कभी-कभी दुर्लभता से मिलता है तो भी उसके प्रति उत्साह से रहित हो जाता है, उसके प्रति आदर का भाव कम-कम होता चला जाता है। मोक्षमार्ग में एक सेकेण्ड का भी परिणाम बहुत महत्व रखता है क्योंकि ये दुर्लभ-दुर्लभतर और दुर्लभतम हैं। एक पल के लिए भी धर्म में मन लग जाता है तो एक रिकार्ड हो जाता है और वह मिथ्यात्व से

सम्यक्त्व की ओर चला जाता है। जो अनन्तकालीन मिथ्यात्व की शृंखला को तोड़ देता है वह अपने आप में बहुत सौभाग्यशाली है। **बोधिदुर्लभ भावना** में इसी प्रकार की भावना भायी गई है। इस प्रकार भव्य-अभव्य के स्वरूप कथन की मुख्यता से सप्तम स्थल पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—सराग अवस्था में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को पराश्रित होने से बन्ध का कारण और निश्चयरूप स्वाश्रित आचरण को मोक्ष का कारण कहते हैं–

दंसणणाण चरित्ताणि मोक्खमग्गोऽत्ति सेविदव्वाणि।
साधूहिं इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥१७२॥

अन्वयार्थ—**(दंसणणाणचरित्ताणि)** दर्शन, ज्ञान, चारित्र **(मोक्खमग्गोत्ति)** मोक्षमार्ग है, ये ही **(सेविदव्वाणि)** सेवन योग्य हैं **(साधूहिं)** साधुओं के द्वारा **(इदं भणिदं)** ऐसा गया कहा है। **(तेहिं दु)** इन्हीं से **(बंधो व)** पराश्रित होने पर कर्मबन्ध होता है **(वा)** और **(मोक्खो)** स्वाश्रित होने पर मोक्ष होता है।

अर्थ—दर्शन, ज्ञान व चारित्र मोक्षमार्ग है इसलिए वे सेवन योग्य हैं ऐसा साधुओं ने कहा है। इन्हीं से कर्मबन्ध या मोक्ष भी होता है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित, रत्नत्रय मुक्तीमय है।
सेवन करने योग्य यही है, ऐसा जिनवर का मत है॥
श्रमण कहे यदि पराश्रयी है, तो यह बन्ध हेतु माना।
स्वाश्रित निश्चय रत्नत्रय को, मुक्ती का कारण जाना ॥१७२॥

व्याख्यान— रत्नत्रय, स्वाश्रित और पराश्रित के भेद से दो प्रकार का है। पर के निमित्त से आत्मा में जो प्रकाश होता है वह पराश्रित है। जैसे-देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान से नौपदार्थ, साततत्त्व, छहद्रव्य, पञ्चास्तिकाय से सर्वप्रथम जो ज्ञान होता है वह उत्पत्ति की अपेक्षा पराश्रित है फिर पुनः-पुनः जो होता है वह स्वाश्रित होता चला जाता है। जैसे-दीपक को पहले तीली से जला दिया फिर एक दीपक जलने के उपरान्त उससे अन्य दीपक जलते चले जाते हैं। इसी प्रकार पहले पराश्रित फिर स्वाश्रित कह सकते हैं।

रत्नत्रय बन्ध और मोक्ष का कारण कैसे?—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में "बंधो व मोक्खो वा" अर्थात् रत्नत्रय पराश्रित होने पर बन्ध का कारण और शुद्धात्मा के आश्रित होने पर मोक्ष का कारण है। लेकिन यदि रत्नत्रय मोक्ष का कारण ही कहा गया है तो बन्ध का कारण कैसे हो सकता है? इसका अर्थ यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव ही तीर्थंकर और आहारकद्विक प्रकृतियों का बन्ध करता है लेकिन सम्यग्दर्शन नियामक रूप से बन्ध का कारण नहीं है। यदि ऐसा हो जाए तो सभी सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर होकर ही मुक्त होंगे, सभी के लिए समवसरण की रचना होगी। अब यदि सभी सिंहासन पर बैठेंगे तो सिंहासन का महत्त्व ही क्या रहेगा? नीचे बैठने वाले हों तभी तो सिंहासन की महत्ता है। इससे स्पष्ट

है कि सम्यग्दर्शन के बिना तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता किन्तु सम्यग्दर्शन मात्र से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होगा। इसलिए साधुओं के द्वारा रत्नत्रय बन्ध व मोक्ष दोनों का कारण कहा। बन्ध के हेतुओं का अभाव और निर्जरा द्वारा मोक्ष होता है।

व्यवहार रत्नत्रय संवर और निर्जरा का भी कारण—व्यवहार रत्नत्रय जो पराश्रित है वह केवल बन्ध का ही कारण है, ऐसा नहीं। पराश्रित का अर्थ पर के आलम्बन से होता है किन्तु स्व में ही उत्पन्न होता है। दो प्रकार की दुकान होती है पहली वह है जहाँ अपनी ही दुकान, अपने ही दुकानदार सब घर के होने से आमदनी ही आमदनी होती है। यहाँ किराया देने की और सेल्समेन की कोई आवश्यकता नहीं होती। दूसरी वह है जहाँ कोई किराये की दुकान लेकर सेल्समेन रखकर दुकान चलाता है उसमें आमदनी तो होती है पर खर्चा भी होता है उसी प्रकार व्यवहार रत्नत्रय में बन्ध भी होता है। जैसे–घी स्वभाव से शीतल और पौष्टिक होता है किन्तु अग्नि के संयोग से दाह पैदा करने वाला हो जाता है वैसे ही रत्नत्रय स्वभाव से मुक्ति का कारण होते हुए भी पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति से संवर–निर्जरा का कारण भी होगा और उससे जो मोक्ष के लिए अनिवार्य है ऐसी सातिशय अर्थात् उत्तम क्वॉलिटी की तीर्थंकर प्रकृति और वज्रवृषभनाराच संहनन आदि के बन्ध का कारण भी होगा, यह संसार का कारण नहीं है। इससे स्पष्ट है कि जो प्रकृति पराश्रय में भी यदि सम्यक्त्व के साथ बँधी है तो मुक्ति का कारण है।

जितने भी नारायण–प्रतिनारायण होते हैं उनके अतीतकाल में रत्नत्रय रहता है लेकिन वे किसी वैभवशाली देव, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण को देखकर यह निदान बन्ध कर लेते हैं कि मुझे भी तप के फल से यह पद मिल जाए। यह मिथ्यात्व के उदय से होता है ऐसा नहीं, पञ्चम गुणस्थान तक हो सकता है। अब अगले भव में चक्रवर्ती बन गए यह रत्नत्रय का नहीं, निदान का फल है। यदि वे निदान नहीं करते तो भी चक्रवर्ती हो जाते, बलदेव और तीर्थंकर भी हो जाते '**आम के आम गुठली के दाम**' यह युक्ति सार्थक हो जाती। लेकिन निदान करने से गुठली ही गुठली रह गई, आम चला गया। अब क्या करोगे? जैसे–कोई फटी गुदड़ी रखता है और उसमें बहुत संग्रह करके रख लेता है। लोगों को विश्वास ही नहीं होता कि इस गुदड़ी में भी कुछ हो सकता है लेकिन जब उसे झड़ा कर देखा जाता है तो उसमें से लाल टपकने लग जाते हैं। इसे ही गुदड़ी का लाल कहते हैं। फटी हुई गुदड़ी को कोई उठाना भी नहीं चाहेगा लेकिन उसमें रत्न भरे हुए हैं। उसी प्रकार निदान से, फटी गुदड़ी के समान छोटे पद को तो प्राप्त कर लेता है परन्तु रत्न के समान तीर्थंकर आदि पद प्राप्त नहीं कर पाता।

पराश्रित व्यवहार मोक्षमार्ग से साक्षात् मुक्ति नहीं मिलती इसलिए सिद्धान्त ग्रन्थ में यह भी कह दिया कि प्रथम शुक्लध्यान स्वर्ग सुख ही देता है और कर्म निर्जरा भी करता है लेकिन मुक्ति नहीं दे सकता क्योंकि मुक्ति द्वितीय शुक्लध्यान के द्वारा ही होती है।

उत्थानिका—अब सूक्ष्म परसमय का स्वरूप कहते हैं–

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमय रदो हवदि जीवो ॥१७३॥

अन्वयार्थ—**(जदि)** यदि **(णाणी)** कोई ज्ञानी **(अण्णाणादो)** अज्ञानभाव से **(सुद्धसंपओगादो)** शुद्धात्माओं (अर्हद् आदि) की भक्ति से **(दुक्खमोक्खं)** दुखों से मुक्ति **(हवदि त्ति मण्णदि)** हो जाती है, ऐसा मानने लगे तो वह **(जीवो)** जीव **(परसमयरदो)** पर समय अर्थात् पर पदार्थ में रत **(हवदि)** होता है।

अर्थ—शुभ भक्ति भाव से दुखों से मुक्ति हो जाती है ऐसा यदि अज्ञान के कारण ज्ञानी माने तो वह परसमय रत जीव है।

ज्ञान स्वरूपी आतम कोई, अज्ञ भाव को धार रहा।
भक्ति रूप शुभ भावों से वह, दुख विनाश हो मान रहा॥
जब तक ऐसी रहे मान्यता, वह परसमय कहाता है।
धर्म राग का भी शिवपथ में, निषेध माना जाता है ॥१७३॥

व्याख्यान—परसमयरत जो जीव शुभोपयोग से दुखों का क्षय मानता है वह ज्ञानी होकर भी अज्ञानता से ऐसा मानता है। शुद्धोपयोग की भूमिका में जो ज्ञानी रहता है वह निरास्त्रवी होकर केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त कर लेता है परन्तु **''शुद्धोपयोग से पूर्व धर्म परिणत शुभोपयोग की भूमिका में सरागदशा होने के कारण स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है, उसे मुक्ति का लाभ नहीं होता''** यह प्रकरण प्रवचनसार के प्रारम्भ में आया है। यह 'धर्मपरिणत' शब्द अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। वही 'धर्मपरिणत' शब्द यहाँ ज्ञानी और शुद्ध संप्रयोग (शुभोपयोग) के रूप में कहा है। यह परसमय की भूमिका अपने आप में बहुत लम्बी चलती है। यदि रत्नत्रयधारी शुभोपयोग में आते हैं तो परसमय कहलाते हैं। यहाँ परसमय से मिथ्यादृष्टि नहीं लेना है। प्रवचनसार की चूलिका में श्रमण दो प्रकार के कहे हैं–एक शुभोपयोगी दूसरे शुद्धोपयोगी। ये दोनों श्रमण ही लोक का उद्धार करते हैं अर्थात् संसार तट तक पहुँचाने वाले हैं। केवल शुद्धोपयोग से ही कल्याण हो, ऐसा नहीं है किन्तु शुभोपयोग की भूमिका में प्रशस्तराग रहने से जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति-पूजा आदि का उपदेश देते हैं। इसके माध्यम से जीवों का कल्याण हो जाता है। **रत्नत्रय के धारक ही भव्य जीवों के तारक बनते हैं।**

परसमय के भेद—टीकाकार ने परसमय के स्थूल परसमय और सूक्ष्म परसमय ये दो भेद कहे हैं, जो अभी तक कहीं सुनने व पढ़ने में नहीं आये। बहुत सूक्ष्मता से यह व्याख्या की गई है। सूक्ष्म परसमय में केवल बन्ध ही नहीं, संवर-निर्जरा भी होती है। समयसार ग्रन्थ में भी कहा कि जब तक ज्ञानगुण जघन्य रूप परिणमन करता है तब तक बन्ध होता है। जो कोई ज्ञानी होकर भी शुद्धात्मा के

अनुभव रूप ज्ञान से विपरीत अज्ञान भाव से यह श्रद्धान करे कि पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति से ही दुखों से मुक्ति हो जायेगी तो वह जीव उसी समय से परसमयरत हो जाता है। वह रत्नत्रय का आराधक ज्ञानी तो है पर शुभोपयोगी श्रमण है, इन्हें मिथ्यादृष्टि नहीं कह सकते। यह शुभोपयोगी श्रमण लोक के उद्धारक होते हुए भी जीवन से मुक्त नहीं हो सकते इसलिए इन्हें सूक्ष्म परसमय संज्ञा दी गई है। **श्री अमृतचन्द्रसूरि** ने भी यही कहा है कि–''**परसमय स्वरूपम् आख्यानमेतत्**'' अब विकार रहित शुद्धात्मा की भावना रूप परम उपेक्षा संयम में जो ठहरना तो चाहते हैं पर ठहरने की सामर्थ्य न होने पर विषय और क्रोधादि कषाय रूप अशुद्ध परिणामों से बचने के लिए तथा संसार की स्थिति छेदने के लिए पञ्चपरमेष्ठी का स्वयं स्तवन करता है, भक्ति करता है, चिन्तन करता है और स्थूल परसमय वाले जो गृहस्थ हैं उन्हें भी आस्थावान बना देता है।

स्वाध्याय मात्र से ही सब कार्यों की सिद्धि ऐसे एकान्तमत का खण्डन–यदि कोई आत्मा की भावना करने के लिए समर्थ है तो भी 'शुभोपयोग रूप भक्ति आदि भाव से ही मोक्ष होता है', ऐसा एकान्त से मानने लगे तब वह स्थूल परसमय रूप परिणाम के कारण अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हो जाता है क्योंकि एकान्त से वह हठ कर रहा है। जबकि सम्यग्दृष्टि ऐसी हठ नहीं करता। शुद्धोपयोग की क्षमता होते हुए भी सामायिक आदि के काल में इधर-उधर की बातों में लग गए, यह ठीक नहीं। जो कोई भी यदि पञ्च परमेष्ठी की भक्ति आदि में लग जाए और एकान्त से भक्ति को ही मुक्ति का कारण माने, उसके लिए मिथ्यादृष्टि कहा। मानलो सामायिक में मन नहीं लगता है तो कर्मों की विचित्रता समझकर स्तवन आदि करें, और जो शुद्धोपयोगी हैं उनका बहुमान करें कि धन्य हैं वे, जो प्रवृत्ति से दूर रहकर ध्यान में लीन रहते हैं। एक वर्ष तक बाहुबली खड़े रहे, क्या वह शुद्धोपयोगी ही थे? ऐसा तो है नहीं, लेकिन उनका संकल्प था, मैं प्रवृत्ति नहीं करूँगा। यदि खड़े रहकर सामायिक करने की सामर्थ्य है तो बैठे-बैठे क्यों? और बैठकर भी यदि शारीरिक वाचनिक आदि क्षमता होते हुए भी उसका सदुपयोग न करें तो मिथ्यादृष्टि हैं। शुभोपयोग के साथ शुद्धोपयोग का समागम जो चाहता है वह समय बचाकर एकान्त में रहने का पुरुषार्थ करेगा। आजकल तो स्वाध्याय करने से ही सब हो जायेगा ऐसा एकान्त रूप से माना जा रहा है जो कि बिल्कुल गलत है। इसीलिए परसमय का अर्थ यहाँ स्पष्ट किया है जिससे आँखें खुल जाती हैं। वे कहते हैं पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति करने में मन नहीं लगता है क्योंकि यह तो क्रियाकण्ड है इससे केवल पुण्य बन्ध होता है किन्तु स्वाध्याय करने से तत्त्वज्ञान होता है। तत्त्वज्ञान से सम्यदर्शन होता है और उससे कर्म की निर्जरा होती है। यह प्रचार-प्रसार आगम विरूद्ध है कि पञ्चपरमेष्ठी की आराधना से केवल पुण्य बन्ध ही होता है क्योंकि आगम में लिखा है कि भूमिका अनुसार पञ्चपरमेष्ठी की जितनी गाढ़ भक्ति करेंगे उसके द्वारा बन्ध की अपेक्षा असंख्यातगुणी अधिक कर्म की निर्जरा होगी। ऐसा सिद्धान्त ग्रन्थों में भी लिखा है–''**जह्मा णमोकारो संपई बंधादो असंखेज्ज गुणसेढी कम्मणिज्जरा कारणो होदि**'' इस असंख्यातगुणी

कर्म की निर्जरा को छुड़ाकर और कौन सा स्वाध्याय कराना चाहते हैं? यदि भक्ति में मन नहीं लगता तो कोई बात नहीं लेकिन आगम विरुद्ध यदि प्रचार करता है तो सम्यग्दर्शन उसे हो नहीं सकता। इससे स्पष्ट है अज्ञान के द्वारा ही जीव का बुरा होता है। सूक्ष्म परसमय में एकान्त से मिथ्यादृष्टि नहीं है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है उस समय सराग सम्यग्दृष्टि रहता है और सराग सम्यग्दृष्टि में मुनि, श्रावक और अविरत सम्यग्दृष्टि तीनों भी रह सकते हैं, यही इसका तात्पर्य है।

शुभोपयोग श्रमणों के लिए गौण, गृहस्थों के लिए मुख्य—श्री अमृतचन्द्रसूरि ने चारित्र चूलिका में कहा है कि–शुभोपयोग गृहस्थों में मुख्य है श्रमणों में गौण है क्योंकि श्रमण के पास शुद्धात्मानुभूति के योग्य भूमिका स्वरूप पञ्च महाव्रत हैं। जब कोई श्रमण शुभोपयोग में आ जाते हैं तो कहते हैं हृष्ट-पुष्ट होकर खिचड़ी क्यों खा रहो हो? जिनके लीवर कमजोर है, बीमार हैं, वे खिचड़ी खाते हैं। मुनिराज तो शुद्धोपयोग की सामर्थ्य रखते हैं शुद्धात्मानुभूति की भूमिका वाले हैं इसीलिए श्रमणों के लिए शुभोपयोग गौण है किन्तु गृहस्थ के लिए परम्परा से निर्वाण का कारण होने से मुख्य है। श्रमण अन्तर्मुहूर्त शुभोपयोग में रहकर पुनः शुद्धोपयोग में पहुँच जाते हैं क्योंकि उनके पास भूमिका है। जिस समय सराग रत्नत्रय है उस समय सूक्ष्म परसमय है, अष्टपाहुड में इसकी छाया मिलती है–

केचिदज्ञानतो नष्टाः केचन नष्टाः प्रमादतः।
केचिज्ज्ञानावलेपेन केचिन्नष्टैश्च नाशिताः॥

कुछ लोग अज्ञान के कारण नष्ट हो गए हैं, कुछ प्रमाद के कारण और कुछ ज्ञान के अवलेपन से नष्ट हो रहे हैं। इसी तरह जिन्हें शब्दनय आगम का ज्ञान नहीं है और भावार्थ बोले जा रहे हैं जिससे भोली-भाली जनता उनकी चपेट में आ रही है और उनकी बातों में आकर पार्टी बना लेते हैं, यही तो अनुभव रहित ज्ञानावलेप है। ऊपर-ऊपर से चार अक्षर पढ़कर मञ्च पर आकर बैठ गए, माइक पहले से तैयार था, बस जमघट इकट्ठा हो गया लेकिन जब रहस्य खुलने लगे तब ज्ञात हुआ कि यह गलत है परन्तु तब तक तो कई नष्ट हो गए।

वर्तमान में तो किसी को मुक्ति होती नहीं लेकिन शुद्धोपयोग तो आज भी हो सकता है और शुद्धोपयोग जिस समय होगा उस समय शुभोपयोग नहीं होगा तो फिर श्रमण शुभोपयोग की ओर क्यों देखें? जब शुभोपयोग छोड़कर श्रमण को आखिर शुद्धोपयोग की ओर ही जाना है। जिनकी शुद्धोपयोग की भूमिका ही नहीं ऐसे गृहस्थ को महाव्रतों का अभाव है और महाव्रत ही शुद्धात्मानुभूति की भूमिका का निर्वाह करते हैं।

उत्थानिका—शुभोपयोग को कथञ्चित् बन्ध का कारण कहा, इस कारण मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा कथन करते हैं–

अरहंत सिद्धचेदिय पवयण गणणाण भत्ति संपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि॥१७४॥

अन्वयार्थ—(अरहंत-सिद्ध-चेदिय-पवयण-गण-णाणभत्ति-संपण्णो) अरहंत, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनिसमूह तथा ज्ञान की भक्ति से सम्पन्न जीव **(बहुसो)** अधिकतर **(पुण्णं)** पुण्यकर्म को **(हु)** निश्चय से **(बंधदि)** बाँधता है **(सो)** वह **(कम्मक्खयं)** कर्मों का क्षय **(ण कुणदि)** नहीं करता।

अर्थ—अरहंत, सिद्ध, चैत्य, जैन सिद्धान्त, मुनिसमूह तथा ज्ञान की भक्ति करने वाला जीव बहुत पुण्य बाँधता है परन्तु वास्तव में वह कर्म का क्षय नहीं करता।

जो अरहंत, सिद्ध, जिनप्रतिमा, शास्त्रों का बहुमान करे।
मुनिजन स्तुति औ ज्ञान भक्ति से, पुण्य कर्म का बन्ध करे॥
शुभोपयोगी होने से यह, राग अंश को धरता है।
इसीलिए तो कर्मों का वह, नाश नहीं कर सकता है ॥१७४॥

व्याख्यान—अरहंत, सिद्ध, चैत्य-बिम्ब, प्रवचन-जिनवाणी, गण-साधु, ज्ञान की भक्ति स्तुति सेवादिक से सम्पन्न पुरुष अनेक प्रकार के शुभ कर्म को बाँधते हैं किन्तु वह कर्म क्षय नहीं करते, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनको केवल बन्ध ही होता है, निर्जरा नहीं। कर्मक्षय में और कर्मनिर्जरा में बहुत अन्तर है। कर्मक्षय में कर्म सत्ता से ही सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है जबकि निर्जरा में एकदेश क्षय को प्राप्त होता है, सम्पूर्ण रूप से नहीं। भक्ति आदि के द्वारा बन्ध होने से साक्षात् मोक्ष का निषेध किया है परन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण भी कहा है क्योंकि शुभोपयोग द्वारा बन्ध के साथ-साथ निर्जरा भी होती है, किन्तु शुभोपयोग जो बन्ध कराने वाला है वह परम्परा से मोक्ष का कारण भी कहा है क्योंकि उसके साथ निर्जरा भी होती है लेकिन बन्ध सहित होने के कारण कर्म का पूर्णक्षय नहीं होता, यह इसका तात्पर्य है। श्री अमृतचन्द्रसूरि एक ऐसे व्यक्तित्व हैं जिन्होंने शुद्ध संप्रयोग का अर्थ सूक्ष्म परसमय रूप व्याख्यापित किया। इन्होंने कहा-कथञ्चित् बन्ध का हेतु है अर्थात् कथञ्चित् निर्जरा का भी हेतु है।

गाथा में बहुत सारा पुण्य बन्ध करता है यह कहा है, पूरा शब्द नहीं कहा। बन्ध सहित निर्जरा को क्षय नहीं बोलते। पञ्चमहाव्रत के धारक होते हुए भी राग की कणिका का सद्भाव हो सकता है इसलिए राग की कणिका को भी छोड़ें। जब तक राग है तब तक परसमय है। कथञ्चित् १०वें गुणस्थान तक शुद्ध संप्रयोग ही रहेगा स्वसमय नहीं होगा।

पञ्च परमेष्ठी की आराधना कब तक—आस्रव से रहित निज शुद्धात्म तत्त्व की संवित्ति से ही मोक्ष होता है। जब तक अर्हत्भक्ति आदि पराश्रित परिणाम हैं तब तक मुक्ति का निषेध है। **मूलाचार** में कहा है-रत्नत्रय की आराधना करते हुए भी अन्तिम श्वास तक णमोकार मन्त्र कण्ठ में रखो। इससे पञ्चपरमेष्ठी के प्रति आस्था बनी रहेगी। जो स्वयं के आराधक हैं, उनकी आराधना करने से निश्चित कल्याण होगा। २८ मूलगुणों में प्रतिदिन के कृतिकर्म में पञ्चपरमेष्ठी की स्तुति-आराधना

करना अनिवार्य है। कुछ लोगों का कहना है कि आत्मा की बात करो; पञ्चपरमेष्ठी, जिनवाणी आदि तो पर हैं उनकी स्तुति नहीं करना, इससे बन्ध होता है और बन्ध करना मिथ्यात्व है। यह बात यहाँ इसलिए स्पष्ट कर रहे हैं कि इससे जिनके नयन बन्द हैं वह खुल जाएँ। जब आँखों में धूल कण चला जाता है तो सुरमा लगा लेते हैं, उस वक्त आँखों में दर्द अवश्य होता है लेकिन पानी लाने के लिए दर्द सहना आवश्यक है। जिनकी दृष्टि में धूल है, वह साफ हो जाए इसीलिए ये शब्द कड़े होकर भी बड़े काम के हैं। जो शुद्धात्मा का आलम्बन लेता है उसके लिए परद्रव्य का आलम्बन लेना ठीक नहीं है। **''अध्यात्म वृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते''** अध्यात्मवृत्ति वाला एकमात्र निजात्मा का ही आलम्बन लेता है लेकिन सभी अध्यात्मवृत्ति वाले नहीं होते हैं। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर कुछ ऐसे भी साधक हैं जो निजात्मा का आलम्बन नहीं ले पा रहे हैं, उनके लिए पञ्चपरमेष्ठी की आराधना अनिवार्य है। यद्यपि श्रमणदशा में पर का आलम्बन उचित नहीं है। बहुत बड़ी दुकान खोलकर ज्वार-बाजरा-मक्का-नमक-मिर्च बेचना शोभास्पद नहीं है। बाजरा आदि खरीदने के लिए कई ग्राहक आते हैं और दुकानदार को एक-एक रुपया कमाने के लिए उठ-बैठ करना पड़ता है जबकि जौहरी की दुकान पर माणिक खरीदने कभी कोई आकर लाखों-करोड़ों का सौदा कर लेता है और वह सेठ उठ-बैठ भी नहीं करता, स्वाभिमान से पैर पर पैर रखकर शालीनता से बैठता है। उसी प्रकार मुनि बनने के उपरान्त ध्यानस्थ हो जाएँ तो शुद्धोपयोग हो जाता है और यदि प्रवृत्ति रूप शुभोपयोग में भी आ जाएँ तो भी असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा करते हैं। ध्यानदशा जौहरी के समान है और ध्यान से चूकने पर ज्वार-बाजरा की दुकान के समान है। शुभोपयोगी मुनि की संख्या ज्यादा होने से, यही ठीक है यह कहना ठीक नहीं है। शुद्धोपयोग का मूल्य ही अलग है। आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामी स्वयं उसे बार-बार नमस्कार करते हैं, जो उपेक्षा संयम का प्रतीक है। यह केवल रत्नत्रय के आराधकों में ही मिलेगा अन्यत्र नहीं, इसलिए इसका बहुमान करें।

उत्थानिका—आगे स्वसमय की प्राप्ति न होने में राग ही एक कारण है ऐसा कथन करते हैं—

जस्स हिदयेणुमेत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरोवि ॥१७५॥

अन्वयार्थ—(जस्स) जिसके **(हिदये)** हृदय में **(परदव्वम्हि)** पर द्रव्य सम्बन्धी **(अणुमत्तं वा)** अणुमात्र भी **(रागो)** राग **(विज्जदे)** पाया जाता है **(सो)** वह **(सव्वागमधरो वि)** सर्व शास्त्रों को जानने वाला है तो भी **(सगस्स समयं)** स्वसमय को अर्थात् अपनी आत्मा को **(ण विजाणदि)** नहीं जानता है।

अर्थ—जिसके हृदय में परद्रव्य के प्रति अणुमात्र भी राग पाया जाता है वह भले ही सर्व शास्त्रों को जानने वाला है तो भी अपने आत्मिक पदार्थ को या स्वकीय समय को नहीं जानता।

परद्रव्यों में अणु मात्र भी, राग हृदय में जिनके हो।
सारे ही आगम ग्रन्थों का, ज्ञान भले ही उनके हो॥
तथापि आतम के स्वभाव को, जान नहीं वह पाता है।
क्योंकि भक्ति का रागभाव भी, अवरोधक हो जाता है ॥१७५॥

व्याख्यान—समयसार ग्रन्थ में भी यही कहा है–

परमाणुमित्तियं पि हु य रागादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागम धरोवि ॥२१२॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२१३॥

राग परद्रव्य के विषय को लेकर ही होता है, आत्मा की कितनी भी चर्चा करें, चर्चा है तो पर का आश्रय है, मोह है। जिसके हृदय में अणुमात्र भी राग की कणिका है वह अपने समय अर्थात् समयसार को नहीं जान सकता, भले ही पूरे समय समयसार हाथ में रखे रहो, इससे कुछ होने वाला नहीं है। द्वादशांग का धारक भी हो तो भी वह स्वसमय को नहीं जान सकता है अर्थात् द्वादशांग के ज्ञान से भी स्वसमय भिन्न है। द्वादशांग का ज्ञाता द्रव्यश्रुतकेवली है किन्तु स्वसमय का ज्ञाता भावश्रुतकेवली है। यहाँ आगम मुख्य नहीं, शुद्धात्मानुभूति मुख्य है। इसलिए जिसके हृदय में परद्रव्य के प्रति कणमात्र भी राग है तो वह सर्व आगम का धारक होकर भी आत्मा को नहीं जानता है। सर्वप्रथम विषयानुराग त्याग किया जाता है। कुछ बातें सुनने में बहुत अच्छी लगती है कि आत्मा खाती नहीं, यह जड़ की क्रिया है, हाथ से खा रहे हैं, मुख से चबा रहे हैं पर आत्मा तो खाती नहीं, वह अमूर्त है ऐसा वे कहते हैं लेकिन इन क्रियाओं के पीछे आत्मा का भाव भी आपेक्षित है अन्यथा शव क्यों नहीं खाता? ग्रास मुख में डालने पर क्यों नहीं चबाता? क्योंकि आत्मा ही चली गयी, आत्मा जब तक रहती है तब तक खाने की क्रिया चलती है। यदि आत्मा की इच्छा न हो तो मुँह में ग्रास डालने पर भी चबाने की क्रिया नहीं हो सकती, इसलिए एकान्त से जड़ की ही क्रिया मानना गलत है। इच्छा है तभी तो बन्ध होगा। अतः गुणस्थान के अनुसार रागादि रहित निज शुद्धात्मा में स्थित होकर पञ्चपरमेष्ठी के प्रति राग भी त्याग कर देना चाहिए। लेकिन यह ध्यान रखें कि जब शुद्धोपयोग हो, तब त्याग करें, इससे पहले नहीं करें।

उत्थानिका—अंश मात्र भी राग के कारण, अनेक दोषों की परम्परा होती है ऐसा कथन करते हैं –

धरिदुं जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामो विणा दु अप्पाणं।
रोधो तस्स ण विज्जदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥१७६॥

अन्वयार्थ—**(दु)** तथा **(जस्स)** जिसके **(चित्तुब्भामो)** चित्त में चंचलभाव **(अप्पाणं विणा)** अपनी आत्मा की भावना के बिना **(धरिदुं ण सक्कं)** रोका नहीं जा सकता **(तस्स)** उसके

(सुहासुहकदस्स कम्मस्स) शुभ तथा अशुभ किये हुए कर्मों का **(रोधो)** रुकना **(ण विज्जदि)** सम्भव नहीं है।

अर्थ—जिसके चित्त का भ्रम या चंचलभाव, अपनी शुद्ध आत्मा की भावना के बिना रोका नहीं जा सकता है उसके शुभ तथा अशुभ उपयोग से किए हुए कर्मों का रुकना सम्भव नहीं है।

जिसका चित्त भरा भ्रम से है, चंचल है थिर ना रहता।
निज शुद्धात्मभावना के बिन, उसे न रोका जा सकता॥
जीव शुभाशुभ उपयोगों से, कर्मों का संचय करता।
उन कृत कर्मों का रुक पाना, सम्भव ही ना हो सकता ॥१७६॥

व्याख्यान—चित्त में उठने वाली तरह-तरह की तरंगों को दूर करना चाहते हो तो आत्म स्वभाव को जानकर और आत्म रुचि रखकर बार-बार प्रयत्न करके ही चित्त स्थिर कर सकते हैं। कोई सोचे कि गुरु का आशीर्वाद मिल जाए या प्रभु की कृपा हो जाए तो मन स्थिर हो जायेगा लेकिन यह **"न भूतो न भविष्यति"** हाँ, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करने से कथञ्चित् हो सकता है। फिर भी भीतर से जो उफान रहता है वह चूल्हे की अग्नि के ऊपर रखी खाद्य सामग्री की भाँति एकदम शान्त नहीं होता। चाहे ऊपर से तश्तरी ढक दें या न ढकें किन्तु चूल्हे के ऊपर जो रखा है वह खद-बद तो करेगा ही, जब तक नीचे की आग नहीं निकाली जायेगी। उसी प्रकार चित्त कहीं अन्यत्र लगा हुआ है। जहाँ रस मिल रहा है वहाँ से हटाकर देव-शास्त्र-गुरु में लगाना या अपनी आत्मा में लगाना तभी सम्भव है जब आत्म रुचि हो, लक्ष्य ठान लिया हो। यहाँ ठान का अर्थ कपड़े का थान नहीं, बल्कि धारणा पक्की बनाना है। इसमें दूसरे की सहायता काम नहीं आती, अकेले ही लगना होता है। अन्यथा जो आस्रव-बन्ध हो रहा है उसका निरोध या संवर नहीं हो सकता और संवर हुए बिना निर्जरा नहीं हो सकती तथा निर्जरा के बिना आत्म कल्याण नहीं हो सकता।

मन को नियन्त्रित रखने से ही संवर—परद्रव्यों में आसक्ति ही सर्व अनर्थ का मूल है। स्व को छोड़कर सब पर हैं। आत्मा में उत्पन्न हुआ चित्त का भ्रम विक्षिप्त मन का ही दूसरा नाम है। **श्री पूज्यपाद स्वामी** कहते हैं- तत्त्व वही है जहाँ चित्त में विभ्रम नहीं है। भ्रम कैसे उत्पन्न हुआ? तन को संयत रखा, वचन के लिए मौन रखा लेकिन मन अस्थिर है। जैसे-कोई व्यक्ति गूंगा, बहरा और अन्धा है, पढ़ा लिखा भी नहीं है फिर भी उसका मन चंचल है तो काबू में कैसे करे? जब तक आत्मा को संयत नहीं बनायेंगे तब तक चित्त की दौड़ रोकना सम्भव नहीं। इसीलिए अहिंसाव्रत की पाँच भावनाओं में सर्वप्रथम **"वाङ्मनोगुप्तीर्यादान निक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च"** वचनगुप्ति और मनोगुप्ति को ही रखा है क्योंकि जिसके मन और वचन संयत नहीं है, वह अहिंसाव्रत का पालन करने में सक्षम नहीं हो सकता। इसलिए मन में विकल्प ही न आने दें, कदाचित् मन में आ जाए तो वचन से न कहें क्योंकि वचन में आते ही काय में भी आ जाता है। इसलिए मन जिसका

संयत नहीं है, वह आस्रव को रोक नहीं सकता। सभी पर की चर्चा में लगे हुए हैं। जो आत्मा की बात नहीं करता है वह सम्यक्‌समाधि से भी दूर हो जाता है। सम्यग्दृष्टि की ज्ञान, वैराग्यशक्ति सम्यक् कार्य करती है। अनेक लोगों से कई प्रकार के सम्बन्ध रखकर मन को नियन्त्रण में रखना चाहे तो सम्भव नहीं है। दो मिलकर अध्ययन तो कर सकते हैं लेकिन पेपर तो अकेले ही लिखना पड़ेगा। नकल करके पास हुआ जा सकता है लेकिन मन को रोकने में कोई नकल नहीं की जा सकती। अगर नकल कर सकते हो तो खुली छूट है, भगवान् की नकल कर लो। यदि नकल ही करना है तो सर्वश्रेष्ठ जो तीर्थंकर हैं, उनकी नकल करो। उनके सान्निध्य में रहेंगे तो मन काबू में आ जायेगा। यदि भगवान् के पास जाकर भी कहें कि "**घरे चलो इते से**" और हमारे कहने से भगवान् यदि हमारे घर आ भी जाएँ तो भी जिसे रुचि ही नहीं है उनके लिए भगवान् की उपस्थिति भी कुछ नहीं कर सकती। **वे तो भगवान् बन गए और हम ज्ञानबाग के बागवान भी नहीं बन पाये।** बागवान अच्छे-अच्छे श्रीफल भेज देता है लेकिन स्वयं वहीं रह जाता है, भगवान् के चरणों तक नहीं जा पाता। मन को जो नियन्त्रित नहीं रखता, वह माया-मिथ्यात्व-निदानशल्य आदि रूप विभाव परिणाम करता है। मोह और राग के कारण अनेक विकार रूप परिणाम हो सकते हैं।

राग से ही चित्त में अस्थिरता—अर्द्धचक्रवर्ती क्यों बनूँ, चक्रवर्ती बनूँ,यह तो कहते हैं लेकिन तीर्थंकर बनना है, ऐसा किसी ने नहीं कहा। यही तो बुद्धि का काम है। बुद्धि नीचे की ओर आना चाहती है जबकि श्रद्धा ऊपर की ओर ले जाती है। कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा भी ऊपर से नीचे के गुणस्थान में आ सकते हैं लेकिन उसका भी एक नियम है। जैसे-सप्तम गुणस्थान से प्रथम गुणस्थान में सीधे नहीं जा सकते, पहले प्रमत्त गुणस्थान में आयेगा। यदि उपशम सम्यग्दर्शन किसी को प्राप्त हो जाए तो वह छट्ठे गुणस्थान से आकर पञ्चम गुणस्थान में भी जा सकता है, चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय और प्रथम गुणस्थान में भी आ सकता है। छट्ठे गुणस्थान से पतन के सारे द्वार खुले हैं। द्वितीय गुणस्थान से कोई विकास नहीं, पतन ही होता है। इससे स्पष्ट है कि जीव पुरुषार्थ करे तो ऊपर के गुणस्थान तक भी जा सकता है, असम्भव कुछ भी नहीं है। मुनि बनकर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। नारायण जो बनते हैं वे पूर्व में मुनि होते हैं उन्होंने पूर्व में ऐसा ही निदान बन्ध किया था। निदान एक शल्य भी होती है जो प्रथम गुणस्थान से पञ्चम गुणस्थान तक रहती है। बुद्धि है तो सब कुछ हो सकता है लेकिन चित्त स्थिर न होने से भ्रमण ही होता है। मन ही मन में तरह-तरह की योजना बनाता रहता है, किसी को पता न चले अन्यथा योजना फेल हो सकती है। अतः भीतर ही रखता है और अवसर पाकर कार्य कर लेता है। जिधर आकर्षण होता है उधर ही बुद्धि भागती है। इससे स्पष्ट हो गया, जितने अनर्थ हैं उनमें मूल कारण राग है।

उत्थानिका—रागरूप क्लेश, जड़-मूल से नाश करने योग्य है यह कथन करते हैं-

तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि ॥१७७॥

अन्वयार्थ—(तम्हा) इसलिए **(णिव्वुदिकामो)** मोक्ष का इच्छुक **(णिस्संगो)** परिग्रहरहित **(य)** और **(णिम्ममो हविय)** ममता रहित होकर **(पुणो)** फिर **(सिद्धेसु)** सिद्धों में **(भत्तिं)** भक्ति **(कुणदि)** करता है **(तेण)** उससे **(णिव्वाणं)** मोक्ष को **(पप्पोदि)** पाता है।

अर्थ—इसलिए मोक्षार्थी जीव निःसंग और निर्मम होकर सिद्धों की भक्ति करता है इसी रीति से वह मोक्ष को पाता है।

इसीलिए मुक्ति का इच्छुक, सर्व परिग्रह तजता है।
वही मुमुक्षु परद्रव्यों में, निर्मम होकर रहता है॥
ज्ञानशरीरी सिद्धप्रभु की, फिर वह भक्ति करता है।
इसी रीति से मोक्षतत्त्व की, चिर अनुभूति करता है ॥१७७॥

व्याख्यान—अर्हत्परमेष्ठी की स्तुति करने से कथञ्चित् बन्ध होता है, ऐसा पहले कहकर आए हैं लेकिन अब पूज्य कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि—जो मुक्तात्माएँ हैं उनकी भक्ति करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है इसीलिए सिद्धभक्ति तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध में कारण नहीं मानी गई है।

शंका—अरहंत भक्ति, आचार्य भक्ति, उपाध्याय भक्ति यह तो तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध में कारण हैं लेकिन सिद्ध भक्ति क्यों नहीं?

समाधान—सिद्धों की शुद्धदशा का चिन्तन और उसी ओर दृष्टि रखना चाहिए क्योंकि सिद्धपरमेष्ठी मोक्षमार्ग में नहीं हैं। मोक्षमार्गी के ध्यान का विषय भले ही बन जाएँ किन्तु वे मार्गी नहीं हैं। जो मार्ग में रहता है उनका चिन्तन और भक्ति करने से बन्ध होता है। यद्यपि सिद्धपरमेष्ठी पर पदार्थ हैं, सचित्त परिग्रह भी कहे हैं फिर भी पूज्य कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि जैसे—दर्पण देखते हैं, उसमें कोई भी फोटो न होने से राग की अनुभूति नहीं होती, दूसरे काँच में फोटो बनी हुई है उसको फ्रेमिंग करके रखते हैं, चित्र होने से उसमें राग होता है इसलिए सिद्धपरमेष्ठी दर्पण की भाँति हैं। शुद्ध तत्त्व होने से उनके चिन्तन से कोई राग नहीं होता। जैसे—पॉजेटिव कॉपी को देखकर यह कहने में आता है कि देखो मैं ऐसा हूँ, वह हँस रहा है इत्यादि। लेकिन नेगेटिव कॉपी को देखकर कोई ऐसा नहीं कहता क्योंकि उसमें शक्ल नहीं आती। उसी प्रकार जब एक्स-रे लेते हैं तो उसमें भी शक्ल नहीं आती। ५०० रुपये में एक्स-रे अथवा ५००० रुपये में एम० आर० आई० कर दिया और भीतर का जो भी कुछ था, वह पूरा दिखा दिया। यदि उसे कहें कि हमारी शक्ल भी दिखादो तो वह कहता है जहाँ शूटिंग हो रही है वहाँ जाओ, यहाँ तो अन्तरंग की बात है। सिद्धपरमेष्ठी को देखोगे तो आकार-प्रकार, चमक, रिफ्लेक्शन आदि कुछ नहीं दिखेगा। मरीज कहता है आपने ५००० रुपये ले लिए लेकिन इसमें तो कुछ दिखता ही नहीं है तो डॉक्टर कहता है तुम्हें कुछ भी दिखने वाला नहीं है। भीतर का रोग निकालने

के लिए कई महीने लगेंगे, दवाई लगेगी, पथ्य का पालन करना होगा और बीच-बीच में हमसे मिलना भी होगा। कहने का तात्पर्य यह कि एक्स-रे में जैसे आकार-प्रकार नहीं दिखता उसी प्रकार सिद्धों का आकार भी नहीं दिखता, ऐसे सिद्धों की जो भक्ति करता है वह निर्वाण को प्राप्त करता है। निर्विकार दर्पण को जब देखते हैं तो दर्पण नहीं दिखता, दर्पण में अपना मुख दिखता है। जैसे-चश्मा से देखते हैं तो मात्र चश्मा ही नहीं दिखता साथ में वस्तुएँ भी दिखती हैं। उसी प्रकार सिद्धपरमेष्ठी को देखते-देखते आत्मा का स्वभाव दिखने लगता है। इसीलिए सिद्धों की भक्ति करते समय तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं होता क्योंकि इनमें वैभव इत्यादि देखने को नहीं मिलता, चार परमेष्ठी में तो वैभव दिखता है- ''**द्वौ कुन्देन्दु तुषार हार धवलौ**'' जीवनमुक्त के रूप में अरहंत को भी ले सकते हैं लेकिन सिद्ध अनन्त होकर भी सबमें समानपना होता है। मोक्षार्थी जीव निःसंग और निर्मम होकर सिद्धों की भक्ति करता है इसलिए वह निर्वाण को प्राप्त करता है। जो अरहंत की भक्ति करता है वह मोह का क्षय करता है।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ (प्रवचनसार १८०)

इस गाथा में मोह के क्षय के लिए अरहंत भक्ति बताई है, वही श्री कुन्दकुन्द आचार्य यहाँ पर ऐसा क्यों कह रहे हैं क्योंकि अरहंत भक्ति से दर्शनमोहनीय का क्षय तो हो सकता है, चारित्रमोहनीय का नहीं बल्कि साथ में अन्य कर्मों का भी बन्ध होता रहता है। इसीलिए अरहंत भक्ति करते समय मोह का क्षय और कर्म निर्जरा होते हुए भी सूक्ष्म परसमयपना मिटता नहीं है। इसीलिए सिद्धपरमेष्ठी को विषय बनाने के लिए कहा।

सिद्धों को भक्ति का विषय बनाते समय भी शुद्ध पारिणामिक तत्त्व का लक्ष्य रखते हैं तभी मुक्ति का कारण बन सकता है, गौण करने से नहीं। सिद्धों में कोई कर्म रहे ही नहीं इसलिए विषमता भी नहीं रही और विशेषता भी नहीं रही, सभी सामान्य हो गए। पानी जब तक बर्तन में रहता है तो विशेष कहलाता है किन्तु नदी में चला जाए तो सामान्य प्रवाह हो जाता है। इसी तरह सिद्धपरमेष्ठी भी सामान्य में आ जाते हैं। इसलिए निर्वाण की इच्छा रखने वाला बाह्य और अन्तरंग परिग्रह से रहित होता है। रागादि उपाधि से रहित चैतन्य प्रकाश लक्षण वाला जो आत्मतत्त्व है उससे विपरीत मोह के उदय से अहंकार और ममकार रूप विकल्प होता है, इनसे रहित रहने से निर्मोह ऐसा कहा है। सिद्ध अनन्त गुणों से सम्पन्न होते हैं। परमार्थ या स्वभाव दृष्टि से हमारा आत्मतत्त्व भी आठों कर्मों से रहित है लेकिन अनन्त सिद्धात्माओं की भक्ति करना यहाँ प्रासंगिक सिद्धभक्ति है। पारमार्थिक स्वसंवेदन रूप निश्चय भक्ति कहें या निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय आलोचना, निश्चय तप कहें एक ही है, इसी से शुद्धात्म उपलब्धि स्वरूप निर्वाण प्राप्त होता है।

पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान मोह क्षय में कारण—ज्ञानार्णवकार ने पञ्चपरमेष्ठी के ध्यान से केवलज्ञान की उत्पत्ति मानी है। केवलज्ञान से पूर्व जो शुक्लध्यान होता है वह दो प्रकार से होता है

एक श्रेणी में, दूसरा श्रेणी के उपरान्त होता है। मोहोदय के साथ यदि शुक्लध्यान होता है तो प्रथम शुक्लध्यान ही हो सकता है और इसमें भी दो मत हैं, दूसरे मत में मोहोदय में धर्म्यध्यान ही होता है। ऐसे धर्म्यध्यान के साथ पञ्चपरमेष्ठी की आराधना करके क्षपकश्रेणी चढ़कर १० वें गुणस्थान तक मोह का क्षय कर लेता है और मोह क्षय होते ही १२वें गुणस्थान में पहुँच जायेगा, वहाँ द्वितीय शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त हो जायेगा, इस प्रकार श्री शुभचन्द्राचार्य ने मोह के क्षय को ही केवलज्ञान का कारण माना है। इसमें कोई बाधा नहीं क्योंकि **''मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्''** इस सूत्र के द्वारा आचार्य श्री उमास्वामी जी महाराज भी उक्त बात का समर्थन करते हैं। स्पष्ट है कि धर्म्यध्यान से पञ्चपरमेष्ठी की आराधना करते हुए स्थिर चित्त करके मोह का क्षय कर लेते हैं। पसीना बहाकर जैसे धन कमाया जाता है वैसे ही स्थिर चित्त होने से न चाहने पर भी ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार सूक्ष्म परसमय व्याख्यान की मुख्यता से नवम स्थल में पाँच गाथाओं का प्रकरण पूर्ण हुआ।

उत्थानिका—पञ्चपरमेष्ठी में भक्तिरूप जो परसमय में प्रवृत्ति है उससे साक्षात् मोक्ष का अभाव होने पर भी परम्परा से मोक्ष का कारण है यह कथन करते हैं–

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजम तव संपओत्तस्स॥१७८॥

अन्वयार्थ–(सुत्तरोइस्स) आगम का श्रद्धानी हो **(संजमतवसंपओत्तस्स)** संयम और तप का अभ्यासी हो परन्तु **(सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स)** नव पदार्थ सहित तीर्थंकर की भक्ति में बुद्धि को लगाने वाला हो उसके **(णिव्वाणं)** मोक्ष **(दूरतरं)** बहुत दूर है।

अर्थ—संयम और तप का अभ्यासी हो परन्तु नव पदार्थ सहित तथा तीर्थंकर की भक्ति में बुद्धि को लगाने वाला है और आगम के प्रति जिसे रुचि हो उस जीव को मोक्ष दूरतर है।

नव पदार्थ से सहित तीर्थंकर भक्ति में जो लगे हुए।
उन जीवों को कर्म रहित वह, मोक्ष बहुत ही दूर रहे॥
वह सर्वज्ञ प्रणीत वचनों का, यद्यपि रहा श्रद्धानी है।
संयम-तप का भी धारक पर, वह प्रशस्त गुणरागी है ॥१७८॥

व्याख्यान—तीर्थंकरों की दिव्यवाणी में नौपदार्थ, साततत्त्व, छहद्रव्य, पञ्चास्तिकाय का वर्णन आता है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द महाराज कह रहे हैं ऐसी दिव्य जिनवाणी को सुबह से लेकर शाम तक भी पढ़ते रहो लेकिन रुचि नहीं है तो इससे कुछ नहीं होगा। **आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी महाराज** की एक पंक्ति पढ़ी थी–**''विद्या की प्राप्ति पढ़ने से नहीं, चिन्तन मनन से होती है''** इसलिए चिन्तन मनन करिए, केवल किताब रटने से कुछ नहीं होगा। **अष्टपाहुड** में मुनि श्री शिवभूति जी महाराज के लिए लिखा है **''तुसमासं घोसंतो''** अर्थात् ''तुष भिन्न है और माष भिन्न है यह रट

रहे हैं'' किन्तु तोता रटन्त से कुछ नहीं हुआ, उन्होंने इसका चिन्तन-मनन भी किया। रुचिपूर्वक चिन्तन और अभ्यास हो तब कहीं विद्या की प्राप्ति होती है। इस गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है कि अर्हत् आदि की रुचिरूप परसमय प्रवृत्ति परम्परा से मुक्ति का कारण है। वह संवर-निर्जरा का कारण नहीं है केवल बन्ध का ही कारण है, यह तो लिखा ही नहीं है। ११वें गुणस्थान में जो मरण को प्राप्त हुए, जिन्हें एक भी मोह कर्म का उदय नहीं था, शुद्ध निर्जरा चल रही थी, यथाख्यात चारित्र था फिर भी स्वर्ग क्यों मिला? क्योंकि सूक्ष्म परसमय साक्षात् मोक्ष का हेतु न होकर भी परम्परा से मोक्ष का हेतु है। पूर्व में जो सूक्ष्म परसमय का व्याख्यान किया उसी का प्रकारान्तर से वर्णन किया है। जीवादि नौपदार्थ का वर्णन करने वाले जो तीर्थंकर हैं उनके समवसरण में बैठकर जो नौपदार्थ के चिन्तन में लगा है वह अभिगत बुद्धि है। यदि तीर्थंकर के पादमूल में बैठकर ध्यान लगाएँ तो द्वितीय शुक्लध्यान प्राप्तकर केवलज्ञान हो जाए और समवसरण में बैठे-बैठे मुक्ति भी हो सकती है लेकिन तीर्थंकर के लिए निर्वाण दूर है क्योंकि अभी तो पदार्थों के वर्णन में लगे हुए हैं उनके लिए **दूरयरं णिव्वाणं** कहा। जबकि तीर्थ को करने वाले तीर्थंकर को आगम कहा है। 'तीर्थ' का अर्थ 'आगम' उसको करने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं। आगम का कर्त्ता होता है ''**आगमेशिनः**'' ऐसा रत्नकरण्डक श्रावकाचार में आया है। जो इन्द्रिय संयम और प्राणी संयम इन दो प्रकार के संयम के बल से रागादि उपाधि से रहित हैं, ख्याति-पूजा-लाभ के निमित्त से जो अनेक भाव मन में उत्पन्न होते हैं उन विकल्प जाल की अग्नि से रहित निर्विकल्प चित्त करके संयम के लिए अपनी शुद्धात्मा में स्थिर होने के लिए संयत हो गए हैं तथा बाह्य तप के द्वारा इच्छाओं को रोकने रूप आभ्यन्तर तप से अपने ही आत्म स्वभाव में तप करते हैं। लेकिन विशेष संहनन आदि शक्ति के अभाव में निरंतर स्वरूप-रत रहने में असमर्थ हो जाते हैं तब शुद्धात्मा की भावना के अनुकूल जीवादि पदार्थों का प्रतिपादन करने वाले आगम में रुचि रखते हुए समयसार के निर्जरा, पाप-पुण्याधिकार आदि पढ़ते हैं। चित्त के भ्रम को दूर करने के लिए आगम का आधार लिया जाता है। जैसे-देशान्तर में स्थित सीता के पास से आया हुआ पुरुष सीता का हाल बताता है कि वह बहुत दुखी है, आप का स्मरण करती रहती है, अन्न-जल का त्याग कर दिया है, शरीर सूखकर छुहारे या सौंठ जैसा हो गया है। ऐसी सीता की वार्ता सुनकर श्रीराम उस पुरुष को भेंट देकर सम्मान करते हैं। उसी प्रकार मुक्ति का इच्छुक मुमुक्षु निर्दोष परमात्मा तीर्थंकर परमदेव, गणधरदेव और भरत, सगर, राम, पाण्डवादि महापुरुषों के चरित्र-पुराणादि को अशुभ राग से बचने व शुभ धर्मानुराग भाव से सुनता है तथा गृहस्थ अवस्था में भेदाभेद रत्नत्रय की भावना में रत आचार्य, उपाध्याय और साधु आदि को दान देता है, पूजा करता है क्योंकि वह मोक्षमार्गी तो है नहीं, गृहस्थ है। इसलिए वह दान-पूजादि करता है। इससे अनन्त संसार की स्थिति का छेद कर लेता है और यदि मोक्षमार्गी भी है किन्तु चित्त डाँवाडोल है तो विषय-कषायों से बचने के लिए महापुरुषों का स्मरण करता है। पर यहाँ आने के उपरान्त भी निदान बन्ध कर ले तो सट्टे के समान हो गया क्योंकि

पूर्वकोटि वर्ष तक तप करता रहा है और अन्त में नारायण, प्रतिनारायण को देखकर निदान कर लिया कि तप के फल से मुझे यह मिल जाए, इस तरह दूसरे भव में फल भी मिल गया पर निर्वाण दूर हो गया। इस प्रकार निदान से नारायण-प्रतिनारायण बन गया तो निश्चित नरक जायेगा, बलदेव पद निदान से नहीं मिलता, चक्रवर्ती निदान के साथ बन सकता है लेकिन वह नरक ही जाए ऐसा नियम नहीं है, स्वर्ग और मोक्ष भी जा सकता है।

समवसरण का वर्णन—निदान भी प्रशस्त-अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है, जो शल्यादिक रूप में है वह अप्रशस्त है और ध्यानादिक में जो आ जाता है वह प्रशस्त निदान पञ्चम गुणस्थान तक चल सकता है, निदान करे ही यह नियम नहीं है। यदि चरमशरीरी नहीं है तो उसी भव में सर्व कर्मों का क्षय तो नहीं कर सकता लेकिन भवान्तर में पुण्य के फल से स्वर्ग में इन्द्रादिक बन जाता है किन्तु वहाँ के वैभव को जीर्ण तिनके के समान समझता है, विभूति को देखकर वह विस्मित नहीं होता। पञ्च महाविदेह में जाकर साक्षात् तीर्थंकरों के दर्शन करता है। जिनकी भक्ति में गणधर परमेष्ठी भी जब तक आयु है, तब तक लगे रहते हैं, ऐसे उन गणधर परमेष्ठी को भी वह नमस्कार करता है और सोचता है कि पहले मैंने जिनके बारे में सुना था वे तीर्थंकर यहाँ साक्षात् समवसरण में सिंहासन पर विराजमान हैं, यक्ष चँवर ढुरा रहे हैं, हजार आरे वाला धर्मचक्र आगे-आगे रहता है। पहले जिसका वर्णन पढ़ा था वह साक्षात् अशोकवृक्षादि समवसरण का वैभव देखता है। दिव्यध्वनि में सुनता है कि ८ वर्ष अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो सकता है। वहीं पर छोटे-छोटे केवलज्ञानी मुनिराज भी हैं, मनोज्ञ मुनि भी हैं। वहाँ का कार्यक्रम बहुत आनन्ददायी होता है। वहाँ के दृश्य को देखकर जो पहले पढ़ा था, सुना था वह सब साक्षात् देखकर एकाग्रता से भक्ति में लग जाता है। जीवन का अधिकांश समय उसी में निकल जाता है पता ही नहीं चलता। २४ घण्टे में ४ बार प्रवचन मिलता है, रात-दिन का वहाँ भेद ही नहीं रहता, कल्पवृक्षों का उजाला रहता है। जिसकी आज्ञा से कुबेर समवसरण रचता है वह सौधर्मइन्द्र भी अपना मुकुट उतार कर नत मस्तक हो जाता है। **श्री पूज्यपादस्वामी** ने नंदीश्वर भक्ति में लिखा है—

त्रिदशपतिमुकुट - तट गतमणि गणधर-निकर-सलिलधारा धौत।
क्रम कमल युगल जिनपतिरुचिर प्रतिबिम्ब विलय विरहित निलयान् ॥१॥

समवसरण में कोई विकल्प नहीं रहता, आत्मा की अद्‌भुत विभूति देखकर मन कीलित-सा हो जाता है। देवों का चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर नहीं होता इसलिए वे चतुर्थ गुणस्थानवर्ती देव भी अपने गुणस्थान के योग्य आत्मभावना करते हैं। साक्षात् भगवान् में १३वाँ गुणस्थान झलक रहा है। विहार के समय देवों के द्वारा २२५ स्वर्ण कमलों की रचना प्रत्यक्ष दिखती है। इस प्रकार देवलोक में काल व्यतीत कर अन्त में स्वर्ग से आकर मनुष्य भव में कोई चक्रवर्ती बनता है, कोई बलराम बनता है तो भी पूर्व में की गई आत्मभावना के बल से वह मोह नहीं करता। यह बात अलग है कि ८३ लाख पूर्व

वर्ष तक रम जाते हैं तो एक और नीलांजना की आवश्यकता पड़ जाती है, पर वह बाद में विषयसुख को छोड़कर जिनदीक्षा लेकर निर्विकल्पसमाधि की विधि से विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव रूप निजात्मा में ठहरकर मोक्ष चले जाते हैं। जब वर्तमान में यहाँ धर्म की बहुत कम चर्चा और सामग्री भी थोड़ी-सी है फिर भी कितनी रोचक लग रही है तो फिर वहाँ साक्षात् जाने पर कितना अच्छा लगेगा। इसलिए प्रशस्त भावना भाओ क्योंकि पञ्चमकाल हुण्डावसर्पिणी है, हीन संहनन है, विशेष चारण ऋद्धिधारी मुनियों का समागम है ही नहीं, अधिक शास्त्रज्ञान भी नहीं है और "**वयं च दुम्मेहा**" दुर्बुद्धि हैं, व्यर्थ की बातों में मन जल्दी लग जाता है। इसलिए जिनवाणी की सेवा करो जिससे बुद्धि सुधर जाये।

उत्थानिका—अरहंतादि पञ्चपरमेष्ठी में भक्तिरूप जो प्रशस्त राग है उससे मोक्ष का अन्तराय दिखाते हैं—

अरहंतसिद्धचेदिय पवयण भत्तो परेण णियमेण।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि ॥१७९॥

अन्वयार्थ—(जो) जो **(अरहंतसिद्धचेदियपवयणभत्तो)** अरहंत, सिद्ध, अर्हंतप्रतिमा वा जिनवाणी का भक्त होता हुआ **(परेण)** उत्तम प्रकार से **(तवोकम्मं)** तप के आचरण को **(कुणदि)** करता है **(सो)** वह **(णियमेण)** नियम से **(सुरलोगं)** देवलोक को **(समादियदि)** प्राप्त करता है।

अर्थ—जो जीव अरहंत, सिद्ध, अर्हत् प्रतिमा व जिनवाणी का भक्त होता हुआ उत्तम प्रकार से तपश्चरण करता है, वह नियम से देवलोक को प्राप्त करता है।

अरहंतों की तथा सिद्ध वा, चैत्य रूप जो हैं प्रतिमा।
और जिनेश्वर वाणी की जो, गाता रहता है महिमा॥
उत्तम-उत्तम नियम धारकर, कठोर तप भी करता है।
अतः प्रशस्त राग के कारण, स्वर्गलोक ही वरता है ॥१७९॥

व्याख्यान—अरहन्त, सिद्ध, जिनबिम्ब और शास्त्र में जो भक्तिभाव से युक्त हैं वह उत्कृष्ट संयम के साथ तप कर्मों को करता हुआ भी स्वर्गलोक को ही अंगीकार करता है। पूर्व गाथा में कहा था कि जो तद्भव मोक्षगामी नहीं है वही पुण्य बन्ध को प्राप्त करता है, उसी अर्थ को यहाँ दृढ़ करते हैं। पुण्यबन्ध का अर्थ संवर-निर्जरा नहीं होती, ऐसा नहीं है। जो पञ्चपरमेष्ठी की उत्कृष्ट भावना से भक्ति और उत्कृष्ट तप करते हुए भी स्वर्गलोक को प्राप्त करता है वह अध्यात्म भाषा में शुद्धात्मा को मानते हुए और आगमभाषा में मोक्ष को उपादेय मानते हुए व्रत-तप आदि करता है किन्तु निदान रहित परिणाम होने के कारण, हमें इसके बदले में यह मिले इस प्रकार के भाव नहीं करता है तो वह संयमी होता है। उसमें संहनन आदि शक्ति का अभाव होने से शुद्धात्मा स्वरूप में स्थिर होने की क्षमता न होने के कारण वर्तमान भव में उसे पुण्यबन्ध होता है परन्तु एक, दो (कुछ ही) भवों में परमात्मा की भावना में स्थिरता आने पर नियम से मोक्ष हो जाता है। इससे विपरीत यदि वह निदान कर लेता

है तो भवान्तर में भी मोक्ष होने का नियम नहीं है। इस प्रकार जो चरमशरीरी नहीं हैं उस पुरुष के व्याख्यान की मुख्यता से १०वें स्थल में दो गाथाएँ पूर्ण हुईं।

उत्थानिका—आगे साक्षात् मोक्षमार्ग का सार दिखाने के लिए इस शास्त्र का तात्पर्य संक्षेप में दिखाते हैं –

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि ॥१८०॥

अन्वयार्थ—**(तम्हा)** इसलिए **(णिव्वुदिकामो)** मोक्ष का इच्छुक **(सव्वत्थ)** सर्व पदार्थों में **(किंचि)** कुछ भी **(रागं)** राग **(मा कुणदि)** नहीं करता है **(सो भवियो)** वह भव्य जीव **(तेण)** उससे **(वीदरागो)** वीतराग होता हुआ **(भवसायरं)** संसारसमुद्र को **(तरदि)** तैर जाता है।

अर्थ—इसलिए जो मोक्षाभिलाषी जीव इच्छा रहित होकर सर्व पदार्थों में किञ्चित् भी राग नहीं करता है वह भव्य जीव इसी कारण से वीतराग होता हुआ संसारसमुद्र से तर जाता है।

इसीलिए मुक्ती का इच्छुक, किञ्चित् भी ना राग करे।
शुभ हो चाहे अशुभ राग हो, राग आग यह ज्ञान करे॥
ऐसा करने से वह भविजन, वीतरागता पाता है।
जिनवाणी कहती वह निश्चित, भवसागर तर जाता है॥१८०॥

व्याख्यान—जो निर्वाण की कामना करता है वह किसी भी प्रकार से राग न करता हुआ वीतराग भावों से भवसागर तर जाता है। मोक्षमार्ग एकमात्र वीतरागता का ही पोषक है। इस शास्त्र में मोक्षमार्ग के व्याख्यान के विषय में उपाधि से रहित चैतन्य प्रकाश रूप वीतरागता को लिया गया है। सराग सम्यग्दृष्टि की बात यहाँ नहीं कही गई, इसीलिए केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की व्यक्ति रूप कार्य समयसार कहो अथवा मोक्ष कहो एकार्थवाची है। अर्हत्भक्ति के समय बाहरी वैभव की ओर न देखकर अरहंत प्रभु के द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्याय के बारे में चिन्तन करें। उनके अनन्त चतुष्टय का चिन्तन करें जो वीतरागता का फल है। जो रागादि हैं वह आत्म स्वभाव से विलक्षण हैं। यह संसारसागर अजर-अमर पद से विपरीत है जो जन्म-जरा-मरण आदि अनेक प्रकार के जलचर जीवों से भरा हुआ है, वीतराग परमानन्दमयी सुखरस के आस्वादन को रोकने वाले नारकादि दुख रूप खारे जल से परिपूर्ण है तथा परमसमाधि के नाशक पाँचों इन्द्रियों के विषयों की इच्छा रूप समस्त शुभ और अशुभ विकल्पजाल रूपी तरंग माला से भरपूर है तथा जिसके भीतर अनाकुल लक्षण रूप जो पारमार्थिक सुख है उससे विपरीत आकुलता को पैदा करने वाली अनेक प्रकार के मानसिक दुखरूप बड़वानल की शिखा जल रही है। दावानल जंगलों में होता है और बड़वानल समुद्र के नीचे होता है। जिसमें से ज्वालामुखी फूटती है ऐसा ही बड़वानल रूपी मानसिक दुख भीतर चल रहा है। इस प्रकार पञ्चपरमेष्ठी में राग उत्पन्न करने वाले विकल्प न करके वीतराग स्वभाव की ओर देखने से

निश्चित ही एक-दो भव में मोक्ष पा सकते हैं **"तोरि सकल जग दन्द फन्द निज आतम ध्यावो"** मन में कई प्रकार के दन्द-फन्द चलते रहते हैं। मन श्वानवृत्ति वाला है कब क्या माँग कर बैठे? पता ही नहीं चलता। अच्छे से सम्बोधन सुनने वालों की भी धर्मशाला से निकलते ही भावनाएँ बदल जाती हैं। धर्मशाला अर्थात् जहाँ धर्म की शिक्षा दी जाती है किन्तु वर्तमान में धर्मशाला की परिभाषाएँ बदल गई हैं, अब वहाँ धर्म की बात ही नहीं होती। धन्य हैं वे जो पूरे १०० नम्बर प्राप्त कर उत्तीर्ण हो गए, संसार से पार हो गए। एक नम्बर भी कम है तो कमी है भले ही यूनिवर्सिटी में टॉप किया है। हम नमन कर रहे हैं उन्हें, यही हमारा सौभाग्य है।

उत्थानिका—आगे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करते हुए ग्रन्थ को समाप्त करते हैं–

मग्गप्पभावणट्ठं पवयण भत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ॥१८१॥

अन्वयार्थ—(मया) मेरे [कुन्दकुन्दाचार्य] के द्वारा **(पवयण-भत्तिप्पचोदिदेण)** प्रवचन [आगम की]भक्ति से प्रेरित होकर **(मग्गप्पभावणट्ठं)** मार्ग [जिनधर्म] की प्रभावना के लिये **(पवयणसारं)** आगम के सारभूत **(पंचत्थियसंगहं सुत्तं)** पञ्चास्तिकाय संग्रह सूत्र को **(भणियं)** कहा गया है।

अर्थ—मुझ श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने आगम भक्ति की प्रेरणा से जिनधर्म की प्रभावना के लिए आगम के सार के कहने वाले पञ्चास्तिकाय संग्रह सूत्र का वर्णन किया है।

प्रवचन की भक्ति से प्रेरित, होकर मुझसे लिखा गया।
यह पञ्चास्तिकाय संग्रह जो, सूत्र रूप से कहा गया॥
द्वादशांग मय जिनवचनों का, सारभूत व्याख्यान कहा।
जिनशासन की प्रभावना हो, यही मात्र उद्देश्य रहा॥१८१॥

व्याख्यान—मोक्षमार्ग वास्तव में संसार, शरीर व भोगों से वैराग्य रूप है अथवा निर्मल आत्मानुभव रूप है। उसकी प्रभावना यह है कि उसे स्वयं अनुभव करें और दूसरों को प्रकाश करें। जिसके उपयोग में संकल्प-विकल्प की मात्रा कम है, वह निर्विकल्पता की ओर है। कर्म के उदय में **"जो होगा सो होगा"** यह सिद्धान्त जिसको गहरा जम जाता है उसको विकल्प नहीं होता। दूसरे के निमित्त को लेकर आप बुरे परिणाम न करें, निमित्त के ऊपर टूटे नहीं बल्कि उनके प्रति सद्भावना करके अपने परिणामों में पवित्रता ला सकते हैं। **"सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावे"** एक मात्र वीतरागभाव ही ऐसा रसायन है जो कि कर्म वर्गणाओं व आत्मा को पृथक्-पृथक् कर सकता है। वर्तमान में कर्मों के उदय को समता के साथ भोग लो तो आगामी कर्म बन्ध नहीं होगा। अपना कर्मोदय अपने को ही भोगना होगा चाहे हँसते हुए भोगो, चाहे रोते हुए भोगो या दूसरों पर

दोषारोपण करते हुए भोगो परन्तु पर का किया हुआ अपने ऊपर नहीं आता, यह गाढ़ श्रद्धान बना लो। यह कटु सत्य है, पर सत्य को सत्य समझते हुए असत्य की ओर मत देखो। मेरे द्वारा किए हुए कर्म ही उदय में आ रहे हैं, ऐसी श्रद्धा रखने से सम्यग्दर्शन दृढ़ होता है।

जैसे पेन्सिल को छीलते हैं तो उसका वास्तविक रूप सामने आ जाता है उसी प्रकार **''जिन परम पैनी सुबुधि छैनी, डारि अन्तर भेदिया। वरणादि अरु रागादि तैं, निज भाव को न्यारा किया''** भेद-ज्ञान की छैनी से भेदन करने पर आत्मा का वास्तविक रूप सामने आ जाता है।

ऐसे मोक्षमार्ग की प्रभावना के लिए मैंने परमागम की भक्ति से प्रेरित होकर इस पञ्चास्तिकाय नाम के शास्त्र को कहा है। इसमें पाँच अस्तिकाय व छह द्रव्य आदि का संक्षेप से व्याख्यान करके समस्त वस्तु को प्रकाशित किया गया है, इसीलिए यह ग्रन्थ द्वादशांग रूप आगम का सार है। द्वादशांग का सार शुद्धात्म तत्त्व है। जो शुद्धात्मा को जानता है वह भावश्रुतकेवली है।

सुनियोजित व्यवस्था दीर्घकाल तक स्थाई रहती है और प्रभाव भी अच्छा पड़ता है। अब यहाँ वृत्तिकार कहते हैं कि यह पञ्चास्तिकाय प्राभृत ग्रन्थ संक्षेप रुचि वाले शिष्यों को समझाने के लिए कहा गया है।

परमात्मा की आराधना करने वाले पुरुषों की दीक्षा या शिक्षा की अवस्था के भेद कहते हैं- वैराग्य पहले होना चाहिए। दीक्षाकाल, शिक्षाकाल, गणपोषणकाल, आत्मसंस्कारकाल, सल्लेखना-काल और उत्तमार्थकाल इस तरह छह प्रकार के काल होते हैं। यहाँ पर छह काल के बीच में से किसी को प्रथम काल में ही, किसी को द्वितीय काल में, किसी को तृतीयादि काल में केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है अतः प्रत्येक साधक के छह काल हों ही, यह नियम नहीं है।

ध्यान के आठ अंग हैं—

ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यत्र यस्य यदा यथा।
इत्यष्टांगानि योगानां साधनानि भवन्ति च॥

अर्थात् ध्यान करने वाला, ध्यान का फल, ध्यान के योग्य ध्येय, ध्यान करने का स्थान, ध्यान का समय, ध्यान की विधि तथा ध्यान के लिए आसन आदि ये आठ ध्यान के अंग हैं। इसका संक्षेप में व्याख्यान यह है-

गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितं।
एकाग्रचिंतनं ध्यानं फलं संवरनिर्जरे॥

इन्द्रिय और मन को वश रखने वाला ध्याता होता है। वस्तु का यथार्थ स्वरूप ध्यान करने योग्य ध्येय है। एक को मुख्य करके चिन्तन करना ध्यान है। ध्यान का फल-कर्मों का संवर तथा निर्जरा होती है। तत्त्वानुशासन ग्रन्थ में-जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार के ध्याता व तीन ही प्रकार का ध्यान कहा गया है तथा ध्यान करने की सामग्री जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है वह भी तीन

प्रकार की है।

अथवा ध्याता दो प्रकार के हैं–एक तो शुद्धात्मा की भावना को प्रारम्भ करने वाले सूक्ष्म विकल्प अवस्था में रहने वाले प्रारब्धयोगी कहे जाते हैं। दूसरे विकल्प रहित शुद्ध आत्मा की अवस्था में रहने वाले निष्पन्न योगी होते हैं। इस तरह संक्षेप से अध्यात्मभाषा में ध्यान, ध्याता, ध्येय व ध्यान का फल जानना चाहिए। संवर और निर्जरा से रागादि विकल्प रहित परमानन्द सुख की वृद्धि होना, निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान की उन्नति होना तथा बुद्धि आदि सात ऋद्धि की प्राप्ति होना ध्यान का फल है।

अब आगम भाषा से छह काल कहे जाते हैं–

१. दीक्षा काल—जब कोई चार आराधना के सन्मुख होकर पञ्चाचार के पालक आचार्य के पास जाकर बाह्याभ्यन्तर परिग्रह तजकर दीक्षा लेता है, वह दीक्षा काल है।

२. शिक्षा काल—आराधना का विशेष ज्ञान करने के लिए व चारित्र के सहायक ग्रन्थों की जब शिक्षा लेता है तब वह शिक्षा काल है।

३. गणपोषण काल—चारित्र को स्वयं पाल करके व उसका व्याख्यान करके पाँच प्रकार की भावना सहित होकर जब शिष्यगणों को पुष्ट करते हैं तब गणपोषण काल है। तप, श्रुत, सत्व, एकत्व और संतोष ये पाँच प्रकार की भावनाएँ हैं। १. **तप भावना**—बारह प्रकार का निर्मल तप करना तप भावना है। इससे विषय और कषाय पर विजय होती है। २. **श्रुत भावना**—चारों अनुयोगों का अभ्यास करना सो श्रुत भावना है। श्रुत भावना के फल से जीवादि तत्त्वों के सम्बन्ध में या हेयोपादेय तत्त्व के सम्बन्ध में संशय, विमोह, विभ्रम दोष से रहित निश्चल होता है। अन्य ग्रन्थों में श्रुत भावना के छह लाभ बताये हैं–१. आत्महित में श्रद्धा दृढ़ होती है, २. आस्रव भाव का संवर होता है, ३. नवीन-नवीन धर्मानुराग बढ़ता है, ४. निष्कंप परिणाम होते हैं, ५. तप साधन की भावना होती है, ६. पर को उपदेश दे सकते हैं। ३. **सत्त्व भावना**–मूलगुण व उत्तरगुणों के पालन में भय रहित वर्तन करना सत्त्व भावना है। इसमें घोर उपसर्ग व परीषह आने पर भी निर्भय होकर उत्साह से मोक्ष का साधन पाण्डवों आदि की तरह होता है। ४. **एकत्व भावना**—निजात्मा को एक रूप अकेला विचारना एकत्व भावना है। इस एकत्व भावना को हमेशा भाना चाहिए, जिससे अन्य द्रव्यों से मोह कम होगा।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

अर्थात् मेरा आत्मा एक अकेला, अविनाशी, ज्ञानदर्शन लक्षण का धारी है। इसके सिवाय शेष जितने भी भाव हैं वे पर के संयोग से होते हैं, वे सब मुझसे बाह्य हैं। इस एकत्व भावना के फल से स्वजन तथा परजन में मोह नहीं करता है, वैसे ही जिनकल्पी साधु भी मोह नहीं करते हैं। ५. **संतोष भावना**—मान और अपमान में विजय पाने की क्षमता को मैं सबसे बड़ी साधना मानता हूँ। मानापमान में समता भाव के फल से आहारादि में जो कुछ लाभ हो उसी में संतोष रखना संतोषभावना

है। इस भावना से रागादि उपाधि से रहित परमानन्दमयी आत्मिक सुख में तृप्ति हो जाने से निदान बन्ध आदि से चित्त हट जाता है।

४. आत्मसंस्कार काल—गणपोषण के बाद आत्म भावना के संस्कार को चाहने वाला मुनि यदि एक गण को छोड़कर दूसरे गण या मुनि संघ में रहता है तो वह आत्मसंस्कार काल है।

५. सल्लेखना काल—आत्म संस्कार के बाद आराधना ग्रन्थ में कहे प्रमाण के अनुसार द्रव्य तथा भाव सल्लेखना करता है, वह सल्लेखना काल है।

६. उत्तमार्थ काल—सल्लेखना के बाद चार प्रकार की आराधना की भावना के द्वारा समाधि की विधि से आयु को पूरा करना उत्तमार्थ काल है।

यहाँ कोई प्रथम काल आदि में ही चार प्रकार की आराधना को प्राप्त कर लेते हैं। छह काल का नियम नहीं है।

भेद रत्नत्रय का स्वरूप बतलाने वाला आगम शास्त्र कहलाता है तथा आगम का सार लेकर निश्चय रत्नत्रय की भावना के अनुकूल अर्थ व पदों से व्याख्यान किया जाता है वह अध्यात्म शास्त्र कहा जाता है। जैसे–

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवरे जोगे ॥ (समयसार १८)

मेरे ज्ञान में आत्मा है, दर्शन-चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान व त्याग में भी आत्मा है अतः जहाँ आत्मा में स्थिति है वहाँ यह सब कुछ है। इस प्रकार अध्यात्म शास्त्र का व्याख्यान छह कालों से किया। जहाँ वीतराग सर्वज्ञ कथित छह द्रव्य का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व आचरण का कथन भेद व अभेद रूप से वर्णित किया जाए, वे आगम ग्रन्थ कहलाते हैं। यह कथन निश्चय रत्नत्रय रूप आध्यात्मिक आचरण का बाहरी साधन होता है।

इस प्रकार **श्री जयसेनाचार्यकृत** तात्पर्यवृत्ति में एक सौ ग्यारह गाथाओं द्वारा आठ अन्तराधिकार से पाँच अस्तिकाय व छह द्रव्य को कहने वाला प्रथम महाधिकार कहा। फिर पचास गाथाओं द्वारा दस अन्तराधिकारों से नव पदार्थों को कहने वाला दूसरा महाधिकार कहा। अन्तिम में बीस गाथाओं द्वारा बारह स्थलों से मोक्ष स्वरूप व मोक्षमार्ग को कहने वाला तीसरा महाधिकार कहा गया। इस प्रकार तीन अधिकारों से १८१ गाथाओं में तथा **समय व्याख्यान** की अपेक्षा १७३ गाथाओं द्वारा पञ्चास्तिकाय प्राभृत पूर्ण हुआ।

❑ ❑ ❑

गाथानुक्रमणिका